

श्रीमदखण्डभूमण्डलाचार्यवर्यश्रीकृष्णवदनविरहवैश्वानरावतार-

श्रीमद्वल्लभाचार्यप्रादुर्भावितायां

श्रीमद्भागवतदशमस्कन्ध-

सुबोधिन्यां

षष्ठसप्तमे प्रमाणप्रमेयप्रकरणे

श्रीटिप्पण्यादिसकलसामग्रीसमेते

स्वतन्त्रलेखयुते च



श्रीमद्भागवत-दशमस्कन्ध-राजसप्रमाणप्रमेयप्रकरण-सुबोधिनी

श्रीमद्वल्लभाचार्यविरचिता

वि.सं. २०६१, श्रीवल्लभाब्द ५२७

१००० प्रति.

प्रकाशक :
श्रीवल्लभविद्यापीठ-श्रीविठ्ठलेशप्रभुचरणाश्रम ट्रस्ट
वैभव को-ऑपरेटिव सोसायटी,
पूना-बेंगलोर रोड, कोल्हापुर,
महाराष्ट्र.

संगणकटंकण :
फोन्टेसी टाईपसेटर्स प्रा. लि.
कोमर्स सेन्टर, रामबाग कोलोनी,
पौंड रोड, कोथरुड,
पूना - ४११०३८.

मुद्रक :
शैलेश प्रिन्टर्स
१४, चुनावाला इन्डस्ट्रियल एस्टेट, कोंडीविटा रोड,
अन्धेरी (पू.), मुम्बई - ४०००५९.

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

सम्पादकीय

पृथक्-पृथक् प्रकाशित मूल श्रीसुबोधिनी और टीकाओं को एककायतया पुनःप्रकाशित करनेकी शृंखलामें यह राजस-प्रमाण-प्रमेय-प्रकरण चौथी कड़ी है. इसके अलावा इसमें यह वैशिष्ट्य है कि हमने मुद्रित संस्करणोंकी प्राप्य हस्तप्रतिओंसे तुलना करके यथावसर संशोधन या पाठभेद प्रस्तुत किये हैं.

चि.गो.श्रीमन्दारबावाके सहयोगसे हमें श्रीगट्टूलालाजीकी लाइब्रेरीके संग्रहमेंसे एक हस्तप्रति उपलब्ध हुई. उनमेंके श्रीसुबोधिनीजीके पाठोंसे हमने मुद्रित पाठोंकी तुलना की है और पाठभेदोंको संक्षेपमें 'ग.पाठ'तया निर्दिष्ट किया है.

श्रीसुबोधिनीजीकी एक हस्तप्रति मुंबई विद्यापीठके ग्रन्थगारसे भी हमें प्राप्त हुई हैं. बहोत करके यह मूलतः सौ-सवासौ वर्ष पूर्व काशीके नेत श्रीरामकृष्ण भट्टके संग्रहकी प्रतियां हैं, जो बादमें गुजराती प्रेसकी लाईब्रेरीके संग्रहमेंसे मुंबई विद्यापीठको भेंट की गई हैं. इन्हें हमने मुंबई विद्यापीठ पाठ या संक्षेपमें 'मुं.वि.पाठ' संकेत दिया है. इनकी ज़ेरोक्स प्रति हमें प्रदान करनेके लिये विद्यापीठके ग्रन्थपाल श्री एस. आर. गनपुलेके हम आभारी हैं.

इसके अलावा एक हस्तप्रति हमें गुजरातके संखेडासे प्राप्त हुई है जिसे हमने 'स.पाठ' संकेत दिया है. इसे हमें उपलब्ध करानेवालोंका यह दावा, कि यह श्रीराणाव्यासने श्रीगोपीनाथ प्रभुचरणोंके लिये लिखी थी, अप्रतीतिकर है. इसमें श्रीगुसांईजीके प्रक्षेप भी प्राप्त होते हैं और लिपिकर्ताकी इतिश्रीमें संवत् १७०४का उल्लेख भी मिलता है. यह लिपिकर्ता श्रीव्रजनाथ भट्ट हैं ऐसा माण्डवीस्थ गो.श्रीशरदबावाने अधुना प्रकाशित श्रीगोपीनाथप्रभुचरणग्रन्थावलीमें निरूपण किया है. विशेष जानकारी उस पुस्तकमें प्राप्त हो सकती हैं. फिर भी इस हार्दिक

सहयोगके लिये इस हस्तप्रतिको उपलब्ध करानेवालोंके भी आभारी हैं.

इन टीकाओंके आद्य मुद्रित संस्करणोंके सम्पादकोंकी प्रस्तावनाएं हमने द्वितीय परिशिष्टके रूपमें प्रकाशित की हैं.

लेखोपेत राजसप्रमाणप्रकरणसुबोधिनीजी श्रीवाडीलाल नगीनदास शाहने संवत् १९९५में प्रकाशित की थी. सर्वटीकोपेत राजसप्रमेयप्रकरणसुबोधिनी श्रीमूलचन्द्र तेलीवालाके सहयोगिओंने उनके पश्चात् श्रीधीरजलाल सांकलीयाके नेतृत्वमें विक्रम संवत् १९८५में प्रकाशित की थी, जो कि सम्प्रदायमें आदर्श सम्पादनका जो कीर्तिमान श्रीतेलीवालाने स्थापित किया है उसीका अनुसरण है. आद्य और शुद्ध मुद्रणके अतिरिक्त संगत साहित्य— स्वतन्त्रलेख, कारिकासूचि, श्लोकसूची, उपन्यस्तवाक्यसूची, योजनादिसे भूषित भागवतार्थनिबन्ध, त्रिविधनामावली, श्रीपुरुषोत्तमसहस्रनाम, श्रीसुबोधिन्यनुस्यूतवाङ्मुक्तिकावली— का निवेश अपने आपमें एक सांगोपांग ग्रन्थप्रकाशनकी मिसाल है आज भी. इन सभीका इस संस्करणमें निवेश करते हम उन आद्यसम्पादकोंके प्रति अपनी चिरकृतज्ञता व्यक्त करते हैं. इनमेंसे भागवतार्थनिबन्ध, त्रिविधनामावली, श्रीभागवतदशमस्कन्धार्थानुक्रमणिका एवं श्रीपुरुषोत्तमसहस्रनाम प्रकरणार्थ / लीलार्थ के बोधक होनेके कारण हमने इन्हें वाक्यार्थ-पदार्थनिरूपिका श्रीसुबोधिनीके पूर्व ही दिये हैं. श्रीहरिरायजीका एक भ्रमरगीतीयपद्यसंशयोच्छेद नामक स्वतन्त्रलेख एवं टिप्पण्यादि प्रकीर्णदीपिकान्त टीकाएँ उन्होंने परिशिष्टमें दी थी सो हमने पाठकोंकी सुविधार्थ ४३-४४वे अध्यायमें श्रीसुबोधिनीजी-लेख-प्रकाशके साथसाथ ही प्रकाशित किये हैं. श्रीहरिरायजीका स्वतन्त्रलेख हमने प्रथमपरिशिष्टतया प्रकाशित किया है. कारिका-श्लोक-उपन्यस्तवाक्य-सूचियां एवं श्रीमदाचार्यवाङ्मुक्तावली हमने तृतीय परिशिष्टके रूपमें प्रकाशित की हैं.

तामसप्रमाणप्रकरणकी हमारी शैलीको यथावत् निभाते हुए हमने हमारे द्वारा प्रस्तावित पाठ (!) रूपमें दिये हैं; तथा श्रीसुबोधिनीपाठके अनुसार श्रीभागवतके श्लोकोंके संशोधनका भी प्रयास किया है. हमारी पादटिप्पणीयाँ '-सम्पा.'संकेतसे पहचानी जा सकती है; अन्य सब



पादटिप्पणी आद्यसम्पादकोंकी हैं.

इनके अलावा सुबोधिनीके एक अभ्यासी महानुभाव भगवदीयकृत भ्रमरगीतपे एक रसप्रद विवेचन हमें प्राप्त हुवा जो हमने प्रथमपरिशिष्टमें दिया है.

अभी तक जिनका समावेश नहीं हो पाया ऐसे कुछ प्रकीर्ण स्वतन्त्रलेख हैं, जिनमेंके कुछ अप्रकाशित तो कुछ प्रकाशित हैं. उन्हें इस ग्रंथखंडमें छापनेका हमने तय किया था लेकिन प्रसंगाभाववशात् वैसा नहीं कर पाये हैं. पाठकोंसे यह अनुरोध है कि वे अपने संग्रहमेंके स्वतन्त्रलेखोंकी झॅरोक्स कॉपी हमें उपलब्ध करायें. भविष्यमें उन्हें अवश्य छापने हैं.

इस ग्रन्थके मुद्रणकार्यमें हमारे सहयोगी श्रीधर्मेन्द्र झाला तथा श्रीमधुभाई भाटिया, तथा कम्पोज़र फॉन्टॅसी टाईपसॅटर्सके श्रीप्रसाद धवलीकर, श्रीमती अंजलि जाधव एवं श्रीमती रजनी करांदे के हम कृतज्ञ हैं.

राजसप्रकरणानुरूप चाञ्चल्यसे ग्रस्त होकर हमने इस प्रकाशनके लिये पाठकोंके धैर्यकी परीक्षा-सी ले ली इसका हमें खेद है. हम सभीकी पाठकगणसे यही अपेक्षा है कि वे इस वाङ्मयके अध्ययनद्वारा हमें चिरकृतज्ञ बनायें.

जयति श्रीवल्लभार्यो जयति च विठ्ठलेश्वरः प्रभुः श्रीमान्।
पुरुषोत्तमश्च तैश्च निर्दिष्टा पुष्टिपद्धतिर्जयति॥

श्रीवल्लभाब्द ५२७ — *गोस्वामी श्याममनोहर*
श्रीवल्लभप्रादुर्भावोत्सव — *असित शाह*



॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

सर्वात्मभावका तुलनात्मक अध्ययन*

सर्वात्मभावगम्यो यः सर्वः सर्वत्र सर्वथा।
तं ब्रह्म परमात्मानं भगवन्तं सदाश्रये॥
श्रीमदाचार्यचरणान् प्रभून् श्रीविट्ठलेश्वरान्।
भक्तेः सर्वात्मभावत्वस्थापकान् हि नमाम्यहम्॥

'सर्वात्मभाव' शब्दकी व्युत्पत्ति :

'सर्वात्मभाव' शब्दकी व्युत्पत्तिका विचार करने पर यह तीन शब्दोंसे बना हुवा पद है: [1]'सर्व' [2]'आत्मन्' [3]'भाव'.

विभिन्न टीकाकारोंने विभिन्न स्थलोंपर अनेक अर्थ 'सर्वात्मभाव'के दिये हैं. इन अर्थभेदोंके मुख्य आधार केवल प्रसंग एवं समास ही नहीं किन्तु कुछ अन्य अनिवार्यतायें भी हैं. फिर भी व्यास-समासविधिसे भी इस पदकी व्युत्पत्तिपर प्रारम्भमें ही दृष्टिपात कर लेना उपकारक ही होगा.

*प्रस्तुत निबन्ध 'सर्वात्मभावका तुलनात्मक अध्ययन' ई.स.मार्च, १९७२ से अप्रेल, १९७३ तक १३ लेखांशोंमें 'श्रीवल्लभविज्ञान' मासिक पत्रिकामें क्रमशः प्रकाशित हुवा था. इस अवधिमें इस पत्रिकाके सम्पादनका उत्तरदायित्व भी मेरे ही जिम्मे था. भगवत्संयोगपरमफलवादके दुर्धर्ष आग्रही पितृचरण गोस्वामिश्रीदीक्षितजी महाराजकी निजकण्ठोक्त आज्ञाको शिरोधार्य कर के तथा वे इसका समाधान भी लिख कर दिखायेंगे ऐसी प्रतिज्ञासे प्रेरित हो कर तब मैंने यह निबन्ध उनके ही लिये लिखना प्रारम्भ किया था. इस बीच, किन्तु, उनके नित्यलीलाप्रवेश हो जानेके कारण आगे लिखनेका उत्साह ही क्षीण हो जानेसे लिखा नहीं जा सका! यहां पुनः उसी अपूर्ण निबन्धको ही थोडे बहोत संशोधन-परिवर्धनके साथ प्रकाशित किया जा रहा है. (गो.श्या.म.)

(१)'सर्व' शब्द विभिन्न अर्थोमे कयी तरहसे 'आत्मभाव'के साथ जोड़ा हुवा माना गया है. यथा —

(क)सर्व=सभी इन्द्रियोंसे एवं अन्तःकरणकी वृत्तियोंसे.
(ख)सर्व=सर्वत्र वस्तुमात्रमें अथवा देह इन्द्रिय आदि सभीमें.
(ग)सर्व=सभी तरहके.

(२)'आत्मन्' शब्दके भी इसी तरह कयी अर्थ किये गये हैं. यथा —

(क)आत्मन्=परमात्मा भगवान्.
(ख)आत्मन्=जीवात्मा.
(ग)आत्मन्=अन्तःकरण आदि.
(घ)आत्मभाव=अभेदबुद्धि.

(३)'भाव' शब्दकी भी यही स्थिति है. यथा —

(क)भाव=भावना या बुद्धि.
(ख)भाव=स्नेह या भक्ति.
(ग)भाव=आशय.

इन सभी अर्थोके कारण इन शब्दोंके समास भी कयी तरहसे सम्भव हैं. यथा —

(१)सर्वः + आत्मनो+भावः =सर्वात्मभावः.
(२)सर्वैः + आत्मनो + भावः =सर्वात्मभावः.
(३)सर्वत्र + आत्मनो + भावः =सर्वात्मभावः
(४)सर्वथा + आत्मनो + भावः =सर्वात्मभावः.
(५)सर्वः + आत्मनि + भावः =सर्वात्मभावः.

<u>सर्वात्मभावके विभिन्नरूप</u> :

इन अनेकविध समासों तथा अर्थों को दृष्टिगत करनेपर यह

निश्चित हो जाता है कि सर्वात्मभावके कई रूप हो सकते हैं:

(१)ज्ञान या भक्ति के विचारसे.

(२)भक्तिमें मर्यादा या पुष्टि के विचारसे.

(३)इन दोनों तरहकी भक्तिमें भी साधन या फल के विचारसे.

(४)पुष्टिभक्तिकी फलावस्थामें भी विप्रयोग या संयोग के विचारसे.

प्रस्तुत विवेचनाका स्वरूप एवं प्रयोजन :

सर्वात्मभावके इन सभी रूपोंका विचार यहां इस लेखका न तो उद्देश्य है और न वह शक्य ही है. केवल पुष्टिमार्गीय सर्वात्मभावके विभिन्न पक्षोंका, अर्थात् साधनदशा एवं फलदशा, इसी तरह विप्रयोगदशा एवं संयोगदशा के समय प्रादुर्भूत होते सर्वात्मभावका, संप्रदायके विभिन्न विद्वानोंने क्या स्वरूप माना है, कहां उनमें मतैक्य है; एवं कहां उनमें मतभेद है, आदि रूपोंमें इस विषयके स्वरूपको संक्षेपमें निर्धारित करना तथा विप्रयोगकालिक सर्वात्मभावके सन्दर्भमें राजसप्रकरणके प्रमेयप्रकरणमें आते भ्रमरगीतमें क्या धर्मिविप्रयोगका प्रतिपादन विवक्षित हो सकता है या नहीं इसका कुछ विस्तृत विमर्श यहां इस लेखका प्रमुख प्रतिपाद्यविषय तथा प्रस्तुत लेखनप्रयासका प्रमुख प्रयोजन है.

सर्वात्मभावका भाष्य एवं सुबोधिनी में मिलता सन्दर्भ :

सर्वात्मभावकी चर्चा मूलरूपमें ब्रह्मसूत्राणुभाष्य एवं भागवतसुबोधिनी में साधनके निरूपण करनेवाले विवेचनोंमें उपलब्ध होती है.

ब्रह्मसूत्राणुभाष्यमें यह चर्चा प्रधानरूपेण तृतीयाध्यायके "**प्रदानवदेव तद् उक्तम्**" (ब्र.सू.भा.३।३।४३) सूत्रसे ले कर "**भूम्नः क्रतुवद् ज्यायस्त्वं तथाहि दर्शयति**" (ब्र.सू.भा.३।३।५७) तक की गयी है. इसी तरह चतुर्थ अध्यायके "**द्वादशाहवद् उभयविधं बादरायणो अतः**" (ब्र.सू.भा.४।४।१२) सूत्रमें तथा "**प्रत्यक्षोपदेशाद् इति चेद् न आधिकारिक-**

मण्डलस्य उक्तेः'' (ब्र.सू.भा.४।४।१८) सूत्रोंमें भी कुछ सर्वात्मभाव सम्बन्धी स्पष्टतायें गौणरूपमें उपलब्ध होती हैं.

भाष्यके साधनाध्यायमें आती इस चर्चाका 'वेदान्ताधिकरणमाला' नामक ग्रन्थमें श्रीपुरुषोत्तमजी संक्षिप्त विवरण यों देते हैं :

साधनाध्यायके सोलहवें प्रदानवदधिकरणमें यह सिद्ध किया गया है कि भक्तिकी चरम अवस्था सर्वात्मभाव किसी साधनसे साध्य नहीं है किन्तु वह तो भगवान्के वरदान रूपमें ही प्राप्त हो सकता है.

सत्रहवें दस सूत्रवाले लिंगभूयस्त्वाधिकरणमें भक्तिकी चरम अवस्थारूप सर्वात्मभावका स्वरूप, भगवान् आत्माकी भी आत्मा हैं, यह दिखानेके लिये है.

अठ्ठारहवें तीन सूत्रवाले व्यतिरेकाधिकरणमें यह कहा गया है कि ज्ञानियोंको पूर्ण अक्षरब्रह्मका ज्ञान नहीं होता है किन्तु भक्तोंको पूर्ण अक्षरब्रह्मका ज्ञान होता है. अतएव सर्वात्मभाव भक्तिकी चरमावस्थारूप और मुख्यफलरूप है. वह मध्यमभक्तिके फल(पुरुषोत्तममें सायुज्य)से, स्वाभाविक रूपमें अधिक है. यह भी सिद्ध किया गया है.

इसके वाद उन्नीसवें एकसूत्रात्मक भूमाधिकरणमें साधनदशामें दुःखकी अनुभूति होती होनेसे उसे पुरुषार्थ नहीं मानना चाहिये, इस आपत्तिका निराकरण फलके विचार करनेपर यह दुःख दुःख नहीं रह जाता है, यों कह कर दी गयी है.

भाष्यप्रकाशमें, यहीं, श्रीपुरुषोत्तमजी सर्वात्मभावकी परिभाषा प्रस्तुत करते हुवे जो कुछ कहते हैं उसका सारांश यों है :

''परमात्माको उपनिषद्में वरणलभ्य माना गया है. यह जीवात्माका परमात्मकर्तृक वरण सर्वात्मभावके रूपमें जीवात्माके भीतर प्रकट होता है. अन्य किसी साधनसे नहीं. यह सर्वात्मभाव भगवदनुरागात्मक होता है. एक ऐसा अनुराग कि जिसके कारण जीवात्माको जब भगवान्के

दर्शन न होते हों तो वह तीव्र वियोगाधिसे तप्त हो जाती है. अतएव इस परमानुरागको 'विगाढ़भाव' कहा जाता है. श्रुतिमें निरवधि आनन्द या रस के रूपमें सर्वाधिक प्रियत्वेन जिस परम आत्माको निरूपित किया गया है तदनुरूप उसके सर्वाधिक प्रिय होनेका जीवात्मगत भाव ही सर्वात्मभाव है. इसी सर्वात्मभावके क्षुद्र अंशोंके कारण ही परमात्मेतर इन्द्रियविषयोंमें जीवात्माको सुखकी अनुभूति भी और भ्रान्ति भी होती है. जीवात्माके भीतर किसी भी वस्तु या व्यक्ति को स्नेह कर पानेका स्वभाव या सामर्थ्य मूलमें इसी सर्वात्मभावके क्षुद्रांशवश शक्य बनते हैं. स्वयं जीवात्मा उस अंशी चिदानन्दका एक अणुपरिमाण क्षुद्रांश होती है. अपने इस क्षुद्र स्वरूपके अनुरूप क्षुद्रानुरागके स्वभावमें उलझी जीवात्मा परमात्माके द्वारा वरण या वरदान के बिना अंशिबोध तथा अंशिभाव से सम्पन्न हो नहीं पाती. 'वरदान' या 'प्रदान' का अभिप्रतय अंशीद्वारा प्रकट किया गया निज अनुभाव होता है. अतः ऐसे प्रदानवश सर्वत्र अंशरूप जीवात्मा अपने अंशिरूप परमात्माकी सहज प्रियताके अनुभवसे मण्डित हो जाती है."

(ब्र.सू.भा.प्र. ३।१६।४३).

श्रीमद्भागवतसुबोधिनीमें भी यह चर्चा कयी स्थलोंपर प्रसंगोपात्त की गयी है.

फिर भी श्रीमद्भागवतके दशमस्कन्धमें व्रजके गोपीजनोंने जो नन्दनन्दन भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके बारेमें जो चार गीत गाये हैं उनका इस सर्वात्मभावके स्वरूपनिर्धारणार्थ समधिक महत्त्व है. वे गीत हैं : १.वेणुगीत २.गोपीगीत ३.युगलगीत तथा ४.भ्रमरगीत. वैसे गीततया प्रसिद्ध न होनेपर भी दशमके २६वें अध्यायके श्लो.सं.३१-४१ तथा इसी तरह ३६वें अध्यायके श्लो.सं.१९-३० अंशोंको भी गीततया स्वीकारा जाये तो कुल मिला कर गोपीजनोंद्वारा गाये गये गीतोंकी संख्या भगवान्के ऐश्वर्य वीर्य यश श्री ज्ञान और वैराग्य रूपी छह गुणोंके अनुरूप छह बन जाती है.

इनमें सर्वप्रथम वेणुगीत धर्मिप्रकरणगत, दूसरा प्रतिवादगीत ऐश्वर्यप्रकरणगत, तीसरा गोपीगीत यशःप्रकरणगत, चौथा युगलगीत ज्ञानप्रकरणगत, पांचवां उपालम्भगीत श्रीप्रकरणगत तथा छट्ठा भ्रमरगीत पुनः ज्ञानप्रकरणगत माना गया है. किसीभी स्थितिमें इतना तो स्पष्ट ही है कि सर्वात्मभाववती गोपिकाओंद्वारा किये गये ये भगवद्विषयक गान हैं. अतः इन सभीके आधारपर भी उनके सर्वात्मभावके स्वरूप और स्वभाव का विमर्श चमत्कृतिजनक बन जाता है. इनमेंसे चार गीत तो तामसप्रकरणके अन्तर्गत आते हैं तथा दो गीत प्रस्तुत राजसप्रकरणमें आये हैं. वैसे इन सभी गीतोंमें गोपीजनोंके सर्वात्मभावके रंगोंकी विविधता ही निरूपित हुयी है.

सर्वात्मभाव उपदेशात्मक प्रकरणग्रन्थमें :

फिरभी यह सर्वात्मभाव लीलानिरूपणविधासे वर्णित सर्वात्मभाव है. जबकि षोडशग्रन्थ आदि कर्तव्योपदेशपरक ग्रन्थोंमें, जो सर्वात्मभाव निरूपित हुवा है, वह कर्तव्योपदेशविधासे है. अतः कर्तव्योपदेशपरक ग्रन्थोंके आधारपर भी सर्वात्मभावके स्वरूप और स्वभाव का विमर्श पहले कर लेना अधिक उपयुक्त होगा. क्योंकि इन उपदेशपरक ग्रन्थोंमें श्रीमदाचार्यचरणने व्रजभक्तिभावके अनुरूप अपनी भावनाओंका उपदेश दिया है, अपने प्रिय शिष्योंको. अतः प्रत्येक भगवल्लीलामें जैसे कुछ न कुछ कर्तव्यशास्त्रकी रूपरेखा महाप्रभु खोजते हैं उसी तरह प्रत्येक उपदेशपरक वचनोंमें भी भगवल्लीलानुभूतिका आश्वासन भी द्योतित होता ही है.

जिन विद्वानोंनें इसपर स्वतन्त्र रूपमें विचार किया है, उनमें, सर्वप्रथम श्रीहरिरायजी, श्रीलालूभट्टजी, श्रीपुरुषोत्तमजी, लेखकार श्रीवल्लभजी एवं रश्मि-भक्तिमार्तण्डकार श्रीगोपेश्वरजी आदि प्रमुख हैं.

सर्वात्मभाव 'चतुश्लोकी'में :

इन विद्वानोंके अलावा अन्य भी षोडशग्रन्थान्तर्गत चतुश्लोकीके टीकाकारोंने वहां आते 'सर्वभावेन' एवं 'सर्वात्मना' पदोंकी व्याख्या सर्वात्मभावके रूपमें की है. यहां चतुश्लोकीमें साधनदशा एवं फलदशा यों दोनों तरहके सर्वात्मभावोंकी चर्चा है. अतः साधनोपदेशपरक प्रकरणग्रन्थोक्त

अर्थोंको देख लेनेके बाद फलदशाके सर्वात्मभावके बारेमें विप्रयोगवादियों एवं संयोगवादियों द्वारा जो व्याख्यायें प्रस्तुत की गयी हैं, उन्हें देखना अधिक उपयुक्त होगा. इससे सर्वात्मभावके बारेमें क्रमिक विचार बराबर हो पायेगा. चतुश्लोकीपर करीब सात टीकाकारोंकी टीकायें उपलब्ध होती है. एवं सर्वात्मभावकी चर्चा इस ग्रन्थमें तीन रूपोंमें आती है : (१)धर्मके रूपमें, (२)कामके रूपमें, एवं (३)मोक्षके रूपमें.

तदनुसार —

सर्वात्मभाव एवं धर्म :

सर्वदा *सर्वभावेन* भजनीयो व्रजाधिपः।
स्वस्यायमेव धर्मो हि नान्यः क्वापि कदाचन॥

यहां श्रीव्रजरायजीने 'सर्वभावेन' पदका अर्थ 'सर्वात्मभावेन' किया है और वे कहते हैं : "सर्वो भगवति यो भावः तेन तथा, पतिपुत्रादिभावेनापि तथा, इति अर्थः" अर्थात् भगवान्की सेवाके समय हमारे सारे भाव भगवान्के बारेमें ही बने रहने चाहिंये. सभी तरहके भावसे तात्पर्य है, पतिभाव पुत्रभाव सखाभाव या स्वामिभाव इत्यादि. इसके अलावा भी तीन चार अर्थ श्रीव्रजरायजी देते हैं : "यद्वा 'सर्वभाव'पदेन स्त्रीभावः उच्यते" यहां रासके प्रकरणमें गोपीजनोंका स्त्रीभाव जैसाकि "सन्त्यज्य सर्वविषयान् तव पादमूलं प्राप्ताः" वचनोंमें अभिव्यक्त हुवा है, वैसे सभी विषयोंमेंसे आसक्ति हटा कर केवल भगवान्के चरणारविन्दका दृढ़ अवलम्बन भी 'सर्वभावेन' पदसे विवक्षित हो सकता है. इस अर्थमें 'सर्वभाव' पदका अर्थ 'सर्वात्मभाव' सम्भवतः नहीं रह जाता. 'आत्म' पदका अध्याहार करते हुये भी, परन्तु, एक विलक्षण अर्थ श्रीव्रजरायजी दिखलाते हैं : "यद्वा 'सर्व'शब्देन प्रभुरेव अत्र उच्यते यतः 'सर्व'शब्दस्य तत्रैव शक्तिः, तदात्मरूपा स्वामिनी तत्र भावेन दासीभावेन इति भावहृदयम्" अर्थात् 'सर्व' शब्दका अर्थ स्वयं भगवान् हैं, उनकी 'आत्मा' स्वामिनी हैं. उनके बारेमें 'दासीभाव' रखते हुवे उनके सन्देशोंको प्रभुतक पहुंचाना या ऐसी ही अन्य भी कोई सेवा या उससे सम्बन्धित सामग्रीको जुटाना, इसे पुष्टिमार्गीय जीवका धर्म माना गया है.

श्रीवल्लभजी भी यहांके इस 'सर्वभाव'का अर्थ सर्वात्मभाव ही करते हैं. उनका कहना है कि सर्वभावके साथ की जानेवाली सेवामें 'सर्व' पदका अर्थ यह होता है—देह इन्द्रिय प्राण अन्तःकरण आदिसे जो भी कुछ भाव हम कर पाते हों—उन सारेके सारे भावोंके सहित भगवान्‌की सेवा. यह पुष्टिमार्गीय भगवत्सेवोपयोगी एक विलक्षण भाव अर्थात् देह इन्द्रिय प्राण अन्तःकरण आत्मा स्त्री पुत्र धन घरबार आदि सभी कुछ भगवान्‌के हैं, मेरे नहीं है, यह जो संसारको मिटानेवाला भाव है, इस भावके साथ भगवान्‌की सेवा करनेपर जीव निश्चिन्त हो सकता है. स्पष्ट है कि यह आत्मनिवेदनमन्त्रोक्त आत्मसमर्पणरूप सेवांगभूत सर्वात्मभाव है.

'सर्वभाव' पदका सर्वात्मभाव अर्थ किये बिना ही, श्रीमथुरानाथजीने क्रमशः पूर्वोक्त दोनों टीकाकारोंके भावोंको ले कर तीसरा अर्थ इसका सर्वात्मभाव भी किया है. वे कहते हैं कि मूलमें यहां 'आत्म' पदका न होना परोक्षवाद है. परोक्षरूपमें अपनी बात कहनेका ढंग स्वयं श्रीभगवान्‌का एवं शास्त्रकारोंका भी उपलब्ध होता ही है. 'सर्वात्मभाव' पदका अर्थ ये अनाम विवृतिकारके द्वारा दिये अर्थके अनुसार ही करते हैं. सभी इन्द्रियोंकी भगवान्‌की तरफ एक-दूसरेसे आगे-आगे बढ़ती हुयी अत्यन्त स्वाभाविक प्रवृत्ति सर्वात्मभाव है. श्रीमथुरानाथजी यहां एक सुन्दर शंका-समाधान यहभी करते हैं कि सर्वात्मभावके साथ सेवा करनी चाहिये यों कहनेपर सर्वात्मभावको सेवाकी क्रियाका करण मानना पड़ेगा. इस सेवारूपिणी क्रियाके फल स्वयं भगवान् है. अब प्रत्येक करणका कुछ न कुछ फल तो होता ही है किन्तु कहीं भी करण स्वयं फल हो, ऐसा देखनेमें नहीं आता है. अतः यदि भगवान् रूपी फलको दिलानेवाली सेवा-क्रियाका करण सर्वात्मभाव हो तो इस सर्वात्मभावको भी फलात्मक नहीं माना जा सकेगा. क्योंकि करण कभी फल नहीं होता प्रत्युत फलका साधन ही होता है. फिरभी व्रजाधिपकी सेवाके करणको साधन न मान कर फलरूप मानना ही उचित है. क्योंकि व्रजाधिपकी प्राप्ति साधनसे नहीं होती किन्तु अनुग्रहसे ही होती है. अतः अपनी प्राप्तिके साधनरूप अनुग्रहके व्यापारतया व्रजाधिप यदि सर्वात्मभाव प्रदान करते हों तो उसे फलरूप ही जानना चाहिये.

श्रीकृष्णराय भट्ट चार-पांच अभिप्राय 'सर्वभाव' पदके दिखलाते हैं. उनमें दो अभिप्राय 'सर्वात्मभाव' अर्थ ले करके दिखलाये गये हैं. सर्वात्मभाव उनके अनुसार दो तरहसे सम्भव है :

> (१) "सभी प्रकारसे आत्मा यानि स्वयं जीवके भाव=मनोवृत्तियोंका भगवान्में स्थिर हो जाना सर्वात्मभाव है."
>
> (२) "सभी=स्थावर-जंगममें आत्मरूप=भगवान्की भावना=भाव=सर्वात्मभाव है."

मठेश श्रीनाथ भट्टका कहना है कि सर्वात्मभावके उक्त दोनों तरहके अर्थ सम्भव हैं किन्तु यहां पुष्टिमार्गीय अर्थ ही लेना चाहिये. यह पुष्टिमार्गीय अर्थ है : " 'आत्माके + सारे + भाव' = सर्वात्मभाव". क्योंकि " 'सर्वत्र + आत्मभाव' = सर्वात्मभाव" यह मर्यादामार्गीय है. सर्वत्र आत्माके होनेका भान वहीं माना गया है.

इस तरह पुष्टिमार्गीय धर्म, सेवा, के अंगभूत सर्वात्मभावका स्वरूप हमने देखा. वैसे तो साधन एवं फल में जहां अन्तर न हो उसीको पुष्टिमार्ग माना गया है किन्तु फिरभी अलौकिक साधनफलका सम्बन्ध भी मान्य है ही. प्रायः अनेकों स्थलपर इसका उल्लेख मिलता भी है. यहांभी यदि भगवत्सेवाको फलरूप मान लें तो उसके साधन या करण के रूपमें वर्णित सर्वात्मभाव स्वयं साधन न भी हो तो कमसे कम साधनदशाका अनुभव तो है ही. क्योंकि प्रभुकृपा द्वारा सर्वात्मभाव प्राप्त करके हम प्रभुको प्रकट कर सकते हैं. अतएव सेवामें इसे अंग माना गया है.

<u>सर्वात्मभाव एवं काम</u> :

> **यदि श्रीगोकुलाधीशो धृतः सर्वात्मना हृदि।**
> **ततः किमपरं ब्रूहि लौकिकैः वैदिकैरपि॥**

यहां इस श्लोकमें पुष्टिभक्तिमार्गीय कामका निरूपण है. श्रीव्रजरायजीके

अनुसार यहांके 'सर्वात्मना' पदका अर्थ कामभाव है किन्तु श्रीहरिरायजीके मतके विपरीत ये, गोपिकाओंके सर्वात्मभावको ही कामभाव मानते हैं; क्योंकि आचार्यचरणने गोपिकाओंको गुरु माना है एवं उनके द्वारा अपनाये गये साधनको ही साधन माना है. ठीक इसी संगतिमें यहां भगवान्‌में सर्वात्मभावरूप कामभाव स्थिर होनेपर कृतकृत्यता हो जाती है. श्रीव्रजरायजीके अनुसार यहां इस श्लोकमें आचार्यचरणका यही उपदेश है.

श्रीवल्लभजी 'सर्वात्मना' पदका अर्थ 'सर्वात्मभावेन' ही करते हैं. श्रीमथुरानाथजीने प्रथम श्लोकमें 'सर्वभावेन'का जो अर्थ किया है, उसे ही वे यहां भी स्वीकारते हैं. श्रीकृष्णराय भट्टका भी प्रथम अर्थ तो ''कायवाङ्मनसा'' हैं परन्तु द्वितीय अर्थ वे सर्वात्मभाव ही मानते हैं. उनके अनुसार जिन भक्तोंने पत्नी घर पुत्र धन आदि सभी कुछ छोड़ कर केवल भगवान्‌को ही अपना सर्वस्व मान कर, अपनी स्वयं आत्मा या प्राण की भी उपयोगिता भगवदर्थ ही मान ली, उनके लिये कुछ भी कृत्यशेष नहीं रह जाता है. यह अवस्था सर्वात्मभावात्मिका भक्तिकी ही होती है. श्रीद्वारकेशजी भी 'सर्वात्मना' पदका अर्थ कामभाव मानते हैं.

यहां हम देख सकते हैं कि फलात्मक होते हुवे भी साधनदशामें भक्तिकी उच्चतम अवस्था जो प्रकट होती है उसीकी चर्चा यहां अभिप्रेत हैं. यह वही अवस्था है जहां आ कर साधन एवं फल के भेदकी सीमायें एक-दूसरेसे मिल जाती हैं. किन्तु प्रथम श्लोककी ही तरह ब्रह्मसम्बन्धमें आते हुवे साधनदशाके भी आरम्भकालका, जो सर्वात्मभाव ही है, उसे ही यहां भी माननेपर यह भी फलात्मक नहीं किन्तु साधन दशाका सर्वात्मभाव ही ठहरता है. यह सम्भव है कि यहां मानसी सेवा या व्यसनदशा या प्रारम्भिक विप्रयोगकी अनुभूति भी 'काम' पदसे विवक्षित हो. प्रभुको अपने हृदयमें बिरजवाना सर्वात्मभावके हृदयमें आविर्भूत होनेपर ही सम्भव होनेसे वही सर्वात्मभाव यहां भी अभिप्रेत हो सकता है.

इसी आशयसे 'सर्वात्मभावविवृति' नामक ग्रन्थके कर्ता श्रीवल्लभजी

सर्वात्मभावका ब्रह्मकी महिमा एवं ब्रह्मके आधारके रूपमें चित्रण करते हैं. सर्वात्मभाव हृदयमें पहले प्रकट होता है तब उसके बाद भगवान्.

यह सर्वात्मभाव भगवान्‌के दर्शनकी तीव्रतर लालसाके जगनेपर प्रकट होता है एवं यह तीव्रतर लालसा ही पुष्टिमार्गीय काम है. इस कामको, अतएव, 'दिदृक्षा' कहा गया है. दिदृक्षा-दर्शनकी तीव्रतर लालसा विप्रयोगमें ही सम्भव है. अतएव यहांके सर्वात्मभावको विप्रयोगकालीन सर्वात्मभाव, जो भक्तिकी व्यसनदशा या मानसी सेवाका सहगामी है, उसेही मानना चाहिये. अतएव "धृतः सर्वात्मना हृदि" से आन्तर प्राकट्यका उल्लेख भी संगत हो जाता है. शृंगाररसकी दृष्टिसे यह उत्तरदलात्मक होनेके कारण फलरूप है एवं भक्तिरसके अन्तर्गत आती विभिन्न दास्य सख्य वात्सल्य आदिकी अनुभूतियोंमें भगवदाविर्भावका साधक होनेके कारण साधनरूप भी है. यों पुष्टिमार्गीय कामपुरुषार्थके अन्तर्गत सर्वात्मभावका स्वरूप हमने देखा.

सर्वात्मभाव और मोक्ष :

अतः सर्वात्मना शश्वद् गोकुलेश्वरपादयोः।
स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यमिति मे मतिः॥

यहां इस श्लोकमें पुष्टिमार्गीय मोक्षका प्रतिपादन है. यहां भी 'सर्वात्मना' पदका अर्थ सर्वात्मभाव किया गया है. श्रीव्रजरायजी कहते हैं : कामभावात्मिका भक्तिके बाद सर्वात्मभावपूर्वक भजन करते ही रहना चाहिये. भजन या स्मरण को छोड़ा नहीं जाता, वह तो सर्वात्मभाव सिद्ध होनेपर भी चलता ही रहता है. कामभावके कारण भगवत्सम्बन्ध होनेपर उस सम्बन्धकी गरिमाके कारण प्रमदाभाव या मानभाव न आ जाये एतदर्थ सर्वात्मभावकी अपेक्षा है. इस अवस्थापर पहुंचनेके बाद वही भजन या सेवा फलरूप मान ली जाती है. ऐसी स्थितिमे उस सेवाके अंग सर्वात्मभावको भी फल ही माना जायेगा.

अतएव श्रीवल्लभजी कहते हैं कि यद्यपि इस शरीरके छूटनेके बाद एक अन्य शरीरसे ही भजनानन्दरूप फल मिलेगा, जो कि

पुष्टिमार्गीय मोक्ष है, किन्तु वह फल भी मिलेगा तो इसी देहके द्वारा अनुष्ठित तथा देह एवं चित्त को शुद्ध करनेवाले भगवत्सेवा-स्मरणके उपायोंकी प्रक्रिया द्वारा ही.

श्रीमथुरानाथजी 'सर्वात्मना' पदका अर्थ पूर्व श्लोकमें कहे गये सर्वात्मभावके रूपमें ही लेते है. जैसाकि स्पष्ट ही है कि अब वही सर्वात्मभाव फलभूमिपर अनुभूत हो रहा होनेसे वही सर्वात्मभाव फलरूपभी माना जायेगा. श्रीकृष्णराय भट्ट यहां सामान्य अर्थ लेते हैं. और इसी तरह श्रीद्वारकेशजी भी.

भगवल्लीलाके सन्दर्भमें सर्वात्मभावकी विवेचना :

इस तरह कर्तव्योपदेशपरक ग्रन्थके आधारपर सर्वात्मभावका विहंगावलोकन कर लेनेके बाद अब लीलावर्णनपरक सुबोधिनीके वेणुगीतप्रकरणके आधारपर भी सर्वात्मभावके स्वरूप एवं स्वभाव का संक्षिप्त विमर्श श्रीपुरुषोत्तमजीके व्याख्यानके आधारपर हम दिखलाना चाहेंगे.

सर्वात्मभाव श्रीपुरुषोत्तमजीके अनुसार :

श्रीपुरुषोत्तमजीने यह चर्चा वेणुगीत-सुबोधिनीके प्रकाशमें की है.

यहांकी सुबोधिनीकारिकामें श्रीमदाचार्यचरण मोक्ष एवं भजनानन्द का अन्तर समझाते हुए कहते हैं कि यदि भगवान्के साथ वार्तालाप, उनके दर्शन आश्लेष सेवन स्पर्श आदिका सुख न मिलता हो और केवल भगवान्में लीन ही हो जाना ध्रुव निश्चित हो, तो केवल आत्माके द्वारा ही ब्रह्मानन्दका अनुभव होगा. परन्तु जहां तक आत्माके इन्द्रियोंके सहित होनेके तथ्यको लक्ष्यमें रखा जाता है तो यह अच्छी-भली आंखवालेको किसी अंधेरे कुएमें धकेलनेके बराबर सिद्ध होता है. इन्द्रियवालोंसे मोक्षकामनाकी अपेक्षा एक विचित्र बात है. उनके लिये तो श्रेष्ठफल सभी इन्द्रियोंसे भगवदानन्दका अनुभव ही हो सकता है. किन्तु यह अनुभव सहजही हरेकको नहीं होता. यह अनुभव तो उन्हें होता है, जिनके सारे बाधक छूट गये हों एवं जिनको साधकका लाभ हो गया हो.

ये साधक एवं बाधक क्या हैं? श्रीमत्प्रभुचरण टिप्पणीजीमें इसे समझाते हैं : भगवान्के अलावा सभी कुछ बाधक हैं एवं सर्वात्मभाव इस फलका साधक है. सर्वात्मभाव सिद्ध होनेपर भगवदानन्दका सभी इन्द्रियोंसे अनुभव सम्भव है.

इस सारे प्रसंगकी व्याख्या करते हुवे श्रीपुरुषोत्तमजी कहते हैं कि मुख्यफल पानेका जिन्हें अधिकार नहीं होता, उन्हें भगवान् मोक्ष दे देते हैं. अतः जिनमें सर्वात्मभाव नहीं पनपता वे मुख्यफल पानेके अधिकारी नहीं बन सकते हैं. जिनमें, किन्तु, यह सर्वात्मभाव प्रकट हो जाता है वे सभी इन्द्रियोंसे भगवदानन्दका अनुभव करनेमें समर्थ हो जाते हैं. अर्थात् उनके इस अनुभवमें आती सारी बाधायें दूर हो जाती हैं. इस विलक्षण फलानुभूतिके साधन सर्वात्मभावका स्वरूप श्रीपुरुषोत्तमजीने दो तरहसे समझाया है:

(१)भक्तिकी प्राथमिक दशामें होता सर्वात्मभाव.
(२)भक्तिकी चरम दशामें होता सर्वात्मभाव.

इन दोनों तरहके सर्वात्मभावोंके स्वरूपको समझानेके लिये 'सर्वात्मभाव' शब्दमें प्रयुक्त प्रत्येक पदके अर्थ एवं उन पदोंके समासभी अलग-अलग विवक्षित हैं :

(१)"**सर्वः + आत्मनि + भावः =सर्वात्मभावः.**" इस समासके अनुसार किये जाते अर्थका आधार श्रीपुरुषोत्तमजी "**तस्मात् त्वं सर्वभावेन भजस्व परमेष्ठिनम्**" (भाग.पुरा.३।३२।२२) श्लोककी सुबोधिनीको बनाते हैं. यहां सुबोधिनीमें कहा गया हैं कि हम जिनका भजन करते हैं, ऐसे ऐहिक या पारलौकिक जितने भी विषय सम्भव हों उन सभी विषयोंके रूपमें अर्थात् देहसे ले कर ईश्वर तक जिन-जिन विषयोंका हम भजन करते हैं, उन सभी रूपोंमें, उन सभी भावोंके साथ, भगवान्का भजन करना चाहिये. वे सारेके सारे भाव भगवान्में केन्द्रित होने चाहिंये—सारे भाव आत्मामें सधने चाहिंये. इनके सध जानेपर ही भक्तिकी प्राथमिक दशाका सर्वात्मभाव सिद्ध हो जाता

है.

(२)इसके विपरीत भक्तिकी चरमदशामें अनुभूत होते सर्वात्मभावकी व्युत्पत्ति "'सर्वत्र + आत्मनो + भाव:'=सर्वात्मभाव" है. अर्थात् सर्वत्र आत्मा-भगवान्के होनेका भाव. भगवान्के विरहमें जब यह भाव एक बार उभर आता है तो फिर भगवान्का वियोग नहीं रह जाता. यहां आ कर भक्ति पूर्ण हो जाती है. यहां आ कर जीव भगवान्के अलावा अन्य सारी वस्तुओंको स्वतः ही भूल जाता है. अतः यह साधक है और इसके सिद्ध हो जानेपर बाधक भी सभी स्वतःही दूर हो जाते हैं. आधुनिकोंको, किन्तु, यह भाव स्वतः तो हो नहीं सकता अतः प्राथमिक दशाके सर्वात्मभावका उपदेश उनके लिये किया गया है. इस प्राथमिक दशाके सर्वात्मभावके सिद्ध होनेपर आगे फलदशामें भी स्वभावतः वही प्रवृद्ध होता है. इस प्राथमिक दशाके सर्वात्मभावके सिद्ध होनेपर मोक्षकी सम्भावनासे भी बचा जा सकता है. क्योंकि प्राथमिक दशाका सर्वात्मभाव ही फल दशामें भी फलित हो जाता है एवं जीवको मोक्षसे बचा लेता है.

मैं समझता हूं कि इस विस्तृत विमर्शसे पुष्टिमार्गमें साधनदशा एवं फलदशामें अनुभूत होनेवाले सर्वात्मभावका स्वरूप पर्याप्त स्पष्ट हो जाना चाहिये. अब फलदशामें अनुभूत होनेवाले सर्वात्मभावकी विप्रयोगपरमफलवादियों संयोगपरमफलवादियों एवं उभयपरमफलवादियों द्वारा जो व्याख्या प्रस्तुत की जाती हैं उन्हें भी देख लेना उपयोगी होगा.

सर्वात्मभाव विप्रयोगवादमें :

सर्वप्रथम विप्रयोगपरमफलवादी श्रीहरिरायजीके अनुसार सर्वात्मभावका क्या स्वरूप है यह जान लेना चाहिये. क्योंकि विप्रयोग ही परमफल है, संयोग नहीं, इस चर्चाको सर्वप्रथम श्रीहरिरायजीने ही छेड़ा है. इस विषयसे सम्बद्ध चर्चा इन्होंने अपने कई ग्रन्थोंमें की है, जो 'श्रीहरिरायवाङ्मुक्तावलि'में संग्रहीत हैं. इसके अलावाभी अन्यत्र श्रीमदाचार्यचरणके मूलग्रन्थोंपर व्याख्या-टिप्पणी करते हुए इन्होंने प्रचुर प्रकाश स्वमतपर डाला है. इनमेंसे सर्वप्रथम हम इनके 'सर्वात्मभावनिरूपणम्' जिसमें सर्वात्मभावका स्वरूप एवं लक्षण इन्होंने प्रदर्शित किया है

उसे देखेंगे.

सर्वात्मभाव 'सर्वात्मभावनिरूपणम्'में :

श्रीहरिरायजीके अनुसार "सभी=इन्द्रियों एवं देह आदिके भगवान्में आत्मभाव=अनन्यभावको सर्वात्मभाव" कहा जाता है. 'आत्मभाव', यानि, 'यह मेरा' एवं 'मैं इसका' ऐसी जो भेदबुद्धि होती है उसका न होना है. अतः देह या इन्द्रियों से सम्बन्धित किसीभी प्रकारकी कामना भगवान्के बारेमें जब रह न जाती हो तब सर्वात्मभाव सिद्ध हुवा माना जाता है. क्योंकि भगवान्के बारेमें देह या इन्द्रिय से सम्बन्धित यदि कोईभी कामना हम करते हैं तो (१)इन्द्रिय एवं (२)इन्द्रियोंके विषय भगवान्, यों भेदभावपर आधारित ये कामनायें अभेदभाव-अनन्यभाव या आत्मभाव को दबा देती हैं. अतः ऐसे भेदभावका न होना ही सर्वात्मभाव है. अतएव तो सर्वात्मभाव होनेपर देह आदिकी स्फूर्ति नहीं होती, यह कहा जाता है. क्योंकि यदि देह आदिका भान बना रहे तो इन्द्रियोंका झुकाव अपने-अपने विषयोंकी तरफ तो रहता ही है. परिणामतः विषयेन्द्रियद्वैत मिट नहीं पाता. सर्वात्मभावकी सिद्धिके लिये अतः विषयत्यागकी आवश्यकता है. क्योंकि इसके बिना कामभाव रहते कामफल ही मिलता है. कामके रहते अद्वैत नहीं टिक सकता. कामभाव एवं सर्वात्मभाव के अन्तरको स्पष्ट करते हुवे श्रीहरिरायजी कहते हैं :

"'अहं भगवतः सर्वः' इति सर्वात्मभावनम्।
'प्रभुर् ममे'ति भावो हि कामभावो यतो मतः ॥"
(स.भा.नि.७)

"भगवान् मेरे हैं" यह सोचना कामभाव है जबकि "मैं भगवान्का हूं" यह ऐसी बुद्धि सर्वात्मभाव सिद्ध होनेपर होती है.

सर्वात्मभावसे स्वरूपानन्दकी अनुभूति होती है. अतएव इसे 'भावानन्द' भी कहा जाता है. सिद्धान्तमें भगवान्का जो स्वरूप है वह भावात्मक ही है. अतः यदि हमारा भाव भेदघटित (अर्थात् 'प्रभु मेरे हैं' इस तरहका) हो तो ऐसे कामभावके कारण भगवान्का स्वरूप एवं उस स्वरूपके

आनन्दकी स्थितिभी भेदघटित ही रहेगी. और इस भेदघटित स्थितिका रूप यह होगा कि भगवान्के दर्शन हमें आन्तर न हो कर बाह्यतया होंगे. स्वयं अपनेमेंसे बाहर भगवान्के दर्शनमें भेद ही सुस्पष्ट झलकने लगता है. थोड़ी बहुत जो अभिन्नता दिखलायी पड़ती है, वह भी इसलिये कि हमारे कामभावके आलम्बन भगवान् बने हुवे हैं. इसके अलावा कामभावका फल भगवान्का संयोगसुख प्राप्त करना है; क्योंकि, कामभावमें इससे अधिक तो और कोई अपेक्षा रहती ही नहीं. इसके विपरीत सर्वात्मभाव, जहां सभी विषयोंका एवं भेदबुद्धिका त्याग अपेक्षित है, उसमें तो केवल भावात्मक स्वरूप ही रह जाता है. और उसी स्वरूपकी प्राप्तिभी हमें होती है, काम आदिकी नहीं. क्योंकि वैसी कोई अपेक्षा ही भक्तकी रह नहीं जाती. अतएव श्रुतिसम्मत होनेके कारण सर्वात्मभावको ही फल माना जाता है, कामभावको नहीं. इसके अलावा यहां इस सर्वात्मभावमें कुछभी अपेक्षा नहीं रह जाती, यहां तक कि स्वयं श्रीहरिकी भी अपेक्षा सर्वात्मभावमें नहीं है. रासपञ्चाध्यायीमें वेणुनाद सुन कर आनेवाली गोपिकाओंको जब पुनः लोट जानेकी आज्ञा दी गयी तो उन्होंनें स्पष्टतया यही कहा है कि अन्य सभी विषयोंका त्याग करके वे भगवान्के पास गयी थी और अतएव विषयनिरपेक्ष थी. इसके बाद जब भगवान् अन्तर्हित हो गये तब विरहदशामें भगवान्के स्वरूपकी अपेक्षाभी उन्हें नहीं रह गयी थी, ऐसा स्पष्ट वर्णन आता ही हैं. अतएव भगवान्के दूत उद्धवजीके ऐसे वचन कि—

"सर्वात्मभावोधिकृतो भवतीनामधोक्षजे।
विरहेण महाभागा महान् मेऽनुग्रहः कृतः॥"
(भाग.पुरा.१०।४४।२७)

यहां यह सर्वात्मभाव विरहको अपना साधन बना कर प्रकट हुआ माना गया है. इससे यह सिद्ध होता है कि संयोगसे कामभाव प्रकट होता है एवं विरहसे सर्वात्मभाव. इसीलिए सर्वात्मभावमें सभी कुछ त्याग देनेकी अपेक्षा है, क्योंकि तभी भावात्मक स्वरूपकी प्राप्ति हो सकती है. सर्वात्मभावमें सारे विषयोंको छोड़ देनेपर देह आदिका

भान नहीं रह जाता है. कामभावमें होनेवाली रमण आदि क्रिया भी यहां भावात्मक रूपमें ही होती रहती है. अतएव इसे 'स्वतन्त्रा भक्ति' भी कहा जाता है. साररूपमें कामभाव प्रवृत्तिरूप होता है जबकि सर्वात्मभाव निवृत्तिरूप.

सर्वात्मभाव 'ब्रह्मसम्बन्धकठिनांशविवेचनम्'में :

'ब्रह्मसम्बन्धकठिनांशविवेचनम्'में श्रीहरिरायजी कहते हैं कि कामभाव एवं सर्वात्मभाव, यों ये दो भाव ही भगवान्को पानेके साधन हैं. इनमें कामभावमें इन्द्रियविषयोंकी अपेक्षा रहती है जबकि सर्वात्मभावमें एक विलक्षण रसात्मिका निरपेक्षता रहती है. सर्वात्मभावका स्वरूप विरहसामयिक रतिके जैसा होनेके कारण तापात्मक है. भगवान्के साथ किसीभी तरहके सम्बन्धकी अपेक्षा सर्वात्मभावमें नहीं रहती. क्योंकि तीव्रतापके कारण ही सारे सम्बन्ध सारी लीलायें ऐसी अवस्थामें प्रकट होती रहती हैं. तीव्रतापका यह क्लेशभी कामभाववश उत्पन्न होनेवाले क्लेशसे भिन्न प्रकारका होता है. कामभावके कारण जो क्लेश उत्पन्न होता है वह भगवान्के स्पर्श आदिके सुखसे मिट जाता है. सर्वात्मभावका क्लेश, जबकि, स्पर्श आदिसे और दुगुना हो जाता है. विरहमें भावनात्मक स्पर्श क्लेशको अधिक बढ़ाता है. हृदयमें जब लीलाओंका उदय होने लगता है तो ताप भी दुगुना बढ़ने लगता है. इस विलक्षण क्लेशमें एक विलक्षण आनन्दकी अनुभूति होती है. अन्तर्गृहगता गोपिकाओंकी तरह कामभाववालोंको कृष्णमें सायुज्य मिलता है. परन्तु सर्वात्मभाववाले क्लेशका अनुभव करते हुए जब मानसिक संयोग प्राप्त करते हैं, तब वे जीव कृतार्थ हो जाते हैं. क्योंकि इस क्लेशमें बाह्य संयोगकी अपेक्षा अधिक आनन्द है. जैसे प्राकृत देहमें कामकी स्थिति अनिवार्य है, ठीक उसी तरह अलौकिक देहमें सर्वात्मभावकी प्रतिष्ठा है. अतएव इन अलौकिक देहवाले भक्तोंको 'निष्काम' कहा जाता है. कामके क्लेशसे सर्वात्मभावका क्लेश भी विलक्षण होता है. अतएव सर्वात्मभावके आनन्दको भी कामभावके आनन्दसे विलक्षण मानना पड़ता है.

सर्वात्मभाव 'पुष्टिपथमर्मनिरूपणम्'में :

इस ग्रन्थमें श्रीहरिरायजी कहते हैं कि कृष्णसेवा जब मानसीकी अवस्थामें पहुंच जाती है तो वह फलरूपा हो जाती है. क्योंकि तब प्रभुके पास भी उससे ऊपर कुछ देनेको अवशिष्ट नहीं रह जाता है. यह मानसी सेवा सर्वात्मभाववाली होनेके कारण कृष्णके स्वरूपानन्दका अनुभव कराती है और उससे निरुद्ध होकर रसरूप होनेके कारण भगवान् भक्तके हृदयमें निरन्तर निवास करते हैं. इससे भगवान्‌की लीलायें भी निरन्तर हृदयमें चलती रहती हैं. वैसे विचार करनेपर यह प्रतीत होता है कि भगवान्‌की लीला भगवान्‌के स्वरूपसे अतिरिक्त नहीं है. क्योंकि सर्वधर्मरूप होनेके कारण प्रभुमें भेद मानना उचित नहीं है. फिरभी स्वयं भगवान्‌की इच्छाके कारण भगवान्‌के प्रकट किये रूपमें हमें भेदबुद्धि होती है. जैसे लोकदृष्टिमें सूर्य एवं उसकी किरणोंमें सूर्य धर्मी है एवं किरणें सूर्यका धर्म हैं, ऐसी बुद्धि होती है. ठीक इसी तरह "भगवान् धर्मी हैं एवं उनकी लीलायें उनका धर्म हैं" ऐसा भगवान्‌के बाह्य प्रकट होनेपर भान होता है. आन्तर लीलानुभवके समय तो ऐसे किसी कारणके न होनेसे स्वरूप ही लीला भी बनते हैं. यह इन दोनोंके बीच प्रमुख अन्तर है.

सर्वात्मभाव 'स्वमार्गमूलनिरूपणम्' में :

इस ग्रन्थमें श्रीहरिरायजी कहते हैं कि ब्रह्म रसात्मक है तथा साकार भी है. रसके दो भेद शास्त्रकार मानते हैं : संयोग एवं विप्रयोग. संयोग जैसे स्वरूपात्मक है वैसे ही विप्रयोग भी स्वरूपात्मक है. दोनोंके स्वभावमें, किन्तु, अन्तर इतना ही है कि संयोग लोकवेदप्रथित एवं क्रियात्मक होता है जबकि विप्रयोग लोकवेदातीत अनुभवैकगम्य एवं केवल भावात्मक होता है. यह भाव सर्वात्मभाव ही है. अतएव संयोगात्मक प्रभुका प्राकट्य मथुरामें है.

सर्वात्मभाव 'मूलरूपसंशयनिराकरणम्' में :

प्रभुका मुख्यस्वरूप जैसे सर्वात्मभावात्मक है वैसे ही मुख्यस्वामिनीका

स्वरूप भी सर्वात्मभावात्मक है, यह निरूपण भी श्रीहरिरायजीने किया है :

"मुख्यशक्तिस्वरूपन्तु स्त्रीभावो हरिर् उच्यते।
तत्र स्त्र्यंशः परा शक्तिः भावांशः 'कृष्ण'शब्दितः॥
यथाहि सर्वभावात्मा कृष्णः सापि च तादृशी।
विशिष्टस्यैव सर्वेषां कृष्णस्य हृदये स्थितः॥
द्वयोर् मिलितयोर् वाच्यं मन्मथत्वम् अभेदतः।
द्विपत्रत्वात् रसस्यालम्बने द्वैविध्यम् उच्यते॥"
(मू.रू.सं.नि.७-९)

श्रीहरि मुख्यशक्तिस्वरूप स्त्रीभावात्मक भी होते हैं. यहां स्त्री-अंश परा शक्ति है एवं भाव-अंशको 'कृष्ण' कहा जाता है. जैसे कृष्ण सर्वात्मभावात्मक हैं ऐसे ही मुख्यस्वामिनी भी सर्वात्मभावात्मिका हैं. जब भी किसीके हृदयमें श्रीकृष्णका प्रादुर्भाव होता है तो मुख्यशक्ति के सहित ही होता है. इस परतत्त्व एवं पराशक्ति के संमिलित रूपको ही 'मन्मथ' माना जाता है. क्योंकि परम तत्त्व एवं परा शक्ति में कोई भी भेद नहीं है. रस कभी एकाकी नहीं रह सकता — द्वि-आश्रित होकर ही रस उत्पन्न हो सकता है. अतः ब्रह्म यदि रसरूप हो तो उन्हें भी एक आलम्बन तो अपेक्षित है ही और वह आलम्बन मुख्यस्वामिनीके अलावा और कौन हो सकता है? इसी तरह मुख्य स्वामिनी भी रसात्मिका हैं. अतः उन्हें भी आलम्बनके रूपमें कृष्णकी अपेक्षा है. फलतः दो आलम्बन, रसके स्वभाववश, हमें स्वीकारने पड़ते हैं.

सर्वात्मभाव 'प्रभुप्रादुर्भावविचार' में :

यहां श्रीहरिरायजी कहते हैं कि तैत्तिरीयोपनिषद् में — 'आनन्द' एवं 'आनन्दमय' यों दो रूपोंमें ब्रह्मका वर्णन मिलता है. आनन्द एवं आनन्दमय एक ही हैं, जैसे शक्करकी चासनी एवं चासनीको

जमाकर बनायी गयी कोई प्रतिमा एक ही होती हैं. पदार्थके विचारसे एक ही तत्त्वसे घटित इन दोनोंमें भी रस एवं रसपिंड के रूपमें भिन्नता भी प्रतीत होती है. जो आनन्द बाहर प्रकट हो जाता है तो वह तो धर्मसहित होता है. उसे 'आनन्दमय' कहा जाता है. धर्मिमात्र केवल रसरूप=भावरूप आनन्द आन्तर होता है. यही तापात्मक एवं सर्वात्मभावात्मक भी होता है.

यह व्याख्या सर्वात्मभावकी विप्रयोगपरमफलवादी श्रीहरिरायजीकी हुयी. वैसे तो परमफलवादकी चर्चा किये बिना इस विषयमें कुछ भी विधान करना असंगत सा प्रतीत होगा. किन्तु वह एक स्वतन्त्र एवं विस्तृत चर्चा है. अतः विवश होकर केवल इस व्याख्याके सम्बन्धमें जो कुछ मुख्य विचारणीय विषय हैं, उन्हें हम यहां संकलित करनेका प्रयत्न करेंगे.

श्रीहरिरायजीकी सर्वात्मभावकी परिभाषा :

सर्वप्रथम सर्वात्मभावकी जो परिभाषा श्रीहरिरायजीने दी है वह यों है :

> ''सर्वेषाम् इन्द्रियाणां हि देहादीनां तथा पुनः ।
> आत्मभावो भगवति 'सर्वभावः' स कथ्यते ॥
> आत्मभावश्च सर्वत्र स्वसम्बन्धविचारणम् ।
> न स्वसम्बन्धितास्फूर्तिर् 'अस्माकं भगवान्' इति ॥''
> (स.भा.नि.२-३)

अर्थात् देह इन्द्रिय आदि सभीका भगवान्में आत्मभाव 'सर्वात्मभाव' कहलाता है. आत्मभाव यानि अभेदबुद्धि. यह परिभाषा लिंगभूयस्त्वाधिकरण एवं भूमाधिकरण में भाष्यकारको विवक्षित परिभाषासे कुछ भिन्न प्रतीत होती है. यह बात भाष्यके निम्नलिखित उद्धरणोंके अवलोकन करनेपर

स्पष्ट है :

(१)" 'यत्र नान्यत् पश्यति नान्यत् शृणोति नान्यद् विजानाति स भूमा' इत्येतेन सर्वात्मभावस्वरूपमेव उक्तं भवति. तत्र विरहभावे अतिविगाढभावेन सर्वत्र तदेव स्फुरतीति 'स एवाधस्ताद्' इत्यादिना उक्त्वा कदाचित् स्वस्मिन्नेव भगवत्त्वस्फूर्तिरपि भवतीति 'अथाहंकारादेशः' इत्यादिना ताम् उक्त्वा एतेषां व्यभिचारिभावत्वेन अनियतत्वं ज्ञापयितुं पुनः सर्वत्र भगवत्स्फूर्तिम् आह 'अथात आत्मादेशः' इत्यादिना.

(ब्र.सू.अणुभा.३।३।४४)

(२)"सर्वात्मभावलिंगात्मकभावं 'स एवाधस्ताद्' इत्यादिना उक्तवान्."

(ब्र.सू.अणुभा.३।३।४९)

(३)"स(सर्वात्मभावः)तु विप्रयोगभावोदये सत्येव सम्यग् ज्ञातो भवति व्यभिचारिभावैः. तेतु अनियतस्वभावाः इति ज्ञापयितुं त्रिविधाः 'स एवाधस्ताद्' इत्यादिना 'आत्मैव इदं सर्वम्' इत्यन्तेन... 'आदि'पदात् त्रिविधाः ये भावाः उक्ताः तेषामपि स्वरूपम् 'एवं पश्यन् एवं विजानन्' इति क्रमेण यद् निरूपितं तद् उच्यते. पूर्वम् अतिविगाढभावेन तदितरास्फूर्त्या तमेव सर्वत्र पश्यति."

(ब्र.सू.अणुभा.३।३।५०)

(४)"लोकेऽपि शृंगाररसभाववति पुंसि नार्यां च त्वदुक्तभावसम्बन्धिव्यभिचारिभावाः श्रूयन्ते. 'सैव सर्वत्र'-'सएव सर्वत्र' इति.

(ब्र.सू.अणुभा.३।३।५७)

इन उद्धरणोंसे यह स्पष्ट हो जाता है कि भाष्यकारका 'सर्वात्मभाव'

का अर्थ *"सर्व=सर्वत्र + आत्मभाव=निरतिशय प्रेमास्पद भगवान्‌की स्नेहात्मिका अनुभूति ही"* है. इस अनुभूतिके व्यभिचारिभाव "सएव अधस्ताद्" "अहमेव अधस्ताद्" एवं "आत्मैव अधस्ताद्" आदि हैं. श्रीहरिरायजीकी व्याख्या सर्वथा भाष्यानुसारिणी होती, यदि वे यह कहते कि यह सर्वात्मभाव विप्रयोगमें ही प्रकट होता है किन्तु जो स्थान इसे श्रीहरिरायजी देना चाहते हैं, उसके अनुरूप तो इसकी चर्चा साधनाध्यायके बजाय फलाध्यायमें होनी चाहिये थी. यदि कहा जाये कि भाष्यकार जो व्याख्या कर रहे हैं वह सर्वात्मभावके व्यभिचारिभावोंकी ही है स्वयं सर्वात्मभावकी नहीं. तो इसका एक उत्तर तो यह भी सम्भव है कि सर्वात्मभावकी व्याख्यामें जिस आत्मभावका इतना महत्त्व दिखलाया जा रहा है, वह स्वयं भी तो **"अथातो अहंकारादेश"** या **"अथातो आत्मादेश"** श्रुतिवचनोंमें वर्णित व्यभिचारिभावसे बहुत भिन्न नहीं लगता है.

कामभाव एवं सर्वात्मभाव :

जहां तक कामभाव एवं सर्वात्मभाव के भेदका प्रश्न है तो इतना तो सन्देहसे सर्वथा परे ही है कि ये दोनों भाव भिन्न-भिन्न प्रकारके हैं. साथ ही साथ "प्रभु मेरे हैं" इस भावको कामभाव मान भी लिया जाये तो भी यह प्रश्न तो उठ ही सकता है कि इसी भावको भेदघटित क्यों माना जाता है? इसके अलावा "मैं प्रभुका हूं" ऐसे सर्वात्मभावको भी भेदघटित ही मानना चाहिये. क्योंकि षष्ठी विभक्ति सम्बन्धबोधिका होती है. सम्बन्ध सर्वत्र किन्हीं दोके बीच ही कल्प्य होता है. एकका सम्बन्ध प्रसिद्ध नहीं. ऐसी स्थितिमें दोनों अनुभूतियोंमें भेद या अभेद को लेकर पृथक्करण कठिन है. प्रत्युत "प्रभु मेरे हैं" ऐसे भावमें भगवान् भक्तके आधीन प्रतीत होते हैं जो कि विप्रयोगात्मिका रतिका उत्कर्ष है. जबकि "मैं प्रभुका हूं" ऐसे भावमें भगवान्‌का ऐश्वर्य ही प्रकट होता है, जो कमसे कम श्रीहरिरायजीके अनुसार, संयोगात्मिका रतिकी विवशता है. वैसे

षष्ठी विभक्तिके कारण भेद तो उभयत्र भासित हो ही रहा है.

यदि कामभावमें विषय-इन्द्रियद्वैतका भान माना जाये तो यह भान तो दशमसुबोधिनीकी "भगवता सह संलापो" कारिकासे आरम्भ कर "इदमेव इन्द्रियवतां फलम्" (सुबो.१०।१८।७/कारि.८) तककी कारिकाके अवलोकनसे उपादेय ही प्रतीत होता है. यहां यह तो कहा नहीं जा सकता कि यह प्रशंसा केवल मोक्षकी तुलनामें है, विप्रयोगात्मक अनुभवकी तुलनामें नहीं, क्योंकि "इदमेव इन्द्रियवतां फलम्" से संयोग-विप्रयोग-उभयात्मक प्रभुके बहिःप्रकट रूपके फल होनेका उल्लेख या विधान यहां है. केवल संयोगात्मक या विप्रयोगात्मक वपु नहीं होता प्रत्युत 'नटवरवपु' भगवान् इन्द्रियवानोंके फल बनते हैं. इससे सिद्ध होता है कि विषय-इन्द्रियोंका द्वैत तो विप्रयोगकी अनुभूतिमें भी रहना चाहिये. ऐसी स्थितिमें विप्रयोगात्मक सर्वात्मभावमें भी यह द्वैत सर्वथा तो झुठलाया नहीं जा सकता. इस सन्दर्भमें श्रीमत्प्रभुचरणकी ये पंक्तियां द्रष्टव्य हैं :

> "उक्तरीत्या उद्बुद्धद्विविधरसात्मकं हि वपुः... वपुः बिभ्राणस्तु बहिः स्वस्वरूपं प्रकटयन् भवति... ब्रह्मणः साकारत्वात् सार्वदिकमेव रसात्मकं वपुः वृन्दारण्यएव प्रकटितवान्. हृद्येव प्राकट्येतु मनोमात्रभोग्यत्वं, बहिःप्राकट्ये सर्वेन्द्रियभोग्यत्वम्, एवं सति चक्षुराद्यविषयत्वे प्रियपदार्थस्य मनोमात्रविषयत्वं दुःखदम् इति अनुभवसिद्धम्. अतो भक्तार्थं तथा इति."
>
> (सुबो.टिप्प.१०।१८।५)

यहां स्पष्ट हो जाता है कि 'वपुः-भरण' का मतलब ही बहिःप्रकट होना है. और वपु यदि द्विदलात्मक हो तो दोनों ही दल बहिःप्रकट प्रभुके स्वरूप हैं. तब बाह्य एवं आन्तर का भेद कैसे-कहां रह

सकता है? ऐसी स्थितिमें विषय-इन्द्रियोंका द्वैत रहनेपर कामभाव अन्यथा सर्वात्मभाव यह भेद भी टिक नहीं सकता, यदि विप्रयोगात्मक वपुको सर्वात्मभावात्मक माना जाये एवं सर्वात्मभावको केवल आन्तर ही माना जाये तो. अतएव अपने हृदयमें जो मनोरथ हैं उनके अनुसार दर्शन देते हुवे इस बहिःप्रकट स्वरूपके साथ संलाप दर्शन मिलन आश्लेष सेवन स्पर्श अधरामृतपान श्रवण आघ्राण भोग आदिका साधन सर्वात्मभाव है, ऐसा श्रीमत्प्रभुचरणकी टिप्पणीके अनुसार सिद्ध होता है : "**बाधकानां परित्यागे साधकानां... तद् भवेत्**"(सुबो.१०।१८।७/कारि.१२). ऐसी स्थितिमें सर्वात्मभावलभ्य केवल विप्रयोगात्मक स्वरूपको माननेका कोई भी कारण नहीं रह जाता. अतएव श्रीपुरुषोत्तमजी यहां परकी टिप्पणीकी व्याख्यां करते हुवे कहते हैं कि यहां गोपिकाओंके सन्दर्भमें यह तो कहा नहीं कहा जा सकता कि इनको सर्वात्मभाव सिद्ध नहीं हुवा है. अतः इन्द्रियवानोंका मुख्यफल ही इन्हें मिलता है यह मानना चाहिये. इसलिये कामभावमें विषय-इन्द्रियोंका द्वैतका होना कोई बुरी बात नहीं है प्रत्युत यहां तो रसाधिक्य मानना चाहिये, क्योंकि भेदमें रसाधिक्य माना गया है "**ब्रह्मत्वं कृष्णसायुज्यं... सायुज्येतु रसाधिक्यं भेदेन अनुभवात् सदा**" (त.दी.नि.३।४।१५५) भगवान्‌के अलावा जो इन्द्रियोंके विषय हैं उनमें इन्द्रियोंकी प्रवृत्तिको कामभाव माननेपर तो यह कामभाव स्वयं इस प्रसंगमें सन्दर्भहीन चर्चाका विषय बन जाता है.

वस्तुतस्तु इन सारी शंकाओंका समाधान श्रीमत्प्रभुचरणने पहले ही कर दिया है. इसके लिये टिप्पणीकी केवल दो चार पंक्तियोंका भी मनन कर लेना पर्याप्त होगा.

वे पंक्तियां यों हैं :

(१)"भगवत्स्वरूपात्मिकैव आसां देहेन्द्रियान्तःकरणादि-रूपा सामग्री."

(सुबो.टिप्प.१०।१९।३२).

(२)"कामरसो हि सहजो, वेणुनादेन सह सुधा अन्तः प्रविष्टा, सहजं पूर्वकामं दूरीकृत्य भगवदीयं तं प्रकटीकरोति."

(सुबो.टिप्प.१०।१८।९).

(३)"ततः (सर्वात्मभावानुभवानन्तरं) संयोगाभावे सति पूर्वभावेन सर्वोपमर्दिना स्वप्राणादिसर्वतिरोधानेन अग्रिमलीला-नुपयोगित्वं न शंकनीयं यतो भगवतएव सर्वसम्पत्तिः."

(ब्र.सू.अणुभा.३।३।४४).

(४)"तथा सति सर्वात्मभाववतः प्रभुदर्शने सत्यपि लीलोपयोगि-वस्तुदर्शनादिकम् अनुपपन्नम् इति शंका निरस्ता... तैः सह लीलां चिकीर्षतः प्रभुतएव सर्वं सम्पद्यते."

(ब्र.सू.अणुभा.३।३।४७)

और इसे स्वयं श्रीहरिरायजीने अपने 'निष्कामलीला' नामक ग्रन्थमें स्वीकारा भी है : "तासां स्वामिनीनां यः कामः सोपि स्वरूपात्मकएव न लौकिकः" . अतः रह जाता है, तब आधुनिक अधिकारी भक्तोंका प्रश्न, तो अधिकारविवेकसे ही जब सारी बातोंका समाधान शक्य हो तो व्यर्थ ही कामभावको जारभाव मानकर संयोगलीलाको कामभावात्मक मानना कहां तक युक्तियुक्त हो सकता है? जबकि काम भी सर्वात्मभावकी अनुभूतिके अन्तर्गत ही आ पाता हो.

संयोगात्मकस्वरूप एवं विप्रयोगात्मकस्वरूप :

[१]भगवान् रसात्मक है एवं [२]रस स्थायिभावात्मक होता है. [३]शृंगाररस ही उत्कृष्ट रस है. [४]शृंगाररस द्विदलात्मक होता है. अतः [५]प्रभु भी रसात्मक होनेके कारण द्विदलात्मक हैं. [६]विप्रयोगात्मक स्वरूप सर्वात्मभावात्मक एवं आन्तर होता है, [७]क्योंकि वह भावात्मक है. इसके विपरीत [१]संयोगात्मक स्वरूप क्रियात्मक एवं बाह्य होता है, [२]क्योंकि कामभाव स्वयं भेदघटित होता है. फलतः वहां [३]प्रभुकी स्थिति भी भेदघटित ही रहती है. भावात्मक आन्तर स्थिति नहीं.

इस तरहकी युक्तिमालाका विमर्श भी आवश्यक है. जैसे हमें कहीं जाना हो तो हम एक टेक्सी कर लेते हैं, जिसे गन्तव्य स्थानपर पहुंच कर हम छोड़ देते हैं. ऐसा ही उपयोग यहां दी जा रही हेतुमालाका यदि हम न करें तो यह सिद्ध करना कठिन प्रतीत होता है कि [१]भगवान् रसात्मक हैं एवं [२]रस भावात्मक और [३]द्विदलात्मक है, फिरभी [४]विप्रयोगात्मक स्वरूप ही भावात्मक होता है किन्तु संयोगात्मक नहीं!

अब यदि संयोग-विप्रयोगरूप दोनों ही स्वरूप भावात्मक हों और जो भावात्मक होता है वह आन्तर ही होता हो तो यह नियम टिक नहीं पाता. इसके अलावा विप्रयोगभावात्मक होनेके कारण स्वरूपको आन्तर माना जाये तो वह आन्तर है इतना ही सिद्ध होगा "सर्वात्मभावसाध्यो हि स्वरूपानन्दः उच्यते" (स.भा.नि.९) विधानद्वारा प्रतिपादित स्वरूपानन्द या भावानन्द, विप्रयोगात्मक स्वरूपका एकाधिकार या *मोनोपॉली* नहीं. भगवान् यदि रसात्मक होनेके कारण भावात्मक हों तथा भावात्मक होनेके कारण विप्रयोगात्मक स्वरूप धर्मिरूप आनन्दात्मक हो तो ठीक ही है. परन्तु इसी हेतुक्रमसे रसात्मक होनेके कारण भावात्मक एवं भावात्मक होनेके कारण संयोगात्मक स्वरूपको भी धर्मिरूप आनन्दात्मक मानना ही पड़ेगा.

वैसे "विप्रयोगात्मक स्वरूप शुद्ध आस्वाद्यमान रस है एवं संयोगात्मक स्वरूप पात्रस्थ रस होता है" आदि रूपमें विप्रयोगात्मक स्वरूपको धर्मिरूप आनन्द सिद्ध करनेकी लालसा इसलिए विफल हो जाती है क्योंकि पात्रस्थ रसका भी पान तो होता ही है और पीत-आन्तर रसके बजाय पीयमान पात्रस्थ रस अधिक रुचिकर होता हैं. जगत्में रस पात्रस्थ होता है एतावता पात्रको तो कोई भी पीता नहीं है प्रत्युत पात्रस्थ रस ही पिया जाता है. रसका पात्रस्थ होना रसपानका साधक है बाधक नहीं. पात्र रसपानमें साधन बनता है, वह रसको

आवृत नहीं करता. और संयोगात्मक स्वरूपके बारेमें यह तो कहा नहीं जा सकता कि वहां रसपान सम्भव ही नहीं. क्योंकि 'रसपान'का अर्थ रसानुभवसे न तो किञ्चित् अधिक सम्भव है और न किञ्चित् न्यून ही. ऐसी स्थितिमें संयोगरसका भी अनुभव तो होता ही है. अतः रसपान तो मानना ही पड़ेगा, संयोगात्मक स्वरूपके सन्दर्भमें भी. रही बात पात्रस्थ रस और केवल रसकी, तो आन्तर-पीत रसकी तो प्रभुचरण पुनश्चर्वणाके रूपमें ही अनुभूति मानते हैं- पानके रूपमें नहीं. पान तो बाह्यका ही सम्भव है. अतः पीत रस एवं पीयमान रसमें चमत्कृति तो पीयमानकी ही अधिक स्वीकारनी पड़ती है. इस समूचे विषयके समर्थनमें हम ये पंक्तियां सुबोधिनी एवं टिप्पणी से उद्धृत करना चाहेंगे :

(१)"एवम् अतिपुष्टां निरूप्य अत्युत्तमां निरूपयति 'अपरा' इति एषाहि भगवद्दर्शनेन गतदोषा, अतो ध्यानेन भगवन्तं हृदये स्थापयितुकामा नेत्राभ्यां=नेत्रद्वारा भगवन्तं हृदि स्थापितवती. अत्र लावण्यामृतं पेयं, मुखस्य अम्बुजत्वोक्तेः. 'अनिमिषदृग्भ्याम्' इति पानकरणं, द्रवद्रव्यान्तर्निवेशनं पानं... यद्यपि आसमन्ताद् धर्मसहितं सर्वमेव अभिनिविष्टं स्वाधीनं जातं—यदैव इच्छति तदैव हृदये पश्यति. तथापि न अतृप्यद् अलम्भावं न कृतवती. तत्र हेतुः विषयसौन्दर्यं नतु प्रयोजनाभावः प्रतिबन्धकः."

(सुबो.१०।२९।७).

(२)"तथाच सन्निकर्षेतु अग्रिमाग्रिम-नूतननूतन-रसाकांक्षा तदनुकूलो यत्नः च भवति, नतु पूर्वानुभूतलीला-स्वरूप-तलस्पर्शः कदापि."

(सुबो.टिप्प.१०।४४।२९).

(३)"संगमे हि अग्रिमाग्रिमरसार्थं नवोनवः प्रयत्नो भाव्यते नतु पूर्वानुभूतो रसः पोष्यते. सर्वेषां तेषां स्वतन्त्रत्वात्.

संयोगे यथा-यथा रसानुभवाधिक्यं तथा-तथा विप्रयोगे दुःखाधिक्यम् इति अनुभवसिद्धम्. एवम्भावे संस्कारमात्रशेषस्य पूर्वरसस्य उपमर्दकाग्रिम-संगम-रसाभावेन अन्तरेव अतिपुष्टो भवति तथा-यथा पूर्वानुभूतलीला-स्वरूपात्मकाः देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणात्मानो भवन्ति."

(सुबो.टिप्प.१०।२९।०).

कामभाव प्रभुसापेक्ष होता है पर सर्वात्मभाव क्या प्रभुनिरपेक्ष हो सकता है? :

"कृष्णाधीनातु मर्यादा स्वाधीना पुष्टिः उच्यते" का सिद्धान्त तो निश्चयेन है ही किन्तु प्रभुनिरपेक्षताको परमफल माननेके सिद्धान्तकी संगति इन वचनोंसे नहीं बैठती है :

(१)"हृदयतापः चिन्ता च निवारणीया दृष्टोपकारेणैव तापो गमिष्यति. अस्माभिः हृदये स्थापितं (चरणं) न बहिः समायाति अतः त्वया बहिः स्थापनीयम्."

(सुबो.१०।२८।१३).

(२)"यद्यपि आसमन्ताद् सर्वमेव अभिनिविष्टं स्वाधीनं जातं यदैव इच्छति तदैव हृदये पश्यतीति. तथापि (मुखाम्बुजं जुषाणा) न अतृप्यद् अलम्भावं न कृतवती. तत्र हेतुः विषयसौन्दर्यम्."

(सुबो.१०।२९।७).

(३)"स्वामिनीनां हि बहिःप्राकट्यमेव भगवतो अभीष्टं तदैव ईश्वरवादो अन्यदा शून्यवादः."

(सुबो.टिप्प.१०।२६।०).

(४)"भक्तिमार्गे हि स्नेहवशाद् बहिर्मुखारविन्ददर्शने तेनैव विस्मृतसर्वा तदन्यद् न अपेक्षते."

(सुबो.टिप्प.१०।२९।७).

(५)"एतास्तु न लौकिक्यो नापि प्रसिद्धमुक्तिमार्गीयाः किन्तु बहिःसंगमाभिलाषवत्यो भगवान् च एतन्मनोरथं पूरयत्येवेति तथैव सम्पत्स्यते इति अर्थः."

(सुबो.टिप्प.१०।२९।९).

(६)"संगमे मदुपयोगित्वेन देहादिस्फूर्तिरपि अस्ति द्वितीयेतु सापि नास्ति इत्यपि रसाधिक्यं... (तथापि) एतासान्तु अधुनैव बहिःसंगमो अभिलषितः तदभावाद् अस्मदनभिप्रेतामपि अस्मदधिकारविरुद्धामपि ज्ञात्वा ईश्वरभावेन आज्ञापितवान् अनभिप्रेतमपि बलाद् ग्राहयितुमिति अनाकर्णनीयम् इदं भवति यद्यपि तथापि प्रियतमसम्बन्धीति आकर्णनम् आवश्यकम् इति तथा."

(सुबो.टिप्प.१०।४४।२९).

इन और ऐसे अन्य कई वाक्योंकी संगति प्रभुनिरपेक्षताको फल माननेपर नहीं बैठ सकती.

इसके अलावा इस तरहके भावमें कुछ दैन्यभावसे विपरीतता भी झलकती है. फलतः स्वयं श्रीहरिरायजीको अभिप्रेत दैन्यभाव एवं विप्रयोग के जोड़ेके साथ भी इसकी संगति सुस्पष्टतया दृष्टिगत नहीं होती. प्रभुका जो आन्तर प्राकट्य होता है वह स्वप्नकी तरह मायिक तो नहीं है. अतः प्रभुकी जब एक विषयके रूपमें सत्ता है ही, तो अन्तर तो केवल इतना ही हो सकता है कि आन्तर प्रभु भक्तमनोरथानुसारी हैं. परन्तु वह तो संयोगात्मक स्वरूपके बारेमें भी मानना ही पड़ेगा. "सेतवो बध्यन्ते जलरक्षार्थं ते सर्वे भिन्नाः तादृशगजेन भवन्ति. भगवतापि ब्रह्ममर्यादा आत्मरामत्वरूपा, जीवानां च मर्यादा तथा सति निवृत्ता कामरूपस्पर्शात् परदाराभिमर्षणात् च" (सुबो.१०।३०।२३). क्या इस ऐसी लीलाको भक्तमनोरथ पूर्ण करनेकेलिये नहीं माना जा सकता? 'त्रिविधनामावली' ग्रन्थमें आचार्यचरण स्पष्टतया आज्ञा करते

हैं "**उद्दीप्तकामरसपूरकाय नमः अतिक्रान्तमर्यादाय नमः**" (त्रि.वि.ना.२।६०-६१) यह मनोरथपूर्ति नहीं तो और क्या है? अतः प्रभुसापेक्षताको तो पुष्टिमार्गका मूल मानना चाहिये था. प्रभुनिरपेक्षता मान आदिकी तरह थोड़ी देरकेलिये व्यभिचारिभावके रूपमें भले ही कहीं आ जाती हो किन्तु वह परमफलका लक्षण नहीं मानी जा सकती. इसका स्पष्टीकरण तो वैसे प्रमेयप्रकरणके "**बर्हापीडं नटवरवपुः...**" (भाग.पुरा.१०।१८।५) श्लोककी सुबोधिनी एवं टिप्पणीमें ही हो गया. अतः फलप्रकरण तक पहुंच कर भी विचार करनेकी आवश्यकता रह नहीं जाती. वहां स्पष्टतया यह कहा गया है कि संयोगविप्रयोगात्मकस्वरूप नटवर भगवान् हृदयमें भी हैं ही किन्तु फिर भी उनको 'नटवरवपु' कहनेका तात्पर्य यही है कि गोपीजनोंको भगवान् ज्ञानियोंकी तरह केवल आन्तर सुख ही देना नहीं चाहते अपितु बाहर प्रकट होकर सर्वेन्द्रियोंके विषय बन कर भी आनन्दानुभव कराना चाहते हैं. यहां परकी टिप्पणीमें भी सुस्पष्टतया कहा गया है कि 'वपुःभरण' का मतलब ही बाहर प्रकट होना है. यहां लक्ष्यमें रखने लायक बात यही है कि यह वपु केवल संयोगात्मक या केवल विप्रयोगात्मक है, ऐसा न तो आचार्यचरण और न प्रभुचरण ही कहना चाहते हैं. दोनोंके अनुसार भगवान्का स्वरूप शृंगारात्मक होनेके कारण उभयात्मक है और इसी उभयात्मक स्वरूपके आनन्दका सभी इन्द्रियोंसे अनुभव पुष्टिमार्गीय मोक्ष या फल है, ऐसा आचार्यचरण निश्चिततम रूपमें कहते एवं मानते हैं. प्रभुचरण तो यहां तक विधान करते हैं कि केवल हृदयमें भगवान्के प्रकट होनेपर उक्त स्वरूपानन्दकी अनुभूति केवल मनमें ही हो सकती है—सभी इन्द्रियोंसे नहीं. सभी इन्द्रियोंसे अनुभूति तो बाहर प्रकट होनेपर ही सम्भव है. अतः इन सारी स्पष्टताओंके रहनेके बाद भी प्रभुनिरपेक्षताको फल मानना कथंचिदपि बुद्ध्यारूढ़ नहीं होता है.

रहा सवाल, प्रभुसापेक्षताके कामभाव होनेका एवं कामभावके भेदघटित होनेके कारण भगवान्की भेदघटित स्थितिका. इसका विचार

स्वतन्त्र रूपमें करना ठीक रहेगा.

भेदघटित कामभावके कारण क्या प्रभुकी स्थिति भी भिन्न ही होती है? :

प्रभुकी अपेक्षा कामभावमें ही रहती है सर्वात्मभावमें नहीं, यह नहीं कहा जा सकता. क्योंकि सर्वात्मभाववाली गोपिकाओंको भी प्रभुके स्वरूपकी न केवल अपेक्षा है अपितु बाहर प्रकट स्वरूपकी भी सभी इन्द्रियोंद्वारा अनुभूति अपेक्षित है, यही सिद्धान्त श्रीमदाचार्यचरण एवं प्रभुचरण के वचनोंसे प्रकाशित हो रहा है, यह हम देख आये. रही भेदघटित कामभावके कारण प्रभुकी भी भेदघटित स्थितिकी बात. यहां तीन बातें लक्ष्यमें रखनी चाहिये :

(१)क्या सर्वात्मभावमें विप्रयोगमें या आन्तर लीलानुभवमें ज्ञान एवं उसके विषयका भेद रहता ही नहीं?

(२)क्या ज्ञान या भान एवं उसके विषयकी स्फूर्ति जहां भी होती है वहां भेद होना अनिवार्य ही है?

(३)क्या कामभाव लौकिक ही होता है, अर्थात् क्या सर्वात्मभाव सिद्ध होनेपर कामभाव टिक ही नहीं सकता?

इन प्रश्नोंका समुचित उत्तर यदि हम पा सकें तो विषयेन्द्रियस्फूर्तिके कारण विषयेन्द्रियद्वैत होता ही है, या संयोगात्मक स्वरूपसे केवल कामसुख ही मिलता है, या कामभावके कारण केवल संयोगसुख ही मिलता है, अथवा तो सर्वात्मभावमें देहन्द्रियादिका भान होता ही नहीं, आदि मान्यताओंका निर्मूल होना स्वतः ही समझमें आ सकता है.

(१)यदि "अहं भगवतः"—मैं भगवान्का हूं, ऐसी श्रीहरिरायजीकी परिभाषाके अनुसार ही देखें तो भी—एक मैं और दूसरे भगवान्, जिनके बारेमें अपने सम्बन्धकी अनुभूति होती है—यों भेदका अनुभव तो होता ही है. यह भेद जब तक भक्तिमार्गका सन्दर्भ है मिट

नहीं सकता. थोड़ी देरकेलिये व्यभिचारिभावके रूपमें अभेदका भान होनेपर हट भले ही जाये. मिटानेके लिये तो शांकरोंकी तरह अखण्ड "अहं ब्रह्मास्मि" वृत्तिकी आवश्यकता पड़ेगी. वह यदि सम्भव नहीं तो केवल भावात्मक माननेपर या केवल मनःकल्पित माननेपर भी ज्ञान एवं विषय का द्वैत मिट नहीं सकता. ऐसी स्थितिमें कामभावमें अन्य चाहे जो भी दोष हों किन्तु कमसे कम विषयेन्द्रियद्वैतघटित होनेका अपराधी केवल कामभाव ही नहीं. यदि कहा जाये कि आन्तर लीलानुभवके समय हमारे अपने मनकी वृत्तियां ही स्वरूप एवं लीला का आकार ले लेती हैं. इसकें अलावा विषयके रूपमें वहां भगवान्‌की अपेक्षा ही नहीं है एवं वृत्तियां स्वयं भगवदात्मिका होनेके कारण आनन्दात्मिका रसात्मिका एवं फलात्मिका हैं. तो यह बात तो भगवान्‌के संयोगात्मक स्वरूपपर भी लागू होगी. भगवत्स्वरूप जैसे कामभावात्मक हो सकता है, वैसे ही कामात्मिका वृत्ति भी भगवदात्मिका हो सकती है. अतएव "**साक्षात् मन्मथमन्मथः**" (भाग.पुरा.१०।२९।२) कहा जाता है. और यह कामात्मिका मनोवृत्ति भी केवल मनकी—हमारे अपने मनकी वृत्ति होनेके कारण अभेदात्मिका आनन्दात्मिका रसात्मिका एवं फलात्मिका भी हो सकती है. यदि कहा जाये कि काम स्वाभाववश द्वैतघटित है. फलतः इसके विषय बननेपर भगवान्‌की भिन्न स्थिति आवश्यक होगी; तो यह भी कहा जा सकता है कि विप्रयोगात्मक स्वरूप भी रसरूप है एवं रस स्वयं द्वैतघटित है, अतः सर्वात्मभावात्मक स्वरूपकी भी स्थिति द्वैतघटित ही होगी. द्रष्टव्य : "**द्विपत्रत्वाद् रसस्य आलम्बने द्वैविध्यम् उच्यते**" (मू.रू.सं.नि.९). यदि कहा जाये कि रस स्थायिभावात्मक होता है, अतः स्थायिभावात्मक होनेके कारण ही भगवान्‌को विप्रयोगमें आन्तर; और, फलतः सर्वात्मभाववाले अधिकारीसे अभिन्न मानना पड़ता है. तो यही बात संयोगके बारेमें भी कही जा सकती है कि रस स्थायिभावात्मक होता है अतः संयोगमें भी भगवान् आन्तर एवं कामभाववाले अधिकारीसे अभिन्न होंगे, स्थायिभावात्मक होनेके कारण ही. यदि कहा जाये कि संयोगमें बाहर प्रकट भगवान्‌के

अनुभवकी अपेक्षा होती है. तो यह भी कहा जा सकता है कि विप्रयोगमें भी अपेक्षा तो बाह्य प्रकट रूपकी ही होती है. अन्यथा विप्रयोगका स्वरूप ही नहीं बन पायेगा. रही बात अनुभवकी तो 'केवलविरह'में तो केवल अदर्शन ही होता है और यदि अन्तर्निष्ठा चल रही हो तो वह भी है तो बाह्यानुभूत रसका पुनश्चर्वण ही होता है. यह स्मृत्यात्मक संयोग है; जबकि, बाह्यसंयोग अनुभवात्मक होता है. अतएव प्रभुचरण इसे 'संस्कारमात्रशेष' कहते हैं. वैसे विप्रयोगात्मकवपु जो माना गया है, उससे विप्रयोगके केवल आन्तर होनेकी बात टिक नहीं सकती, यह हमने देख लिया कि "बर्हापीडं नटवरवपुः" की टिप्पणीमें प्रभुचरण "बहिः स्वस्वरूपं प्रकटयन् भवति" ऐसा स्पष्टतया विधान करते हैं, जिससे उभयात्मक स्वरूपका ही परामर्श सिद्ध होता है.

(२)कामभाव भेदघटित है अतः विषय और इन्द्रिय की स्फूर्ति वहां अवश्य होती है. फलतः विषयेन्द्रियद्वैतके कारण भगवान्‌की स्थिति भी भेदघटित ही रहेगी, ऐसी समस्याका समाधान स्वयं प्रभुचरण देते हैं : "नच विषयत्वेन स्वरूपस्य भावाद् भेदो वाच्यः, एतन्नियमाभावात्, 'सर्वं ज्ञानं प्रमेयम्' इत्यादौ व्यभिचारात्" (सुबो.टिप्प.१०।२५।८). अतः इस विषयमें कुछ न कहते हुवे इतना ही कहना पर्याप्त है कि विषयत्वेन विषयका ज्ञान या भान से भेद होता ही है, ऐसा कोई भी प्रामाणिक नियम नहीं है. ऐसी स्थितिमें कामभावमें विषय और इन्द्रिय के स्फुरण होनेके कारण भेद होता है, यह भी युक्तिसंगत नहीं लगता है और न प्रभुचरणको अभिमत ही. वैसे तो पुष्टिभक्तिका वैशिष्ट्य यदि सर्वथा अभेद होनेपर भी भेदपूर्वक ब्रह्मानुभूतिके कारण स्वीकारा जाता हो तो इस अभेदका मूल्य ही क्या हो सकता है? "...रसाधिक्यं भेदेनानुभवात् सदा!"

(३)कामभावको लौकिक ही मानकर चलना भी मूलकारोंको अभिमत प्रक्रिया तो लगती नहीं है. लौकिक वस्तु या व्यक्ति के

बारेमें कामभाव अवश्य लौकिक होता है किन्तु ऐसे तो सर्वात्मभाव भी लौकिक लौकिक वस्तु या व्यक्ति के बारेमें होनेपर लौकिक ही होता है. उदाहरणतया लौकिक कामविव्हलके "प्रसादे सा दिशि-दिशि च सा पृष्ठतः सा पुरः सा... सा सा सा सा जगति सकले कोऽयम् अद्वैतवादः!" जैसे लौकिक सर्वात्मभावात्मक उद्गार भी वर्णित हैं ही. इसके अलावा सर्वात्मभावका एक दूसरा प्रकार मर्यादामार्गीय भी हो सकता है. अतः भावोंका पृथक्करण केवल भावके स्वरूपके आधारपर ही नहीं किया जा सकता. एतदर्थ [१]अधिकारी [२]विषय [३]हेतु एवं [४]स्वरूप, यों चारोंकी अपेक्षा एवं दृष्टि रखनी आवश्यक लगती है. वही पुत्रस्नेह लोकमें संसार उत्पन्न करता है किन्तु ब्रह्ममें माहात्म्यज्ञानके साथ सधनेपर पुष्टिमार्गीय सेवाका आधार एवं संसारमोचक भी हो जाता है यथा : "युवां मां पुत्रभावेन ब्रह्मभावेन चासकृत् चिन्तयन्तौ कृतस्नेहौ यास्येथे मद्गतिं पराम्" (भाग.पुरा.१०।३।४५). यह वह मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है जो सारे पुष्टिमार्गका मूल है. एतदर्थ पुनः कुछ उद्धरण द्रष्टव्य हैं :

(१)"अतो नूतनः उत्पन्नः कामः ताः आनीतवान्."

(सुबो.१०।२६।४).

(२)"प्रवृत्त्यपेक्षया निवृत्तिः उत्तमा. इन्द्रियदमन-सामर्थ्याभावएव अन्यगामि कर्तव्यं... निरुद्धानि इन्द्रियाणि आत्मगामीनि भवन्ति. तत्रापि आत्मगामीनि तदैव भवन्ति; यदि त्वदर्थम् उपयुक्तानि भवन्ति. अतः केवल निग्रहकर्त्रपेक्षया ये त्वयि रतिं कुर्वन्ति ते कुशलाः इति 'हि'शब्दार्थः. 'त्वयि' इति एकवचनेन च पूर्ववद् एकत्र सर्वसम्भवो निरूपितः."

(सुबो.१०।२६।३३).

(३)"पूर्वं निरुपधिरेव स्नेहः स्थितो भगवता परं, रसशास्त्रोक्तरीत्या स्वरूपानन्दं दातुं, तत्सजातीयः कामोपाधिकः स्नेहो अधुना जनितः."

(सुबो.१०।२६।४३).

(४)"एषा हि गतिः कामोद्बोधिका स तासां कामपूरकः... एवम् उद्बुद्धे कामे ताभिः सह बन्धादिभिः रेमे इति आह 'नद्या' इति.

(सुबो.१०।२६।४४-४५).

(५)"एवं द्वादशविधोऽपि कामो द्वादशांगेषु स्थितः प्रबुद्धो भवति... संयुक्तः कामो रतिपतिः, वियुक्तस्तु अग्निरूपः. एवम् आधिदैविकं कामम् उद्बोधयन् रमयाञ्चकार."

(सुबो.१०।२६।४६).

(६)"ननु 'कामो न विद्यते' इति कथनाद् भगवति तत्सम्बन्धाद् भक्तेषु च उभयकामाभावएव अस्तु इति चेद्, न, पञ्चमाध्यायोक्तकारिकाविरोधात्. तत्र लौकिककामनिषेध-पूर्वकम् अलौकिकस्य भगवति निरूपितत्वात्... अत्र कामसुखस्य... प्रभोः भोक्तृत्वकथनाद् लौकिकस्यैव तस्य निषेधो नतु अलौकिकस्यापि."

(सुबो.टिप्प.१०।२६।४२).

(७)"स्वामिनीनां सदा निरुपधिस्नेहएव चेत् स्यात् तदा खण्डितादिभावासम्भवेन पूर्णरसभोगः उभयत्रापि न सम्भवतीति निरुपधित्वांशम् आच्छाद्य कामोपाधिकत्वं सम्पादितवान् नैतावता भक्तिमार्गे हीनता. आद्यप्रवृत्तेः निरुपाधिकत्वाद् भगवता स्वानन्ददानार्थं स्वयम् एतद्भावजननाद्."

(सुबो.टिप्प.१०।२६।४३).

स्पष्ट रूपमें इनका तात्पर्य इतना ही है कि वैसे तो भगवान्में या उत्तमाधिकारवाले भक्तोंमें स्नेह किसी भी उपाधिके कारण होता नहीं है किन्तु "हो ही नहीं सकता" ऐसे अतिवादी निष्कर्ष तक इस सिद्धान्तको नहीं ताना जा सकता. इतना तो निश्चित ही है कि इन उत्तमाधिकारवाले भक्तोंमें जब स्नेह कामोपाधिक भी होगा

तो उस कामका स्वरूप हेतु या विषय कुछ भी लौकिक न होकर भगवदीय या स्वयं भगवान् ही होते हैं. अतः यह कहना कि कामभाव सर्वथा लौकिक ही है संगत कथन नहीं. अब यदि इस कामको सर्वात्मभावात्मक मान लिया जाये तो वैसे तो कुछ आपत्ति नहीं किन्तु सर्वात्मभावका पृथक्करण या उसकी विशेषता इस कामभावके साथ केवल एक विशेषण 'अलौकिक' जोड़ कर दी जा सकती थी. परन्तु वह न जोड़ कर सर्वात्मभावसे कामभावके पार्थक्य दिखलानेका कोई विशेष हेतु नहीं रह जाता है. जैसे आचार्यचरण इन्द्रियोंका भगवदुपयोग बताते हैं वैसे ही हमारी कामात्मिका वृत्तिका भी विनियोग भगवान्में हो जाये तो पुष्टिमार्गकी दृष्टिमें कोई पहाड़ नहीं टूट पड़ना चाहिये. अन्तर इसमें केवल इतना ही होगा कि "गंगात्वं सर्वदोषाणां गुणदोषादिवर्णना, गंगात्वेन निरूप्या स्यात् तद्वद् अत्रापिचैव हि" (सि.र.९). इस सारे विषयका स्पष्टीकरण अन्तर्गृहगताओंके बारेमें महाराजा परीक्षितकी शंकाओंके समाधानरूप श्लोकोंकी सुबोधिनीमें आचार्यचरणने किया है :

> "भगवान् तो मुक्तिदानकेलिये अवतीर्ण हुवे हैं—सच्चिदानन्दरूपमें प्रकट हुवे हैं. अतः किसी भी उपायसे यदि हमारा सम्बन्ध भगवान्के साथ जुड़ जाता है तो देर-सबेर हमारा संसारसे छुटकारा हो ही जायेगा. ज्ञान एवं भक्ति का उपयोग तो भगवान्का आविर्भाव हो केवल इसीलिये है. अब यदि भगवान् स्वतः ही सभीके सामने मुक्तिदानकेलिये आविर्भूत हो ही गये हों तो ज्ञान एवं भक्ति अकिंचित्कर हो जाते हैं. ईश्वरकी इच्छापर तो किसीका नियन्त्रण नहीं चलता. जब भगवान् आविर्भूत हैं तो अपनी इच्छा या भक्ति अथवा ज्ञान किसी भी बहानेसे वे मिल सकते हैं. मगर जब भगवान्का अवतारकाल नहीं होता तब ज्ञान अथवा भक्ति ही, भगवान्को प्रकट करवानेके सफल साधन बनते हैं. केवल

इसी हेतुवश अवतारकालमें भी उन्हें अनिवार्य नहीं मान लेना चाहिये... यदि किसीमें ऐसे निषिद्ध भाव उत्पन्न हो भी रहें हों तो सभीके मनोबुद्धिप्रेरक तो भगवान् ही हैं. अतः भगवान् ही अपनी प्रसन्नतासे वैसे भाव उस जीवमें उत्पन्न कर रहे हैं. यह मान लेना चाहिये.''

(सुबो.१०।२६।१३).

इस उद्धृत अनुवादके आधारपर, मैं समझता हूं, कामभावकी ग्राह्यता और अग्राह्यता, दोनोंके बीच जो विभाजकरेखा सिद्धान्ताभिमत है वह बराबर हमारे सामने उभर आती हैं कि क्या अवतारदशामें होना चाहिये और क्या अनवतारदशामें, क्या मुख्यकल्प है और क्या गौणकल्प है; तथा जीवकी मर्यादा क्या-कैसी हैं एवं ब्रह्मका सामर्थ्य क्या-कैसा होता है, इत्यादि रूपोंमें. इस स्पष्टताके रहते मुख्याधिकार एवं मन्दमध्यमाधिकार का विवेक रखे बिना, पुष्टिफलका सामान्य विवेचन करते हुवे सर्वात्मभाव एवं कामभाव की तुलना झटसे हृदयारूढ नहीं हो पाती. यदि सर्वात्मभाव मुख्यतम फल है तो इस भाववाले अधिकारियोंका भाव अलौकिक कामभाव हो सकता है. यदि सर्वात्मभाव मुख्य मध्यम एवं मन्द अधिकारियोंका सामान्य फल है तो मन्दमध्यमाधिकारियोंमें लौकिक कामकी सम्भावना रहनेपर भी यथाधिकार फल तो उन्हें भी मिलेगा ही. एतावता प्रभुके संयोगसुखको कामभावका फल और विप्रयोगदुःखको सर्वात्मभावका फल बनाना कोयी प्रमाणिक प्रक्रिया नहीं प्रतीत होती. इससे सिद्ध होता है कि कामभाव केवल लौकिक ही होता है, ऐसी बात नहीं है. अर्थात् सर्वात्मभाव सिद्ध होनेपर भी कामभाव टिक सकता है. स्वयं पूर्वोपात्त सातवें उद्धरणकी टिप्पणीके आधारपर भी यह सिद्ध होता ही है कि सर्वात्मभावसे केवल रसानुभूति पूर्ण नहीं हो सकती. अतः रसशास्त्रीय मर्यादाके निर्वाहकेलिये भगवान्को भी गोपीजनोंके निरुपधिक स्नेहको कामोपाधिक बनाना पड़ा. यह काम अलौकिक भले ही हो, किन्तु है तो द्वैतघटित ही. यह खण्डिता

आदिके उल्लेखसे भी स्पष्ट हो जाता है.

इससे यह सिद्ध हुवा कि विषयेन्द्रियस्फूर्तिके कारण विषयेन्द्रियके द्वैतकी स्फूर्ति अनिवार्य नहीं, यद्यपि पुष्टिमार्गमें रसानुभूतिकेलिये विषयेन्द्रियद्वैत अनिवार्य है तो भी. इन्हीं दिये हुवे उद्धरणोंके आधारपर यह भी स्पष्ट जाता है कि संयोगात्मक स्वरूपसे विप्रयोगका दान भी सम्भव है. इसी तरह कामभावके कारण केवल संयोगसुख ही मिलता यह भी नहीं कहा जा सकता. और न यह कहा जा सकता हैं कि सर्वात्मभावमें विषयेन्द्रियद्वैतका भाव होता ही नहीं.

"संत्यज्य सर्वविषयान्" कारिकामें प्रभुनिरपेक्षता :

इस कारिकामें सर्वेन्द्रिय-विषय-निरपेक्षताको भगवन्निरपेक्षता तक ताननेपर अथवा यहां आन्तरभावात्मक सर्वात्मभावका प्रतिपादन माननेपर, आगे संयोगलीलाका वर्णन एवं तिरोहित होकर पुनःप्रकट होनेके बाद परमानन्दानुभवका वर्णन संगत नहीं होता. क्योंकि विप्रयोगवादियोंके सिद्धान्तके अनुसार यहां क्लेश बढ़ना चाहिये था.

"विरहेण सर्वात्मभावो भगवति अधिकृतः"का अर्थ :

यहां, विरहावस्थामें सर्वात्मभावका उदय हो जाता है, यह बात तो ठीक ही है; किन्तु, सम्भवतः छान्दोग्योपनिषद्वाले सर्वात्मभावके व्यभिचारिभाव ही एकान्ततया विप्रयोगमें प्रकट होते हैं, अन्य व्याभिचारिभाव तो संयोगमें भी प्रकट हो सकते हैं. यहां मुद्रित भागवतमें "सर्वात्मभावोऽधिगतः" पाठ उपलब्ध होता है जबकि सुबोधिनीके अनुसार क्या पाठ है यह आपततः स्पष्ट नहीं हो पाता. वैसे योजन आचार्यचरण भी 'सर्वात्मभावोऽधिकृतः' ही करते हैं. यह हम यहांपरकी सुबोधिनीके आधारपर स्पष्ट देख सकते हैं. यहां "संयोगे भवेदपि तादृशी मतिः" द्वारा प्रतिपाद्य सर्वात्मभावका संयोगकालीन अवस्थामें प्रकट होना स्वाभाविक है किन्तु विप्रयोग-अवस्थामें प्रकट होना आश्चर्यकारी होता है, इस

विधानद्वारा प्रतिपाद्य सर्वात्मभाव दोनों ही अवस्थामें प्रकट होता हैं, यह सुस्पष्टतया स्वीकारा गया है. न केवल इतना अपितु संयोगमें तो सहज ही प्रकट होता है जबकि विप्रयोगमें अत्यन्त अपवादके रूपमें, यह भी ध्वनित हो जाता है. और यदि इस अपवादके रूपमें प्रकट होनेके कारण विप्रयोग-सर्वात्मभावकी कुछ चमत्कारिक विशिष्टता मानी जाये तो वह आपत्तिजनक नहीं है. मगर यह कहना कि सर्वात्मभाव संयोगमें होता ही नहीं, सुबोधनीसे विरुद्ध प्रतीत होता है. अतएव कोयी विलक्षण सर्वात्मभाव संयोगमें प्रकट होता है उसी तरह कोयी विलक्षण सर्वात्मभाव विप्रयोगमें प्रकट होता है यही कल्प उपपन्न लगता है.

<u>सर्वात्मभावमें क्या देहादिका भान नहीं होता? अतः क्या वहां स्वतन्त्रता रहती है? जबकि कामभावमें देहादिके भान होनेसे क्या रसानुभवमें स्वातन्त्र्य नहीं रहता? :</u>

सर्वात्मभावमें भी बहिर्भान माना ही गया है. भाष्यस्थ "वही ऊपर है, वही नीचे है, वही आगे है, वही पृष्ठभागमे है" (द्र.छान्दो.उप.७।२५।१) आदि रूपोंमें जो व्यभिचारिभाव गिनाये गये हैं, वहां देखनेसे यह स्पष्ट ही है. विप्रयोगमें केवल कभी-कभी ऐसे व्याभिचारिभाव भी आते हैं जब देहादिकी स्फूर्ति नहीं रह जाती है. एतावता सर्वात्मभावमें कभी भी देहादिकी स्फूर्ति होती ही नहीं, यह सिद्ध कर पाना कठिन है. वैसे जहां संयोगलीलाका वर्णन आता है, जिसे श्रीहरिरायजी कामभाव मानते हैं, वहां उन भक्तोंके देह इन्द्रिय आदि भगवद्रूप हैं, यह हमने श्रीप्रभुचरणके वचनोंद्वारा देख लिया. और वैसे तो पूर्वोदाहृत टिप्पणीमें प्रभुचरण स्पष्टतम विधान करते हैं : "दृष्टेऽपि भगवति यावत् सर्वेन्द्रियैः साक्षाद् न अनुभूयते न तावत् स्वास्थ्यमिति न साक्षात्कारमात्रं फलम्" (१०।२०।३९) जब तक सभी इन्द्रियोंसे भगवदानन्दका साक्षाद् अनुभव नहीं होता, तब तक केवल दर्शनमात्रसे भक्तको स्वास्थ्यलाभ नहीं होता. फलतः फलसिद्धि

नहीं हो पाती. जहां केवल बहिर्दर्शनसे भी फलकी पूर्णता नहीं आती, वहां यह कल्पना करनी कि देह इन्द्रिय आदिका जहां भान नहीं वहां परमफल होता है, वस्तुतः विचारणीय मत लगता है.

वैसे न केवल व्रजस्थ भक्तोंके संयोगकालीन देह इन्द्रिय आदि अलौकिक हैं अपितु जिस किसी भक्तका प्रभुके साथ साक्षात् अंगसंग होता है, उन सभीके देह इन्द्रिय आदि सभी कुछ गुणातीत हो जाते हैं. सभी कुछ भगवदात्मक हो जाता है. इसके प्रमाणरूप प्रभुचरणकी यह पंक्ति द्रष्टव्य है : "हन्त ! एवं विचारकस्य तव शतधा हृदयं न अस्फुटत् कुतः तद् न जानीमः ! यतो मर्यादाभक्तिमार्गीय-सेवाविषयय-कश्रद्धायाअपि यत्र निर्गुणत्वं तत्र साक्षादंगसंगिनीषु सगुणत्वं ब्रवीषि!" (सुबो.१०।२६।१६). अतएव "आप्रायणात् तत्रापि हि दृष्टम्" सूत्रके भाष्यमें —

> " 'प्रायण'शब्देन स्वतः पुरुषार्थत्वेन प्राप्यं परमं पारलौकिकं फलम् उच्यते. तथाच फलं तन्मर्यादीकृत्य तस्य सैव अवस्था सार्वदिकी नतु बहिः प्राकट्येऽपि बहिष्ट्वानुसन्धानम् इति अर्थः."
>
> (ब्र.सू.भा.४।१।१२).

अर्थात् जिस भक्तमें भगवान्का आन्तर प्राकट्य हो गया उसको बहिः अनुभव जब होता है तब 'पहले मुझे आन्तरिक अनुभव था अब बाहर अनुभव हो रहा है' ऐसा भान होता है कि नहीं, इस शंकाके समाधानरूपेण यही कहा गया है कि एक बार फलानुभव होनेके बाद आन्तर एवं बाह्य का कुछ भी भेद रह नहीं जाता. बाहर प्रकट होनेपर न तो बाहर प्रकट होनेका भान होता और न आन्तर प्राकट्यके समय आन्तर प्राकट्यका भान रहता है. भान केवल रहता है रसात्मक फलके आनन्दानुभवका. अन्दर या बाहर कहीं भी भगवान्के स्वरूपका

अनुभव न होता हो, तो तीव्रतर वियोगमें सर्वात्मभावके कयी व्यभिचारिभाव उदित होने लगते हैं. यथा : वही उपर-नीचे आजु-बाजू सर्वत्र है, या मैं ही सर्वत्र हूं, या आत्मा ही सर्वत्र है, इत्यादि रूपोंमें. जिस अभेदभावका प्राधान्य सर्वात्मभावकी परिभाषामें श्रीहरिरायजी दिखलाते हैं, उसे भी भाष्यकार "व्यतिहारो विशिषन्ति हि इतरवत्" सूत्रके भाष्यमें सर्वात्मभावका एक व्यभिचारिभाव ही मानते हैं : "द्वितीयभावोद्रेके यथा इतरे अश्रुप्रलापादयो व्यभिचारिभावाः तथा अतिविगाढभावेन तदभेदस्फूर्तिरपि एकः सच न सार्वदिकः" (ब्र.सू.भा.३।३।३७) इससे स्पष्ट हो जाता है कि न तो यह भाव हमेंशा बना रहता है और न भक्त ही इसे बनाये रखनेमें स्वतन्त्र होते हैं. यह भाव तो रसमर्यादाके अनुसार प्रकट एवं तिरोहित होता रहता है. अतः यह सर्वात्मभावकी सम्पूर्ण व्याख्या नहीं बन पाता, व्यभिचारिभाव होनेके कारण ही.

<u>क्या सर्वात्मभावमें भगवान्के साथ किसी भी तरहके सम्बन्धकी अपेक्षा नहीं रहती क्योंकि तीव्रतापवश सभी लीलायें प्रकट होने लगती हैं?</u> :

ऐसे सन्देहकेलिये तो कोयी अवकाश नहीं है कि सर्वात्मभावमें सर्वविध लीला प्रकट होती हैं या नहीं? परन्तु इन अधोनिर्दिष्ट वचनोंके अवगाहन करनेपर यथा—

> "नः स्तनेषु चरणपङ्कजम् अर्पय. प्रयोजनम् आहु 'आर्तिहन्' इति. हृदयतापः चिन्ता च निवारणीया. दृष्टोपकारेणैव तापो गमिष्यति. अस्माभिः हृदये स्थापितं न बहिः समायाति. अतः त्वया बहिः स्थापनीयम्."
>
> (सुबो.१०।२८।१३).
>
> "स्वामिनीनां हि बहिःप्राकट्यमेव अभीष्टं तदैव ईश्वरवादो अन्यदा शून्यवादः."
>
> (सुबो.टिप्प.१०।२६।०).

यों आन्तर लीलायें प्रकट तो होती हैं पर आचार्यचरण एवं प्रभुचरण दोनोंके अनुसार गोपिकाओंको तो बहिःप्राकट्य ही अभीष्ट है. वैसे सिद्धान्ततः तीव्रतापमें सभी लीलायें प्रकट होती हैं एवं उन-उन लीलाओंके रससागरका तलस्पर्श भी विप्रयोगमें ही सम्भव है संयोगमें नहीं. अतएव विप्रयोगके अनुभवको विलक्षण फल माना गया है. यह भ्रमरगीतकी टिप्पणीसे स्पष्ट ही है. विप्रयोगमें जब आन्तर संयोगानुभव होता है तब बाह्य संयोगकी अपेक्षा नहीं रहती. यह भी **"स्मरन्ति च"** (ब्र.सू.४।१।१०) एवं **"आप्रायाणात्..."** (ब्र.सू.४।१।१२) सूत्रके भाष्यसे स्पष्ट है. विप्रयोगमें, किन्तु, जब आन्तर संयोगका अनुभव नहीं हो रहा हो तब बाह्यसंयोगकी अपेक्षा रहती है, आन्तर संयोगकी नहीं, यह भाष्य सुबोधिनी एवं टिप्पणी के अनेक वचनोंसे सिद्ध किया जा सकता है. अतएव भाष्यकार **"स्पष्टो हि एकेषाम्"** सूत्रमें कहते हैं : **"स रसस्तु संयोगविप्रयोगाभ्यामेव पूर्णो भवति अनुभूतो न एकतरेण"** (ब्र.सू.भा.४।२।१३) यहां 'न-एकतरेण' पदसे जैसे केवल संयोगमें अपूर्णता दिखलायी गयी है, वैसे ही केवल विप्रयोगके बारेमें भी मानना ही पड़ेगा. अतएव सुबोधिनीमें जब आचार्यचरण **"न केवलं सन्निकर्षमात्रं फलं किन्तु अन्यदपि अस्ति"** (१०।४४।३५)कहते हैं तो वहां भी 'अपि' पदका प्रयोग किया गया है, 'एव'पदका नहीं. क्योंकि चाहे संयोग हो या वियोग, अकेला पूर्ण रस नहीं बन सकता, यह प्रभुचरणकी तरह आचार्यचरणको भी सम्मत ही है. अतएव यहीं आगे चलकर आज्ञा करते हैं : **"अहं हि कृत्स्नः प्रसादेनापि प्राप्तः कृत्स्नेनैव साधनेन प्राप्तुं योग्यः. साच कृत्स्नता अस्यामेव अवस्थायां भवति नान्यथा"** (सुबो.१०।४४।३७) यह विप्रयोगानुभूति फलसम्बन्धी कृत्स्नता या पूर्णता नहीं है. 'तत्' शब्द पूर्वपरामर्शी है अतः, साधनसम्बन्धी कृत्स्नता ही है. क्योंकि इन दोनोमेंसे कोयी भी एक, अपने आपमें, परमफल नहीं है. इन दोनोंकी उत्तरोत्तर बढ़ती चली जाती शृंखला ही परमफल है, जिसके ये दोनों साधन हैं. नटवरवपुः भगवान् परमफल हैं, इस सिद्धान्तकी यही संगति है. अन्यथा अर्धजरतीयन्याय होगा. अतएव

प्रभुचरण आज्ञा करते हैं : " 'अचिराद् माम् अवाप्स्यथ' इत्यनेन व्रजे समागतस्य भगवतः पूर्ववद् मिलनलक्षणा प्राप्तिः उच्यते चेद्... ओम् इति ब्रूमः... भवतीनान्तु... यथापूर्वमेव मिलनं भविष्यति" (सुबो.स्वतं.१०।४-४।३८). यदि संयोगसुखानुभवसे सर्वात्मभाव उत्कृष्ट हो तो सर्वात्मभावके बाद पुनः संयोगानुभव यह एक विचित्र स्थिति हो जायेगी. इसे पूर्वोक्त साधनकात्स्न्र्यन्याय भी कहा नहीं जा सकता, क्योंकि सर्वात्मभावको फलकात्स्न्र्यतया स्वयं विप्रयोगपरमफलवादी स्वीकारते हैं. अतः मानना चाहिये कि संयोगानुभव हो या वियोगानुभव दोनोंमें एक-दूसरेसे केवल विलक्षण रसका अनुभव होता है, उत्कृष्ट रसका नहीं. यह सुस्पष्टतया "एतावान् परं विशेषो बहिःसम्बन्धे विलक्षणो भावः उत्पद्यते अन्तरेव च सम्बन्धेतु विलक्षणः" (सुबो.टिप्प.१०।२७।४) कहा गया ही है. अतः अपेक्षा सर्वत्र संयोगकी ही है. चाहे वह आन्तर हो या बाह्य. हां, बाह्याभ्यन्तरके भेदवश संयोग एवं विप्रयोग के अनुभव द्विदलात्मिका रसानुभूतिकी पूर्णतातक पहुंचते हैं. अतएव "बाह्याभ्यन्तरभेदेन आन्तरन्तु परं फलम्" (सुबो.१०।२६।१) कहा गया है. वैसे रसकी पूर्णताके लिये विप्रयोगानुभव भी आन्तर संयोगके रूपमें नहीं किन्तु बाह्याभ्यन्तर विप्रयोगके रूपमें अनभीष्ट होनेपर भी अनिवार्य तो है ही. क्योंकि शृंगाररसकी स्थायिभावरूपा रतिका स्वरूप ही दोनों तरहका है एवं रति भगवद्रूप है.

इस शृंखलावादके समर्थक कयी वचन उपलब्ध होते हैं, जिनको उद्धृत करनेकेलिये एक स्वतन्त्र लेखकलेवरकी आवश्यकता है. किन्तु फिर भी उदाहरणतया कुछ वाक्य दे देना यहां पर्याप्त होगा :

> (१)" 'हे रमानाथ' इति, रमणीकस्वभावा हि सा उत्तरोत्तरं वर्धमाना नित्या च. तस्याः त्वं नाथ इति सार्वजनीनम्. सा हि अस्मत्प्रकारेनैव साध्या भवति... यथा त्वं लक्ष्मीपतिः सार्वजनीनः एवं व्रजपतिरपि... हरिः त्वम् आर्तिं नाशयस्येव.

कुर्या अन्यद् नवा कुर्या आर्तिन्तु नाशय, अन्यथा हरित्वमेव न स्यात्. अतः स्वरूपरक्षार्थम् एतद् आवश्यकम्."

(सुबो.१०।४४।५३).

(२)"अन्तः बहिः च नित्यानन्ददायी."

(सुबो.१०।३०।१५).

(३)"तेषां विरहदशा प्रियसंगमदशा च इति दशाद्वयमेव भवति न अन्या."

(ब्र.सू.भा.४।२।१०).

(४)"**हृदि बहिः च रसात्मकं भगवत्प्राकट्यं, तददर्शनजनितो विरहभावः, तज्जनितः तापः, तेन मरणोपस्थितौ तन्निवर्तनं, तदौत्कट्यं, तदा प्राकट्यं, ततः पूर्णस्वरूपानन्ददानादिकम्.**"

(ब्र.सू.भा.४।२।१५).

यहां इन सभी सुबोधिनी-भाष्यके वचनोंमें संयोग-विप्रयोगकी शृंखला एवं नित्यलीला का वर्णन आया है और इस शृंखलाका ही चित्रण उपलब्ध होता है. केवल शाश्वतिक विप्रयोगका नहीं.

अन्तर्गृहगताओंके भावका विचार :

वैसे तो अन्तर्गृहगताओंको सर्वात्मभाव नहीं था, जारभाव था. इसीलिये उन्हें सायुज्य मिला यह कहा जाता है. किन्तु वास्तवमें यह जारभाव भी भगवत्प्रदत्त ही था, यह टिप्पणीजीके अध्ययनसे स्पष्ट होता है. जहां तक सर्वात्मभावका प्रश्न है तो प्रभुचरण तो सगुणदेह त्यागके बाद उनमें सर्वात्मभाव भी मानते ही हैं : "**तथा एतासामपि स्वाधिकारानुसारेण तथात्वे सगुणत्वोपरमेण सर्वभावप्रपत्यैव ततो पतिभजनम्.**" (सुबो.वर्णकान्तर.१०।२६।१६). यहां द्रष्टव्य यही है कि इनको सर्वात्मभावकी प्राप्तिके बाद भी रसानुभवमें स्वातन्त्र्य नहीं है. श्रीहरिरायजीके मतानुसार, जैसाकि इनके बारेमें नित्यसायुज्य एवं नैमित्तिक

लीलानुभव की मान्यताके अनुसार सिद्ध होता है. यदि सर्वात्मभावको भी नित्य न मानकर नैमित्तिक माना जाये तो सर्वात्मभाव सिद्ध होनेपर, भक्त प्रभुके आधीन नहीं रह जाता, यह विधान भी असिद्ध हो ही जाता है.

सर्वात्मभावात्मक तापकी तीव्रतामें जो मानसिक संयोग अनुभूत होता है वह क्या बाह्य संयोगसे अधिक आनन्दात्मक होता है? :

इस सम्बन्धमें स्वयं श्रीहरिरायजीके परस्पर विरुद्ध विचार दिखलायी पड़ते हैं. क्योंकि 'रसात्मकभावस्वरूपनिरूपणम्' नामक ग्रन्थमें श्रीहरिरायजी भगवान्के बहिःप्राकट्यको धर्मसंयोग तथा अन्तःप्राकट्यको धर्मिसंयोग मानते हैं. इसी तरह प्रभुको पुनःप्रकट करनेवाले विप्रयोगको धर्मविप्रयोग एवं स्वतन्त्र फलरूप (क्योंकि यहां भगवान्के अविर्भावकी भी अपेक्षा नहीं) एवं भगवान्के स्वरूपावेशके कारण धर्मिविप्रयोग मानते हैं. इस धर्मिविप्रयोगमें न तो बाह्य एवं न आन्तर संयोग ही अनुभूत होता है. अतएव कहा कि "तदसंवेदनं विप्रयोगानुभवएव हि. एवं सतत सद्भावे 'स्वतन्त्रा भक्तिः' उच्यते." (रसा.भा.स्वरू.निरू.७). अब यदि सर्वात्मभाव भी धर्मिविप्रयोगात्मक हो, जैसा कि श्रीहरिरायजीको अभिप्रेत है ही तो यहां भी आन्तर लीला अथवा आन्तर स्वरूपके प्रकट होनेसे वह धर्मिविप्रयोगात्मक न रहकर धर्मिसंयोगात्मक हो जायेगा. तब सर्वात्मभाव 'स्वतन्त्रा भक्ति' नहीं बन पायेगा.

यदि सर्वात्मभावमें आन्तर लीलानुभव नियत ही हो तो वह 'स्वतन्त्रा भक्ति' नहीं हो सकता और यदि वह 'स्वतन्त्रा भक्ति' हो तो उसमें आन्तर लीलानुभव अथवा आन्तर स्वरूपानुभव नियति नहीं होनी चाहिये. यह विरोधाभास दुष्परिहर प्रतीत होता है.

"आन्तरन्तु परं फलं" या "आन्तरन्तु महाफलं" जैसे वाक्य उक्त व्यवस्थाके अनुसार धर्मिसंयोगके परमफल होनेके समर्थक होने

चाहिंये न कि धर्मिविप्रयोगके. वैसे अक्सर देखा यही गया है कि तथाकथित धर्मिसंयोगके परमफल होनेके विधानको, विप्रयोगपरमफलवादी, तथाकथित धर्मिविप्रयोग एवं धर्मिसंयोग के समर्थनमें अस्तव्यस्त रूपमें उद्धृत करते रहते हैं.

मूलतः इन और ऐसी सारी अस्पष्ट एवं परस्परविरुद्ध व्याख्याओंका आधार है : विप्रयोगात्मक तापकी तीव्रतामें, हृदयके भीतर प्रकट होनेवाले स्वरूप एवं बाहर प्रकट होनेवाले स्वरूपोंमें भेद मानना. अतएव एक-दूसरेसे विलक्षण रसकी अनुभूति विप्रयोग एवं संयोग में होती है, इस मतको छोड़ कर किसी एककी श्रेष्ठता मान ली जाती है. किन्तु भाष्यकारको यह आन्तर एवं बाह्य स्वरूपोंके बीच भेद मान्य हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता : "बहिः प्रकटस्यैव अन्तरपि प्राकट्यात्" (ब्र.सू.भा.४।२।१). यहां प्रश्न यही है कि आन्तर स्वरूप रसात्मक है कि नहीं? यदि है तो रसात्मक होनेके कारण ही द्विदलात्मक होगा. ऐसी स्थितिमें स्वरूप संयोगात्मक तो हो ही रहा है. अतः यह नहीं कहा जा सकता कि यह आन्तर स्वरूपकी संयोगात्मकता केवल भावात्मक है. क्योंकि (१)वह तो बाह्य स्वरूपकी भी भावात्मक ही होती है. (२)आन्तर स्वरूपके भावात्मक होनेपर भी उनका भान निरालम्बन तो नहीं हो सकता है. तब आलम्बनके रूपमें जो भगवान् हैं वे भी रसात्मक होनेके कारण उतने ही संयोगात्मक होंगे, जितने कि बाह्य स्वरूप. इसी तरह बाह्य स्वरूप भी रसात्मक हैं कि नहीं? यदि है तो वह भी रसात्मक होनेके कारण द्विदलात्मक होगा, अतः विप्रयोगात्मक भी होगा ही. अन्यथा रसात्मक हेतुके आधारपर सामान्य रूपसे भी भगवान्को द्विदलात्मक सिद्ध नहीं किया जा सकेगा.

यदि दोनों स्वरूपोंको एक ही मान लेते हैं तो यह प्रश्न स्वतः ही समाहित हो जाता है. न केवल इतना अपितु इस व्याख्यानको वेणुगीतसुबोधिनी एवं टिप्पणीकी रसात्मकताकी व्याख्याका समर्थन मिल

जायेगा.

एतावता—

(१)विप्रयोगात्माका संयोग = धर्मिसंयोग.
(२)विप्रयोगात्माका विप्रयोग = धर्मिविप्रयोग.
(३)संयोगात्माका संयोग = धर्मसंयोग.
(४)संयोगात्माका विप्रयोग = धर्मविप्रयोग.

ऐसे चातुर्विध्यके कल्पनागौरवसे भी बचा जा सकता है. अतएव विप्रयोगात्मक स्वरूपकी लीला भी स्वरूपात्मिका है, जबकि, संयोगात्मक स्वरूपकी लीला नहीं, इस मान्यताका भी समाधान हो जाता है. जो युक्ति (धर्म-धर्मी-अभेद सूर्य-किरणकी तरह) अभेद सिद्ध करती है अतः वह यहां भी लागू होगी. अन्यथा वहां भी नहीं.

'पुष्टिपथमर्मनिरूपणम्' का विमर्श :

'पुष्टिपथमर्मनिरूपणम्' नामक ग्रन्थमें जो आन्तर स्वरूप एवं लीला में अभेद दिखलाया गया तथा बाह्य स्वरूप एवं उसकी लीला में जो भेद दिखलाया गया है, वह तभी सम्भव है, जब आन्तर एवं बाह्य स्वरूपोंका भेद सिद्ध हो. पूर्वोक्त युक्तियोंके आधारपर जब भेद ही सिद्ध नहीं हो सकता तो यह स्वरूप-लीलाका भेद भी सिद्ध नहीं हो सकता. आन्तरमें अखण्डाद्वैतका भान तो माना नहीं गया. ऐसी स्थितिमें यदि धर्म एवं धर्मी के रूपमें यदि लीला एवं स्वरूप का भेद न माना जाये तो फिर अनुभव भी निराकारका ही मानना पड़ेगा—साकारका नहीं. यदि यहां ऐच्छिक द्वैत माना जाये तो वह तो संयोगमें भी माना ही जा सकता है. क्योंकि औपाधिक, स्वाभाविक अथवा मायिक द्वैत अपने मतमें मान्य ही नहीं है. ऐसी स्थितिमें संयोगलीला आनन्दात्मिका नहीं है, यह कहना

तो अत्यन्त अपसिद्धान्त प्रतीत होता है. यों जब संयोगलीला भी आनन्दात्मिका एवं रसात्मिका है, तब अपेक्षित अभेद एवं ऐच्छिक द्वैत भी आ ही जाते हैं. फिर आन्तर स्वरूप एवं लीला तथा बाह्य स्वरूप एवं लीला में बहोत अन्तर नही रह जाता है. हम यह देख आये हैं कि बाह्य लीलामें भी भक्तोंके न केवल देह इन्द्रिय आदि अपितु मान आदि दोष भी भगवदात्मक हैं. ऐसी स्थितिमें स्वयं भगवल्लीलाको ही भगवदात्मक न मानना तो एक जबरदस्त विसंगति हो जायेगी.

'स्वमार्गमूलनिरूपणम्' का विमर्श :

'स्वमार्गमूलनिरूपणम्' नामक ग्रन्थमें जो संयोगात्माको लोकवेदप्रथित दिखलाया गया है, उसके बारेमें श्रीमदाचार्यचरण अथवा श्रीमत्प्रभुचरण के प्रमाणभूत वचन कहीं उपलब्ध नहीं होते. भावात्मक होनेके कारण यदि विप्रयोगात्मक स्वरूपको लोकवेदातीत माना जाता हो तो भावात्मक तो संयोगात्मक स्वरूप भी है ही. अन्यथा वह रसात्मक भी सिद्ध नहीं हो पायेगा तो संयोगात्मक तो बिलकुल ही नहीं. यो साराका सारा विचार असमंजस हो जाता है.

लोकवेदातीतका अर्थ लौकिक एवं वैदिक प्रमाणोंका अविषय होना ही हो, तो इस सर्वात्मभावात्मक स्वरूपका, जहां वेदमें प्रतिपादन एवं जिन श्रुतियोंके नित्यलीलापरक अर्थ सूत्र एवं भाष्य में दिखलाये गये हैं, वे सब बाधित हो जायेंगे. यदि ब्रह्मका लौकिक या वैदिक प्रमाणोंके अनुरोधके अधीन न होना — लोकवेदातीत होना हो तो, वह तो बाह्य प्रकट लीला करनेवाले स्वरूपके बारेमें भी उतना ही खरा उतरेगा. बाह्य प्रकट स्वरूप भी जब स्वानन्दानुभवके दानमें ही प्रवृत्त हो जाते हैं तो किसी भी तरहके प्रमाणोंकी मर्यादा या अनुरोध को ठुकरा नहीं सकते, ऐसा तो नहीं है क्योंकि "श्रान्तो गजीभिः इभराडिव भिन्नसेतुः" की "सेतवो बध्यन्ते जलरक्षार्थं ते सर्वे

भिन्ना तादृशेन गजेन भवन्ति. भगवतापि ब्रह्ममर्यादा... जीवानां च मर्यादा तथा सति निवृत्ता..." (सुबो.१०।३०।२३) सुबोधिनीमें मर्यादात्याग दिखलाया गया है. इससे सिद्ध होता है कि संयोगलीला भी लौकिक वैदिक प्रमाणोंके अनुरोधपर नहीं चलती. अतः संयोगात्मक स्वरूप भी उतने ही लोकवेदातीत हैं जितने कि विप्रयोगात्मक स्वरूप. वस्तुतः तो ऐसे दो स्वरूप मानना ही व्याहतकथन है. एक ही स्वरूप दोनों प्रकारसे लीला करते हैं एवं भक्तोंको वैसा अनुभव कराते हैं, यही पक्ष सुसंगत लगता है.

'श्रीमत्प्रभोः सर्वान्तरत्वनिरूपणम्' का विमर्श :

यहां विप्रयोगात्मक स्वरूपको संयोगात्मक स्वरूपके अन्तःस्थित माननेमें श्रीमदाचार्यचरण अथवा श्रीमत्प्रभुचरण के वचन प्रमाणरूपेण उपलब्ध नहीं होते.

'प्रभुप्रादुर्भावविचार'का विमर्श :

आनन्द एवं आनन्दमय का जो भेद, श्रीहरिरायजीने दिखलाया है, वह यह कि संयोगात्मक स्वरूप धर्मसहित है एवं विप्रयोगात्मक स्वरूप केवल धर्मिरूप है, इस मान्यतापर आधारित है. यह भेद, किन्तु, सिद्ध कर पाना जरा कठिन प्रतीत होता है. यद्यपि आन्तर एवं बाह्य स्वरूपका भेद ही कहीं सिद्ध नहीं होता, किन्तु यहां जो रस एवं रसपिण्ड की भिन्नता अर्थात् विप्रयोगात्मक स्वरूपको रसरूप एवं संयोगात्मक स्वरूपको रसपिण्डरूप मानकर दिखलायी गयी है, उसके सन्दर्भमें श्रीमदाचार्यचरणकी गोपीगीतके "तव कथामृतं तप्तजीवनं" श्लोककी सुबोधिनी बरबस याद आ जाती है. क्योंकि वहां संयोगदशामें रसकी अनुभूति मानी है एवं विप्रयोगदशामें रसपिण्डकी अनुभूति मानी है "परं विरलम् अमृतं केवलं मरणोपस्थितौ तन्निवर्तकमेवेति, नतु सम्भूय एकत्र रसजनकं, रसपिण्डयोरिव तव कथायाः च विशेषः. अन्यथा कथार्थमेव यत्नः कृतः स्यात्. परं विरहे मरणनिवर्तकत्वेन तदुपयोगइति

भगवत्त्वेन स्तूयते." (सुबो.१०।२८।९). यहां सुस्पष्टतया संयोगात्मक स्वरूपको रसरूप माना गया है एवं विप्रयोगकालीन कथा-श्रवणको रसपिण्डकी अनुभूतिके स्तरपर रखा गया है. वैसे स्वरूप चाहे आन्तर हो या बाह्य, वह रसात्मक ही होता है, यह वेणुगीतकी सुबोधिनी एवं टिप्पणी के अवलोकन करनेपर स्पष्ट ही है. वहां स्पष्टरूपमें श्रीप्रभुचरण आज्ञा करते हैं : "यथा पात्रस्थं रसं पाययितुम् उद्यतः तत्पात्रं हस्ते बिभ्रद् भवति पुरुषः, तथा स्वरूपात्मकं रसम् एताभ्यो दातुम् उद्यतः, इति ज्ञायते एतादृग्वपूरूपप्राकट्येन इति ज्ञापयितुं 'वपुः बिभ्रद्' इति उक्तम्." (सुबो.टिप्प.१०।१८।५) इस वचनसे यह सिद्ध हो जाता है कि स्वरूपात्मक रसके सम्बन्धमें केवल संयोगात्मक वपु ही नही अपितु विप्रयोगात्मक वपु भी पात्रके रूपमें प्रयुक्त होता है. क्योंकि 'वपु' शब्दसे यहां 'नटवरवपु' शब्दके अर्थमे तात्पर्य है, जहां संयोग-विप्रयोग दोनोंका ही वर्णन मिलता है.

और फिर श्रीहरिरायजी धर्मिविप्रयोगको परमफल मानते हैं, अतः ऐसी स्थितिमें तो रस एवं रसपानकर्ता में ही अभेद हो जाता है, अतः पान ही सम्भव नहीं! अतएव बाह्यताको हटानेवाले वपुः=पात्रको हटानेपर पान ही सम्भव नहीं, क्योंकि इस स्थितिमें रसकी न तो 'द्विपत्रता' रह जाती है और न पानयोग्यता और न प्रभुकी रसात्मकता ही. यों रसवृद्धिके चक्करमें रसमूल भी नष्ट हो जाता है!

भगवत्स्वरूपको रसात्मक माननेका तात्पर्य :

"भगवत्स्वरूप रसात्मक है" इस विधानका पूर्ण स्वारस्य हम तभी समझ सकते हैं, जब स्वयं इस विधानका रूप क्या है, यह हम समझ पायें.

कोयी भी विधान या निषेध, उदाहरणतया "गाय भूरी है" अथवा "गाय भूरी नहीं है" , उद्देश्य एवं विधेय के जोड़से बनता

है यथा — “भगवान् रसात्मक हैं” विधानमें ‘भगवान्’ पद उद्देश्य है जबकि ‘रसात्मक’ विधेय है. इन दोनोंके द्योतक पदोंको समीप रखकर हम एक वाक्य बनाते हैं — “भगवान् रसात्मक हैं.” किन्तु वाक्योंमें आते हुवे उद्देश्य एवं विधेय का सम्बन्ध कयी तरहका हो सकता है. दोनों समव्याप्त विषमव्याप्त या व्याप्तिरहित भी हो सकते हैं.

हम पहले समव्याप्तिघटित उद्देश्यविधेयभाववाले वाक्यका स्वरूप सोदाहरण समझें.

समव्याप्तिक : जिस किसी वस्तुके बारेमें हमें कोयी विधान या निषेध करना हो उसे ‘उद्देश्य’ कहते हैं एवं जिस बातका विधान या निषेध करना होता है, वह बात ‘विधेय’ कहलाती है. ऐसी स्थितिमें “१ + १” को हम उद्देश्य बनायें और “ = २” को विधेय बनायें तो हमारा वाक्य इस तरह बनता है : “१ + १ = २.” इसका शब्दोंमें अनुवाद करनेपर वाक्य होगा : “एक और एक(उद्देश्य) बराबर दो(विधेय) होते हैं.” इस वाक्यमें उद्देश्य एवं विधेय का सम्बन्ध जब हम समव्याप्तिघटित मानते हैं तो हमारा अभिप्राय यह है कि जहां-जहां ‘२’ होता है वहां-वहां ‘१ + १’ होते ही हैं और जहां ‘१ + १’ होते हैं वहां ‘२’ होता ही है. फलतः उद्देश्य एवं विधेय के बीच एक ऐसा सम्बन्ध है जिसे हम ‘समव्याप्ति’ कहते हैं.

विषमव्याप्तिक : उद्देश्य एवं विधेय के बीच परस्पर विषमव्याप्तिघटित-सम्बन्ध भी हो सकता है. उदाहरणतया “शेर एक पशु है” कहनेपर, जो शेर हो उसका पशु होना अनिवार्य होता है, मगर जो पशु हो उसका शेर होना अनिवार्य नहीं होता. क्योंकि केवल ‘पशु’ कहनेसे गाय भैंस बकरी कुत्ता आदि कुछ भी लिया जा सकता है. अतः, “जो शेर हो वह पशु तो होता ही है” यह कहना ठीक है, मगर,

“जो पशु है वह शेर होगा ही” कहना गलत होगा. क्योंकि पशु कुछ भी हो सकता है—गाय भैंस हाथी बकरी आदि.

निर्व्याप्तिक : इसी तरह वाक्यमें आते उद्देश्य और विधेय बहुधा ऐसे भी होते हैं कि उनमें परस्पर ऐसा कोयी भी सम्बन्ध ही न हो—दोनोंके बीच कोयी भी व्याप्तिसम्बन्ध न हो. इसे व्याप्तिरहित या निर्व्याप्तिक उद्देश्यविधेयभाव हम कह सकते हैं. उदाहरणतया “गाय भूरी है” विधानमें जो भूरा हो उसका न तो गाय होना अनिवार्य है और न जो गाय हो उसका भूरा होना ही. अतः यह निर्व्याप्तिक उद्देश्यविधेयभाव है.

इस स्पष्टीकरणके बाद अब हमें यह देखना है कि “भगवान् रसात्मक हैं” वाक्यमें उद्देश्य-विधेयभाव क्या समव्याप्तिक है, या विषमव्याप्तिक, या निर्व्याप्तिक ही है? भगवान्को रसात्मक होनेके लिये अपने एवं रसात्मकताके बीच किस प्रकारके सम्बन्धकी अपेक्षा है?

अखण्डाद्वैतके भानमें तो सभी वस्तु ब्रह्मात्मिका होती हैं—सभी कुछ ब्रह्म है. मगर रसानुभवार्थ जब द्वैतका प्राकट्य है तो इस ऐच्छिक द्वैतके सन्दर्भमें यह प्रश्न सार्थक हो जाता है कि “भगवान् रसात्मक हैं” वाक्यमें उद्देश्यविधेयभाव किस सम्बन्धपर आधारित है.

समव्याप्तिक “भगवान् = रस” : अब यदि “भगवान् रसात्मक हैं” इस वाक्यको हम समव्याप्त-उद्देश्यविधेयभावघटित मानते हैं तो दो सम्भावनायें बनती हैं :

(क) भगवान् केवल रसात्मक ही हैं अन्य कुछ भी नहीं.

(ख)रस केवल भगवदात्मक ही होता है. लौकिक या अलौकिक में भी भगवान्‌के अलावा कुछ भी नहीं.

(क)यहां प्रथम स्थितिमें ये कठिनाइयां हैं कि भगवान् जो सर्वरूप हैं, उन्हें केवल रसरूप माननेसे ''सर्वं खलु इदं ब्रह्म'' (छान्दो.उप.३।१४।१) का सिद्धान्त खण्डित हो जाता है. रसके ही सन्दर्भमें देखा जाये तो भी ब्रह्मवादमें भगवान् न केवल स्थायिभावरूप ही होते हैं अपितु आलम्बनविभाव उद्दीपनविभाव, विविध अनुभाव एवं सञ्चारिभाव भी ब्रह्मके ही विविध रूप होते हैं. रसमर्यादार्थ अपेक्षित प्रकट ऐच्छिक द्वैतके सन्दर्भमें ही यदि चर्चाका आग्रह रख कर चलें तो—अर्थात् थोड़ी देरकेलिये इस ब्रह्मवादी ज्ञानको, जो विभाव अनुभाव एवं सञ्चारिभाव को भी ब्रह्मात्मक दिखलाता है, उसे भूल जायें और केवल स्थायिभावको ही ब्रह्म माने, तो वह भी सम्भव नहीं है. क्योंकि लीलानुभूतिके स्तरपर ब्रह्मको रसात्मक नहीं कहा जा सकता. लीलानुभूतिमें तो ब्रह्मकी स्थिति आलम्बनविभावकी ही माननी पड़ेगी. यह तो ब्रह्मवादानुसारी ज्ञानके स्तरपर ही हम कह सकते हैं कि ब्रह्म रसात्मक है. अन्यथा रसकी परिभाषा हमें बदलनी पड़ेगी. रसको यदि स्थायी भाव ही मानते हैं तो ब्रह्मकी रसात्मकता लीलानुभूतिका विषय नहीं किन्तु वह तो ब्रह्मवादानुसारी ज्ञान एवं तन्मूलक विश्लेषण का निष्कर्ष है. अनुभूतिमें तो ब्रह्मको आलम्बनविभाव ही मानना पड़ेगा. अतः ऐसी स्थितिमें ब्रह्मको केवल स्थायिभावात्मक ही माननेपर सभी कुछ अस्तव्यस्त हो जायेगा. यह एक इतना महत्त्वपूर्ण और सैद्धान्तिक प्रश्न है फिर भी अत्यन्त उपेक्षित रहा है!

मेरी समझमें इसमें दो ही सम्भावनायें हैं. एक तो यह कि हम रसकी परिभाषा बदलें और दूसरी यह कि ब्रह्मकी रसरूपताको

ब्रह्मका स्वभाव न मानकर सामर्थ्य मानें. किन्तु यह विषय स्वतन्त्र चर्चाकी अपेक्षा रखता है, अतः इसे यहीं छोड़ देना उचित होगा.

कुल मिला कर बात इतनी ही है कि यदि 'ब्रह्म' एवं 'रस' को हम पर्याय या समव्याप्त मान लेते हैं तो रसकी प्रचलित परिभाषाके अनुसार ब्रह्म केवल आन्तर ही होगा, क्योंकि वह रसात्मक है, क्योंकि रस स्थायिभावात्मक ही होता है. और स्थायिभाव आन्तर ही होता है. अब यदि कहो कि रसमर्यादाके अनुसार ब्रह्म आन्तर ही है, जो डंकेकी चोटपर श्रीहरिरायजीका मत भी है ही, तो बाह्य जो स्वरूप है वह कुबेर भैरव इन्द्र गणेश महेश ब्रह्मा कुछ भी हो, किन्तु ब्रह्म नहीं हो सकता. और यदि वह ब्रह्म है तो रस एवं ब्रह्म पर्याय नहीं रह जायेंगे अतः रसमर्यादामें ब्रह्मको बांधनेकी इच्छा एक मृगतृष्णा ही है. रस एवं ब्रह्म को समव्याप्त माननेपर तो तार्किक बन्धन आ ही जाता है. अर्थात् ब्रह्मको सभी रूपोंमें रसात्मक मानना पड़ेगा एवं रसको सभी रूपोंमें ब्रह्मात्मक भी मानना ही पड़ेगा. अतः सिद्ध हो जाता है कि ब्रह्म रसात्मक *भी* है, मगर, रसात्मक *ही* नही. जैसे जहां "१+१" नहीं वहां '२' नहीं हो सकता और जहां '२' न हो वहां "१+१" नहीं हो सकते. यदि होते हों तो इन दोनोंमें समव्याप्ति सिद्ध नहीं होगी. जैसे '४' को हम "३+१" मान सकते हैं मगर '४' केवल ""३+१" ही नही है वह "२+२" भी हो सकता है.

यदि केवल विप्रयोगात्मक स्वरूपको ही हम रसात्मक मानें, तो भी ये कठिनाइयां दूर नहीं होती. क्योंकि "भगवान् विप्रयोगात्मक होते हैं" यह सिद्ध करनेकेलिये क्रमशः [१]रसका स्थायिभावात्मक होना, [२]रतिका शृंगारिक स्थायिभाव होना, [३]शृंगाररसरूपा रतिका द्विदलात्मक होना, [४]भगवान्का शृंगाररसात्मक होना, अतएव [५]संयोग-विप्रयोग-भावात्मक होना, यों विप्रयोग तक पहुंचनेपर हमारे साथ संयोग भी लगा हुवा ही

चला आता है. यह हम पहले भी दिखला चुके है.

(ख)दूसरी स्थिति जहां "रस भगवान्के अलावा कुछ भी नहीं" यह स्थापना होती है, वहां भी भगवान्को रसात्मक सिद्ध करनेकी युक्तियोंका क्रम तो यही है. अतः क्रमोपात्त होनेके कारण संयोगका निराकरण शक्य नहीं. इसके अलावा इस युक्तिके बलपर तो रसमात्र, जिसमें बीभत्स आदि भी और लौकिक शृंगार भी आ जाते हैं, भगवद्रूप ही ठहरेंगे. अतः पुनः भगवान्को केवल विप्रयोगात्मक माननेमें कोयी भी सार नहीं रह जाता.

विषमव्याप्तिक "भगवान्</>रसात्मक" : अब यदि "भगवान् रसात्मक हैं" इस वाक्यका उद्देश्यविधेयभाव हम विषमव्याप्तिपर अवलम्बित मानते हैं तो पुनः दो सम्भावनायें बनती हैं :

(क)रसको व्याप्य मानकर भगवान्को व्यापक मानना.
अर्थात् जहां रस है वहां भगवान् होते हैं.
(ख)भगवान्को व्याप्य मानकर रसको व्यापक मानना.
अर्थात् जहां भगवान् हैं वहां रस होता ही है.

(क)प्रथम कल्पमें उद्देश्यको व्यापक माननेके कारण विधान ही सम्भव नहीं. "पशु सिंह होता है" यह कथन निरर्थक एवं असंगत है, क्योंकि सभी पशु सिंह नहीं होते. इस वाक्यको सार्थक बनाना हो तो एक ही उपाय है कि इसके उद्देश्यके साथ हम 'कुछ' 'यह' अथवा 'वह' जैसे विशेषण लगायें. "कुछ पशु सिंह होते हैं" अथवा "यह पशु सिंह है" यह सार्थक विधान हो सकता है. केवल "पशु सिंह है" यह विधान सार्थक नहीं बन सकता. यहां "भगवान् रसात्मक हैं" इस वाक्यमें 'कुछ' तो जोड़ा नहीं जा सकता. क्योंकि 'भगवान्' पद ऐश्वर्यादि षड्गुणवान् व्यक्तिका वाचक पद है

'पशु' पदकी तरह जातिवाचक नहीं. अब रहा 'यह' अथवा 'वह' जैसे पदोंको जोड़नेका सवाल, तो 'यह' कह कर यदि बाहर प्रकट यशोदानन्दनको इंगित किया जा रहा हो तो, वह तो श्रीहरिरायजीके अनुसार संयोगात्मक स्वरूप ही है. अतः विप्रयोगात्मक स्वरूपका रसात्मक होना भी सिद्ध नही हो पायेगा. यदि 'यह' पदद्वारा आन्तर विप्रयोगात्मक या सर्वात्मभावात्मक स्वरूप इंगित हो रहा है, यह मानें, तो वह आन्तर स्वरूप भी रसात्मक होनेके कारण शृंगारात्मक होनेके कारण द्विदलात्मक और द्विदलात्मक होनेके कारण संयोगात्मक भी होगा ही. इसके अलावा "यह(आन्तर) स्वरूप रसात्मक है" यों कहनेमें आन्तर स्वरूप व्याप्य बन जाता है तथा रसात्मकता व्यापक. ऐसी स्थितिमें आन्तर ही रसात्मक होता है बाह्य नहीं, ऐसा हम नहीं कह पायेंगे.

(ख)अतः द्वितीय कल्प "जो भगवान् हो वह रसरूप होता है" ऐसा स्वीकारें तो भगवान्का तो संयोगात्मक स्वरूप भी होता ही है, अतः संयोगात्मक स्वरूप भी रसात्मक शृंगारात्मक, द्विदलात्मक, विप्रयोगात्मक, आन्तर एवं सर्वात्मभावात्मक भी सिद्ध हो ही जायेगा. जैसे "शेर पशु है" कहनेसे पशुके जो भी व्यापक गुणधर्म, उदाहरणतया, जरायुज होना, स्तनपायी होना या प्राणी होना आदि हों वे अर्थादिव सिद्ध हो जाते हैं. क्योंकि जो प्राणी न हो वह पशु कैसे हो पायेगा? इसी तरह जो द्विदलात्मक, शृंगारात्मक, भावात्मक या रसात्मक नहीं वह संयोगात्मक भी नहीं हो सकता.

इस तरह व्याप्ति चाहे सम हो या विषम "भगवान् रसात्मक हैं" यह कहने भरसे संयोगात्मक एवं विप्रयोगात्मक स्वरूपोंका भेद सिद्ध नहीं किया जा सकता. अतः "भगवान् रसात्मक हैं" इस वाक्यके उद्देश्य एवं विधेय में किसी भी तरहका व्याप्तिसम्बन्ध नहीं, ऐसा माननेपर भी विप्रयोगपरमफलवादकी कठिनाइयां दूर नहीं हो पातीं.

निर्व्याप्तिक "भगवान् ≠ रसात्मक" : क्योंकि तब भगवान् और

उनके रसात्मक होनेमें किसी भी प्रकारका तार्किक बंधन तो नहीं रह जायेगा. यह तो केवल एक संयोग है कि भगवान् रसात्मक भी होते हैं. जैसे किसी गायका भूरे रंगका होना केवल संयोग ही होता है. भूरे रंगकी कई वस्तुएं ऐसी होती हैं जो 'गाय' नहीं कहलातीं और कई गायें भूरे रंगकी नहीं होतीं. ऐसी स्थितिमें "भगवान् रसात्मक हैं" यह बात इसलिए ठीक है क्योंकि "यद्-यद् धिया त उरुगाय विभावयन्ति तत्-तद् वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय" (भाग.पुरा.३।९।११) के अनुसार भगवान्का शृंगारात्मिका वृत्तिसे विभावन करनेपर वे शृंगाररसके आलम्बन विभाव बन जाते हैं; और क्योंकि सुख प्रेम आनन्द आदि सभी आत्माराम भगवान्के धर्म ही जीवोंमें आंशिक रूपमें प्रकट हुवे हैं, अतः स्थायिभाव भी भगवान् ही बनते हैं. यह केवल भगवान्की इच्छा अनुग्रह और सामर्थ्य का विषय सिद्ध होगा, युक्तिका नहीं. फलतः रसात्मक होनेके कारण भावात्मक हैं और भावात्मक होनेके कारण प्रभु आन्तर ही हैं, कमसे कम मुख्य रूपमें ये युक्तियां अर्थहीन हो जाती हैं.

हम यह नहीं कह सकते कि (१)भगवान्को आन्तर ही होना चाहिये, बाह्य अथवा प्रकट नहीं या (२)धर्मिरूपमें ही भगवान्की श्रेष्ठतम अभिव्यक्ति होती है—धर्मसहित होनेपर नहीं हो सकती. या (३)रसका स्वभाव ही ऐसा है कि वह बिना पात्रके टिक नहीं सकता. अतः बाहर प्रकट होनेकेलिए सर्वसमर्थ भगवान्को भी पात्रका बंधन स्वीकारना ही पड़ता है; और इस भगवद्रसके पात्र बनते हैं व्यूह तथा लोकवेदप्रथित रूप, आदि-आदि. अतएव, हम यह भी नहीं कह सकते है कि "विप्रयोगमें तो केवल भावात्मक स्थिति होनेसे अन्तःकरण ही पात्र बन जाता है" जहां भगवद्रस स्थिर होकर भरा रह सकता है. ये और इस तरहकी अन्य भी सारी युक्तियां, जिनके बंधनमें हम भगवान्को बांधना चाहते हैं, वे सारी कि सारी अतर्क्य तथा सर्वसामर्थ्यवाले भगवान्से टकरा कर स्वतः ही टूट जाती

हैं. भगवान्‌का रसात्मक होना किसी भी प्रमाणकी मर्यादा नहीं कि जिसे हम शुष्क तर्कोंके सहारे जान लें. वह तो प्रमेयबल है, जहां मानवकी प्रमाणबुद्धि कुण्ठित हो जाती है. इन तर्कोंको पैदा करनेवाली वाणी तो क्या जहां मन भी नहीं पहुंच सकता **"यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह"** (तैत्ति.उप.२।४।१). अतः स्वीकारना पड़ेगा कि वह परब्रह्म अपने प्रमेयबलसे आनन्ददानार्थ रसरूप बन जाता है. अन्यथा उसके तो अनन्त रूप तथा अनन्त गुण होते हैं, जिनकी थाह मानवीय तर्क या बुद्धि कभी नहीं पा सकती. निष्कर्षतया भगवान् रसरूप भी हैं परन्तु रसरूप ही नहीं.

शृंगाररस तथा करुणरस का अन्तर :

परमफल तो साधनाका चरमोत्कर्ष होता है. यदि विप्रयोग परमफल हो तो वह भी चरम ही होना चाहिए. अब यदि सर्वात्मभावात्मक विप्रयोग ही यदि परमफल हो तो इसे भी नित्य होना चाहिये. किन्तु नित्य माननेपर सबसे बड़ी कठिनाई यह आती है कि नित्य विप्रयोग शृंगाररस नहीं किन्तु करुणरस माना जाता है. जहां पुनर्मिलनकी आशा तथा पुनर्मिलन ध्रुव निश्चित हो वही विप्रयोग शृंगाररसात्मक होता है. अब यदि शृंगार ही केवल रस हो और भगवान्‌का स्वरूप भी शृंगारात्मक ही हो तो नित्य विप्रयोग अपने आपमें सर्वथा असम्भव बात है. अतएव भाष्य अथवा सुबोधिनीदशमके तामसफल अथवा भ्रमरगीत आदि किसी भी स्थलपर नित्य विप्रयोगका वर्णन उपलब्ध नहीं होता. प्रत्युत पुनर्मिलन ही सर्वत्र दिखलाया गया है. स्वयं नित्यलीलाका स्वरूप ही ऐसा है कि भगवान् अधिक समयतक भक्तकी दृष्टिसे ओझल नहीं रह सकते. विरहका अपने-आपमें परमफल होना कहीं भी रसशास्त्रद्वारा मान्य नहीं किन्तु विरहावस्थामें प्राप्त होती तल्लीनता ही उसे परमत्व या फलत्व प्रदान करती है. वैसे भगवान् तो उभयात्मक हैं अतः उनकी बात और है. इसी रसमर्यादाको दृष्टिगत रखते हुए धर्मिविप्रयोगके प्रकरणमें भी श्रीमदाचार्यचरण विरहको प्राधान्य नहीं देते

किन्तु भक्तकी भगवान्में तल्लीनताको अधिक महत्त्व देते हैं : ''गोपिकाविरहव्याजमनोगतिरतिप्रदः'' (पुरु.सह.ना.२००). अतः इस करुणविप्रयोग और शृंगारविप्रयोग के भेदको समझना बहुत आवश्यक है :

(१)''फलसाधकत्वात् (नतु फलरूपत्वात्) भक्तिमार्गे विरहएव पुरुषार्थः.''

(सुबो.१०।४३।५).

(२)''स्वजनाः हि द्रष्टव्याः यद्यपि बहुधैव आगमनम् उचितं सकृदपि आयास्यति इति परमाभिलाषो द्योतितः. आयास्यति इति उत्तरे मनोरथम् आह 'तर्हि द्रक्ष्यामः तद्वक्त्रम्' इति. ईश्वरप्रेरणाभावाद् आज्ञाभावात् च गमनम् असम्भावितं, यतः ते निरुद्धाः, आगमनमेव हि निरोधज्ञापकम्.''

(सुबो.१०।४३।१९).

(३)''अतः परं भवतीभिः 'मयि आवेश्य बलाद् मयि मनोनिवेशनं कृत्वा पश्चात् शीघ्रमेव अहं प्राप्तव्यः'. ननु वस्तुविचारे मनस्तु अन्यदेव तस्मिन् निविष्टे कथं भगवत्प्राप्तिः इति चेत् तत्र आह 'अनुस्मरन्त्यः' इति, मनोद्वारा आत्मापि स्मरति. यद्यपि स्मरणं चेतसो धर्मः तथापि अनुस्मरणम् आत्मनएव अनेन उभयविधोऽपि सम्बन्धो निरूपितः. मनोद्वारा स्वयं भगवति प्रविष्टाः स्मरणद्वारा च भगवान् तासु प्रविष्टइति. एवं सति अचिरादेव माम् अवाप्स्यथ...''

(सुबो.१०।४४।३७).

(४)''यद्वा ननु 'अचिराद् माम् अवाप्स्यथ' इत्यनेन व्रजे समागतस्य भगवतः पूर्ववद् मिलनलक्षणा प्राप्तिः उच्यते उत अन्तर्गृहगतगोपभार्याणामिव सा उच्यते. आद्या चेद् 'ओम्' इति ब्रूमः. अन्त्या चेद् अनिष्टत्वाद् न इदं समाधानम्, इत्यतः आह 'मया' इति... रासे हि पूर्णः स्वरूपानन्दः

एतासु स्थापितः, सच भगवत्स्वरूपात्मकइति तदनुभावेन विरहेऽपि जीवनमेव सम्पद्यते न वैपरीत्यं... भवतीनान्तु यथापूर्वमेव मिलनं भविष्यति इति."

(सुबो.१०।४४।३८).

(५) "संगमः तदार्तिः वा पुरुषार्थः इति शास्त्रार्थः."

(सुबो.टिप्प.१०।४४।१२).

(६) "रसात्मकः प्रभुः इति अविवादम्. सच संयोगविप्रयोगभेदेन द्विविधः. तत्र अन्यतराभावेतु असम्पूर्णएव सः स्यात्."

(सुबो.टिप्प.१०।२९।२१).

(७) "एतास्तु बहिः प्रियसङ्गमाभिलाषवत्यो भगवान् च एतन्मनोरथं पूरयत्येवेति तथैव सम्पत्स्यते."

(सुबो.टिप्प.१०।२९।१).

(८) "एतावान् परं विशेषो बहिस्सम्बन्धे विलक्षणो भावः उत्पद्यते अन्तरेवतु सम्बन्धे विलक्षणः."

(सुबो.टिप्प.१०।२७।४).

(९) "भक्तिमार्गे हि स्नेहवशाद् बहिः मुखारविन्ददर्शने तेनैव विस्मृतसर्वा तदन्यद् न अपेक्षते."

(सुबो.टिप्प.१०।२९।८).

अतः वस्तुतस्तु यह चर्चा ही व्यर्थ है कि संयोग परमफल है या विप्रयोग-सर्वात्मभाव, क्योंकि भाष्यकारने इसका खुलासा पहले ही कर दिया है :

"अत्र इदं विचार्यते : बहिः आविर्भावो येभ्यो येभ्यः च अन्तः तेषां च मिथः तारतम्यम् अस्ति न वा? इति तत्र निर्णयम् आह 'यत्र एकाग्रता तत्र अविशेषाद्', यत्र भक्तेषु एकाग्रता भगवत्स्वरूपे प्रगटएव एकस्मिन् न

ग्राहकचित्तधारा न त्वन्तर्बहिर्विज्ञानं, तत्र उभयोः अन्तः-पश्यतो बहिः-पश्यतः च भावे भगवत्स्वरूपे च विशेषाभावात् न तारतम्यम् अस्ति इति अर्थः."

(ब्र.सू.भा.४।१।११).

स्पष्ट देखा जा सकता है कि भाष्यकार न तो संयोगके भावमें और न स्वरूपमें ही कुछ तारतम्य स्वीकारने तैयार हैं. आचार्यचरणका सिद्धान्त "भगवानेव हि फलं" (पु.प्र.म.१७) है, अब भगवत्स्वरूपका अनुभव चाहे संयोगात्मक हो या विप्रयोगात्मक!

यहां इस विवादकी मौलिक गुत्थी इसी बातमें उलझी हुयी है कि विप्रयोगपरमफलवादी और संयोगपरमफलवादी दोनों ही भगवान्‌को रसात्मक तो मानते हैं परन्तु प्राधान्य आलम्बनविभावका मानना या स्थायिभावका, यहां आकर दोनों टकरा जाते हैं. विप्रयोगपरमफलवादियोंके अनुसार, क्योंकि भगवान् रसरूप हैं, अतः रसके विचारसे स्थायिभाव धर्मी होता है और आलम्बनविभाव रसका धर्म. क्योंकि स्थायिभाव ही रस है धर्मी है अन्य सभी धर्म. अब इस रसदृष्टिसे केवल या शुद्ध धर्मी तो विप्रयोगमें ही सम्भव है. अर्थात् विप्रयोगमें रति अर्थात् शृंगारका स्थायिभाव ही केवल बच जाता है. क्योंकि आलम्बन विभाव यदि समक्ष हो तो विरहका स्वरूप ही नहीं बन पाता. अतः रस-धर्मीका अनुभव विप्रयोगमें है. इसके विपरीत रसके धर्मका - आलम्बनविभावका - बहिःप्रकट स्वरूपका अनुभव संयोगमें है. अतः वह परमफल नहीं. हमने देख लिया कि कैसे विप्रयोगपरमफलवाद भगवान्‌को एकान्तिकतया रसरूप माननेकी गलतीसे पनपता है. भगवान् तो विरुद्धधर्माश्रय हैं - आलम्बनविभाव भी हैं और स्थायिभाव भी. इसे न माननेपर सम्पूर्ण स्वरूपका निरूपण ही अशक्य हो जाता है.

इसी प्रश्नको सर्वथा सरल करके देखें तो बात यों है कि

हमारा स्नेह बड़ा होता है या जिसपर हम स्नेह कर रहे हैं वह बड़ा होता है? विप्रयोगपरमफलवादी कहते हैं : हमारा स्नेह बड़ा होता है. संयोगपरमफलवादी कहते है : हम जिसपर स्नेह करते हैं, उसे बड़ा मानना चाहिये. तथ्य, किन्तु, यह है कि न स्नेह स्निग्धके बिना टिक सकता है और न स्निग्ध स्नेहके बिना.

रही बात, रसकी दृष्टिसे कौन धर्म है और कौन धर्मी, इस मीमांसाकी तो हमने कह ही दिया है केवल रसदृष्टि भ्रान्ति है. अतः रसदृष्टिसे स्थायिभावका कुछ महत्त्व हो तो भी ब्रह्मका प्रश्न आते ही यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वह स्नेहरूप स्थायिभाव धर्मी भी अन्ततः भगवद्दृष्टिसे तो धर्म ही होता है. "पुनश्च भूयाद् भगवति अनन्ते रतिं..." श्लोककी "**स्नेहः पदार्थान्तरम्. स भगवन्निष्ठएव भगवद्विषयको ज्ञानवद् ऐश्वर्यवद् वा भगवत्सम्बन्धात् तन्नैकट्याद् अन्यत्रापि भासते उष्णस्पर्शवत्. यथा-यथा भगवन्नैकट्यं तथा-तथा स्नेहातिशयः.**" (सुबो.१।१९।१६) सुबोधिनीमें आचार्यचरण स्नेहको भगवान्‌का धर्म दिखलाते हैं. अतः रसशास्त्रीय दृष्टिसे रति धर्मी होनेपर भी—वेदान्तशास्त्रीय दृष्टिसे है तो भगवान्‌का धर्म ही. ऐसी स्थितिमें अब यह विवाद महत्त्वहीन हो जाता है कि कौन बड़ा या कौन धर्मी. किन्तु न तो विप्रयोगपरमफलवादी इस विवेकको निबाह कर अपना मत स्थापित करते हैं और न संयोगपरमफलवादी ही.

संयोगपरमफलवादिओंकी दृष्टिसे सर्वात्मभाव :

विप्रयोगपरमफलवादकी युक्तियां और पक्ष को देख लेनेके बाद अब संयोगपरमफलवादिओंद्वारा सर्वात्मभावका क्या स्वरूप माना गया है, यह हमें देखना है. सर्वात्मभावपर स्वतन्त्ररूपसे लिखनेवालोंमें संयोगपरमफलवादी व्याख्याकार केवल श्रीलालूभट्टजी हैं. इन्होंने अपने 'प्रमेयरत्नार्णव' नामक ग्रन्थमें एक स्वतन्त्र लेख सर्वात्मभावपर भी लिखा है. उसका सारानुवाद देनेके बाद उसपर विचार करेंगे.

श्रीलालूभट्टजीकृत 'सर्वात्मभावविवेक'का सारांशविमर्श :

श्रीलालूभट्टजीके अनुसार : भगवान्‌पर जीवके अनौपाधिक स्नेह अथवा अहैतुकी भक्ति की ही एक विशेष अवस्था सर्वात्मभाव है. भावका अर्थ है : रति. आत्मभावमें षष्ठीतत्पुरुष समास है. 'आत्मा' शब्दका अर्थ अन्तःकरण नहीं है. "आत्माका + भाव = आत्मभाव", जैसे स्वयं आत्मामें स्वयं आत्माकी रति कभी किसी भी उपाधिके कारण नहीं होती वैसे ही परमात्माके बारेमें भी हमारी रति सर्वोपाधिरहित होनी चाहिये. स्वयं श्रुतिमें भी, अतएव, कहा गया है "न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति" (बृह.उप.२।४।५) अर्थात् कोई भी वस्तु या व्यक्ति इसलिये प्रिय नहीं होता कि उसमें कोई वस्तुनिष्ठ प्रियता होती है. हमें अपनी आत्मा प्रिय है, इसलिये आत्माके साथ सम्बन्ध रखनेवाली हर वस्तु या व्यक्ति प्रिय लगने लगती है. यों आत्मापर हमारा जैसा स्वाभाविक स्नेह होता है, वैसा ही हमारा शुद्ध एवं स्वाभाविक स्नेह भगवान्‌पर भी होना चाहिये. क्योंकि अन्तर्यामी होनेके कारण भगवान् हमारी आत्माकी भी आत्मा होते हैं. अतएव ब्रह्माजीको भी भगवान्‌ने यही उपदेश दिया कि "मैं, क्योंकि, आत्माकी भी आत्मा हूं. इसलिये मुझसे रति करनी चाहिये" (भाग.पुरा.३।९।४२). भगवान् हमारी परम आत्मा हैं, ऐसा भान होनेपर भगवान्‌के बारेमें भी हमारा स्वाभाविक स्नेह फूट पड़ेगा. फलतः जो भगवान् हमारी अपेक्षामें तिरोहित हैं, वे प्रकट हो जायेंगे, अर्थात् तिरोधान दूर हो जायेगा. तब वस्तुमात्र, जो भगवान्‌के ही विभिन्न रूप हैं, उनमें हमें भगवान्‌के परमानन्दकी अनुभूति होने लगेगी. और यों सर्वत्र आत्मभाव सिद्ध हो जायेगा. सर्वत्र आत्मभावका होना ही सर्वात्मभाव है.

"तव परि ये चरन्ति" (भाग.पुरा.१०।८४।२७) कारिकाकी सुबोधिनीमें 'तव' पदका अर्थ "भगवान्‌से सम्बन्धित कोयी भी वस्तु" किया है. परन्तु भगवान्‌से सम्बन्धित वस्तुकी भी परिचर्यासे फल तो तभी

सिद्ध होता है जब सर्वात्मभाव सिद्ध हो जाता है. क्योंकि भेददर्शनकी श्रुतिमें सर्वत्र निन्दा की गयी है. अतएव 'सर्वात्मभाव' में 'सर्व' शब्दके साथ सप्तमी विभक्ति जुड़ी हुयी है और इसी अर्थमें वह 'आत्मभाव' पदके साथ समासद्वारा जुड़ा हुवा है. 'आत्मा' शब्दके कारण भगवान्में हमारा स्नेह अभेदमूलक होना चाहिये, यह सूचित होता है. वैसे तो जहां भी आत्माका भान होता है, वह अभेदके भानके साथ ही होता है. किन्तु 'भाव' शब्दका तात्पर्य इसमें हैं कि आसुरभाववाले भी भगवान्का द्वेषवश अहर्निश चिन्तन तो कर रहते हैं और उन्हें सर्वत्र भगवान् भी दिखलायी पड़ने लगते हैं. इस भगवान्के दर्शनको, किन्तु, द्वेषमूलक होनेके कारण स्नेहात्मक 'भाव' नहीं कहा जा सकता. क्योंकि सर्वात्मभाव और एकान्तभक्तिभाव स्नेहमूलक होते हैं. अतः सर्वात्मभावका अर्थ है : सर्वत्र या सभीमें आत्मभाव होना.

यह सर्वात्मभाव मर्यादा और पुष्टि के भेदसे दो प्रकारका माना जाता है. मर्यादामार्गीय सर्वात्मभावका निरूपण भागवतके नवमस्कन्धके अम्बरीषके प्रकरणमें उपलब्ध होता है, जहां यह कहा गया है कि अम्बरीषने सर्वात्मभावके साथ राज्यका शासन किया. पुष्टिमार्गीय सर्वात्मभाव, किन्तु, दशमस्कन्धमें व्रजभक्तोंका निरूपित किया गया है. विप्रयोगदशामें भावावेगमें सर्वत्र भगवान्की स्फूर्ति होनेपर सर्वात्मभाव सिद्ध हो जाता है. यह सर्वात्मभाव भजनानन्दका ही अनुभव है. "सएव अधस्ताद्..." (छान्दो.उप.७।२५।१) आदि इसके सञ्चारिभाव हैं. यह भाव शृंगाररसके अन्तर्गत आता है. अतः इसकी प्राप्तिका अधिकार केवल पुष्टिभक्तोंका ही है. भ्रमरगीतके "सर्वात्मभावोऽधिकृतः भवतीनाम् अधोक्षजे" (भाग.पुरा.१०।४७।२७) श्लोकमें जो 'सर्वात्मभाव' पद आया है, वह सामान्य अर्थमें है, इस विशिष्ट अर्थमें नहीं.

सर्वात्मभाव चाहे मर्यादामार्गीय हो अथवा पुष्टिमार्गीय हो अपनी-अपनी

जगहपर वह होता है भक्तिकी उच्चतम अवस्था ही. अतएव पुष्टिपुरुषोत्तमके लाभमें इस पुष्टिमार्गीय सर्वात्मभावको मुख्य हेतु माना जाता है.

यह सारानुवाद श्रीलालूभट्टजीके प्रमेयरत्नार्णवमेंके सर्वात्मभावविवेकका है. इनके अनुसार "सर्वः + आत्मनो + भावः =सर्वात्मभावः" समास ठीक नहीं है किन्तु "सर्वत्र + आत्मनो + भावः = सर्वात्मभावः" समास ही उचित है. इस प्रसंगपर वैसे न तो श्रीलालूभट्टजीने संयोगपरमफलवादकी चर्चा ही की है और न उनका ऐसा मत ही यहां ध्वनित होता है. किन्तु विप्रयोगपरमफलवादी व्याख्यासे इस व्याख्याका अन्तर नितान्त स्पष्ट है. सर्वात्मभाव यहां साधनावस्थाकी चरमसीमा है फलानुभूतिकी नहीं. क्योंकि इस सर्वात्मभावसे पुरुषोत्तमकी प्राप्ति होती है. पुरुषोत्तमके प्राप्त होनेके बाद नियततया होते अनुभवका कोयी प्रकार सर्वात्मभाव नहीं है. न तो सर्वात्मभाव पुरुषोत्तमात्मक है और न पुरुषोत्तम सर्वात्मभावात्मक ही. इससे अधिक सर्वात्मभावके बारेमें यहां श्रीलालूभट्टजीने कुछ भी नहीं कहा है. किन्तु इसी ग्रन्थके 'पुष्टिभक्त्यधिकारविवेकः' नामक परिच्छेदमें श्रीलालूभट्टजी कहते हैं :

> "अतः प्रेमपरिपाकावस्था व्यसनं, ततो व्यसनवशात्, सर्वत्र पुरुषोत्तमबुद्धौ सर्वत्रैव उत्कटस्नेहो भवति. स 'सर्वात्मभाव'शब्दवाच्यः. तत्सिद्धौ पुरुषोत्तमाविर्भावो बाह्या-भ्यन्तरभेदेन निरन्तरं सिद्ध्यति. ततः फलावसरे सेवाफलप्रकर-णोक्तरीत्या हि अलौकिकं सामर्थ्यं फलं भविष्यति इति अलं विस्तरेण."
>
> (प्रमे.रत्ना.पु.भ.अ.वि.).

अर्थात् प्रेमकी ही परिपक्व अवस्था व्यसन है और व्यसनदशा सिद्ध होनेके बाद व्यसनवशात् सर्वत्र पुरुषोत्तमका भान होने लगता है. सर्वत्र, अतएव, उत्कट स्नेहकी अनुभूति होने लगती है. इसे

'सर्वात्मभाव' कहते है. इस सर्वात्मभावके सिद्ध होनेपर पुरुषोत्तमका आविर्भाव बाहर भी और भीतर भी सिद्ध हो जाता है. इसके बाद फलदशामें सेवाफलप्रकरणमें कही गयी रीतिके अनुसार अलौकिकसामर्थ्य फल मिलता है. यह फल, श्रीहरिरायजीकी तरह ही श्रीलालूभट्टजीके मतमें भी, नित्यलीलाप्रवेश है, जहां प्रविष्ट अधिकारीके देह इन्द्रिय प्राण अन्तःकरण और स्वयं आत्मा में भी भगवदानन्दका आविर्भाव हो जाता है और वह इन आनन्दात्मक देह आदिसे भगवदानन्दका अनुभव करने लगता है. श्रीहरिरायजीके मतसे इसमें इतना अन्तर अवश्य है कि यह प्रभुनिरपेक्ष न हो कर प्रभुसापेक्ष होता है. इसी तरह केवल आन्तर न हो कर बाह्याभ्यन्तर उभयत्र आनन्दानुभावक होता है.

स्पष्ट ही यह प्रक्रिया श्रीहरिरायजीके विप्रयोगपरमफलवादसे भिन्न है. यद्यपि यहां विप्रयोगके परमफल होनेका निषेध नहीं है किन्तु सेवाफलमें उत्तमफल अलौकिकसमार्थ्यकी श्रीहरिरायजीको अभिमत व्याख्या तथा श्रीलालूभट्टजीको अभिमत व्याख्या का अन्तर सुस्पष्ट है. और यों दोनोंको अभिप्रेत संयोग-विप्रयोगका अन्तर भी स्पष्ट होने लगता है.

वैसे मठपति श्रीजयगोपालभट्टकी तरह संयोगपरमफलवादका अत्याग्रह भी श्रीलालूभट्टजीमें दिखलायी नहीं देता.

श्रीहरिरायजीके अनुसार 'अलौकिकसामर्थ्य' का अर्थ है : "अलौकिकसामर्थ्यं हि भगवतः कोटिसूर्याग्निरूपस्य आत्यन्तिकफलदित्सायां सर्वलीलाविशिष्टस्य प्रभोः हृदयप्रवेशे तदनुभवसामर्थ्यम्" (सेवाफ.विवृ.१) अर्थात् विप्रयोगत्मक स्वरूपका सभी लीलाओंके सहित हृदयमें प्रादुर्भाव अलौकिकसामर्थ्य है. सार्वदिक संयोगरसानुभवको श्रीहरिरायजी मध्यम फल मानते हैं.

इस सन्दर्भमें यह भी द्रष्टव्य है कि यह अलौकिकसामर्थ्य धर्मविप्रयोग है या धर्मिविप्रयोग है, इसका स्पष्टीकरण यहां तो श्रीहरिरायजीने नहीं किया है. फलतः युगलगीत प्रकरणके परमफलका निरूपण है या भ्रमरगीत प्रकरणके परमफलका, यह यहां स्पष्ट नहीं हो पाता है. किन्तु यहां श्रीलालूभट्टजी और श्रीहरिरायजी के मतभेदको स्पष्ट समझनेकेलिये श्रीहरिरायजीकी 'भ्रमरगीतीयसुबोधिनीदीपिका' देखनी आवश्यक है. वहां धर्मविप्रयोग और धर्मिविप्रयोगका अन्तर श्रीहरिरायजी इस रूपमें स्पष्ट करते हैं :

> "पूर्वं हि संयोगविप्रयोगोभयनिरूपणात् संयोगे लीलाभिः निरोधनं, वियोगे स्वरूपस्थित्यापि. साम्प्रतन्तु केवलविप्रयोग-दानात् स्वरूपस्थित्यैव तदिति पुनःकथनम्. ननु स्वरूपस्थितौ तदात्मकत्वसम्पत्तेः किं निरोधनम् इति चेद्, न, तस्य रसात्मकत्वेन आधेयतया स्थितत्वात्. आधारस्तु स्वामिन्यएव. तथाच स्वस्थितस्वरूपमात्रासक्तकरणं बहिष्ठतन्नैरपेक्ष्येण अत्र तद् इति भावः. ननु अत्र विप्रयोगे किं कैवल्यं, सर्वत्रैव तस्य केवलत्वाद्? इति चेत्, सत्यं, केवलत्वं हि स्वरूप-लीला-तत्सामग्र्यादीनाम् आन्तरानुभवहेतुत्वेन विप्र-योगात्मकत्वम् इति जानीहि. अतएव अत्र बहिःसंवेदनेन अनुभूयमानानां लीलापदार्थानां स्मारकत्वमेव उक्तं 'पुनःपुनः स्मारयन्ति' इति. अन्यथा अनुभावकत्वमेव उक्तं स्यात्. ननु गुणगानेऽपि तेषां पदार्थानां भावात्मकत्वेन ततः प्रकृते अवैलक्षण्यम् इति चेत्, न, भावात्मकत्वेऽपि सर्वान्ते तेषां 'रेमिरे' इति वाक्येन संयोगानुभावकत्वात्. प्रकृतेतु स्वरूपस्य ऐतादात्मकत्वेन आन्तरो बाह्यः च विप्रयोगानुभवएव इति अलम् उक्त्या."
>
> (भ्रम.सुबो.दीपि. १०।४३।०).

अर्थात् धर्मविप्रयोगमें बाह्यस्वरूपकी अपेक्षा है जबकि धर्मिविप्रयोगमें नहीं. धर्मविप्रयोगमें स्वरूप लीला आदिका आन्तर अनुभव है जबकि धर्मिविप्रयोगमें केवल स्मरण. धर्मविप्रयोगमें, अतएव, सुखानुभूति है जबकि धर्मिविप्रयोगमें आनन्दात्मक दुःखकी ही अनुभूति है. धर्मविप्रयोगमें रति और आलम्बनविभाव के बीच भेद होता है जबकि धर्मिविप्रयोगमें ये दोनों मिल कर एक हो जाते हैं, न केवल इतना अपितु रसानुभव करनेवालेके देह इन्द्रिय प्राण अन्तःकरण आत्मा सभी कुछ स्वयं विप्रयोगात्मक हो जाते हैं.

इस अन्तरको स्पष्ट समझनेके बाद भी यहां "सर्वलीलाविशिष्टस्य प्रभोः हृदयप्रवेशे तदनुभवसामर्थ्यम्" वाक्यमें 'अनुभव' पदके कारण यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि यह अलौकिकसामर्थ्य "आन्तरन्तु महाफलम्" (सुबो.कारि.१०।२६।१।५) में कहा जाता आन्तर रमण धर्मविप्रयोग है अथवा भ्रमरगीतमें कहा जाता धर्मिविप्रयोग है. वैसे "अलौकिककस्य दाने हि च आद्यः सिध्येद् मनोरथः" की व्याख्यामें श्रीहरिरायजी आज्ञा करते हैं :

> "अलौकिककस्य स्वविरहानुभवक्षमसामर्थ्यस्य दाने भगवता स्वाग्रहेण दुःखानुभवरूपतया तदनिच्छायामपि तथा सम्पादने, चकारात् तद्देहेन्द्रियादिषु स्वस्वरूपस्थापने सति आद्यः प्रथमफलविषयकः संस्काररूपसमर्पणसमयक्रियमाणो मनोरथः तापक्लेशानन्दप्राप्तिरूपः सिध्येद् इति अर्थः."
>
> (सेवाफ.वि.१).

इससे यह प्रतीत होता है कि सम्भवतः धर्मिविप्रयोग ही यहां "अलौकिकसामर्थ्य" का अर्थ है.

और स्पष्टतः ऐसी स्थितिमें श्रीलालूभट्टजीका अर्थ सर्वथा इससे अलग पड़ जाता है :

"अलौकिकसामर्थ्येतु साक्षात् श्रीवृन्दावनादौ श्रीकृष्णस्वरूपदर्शनस्पर्शनादिकृतिक्षमत्वम्... तेषां पूर्वोक्तभक्त्या प्राकृतलिंगशरीरं नश्यति... ततो लिंगशरीरनाशे सति भगवद्दर्शनाद्यभावे प्रसक्ते सायुज्ययोग्यतायां यदि भगवान् कृपयति तदा दिव्यानि अलौकिकेन्द्रियाणि सम्पादयति, ततः तैः भगवद्दत्तैः अप्राकृतैः इन्द्रियैः 'पश्यन्ति ते मे' इति श्लोकोक्तं दर्शनादिः सिध्यति."
(सेवाफलविवृति : १)

अर्थात् अलौकिक भगवद्दत्त इन्द्रियादिमें नित्यलीलाप्रवेश होनेके बाद साक्षात् श्रीवृन्दावनादि लीलाभूमिमें भगवान्का सभी इन्द्रियादिसे अनुभव अलौकिकसामर्थ्य है. यह वह फल है जो सर्वात्मभावके बाद प्राप्त होता है.

इससे सिद्ध होता है कि श्रीहरिरायजीकी तरह सर्वात्मभाव ही स्वयं फल नहीं, अतएव 'फलविवेक' परिच्छेदमें आधुनिक जीवोंके फलानुभूतिकी दशातक पहुंचनेके सोपानोंका निरूपण करते हुवे श्रीलालूभट्टजी कहते हैं कि सर्वात्मभाववाली गोपिकाओंकी तरह जब आधुनिक जीवोंको भी सर्वात्मभाव सिद्ध हो जाता है, तब पुरुषोत्तमका आन्तर एवं बाह्य आविर्भाव होता है. यों सेवामें भजनान्दानुभव फलित हो जाता है. इसके बाद स्थूलशरीर तथा लिंगशरीर छूट कर भगवल्लीलोपयोगी नूतन देह प्राप्त कर नित्यलीलामें जीव प्रविष्ट हो जाते हैं. यही फल है और यहां सभी कुछ साकल्येन ब्रह्मात्मक अर्थात् तिरोहित चिदंश तथा आनन्दांश के प्राकट्य होनेसे अखण्ड सच्चिदानन्दात्मक हो जाता है. इससे स्पष्ट होता है कि श्रीलालूभट्टजीके मतमें सर्वात्मभाव साधनदशा=व्यसनदशा और फलदशा=अलौकिकसामर्थ्य/सेवोपयोगिवैकुण्ठादि लोकोंमें अलौकिक देह के बीच एक निःस्वामिक भूमि (No Man's Land) की तरह है.

अतएव संक्षेपमें हम इसे यों समझ सकते हैं. निरोधके जो

दो प्रकार हैं यथा १.भगवान्‌का निरोध २.जीवका निरोध, यहां, श्रीलालूभट्टजीके अनुसार, भगवान्‌का भक्तोंके बीच लीलाविहार भक्तोंके बीच भगवान्‌का निरोध है तथा व्रजभक्तोंका प्रपञ्चको विस्मृत कर भगवान्‌में आसक्त हो जाना भगवान्‌में व्रजभक्तोंका निरोध था. इसी तरह जब हम अपने घरमें सेवार्थं भगवत्स्वरूप पधराते हैं तो यह भगवान्‌का आधुनिक भक्तोंमें निरोध है और जब हमें प्रपञ्चकी विस्मृति और अपने सेव्य भगवत्स्वरूपमें आसक्ति हो जाये तो वह हमारा भगवान्‌में निरोध सिद्ध हो जाता है. यही व्यसन है, क्योंकि व्यसनमें यही होता है. व्यसनके बाद ही, श्रीलालूभट्टजीके अनुसार सर्वात्मभाव प्रकट होता है और बादमें अलौकिकसामर्थ्यरूप या वैकुण्ठादि लोकोमें सेवोपयोगिदेहरूप फलकी प्राप्ति होती है.

व्यसनकी परिभाषामें विप्रयोगमें ही सम्भव है. अतः व्यसनके बाद प्रकट होते सर्वात्मभावकी परिभाषा भी विप्रयोगमें ही श्रीलालूभट्टजी मानते हैं : "**विप्रयोगदशायां विगाढभावेन सर्वत्र भगवत्स्फूर्तौ सर्वात्मभावः सिध्यति.**" (प्रमे.रत्ना.सर्वा.विवे.) विप्रयोगदशामें विगाढ़भावसे सर्वत्र भगवान्‌की स्फूर्ति होनेपर सर्वात्मभाव सिद्ध होता है. इससे सिद्ध होता है कि संयोगपरमफलवादी होते हुवे भी श्रीलालूभट्टजी सर्वात्मभावकी व्याख्या तो विप्रयोगवादानुसारिणी ही स्वीकारते हैं.

इस तरह श्रीलालूभट्टजीके अनुसार 'सर्वात्मभाव' शब्दकी व्युत्पत्ति उसका अर्थ तथा उससे सम्बन्धित अन्य भी कई बातें देख लेनेके बाद, उनके अनुसार, जो सर्वात्मभावका स्वरूप है वह स्पष्ट हो जाता है. सर्वात्मभाव हमारे उस भाव=स्नेहको कहते हैं जो बिना किसी उपाधि या हेतु के हमें परब्रह्मके बारेमें उत्पन्न होता है और जो अपने आलम्बन या विषय को किसी सीमित देशमें या सीमित स्वरूपमें नहीं किन्तु सर्वत्र अनुभूत करवाता है. सर्वात्मभावका यह स्वरूप उद्धृत साधनाध्यायभाष्यांशोके सर्वथा अनुरूप ही है. किन्तु इस

सन्दर्भमें जो विशेषतः कथ्य है वह यह कि यह सर्वात्मभावका सम्पूर्ण स्वरूप नहीं है.

हमने कहा था कि सर्वात्मभाव स्वयं भक्तिका एक विशेष प्रकार होनेके बावजूद कयी अवस्थाओंमेंसे गुजरता है. भक्तिके जैसे साधनदशा एवं फलदशा में पृथक्-पृथक रूप होते हैं, उसी तरह सर्वात्मभावके भी साधनदशा एवं फलदशा के विभिन्न रूप हैं. फलानुभूति भी पुष्टिमार्गमें ब्रह्मको रसात्मक माननेके कारण तथा श्रीकृष्णके शृंगारादि रसात्मक होनेके कारण विरहावस्था तथा मिलनावस्था में पृथक्-पृथक् स्वीकारी गयी है, ठीक उसी तरह सर्वात्मभावके भी दोनों संयोग एवं विप्रयोग पक्ष बनते हैं. यह विरह तथा मिलन की अनुभूति भी साधनदशा और फलदशा में पुनः पृथक्-पृथक् प्रकारकी होती हैं. अतः ये सभी कुछ परस्पर मिश्रित हो कर अनेक स्तर एवं प्रकारों का निर्माण करते हैं. इसमें भगवान्के विरहकी फलदशामें होती अनुभूतिमें जो सर्वात्मभाव उत्पन्न होता है उसे प्रधान मान कर सारे सर्वात्मभावकी व्याख्या श्रीहरिरायजी करते हैं. श्रीलालूभट्टजी, जबकि, साधनदशामें भगवान्के विरहकी अनुभूतिके एक विशेष प्रकारके रूपमें सर्वात्मभावका वर्णन करते हैं.

सर्वात्मभावको केवल साधनदशाकी अनुभूतिकी कोटिमें ही अथवा केवल फलदशाकी अनुभूतिकी ही कोटिमें रख कर देखना हमें एकाङ्गी विचार लगता है. फलतः श्रीलालूभट्टजीद्वारा प्रतिपादित सर्वात्मभावका स्वरूप हमें भाष्यके साधनाध्यायमें वर्णित रूपके अनुकूल होनेके कारण ग्राह्य लगता है. असावधानतया, किन्तु, अन्य रूपोंकी उपेक्षा कहीं न हो जाये इसका भी ध्यान रखना परमावश्यक है. संयोगानुभूतिमें जो प्रकार सर्वात्मभावका सम्भव है, विशेषतः फलावस्थामें, वह श्रीलालूभट्टजीसे न केवल छूट गया है किन्तु उसके प्रतिपादक प्रकरणका अन्यथाव्याख्यान भी श्रीलालूभट्टजी कर गये हैं. यही इनके निरूपणमें उल्लेखनीय आलोच्यांश

है.

"विप्रयोगदशायां विगाढभावेन सर्वत्र भगवत्स्फूर्तौ सर्वात्मभावः सिध्यति" की धारणाके अनुसार चल रहे होनेके कारण श्रीलालूभट्टजीने "सर्वात्मभावोऽधिकृतः भवतीनाम् अधोक्षजे" (भाग.पुरा.१०।४४।२७) वाक्यका केवल पाठान्तर ही प्रस्तावित नहीं किया अपितु इस भागवतश्लोककी सुबोधिनीमें जो स्पष्टतर व्याख्या श्रीमदाचार्यचरणने दी है उसकी भी उपेक्षा की है. मूल भागवतका पाठ "सर्वात्मभावो अधिकृतः" है और इसकी सुबोधिनी देखनेसे भी यही स्पष्ट होता है. फिरभी श्रीलालूभट्टजी इसका अन्यथा पाठ एवं अन्यथा ही आशय भी प्रतिपादित करते हैं. इस सन्दर्भमें सर्वात्मभावविवेककी ये पंक्तियां द्रष्टव्य हैं :

> "नच भ्रमरगीतीयस्य 'सर्वात्मभावो अधिगतो भवतीनाम् अधोक्षजे' इति श्लोकस्य विवृतौ 'सर्वोऽपि आत्मनो भावः' इति विवृतत्वाद् न पूर्वोक्तं लक्षणम् इति वाच्यम्, उद्धवोक्तौ पूर्वोक्तसर्वात्मभावस्य अभावात् किन्तु सर्वोऽपि आत्मनो= अन्तःकरणस्य भावो भवतीनां मम ज्ञानविषयो अभूद् इति अर्थात्."
>
> (प्रमे.रत्ना.सर्वा.विवे.).

यहां द्रष्टव्य यह है कि स्वयं मूल सुबोधिनीमें 'सर्वात्मभाव'को "सर्वः + आत्मनो + भावः" विग्रहद्वारा स्वीकारा गया है न कि "सर्वत्र + आत्मनो + भावः" के रूपमें, जैसा कि विग्रह श्रीलालूभट्टजीको अपेक्षित है. अतः सुबोधिन्युक्त विग्रहको अपने अनुकूल बनानेकेलिये श्रीलालूभट्टजी पूरे सुबोधिनीव्याख्यान तथा सन्दर्भ की उपेक्षा कर जाते हैं. क्योंकि, सुबोधिनीकारके अनुसार, उक्त "सर्वात्मभावोऽधिकृत..." श्लोककी उत्थानिका "एवं भक्तिप्रपत्ती निरूप्य सर्वात्मभावं निरूपयति 'सर्वात्मभाव' इति." (सुबो.१०।४४।२७) है. भक्ति एवं प्रपत्ति के

निरूपणके बाद सहसा केवल हृदयके आशयको जान पानेकी बात उतनी प्रसङ्गोपात्त नहीं लगती. उद्धवजी व्रजाङ्गनाओंके केवल शृंगाररस-सम्बन्धी भावोंको ही 'सर्वात्मभाव' पदद्वारा कहना चाहते हैं, यह कहना भी ठीक नहीं लगता है. क्योंकि ऐसा कहना व्रजाङ्गनाओंके माहात्म्यका प्रतिपादन है या नहीं?

यदि 'नहीं' कहते हैं तो यह प्रश्न उठता है कि श्लोकके उत्तरार्धकी कोयी सङ्गति नहीं रह जाती. वहां स्पष्टतया "विरहेण महाभागा महान् मेऽनुग्रहः कृतः" (भाग.पुरा.१०।४४।२७) द्वारा किसी असाधारण माहात्म्यका प्रतिपादन अभिलषित है ही. यदि कहा जाये कि भक्ति-प्रपत्तिके अलावा अधोक्षज भगवान्के विरहमें भी इस तरहके शृंगाररसके भावोंका भी स्वयं अपने-आपमें एक माहात्म्य है, तो यह भी कहा जा सकता है कि इससे भी अधिक माहात्म्य यदि सर्वात्मभावका हो तो वही क्यों नहीं दिखलाया? जबकि वह भाव व्रजाङ्गनाओंको सिद्ध भी है और भक्ति-प्रपत्तिके वर्णनके बाद प्रसङ्गोपात्त भी. अतः माहात्म्यके प्रतिपादनार्थ प्रवृत्त उद्धवजी अकस्मात् शृंगाररसके भावोंको जान गये हैं, ऐसा कह कर व्रजाङ्गनाओंका अगौरव नहीं किया जा सकता. स्पष्टतया, अतएव, यहां 'सर्वात्मभाव'का अर्थ हृदयका आशय लिया नहीं जा सकता. तब वह क्या है यह भी स्वयं सुबोधिनीकार हमें दिखलाते ही हैं. किन्तु उससे भी पहले हम यह स्पष्टीकरण अधिक उपयुक्त समझते हैं कि श्रीलालूभट्टजीका पाठान्तर "सर्वात्मभावोऽधिगतः" स्वयं सुबोधिनीको स्वीकार्य नहीं है, इसका प्रमाण भी वहीं उपलब्ध होती यह पंक्ति है : "सर्वोऽपि आत्मनः भावो भगवत्येव अधिकृतः, उत्तरोत्तरवृद्धिम् आरब्धइव."(सुबो.१०।४४।२७).

इसके अलावा "तद् उपपादितं दशधा" (सुबो.१०।४४।२७) कह कर जो वेणुगीतके प्रसंगमें निरूपित भगवान्के साथ संलाप दर्शन आश्लेष आदि दस अनुभवोंकी सर्वात्मभावमूलकता दिखलायी है, उससे

भी यही सिद्ध होता है कि यह सर्वात्मभाव हृदयके आशयके अर्थमें नहीं हैं. श्रीमत्प्रभुचरण तथा श्रीपुरुषोत्तमजी भी इस दशविध अनुभवको सर्वात्मभावके अन्तर्गत मानते हैं यह "भगवता सह संलापो दर्शनं मिलितस्य च..." (सुबो.१०।१८।७) की टिप्पणी एवं प्रकाश से स्पष्ट है. और यही वह आधार है जो सर्वात्मभावकी संयोगवादी व्याख्याके लिये उपलब्ध होता है. क्योंकि "सर्वात्मभावं निरूपयति... तद् उपादितं दशधा तत्रापि विशेषम् आह 'विरहेण' इति, संयोगे भवेदपि तादृशी मतिः. सर्वोऽपि आत्मनो भावः भगवत्येव अधिकृतः उतरोत्तरवृद्धिम् आरब्धइव" (सुबो.१०।४४।२७) इन पंक्तियोंसे स्पष्ट यही सिद्धान्त झलक रहा है कि सर्वात्मभाव, जो मूलतः "सर्वः + आत्मनो + भावः" है वह संयोग तथा विप्रयोग दोनोमें सम्भव है. विप्रयोगमें वह "सर्वत्र + आत्मनो + भावः" का रूप भी सञ्चारिभावतया ले लेता है. यह भाष्यके उद्धरणसे हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं, किन्तु मूलतः उस समास तथा अर्थ को लेनेपर भी इस अर्थका बाध नहीं हो पाता.

'सर्वात्मभावविवृति'कार श्रीविठ्ठलेशात्मज वल्लभजी भी इसी समास को, अतएव, स्वीकारते हैं. इस अर्थमें जो श्रीपुरुषोत्तमजीने जो दो अर्थ किये हैं :

(१)"सर्वत्र + आत्मनो + भावः."

और

(२)"सर्वः + आत्मनि + भावः."

उनकी सङ्गति भी यहां बैठायी जा सकती है. यह सब किन्तु स्वतन्त्रतया प्रतिपादनमें शक्य है. प्रस्तुत सन्दर्भमें तो केवल यही दिखलाना अभीष्ट है कि भगवान्के साथ संयोगके कालमें भी एक प्रकारके सर्वात्मभावकी स्थिति सैद्धान्तिक है ही. वह विप्रयोगमें भी सम्भव है. प्रस्तुत श्लोक "सर्वात्मभावोऽधिकृतः..." में, अतएव, श्रीमदाचार्यचरण

जो व्युत्पत्ति सर्वात्मभावकी दिखलाते हैं, वह श्रीलालूभट्टजीद्वारा प्रदर्शित व्युत्पत्तिकी विरोधी नहीं किन्तु मूलभूत है. अतः व्यर्थ ही इसमेंके 'सर्वात्मभाव' पदका अन्यथाव्याख्यान उचित नहीं. संक्षेपमें श्रीलालूभट्टजीका सर्वात्मभाव संयोगपरमफलवादकी पृष्ठभूमिमें विप्रयोगसामयिक अनुभूतिका ही एक प्रकार है. श्रीहरिरायजीके अनुसार सर्वात्मभाव विप्रयोगपरमफलवादकी पृष्ठभूमिपर विप्रयोगसामयिक अनुभूतिका एक प्रकार है. श्रीलालूभट्टजीका सर्वात्मभाव साधन एवं फल दशाओंकी सन्धिभूमि है. जबकि श्रीहरिरायजीके अनुसार सर्वात्मभाव केवल फलानुभूति ही है.

इसके अलावा श्रीलालूभट्टजीके ग्रन्थमें संयोगपरमफलवादके झलकते स्वीकारके कारण परमफलानुभवके कालमें विप्रयोगका निराकरण नहीं है. अतएव यहां विप्रयोगको भी परमफलके अन्तर्गत स्वीकारना चाहिये था ऐसी निष्प्रयोजन चर्चासे कोयी लाभ नहीं. अतः तदर्थ हम यहां प्रवृत्त नहीं होते हैं.

भक्तिमार्तण्डकार श्रीगोपेश्वरजीका मत :

इसके बाद भक्तिमार्तण्डके लेखक श्रीयोगिगोपेश्वरजीके अनुसार सर्वात्मभावका क्या स्वरूप है यह भी देख लेना अवसरोपात्त होगा.

श्रीहरिरायजीके बाद भाष्यप्रकाशरश्मिकार श्रीयोगिगोपेश्वरजीने भी सर्वात्मभाव विषयपर खूब लिखा है. 'रश्मि'के अलावा 'भक्तिमार्तण्ड' नामक ग्रन्थमें भी विस्तारसे सर्वात्मभावकी चर्चा मिलती है. इन्हीं दोनों ग्रन्थोंमेंसे 'भक्तिमार्तण्ड' के आधारपर अब हम इनके अनुसार जो सर्वात्मभावका स्वरूप है, उसे समझनेकी चेष्टा करेंगे.

सर्वप्रथम भक्तिमार्तण्डमें छान्दोग्योपनिषद्के भूमाप्रकरणकी व्याख्यासे सर्वात्मभावकी चर्चा प्रारम्भ होती है.

श्रीयोगिगोपेश्वरजी कहते हैं कि "जो भूमा है वही सुख है,

अल्पमें सुख नहीं होता, भूमा ही सुख है, भूमा ही जानने लायक है, जिसे देख सुन और जान लेनेके बाद अन्य किसी वस्तुका दर्शन श्रवण या ज्ञान नहीं रह जाता वह 'भूमा' कहलाता है''(छान्दो.उप.७।२३।१) यह अन्य वस्तुके दर्शन श्रवण या ज्ञान के अभावकी व्याख्या न तो सीपको देख लेनेके बाद वहां चांदीके न दिखलायी देनेके उदाहरणद्वारा दी जा सकती है, न सूर्य उगनेके बाद ताराओंके न दिखलायी देनेके उदाहरणद्वारा; और न ही मूल उपादान कारणको जान लेनेके बाद विभिन्न कार्योंके स्वतन्त्र स्वरूपके न दिखलायी देनेके उदाहरणद्वारा ही दी जा सकती है. भूमाको देख सुन और जान लेनेके बाद तद्गत आनन्दमें व्यक्ति इतना तल्लीन हो जाता है कि इससे कम अन्य जो भी कुछ हो, वह व्यक्ति, न तो उसे सुख मानता है और न सुखका साधन ही. इन अन्य अल्प वस्तुओंको वह सुख या सुखसाधनके रूपमें देखने सुनने या जानने को तैयार नहीं हो पाता. यह भूमा सर्वात्मभाववाले भक्तोंमें प्रतिष्ठित होता है. सर्वात्मभाववाले भक्तकी विभिन्न अनुभूतियोंके आकार ''वही ऊपर-नीचे आजु-बाजु आगे-पीछे सर्वत्र है, मैं ही ऊपर-नीचे आजु-बाजु आगे-पीछे सर्वत्र हूं; तथा आत्मा ही ऊपर-नीचे आजु-बाजु आगे-पीछे सर्वत्र है'', ऐसा श्रुतिमें निरूपित हुवा है. जिस व्यक्तिके भीतर भूमाकी प्रतिष्ठा हो जाती है, वह उक्त रूपमें भूमाको देख सुन और जान पाता है, वह आत्मरति आत्मक्रीड़ आत्ममिथुन आत्मानन्द स्वराट् होकर यथाकाम सर्वलोकमें घूम सकता है. यही भूमाकी प्रतिष्ठा या आधार का स्वरूप है. वह भूमा=ब्रह्म इस सर्वात्मभाववाले अधिकारीके अधीन हो जाता है. ब्रह्मका भक्ताधीन होना स्वयं ब्रह्मकी भक्तपर विशिष्ट कृपाके बिना सम्भव नहीं है. इस भगवत्कृपाका ही कार्य या लक्षण पुष्टिभक्ति है. अतः सर्वात्मभाव भी भक्तिका ही एक विशेष प्रकार तथा अवस्था है.

पुष्टिभक्तिकी इस अवस्थामें होते अनुभवकी व्याख्या हम अखण्डब्रह्मज्ञान

अथवा अखण्डाद्वैतभान के रूपमें नहीं कर सकते. क्योंकि यहां "तत् केन कं पश्येत्" वाला आकार नहीं है. अर्थात् "कौन देखता है और किसे देखता है"का भेद अखण्डाद्वैतमें नहीं रह जाता, सभी कुछ इकसार हो जाता होनेसे. यहां तो, प्रत्युत, द्रष्टा दृश्य एवं दिशाओंके भेदका भान वर्णित हो रहा है. अतः सखण्डाद्वैतभान या सखण्डब्रह्मज्ञान है. यह ब्रह्मानुभूति वामदेवको जैसे सर्वत्र केवल 'अहम्भान' के रूपमें ही हुयी थी, वैसी भी नहीं होती. क्योंकि यहां तो कयी आकार दिखलाये गये हैं. यथा 'तदादेश'=(वही सर्वत्र है) 'अहङ्कारादेश'=(मैं ही सर्वत्र हूं) और 'आत्मादेश'=(आत्मा ही सर्वत्र है) आदिकी अनुभूतिरीतिके कारण ज्ञानियोंको होती ब्रह्मानुभूतिका जो प्रकार है, उससे यह पर्याप्त भिन्न है. उपनिषद्में दहरोपासनाप्रकरणके अधिकारीकी तरह यह सर्वात्मभावका अधिकारी पितृलोक आदिकी कामना नहीं रखता. और अल्प होनेके कारण मर्त्य सुखोंकी भी कामनाका तो इस अधिकारीके सन्दर्भमें प्रश्न ही नहीं उठता. अतः भूमाको पा जानेवाला तो भगवान्‌के दर्शन श्रवण तथा विज्ञान किया हुआ परमभक्त ही कोयी होना चाहिये! इस परमभक्तिके कारण, जो अन्य वस्तुओंके दर्शन श्रवण और विज्ञान का निषेध किया जा रहा है, वह तो भगवद्‌विरहमें "प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वक भगवदासक्ति"रूप निरोध या अतिविगाढ़भाव है. इस अतिविगाढ़भावके कारण अपनी आसक्तिके विषय भगवत्स्वरूपकी सर्वत्र स्फूर्ति होती है, जिसे "वही ऊपर है" आदि शब्दोंमें वर्णित किया गया है. "वही ऊपर है" आदि रूपोंमें जो ज्ञान होते हैं वे विरहानुभवके कारण होते होनेसे सञ्चारिभावकी तरह होते हैं. अनियत होते है. अतएव तदादेश अहङ्कारादेश और आत्मादेश का वर्णन किया गया है. इसी तरह आगे चलकर जो 'आत्मरति' आदि शब्दोंका प्रयोग किया गया है, उससे रसरूप भगवान्‌की भक्ति करनेवाले भक्तके ही रति क्रीडा मिथुन और आनन्द दिखलाये गये हैं. यह सब भगवान्‌के दर्शन श्रवण और विज्ञान के बाद ही सम्भव है. वह हो जानेपर संयोग-विप्रयोगात्मक द्विदलात्मक रसके कारण

विप्रयोगमें कभी अतिविगाढ़भावके कारण भक्त सर्वत्र रसात्मक भगवान्‌का अनुभव करने लग जाता है. यह सर्वात्मभावका स्वरूप है. भगवान् भूमाकी महिमा है.

यद्यपि विरह सर्वोपमर्दक होनेके कारण भक्तको अस्वस्थ कर देता है तोभी सर्वात्मभाववश तीव्रतापमें भी भक्तके प्राण आशा स्मर आकाश तेज जल आविर्भाव-तिरोभाव बल विज्ञान ध्यान चित्त सङ्कल्प मन कर्म आदि सभी कुछ भगवदात्मना अवस्थित रहते हैं. इस सर्वात्मभावमें जब आत्मादेश होता है, तब सभी कुछ आत्माके रूपमें अनुभूत होने लगता है. अतः स्वयं अपनेमें भी आत्माका अनुभव होने लगता है. अर्थात् आत्मासे अपना अभेद प्रतीत होता है. ऐसी स्थितिमें विरहानुभवमें प्रतिबन्ध उपस्थित होगा और तब इस भक्तिमार्गीय सर्वात्मभाव और ज्ञानमार्गीय सर्वात्मभावमें क्या अन्तर रहेगा? इस प्रश्नका उत्तर यही है कि भगवान् यह ऐसा भाव भजनानन्दके दानकेलिये ही अनुभूत कराते हैं. अतः किसी भी रूपमें प्रतिबन्ध आने नहीं देंगे.

यहां हम देख सकते हैं कि श्रीहरिरायजीकी तरह श्रीगोपेश्वरजी भगवान्‌को सर्वात्मभावात्मक मानते हों ऐसा उल्लेख कमसे कम 'भक्तिमार्तण्ड' ग्रन्थमें तो नहीं मिलता. सर्वात्मभावको, किन्तु, भगवदात्मक अवश्य ही मानते हैं :

> ''अत्रापि सर्वात्मभावस्य भगवदात्मकत्वात् सएव महिमा. नच स्वरूपात्मके महिमत्वं विरुद्धम् इति वक्तव्यं, धर्मत्वेऽपि धर्मिरूपत्वस्य 'प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वाद्' (ब्र.सू.३।२।२८) इति सूत्रभाष्ये प्रतिपादनात्.''
>
> (भ.मा.प्रमा.प्रक.).

अर्थात् सर्वात्मभाव भी भगवदात्मक ही होता है. अतः भगवान्

स्वयं ही स्वयंकी महिमा=आधार बनेंगे यों कहना चाहिये. स्वयं स्वयंकी महिमा=आधार कैसे बना जा सकता है, इसकी उपपत्ति तो प्रकाश और उसके आश्रय दोनों प्रकाशक ही होते हैं, भिन्न होते हुवे भी अभिन्न होते हैं, कह कर स्वयं महर्षि बादरायण व्यासने ही "**प्रकाशाश्रयवद् वा तेजस्त्वात्**" (ब्र.सू.३।२।२८) सूत्रमें दे दी है.

भक्तिमार्तण्डकार भी, अतएव, "पुरुषोत्तम सर्वात्मभावैकलभ्य हैं" ऐसे सिद्धान्तको दोहराते हुवे कहते हैं : "**पुरुषोत्तमस्तु सर्वात्मभावैकसमधिगम्यइति सर्वात्मभावरूपा भक्तिरेव 'विद्या'पदवाच्या**" (भ.मा.प्रमा.प्रक.) अर्थात् पुरुषोत्तमकी प्राप्ति केवल सर्वात्मभाव होनेके बाद ही सम्भव है. अतः जहां 'विद्या'पदद्वारा परब्रह्मकी प्राप्तिका श्रुतियोंमें वर्णन आता है वहां सर्वात्मभावरूपा भक्तिको ही 'विद्या' पदका वाच्य समझना चाहिये. भक्ति स्वयं साधन नहीं किन्तु साधनरूप अनुग्रहका व्यापार है. जैसे ठंडी हवा पानेके साधन पंखेका व्यापार उसका हिलना-डुलना या चक्कर लगाना होता है : "**भक्त्यादिकं वरणव्यापारइति अदोषः**" (वहीं). इससे सर्वात्मभाव भगवत्प्राप्तिका केवल साधन ही नहीं प्रत्युत प्राप्तिकी पूर्वावस्थाका, एक प्रकृष्ट प्रकार है, यह भी सिद्ध हो जाता है.

यह सर्वात्मभाव दुःखरूप नहीं होता, विरहजन्य तापरूप होनेपर भी. क्योंकि सर्वात्मभावैकलभ्य साक्षात् पुरुषोत्तमके आनन्दकी प्राप्ति इसीसे होती है. सर्वात्मभाव, अतएव, सुखरूप है, रसात्मक होनेके कारण. लोकमें शृंगाररसभाववाले परस्परासक्त स्त्री-पुरुषोंमें सर्वात्मभाव जैसा भाव सम्भव है किन्तु श्रीगोपेश्वरजी कहते हैं :

> "**नहि लोकसत्ताकत्वं लौकिकताप्रयोजकं, ब्रह्मणो लौकिकत्वापत्तेः. अतएव न लोकसम्बन्धित्वं तथा, तस्य सम्बन्धस्य ब्रह्मणि सत्त्वात्. नापि लौकिकसादृश्यं तथा,**

ब्रह्मज्ञानस्य तथात्वापत्तेः. किन्तु लौकिकप्रमाणमात्रप्राप्तत्वमेव तथा. तथाच उक्तप्रमाणसिद्धस्य सर्वात्मभावस्य न लौकिकत्वम् इति."

(वहीं).

अर्थात् लोकमें विद्यमान होना अथवा लोकसदृश होना ऐसे उदाहरणके बलपर सर्वात्मभावको लौकिक नहीं माना जा सकता. क्योंकि अन्यथा लोकमें तो ब्रह्म भी विद्यमान होता ही है और उसका भी लोकके साथ कुछ न कुछ सम्बन्ध तो होता ही है. तथा ब्रह्मज्ञानका भी कुछ न कुछ सादृश्य लौकिक ज्ञानसे भी खोजा जा सकता है. तो ब्रह्म और ब्रह्मज्ञान भी 'लौकिक' कहलाने लगेंगे. भाष्यप्रकाशकार श्रीपुरुषोत्तमजी, अतएव, अनुमान देते हैं कि सर्वात्मभाव लौकिकसदृश होनेपर भी स्वयं लौकिक नहीं है, क्योंकि अलौकिकप्रमाणसे ही वह सिद्ध होता है, लौकिक प्रमाणसे नहीं. जैसे यागकेलिये किया गया गोदोहन या पकाने आदिकी क्रिया लौकिक जैसी ही दिखलायी देती हैं. मगर लौकिक मानी नहीं जा सकती तद्वत्.

वस्तुतः तो भगवान् रसरूप हैं तथा प्रमुख रस शृंगार या भक्ति को मानना चाहिये. दोनों शृंगार अथवा भक्ति के दो प्रभेद हो सकते हैं : (१)वियोगशृंगार तथा (२)संयोगशृंगार. इसी तरह (१)वियोगभक्ति तथा (२)संयोगभक्ति. अतः रतिकी चरमावमस्था अथवा भक्तिकी चरमावस्था, किसी भी रूपमें लेनेपर, सर्वात्मभाव है स्वयं भगवान्‌का ही अन्यतम रूप. क्योंकि भगवान् रसात्मक हैं तथा प्रमुख रस शृंगार अथवा भक्ति का ही अन्यतम रूप सर्वात्मभाव है. ऐसी स्थितिमें जब भगवान् स्वयं अलौकिक आनन्दरूप हैं तो सर्वात्मभाव लौकिक अथवा दुःखरूप कैसे हो सकता है?

सर्वात्मभावको तापजन्य अथवा तापात्मक माननेपर भी सामान्य

शब्दोंमें दुःखरूप नहीं कहा जा सकता. क्योंकि यह ताप भी स्वयं रसात्मक या भगवदात्मक होता है. अतएव "अस्यैव च उपपत्तेः ऊष्मा" (ब्र.सू.४।२।११) के भाष्यमें प्रभुचरण कहते हैं :

"आनन्दात्मकरसात्मकस्य अस्यैव भगवतएव धर्मः ऊष्मा विरहतापः इति अर्थः... भगवद्विरहस्य सर्वसाधारणत्वेऽपि स्थायिभावात्मकरसरूपभगवत्प्रादुर्भावो यस्य हृदि भवति तस्यैव तदप्राप्तिजः तापः तदनन्तरं नियमतः तत्प्राप्तिः च भवति. नतु अतथाभूतस्य इति अन्वयव्यतिरेकाभ्याम् उक्तरसस्यैव एषो धर्मः इति निश्चीयते. तस्य वस्तुनएव तथात्वात् स तापोऽपि रसात्मकएव."

(ब्र.सू.भा.४।२।११).

अर्थात् विरहमें ताप या ऊष्मा जो उत्पन्न होती है वह आनन्दात्मक या रसात्मक भगवान्का ही एक धर्म है. वैसे तो सभी जीव भगवान्से बिछुड़े हुवे हैं किन्तु भगवान्से बिछुड़नेका ताप उसी व्यक्तिके भीतर पैदा होता है जिसके हृदयमें स्थायिभावात्मक रसरूप भगवान्का प्रादुर्भाव हो पाता है. और ये तपस्वी ही भगवान्को पानेके नियत अधिकारी होते हैं. इससे यह सिद्ध होता है कि तापके सर्वदा भगवदाविर्भावमूलक होनेके कारण वह रसात्मक भगवान्का ही धर्म है. रस तो वस्तु ही ऐसी है कि उसमें ताप भी रसात्मक=आनन्दात्मक हो जाता है. अन्यथा हृदयमें जब प्रभुका स्फुरण होता हो तब आनन्दकी अनुभूति होती है ऐसा क्यों कहा जाता? यों न केवल ताप किन्तु तापजन्य प्रलाप गुणगानआदि सभी कुछ विप्रयोगात्मक भगवान्के धर्म हैं.

यों भक्तिमार्तण्डके प्रमाणप्रकरणमें सर्वात्मभावके बारेमें जो निरूपण या समाधान हमें मिलता है उसका सारांश हमने देखा.

इसी ग्रन्थके प्रमेयप्रकरणमें भी श्रीगोपेश्वरजीने सर्वात्मभावकी पुनः

चर्चा छेड़ी है. जिसे अब हम साररूपेण सङ्कलित करना चाहेंगे.

भक्तिमार्तण्डके प्रमेयप्रकरणमें भक्तिकी विभिन्न अवस्थाओंका वर्णन श्रीगोपेश्वरजी करते हैं कि भक्तिको 'सर्वात्मभाव' भी कहा जाता है. भ्रमरगीतमें ही ''सर्वात्मभावो अधिकृतो भवतीनाम् अधोक्षजे विरहेण महाभागा महान् मे अनुग्रहः कृतः'' श्लोककी सुबोधिनीमें यह व्याख्यान किया गया है कि उद्धवजीके अनुसार गोपियोंका सम्पूर्ण भाव भगवान्में ही अधिकृत हो गया है, उत्तरोत्तर वृद्धिंगत होने सा लगा है : ''सर्वोऽपि आत्मनो भावः भगवत्येव अधिकृतः उत्तरोत्तरं वृद्धिम् आरब्धइवः'' इस व्याख्यासे यह सिद्ध हो जाता है कि भक्तिकी ही एक अवस्था सर्वात्मभाव भी है. अन्यथा उद्धवजीका यह कहना कि उत्तमश्लोक भगवान्में एक ऐसी सर्वोत्कृष्ट भक्तिका प्रवर्तन गोपीजनोंने किया कि जैसी भक्ति मुनियोंको भी दुर्लभ है (भगवत्युत्तमश्लोके भवतीभिः अनुत्तमा भक्तिः प्रवर्तिता दिष्ट्या मुनिनामपि दुर्लभा), यह कथन सङ्गत नहीं होगा. यदि प्रथम श्लोकमेंके सर्वात्मभाव और द्वितीय श्लोकमेंकी भक्ति परस्पर अलग पदार्थ हों.

यहां 'सर्वात्मभाव'में 'सर्व' पदका लक्षणावृत्तिसे अर्थ होगा : सभी इन्द्रियां. 'भाव' पदका अर्थ है : भगवत्परता. 'भाव' यानि होना भी अर्थात् भगवान्में तत्पर हो जाना. यों कुल मिला कर अर्थ होगा : सभी इन्द्रियों और अन्तःकरण का भगवत्पर हो जाना सर्वात्मभाव है. अथवा 'सर्व'का अर्थ : 'साक्षात् या परम्परया किसी सम्बन्धसे ग्यारहों मनोवृत्तियां' लेना चाहिये. क्योंकि दस इन्द्रियोंकी वृत्तियां, देखना सुनना सूंघना आदि; और एक अन्तःकरणकी वृत्ति यों कुल मिला कर ग्यारहों वृत्तियोंका भगवान्में तत्पर=तन्मय हो जाना ही सर्वात्मभाव है. सर्वात्मभावमें इन्द्रियों तथा अन्तःकरण का लौकिक विषयोंके बारेमें कोयी भी व्यापार नहीं रह जाता. जिस भक्तको, प्रभु जिन लीलाओंके अनुभवका अधिकार देते हैं, उन सभी लीलाओंमें ग्यारहों वृत्तियोंके साथ जीवको एक ऐसी तल्लीनता प्राप्त हो जाती है कि उसे अन्य कुछ न तो दिखलायी

देता है, या वह देखना ही चाहता है; और न सुनायी ही पड़ता है या सुनना ही चाहता है. वह भगवान्‌की बातोमें, भगवान्‌के रूपमें, भगवान्‌के सौगन्ध्यमें, भगवान्‌के स्पर्शमें, तन्मनस्क तदालाप तद्विचेष्ट हो जाता है. यही सर्वात्मभाव है.

लोकमें ऐसी ही अवस्था "सा सा सा सा जगति सकले (सारे जगत्में वही प्रियतमा मुझे दिखलायी दे रही है)" में हमें प्रतीत होती है किन्तु इस लौकिक अवस्थाको 'सर्वात्मभाव' कहा नहीं जा सकता. जैसे पङ्कमें पैदा होनेवाली हर वस्तुको 'पङ्कज' नही कहा जाता. वह तो केवल कमलका ही नाम है. इसी तरह उक्तविध भाव *भगवान्* में उत्पन्न हो तभी उसे 'सर्वात्मभाव' कहा जाता है, किसी लौकिक विषयके बारेमें उत्पन्न हो तो नही.

श्रीगोपेश्वरजी कहते हैं कि सर्वात्मभावकी इस प्रकारकी व्याख्यासे यह प्रतीत होता है कि यह भगवान्‌की विशिष्ट प्रकारकी अनुभूति या ज्ञान है और ज्ञान माननेपर भक्तिमार्ग नहीं रह जायेगा. क्योंकि भक्ति भी चरम अवस्थामें ज्ञानका ही रूप ले लेगी. इस आपत्तिका परिहार यही है कि सर्वात्मभावकी यह अवस्था अनुभूति या ज्ञान है किन्तु स्नेहके बाद उत्पन्न हुवे होनेके कारण स्नेहको छोड़ कर यह ज्ञान या अनुभूति उत्पन्न नहीं होती. स्नेहके साथ ही उत्पन्न होती है. अतः भक्तिमार्गके साथ इस ऐसे ज्ञानका कोयी विरोध नहीं है. वस्तुतस्तु रसात्मक ब्रह्मका फलात्मक ज्ञान ही 'सर्वात्मभाव' कहलाता है. यही बात "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" अर्थात् ब्रह्मको जान लेनेपर जीव ब्रह्म ही हो जाता है, ऐसी श्रुतियोंमें भी कही गयी है. अतएव "अनुबन्धादिभ्यः प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववद् दृष्टश्च तदुक्तयः" (ब्र.सू.३।३।५०) में भाष्यकार कहते है कि जिन भक्तोंको भगवान् अपनाते हैं उनमें भूमा पुरुषकी महिमा=आधाररूप सर्वात्मभाव, जो स्वयं भी भगवदात्मक है और पुरुषोत्तमका प्रापक भी होता है, वह

प्रकट हो जाता है. इस सर्वात्मभावका मुक्तिमें पर्यवसान सम्भव नहीं क्योंकि मुमुक्षुकी प्रज्ञा और सर्वात्मभाववाले भक्तकी प्रज्ञा अलग-अलग तरहकी होती हैं. जिसकी जैसी प्रज्ञा होती है उसे वैसा ही अनुभव उस प्रज्ञाके कारण होता है. सर्वात्मभाववाले भक्तकी प्रज्ञा मोक्ष पानेकेलिये नहीं होती अतः उसे मोक्षका अनुभव भी नहीं होता : "सर्वात्मभाववतो भक्तस्य यत्प्रकारिका भगवद्विषयिणी प्रज्ञा तमेव प्रकारकं सा भावं साधयति न अन्यमिति न मुक्तौ पर्यवसानम् इति अर्थः." यहां स्पष्टतया सर्वात्मभाव ज्ञानरूप होता है यह कहा गया है. "प्रदानवदेव तद् उक्तम्" (ब्र.सू.३।३।४३) सूत्रके भाष्यप्रकाशमें यह कहा गया है कि विगाढ़भाव होनेपर सर्वत्र जो प्रिय स्वरूपमें भगवान्का अनुभव होता है वही सर्वात्मभाव है. "सा सा सा सा जगति सकले"का दृष्टान्त भी यहां सङ्गत हो जाता है.

श्रीगोपेश्वरजी कहते हैं कि संक्षेपमें : परमासक्ति ही सर्वात्मभाव है और परमासक्ति होनेपर जब विरह होता है तो अतिविगाढ़भावके कारण सर्वत्र भगवान्की अनुभूति होनी स्वाभाविक है. यही तो पुष्टिमार्गीय सर्वात्मभाव है. मर्यादामार्गीय सर्वात्मभाव नवमस्कन्धके अम्बरीषके प्रकरणमें दिखलाया गया है, जहां यह कहा गया कि अम्बरीषने भगवान्में सर्वात्मभाव रखते हुवे पृथ्वीका शासन किया. यहां अम्बरीषका जो भाव है वह पुष्टिमार्गीय नहीं.

इसके बाद श्रीगोपेश्वरजी श्रीलालूभट्टजीकी आलोचना करते हुवे कहते हैं कि भ्रमरगीतके उद्धवोक्त श्लोकमें वर्णित सर्वात्मभावको मुख्य सर्वात्मभाव न मानकर गोपिकाओंके आशयके रूपमें जो श्रीलालूभट्टजी मानते हैं वह ठीक नहीं है, क्योंकि इन गोपिकाओंकी सर्वात्मभावकी अवस्थाका जो ज्ञान उद्धवजीको न होता और केवल शृंगारिक भावोंका ही ज्ञान उन्हें हुवा होता तो वे "भगवति उत्तमश्लोके भवतीभिः अनुत्तमा भक्तिः प्रवर्तिता दिष्ट्या मुनीनामपि दुर्लभा" न कहते स्वयं

भगवान् भी कहते हैं कि उद्धवजी भगवान्से अणुमात्र भी न्यून नहीं हैं, ऐसी स्थितिमें "उद्धवजीको गोपिकाओंके सर्वात्मभावका ज्ञान ही नहीं हुवा" यह विधान युक्तियुक्त नहीं रह जाता. भ्रमरगीतमें जो कामिनियोंके जैसा वाग्विलास दिखलायी देता है वह तो इस बातका द्योतक है कि गोपिकाओंने भगवान्को अपने हृदयमें धारण कर रखा है. श्रीगोपेश्वरजी, अतएव, श्रीलालूभट्टजीके द्वारा दिये गये सर्वात्मभावके समास-विग्रहको स्वीकारते नहीं है : "तेन न सर्वस्मिन् आत्मभाव: सर्वात्मभाव:."

"सर्वस्मिन्=सर्वत्र + आत्मनो + भावो=निरुपाधिकस्नेह:=सर्वात्मभाव:" समासरीति और अर्थ श्रीलालूभट्टजीको मान्य है किन्तु श्रीयोगिगोपेश्वरजीको नहीं. सर्वात्मभावकी व्याख्या जो कुछ वे स्वयं देते हैं उसके अलावा उन्हें सारी बातें श्रीहरिरायजीकी ही मान्य है :

> "अयं निष्कृष्टो रसिकचूडामणिश्रीमद्हरिचरणै: 'अत: सर्वात्मभावो हि त्यागात्मा उपेक्षया युतो भावस्वरूपफलक: स्वसम्बधप्रकाशको देहादिस्फूर्तिरहितो विषयत्यागपूर्वको भावात्मकामसम्बन्धिरमणादिक्रिय: सदा 'स्वतन्त्रभक्ति'शब्दाख्य: फलात्मा ज्ञायतां जनै:' (सर्वा.भा.नि.१८-१९) इत्यादिभि:."
>
> (वहीं).

अर्थात् सर्वात्मभावका निष्कृष्ट स्वरूप श्रीहरिरायजीने स्वविरचित जो 'सर्वात्मभावनिरूपणम्'में दिखलाया है, जहां यह कहा गया है कि सर्वात्मभाव त्यागात्मक, स्वरूपनिरपेक्ष, केवल भावात्मक स्वरूप ही जहां फल हो, ऐसा होता है. भगवान्के साथ भक्तके सम्बन्धके प्रकाशक, देह इन्द्रिय आदिकी स्फूर्तिसे रहित, समस्त विषयोंका त्याग, काम और रमण आदि क्रिया भी जहां भावात्मक ही हों, ऐसा

स्वतन्त्र भक्तिरूप होता है. इस ऐसे सर्वात्मभावको फलरूप मानना चाहिये.

इस तरह 'भक्तिमार्तण्ड'के प्रमेयप्रकरणमें जो सर्वात्मभावसम्बन्धी चर्चा हमें मिलती है उसके सारांशका सङ्कलन हमने देखा.

निष्कर्ष :

संक्षेपमें इस विस्तृत विमर्शका सार यही है कि भगवदनुभूति, चाहे भगवत्संयोगानुभूतिरूपा हो अथवा भगवद्विप्रयोगानुभूतिरूपा, होती है वह है फलरूपा ही. यदि भगवान्के साक्षात् अवतारसामयिकी हों तो भक्ति दास्य वात्सल्य सख्य या माधुर्य आदि किसी भी रूपमें वे संयोगानुभूति अथवा विप्रयोगानुभूति स्नेहभावात्मिका हो सकती हैं. अन्यथा अनवतारकालमें भगवत्संयोगानुभूति या भगवद्विप्रयोगानुभूति का भगवन्माहात्म्यज्ञानपूर्वक भगवत्स्नेहात्मक होना अर्थात् अंशांशिभावबोधपूर्वक निरुपाधिक सर्वतोधिक स्नेहात्मकभक्तिरूपा होना आवश्यक हो जाता है. इस भक्तिमें भी पुनः उन संयोग और विप्रयोग का चक्रवत् आवर्तन आवश्यक होता है. महाप्रभुके शब्दोंमें कहना हो तो "स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यम्" — "सेवायां वा कथायां वा यस्य आसक्तिः दृढा भवेद् यावज्जीवं तस्य नाशो न क्वापि इति मतिः मम" (च.श्लो.४ — भ.व.९). अतः किसी भी एकतर पक्षपर एकान्तिकतया ढुल जाना महाप्रभुको अभिमत सिद्धान्त नहीं है, कमसे कम व्रजभक्तोंके भगवत्संयोगानुभव अथवा भगवद्विप्रयोगानुभव के बहाने तो अवश्य ही नहीं!

अन्तमें इस सारी चर्चाके निष्कर्षतया श्रीमत्प्रभुचरणके एक उद्गारको उद्धृत कर देना इस परमफलमीमांसामें अतीव उपकारक होगा :

"यद्वा प्रकरणाद् भक्तिमार्गाद् भगवता ये बहिर्भाविताः

जीवाः ते 'बहिर्भूत'पदेन उच्यन्ते. तथाच तेषु आकाशवद् निराकारइव अप्रत्यक्षतयैव सन्तं, तत्रापि आन्तरमेव नतु कदाचिदपि बहिःप्राकट्येन. वस्तुतस्तु भक्तिमार्गीयेषु पुरुषत्वेन साकारं बहिःप्रकटं भर्तृरूपम्. अतो बहिः विचयनमेव उचितं, नहि स्त्रीणां स्वभर्तुः अन्तरन्वेषणम् अन्तःस्थितिज्ञानं वा स्वास्थ्यहेतुः पुरुषार्थाय भवति इति मूलार्थः."

(सुबो.टिप्प.१०।२७।४).

अर्थात् जिन जीवोंको भगवान् भक्तिमार्गसे बाहर रखना चाहते हैं, उनके भीतर तो, बाह्य भौतिक पदार्थोंके भीतर निराकार आकाशकी तरह, भगवान् विद्यमान रहते हैं. जिन्हें, इसके विपरीत, भगवान् भक्तिमार्गीय बनाना चाहते हैं तो, उनके भीतर तो आभ्यन्तर स्वरूपमें लीलाविहार करनेवाला भगवत्स्वरूप भी, कभी न कभी तो बाहर प्रकट होता ही हैं. व्रजकी गोपिकायें, क्योंकि, भक्तिमार्गीय थी अतएव उन्होंने निजान्तःस्थित भगवान्को अपने भीतर खोजनेके बजाय बाहर ही खोजा. कोयी भी पत्नी अपने पतिके केवल अपने भीतर विद्यमान आन्तररूपको खोजने या अवस्थित होने में सन्तुष्ट हो नहीं सकती! और न ऐसा तथ्य उसके लिये कभी पुरुषार्थरूप ही हो सकता है!!

इस सैद्धान्तिक स्पष्टीकरणके बाद "कामः सापेक्षतारूपः उत्तरः तदभाववान्, विरहस्थायिभावत्वात् तापात्मा स निगद्यते, सम्बन्धस्यापि नापेक्षा तापेनैव अखिलोदयः, विलक्षणः तत्क्लेशोऽपि कामजातात् तथा अपरः" (ब्रह्मसम्ब.कठि.विवे.५-७) तथा " 'अहं भगवतः सर्वः' इति सर्वात्मभावनं, 'प्रभुः मम' इति भावो हि कामभावो मतो यतः... सच अनपेक्षितारूपो यत्र न अपेक्षिता हरेः विरहे भाववैक्लव्यात्..." (सर्वात्म.निरू.७-१५) ऐसे पृथक्करणका श्रीहरिरायजीका अभिप्राय सहसा हृदयारूढ़ हो नहीं पाता है. क्योंकि यह तो सहज ही समझमें आ पानेवाली बात है कि भगवद्विषयक कामभावकी तुलनामें, भगवद्विषयक

सर्वात्मभावका कुछ अनितरसाधारण भक्तिमार्गीय उत्कर्ष तो होता ही है. फिरभी सर्वात्मभावके अन्तर्गत सञ्चारिभावतया भी कामभाव प्रविष्ट ही नहीं हो सकता अथवा भक्तके सहजसिद्ध सर्वात्मभावको स्वयं भगवान् भी कामोपाधिक नहीं बना सकते, ऐसा निरूपण सिद्धान्ताविरुद्ध नहीं लगता है. पूर्वोद्धृत श्रीहरिरायजीके वचनमें स्वयं वे भी "**भावात्मकामसम्बन्धिरमणादिक्रियः** सदा" तो स्वीकारते हैं ही. फिर अन्तर कहां रह जाता है यह समझमें नहीं आता!

भगवद्गीतामें "**त्रिविधं नरकस्य इदं द्वारं** नाशनम् आत्मनः कामः **क्रोधः** तथा **लोभः** तस्माद् एतत् त्रयं त्यजेद्" (भग.गीता.१६।२१) वचनमें भगवान्ने जिस कामकी तीव्र निन्दा की है, उसी कामको धर्मसे अविरुद्ध होनेपर "**धर्माविरुद्धो भूतेषु कामो अस्मि**" (भग.गीता.७।११) जैसे उद्गारद्वारा भगवान् स्वविभूति होनेका गौरव भी प्रदान करते हैं. इससे आगे बढ़ कर स्वयं श्रीमदाचार्यचरणने "**यस्य** वा भगवत्कार्यं **यदा स्पष्टं न दृश्यते तदा विनिग्रहः तस्य कर्तव्यः इति निश्चयः**" (निरो.लक्ष.१९) का अपना दृढ़ निश्चय जतानेके बावजूद "**पुत्रे कृष्णप्रिये रतिः**" (वहीं.१८) विधानमें कामकी धर्मि-अविरुद्धताको प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वक भगवदासक्तिरूप निरोधसे अविरुद्ध भी स्वीकारा ही है. ऐसी स्थितिमें स्वयं भगवद्विषयक कामको, सो भी स्वयं भगवान्द्वारा सर्वात्मभावको जब कामभावोपाधिक बनाया जाता हो तब वहां केवल कामभाव होनेके कारण उसके स्वरूपका प्रत्याख्यान करना श्रीमद्भागवतमें गोपीजनोंद्वारा गाये गये छहोंमें किसी भी गीतके साथ सुसंगत होनेवाली कथा नहीं लगती है.

अतएव प्रस्तुत भ्रमरगीतमें जब श्रीमदाचार्यचरण कहते हैं कि "**एवं भक्तिप्रपत्ती निरूप्य सर्वात्मभावं निरूपयति 'सर्वात्मभाव' इति,** तद् उपपादितं **दशधा.** तत्रापि विशेषम् आह 'विरहेण' इति, संयोगे भवेदपि तादृशी **मतिः, सर्वोऽपि** आत्मनो भावो भगवत्येव अधिकृतः,

उत्तरोत्तरवृद्धिम् आरब्धइव. विषयस्यापि अलौकिकत्वम् आह 'अधोक्षजे' इति..." (सुबो.१०।४४।२७) तो यहां इस सर्वात्मभावकी व्याख्या स्वयं सुबोधिनीकार भी वेणुगीतकी सुबोधिनीमें स्वव्याख्यात "**भगवता सह संलापो दर्शनं मिलितस्य च... तदन्तिकगतिः नित्यम् एवं तद्भावनं सदा, इदमेव इन्द्रियवतां फलम्...**" (सुबो.१०।१८।७) कारिकाओंके आधारपर देना चाहते हैं. और स्पष्ट है कि इन कारिकाओंमें भगवान्के आभ्यन्तर अनुभवके बजाय बाह्य अनुभवकी ही प्रधानता स्वीकारी गयी है. यह स्वयं सुबोधिनीके इन "**तावतापि ज्ञानिनामिव न तासां सुखम् इति ज्ञापयितुं वपुषो भरणं निरूप्यते.(यथा पात्रस्थं रसं पाययितुम् उद्यतः तत्पात्रं हस्ते बिभ्रद् भवति पुरुषः तथा स्वरूपात्मकं रसम् एताभ्यो दातुम् उद्यतः इति ज्ञायते एतादृग्वपूरूपप्राकट्येन इति ज्ञापयितुं 'वपुः बिभ्रद्' इति उक्तम्)**(सुबो.प्रक्षे.१०।१८।५) इन वचनोंके आधारपर यह अतीव स्पष्ट हो जाता है. यहां वेणुगीतके प्रसंगमें तो निश्चय ही बाह्य अनुभवकी बात है. अब भ्रमरगीतमें, परन्तु, वही और वैसा ही अनुभव आभ्यन्तर भी इन गोपिकाओंका वर्णित हो रहा है. कुल मिला कर भगवदनुभूति बाह्याभ्यन्तर उभयत्र होनी चाहिये. अतएव प्रभुचरण भी इस विषयका स्पष्टीकरण "**यद्यपि कामलीलापि एतासु निरूप्यते तथापि न तदुपाधिकः स्नेहो अत्र किन्तु निरुपधिरेव. भगवान् स्वयं तादृग्रसदानार्थं तं भावं सम्पाद्य तं रसं ददाति इति अवोचामः**" (सुबो.प्रक्षे.१०।४४।६०) कह कर देते हैं. एतावता सिद्ध हो जाता है कि सर्वात्मभाव और कामभाव के बीच परस्पर असंकीर्ण विभाग होनेकी बात सिद्धान्ततः कथमपि मान्य नहीं हो सकती है. श्रीहरिरायजी आज्ञा करते हैं कि सर्वात्मभाववाले भक्तोंको भगवान्की बाह्य विषयत्वेन अपेक्षा ही नहीं रह जाती परन्तु सुबोधिनीकार सुस्पष्ट शब्दोंमें "**द्वयं प्रार्थितं संघातस्य भगवति विनियोगः आत्मनः च भगवति स्नेहः इति.**" (सुबो.१०।४४।६७) ऐसा स्वीकारते हैं कि भगवान्में अपने बाह्य संघातके विनियोग पुनः होनेका न केवल मनोरथ ही गोपिकाओंके हृदयमें प्रबल है अपितु उसके बारेमें निःसंकोच प्रार्थना करनेमें भी

उन्हें कोयी अनौचित्य प्रतीत नहीं होता.

यह तो हुयी लीलासामयिकी कथा. साधनाप्रणालीके स्वरूपकी मीमांसा करते समय भ्रमरगीतके लीलासन्दर्भकी शपथ खानेवाले आधुनिक पुष्टिमार्गीय गुणगानवादी अथवा भागवतकथावादी भगवत्सेवाकी गौणता घोषित करते हैं. यह वे आचार्यचरणकी "कौण्डिन्यो गोपिका प्रोक्ताः गुरवः साधनं च तद्भावो भावनया सिद्धः साधनं न अन्यद् इष्यते" (संन्या.निर्ण.८) आज्ञाके भी उल्लंघनार्थ ही करते हैं. श्रीहरिरायजीने तो ऐसा स्वप्नमें भी कभी सोचा नहीं होगा! अतः लीलासन्दर्भकी तरह ही साधनाके सन्दर्भमें भी प्रत्येक पुष्टिमार्गीयको श्रीमदाचार्यचरणके "बाह्याभ्यन्तरभेदेन आन्तरन्तु परं फलम्" (सुबो.१०।२६।०) अथवा "बाह्याभावेतु आन्तरस्य व्यर्थता" (सुबो.१।६।०) यों दोनोंमेंसे एक भी किसी विधानको भूलनेका साहस कभी करना नहीं चाहिये!

इस चर्चाको उपसंहृत करनेसे पहले संक्षेपमें सर्वात्मभावके साधनदशासे फलदशा पर्यन्त क्रमिक सोपानोंपर दृष्टिपात कर लेना भी उपकारक ही होगा. श्रीमद्भागवतके एकादशस्कन्धमें उद्धवजीको दिये उपदेशमें भगवान्के ये अधोनिर्दिष्ट वचन इस बारेमें पर्याप्त प्रकाशदायक हैं :

> "मामेव सर्वभूतेषु बहिर् अन्तर् अपावृतं, ईक्षेत आत्मनि च आत्मानम् यथा खम् अमलाशयः. इति सर्वाणि भूतानि मद्भावेन महद्युते सभाजयन् मन्यमानो ज्ञानं केवलम् आश्रितः. ब्राह्मणे पुल्कसे स्तेने ब्रह्मणि अर्के स्फुलिङ्गके अक्रुरे क्रूरके चैव समदृक् पण्डितो मतः. नरेषु अभीक्ष्णं मद्भावं पुंसो भावयतो अचिरात्, स्पर्धासूयातिरस्काराः साहंकारा वियन्ति हि. विसृज्य स्मयमानान् स्वान् दृशं व्रीडां च दैहिकीं प्रणमेद् दण्डवद् भूमौ आश्वचाण्डालगोखरम्. यावत् सर्वेषु भूतेषु मद्भावो न उपजायते तावद् एवम् उपासीत

वाङ्मनःकायवृत्तिभिः. सर्वं ब्रह्मात्मकं तस्य विद्यया आत्ममनीषया परिपश्यन् उपरमेत् सर्वतो मुक्तसंशयः. अयं हि सर्वकल्पानां सध्रीचीनो मतो मम, मद्भावः सर्वभूतेषु मनोवाक्कायवृत्तिभिः."

(भाग.पुरा.११।२९।१२-१९).

पूर्वोक्त "तेषु आकाशवद् निराकारइव अप्रत्यक्षतयैव सन्तं, तत्रापि आन्तरमेव" सुबोधिनीविवेचित सन्दर्भमें यहां "यथा खं सर्वभूतेषु (तथा) आत्मनि च बहिर् अन्तर् अपावृतं मामेव आत्मानम् ईक्षेत" विधानोंकी तुलना करनेपर यह केवल ज्ञानके सन्दर्भमें सर्वात्मभावकी साधनिक उपयोगिताका निरूपण है, यह स्पष्ट हो जाता है.

भगवद्गीतामें, किन्तु, "यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति तस्य अहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति" (भग.गीता.६।३०) वचनमें सर्वात्मभावकी दोनों ही विधा परामृष्ट हुयी हैं. प्रथम ज्ञानमार्गीय सर्वात्मभाव — सर्वत्र भगवद्दर्शन — उल्लिखित "आत्ममनीषया विद्यया तस्य सर्वं ब्रह्मात्मकं परिपश्यन् उपरमेत्" वचनद्वारा परामृष्ट है. भक्तिमार्गमें ऐसा सर्वात्मभाव विप्रयोगसामयिक एक अन्यतम सञ्चारिभावके रूपमें भक्तिभावका अङ्ग बन जाता है, भगवन्माहात्म्यज्ञानकी तरह ही.

दूसरा भक्तिमार्गीय सर्वात्मभाव — एकत्र भगवान्में सर्वदर्शन — रूप होता है. इसे भगवान्ने अर्जुनको दिव्यदृष्टिके प्रदानद्वारा अपने विराट् स्वरूपके दर्शन देते समय अनुभूत कराया था. अतएव "न अहं वेदैः न तपसा न दानेन नच इज्यया शक्यः एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवान् असि मां यथा. भक्त्यातु अनन्यया शक्यः अहम् एवंविधो, अर्जुन!, ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप!" (भग.गीता.११।५३-५४) वचन भी इस बारेमें भगवान्के मिलते हैं. गोपीजनोंके विरहतापके उपशमनार्थ उद्धवजीद्वारा ज्ञानसन्देशमें भगवान्ने इसी माहात्म्यज्ञानरूप तथा सुदृढ़ सर्वतोधिक

स्नेहात्मकभक्तिरूप दोनों तरहके सर्वात्मभावोंका उपदेश भिजवाया. यह—

"भवतीनां वियोगो मे नहि सर्वात्मना क्वचिद् [क] आत्मत्वाद् [ख] भक्तवश्यत्वात् सत्यवाक्त्वात् स्वभावतः. [क] यथा महान्ति भूतानि भूतेषु, खं वायुः अग्निः जलं मही तथा अहं च मनःप्राणबुद्धीन्द्रियगुणाश्रयो आत्मन्येव आत्मना आत्मानं सृजे हन्मि अनुपालये आत्ममायानुभावेन भूतेन्द्रियगुणात्मना... [ख] मयि आवेश्य मनः कृत्स्नं विमुक्ताशेषवृत्ति यद् अनुस्मरन्त्यो मां नित्यम् अचिराद् माम् अवापस्यथ."

(भाग.पुरा.१०।४४।२९-३७).

इसमें [क] अंशोंद्वारा माहात्म्यज्ञानमूलक सर्वत्र भगवद्दृष्टिरूप सर्वात्मभावका उपदेश है; क्योंकि, प्रत्येक वस्तुके भीतर "सो अकामयत 'बहु स्यां प्रजायेय' इति... तत् सृष्ट्वा तदेव अनुप्राविशद्" (तैत्ति.उप.२।६) वचनके अनुरोधवश वह ब्रह्मात्मना सर्वोपादानतया तथा परमात्मना सर्वान्तर्यामितया सर्वत्र विद्यमान रहता ही है. भक्तिमार्गीय सर्वात्मभावके स्वरूपके तात्त्विक स्वरूपबोधके हेतु "समो अहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्यो अस्ति न प्रियो ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चापि अहम्"—"यो माम् एवम् असंमूढो जानाति पुरुषोत्तमं स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन..." (भग.गीता.९।२९—१५।१९) भगवद्गीताके दोनों वचन उपकारक होते हैं. क्योंकि सर्वके ब्रह्मरूपमें भानके अन्तर्गत स्वयंके भी वैसे भान होनेपर भी जो भक्तिभावको निभा पाते हैं उनका वैशिष्ट्य यहां भगवान् स्वमुखसे "ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चापि अहम्" स्वीकारते हैं. अतएव अभेदज्ञानके बावजूद भगवान्में भजनोपयोगी पुरुषोत्तमभाव निभानेवालेको "यो असंमूढो माम् एवं पुरुषोत्तमं जानाति स सर्वविद् मां सर्वभावेन भजति" विधानद्वारा ऐसे भक्तके सर्वात्मभावका पार्थक्य प्रतिपादित करते हैं. अतएव [ख] अंशोंद्वारा सुदृढसर्वतोधिकस्नेहमूलक

एकत्र भगवान्में सर्वदृष्टिरूप सर्वात्मभावका उपदेश दृष्टिगोचर कैसे हो रहा है यह निर्धारित कर पाना सुकर हो जाता है. इसे भी पुनः भगवद्गीताके साथ संवादित करना हो तो —

"एवं सततयुक्ताः ये भक्ताः त्वां पर्युपासते ये चापि अक्षरम् अव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः? मयि आवेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ताः उपासते श्रद्धया परया उपेताः ते मे युक्ततमाः मताः. येतु अक्षरम् अनिर्देश्यम् अव्यक्तं पर्युपासते सर्वत्रगम् अचिन्त्यं च कूटस्थम् अचलं ध्रुवं... क्लेशो अधिकतरः तेषाम् अव्यक्तासक्तचेतसां... येतु सर्वाणि कर्माणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्तः उपासते तेषाम् अहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागराद् भवामि न चिरात्, पार्थ!, मयि आवेशितचेतसाम्. मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय निवसिष्यसि मय्येव अतः ऊर्ध्वं न संशयः."

(भग.गीता.१२।१-८).

ये वचन अनुसन्धेय बनते हैं. एतावता सिद्ध होता है कि ज्ञानमार्गीय सर्वात्मभाव सर्वत्र भगवद्दर्शन है तथा भक्तिमार्गीय सर्वात्मभाव प्राधान्येन एक भगवान्में सर्वदर्शन है. फिरभी क्योंकि भक्तिके घटक दो अंश माने गये हैं : [१]माहात्म्यज्ञान तथा [२]सुदृढसर्वतोधिकस्नेह. अतः पूर्वाङ्गभूत माहात्म्यज्ञानमूलक सर्वात्मभावकी दैन्याविर्भावार्थ यदा-कदा सञ्चारिभावतया न केवल उपयोगिता प्रत्युत रोचकता भी माननी ही पड़ती है.

अतः पुष्टिभक्तिमार्गीय सर्वात्मभावकी उभय साधन तथा फल दशाओंमें घटित होती क्रमिक सोपानपंक्तिको इस तरह दृष्टिगोचर किया जा सकता है :

(१)नामरूपकर्मात्मक वस्तुप्रपञ्चमें सर्वत्र शास्त्रजन्य

ब्रह्मात्मकताका परोक्षबोधरूप सर्वात्मभाव.

(२)ऐसे परोक्षबोधमूलक बोधके आधारपर सर्वत्र आत्मभाव रूढ़ हो पाये उससे पहले सर्वत्र आहार्य भगवद्भावनारूप सर्वात्मभाव.

(३)ऐसे आहार्य भगवद्भावनावश सर्वत्र भगवद्भावोचित व्यवहाररूप सर्वात्मभाव.

(४)सर्वत्र अपरोक्ष ब्रह्मात्मत्वनिश्चय अथवा सर्वत्र भगवद्भाव रूपी सर्वात्मभाव.

(५)सर्वोपेक्षापूर्वक एकत्र भगवान्में भूमा सुख होनेकी शास्त्रजन्य बुद्धिवाला सर्वात्मभाव.

(६)देहेन्द्रियादि-दारागारादि सर्वके समर्पणपूर्वक एकत्र भगवत्स्वरूपकी सेवामें स्वरूपलीलाभावभावनोपेत सर्वात्मभाव.

(७)सर्वविस्मृतिपूर्वक एकत्र स्वसेव्य भगवत्स्वरूपमें सभी इन्द्रियान्तःकरणादिकी ग्यारहों वृत्तियोंका निरोधरूप व्यसनावस्थापन्न सर्वात्मभाव.

(८)एक भगवत्स्वरूपकी विप्रयोगानुभूतिमें सर्वत्र आसक्तिभ्रमन्यायेन तदादेश अहंकारादेश और आत्मादेश की विविधता भरी अनुभूतियोंके साथ भगवत्स्वरूपभानरूप सर्वात्मभाव.

(९)भक्तके अन्तःस्थित स्वरूपका पुन बाह्य प्राकट्य और उसकी ग्यारहों वृत्तियोंसे अनुभूतिक्षमतारूप भक्तिमार्गीय जीवन्मुक्तिरूप अलौकिकसामर्थ्यरूप सर्वात्मभाव अथवा लौकिकदेहनिवृत्तिपूर्वक ब्राह्म देहेन्द्रियादिसे वैकुण्ठादि दिव्य लोकोंमें भगवत्सेवोपयोगिरूप सर्वात्मभाव.

इस तरह सर्वात्मभावोंकी विविधताको दृष्टिगत रखनेपर पुष्टिमार्गीय

साधनाप्रणालीके अङ्गभूत सत्संग प्रपत्ति श्रवणादिक्रियारूपा भक्ति सर्वसमर्पण भगवत्सेवा भगवत्कथा और इनके अनुकल्परूप भगवदीयपरिचर्या तीर्थयात्रा या मर्यादामार्गीय पूजापरायणता आदिमें स्वरूप एवं तारतम्य के निर्धारणमें सर्वविध भ्रान्तियोंको दूर किया जा सकता है. अस्तु!

इस तरह सर्वात्मभावके सन्दर्भमें भ्रमरगीतके प्रतिपाद्य भावोंकी विवेचनाके बाद अब सुखेन राजस प्रकरणके प्रमाण तथा प्रमेय रूपी उपप्रकरणोंके प्रकरणार्थ तथा अध्यायार्थ के अवगाहनार्थ प्रवृत्त हुवा जा सकता है.

राजसप्रकरणान्तर्गत प्रमाण-प्रमेयरूप उपप्रकरणोंकी मीमांसाका उपक्रम :

श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धका, महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरणके अनुसार, प्रमुख प्रतिपाद्य विषय भगवान्‌की निरोधरूपा विविध लीलायें हैं. ब्रह्ममीमांसार्थ प्रवृत्त महर्षि बादरायणद्वारा प्रकट किये गये ब्रह्मसूत्रोंमें मीमांस्य ब्रह्मके लक्षण तथा प्रमाण के रूपमें "**जन्माद्यस्य यतः शास्त्रयोनित्वात्**" (ब्र.स.१।१।२) सूत्रद्वारा उस मीमांस्य ब्रह्मको इस जगत्‌के उत्पत्ति-स्थिति-लयके शास्त्राभिमत हेतुके रूपमें निरूपित किया गया है. प्रस्तुत सूत्रके, किन्तु, अधिकरणांग विषयवाक्योंके अन्तर्गत "**यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत् प्रयन्ति अभिसंविशन्ति तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म**" (तैत्ति.उप.३।१) वचनके पर्यालोचन करनेपर केवल नाम-रूप-कर्मभेदेन प्रकट जड़जगत्‌के उत्पत्ति-स्थिति-लय ही नहीं अपितु सचेतन जीवजगत्‌के जनन जीवन प्रयाण तथा प्रवेशके हेतुतया भी ब्रह्मका निरूपण हम पाते हैं. साथ ही साथ सूत्रगत 'शास्त्रयोनि'पदके परामर्श करनेपर यह ब्रह्म भी केवल उपनिषत्प्रतिपाद्य हेतु न हो कर शास्त्रप्रतिपाद्य हेतुतया ही स्वीकारा गया है. श्रुति-सूत्रके बीच इस प्रयोगपार्थक्यमें दोनों शास्त्रोंके कुछ अपने-अपने विशिष्ट अभिप्राय प्रकट होते हैं.

औपनिषद ब्रह्म=भागवतके भगवान् :

सर्वप्रथम तो यह कि ब्रह्म सदंशभूत जड़जगत्‌की उत्पत्ति-स्थिति-लयका

उपादानरूप हेतु ही केवल नहीं अपितु चिदंशरूप जीवात्माओंके भी व्युच्चरणमें अपादानभूत अंशी भी है. उन उभय अंशोंमेंसे सूक्ष्म-स्थूल जड़देहोंमें चिदंशोंके संयोजनरूप संसरणात्मक जीवन तथा वियोजनरूप मृत्यु मुक्ति एवं प्रलय का कर्तृभूत हेतु भी वही ब्रह्म होता है.

ऐसा ब्रह्म यदि केवल उपनिषदेकप्रतिपाद्य होता तो सम्भवतः वह केवल मीमांस्य ही रह जाता. अथवा अधिकाधिक ज्ञातृज्ञेयात्मक ऐच्छिक द्वैतके स्वाभाविक अद्वैताधिष्ठानतया ज्ञेयमात्र बन पाता.

उसे, परन्तु, 'उपनिषद्योनि' न कह कर 'शास्त्रयोनि' कहना इस तथ्यका भी प्रमाण बन जाता है कि वह ब्रह्म उपनिषद्रूप श्रुतिओंद्वारा जैसे मीमांस्य या ज्ञेय है, वैसे ही भगवद्गीतादिरूप स्मृतिओंद्वारा आश्रयणीय या भजनीय भी है. उसी तरह भागवतादि पुराणोंद्वारा साधनरूपा नवधा भक्ति तथा फलरूपा प्रेमलक्षणा भक्तिद्वारा श्रवणीय कीर्तनीय स्मरणीय सेवनीय अर्चनीय वन्दनीय दास्यभावेन भावनीय सख्यभावेन भावनीय तथा परमात्मभावेन आत्मसमर्पणपूर्वक सेवनीय भी है ही. अतएव आत्मसमर्पणोत्थ प्रेमभावके उत्तरोत्तर प्रवर्धमान आसक्तिभाव व्यसनभाव और सर्वात्मभाव के क्रमसे अन्तमें सकलविषयोंकी विस्मृतिके साथ अनन्यभावेन सभी तरहकी चित्तवृत्तिओंका विषयीकरणीय भी वह बन जाता है.

भागवतदशमस्कन्धीय भगवल्लीला :

अतएव महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरणके अनुसार श्रीमद्भागवतके दशमस्कन्धका वर्ण्यविषय भगवान्की वैसी ही लीलायें हैं : जिन्हें सुनने, कीर्तन करने; तथा, स्मरण करने मात्रसे श्रीकृष्णभक्त प्रापञ्चिक सकल विषयों तथा कर्तव्यों को भूल कर अनन्यात्मना परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णमें भक्तिके प्रेम आसक्ति व्यसन और सर्वात्मभाव रूपी उत्तरोत्तर सोपानोंपर अग्रसर हो पाता है. क्योंकि ऐसे ही भक्तोंके बीच प्रकट

होनेवाले भगवान् श्रीकृष्णकी लीला दशम स्कन्धमें वर्णित हुयी है. इन्हें वर्णन करनेवाले महर्षि श्रीकृष्णद्वैपायन बादरायण व्यासका प्रयोजन भी, अतएव, भगवान्के अनवतारकालमें भी अवतारकालिक भगवदनुग्रहका लाभ भगवद्भक्तों तक पहुंचाना है. यही बात महाप्रभु कहते हैं "स्कन्धार्थस्तु निरोधो हि ततः तेन उपसंहृतिः अग्रेऽपि ये भविष्यन्ति कीर्तनात् तेऽपि तादृशाः" (त.दी.नि.३।१०।४६६).

एतदर्थ श्रीमद्भागवतके प्रथम तथा द्वितीय स्कन्धोंमें क्रमशः अधिकार तथा साधन के निरूपणके बाद तृतीयस्कन्धसे भगवल्लीलाके निरूपक शास्त्रका आरम्भ होता है. इनमें उपनिषदुक्त "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" वचनके लीलात्मक व्याख्यानतया तृतीय स्कन्धमें सर्वप्रथम भगवान्‌की [१]सर्गलीला और चतुर्थ स्कन्धमें [२]विसर्गलीला योजित हुयी हैं. इस तरह हम देख सकते हैं कि उपनिषदुक्त सृष्टिलीला भागवतमें सर्ग-विसर्गात्मना द्विगुणित हो कर गेय बनी है!

उपनिषदुक्त "येन जातानि जीवन्ति" वाक्यांशमें निरूपित स्थितिलीला भी भागवतमें ऐश्वर्यादि षड्गुणोपेत भगवान्‌की लीलाके रूपमें षड्गुणित हो कर पञ्चम स्कन्धसे दशम स्कन्ध पर्यन्त निरूपित हुयी है. जैसे कि पञ्चम स्कन्धमें [३]स्थानलीला, षष्ठमें [४]पोषणलीला, सप्तममें [५]ऊतिलीला, अष्टममें [६]मन्वन्तरलीला, नवममें [७]ईशानुकथालीला; अर्थात्, जीवात्मा और परमात्मा के बीच भक्त तथा भजनीय होनेके सम्बन्धवाली भक्तिरूपा लीलाओंका वर्णन किया गया है. अन्तमें दशम स्कन्धमें ऐसे भजनीय भगवान्‌का स्वयं भूतलके ऊपर प्रकट हो कर अपने भक्तोंके बीच निरुद्ध हो जाने और भक्तोंका अपने सांसारिक विषयों और कर्तव्यों को भूल कर भगवान्में निरुद्ध हो जाने की कथा वर्णित है. अर्थात् भक्त भगवान्में किस प्रकार अनन्यतया आसक्त हो जाते हैं ऐसी भगवल्लीलाओंका ही दशम स्कन्धमें वर्णन किया गया है :

"निरोधो अस्य अनुशयनं प्रपञ्चे क्रीडनं हरेः।

शक्तिभिः दुर्विभाव्याभिः कृष्णस्य इति हि लक्षणम्।।
भक्ताः पूर्वत्र निर्दिष्टाः ते रोद्धव्याः विमुक्तये।
कृष्णे निरुद्धकरणाद् भक्ताः मुक्ताः भवन्ति हि।।
भक्तेः च शुद्धतासिद्ध्यै प्रपञ्चाद् विनिवारणम्।
आसक्तिः आत्मनि तथा निरोधार्थं न संशयः।।
प्रपञ्चविस्मृतिः तस्मात् कृष्णासक्तिः च वर्ण्यते।।''
(त.दी.नि.३।१०।१४-१८)

जीवात्माका इस तरह परमात्मामें निरुद्ध हो जाना जीवन्मुक्तिसे भी अधिक स्पृहणीय भक्तिमार्गीय उपलब्धि भूतलपर मानी गयी है. अतएव उपनिषद्वर्णित ज्ञेयब्रह्मकी ''येन जातानि जीवन्ति'' की मीमांसाके उत्कृष्टतम जीवनरूपका ही श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धमें भगवल्लीलाओंके श्रवणीयतम कीर्तनीयतम या स्मरणीयतम स्वरूपमें व्याख्यान किया गया है.

तैत्तिरीयोपनिषद्के ''यत् प्रयन्ति अभिसंविशन्ति'' वचनके अनुरूप भागवतमें भी एकादश-द्वादश स्कन्ध योजित हुवे हैं. अर्थात् विदेहमुक्तिके अनुरूप सालोक्य सार्ष्टि सामीप्य सारूप्य सायुज्य या एकत्व मेंसे कोई मुक्ति भी भक्तोंकी होती ही है और वह श्रीमद्भागवतके ग्यारहवें स्कन्धका प्रतिपाद्य-विषय मानी गयी है.

इसी तरह बारहवें स्कन्धमें मुख्यतया भक्तिमार्गीय या ज्ञानमार्गीय अधिकारिताके अनुरूप मुक्त जीवात्माओंको सिद्ध होती ब्रह्मभावापत्तिका जैसे वर्णन है वैसे ही सृष्टिकी उपसंहारलीलामें संसृतिमार्गीय अधिकारिताके अनुरूप अमुख्यतया अमुक्त जीवात्माओंकी भी ब्रह्ममें उपसंहृतिका वर्णन किया गया है. यह 'अभिसंविशन्ति' वचनका ही लीलात्मक व्याख्यान है.

इस तरह सर्गादि दशविध लीलाओंके कर्ता परब्रह्म परमात्मा

भगवान् श्रीकृष्ण ही अपने विरुद्धधर्माश्रयी स्वरूप तथा दशविध लीलाओं के प्रभेदवश भागवतके एकमात्र प्रतिपाद्य विषय सिद्ध होते हैं, विविध जड़ जीव और ईश्वररूपी अवतारोंके रूपोंको धारण करनेवाले अवतारीके रूपमें.

एतदन्तर्गत दशमस्कन्धकी आद्य अध्यायचतुष्टयी सकलोपादान सकलांशी तथा सकलावतारावतारी श्रीकृष्णके भूतलपर प्राकट्यके वर्णनार्थ है.

इसके बाद पांचवे अध्यायसे आरम्भ कर सात-सात अध्यायोंवाले [१]प्रमाण [२]प्रमेय [३]साधन और [४]फल यों चार प्रकरणोंमें; अर्थात्, अट्ठाईस अध्यायोंमें तामस भक्तोंके बीच भगवान्‌द्वारा की गयी तामसलीला और उन लीलाओंके कारण उन तामसभक्तोंकी संसारको भूल कर भगवान्‌में अनन्यभावसे आसक्त हो जानेकी कथा वर्णित हुयी है. यही बात महाप्रभुने समझायी हैं : "**अतः तामसभक्तानाम् अष्टाविंशतिभिः क्रमाद् मानमेयैः साधनैः च फलैः चापि पृथक्पृथक्, भगवान् सप्तधा लीलां कुर्वन् उद्धारकः परः पुरुषोत्तमरूपेण यत् चकार तद् उच्यते**" (त.दी.नि.३।१०।४०-४१) वचनद्वारा. इनकी विशद विवेचना उन-उन प्रकरणोंकी भूमिकामें की जा चुकी है.

संक्षेपमें आरम्भके चार अध्याय जन्मप्रकरणके और अट्ठाईस अध्याय तामस प्रकरणके, साथ ही साथ बीचके तीन प्रक्षिप्त अध्याय, यों कुल मिला कर ३५ अध्यायोंके बाद अब ३६वें अध्यायसे ६३वें तक पुनः २८ अध्यायोंवाला तीसरा राजस प्रकरण प्रारम्भ होता है.

<u>दशमस्कन्धीय राजस प्रकरण</u> :

श्रीबालकृष्ण भट्टने अपने *प्रमेयरत्नार्णव* नामक ग्रन्थके फलप्रकरणमें तामस प्रकरणके वर्ण्यविषय तामसत्वका त्रैविध्य प्रतिपादित किया है. तदनुसार ही राजसत्वके भी तीन प्रकार ऊह कर लेने चाहियें :

(१)अविहितभक्तिरसके अनुभवार्थ साधनरूप या

व्यक्तिस्वभावरूप प्राकरणिक राजसत्व.

(२)मनोवस्थाविशेषरूप या धर्मविशेषरूप प्रासङ्गिक राजसत्व.

(३)बौद्धिकमति वचनोक्ति या बाह्यकृति में प्रकट होता भगवन्मायाकृत यादृच्छिक राजसत्व.

मूलमें साधारण राजसभावकी व्याख्या भागवतमें ''विकुर्वन् क्रियया च आधीः, अनिर्वृत्तिः च चेतसां, गात्रास्वास्थ्यं, मनोभ्रान्तं रजः एतैः निशामय'' (भाग.पुरा.११।२५।१७) अर्थात् जब अपनेद्वारा अनुष्ठित क्रियाओंद्वारा मानसिक असन्तोष या ताप बढ़ने लगे, चित्त अशान्त होने लगे, गात्र अस्वस्थ होने लगे और मानसिक भ्रान्तियां होने लगें तो इन्हें राजस विकारके लक्षणतया समझ लेना चाहिये.

यह अवस्था संसृतिशील जीवात्माओंकी जैसे हो सकती है, वैसे ही भगवान् जिनके बीचमें प्रकट हुवे हों ऐसे भक्तात्माओंमें भी दिखलायी देने लगे तो उन भक्तोंको राजस भक्त समझना चाहिये. ऐसे भक्तोंके भावोंको राजसभाव और तदनुरूप भगवल्लीलाओंका राजसलीलाके रूपमें अवधारण किया जाता है.

यहां [१]अविहितभक्तिरसके अनुभवार्थ साधनरूप या व्यक्तिस्वभावरूप प्राकरणिक राजसत्व सम्पूर्ण राजस प्रकरणमें मुख्यतया विवक्षित सभी भक्तोंके स्वभावका द्योतक पारिभाषिक राजसत्व होता है. जैसे पूर्वप्रकरणमें अविहितभक्तिरसके अनुभवार्थ तामस साधनरूप या व्यक्तिस्वभावरूप पारिभाषिक तामसत्वविशिष्ट भगवल्लीलाका निरूपण किया गया था.

द्वितीयतया [२]मनोवस्थाविशेषरूप या धर्मविशेषरूप राजसत्व पूर्ववर्णित तामसप्रकरणकी तरह या आगे वर्णित होनेवाले सात्त्विक प्रकरणकी भी तरह राजस प्रकरणमें भी प्रसङ्गोपात्त प्रकट होता होनेसे प्रासङ्गिक

राजसत्व माना जाता है. जैसे तामस भक्तोंके भी मनोभावोंकी विवेचनामें कहीं सात्त्विकतामसत्व, तो कहीं राजसतामसत्व, तो कहीं तामसतामसत्व निरूपित हुवे हैं, ऐसे ही राजस भक्तोंके भावोंकी विवेचनामें कहीं सात्त्विकराजसत्व, तो कहीं राजसराजसत्व, तो कहीं तामसराजसत्व भी निरूपित होने ही हैं.

ये दोनों ही प्रकारके राजसत्व भगवल्लीलान्तःपाती बन कर भगवल्लीलाकी राजस-सरसताको प्रकट करते हैं.

तृतीय राजसत्व [3]बुद्धिवृत्ति वचनोक्ति या बाह्यकृति में कभी-कभी प्रकट होता भगवन्मायाकृत राजसत्व है. यह प्रायः भगवल्लीलानुभूतिमें व्यवधान या विमुखता लानेको ही भगवदिच्छाके कारण प्रकट होता होनेसे यादृच्छिक राजसत्व माना जाता है.

यहां यह भी ज्ञातव्य है कि राजसप्रकरणीय भगवल्लीलाओंद्वारा पूर्ववर्णित तामस भक्तोंको भी राजस भक्तोंमें रूपान्तरित किया गया है. अतएव उनका तो तामस स्वरूपसे राजस स्वरूपमें परिवर्तन ही केवल निरूपित हुवा है. जो, परन्तु, स्वभावतः राजस भक्त हैं, उन्हें तो उनकी राजसताको निभाने देते हुवे ही भगवान्‌ने उनके प्रापञ्चिक विषयों और कर्तव्यों को भुलवा कर अपने स्वरूपमें अनन्यभावसे समासक्त कैसे बना लिया उस लीलाका इस राजसप्रकरणमें वर्णन होना है. वह भगवान्‌के जैसे स्वरूप और जैसी लीलाओंके कारण शक्य बना, उसका ही निरूपण राजस प्रकरणका प्रमुख वर्ण्यविषय है. अतएव महाप्रभुका कहते हैं कि "स्वभावस्य अन्यथाभावो नवै शक्यः कथञ्चन अतः त्रिविधजीवेषु त्रिविधा भगवत्कृतिः" (सुबो. कारि.१०।५।१।६) अतएव राजस भक्तोंके स्वरूप स्वभाव मनोभाव तथा व्यवहार के अनुरूप अपनी स्वरूपकी छटा तथा लीलाकी मनोहारिता जो भगवान्‌ने प्रकट की उन्हें 'राजसलीला' कहा जाता है.

अतएव इस राजसलीलाके सन्दर्भमें साकांक्ष 'निरोध' पदकी विभिन्न आकांक्षाओं और उनकी पूर्तिके प्रकारको भी समझ लेना यहां उपकारक होगा —

आकांक्षा	पूर्ति
१.किसका निरोध?	मथुरास्थित यादवादि भक्तोंका.
२.किसमें निरोध?	व्रजसे मथुरा पधारनेवाले भगवत्स्वरूप-भगवल्लीलाओंमें.
३.किस साधनसे निरोध?	अपनी राजस लीलाओंसे.
४.कहांसे निरोध?	प्रापञ्चिक विषय-कर्तव्योंसे.

एक और तथ्य यहां जो अविस्मरणीय है वह यह कि तामस प्रकरणवर्णित भक्तोंका राजस प्रकरणवर्णित लीलाके समय तामसत्व तो निवृत्त होता माना गया है परन्तु उनको सिद्ध हुयी भगवन्निरुद्धता अर्थात् प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वक भगवदासक्ति भी निवृत्त हो गयी होगी ऐसे नहीं मान लेना चाहिये. वह तो सर्वथा अक्षुण्ण ही रहती है.

पूर्वनिरूपित तामस प्रकरणकी तरह ही इस प्रकरणमें भी भगवान्के [१]ऐश्वर्य [२]वीर्य [३]यश [४]श्री [५]ज्ञान और [६]वैराग्य रूपी छह गुणधर्मों; तथा, सातवें स्वयं भगवान् [७]धर्मी यों सात-सात अध्यायोंवाले राजसप्रमाण, राजसप्रमेय राजससाधन और राजसफल रूपी चार अवान्तर प्रकरणोंके प्रभेदवश भगवल्लीला विवक्षित है. अतएव महाप्रभु अपने भागवतार्थनिबन्धमें कहते हैं "अतः परं राजसानां प्रक्रिया पूर्वसंख्यया अष्टाविंशतिभिः प्रोक्ताः तथा अध्यायैः चतुर्विधैः" (त.दी.नि.३।१०।११२-११३).

२८ अध्यायोंवाले इस तृतीय राजस प्रकरणमें मुख्य निरोध्य भक्त यादव हैं. इनके बीच भगवान्ने जैसी निरोधलीला और अपने जैसे निरोधकारी स्वरूप को प्रकट किया, वे दोनों ही भक्तस्वभावानुरोधी भगवान्का स्वरूप और भगवान्की लीला होनेके अर्थमें यहां भगवान्की

राजसलीला मानी जाती है. जब अपने मोहक स्वरूप और मोहिनी लीलाओंके द्वारा भगवान् अपने बारेमें प्रेम आसक्ति व्यसन तथा सर्वात्मभाव के विविध सोपानोंवाली भक्तिसे सभी यादवोंको भर देंगे तब राजस यादवोंका सात्त्विकीकरण सिद्ध हो जायेगा. इसे केवल यादवोंके राजसत्वकी ही नहीं अपितु पूर्वप्रक्रान्त व्रजभक्तोंके भी राजसत्वकी निवृत्ति तथा सात्त्विकभावापत्तिकी सिद्धि जान लेनी चाहिये. अतएव राजस भक्तोंके सात्त्विकीकरणकी तरह तामस भक्तोंके भी उपलक्षणतया इसे लेना चाहिये. बादमें सात्त्विक प्रकरणमें निरूप्य भक्तोंको जब निर्गुणभावसे भगवान् सम्पन्न करेंगे तब पूर्ववत् ही व्रजभक्त तथा यादवों को भी निर्गुणभावसे मण्डित कर उन्हें एकादशस्कन्धमें वर्णनीय मुक्ति प्रदान की जायेगी "**इतोऽपि चेद् हरिः गच्छेत् नीत्वा सर्वस्य तामसं राजसाः ते भविष्यन्ति गोकुलस्थाः न संशयः, उभये च ततस्तु अग्रे सात्त्विकाः निर्गुणाः ततः त्रयेऽपि सम्भविष्यन्ति मुक्तौ तेषां निरूपणम्**" (त.दी.नि.३।१०।१२६-१२७). और अन्तमें द्वादशस्कन्धमें वर्णनीय ब्रह्मभावापत्तिसे सभीको सम्पन्न बना कर स्वस्वरूपान्तःपाती बना लिया जायेगा.

यह नवमस्कन्धसे ले कर दशम एकादश और द्वादश स्कन्धोंका श्रीमदाचार्यचरणाभिप्रेत भगवल्लीलाका संपिण्डित प्रारूप है. इस पूर्वभूमिकाको भलीभांति बुद्धिगत कर लेनेपर प्रक्रान्त राजस प्रकरणके स्वरूपकी मीमांसार्थ अग्रसर हुवा जा सकता है.

राजस प्रमाणप्रकरण :

तामस प्रकरणमें भगवल्लीलाकी पृष्ठभूमितया चतुर्विध व्यूहोंके अन्तर्गत निर्गुण वासुदेवव्यूह तथा तामस संकर्षण व्यूहोंकी प्रधानता होनेपर भी अपनी लीलाकी पुरोभूमिपर तो भगवान्ने व्रजके गोपगोपिकाओंके भावोंके अनुरूप श्रीनन्दयशोदात्मज गोपाल होनेका तामस स्वरूप ही प्रमुखतया प्रकट दरसाया था. इस राजस प्रमाणप्रकरणमें किन्तु भगवान्ने राजसलीलार्थ परिगृहीत अपने देवकी-वसुदेवपुत्र होनेके राजस स्वरूपके परिज्ञापनार्थ

जिन-जिन लीलापरिकर जनोंको साधन बनाया उनके नाम भागवतार्थनिबन्धमें महाप्रभु इस तरह गिनाते हैं : [१]नारद [२]अक्रूर [३]श्रीनन्दराय [४]क्षत्ता [५]गोपिकायें [६]श्रीहरिव्यूह और [७]कुब्जा (द्रष्ट.त.दी.नि. ३।१०।११६-११७).

यहां हम देख सकते हैं कि व्रजस्थ श्रीकृष्ण देवकीपुत्र हैं ऐसी सूचना कंसको देनेवाले प्रथम प्रमाण [१]देवर्षि नारद बने हैं. इसीके कारण भगवान्के राजस स्वरूपका ज्ञान कंसको हुवा. इस राजस स्वरूपकी पहचान पाते ही कंसने, यह सूचना अक्रूरको देते हुवे, व्रजसे श्रीकृष्णको मथुरा लिवा लानेको उन्हें वहां भेजा. सो वहां जा कर [२]अक्रूर श्रीकृष्ण-बलरामको यह जतानेवाले द्वितीय प्रमाण बने. स्वयं भगवान्ने अक्रूरकी कही बात श्रीनन्दको बता दी. तदनुसार तृतीय प्रमाण बन कर [३]श्रीनन्दने अपने गोपपरिजनोंको यह बात बताई. साथ ही साथ अपने क्षत्ताद्वारा सारे व्रजस्थ गोपोंको भी यह सूचना भिजवा दी गयी. सो चतुर्थ प्रमाण [४]क्षत्ता बना. यद्यपि भागवतके "विदुरोद्धवसंवादः क्षत्तृमैत्रेययोः ततः" (भाग.पुरा.१२।१२।८) वचनमें विदुरका भी नामान्तर 'क्षत्ता' मिलता है. यहां किन्तु उनका कोई वर्णन न होनेसे उन्हें यहां 'क्षत्ता'नाम्ना विवक्षित नहीं माना लेना चाहिये. "'क्षत्ता' स्यात् सारथौ द्वाःस्थे क्षत्रियायां च शूद्रजे" (अम.को.३।५।२४६०) वचनके अनुसार यहां नन्दालयके प्रतीहारीको 'क्षत्ता' कहा जा रहा है. अतएव महाप्रभु भी "एवम् आघोषयत् क्षत्त्रा नन्दगोपः स्वगोकुले" (भाग.पुरा.१०।३६=३९।१२) की सुबोधिनीमें "'क्षत्त्रा'=अन्तःपुराध्यक्षेण" व्याख्या देते हैं. यद्यपि भगवान्के देवकीवसुदेवात्मज होनेकी घोषणा सारे व्रजमें नहीं करवायी गयी होगी. क्योंकि "आगामी कल सभी व्रजवासिओंको श्रीकृष्ण-बलरामके साथ मथुरा चलना है" केवल इतनी ही घोषणा करवायी गयी ऐसा उल्लेख मिलता है. तथापि इसमें गूढ़ संकेत तो रहे ही थे.

ये सारी बातें कानोंपर पड़नेपर व्रजकी [५]गोपिकाओंने भी एक-दूसरेको

बताना शुरु कर दिया, सो वे पांचवीं प्रमाण बनी. छठ्ठा प्रमाण स्वयं भगवान्के जिस [६]व्यूहरूपने कालिन्दीह्रदमें अक्रूरको दर्शन दिये वह बना. और सर्वान्तमें भगवान्के राजस स्वरूपकी सातवीं प्रमाण कंसकी दासी [७]कुब्जा बनी.

प्रमाणान्वेषणद्वारा भगवत्स्वरूप तथा भगवल्लीला का बोध मिलता होनेके कारण इन सातों ही अध्यायोंको मिला कर एक प्रमाणप्रकरण बनता है.

यहां एक अवश्यज्ञातव्य स्पष्टीकरण सुबोधिनीपर 'लेख'व्याख्यामें लेखकार यों देते हैं कि भगवान् श्रीकृष्णके पूर्ववर्णित चतुर्व्यूहविशिष्ट पुरुषोत्तमके स्वरूपके अन्तर्गत मुक्तिदायक वासुदेव व्यूह गुणातीत होता है. असुरसंहारक संकर्षण व्यूह तामस स्वरूप होता है. वंशवर्धक प्रद्युम्न व्यूह राजस स्वरूप होता है. तथा धर्मरक्षक अनिरुद्ध व्यूह सात्त्विक स्वरूप होता है.

इन चारों व्यूहोंसे विशिष्ट पुरुषोत्तमका स्वरूप तो प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वक स्वासक्तिसम्पादिका निरोधरूपा लीलाओंके कर्ता होनेका ही होता है. एतावता निरोधलीलांगभूत मुक्तिदान या असुरसंहार कार्य तो पुरुषोत्तमके व्यूहोंद्वारा ही सम्पन्न होते हैं. अतएव अग्रिम लीलामें राजकन्याओंसे विवाहद्वारा वंशवृद्धिरूप कार्य राजस कार्य होनेसे राजसप्रकरणकी लीलामें प्रद्युम्नव्यूहद्वारा सम्पन्न होता है.

इसके बाद अब राजस प्रमाणप्रकरणके अन्तर्गत प्रत्येक अध्यायोंमे प्रतिपाद्य विषयका अवगाहन कर लेना उचित होगा. यहां इस राजस प्रमाणप्रकरणमें प्रारम्भके छह अध्याय, जैसाकि दिखला ही चुके हैं तदनुसार, भगवान्के ऐश्वर्यादि छह गुणोंको प्रकट या गुणोंका ज्ञापन करनेवाली लीलाके निरूपक हैं; और, अन्तमें सातवां अध्याय स्वयं

धर्मिरूप भगवान्के स्वरूपको प्रकट या उनका ज्ञापन करनेवाली लीलाओंके निरूपणार्थ है. तदनुसार—

राजसप्रमाणप्रकरणीय प्रथमाध्याय :

[१]यहां प्रथमाध्याय, अर्थात् आदितः तेंतीसवें अध्याय, में भगवान्के ऐश्वर्य गुणका निरूपण है. भगवान्ने अरिष्टका जब वध कर दिया तो देवर्षि नारदने कंसको जा कर यह सूचित कर दिया कि देवकीवसुदेवपुत्र ही नन्दव्रजमें कंसके भेजे असुरोंके संहारक हैं. तब देवकीवसुदेवको मार देनेको इच्छुक होनेपर भी कंस उन्हें मार नहीं पाया. न केवल इतना प्रत्युत कंसके द्वारा विचारे गये सारे वधोपायोंको भी भगवान्ने अन्यथा ही सिद्ध कर दिया. यह भगवान्का अन्यथाकर्तुं सामर्थ्यरूप ऐश्वर्य है. यहां शंका हो सकती है कि स्वयं भक्त होनेपर भी देवर्षि नारदने भगवल्लीलामें परिकररूप भक्तोंको कष्ट पहोंचे ऐसा काम क्यों किया? समाधानतया महाप्रभु यहां भागवतार्थनिबन्धमें स्पष्ट करते हैं कि देवर्षि नारद तो जो बात देवगणोंसे भी छिपी हुयी थी सो देवगणोंकी सम्मतिके अनुसार अनुसार ऐसा कार्य कर रहे थे. अतएव देवगणोंकी सम्मतिके अनुसार भगवान्को समझाने भी व्रजमें आये क्योंकि प्रद्युम्नव्यूहद्वारा की जानेवाली लीलाके बारेमें देवगणोंकी अपेक्षा त्वरायुक्त हो गयी थी. पुरुषोत्तमरूपेण, परन्तु, की जानेवाली निरोधलीलाका भान तो देवगणोंको भी नहीं था. फलतः अपने भगवद्रहस्यको अपने अधिकारके अनुरूप जान पानेके कारण भक्तोंके लिये देवर्षि नारद भयवर्धक बन गये. परन्तु राजस प्रकरणके अनुरूप अन्ततः भयद्वारा भी राजस भक्तोंमें श्रीकृष्णके प्रति स्नेहभाव प्रकट करनेवाले बने "देवगुह्यस्य कर्ता हि नारदो देवसम्मतः...अधिकाराद् न अपराधो नारदस्य भविष्यति" (त.दी.नि.३।१०।१२८-१३२).

राजसप्रमाणप्रकरणीय द्वितीयाध्याय :

[२]द्वितीय, अर्थात् आदितः चोंतीसवे, अध्यायमें यहां केशी और

व्योमासुर के वधका निरूपण किया गया है. यह केशी व्रजभक्तोंकी राजसभावापत्तिमें हेतुरूप ज्ञानमें प्रतिबन्धरूपी था और अरिष्ट भक्तिमें प्रतिबन्धरूपी था. अतएव महाप्रभु कहते हैं "कंसादयो राजसाः हि बुद्ध्या कार्यस्य साधकाः, तामसं केशिनं तेन प्रेषयामास राजसो, मथुरायां तामसस्य वधो युक्तो नच क्वचिद्, अतो गोकुलम् आसाद्य सोऽपि नष्टो विमुक्तये, ज्ञानेतु बाधकः केशी... भक्तौ अरिष्टोऽपि, तौ उभौ गोकुले हतौ" (त.दी.नि.३।१०।१३३-१३६). इसी तरह भगवान्के स्वरूपपारोक्ष्यमें भी आन्तर अनुभूतिके भगवल्लीलाके सुखदायक कर्म निभनेमें व्योमासुर प्रतिबन्धरूप था. अतः इन तीनों असुरोंके वधके वृत्तान्तद्वारा भगवान्के वीर्य गुणका निरूपण यहां अभिप्रेत है. कंसको ऐसे समाचार देते रहनेके कारण देवर्षि नारदको अपराधसम्भावनाजन्य ग्लानि भी हुयी कि वे कहीं भगवान्के भक्तोंको कष्ट पहुंचानेमें तो कहीं इस तरह हेतु तो नहीं बन रहे हैं! ऐसी भीतिके निवारणार्थ उन्होंने भगवान्के सामने आ कर भगवान्की वीर्यगुणख्यापिका लीलाओंके वर्णनद्वारा स्तुति की.

राजसप्रमाणप्रकरणीय तृतीयाध्याय:

[३]तृतीय, अर्थात् आदितः पेंतीसवें, अध्यायमें यहां कर्म-ज्ञान-भक्तिके सारे आसुरी प्रतिबन्धोंकी निवृत्तिके बाद भगवन्माहात्म्यके अनुरूप कर्म-ज्ञान-भक्तिरूप त्रिविधमार्गोपयोगी मनोरथ अक्रूरके हृदयमें जग पाये और अक्रूर वैकुण्ठानुभूतिके योग्य बन गये, यों भगवान्के यशका वर्णन यहां अभिप्रेत माना गया है. यहां पूर्वसिद्ध ज्ञानके आधारपर की जाती भगवत्स्तुतिमें भगवद्यश प्रकट हुवा जानना चाहिये. आगे चल कर पांचवे अध्यायमें, जहां कालिन्दीहृदमें भगवान्के साक्षात् दर्शन कर जो स्तुति अक्रूरने की वह तात्कालिक बोध होनेसे, यशके बजाय भगवान्के ज्ञानरूप गुणका परिचायक माना जायेगा. यहां तो अक्रूरने भगवान्के यशका वर्णन ही स्तुतिमें किया है. ये सारी बातें महाप्रभु इन शब्दोंमें स्फुट करते हैं "ज्ञानभक्तिप्रसिद्ध्यर्थम् अक्रूरागमनं पुनः

गोकुले बाधको व्योमो लीलायां कर्मणि स्थितः परोक्षेऽपि हरेः सिद्ध्यै लीलायाः सोऽपि वै हतः... मार्गाः पुष्टाः भविष्यन्ति तेन राजसता स्थिता'' (त.दी.नि.३।१०।१३७-१३९).

<u>राजसप्रमाणप्रकरणीय चतुर्थाध्याय</u>:

[४]चतुर्थ, अर्थात् आदितः छत्तीसवें, अध्यायमें यहां भगवान्‌के मथुरा पधारनेको उद्यत होनेपर भगवान्‌के बिना रह न सकनेवाले व्रजभक्तोंके हृदयमें भगवान्‌का स्थिरतया बिराजमान हो जाना ही भगवान्‌की भक्तिमार्गीय श्री या शोभा है. इसी तरह अक्रूरको कालिन्दीह्रदमें वैकुण्ठके दर्शन भी भगवान्‌के श्रीगुणका ही निरूपण है. उल्लिखित तीन आसुरी भावोंके मूर्तिमान् रूप असुरोंके वधद्वारा कर्म ज्ञान और भक्ति तीनों ही मार्गोंके निष्कटंक हो जानेके कारण भगवान्‌को व्रजमें बिराजे रहना चाहिये था फिरभी श्रीशुकदेवजीने जो भगवान्‌के मथुराप्रयाणका वर्णन किया है वह व्रजकी गोपिकाओंके इतरासक्तिरहित केवल भगवदासक्तिमें राजसता जो प्रकट होने जा रही है कि बाह्यदृष्ट्या उन्हें भगवान् मथुरा पधारते से प्रतीत होते हैं तथा आन्तरदृष्ट्या सारी भगवल्लीला उनके इतनी हृदयारूढ़ है उन्हें विप्रयोग सता ही नहीं सकता फिरभी राजसभावानुरुप बाह्याभ्यन्तरके बीच चित्तकी दोलायमानता स्नेहरसका अन्यतम परिपाक है और श्रीशुक इसे निरूपित करना चाहते हैं. अतएव महाप्रभु कहते हैं **''मार्गत्रये ततः प्रोक्ता तस्य निष्ठा विशेषतः कृष्णमाहात्म्यविज्ञानं भक्तिमार्गोपयोगि हि, स्वरूपबोधो ज्ञानार्थः कामना कर्मणि स्थिता त्रिभिः त्रयोऽपि सन्तुष्टा नन्दरामौ तथा हरिः. हरेः निर्गमनं तस्माद् न युक्तमिति वै शुकः गोपिकावाक्यरीत्यैव भगवद्गमनं जगौ''** (त.दी.नि.३।१०।१४२-१४५).

<u>राजसप्रमाणप्रकरणीय पञ्चमाध्याय</u>:

[५]पंचम, अर्थात् आदितः सेतीसवें, अध्यायमें यहां भगवान्‌के ज्ञानरूप गुणका वर्णन अभिप्रेत है. क्योंकि सारा अध्याय भगवत्स्तुतिपरक है

तथा अक्रूरको तत्कालमें प्राप्त दर्शनके अनुसार उन्होंने स्तुति की है, पूर्वज्ञात माहात्म्यबोधके आधारपर नहीं. वैसे तो अक्रूर भगवान्के सम्बन्धमें पितृव्य लगते होनेपर भी उस सम्बन्धके अभिमानको छोड़ कर भगवान्की स्तुतिमें जो तत्पर हुवे एतावता यह उनमें प्रकटे भगवद्विषयक ज्ञानका ही प्रमाण है : "अक्रूरे त्रितयं जातं वैकुण्ठे स्थापनाय हि ब्रह्महृदे निमग्नस्य तथा दर्शनम् ईर्यते...माहात्म्यं ज्ञापितन्तु अर्थात् तेन स्तोत्रम् उदीरितं, संस्कारमात्रतः तस्मिन् स्नेहभक्तिः प्रतिष्ठिता" (त.दी.नि. ३।१०।१४६-१४८).

राजसप्रमाणप्रकरणीय षष्ठाध्याय :

[६]षष्ठ, अर्थात् आदितः अड़तीसवें, अध्यायमें यहां सबसे पहले अक्रूरके घर पधारना पसन्द न करके जो उदासीनता सी कुछ दिखलायी वह भगवान्के वैराग्य गुणकी ख्यापिका है. रंगरेज धोबीको उसके अनुचित कर्मके दण्ड देनेमें तथा दरजी और माली पर प्रसन्न हो कर याचित वर="अखिलात्मा भगवान्में अविचलभक्ति, भगवद्भक्तोंके बारेमें सौहार्द तथा सर्वप्राणिओंमें दयाभाव की सिद्धि"का वरदान देनेमें भगवान्का वैराग्य गुण प्रकट हुवा है.

राजसप्रमाणप्रकरणीय सप्तमाध्याय :

[७]सातवें, अर्थात् आदितः उचालीसवें, अध्यायमें यहां वर्णित सभी लीला यथा कुब्जाको रूपवती बनाना, स्थावर वस्तुरूप धनुषका भङ्ग, जङ्गमरूप धनूरक्षकोंका वध, भक्तोंके दुःखोंका निवारक निजमाहात्म्य प्रकटन ये सभी कुछ भगवान्ने धर्मिरूपेण की लीलायें है.

इस तरह अपने छह गुणधर्मों तथा स्वरूप से भगवान्ने अपना वसुदेवात्मज होना तथा परब्रह्म परमेश्वर होना यादवोंके बीच प्रथित किया एतावता इन सात अध्यायोंका प्रमाणप्रकरण होना उपपन्न होता है. इसके बाद राजस प्रमेयप्रकरणके सात अध्यायोंमें भगवान्ने अपना

राजस प्रमेयरूपद्वारा यादवोंके प्रेमभावको आसक्तिके भावमें उदात्तीकृत किया.

राजस प्रमेयप्रकरण :

इसके बाद राजस प्रमेयप्रकरण आरम्भ होता है. वसुदेवात्मजतया यादव होनेपर भी स्वयं परब्रह्म-परमेश्वर होनेके तथ्यको प्रमाणप्रकरणमें प्रमापित करनेके बाद इस प्रकरणमें भी भगवान्ने अपने ऐश्वर्यादि छह गुणधर्मोंके प्राधान्यसे तथा सातवें स्वयं धर्मिरूप होनेके रूपमें प्रमाणप्रकरणनिरूपित प्रेमको आसक्तिततया अपने प्रमेयरूपके बारेमें दृढ़तर बनाया. और उसी लीलाका वर्णन यहां प्रमेयप्रकरणमें अभिप्रेत है. अतएव महाप्रभु कहते हैं कि भगवान्के सप्तविध प्रमेयस्वरूपके अनुसार भगवान्के निरोध्य भक्त भी और निराकार्य विद्वेषी भी यहां सप्तविध ही निरूपित हुवे हैं "प्रमेयबलम् आसाद्य ततः सप्तभिः उच्यते आसक्तिः यादवानां च दुष्टानां च वधः तथा. प्रमेये सप्त भक्ताः हि तावन्तः चापि विद्विषः" (त.दी.नि.३।१०।१५६-१५७) . ये सप्तविध निरोध्य भक्त यों हैं : [१]देवकीवसुदेवादि यादव [२]विद्यागुरु सान्दीपनि [३]यशोदानन्दराय [४]गोपिका [५]कुब्जा [६]अक्रूर तथा [७]पाण्डव. इसी तरह भक्तोंकी भगवदासक्तिमें भयजनक हो कर प्रतिबन्ध करनेवाले निराकार्य भगवद्विद्वेषि भी सप्तविध ही हैं नामशः : [१]कुवलयापीड और उसका महावत [२]चाणूर [३]मुष्टिक [४]कूट [५]शल [६]तोशल तथा [७]कंस और उसके आठ अनुज.

इस प्रकरणमें निरूप्यमाण भगवान्के प्रमेयस्वरूपके बारेमें यह उल्लेखनीय है कि भगवान्के यहां प्रकट किये गये रूपके कारण जिनका मन भगवान्में समासक्त हो पाता है वे भक्त तो जीवन्मुक्तोपम हो जाते हैं परन्तु जो जीव भगवान्के इस स्वरूपके साथ द्वेषयुक्त हो जाते हैं वे द्वेषवशात् मृत्युद्वारा विदेहमुक्ति पा लेते हैं. कुल मिला कर भगवान्का सकल स्वरूप या रूप केवल मुक्तिदानार्थ ही प्रकट हुवा है, वह मुक्ति चाहे जीवन्मुक्ति हो या विदेहमुक्ति हो. जो भगवान्के

ऐसे रूपको देख कर भयभीत हो जाते हैं उनमें वह भीति भगवत्प्रीतिको पनपने नहीं देती सो उन्हें मरनेपर ही मुक्ति प्राप्त होती है.

इसके बाद अब राजस प्रमाणोंद्वारा प्रमितिविषयीभूत प्रमेयरूप भगवान्‌के बलके निरूपक होनेके कारण इस प्रमेयप्रकरणके अन्तर्गत आते प्रत्येक अध्यायोंमे प्रतिपाद्य विषयका अवगाहन कर लेना भी उचित होगा. यहां इस राजस प्रमेयप्रकरणमें प्रारम्भके छह अध्याय, जैसाकि दिखला ही चुके हैं तदनुसार, भगवान्‌के ऐश्वर्यादि छह गुणोंको प्रकट या गुणोंका ज्ञापन करनेवाली लीलाके निरूपक हैं; और, अन्तमें सातवां अध्याय स्वयं धर्मिरूप भगवान्‌के स्वरूपको प्रकट या उनका ज्ञापन करनेवाली लीलाओंके निरूपणार्थ है. तदनुसार —

राजसप्रमेयप्रकरणीय प्रथमाध्याय :

[१]प्रमेयप्रकरणके इस प्रथम अध्याय, अर्थात् आदितः चालीसवें अध्याय, में कुवलयापीड़के वधद्वारा भगवान्‌के ऐश्वर्यका निरूपण अभिप्रेत है. यह कुवलयापीड़ भक्तोंकी भगवान्‌में जो आसक्ति थी उसमें एक बाह्य भयरूप था. उसे मार दूर कर देनेपर, अर्थात् उसके गजदन्तको अपने आयुधकी तरह धारण विहरनेवाले भगवान्‌को देखते ही भगवान्‌के ऐश्वर्यका बोध हो जाता था. इसी तरह भगवद्दर्शनकर्ताओंके दशविध भावोंके अनुरूप भगवान्‌ने अपने दशविध स्वरूपके भी दर्शन कराये वह भी एक विलक्षण ऐश्वर्य यहां निरूपित हुवा है.

राजसप्रमेयप्रकरणीय द्वितीयाध्याय :

[२]द्वितीय, अर्थात् आदितः इकतालीसवें, अध्यायमें चाणूरादि तथा कंसादि के वधकी कथा है. यह भक्तोंकी भगवदासक्तिमें आन्तरिक भयको दूर करनेको भगवान्‌के वीर्यगुणके निरूपण करनेवाली कथा है.

राजसप्रमेयप्रकरणीय तृतीयाध्याय :

[३]तृतीय, अर्थात् आदितः बयालीसवें, अध्यायमें भगवान्‌ने अपने

माता-पिता देवकी-वससुदेवको कंसके कारागृहसे छुड़ा कर मथुराके राजसिंहासनपर पुनः अपने नाना उग्रसेनको स्थापित किया यह भगवान्के यशोरूप गुणका निरूपण है. इसी अध्यायमें कंसके भयसे मथुरासे दूर-दूर जा कर बस जानेवाले यादवोंको पुनः मथुरामें बुला कर बसाया तथा तथा नन्दादि गोपजनोंको व्रजमें लोट जानेको तथा वहां निर्भय हो कर बसनेको जो प्रेरित किया वह भी भगवान्के निर्भयकालके प्रवर्तक यशोरूप गुणके निरूपणार्थ ही है. इसी तरह कालकृत जरा-मृत्युबाधाके निवर्तनका निरूपण भी भगवद्यशोनिरूपणार्थ ही है.

राजसप्रमेयप्रकरणीय चतुर्थाध्याय :

[४]चतुर्थ, अर्थात् आदितः तियांलीसवें, अध्यायमें व्रजगोकुलके व्रजभक्तोंके विप्रयोगके निवारणार्थ भगवान्का उद्यमरत होना भगवान्की श्री=शोभाके निरूपणार्थ है. भगवद्विप्रयोगके कारण अपने प्रिय व्रजभक्तोंमें निराशाजनित आसक्तिप्रतिबन्धको दूर करनेके लिये अर्थात् उन्हें जीवनदायिनी सान्त्वना प्रदान करनेको उद्धवको व्रज जानेको प्रेरित करना तथा उद्धवकी भी वैसी ही शोभाका निरूपण, इसी तरह व्रजकी भी शोभाका निरूपण के कारण इस अध्यायमें भगवान्के श्रीगुणका वर्णन हुवा है.

राजसप्रमेयप्रकरणीय पञ्चमाध्याय :

[५]पांचवां, अर्थात् आदितः चवालीसवां, अध्याय भगवान्के विप्रयोगके निवारणार्थ भगवत्स्वरूपके ज्ञानोपदेशार्थ है. सो भगवान्के ज्ञानरूप गुणका निरूपण है. भगवान्के पुनः व्रज न लोट आनेके कारण व्रजभक्तोंको भगवान्में दोषबुद्धि पनपी है ऐसी उद्धवजीको प्रतीति हुयी तथा स्वयं व्रजभक्तोंमें मानादिके भाव जो उन्होंने देखे-सुने वे भगवान्के स्वरूपके ज्ञानोपदेशद्वारा उद्धवजीने दूर करने चाहे थे. ये सारे दोषारोपण तथा मानादिभाव भगवान्के बारेमें दोषबुद्धिमूलक न हो कर भक्तिभावमूलक थे ऐसा उद्धवजीको जो ज्ञान हुवा वह भी भगवान्के ज्ञानरूप गुणका कार्य है.

राजसप्रमेयप्रकरणीय षष्ठाध्याय :

[6]छट्ठे, अर्थात् आदितः पेंतालीसवें, अध्यायमें पुनः भगवान्का कुब्जा एवं अक्रूर आदिके गृहोंमें पधारनेका निरूपण हुवा है. यह भगवान्के भक्तके अलावा अन्यत्र विरक्तिके द्योतानार्थ होनेसे भगवान्के वैराग्यरूप गुणका निरूपण है. कुब्जाने भक्तिभाववशात् नहीं प्रत्युत कामभावसे विवश हो कर भगवान्को अपने घर आमन्त्रित किया था. उसे भगवान्ने न तो जीवन्मुक्तिरूपा भक्ति और न विदेहरूपा मुक्ति ही प्रदान की. कमसे कम तब तो नहीं अतः यह भगवान्के भक्तेतरजनोंमें वैराग्यके सूचनार्थ है "कुब्जातु राजसी नारी तथा अक्रूरः च यादवः उपलक्षणभावेन द्वौ एतौ विनिरूपितौ" (त.दी.नि.३।१०।१७९-१८०).

राजसप्रमेयप्रकरणीय सप्तमाध्याय :

[7]सातवें, अर्थात् आदितः छियालीसवें, अध्यायमें अक्रूरद्वारा धृतराष्ट्रको पाण्डवोंकी रक्षाके उपदेश दिलवाये जानेपर भी उसका इस विषयमें पुत्रासक्तिके अतिरेकवश सावधान न होना भगवान्को अभिप्रेत भूभारहरणरूप धर्मिकार्य है. वहां भी भगवान्के कुन्तीआदि सात्त्विक भक्तोंको अक्रूरद्वारा सान्त्वना दिलवाना भी भगवान्के धर्मिरूपमें की जानेवाली लीला है "कुन्ती च पाण्डवाः चैव सात्त्विकौ पूर्ववद् मतौ. धृतराष्ट्रकृते दुःखे तस्यापि स्यात्तु बोधनं, सतु सात्त्विकवर्यो हि पुत्रस्नेहात् तथा अकरोत्" (त.दी.नि.३।१०।१८०-१८१).

यहां पूर्वनिर्दिष्ट तामसप्रकरणोक्त व्रजभक्तोंको तो निरोध सिद्ध हो जानेसे केवल बाह्यानुसन्धान होनेपर ही विप्रयोगकी प्रतीति होती है अन्यथा आन्तरिक संयोगानुभूतिमें तो किसी प्रकारका प्रतिबन्ध उन्हें हो ही नहीं सकता था. अतः राजसप्रकरणोचित चांचल्यवशात् केवल बाह्यानुसन्धानवश विप्रयोग निरूपित हुवा है. और अतएव उनकेलिये प्रेषित भगवत्सन्देशमें भी आन्तरानुसन्धानका उपदेश ही उपलब्ध होता

है "यशोदा वाथ नन्दो वा गोपिका वा यदा-यदा कृष्णासक्तैकहृदया: तदा आविर्भावम् एति हि. बहिर्मुखदशायान्तु न पश्यन्तीति दुःखिता: अत: प्रबोधएव अत्र कर्तव्यो न ततो अधिक:" (त.दी.नि.३।१०।१६७-१६९). जहां तक राजसप्रकरणके भक्तोंका सवाल है तो प्रारम्भके तीन अध्यायोंमें तो उनकी भक्तिमें प्रतिबन्धक जो भय थे उनके निराकरणकी कथा है. माहात्म्यज्ञानसहित स्नेह जैसे भक्तिका रूप धारण कर लेता है वैसे ही भयरहित माहात्म्यज्ञान भी भक्तिके रूपमें खिल पाता है "तेन एवं सिद्धं माहात्म्यम् आसक्त: स्याद् भयादपि. एवं त्रिभि: इह अध्यायै: आसक्तौ साधनं जगौ. स्निग्धानां सान्त्वनाभावे प्रतिबन्धो भवेद् इह. अत: चतुर्भि: भूतानां त्रिविधानां च सान्त्वनम्" (त.दी.नि.३।१०।१६४-१६६). अत: अन्तिम चार अध्याय भक्तसान्त्वनाके निरूपणार्थ हैं. इनमें अन्तिम अध्याय कुन्ती-पाण्डवोंको सान्त्वना प्रदान करनेके निरूपणार्थ है. क्योंकि आगामी प्रकरणोंमें उन्हें प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वक अपने स्वरूपमें भगवान्को आसक्त बनाना है. मथुराके राजस भक्तोंके हृदयमें प्रमाणप्रकरणमें प्रेम प्रकट करके प्रस्तुत प्रमेयप्रकरणमें उसे आसक्तिके भाव तक विकसित करना अभीष्ट है परन्तु इन्हें प्रपञ्चविस्मृतिसहित भगवदासक्तिरूप निरोध अग्रिम राजस साधन-फलाध्यायोंका वर्ण्यविषय है.

मनसो वृत्तयो न: स्यु: कृष्णपादाम्बुजाश्रया:।
वाचोऽभिधायिनी: नाम्नां काय: तत्प्रह्वणादिषु॥
कर्मभि: भ्राम्यमाणानां यत्र क्वापीश्वरेच्छया।
मङ्गलाचरितै: दानै: रति: न: कृष्णईश्वरे॥
श्रीवल्लभमताभ्यासे कृपया येन दीक्षित:।
दीक्षितं तमहं नौमि श्रीतातचरणं सदा॥

चैत्रशुक्ला एकादशी
वि.सं.२०६०
मुंबई.

गोस्वामी श्याम मनोहर

॥ श्रीमद्भागवतदशमस्कन्धानुक्रमणिका ॥

(श्रीद्वारिकेशकृतटीकोपेता)

त्रयस्त्रिंशाध्यायम् अनुक्रामन्ति —

........................वृषार्दनम् ।
कंसनारदसंवादः कंसाक्रूरकथा ततः ॥१॥

वृषार्दनम् इति, वृषस्य **अर्दनं** नाशः सार्धपञ्चदशभिः. तत्र सार्धाभ्याम् अरिष्टागमनम्. सार्धेन अरिष्टबलवर्णनम्. सार्धेन व्रजौकसां भयम्. एकेन भगवता व्रजवास्याश्वासनपूर्वकम् अरिष्टाह्वानम्. एकेन अरिष्टाक्षेपः. पञ्चभिः अरिष्टेन समं भगवतः युद्धम्. एकेन अरिष्टमारणम्. एकेन म्रियमाणस्य वर्णनम्. एकेन भगवतः गोष्ठप्रवेशः. सार्धाभ्यां **कंसनारदसंवादः. कंसाक्रूरकथा ततः** त्रयोविंशतिभिः. तत्र द्वाभ्यां वसुदेवबन्धः. सप्तभिः केशिप्रेषणम्. एकादशभिः अक्रूराज्ञापना. द्वाभ्याम् अक्रूरविज्ञापनम्. एकेन कंसस्य गृहप्रवेशः. एवं चत्वारिंशत् श्लोकाः ॥

चतुस्त्रिंशाध्यायम् अनुक्राम्यन्ति —

केशिनो निधनं कृष्णाद् नारदर्षिकथा ततः ।
व्योमासुरवधो........................

कृष्णाद् हेतोः **केशिनो निधनं** मरणं नवभिः. **कृष्णः** आकर्षकः, सच **केशी** , केशेषु गृहीत्वा आक्रष्टुं सुगमः. अन्ये मारयित्वा त्यजन्ति भगवांस्तु मारयित्वा गृह्णाति. अतएव तदुदरे भुजप्रवेशः. नवभिः इयं कथा (नवगुणसङ्ख्या). तत्र द्वाभ्यां सबलस्य केशिनो व्रजे आगमनम्. एकेन भगवता केशी आहूतः. चतुर्भिः केशिभगवतोः युद्धम्. एकेन केशिमरणम्.

नारदर्षिकथा षोडशभिः कलासङ्ख्याकैः. पार्श्वतो गुणाः मध्ये षोडशकलः पूर्णश्चन्द्रः. **एकेन नारदागमनम्**. चतुर्दशभिः नारदवाक्यानि. तत्र पञ्चभिः कृतवर्णनम्. सप्तभिः करिष्यमाणवर्णनम्. द्वाभ्यां गतिनती. **व्योमवधः** नवभिः, व्योम्नो व्यापकत्वात् व्यापकत्वस्य ईश्वरधर्मत्वेन तत्समसङ्ख्याकैः पद्यैः तद्वधनिरूपणं, नवगुणातीतः ईश्वरइति. एवं चतुस्त्रिंशत् श्लोकाः ॥

पञ्चत्रिंशाध्यायम् अनुक्रामन्ति —

........अक्रूरागमनं गोकुलेषु च ॥२॥
दर्शनानन्दहृष्टात्मा रोमाञ्चो गद्गदा गिरः ।

द्वाभ्याम् अक्रूरगमनम्. विंशत्या अक्रूरमनोरथः. चतुर्भिः भगवदीयदेहप्राप्तिः. षड्भिः दर्शनम्. द्वाभ्यां भक्तिप्रपत्ती. पञ्चभिः भगवत्कृतं सन्मानम्. त्रिभिः नन्दकृतम्. एवं त्रिचत्वारिंशत्. **अक्रूरागमनं गोकुलेषु** इति बहुवचनन्तु सर्वेषां गोपानां गोकुलानि पृथक् पृथक् स्थितानि तत्र सर्वत्र भगवान् गोदोहनं कुरुते तत्र सर्वत्र अक्रूरगमनं भातम्. चकारेण सो अक्रूरो भगवत्पदं प्राप्तः. तस्मिन् देहे भगवता अमङ्गलनिवृत्त्यर्थम् अन्यो जीवः स्थापितः. अतएव मणिचौर्यादिकं सङ्गच्छते. (तथाच) "**अक्रूरोऽपि**" इति द्वाभ्याम् आगमनं, "**किं मयाचरितम्**" इत्यादिविंशत्या मनोरथः. प्रथमेन भगवन्माहात्म्यम्. द्वाभ्यां बाधकपरिहारः. "**कंसो बत**" इत्यनेन कंसप्रशंसा. "**यदर्चितम्**" इति सप्तभिः दर्शनप्र(?/आ!)शंसा. "**अथावरूढ**" इति अष्टभिः दर्शनान्तरमनोरथः. "**किंवाग्रज**" इति एकेन बलदेवविषयको मनोरथः. "**इति सञ्चिन्तयन्**" इत्यनेन गोकुलप्रवेशः. **दर्शनानन्देन हृष्टः आत्मा** चतुर्भिः "**ददर्श**" इति. षड्भिः दर्शनम्. "**रथात् तूर्णम् अवप्लुत्य**" इति द्वाभ्यां **रोमाञ्चो. गद्गदा गिरः**. "**भगवांस्तमभिप्रेत्य**" इति पञ्चभिः सन्माननम्. "**पप्रच्छ**" इति त्रिभिः नन्दकृतं वाचिकं सन्माननम्. एवं त्रिचत्वारिंशत् श्लोकाः ॥

षट्त्रिंशाध्यायम् अनूक्रामन्ति —

संवादो रामकृष्णाभ्यां वर्णितं कंसचेष्टितम्।।३।।
रामकृष्णप्रयाणं च तथा गोपीप्रलापनम्।
मथुरागमनं मध्ये ह्रदे कृष्णस्य दर्शनम्।।४।।

संवाद इति. "**सुखोपविष्टः**" इत्यादिनवभिः अक्रूरस्य **रामकृष्णाभ्यां संवादः**. तत्र त्रिभिः सुखेन स्थितिः. चतुर्भिः भगवत्कृतः प्रश्नः. द्वाभ्याम् अक्रूरेण **कंसचेष्टितं वर्णितम्**. "तच्छ्रुत्वा भगवान् कृष्णः" इत्यादि सार्धत्रिभिः **रामकृष्णप्रयाणम्**. चकारेण गोपानामपि सहयानम्. "**गोप्यस्तास्त-दुपश्रुत्य**" इत्यादिपञ्चविंशतिभिः **गोपीप्रलापनम्**. तत्र आद्यः षड्भिः कायिकः प्रलापः. "अहो **विधातस्तव न क्वचिद् दया**" इत्यादि द्वादशभिः वाचनिकः. तत्र त्रिभिः ब्रह्मोपालम्भः. चतुर्भिः भगवदुपालम्भः. "**नैतद्विधः**" इति एकेन अक्रूरोपालम्भः. "**अनार्द्रधीः**" इत्यनेन सर्वोपालम्भः. "**निवारयाम**" इत्यनेन बान्धवोपालम्भः. "**यस्यानुरागः**"इति द्वयेन स्वात्मोपालम्भः. "**एवं ब्रुवाणा**" इति एकेन मानसिकः. **मथुरागमनं** "**स्त्रीणामेव**" इत्यादि षड्भिः **मध्ये ह्रदे कृष्णस्य दर्शनं** "**भगवानपि सम्प्राप्तः**" इत्यादि विंशत्या. तत्र सप्तभिः "प्राप्तिश्च जलपानं च स्नानं च विधिपूर्वकं, जपतो दर्शनं भूयः स्पन्दने दर्शनं तयोः. विस्मयः सलिले भूयो रूपान्तरनिदर्शनम्, एकेन बलरूपस्य वर्णनं सप्तभिर्हरेः. द्वयेन भक्तसाहित्यं शक्तिसाहित्यमेकतो, भावोत्पत्तिस्तयैकेन गिरा गद्गदया स्तुतिः." एवं सप्तपञ्चाशत् श्लोकाः ।।

सप्तत्रिंशाध्यायम् अनूक्रामन्ति —

स्तुतिः....................

स्तुतिः इति, अक्रूरकृता भगवत्स्तुतिः. सा चतुर्धा सुबोधिन्याम् उक्ता "**स्वरूपेण प्रमाणेन युक्त्या वस्तुस्वरूपतो, अवतारफलैश्चैव सर्वस्यैव विनिर्णयः.**" इति. तत्र "**नतोऽस्म्यहम्**" इति द्वाभ्यां स्वरूपेण स्तुतिः, स्वरूपस्य मूलरूपावताररूपाभ्यां द्विविधत्वात्. "**नैते स्वरूपम्**" इत्यादिनवभिः प्रमाणेन, प्रमाणस्य ब्रह्म-योगि-साधु-वैतानिक-द्विज-ज्ञानि-संस्कृतात्म- शैवा-न्यदेवभक्त-तत्समुदायभेदेन नवविधत्वात्. "**तुभ्यं नमस्त**"इत्यादिचतुर्भिः युक्त्या

वस्तुस्वरूपतः स्तुतिः. अवतारफलैः स्तुतिः "यानि यानीह रूपाणि" इति पञ्चदशभिः. तत्रापि एकेन सामान्यतः सर्वावतारनिरूपणम्. षड्भिः दशावतारनिरूपणम्. "भगवन् सर्वलोकोऽयम्" इत्यनेन सर्वदुःखनिवेदनम्. "अहं च" इति चतुर्भिः स्वदुःखनिवेदनम्. "सोऽहं तव" इत्यनेन शरणागतिः. "नमो विज्ञानमात्राय" इति द्वाभ्यां नतिप्रार्थने. एवं त्रिंशत् श्लोकाः ॥

अष्टत्रिंशाध्यायम् अनूत्क्रामन्ति —

....पुरगतिः पश्चाद्दर्शनं पुरसम्पदः ।
रजकस्य शिरश्छेदो वायकस्य वरादयः ॥५॥
सुदाम्नो वरदानं च.............

पुर इति. आद्याः पञ्चश्लोकाः "स्तुवतस्तस्य भगवान् दर्शयित्वा जले वपुः" इत्यादयः पूर्वशेषाः. "इत्युक्त्वा चोदयामास" इत्यादिभिः त्रयोदशभिः, तत्र त्रयोदशमासीयलीलायाः कर्तव्यत्वात्. तत्र एवं विभागः — एकेन गमनम्. "मार्गे ग्रामजनाः" इत्यनेन सर्वेषां दर्शनम्. "तावद्..."इत्यनेन नन्दादिप्रतीक्षा. "तान्..." इत्यनेन नन्दकृष्णसमागमः. "भवान्..." इत्यनेन अक्रूरं प्रति गमनाज्ञा. "नाहं भवद्भ्याम्"इत्यादिषड्भिः ऐश्वर्यादिक्रमेण अक्रूरकृता भगवत्प्रार्थना. "आयास्ये..." इत्यनेन अक्रूरं प्रति गृहगमनाज्ञा. पश्चाद् इति "एवमुक्तो भगवता" इत्यनेन अक्रूरगमनान्तरम्. पुरसम्पद्दर्शनं त्रयोदशभिः. तत्र "अथापराह्णे" इत्यनेन गमनोद्यमः. चतुर्भिः धर्मार्थकाममोक्षबोधनैः "ददर्श ताम्" इत्यादिभिः दर्शनम्. "तां सम्प्रविष्टौ वसुदेव"इत्यादिपञ्चभिः स्त्रीसत्कारः. "दध्यक्षतैः..." इत्यादिद्वाभ्यां पौरकृतः कायिकवाचिकसत्कारः. रजकस्य शिरश्छेदो "रजकं कञ्चिद्" इत्यादि अष्टभिः. वायकस्य वरादयः आदिपदेन सारूप्य-बलैश्वर्य-स्मृतीन्द्रियाणि "ततस्तु वायक"इत्यादि त्रिभिः. सुदाम्नो वरदानं च दशभिः "ततः सुदाम्नः" इत्यादिभिः. तत्र अर्धेन एतद्गृहप्रवेशः. "तौ दृष्ट्वा"इत्यादि सार्धैः षड्भिः तस्य भक्त्यादिभिः. तत्रापि सार्धेन कायिकी पूजा. "प्राह नः सार्थकं जन्मः" इत्यादिभिः चतुर्भिः (वाचिकी?) का... "तावाज्ञापयताम्" इत्यनेन मानसी. "इत्यभिप्रेत्य" इत्यनेन मालापरिधापनम्.

“ताभिः स्वलङ्कृतौ” इत्यनेन भगवति शोभा. “सोऽपि...”इति द्वाभ्यां वरदानगती. एवं द्विपञ्चाशत् श्लोकाः ॥

एकोनचत्वारिंशाध्यायम् अनूत्क्रामन्ति —

..............कुब्जासंदर्शनं हरेः ।
धनुर्भङ्गः सैन्यवधः कंसदुर्हेतुदर्शनम् ॥६॥

कुब्जा इति द्वादशभिः “अथ व्रजन्” इत्यादिभिः. तत्र एकेन कुब्जासमागमः. “का त्वं वरोर्वा”इत्यनेन भगवत्प्रश्नः. “दास्यस्म्यहं सुन्दरवर्य” इति कुब्जोत्तरम्. “रूपपेशलमाधुर्य...” इति अनुलेपदानम्. “ततस्तावङ्ग...”इति अनुलेपाङ्गीकारः. “प्रसन्नो भगवान्” इति प्रसादः. “पद्भ्यामाक्रम्य प्रपदे” इति ऋजुकरणम्. “सा तदर्जुसमानाङ्गी”इति द्वाभ्याम् अनङ्गवृद्धिः. “एहि वीर गृहम्” इति भगवत्प्रार्थना. “एवं स्त्रिया”इति भगवद्वचनोद्यमः. “एष्यामि” इति भगवद्वचनम्. “विसृज्य माध्व्या वाण्या ताम्” इति वणिग्जनकृतपूजा. “तद्दर्शनस्मरक्षोभाद्” इति साधारणस्त्रीणाम् उपयोगः. धनुर्भङ्गः “ततः”इति पञ्चभिः. तत्र “ततः पौरान्” इति पञ्चभिः धनुर्भङ्गः. “अथ तान्” इति द्वाभ्यां सैन्यवधः. “तयोः” इति चतुर्भिः भगवच्चरित्रम्. “कंसस्तु धनुष”इति षड्भिः कंसदुर्हेतुदर्शनम्. “व्युष्टायां निशि” इत्यादिसप्तभिः रङ्गोत्सवः. एवम् अष्टात्रिंशत् श्लोकाः ॥

चत्वारिंशाध्यायम् अनूत्क्रामन्ति —

रङ्गोत्सवे कुवलयापीडयुद्धविघातनम् ॥
दर्शनं रामकृष्णस्य पौराणां प्रेमदर्शनम् ॥७॥

कुवलयापीड इति. कोः पृथिव्याः वलयं समुद्रम् आसमन्तात् पीडयति, तस्य युद्धे विघातनम् “अथ कृष्णश्च रामश्च” षोडशभिः. “अथ कृष्ण”इत्यनेन अनाहूतयोः रामकृष्णयोः रङ्गदर्शनार्थं प्रवृत्तिः “रङ्गद्वारं

समासाद्य'' इति त्रयोदशभिः, कालस्य त्रयोदशमासात्मकत्वात्. कुवलयापीडस्य कालान्तकयमोपमत्वात् तस्य जयस्य तावद्भिः निरूपणम्. तत्र एकेन गजदर्शनम्. ''बद्ध्वा परिकरम्'' इति वचनोद्यमः. ''अम्बष्ठ...''इति निर्भर्त्सनम्. ''एवं निर्भर्त्सितोऽम्बष्ठ'' इति दशभिः कुवलयापीडेन सह भगवतो युद्धम्. ''पतितं तम्'' इत्यनेन विघातनम्. दर्शनम्इति ''मृतकं द्विपमुत्सृज्य दन्तपाणिः समाविशद्''इति अर्धेन प्रवेशः. ''अंसन्यस्तविषाणः''इति पञ्चभिः दर्शनं रामसहितकृष्णस्य. तत्र द्वाभ्याम्...

मल्लानां निधनं रङ्गे कंसस्य सह बन्धुभिः ॥
(इति राजसप्रमाणप्रकरणम्)

(पाण्डुलिप्याम् इह पत्रद्वयात्मिका त्रुटिः)

पित्रोश्च सान्त्वनं सर्वसुहृदां परितोषणम् ॥
उग्रसेनाभिषेकश्च नन्दादिव्रजप्रेषणम् ॥८॥
ईषद्द्विजातिसंस्कारः पठनं च गुरोर्गृहे ॥
मृतपुत्रप्रदानं च गुरोः पञ्चजनार्दनम् ॥९॥
पुनरागमनं शौरेर् मधुपुर्यां महोत्सवः ॥

...नम्. एकेन शक्तिः. ''मयि भृत्य'' इति त्रिभिः उग्रसेनस्य राज्यदानम्. पितरि मृते पुत्रस्य राज्यं क्रमः, पुत्रे मृते पितुः राज्यं व्युत्क्रमः, इति ज्ञापयितुं श्रीभागवते पूर्वम् उक्तोऽपि उग्रसेनराज्याभिषेकः श्रीमदाचार्यचरणैः पश्चाद् अनूक्रान्तः. सर्वसुहृदां परितोषणं ''सर्वान् स्वज्ञातिसम्बन्धान्'' इत्यादिपञ्चभिः. नन्दादीनां व्रजे प्रेषणम् ''अथ नन्दम्''इत्यादिषड्भिः. तत्र कारिका:—''सम्भाषणार्थम् उद्योगः पूर्वस्थापनमेव च, निराकृतिश्च बाधानां प्रेषणाज्ञापना ततः. दानं च प्रीतिसंसिद्धौ गमनं चापि रूप्यते.'' ईषद्द्विजातिसंस्कारो ''अथ शूरसुत''इत्यादिपञ्चभिः — ''संस्कारो दक्षिणा-पूर्वस्मृतिमन्त्रोपदेशनं स्वरूपगोपनं लोकनाट्येनेति विनिश्चयः.'' गुरोः गृहे पठनं ''अथ गुरुकुले वासम्''इत्यादिषड्भिः — ''गुरौ वासो, गुरोः सेवा, गुरोः सन्तोषणं, हरौ वेदोपदेशः साङ्गः सोपनिषत्को रहस्यवान्, धनुर्वेदोपदेशश्च

धर्मन्यायोपदेशनम्. आन्वीक्षिकी राजनीतिरुपदिष्टे सकृद्धरिम्, चतुःषष्टि कलाशिक्षा तावद्भिर्दिवसैः हरेः. गुरुदक्षिणयाचार्यच्छन्दनं भगवत्कृतम्." चकारेण गुरुसेवा दोहनपात्रार्थं श्रीकप्रसारणं यष्ट्यानयनं च समुच्चीयते. यद्वा चकारेण गुरौ पूर्वसर्वगुणस्थापनं समुच्चीयते. मृतपुत्रप्रदानं च गुरोः "**द्विजस्तयोस्तं महिमानम्**" इति द्वादशभिः. तत्र एवं क्रमः — आद्येन गुरोः मृतपुत्रयाचना. "**तथेत्यथ**"इत्यनेन मृतपुत्रानयनार्थं प्रभासे गमनं हरेः, "**तमाह**"इत्यनेन समुद्रं प्रति गुरुपुत्रानयनाज्ञा. "**नैवाहार्षमहम्**"इति पद्येन गुरुपुत्रः शङ्खासुरेण हतः न मया इति समुद्रेण विज्ञप्तम्. "**तच्छ्रुत्वा**" इत्यनेन पञ्चजनार्दनम्. "ततः **संयमनीम्**" इति हरेः यमपुरगमनम्. "शङ्खनिर्ह्लादम्"इति यमेन सपर्या कृता. "**उवाचावनत**"इति यमकृता प्रार्थना. "**गुरुपुत्रमिहानीतम्**" इति भगवदाज्ञा यमं प्रति. "तथा" इति पद्येन गुरवे यमानीतपुत्रदानम्. "**सम्यक् सम्पादितः**" इति द्वाभ्यां गुरुणा हरौ आशीर्दानम्. "**गुरुणैवम्**" अनेन पुनरागमनम्. "**समनन्दन**" इति **मधुपुरीमहोत्सवः**. एवं सार्धपञ्चशत् श्लोकाः ॥

त्रिचत्वारिंशाध्यायार्थम् अनूत्क्रामन्ति —

उद्धवप्रेषणं............

उद्धवप्रेषणम् इति. तत्र एवं विभागः — "**वृष्णीनां प्रवर**" इत्यनेन उद्धवप्रशंसा. "**तमाह...**" इति भगवन्नियोगः. "**गच्छोद्धव...**" इति चतुर्भिः भगवद्वाक्यं **प्रमाणप्रमेयोपपत्तिबाधकभेदेन**. "**इत्युक्त उद्धव**"पद्येन उद्धवगमनम्. "**प्राप्तो नन्द**"इति उद्धवस्य गोकुलप्राप्तिः. "**वासितार्थे नियुद्ध्यद्भिः**" इति पञ्चभिः वीर्यादिभेदेन श्रीगोकुलवर्णनम्. "तमागतम्"इति द्वाभ्यां नन्दकृतम् उद्धवार्चन-भोजन-शयन-प्रश्नादिकम्. "**कच्चिद् अङ्ग**"इति पद्यैकादशेन नन्दोक्तिः. तत्र एकेन वसुदेवकुशलप्रश्नः. "**दिष्ट्या...**" इत्यनेन कंसवधानुवादः. "**अपि स्मरति**" इति पद्यनवकेन भगवद्गुणवर्णनम्. "**इति संस्मृत्य**" इति द्वाभ्यां नन्दयशोदाप्रेमवर्णनम्. "**तयोरित्थम्...**" अनेन उद्धववचनोद्योगः "**युवां श्लाघ्यतमौ**" इति त्रयोदशभिः. तत्र प्रथमेन नन्दयशोदयोः प्रशंसा. "**एतौ हि...**" इति द्वाभ्यां भगवतो महत्त्वम्.

तत्र एकेन स्वरूपोत्कर्षः. द्वितीयेन धर्मोत्कर्षः. "तस्मिन् भवन्तौ..." अनेन विषयसाधनाभिनन्दनम्. "आगमिष्यति..." इति खेदवारणं पद्यनवकेन. "एवं निशा..." इति षड्भिः गोपीभाववर्णनम्. तत्र आद्येन गोप्युत्कर्षः. "ता दीपदीप्तैः" इति कायिकी शोभा. "भगवत्युदिते..." इति त्रिभिः गोप्युद्धवसमागमो जिज्ञासाप्रकारेण. एवम् अष्टचत्वारिंशत् श्लोकाः ॥

चतुश्चत्वारिंशाध्यायम् अनूत्क्रामन्ति —

.......गोपीविलापपरिसान्त्वनम् ॥१०॥

गोपीविलाप इति एकविंशत्या. तत्र आद्यः त्रिभिः गोपीकृतः उद्धवनिर्धारः आकृति-निश्चय-चेष्टाभेदेन. स प्रथमो दोषः. द्वितीयदोषोक्तिः "जानीमः..." इति सप्तभिः. तत्रापि "जानीमः" इत्यनेन उद्धवस्य अन्यथागमननिरूपणम्. "अन्यथा गोव्रजे"इति पद्येन अन्यथागमनसमर्थनम्. "अन्येषु..." इति त्रिभिः दृष्टान्तदशकेन कृतघ्नतासमर्थनम्. तत्र "निस्स्वम्..."इति द्वाभ्यां दृष्टान्ताष्टकम्. "इति गोप्यः..." इति द्वाभ्यां देहादिस्मरणं भगवदासक्तिः च. इदमेव बीजम्. "काचिद्..."इति एकादशभिः भक्तिः. "अथोद्धव..." इत्याद्येकोनपञ्चाशता परिसान्त्वनम्. तत्र एकेन स्तोत्रप्रस्तावना. "अहो यूयं स्म" इति षड्भिः स्तोत्रम् ऐश्वर्यादिभेदेन. "भवतीनां वियोगो मे" इत्यादिदशभिः उपदेशः. तत्र षड्भिः स्वरूपकथनं, पुरुषार्थाः ततः परे. "एवं प्रियतमादिष्टम्"इति पञ्चदशभिः दोषनिवृत्त्या पूर्वस्नेहः. "चतुर्दशमहाविद्या एकस्तासामुपक्रमः, श्रीवृन्दावनचन्द्रस्य सिद्धाः तासु कलाः समाः". "ततस्ताः कृष्णसन्देशैः" इति चतुर्भिः भक्ति(ज्ञान?)रूपस्य सर्वपुरुषार्थरूपत्वात्. "पूजोपदेशो स्थानं च सुखो(?) दर्शनमेव च" "दृष्ट्वैमादि गोपी" इत्यादिसप्तभिः. तत्र "एताः परं तनुभृतः" इत्यादिषड्भिः स्तुतिः. अन्यस्य उपयोगाभावेच्छा च प्रार्थना. विशेषोत्कर्षनमने षडर्था क्रमशः स्थिताः. "अथ गोपी" इति षड्भिः द्वाभ्यां द्वाभ्यां त्रयोऽर्थाः. "उद्धवस्य रथे स्थानं नन्दादिप्रार्थनं ततः, प्रत्यापत्तिर्ह्युद्धवस्य षड्भिरर्थत्रयं ध्(धृ!?)तम्." एवं सप्ततिश्लोकाः ॥

पञ्चचत्वारिंशाध्यायार्थम् अनुक्रामन्ति —

कुब्जारतिस्तथाक्रूरप्रेषणं गजसाह्वये* ।।

कुब्जा इति. कुब्जायाः रतिः रमणम् "अथ विज्ञाय" इति एकादशभिः, एकादशेन्द्रियसाध्यत्वाद् भोगस्य. तत्र एवं विभागः —

श्रीकृष्णागमनं गेहे सार्धेन गृहवर्णनम् ।
दर्शनं पूजनं कृष्णस्योद्धवस्य सभाजनम् ।।
प्रसाधनं च कुब्जायाः रमणं हरिणा समम् ।
तापनाशो याचनं च चिरं रमणप्रार्थना ।।
प्रत्यापत्तिः वरं दत्वा कुब्जायाः निन्दनं शुकैः ।
रामोद्धवाभ्यामक्रूरभुवने गमनं हरेः ।
दृष्ट्वा मोदपरिष्वङ्गो नमनं पूजनं हरेः ।।
अलङ्कृतिः पादसेवा अक्रूरेण हरेः स्तुतिः ।
दशभिः स्तुतिरुक्ता हि प्रार्थनैकेन दोषनुत् ।।

तत्र —
भगवत्कृतकार्याणामभिनन्दनमेकतः ।
स्वरूपं भेदनिर्हारो दृष्टान्तेऽनेकवर्णनम् ।।

निवारणं च दोषाणां बन्धाभावो अवतारेऽपि अवतारप्रयोजनं विशेषः. कृष्णावतारे स्वगृहागमनस्तुतिः हरिप्रपत्तेः स्तवनं प्रार्थना मोहछेदस्य मोहोद्योगो हरेः स्वतः.

सप्तैव हरिवाक्यानि त्रिभिर्मोहानियोजनम् ।
त्रिभिरेकेन कर्तव्याऽऽज्ञापनं स्वगृहागतिः ।।
एवं षट्त्रिंशत् श्लोकाः ।।

---

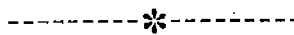
*'गजसाह्वयम्' हस्तिनापुरम् इति अर्थः, "जगाम गजसाह्वयम्" इति भारतवाक्यात्.

षट्चत्वारिंशाध्यायम् अनुक्रामन्ति —

पाण्डवेषु च वैषम्यं धृतराष्ट्रस्य बोधनम्।।११।।
इत्येवं दशमस्कन्धे पूर्वार्द्धविनिरूपितम्।।
।। इति राजसप्रमेयप्रकरणम्।।

पाण्डव इति. वैषम्यं पञ्चदशभिः. तत्र "षड्भिः कार्यं हरेर्दिष्टं नवभिः कुन्तिभावनम्, पृथार्तिसान्त्वने द्वाभ्यां दशभिः राजबोधनम्. एकेन कुन्तीसामीप्यं षड्भिः कुन्तीवचांसि हि, स्मृतिसम्भावना ह्याद्ये द्वितीये कृष्णरामयोः, तृतीये सान्त्वनं काङ्क्षा साक्षात्कारश्चतुर्थके, पञ्चमेऽन्यनिषेधो-क्तिः षष्ठे तु शरणागतिः. सप्तमे रोदनं कुन्त्या अष्टमे सान्त्वनं मुदा." "यास्यन्..." इति एकेन बोधनार्थम्. "भोः भोः" इति त्रिभिः पद्यै रजःसत्त्वतमोभिदा. धृतराष्ट्रस्य बोधनं पुनस्तथैव शास्त्रेण रजस्तामससत्त्वकैः, तृतीये धृतराष्ट्रस्य ततो वाक्यचतुष्टयं, प्रशंसा स्थित्यभावश्चाशक्यत्वं भगवन्नतिः. प्रत्यापत्तिर्निर्वेदश्च पूर्वार्धस्य समापनम्. इत्येवमिति.

इति श्रीमद्गोस्वामि-मथुरानाथात्मज-गोस्वामिश्रीद्वारिकेश्वरविरचिता
दशमपूर्वार्धानुक्रमणिकाव्याख्या



।। पुरुषोत्तमनामसहस्रे राजसप्रमाणप्रकरणगतानि नामानि ।।

अरिष्टमथनो दैत्यबुद्धिव्यामोहकारकः ।
केशीघाती नारदेष्टो व्योमासुरविनाशकः ।।१।।
अक्रूरभक्तिसंराद्धपादरेणुमहानिधिः ।
रथावरोहशुद्धात्मा गोपीमानसहारकः ।।२।।
ह्रदसन्दर्शिताशेषवैकुण्ठाक्रूरसंस्तुतः ।
मथुरागमनोत्साहो मथुराभाग्यभाजनम् ।।३।।
मथुरानगरीशोभादर्शनोत्सुकमानसः ।
दुष्टरञ्जकघाती च वायकार्चितविग्रहः ।।४।।
वस्त्रमालासुशोभाङ्गः कुब्जालेपनभूषितः ।
कुब्जासुरूपकर्ता च कुब्जारतिवरप्रदः ।।५।।
प्रसादरूपसन्तुष्ट-हरकोदण्डखण्डनः ।
शकलाहतकंसाप्त-धनूरक्षकसैनिकः ।।६।।
जाग्रत्स्वप्नभयव्याप्त-मृत्युलक्षणबोधकः ।
मथुरामल्ल ओजस्वी मल्लयुद्धविशारदः ।।७।।

।। पुरुषोत्तमनामसहस्रे राजसप्रमेयप्रकरणगतानि नामानि ।।

सद्यः कुवलयापीडघाती चाणूरमर्दनः ।
लीलाहतमहामल्लः शलतोशलघातकः ।।
कंसान्तको जितामित्रो वसुदेवविमोचकः ।।१।।
ज्ञाततत्त्वपितृज्ञानमोहनामृतवाङ्मयः ।
उग्रसेनप्रतिष्ठाता यादवाधिविनाशकः ।।२।।
नन्दादिसान्त्वनकरो ब्रह्मचर्यव्रते स्थितः ।
गुरुशुश्रूषणपरो विद्यापारमितेश्वरः ।।३।।
सान्दीपनिमृतापत्यदाता कालान्तकादिजित् ।
गोकुलाश्वासनपरो यशोदानन्दपोषकः ।।४।।
गोपिकाविरहव्याज-मनोगतिरतिप्रदः ।
समोद्धवभ्रमरवाग् गोपिकामोहनाशकः ।।५।।
कुब्जारतिप्रदोऽक्रूरपवित्रीकृतभूगृहः ।
पृथादुःखप्रणेता च पाण्डवानां सुखप्रदः ।।६।।

॥ त्रिविधनामावल्याम् राजसप्रमाणप्रकरणगतानि नामानि ॥

वृषभासुरविध्वंसिने नमः[१] नारदादिबोधिताक्लिष्टकर्मणे नमः[२] दुष्टदुर्बुद्धिनाशहेतवे नमः[३] शिष्टज्ञानदीपकाय नमः[४] केश्यादिमहादुष्टनिबर्हणाय नमः[५] नारदादिवन्दितचरणाय नमः[६] व्योमादिदुष्टपीडितगोपगोपीरक्षकाय नमः[७] सद्भक्तिहेतवे नमः[८] अक्रूरादिभक्तमनोरथपरिपूरकाय नमः[९] नन्दादिगोपमथुरागमनोत्सवहेतवे नमः[१०] भक्तदुःखमूलोच्छेदकाय नमः[११] गोपिकामनःकार्पण्यशीलहेतवे नमः[१२] गोपिकाविरहनाशकवाक्यपुञ्जाय नमः[१३] भक्तसंशयछेदकाय नमः[१४] व्यापिवैकुण्ठवासिने नमः[१५] अक्रूरादिभक्तस्तुतानन्तगुणाय नमः[१६] सत्यप्रतिज्ञाय नमः[१७] स्वगुणप्रतिबोधकाय नमः[१८] मथुरादर्शनोत्सुकाय नमः[१९] स्वाधारवैकुण्ठस्थापकाय नमः[२०] पौरपुरन्ध्रीपुण्यजनकाय नमः[२१] रजकादिदुष्टनाशकाय नमः[२२] वस्त्राद्यनेकाकल्पभूषितरूपाय नमः[२३] वायकसुदामभक्तालङ्कृताय नमः[२४] अत्युदाराय नमः[२५] कुब्जानुलेपालङ्कृताय नमः[२६] कुब्जादिभक्तसहजदोषदूरीकरणाय नमः[२७] स्वलीलौपयिकरूपाभिव्यञ्जकाय नमः[२८] मथुरामहोत्सवाय नमः[२९] दैत्यधर्मनिवारकाय नमः[३०] धनुर्भङ्गबोधितकालाय नमः[३१] अतिसामर्थ्यबोधिताक्लिष्टकर्मचरित्राय नमः[३२] मृत्युधर्मबोधकाय नमः[३३]

॥ त्रिविधनामावल्याम् राजसप्रमेयप्रकरणगतानि नामानि ॥

कुवलयापीडघातकाय नमः[१] गजदन्तवरायुधाय नमः[२] निखिलजनमनोनयनाह्लादकाय नमः[३] सर्वरसाविर्भावकाय नमः[४] निखिलकामिनीप्रेमावलोकिताय नमः[५] चाणूरादिमहामल्लदैत्यगर्वनिबर्हणाय नमः[६] कंसघातकाय नमः[७] वसुदेवदेवकीदुःखनिवारकाय नमः[८] यदुकुलनलिनीविकाशकाय नमः[९] कालदुःखनिवारकाय नमः[१०] प्रदर्शितसदाचाराय नमः[११] सान्दीपनिमृतापत्यदात्रे नमः[१२] नन्दादिज्ञानबोधकाय नमः[१३] यशोदास्नेहरक्षकाय नमः[१४] गोपिकादिलौकिकभावदोषदूरीकरणाय नमः[१५] उद्धवादिमध्यमभावबोधकाय नमः[१६] स्वनिष्ठमनोदोषनाशकाय नमः[१७] कुब्जादिमनोरथपूरकाय नमः[१८] अक्रूरादिभक्तसन्मानहेतवे नमः[१९] भक्तहितचिन्तकाय नमः[२०] पाण्डवस्थापकाय नमः[२१] कुन्तीप्रीतिहेतवे नमः[२२] प्रौढलीलावबोधकाय नमः[२३] भक्तपक्षबोधकाय नमः[२४] धृतराष्ट्रज्ञानबोधकाय नमः[२५] इच्छावादस्थापकाय नमः[२६] मायाप्रवर्तकाय नमः[२७] सर्वाभिवन्दितचरणाय नमः[२८]

अतः परं राजसानां प्रक्रिया पूर्वसङ्ख्यया॥११२॥
अष्टाविंशतिभिः प्रोक्तास्तथाऽध्यायैश्चतुर्विधैः।
यादवा राजसाः प्रोक्तास्तेषां पूर्वस्थितस्य हि॥११३॥
त्याजनं सर्वथा कार्यं देशादेः षड्विधस्य च।
तत्राऽऽदौ दुःखकर्तारो मारणीया गुणैरिह॥११४॥
ततः कालविमुक्तिर्हि देशद्रव्यैस्ततोऽपि हि।
ख्यात्या पूर्वाणि नामानि कर्माण्यपि पुरा यथा॥११५॥
त्याजितानि समस्तानां तथा ख्यातिं ददौ हरिः।
प्रमाणं नारदः प्रोक्तस्तथाऽक्रूरो द्वितीयकः॥११६॥
नन्दस्तृतीयः क्षत्ता तु चतुर्थो गोपिकास्तथा।

श्रीपुरुषोत्तमानां निबन्धयोजना

अतः परं सार्धद्विनवत्यधिकशतेन राजसप्रकरणं पूर्ववदेव चतुःप्रकरण्या विचारयन्ति **अतः परमित्यादि. पूर्वसङ्ख्यया** इति सप्तसङ्ख्यया. तत्र के राजसाः कथं तेषामुद्धरणमित्यपेक्षायां तत्प्रकारमाहुस्त्रिभिः **यादवा इत्यादि. सर्वथा कार्यमिति**, रजसो विक्षेपकत्वेन तन्निवृत्तये तथा कार्यम्. सप्ताध्याय्याः प्रयोजनमाहुः **तत्रेत्यादि. दुःखकर्तारो**ऽरिष्टाद्यास्तदर्थं षट्. ततस्तदनन्तरं **कालविमुक्तिर्हि** निश्चयेन **देशद्रव्यैः** देशो द्वारकादिः द्रव्याणि अनुलेपनादीनि तैः. **ततोऽपि** धर्मिणापि. अत्र गमकमाहुः **हि** यतो हेतोः **ख्यात्या** लोकप्रसिद्ध्या तथा तेनैव ज्ञायत इत्यर्थः ॥११२-११५॥

अध्यायचातुर्विध्यं स्फुटीकर्तुं प्राथमिकानां सप्तानां प्रमाणप्रकरणत्वाय पूर्ववत् प्रमातॄन् वदन्तः प्रकरणसमाख्यां तत्कृतनिरोधं च विशदीकुर्वन्ति **प्रमाणमित्यादिसार्धाभ्याम्.**

प्रथमे नारदः कंसस्य भगवति देवकीपुत्रत्वप्रमितिमुत्पादितवान्. द्वितीयोऽक्रूरः श्रीनन्दे वसुदेवसुतत्वं ज्ञापितवान्. यद्यप्यत्र न प्रत्यध्यायं प्रमाणकथा तथापि द्वितीये नारदस्य तृतीयेऽक्रूरस्य प्रसङ्गो वर्तत इति तद्द्वारा प्रकरणे निवेशस्तयोः. श्रीनन्दः क्षत्ता च व्रजे, गोपिकाः स्वयूथे, **हर्याविष्टो हरिः** व्यूहरूपोऽक्रूरे, (यादवेषु ज्ञातित्वादिसम्बन्धबोधनेन स्वस्मिन् वसुदेवपुत्रत्वं) पुरुषोत्तमत्वं ख्यापितवान्. कुब्जा च मथुरास्त्रीषु. एवमेतेष्वध्यायेषु

हर्याविष्टो हरिश्चैव कुब्जा चाऽत्र मताः पुरा ॥११७॥
एते प्रमाणभूता हि राजसे सगुणो हरिः।
एतैः सिद्धो राजसानां स्नेहः सर्वोत्तमः स्थितः ॥११८॥
नारदो देवगुह्यस्य कर्ता भयविवर्धनः।
येन स्नेहः समुत्पन्नस्तथाक्रूरस्तु पोषकः ॥११९॥
सन्देहजननाच्चित्तं कृष्णार्थं तरलं यतः।
स्नेहे द्वितीयमेतद्धि पर्व लोकेऽपि बुध्यताम् ॥१२०॥
नन्दस्तु पूर्वभावस्य निन्दां चक्रे विनिश्चिताम्।
तेन मिश्रपरित्यागान्निर्दोषस्य भविष्यति ॥१२१॥
उत्कण्ठा परमा क्षत्रा गोपिकाभिश्च जायते।
पुरुषाणां तथा स्त्रीणामाविष्टेनाभयं महत् ॥१२२॥

श्रीपुरुषोत्तमानां निबन्धयोजना

प्रमातृसम्बन्धेन तत्तत्प्रेमोत्पत्तेे राजसे प्रकरणे एते प्रमाणभूताः. हि यतो हेतोः सगुणो हरिः वासुदेवस्तैः प्रकर्षेण सिद्धोऽतः सगुणहरिप्रमाजनकत्वात् प्रमाणप्रकरणेति समाख्या. यतश्च राजसानां यादवानां सर्वोत्तमः स्नेहो निर्णीत इति प्रकरणस्य निरोधोपयोगित्वमित्यर्थः ॥११६-११८॥

नन्वेतेन कथं स्नेहनिर्णय इत्यतस्तत्प्रकारमाहुः **नारद** इत्यादि सार्धैः षड्भिः. येनेति भयवर्धनेन. "माभूद् भयं भोजपतेर्मुमूर्षोरि"ति ब्रह्मवाक्यविस्मरणात् मातापित्रोः स्नेहः सम्यग्भयजनकतयोत्पन्नः. तथाच नारदस्य तथोत्पादकतया स्नेहनिर्णायकत्वम्. एवमक्रूरस्यापि "सिद्ध्यसिद्ध्योः समं कुर्याद्"इति कंसावद्यमार्जने सन्देहोत्पादनादिह भगवदागमे भविष्यतीति चित्तं तयोस्तरलमभूदिति तदपि तथा. एतस्य तथात्वे लोकप्रसिद्धिं प्रमाणयन्ति स्नेह इत्यादि ॥११९-१२०॥

ननु श्रीनन्दवाक्यस्य कथं स्नेहोपयोग इत्यत आहुः **नन्दस्त्वित्यादि. तेनेत्यादि,** श्रीनन्दवाक्यतः कंसीयस्वभावनिश्चयेन **मिश्रपरित्यागात्** कंसाश्रयमिश्रस्नेहपरित्यागात् **निर्दोषस्य** कंससम्बन्धरहितस्याक्रूरस्य चित्तं मथुरागमनोत्तरं **तरलं भविष्यतीति** "नाहं भवद्भ्यां रहित"इत्यादिभिस्तद्वाक्यैरवसीयत इति तस्यापि दूरतस्तन्निर्णायकत्वम्. **पुरुषाणां तथा स्त्रीणामिति** गोकुलस्थानामिति शेषः. एतेषां तामसत्वपरित्यागे राजसत्वमग्रे वक्तव्यमतो न प्रकरणविरोधः. **आविष्टेन भयं महदित्यादि.** व्यूहात्मकेन त्यागभयं कथं

ततः सन्देहगमनात् स्थिरः स्नेहो भविष्यति।
कृष्णेन पुरुषैर्योगः स्नेहवृद्धिः प्रदायकः ॥१२३॥
तथैव कुब्जया स्त्रीणामेवं स्नेहो निरूपितः।
प्रमाणबलमासाद्य तथाऽऽसक्तिः प्रमेयके॥१२४॥
अरिष्टो राजसानां हि गोकुले निधनं गतः।
वासनालेशमात्रेण तत्र स्थास्यति सर्वदा॥१२५॥
इतोऽपि चेद् हरिर्गच्छेन्नीत्वा सर्वस्य तामसम्।
राजसास्ते भविष्यन्ति गोकुलस्था न संशयः॥१२६॥
उभये च ततस्त्वग्रे सात्विका निर्गुणास्ततः।
त्रयोऽपि सम्भविष्यन्ति मुक्तौ तेषां निरूपणम्॥१२७॥

श्रीपुरुषोत्तमानां निबन्धयोजना

पुनर्नः प्रतियास्यत इति वाक्योक्तं महदुत्पादितम्. तत उत्तरं कालं प्राप्य श्रीमदुद्धवानीतसन्देशैः त्यागसन्देहगमनात् स्थिरः स्नेहो भविष्यतीत्याविष्टस्यापि दूरतस्तन्निर्णायकत्वम्. (यद्वा वसुदेवादिषु स्वनिमित्तस्य कंसाद् दुःखस्य कथनेन स्वस्मिन्नसामर्थ्यं बोधयित्वा असमर्थं स्वशत्रुं कंसः कथं न मारयिष्यतीत्याकारकं महद्भयमक्रूरे व्यूहात्मकेनोत्पादितम्. तदनन्तरं ब्रह्महृदे वैकुण्ठे दर्शिते स्वस्मिन् पुरुषोत्तमत्वे ज्ञापिते पूर्वसन्देहगमनात् स्थिरः स्नेहो भविष्यति. अतएवाग्रेऽक्रूरस्य माहात्म्यज्ञान-स्नेहोभयख्यापकानि "नाहं भवद्भ्यां रहित" इत्यादीनि वाक्यानि.) पुरुषैरिति वायकसुदामादिभिः ॥१२१-१२३॥

एवं चापूर्वसम्बन्धभाजां भगवति स्नेहः पूर्वसम्बद्धानां त्वासक्तिरिति द्वयीविधा प्रमाणप्रकरणे निरूपितेत्याहुः प्रमाणेत्यादि. ननु राजसेषु निरोद्धव्येषु तद्दुःखदातॄणां हननं तद्देश एव कर्तव्यम्, न तु व्रजे, तस्य तामसनिरोधस्थानत्वात्. अत्र वधे च व्रजस्थानामेव दुःखनिवृत्त्या तदन्तं पूर्वप्रकरणं वक्तव्यम्, तत अक्रूरोऽपि च "तां रात्रिमि"ति पञ्चत्रिंशाध्यायमारभ्य राजसप्रकरणं युक्तमित्याकाङ्क्षायामाहुः अरिष्ट इत्यादित्रयम्. राजसानामिति प्रलम्बबकेत्यत्र यादवकदनकर्तृषु गणितत्वाद् राजसानां दुःखकर्तेति शेषः. हिर्हेतौ. तामसमिति अवज्ञादिजनकं मौढ्यम्. तथा च यत एवमतो हेतोः गोकुलस्था राजसा भविष्यन्तीति ज्ञापनाय तस्यात्र वधः. पूर्वभावत्यागप्रयोजनं मुक्तिलीलाप्रवेशः. तज्ज्ञापिका च तत्र द्वादशेऽध्याये "अथैतत्परमं गुह्यमि"त्यादिना तेषां त्रयाणामपि निरूपणम्. अतो न प्रकरणविरोधादिदोष इत्यर्थः. ननु नारदस्य भगवद्भक्तत्वाद्

देवगुह्यस्य कर्ता हि नारदो देवसम्मतः।
भगवत्सम्मतिस्त्वत्र नास्तीत्येवेति मे मतिः ॥१२८॥
यतः प्रबोधयत्येनं प्रद्युम्नत्वान्न दुष्यति।
पूर्वं भावस्तु न ज्ञातः स्वाधिकारस्तु मध्यमः ॥१२९॥
पूर्वक्रुद्धा देववाणी पुत्रत्वाय यतो हरिः।
प्रार्थितो वसुदेवाभ्यां ततो गमनयाञ्चया ॥१३०॥
अध्यात्मा नारदः क्रुद्ध उभाभ्यां बन्धनं तयोः।
मायया प्रथमे मुक्तिः कृष्णेनाग्रे भविष्यति ॥१३१॥
मायावशात् तदा याञ्चा कृष्णार्थं गमनं मतम्।

श्रीपुरुषोत्तमानां निबन्धयोजना

भक्तभयवर्धकत्वं न युज्यत इत्याकाङ्क्षायामाहुः **देवगुह्यस्ये**त्यादि. देवानां स्वक्लेशनिवृत्तिः शीघ्रमिष्टेति कलिप्रियेण नारदेन तत्कारयितुं तं प्रेषितवन्त इति तेन तथेत्यर्थः ॥१२४-१२७॥

ननु तर्हि भगवत्सम्मतिरपि भविष्यतीति शङ्कायामाहुः **भगवदि**त्यादि. **इत्येवेति** निश्चितमिति शेषः. तत्र नान्यस्य सम्मतिरित्याहुः **इति मे मतिः**. अभ्युपगमे बीजमाहुः **यत** इत्यादि. **प्रबोधयतीति**, अग्रिमाध्याये "कृष्ण कृष्णाप्रमेयात्मन्" इत्यादिना यतः प्रबोधयत्यतो ज्ञायते नात्र भगवत्सम्मतिरिति. तेन देवप्रेरणादेव तथाकरणमित्यर्थः. ननु भगवत्त्वं जानतः प्रबोधनं न युक्तमत आहुः **प्रद्युम्ने**त्यादि. ननु कथमज्ञानमत आहुः **स्वाधिकारे**त्यादि. नन्वस्त्वेतदेवं तथापि यद्गृहे पूर्णस्य भगवतः प्राकट्यं तयोरेवं क्लेशो न युक्त इत्यत आहुः **पूर्वमि**त्यादिसार्धम्. **वसुदेवाभ्यामिति**, "पुमान् स्त्रिये"ति एकशेषः. **बन्धनमिति**, वारद्वयं बन्धनं, तथा चापराधादेव तथा भाव इत्यर्थः. न चैवं सति नाभ्यादीनामपराधः शङ्क्यः, तत्र पूर्णप्राकट्यस्यानभिसंहितत्वेन तदभावादिति फलबलादवसीयते ॥१२८-१३१॥

ननु प्रथमं मायया कुतो मुक्तिरित्यत आहुः **मायावशादि**[1]त्यादि. नन्वेवं सति तयैव कंसः कुतो न मारित इत्यत आहुः **कृष्णार्थमि**त्यादि.

---

१. ननु मायाकृष्णाभ्यां क्रमेण बन्धनान्मोचने को हेतुरित्यत आहुः **मायावशादित्यादि**. "न वव्राथेऽपवर्गं मे मोहितौ आत्ममायया" इति भगवद्वाक्यात् पूर्वप्रार्थनायां मायाया हेतुत्वात् मायया पूर्वं मोचनम्. कृष्णस्य प्राणाधिकप्रियत्वात् तस्मिन् कंसभये शङ्किते स्वस्थानादन्यत्र गमनप्रार्थनायाः कृष्णार्थत्वाद् द्वितीयवारं बन्धनात् कृष्णेन मोचनमित्यर्थः.

अधिकारान्नापराधो नारदस्य भविष्यति ॥१३२॥
तथापि प्रीयते नैव हरिरित्येव मे मतिः।
कंसादयो राजसा हि बुद्ध्या कार्यस्य साधकाः ॥१३३॥
तामसं केशिनं तेन प्रेषयामास राजसः।
मथुरायां तामसस्य वधो युक्तो न च क्वचित् ॥१३४॥
अतो गोकुलमासाद्य सोऽपि नष्टो विमुक्तये।
ज्ञाने तु बाधकः केशी तेनाक्रूरादयस्तथा ॥१३५॥
तथा भक्तावरिष्टोऽपि तावुभौ गोकुले हतौ।
अन्यथा गोकुलस्थानां जीवनं न भवेत् क्षणम् ॥१३६॥
ज्ञानभक्तिप्रसिद्ध्यर्थमक्रूरागमनं पुनः।
गोकुले बाधको व्योमो लीलायां कर्मणि स्थितः ॥१३७॥
परोक्षेऽपि हरेः सिद्ध्यै लीलायाः सोऽपि वै हतः।
द्वाभ्यां त्रयोऽत्र निहताः परोक्षेण त्रयोऽत्र हि ॥१३८॥

श्रीपुरुषोत्तमानां निबन्धयोजना

स्वयं कंसमारणस्य भगवता विचारितत्वाद् तदर्थं तस्यास्ततो गमनमित्यर्थः. नन्वस्त्वेवं तथापि भगवदनभिप्रेतकरणाद् नारदस्यापि क्लेश उचित इत्यत आहुः **अधिकारादिति**. तथा च भगवत्प्रीत्यभाव एव तत्र क्लेशो न त्वधिको हरीतकीरूपत्वादित्यर्थः. प्रीत्यभावस्त्वननुमोदनाद् बोद्धव्यः. एवं प्रथमार्थ उक्तः. अत्रैश्वर्यकार्यत्वं स्वातन्त्र्यादेव स्फुटम्. द्वितीयार्थं विचारयन्ति **कंसादय** इत्यादि. हि यतो हेतोः **बुद्ध्या कार्यस्य साधका** न तु मौढ्यादतो **राजसा** इत्यर्थः. केशिनस्तामसत्वे गमकमाहुः **ज्ञाने** इत्यादि. ज्ञानबाधकत्वे गमकमाहुः अत इत्यादि ॥१३२-१३५॥

उभयोर्गोकुले हनने हेतुमाहुः **तथेत्येकेन**. तथा च जीवनार्थं ज्ञानभक्त्योरपेक्षितत्वात् तत्रत्यानां तत्प्रतिबन्धनिवृत्त्यर्थं तत्र तौ हतावित्यर्थः. एतेन पूर्वशेषताप्यनुमता, तेषां राजसत्वभवने प्रकारश्चोक्तः. नन्वस्त्वेवं लीलान्तरस्य गोकुलोपयोगस्तथाप्यक्रूरागमनमत्र किमर्थमुक्तं, तस्यैव तत्प्रतिकूलत्वाद् इत्यत आहुः **ज्ञानभक्तीत्यादि**. **प्रसिद्ध्यर्थमिति**, विरहे जाते ज्ञानभक्त्योर्या प्रकृष्टा सिद्धिस्तदर्थम्. तथा च तदपि तेषामुत्कर्षायैव न तु निकर्षायेत्यर्थः. व्योमवधस्याप्येतदर्थत्वं वदन्तोऽध्यायद्वयोक्तलीलाया उपयोगं द्वाभ्यां स्फुटीकुर्वन्ति **गोकुल** इत्यादि. हरेः **सिद्ध्यै लीलाया** इति, हरेः लीलाः सिद्ध्यै

मार्गाः पुष्टा भविष्यन्ति तेन राजसता स्थिता।
सात्विकोऽप्युभयैर्दोषैरक्रूरः कंससङ्गतः ॥१३९॥
उभयोस्तु ततो नाशे भक्त्या कृष्णान्तिकं गतः।
सिद्धान्तस्य परिज्ञानादासुराणां तथाऽभवत् ॥१४०॥
भगवच्छास्त्रविज्ञानात् सन्दिग्धं स उवाच ह।
यथाकथञ्चिद् दुष्टस्य परित्यागे तु सात्विकः ॥१४१॥
भक्तः सन् भगवत्पार्श्वं याति कृष्णश्च तुष्यति।
मार्गत्रये ततः प्रोक्ता तस्य निष्ठा विशेषतः ॥१४२॥
कृष्णमाहात्म्यविज्ञानं भक्तिमार्गोपयोगि हि।
स्वरूपबोधो ज्ञानार्थः कामना कर्मणि स्थिता ॥१४३॥
त्रिभिस्त्रयोऽपि सन्तुष्टा नन्दरामौ तथा हरिः।
हरेर्निर्गमनं तस्मान्न युक्तमिति वै शुकः ॥१४४॥

श्रीपुरुषोत्तमानां निबन्धयोजना

इति योजना. **द्वाभ्यामिति** ऐश्वर्यवीर्याभ्याम्. तथा च परोक्षेण मार्गत्रयपोषणद्वारा राजसत्वनिर्णयार्थमत्रैतत्कथनमित्यर्थः ॥१३६-१३८॥

एवं द्वितीयाध्यायो विचारितः. अत्र वीर्यकार्यं स्फुटमेव.

तृतीयाध्यायं विचारयन्ति **सात्विक** इत्यादि. नन्वक्रूरस्य भक्तत्वात् कथं कंसानुरोधित्वमित्यत आहुः **उभयैर्दोषैरिति**, राजसतामसैस्तैः. **तत** इति भगवद्विषयकैर्मनोरथैः. ननु तथापि भगवदानयनार्थोऽनुरोधस्तु सर्वथा अयुक्त इत्यत आहुः **सिद्धान्तस्येति**, आकाशवाण्युक्तस्य अत्राग्रिमश्लोके वक्ष्यमाणस्य वा. **तथेति** आकारणात्मकनियोगकर्ता ॥१३९-१४०॥

भगवच्छास्त्रविज्ञानादिति, भगवदिच्छा ज्ञातुमशक्या भगवान् स्वतन्त्र इति भगवच्छास्त्रं, तस्य विज्ञानात्. एतत्कथोपनिबन्धनसिद्धं सिद्धान्तमाहुः **यथाकथञ्चिदित्यादि**. अत्र ज्ञापकमाहुः **मार्गेत्यादि**. निष्ठायाः फलमाहुः **कृष्णेत्यादिसार्धेन**. अत्र श्रीनन्दस्य "यो नन्दः परमानन्द" इतिश्रुतेस्तत्प्रसादोऽपि मुक्त्युपयोगी. एवं तृतीयाध्यायो विचारितः. अत्रापि माहात्म्यज्ञानादिकं यशःकार्यम् ॥१४१-१४३॥

चतुर्थाध्यायं विचारयन्तः "एवमाघोषयदि"त्यन्तः पूर्वाध्यायशेष इत्याशयेनाहुः **हरेरित्यादि**. दुष्टत्रयवधेन व्रजस्थानां राजसत्वसम्पत्तौ तस्माद् व्रजाद् **हरेर्निर्गमनं न युक्तं वै** निश्चयेन, तत्र स्थित्वा अत्रत्यनिरोधवद्

गोपिकावाक्यरीत्यैव भगवद्गमनं जगौ।
प्रतिबन्धादरिष्टादेर्न गोपीकायिकोद्यमः ।।१४५।।
वाक्येनैव च सन्तुष्टा वाचि तास्तु प्रतिष्ठिताः।
अक्रूरे त्रितयं जातं वैकुण्ठे स्थापनाय हि।।१४६।।
ब्रह्मह्रदे निमग्नस्य तथा दर्शनमीर्यते।
अन्यथा भगवत्सङ्गं न त्यजेच्च कथञ्चन।।१४७।।
माहात्म्यं ज्ञापितं त्वर्थात् तेन स्तोत्रमुदीरितम्।
संस्कारमात्रतस्तस्मिन् स्नेहभक्तिः प्रतिष्ठिता।।१४८।।

श्रीपुरुषोत्तमानां निबन्धयोजना

अत्र स्थित्वा तत्रत्यनिरोधस्यापि कर्तुं शक्यत्वाद् राजसत्वस्य जातत्वेन तौल्याच्चेति ज्ञापयितुं तथा गमनं जगौ. तथा च व्रजस्थानां भावोत्कर्षस्यैव बोधनायैव गमनमित्यर्थः. तदग्रिमस्कन्धे भगवतैव ''रामेण सार्धमि''त्यादिना वक्तव्यम्. नन्वेवं सति कुतो भगवान्न कायेन निवारित इत्याकाङ्क्षायामाहुः **प्रतीत्यादि**. वासनायाः प्रतिबन्धकत्वं सप्तमे निर्णीतम्, तासु इयमागन्तुकी तत्राप्यल्पा तथापि दुष्टेत्येतावत्प्रतिबन्धं कृतवती, अतएव वाक्यमात्रेण तोषोऽपि. न च तर्हि न्यूनत्वं शङ्क्यम्, तुः शङ्कानिरासे. ताः वाचि प्रतिष्ठिता ऋषित्वादुपनिषद्रूपत्वाच्च भगवद्वचन एव विश्वस्ता इति न न्यूनतेत्यर्थः. ननु त्रयाणां तोषेणाक्रूरस्य किं सिद्धमित्याकाङ्क्षायामाहुः **अक्रूर** हीत्यादि. तत्र गमकमाहुः हीत्यादि. ननु प्रसादस्यारादुपकारकत्वे किं गमकमत आहुः **अन्यथेत्यादि** ।।१४४-१४७।।

एवं चतुर्थाध्यायो विचारितः. अत्र श्रीकार्यं भक्तानां विरहोद्बोधः स्फुट एव.

पञ्चमं विचारयन्त इदानीं तेषां फलानुपधायकत्वे भगवन्माहात्म्यज्ञानेन स्तोत्रकरणमपि न स्यादित्यत आहुः **माहात्म्यमित्यादि**. नन्वेवं सति माहात्म्यज्ञापनादिकं किमर्थमित्यत आहुः **संस्कारेत्यादि**. संस्कारमात्रतायां गमकमाहुः **व्यवहार** इत्यादि. तथा च पितृव्यत्वाभिमानपरित्यागपूर्विका भगवति सन्ततिस्तद्गमिकेत्यर्थः. अत्र द्वाभ्यां वासनाभ्यां सर्वनिर्वाहादक्रूरे जीवान्तरप्रवेशपक्षो नाङ्गीकृत इति बोधितम्. एवं पञ्चमाध्यायो विचारितः. अत्र ज्ञानकार्यं स्फुटमेव.

अथ षष्ठं विचारयन्तो अक्रूरस्य गृहं प्रति प्रेषणे वैराग्यकार्यत्वस्य

व्यवहारो महद्भिः स्याद्यथा कृष्णे तथाऽभवत्।
कुब्जानिःशङ्कवचनैः स्वेच्छां पूरयते हरिः ॥१४९॥
उभयोरन्तरा दण्डप्रसादौ सुनिरूपितौ।
श्रुतमाहात्म्ययुक्तानां सन्देहविनिवारकौ ॥१५०॥
रजको दण्डनीयो हि पूर्वधाष्ट्र्यादिहापि हि।
सीताया विप्रियं वक्ता रङ्गशोभार्थमुद्यतः ॥१५१॥
अन्त्यजा दैत्यपक्षीया रजकस्तेषु चादिमः।
कर्ममार्गे फलं सर्वैः प्राप्यते तत् तथोक्तवान् ॥१५२॥
वस्त्रदातुः फलं ते स्यादन्यथा तु वधः स्मृतः।
मालाकारः प्रियो लोके भक्तानां सुतरां प्रियः ॥१५३॥
उभौ परीक्षितौ सम्यक् ततो दण्डादिकं कृतम्।
तयोर्मध्ये वेषकर्ता नटानां सुतरां प्रियः ॥१५४॥
प्रसादः त्रिषु वक्तव्यस्ततस्तस्मिन् पुरोदितः।
धनुषो भञ्जनं चैव रक्षकाणां वधस्तथा ॥१५५॥

श्रीपुरुषोत्तमानां निबन्धयोजना

स्फुटत्वादग्रिमेष्वस्फुटत्वात् तेषु तथात्वं वक्तुमग्रिमाध्याये धर्मिकार्यं बोधयितुं तदर्थकथनपूर्वकं तदाहुः **कुब्जे**त्यादि. अग्रिमाध्याये उक्तैर्वैराग्यबोधकैः कुब्जानिःशङ्कवचनैः स्वेच्छां पुरान्वेषणविषयां पूरयतो हरेरक्रूरं प्रति वचनैः कृत्वा उभयमध्यगावर्थौ सन्देशपतितत्वाद् भक्तानां भगवत्त्वज्ञानोत्पादनद्वारा वैराग्यसन्देहनिवारकावुक्तावित्यर्थः ॥१४८-१५०॥

ननु दण्डस्य कथं वैराग्यबोधकत्वमित्यतस्तदुपपादयन्ति **रजकइत्यादि**सार्धेन. इहापीति धाष्ट्र्यादित्यनुषङ्गः. धाष्ट्र्यद्वयं स्फुटीकुर्वन्ति प्रातिलोम्येन. **सीताया** इत्यादि. नन्वेतादृशे दौष्ट्ये भगवान् दातुः श्रेयः किमित्युक्तवानित्यत आहुः **कर्मे**त्यादि. ननु प्रसादस्य कथं वैराग्यकार्यत्वमित्यत आहुः **मालाकार** इत्यादि. तथा च परीक्षैवोभयत्रापि वैराग्यबोधिकेत्यर्थः. नन्वेवं सति रजके किं परीक्षितं येन तस्मिन् प्रसादवाक्यानि वायके चेत्यत आहुः **तयोरित्यादि.** **तयोरिति** मालाकारवायकयोः. तथा च नटप्रियत्वाद् वायके प्रसादो न तु स्वतः. कर्मित्वाद् रजके तथावाक्यमिति सर्वं वैराग्यकार्यमेवेत्यर्थः. एवं षष्ठाध्यायो विचारितः.

सप्तमार्थमाहुः **धनुष** इत्यादि. **द्विधेति** स्थावरजङ्गमभेदेन द्विधा.

निग्रहोऽपि द्विधा जातस्तैः सर्वं प्रकटीकृतम्।

(अथ राजसप्रमेयम्)

प्रमेयबलमासाद्य ततः सप्तभिरुच्यते।।१५६।।
आसक्तिर्यादवानां च दुष्टानां च वधस्तथा।
प्रमेये सप्त भक्ता हि तावन्तश्चापि विद्विषः।।१५७।।
देवकी वसुदेवश्च सर्वं एव च यादवाः।
आध्यात्मिकप्रकारेण द्वावेतौ परिकीर्तितौ।।१५८।।
अधिदेवो गुरू प्रोक्तः पुत्रदानात् स मोचितः।
नन्दः पत्नीयुतश्चैव गोपिकाः कुब्जया युताः।।१५९।।
अक्रूरः पाण्डवाश्चैव सप्तैते निःप्रपञ्चिताः।
गजः पञ्च तथा मल्लाः सप्तमः कंस उच्यते।।१६०।।
भ्रातरस्तत्प्रसङ्गेन हताः सप्तैव दोषतः।
एतावानेव रूपे हि स्नेहद्वेषविनिर्णयः।।१६१।।
जीवन्तो मुक्तिमायान्ति भक्ता द्विष्टा हताः पुनः।
रूपं सर्वविमोक्षाय स्नेहासक्तिनिवारकम्।।१६२।।

श्रीपुरुषोत्तमानां निबन्धयोजना

तैरित्यादि, कुब्जारूपकरणद्विविधनिग्रहैः **सर्वं** वसुदेवपुत्रत्वब्रह्मत्वादिकं **प्रकटीकृतं** यादवानां प्रमितिविषयीकृतमित्यर्थः. एवमूनपञ्चाशद्भिः प्रमाणप्रकरणं विचारितम्.

अथ राजसप्रमेयम्

अतः **परं** प्रमेयप्रकरणं सार्धत्रिंशद्भिः विचारयन्तः समाख्याबीजमाहुः **प्रमेयबलमित्यादि.** तथाच प्रमेयभूतस्य भगवतो यद् बलं तद्बोधकत्वात् प्रमेयप्रकरणेति समाख्येत्यर्थः. सप्ताध्यायात्मकत्वे बीजमाहुः **प्रमेये सप्तेत्यादि** ।।१५१-१५७।।

उभयान् गणयन्ति **देवकीत्यादिभिस्त्रिभिः.**

ननु कंसभ्रातरौ अष्टौ हता इति कथं सप्तेत्यत आहुः **भ्रातर** इत्यादि. तथा च तेषां वधस्य प्रासङ्गिकत्वात् न तेन वध्याधिक्यमित्यर्थः. नन्वत्र निरोद्धव्यत्वाद् भक्ता एव वक्तव्या, द्वेषिनिरूपणस्य किं प्रयोजनमत आहुः **एतावानित्यादि** सपादश्लोकम्. तथाच रूपप्राकट्यस्य सर्वमोक्षार्थत्वात् प्रमेयबलसूचनार्थं तन्निरूपणमित्यर्थः. नन्वेवं सति यत्र क्वचिद् वक्तव्या,

भयं यस्मात् तस्य वधः कारणं तत्पुरोदितम्।
अध्यायद्वितयेनैव बहिरन्तर्व्यवस्थया ॥१६३॥
ततः कालस्य सर्वेषां भयहेतोर्निवारणम्।
तेनैव सिद्धं माहात्म्यमासक्तः स्याद् भयादपि ॥१६४॥
एवं त्रिभिरिहाध्यायैरासक्तौ साधनं जगौ।
स्निग्धानां सान्त्वनाभावे प्रतिबन्धो भवेदिह ॥१६५॥
अतश्चतुर्भिर्भूतानां त्रिविधानां च सान्त्वनम्।
कालजं सान्त्वने व्यर्थमतः सद्भिर्निवारितम् ॥१६६॥
अज्ञाने सान्त्वनं युक्तं तेन द्वाभ्यां व्रजे जगौ।

श्रीपुरुषोत्तमानां निबन्धयोजना

अत्रैव कुत उक्ताः? किञ्च साधनाभावे कथं विमोक्षोऽपीत्यत आहुः **स्नेहे**त्यादि. पुरेति सप्तमे "गोप्यः कामाद् भयात्कंस" इत्यत्र. **तदि**त्यस्याग्रिमार्धेन सह योजना. उदितपदमत्राप्यनुषज्जते. तथा च स्नेहवृद्ध्यर्थमत्र निरूपणमित्यर्थः ॥१५८-१६३॥

नन्वत्र "तत्र प्रवयसोऽप्यासन् युवान" इत्यादिनिरूपणस्य किं प्रयोजनमत आहुः **तत** इत्यादि. तथा च माहात्म्यज्ञानपूर्वत्वं विना स्नेहस्य भक्तित्वं न स्यादिति पूर्वाङ्गसम्पत्तिबोधनाय तन्निरूपणमित्यर्थः. ननु भयनिवृत्तेः स्नेहाङ्गत्वेऽपि भयस्य तद्विरोधित्वादन्यत्रैव निरूपणं युक्तं नात्रेत्यत आहुः **आसक्त**इत्यादि. आसक्तिर्ह्येकतानत्वं, सैवात्र मोक्षं प्रति व्यापारः. तथा च सा यथा स्नेहात् तथा भयादपि, पेशस्कृद्रुद्धे कीटे तथा दर्शनात्. अत्र स्कन्धे सैव प्रतिपाद्यते. अतो भयस्य स्नेहविरोधित्वेऽपि कथनमत्र नायुक्तमित्यर्थः ॥१६४॥

एवं चात्रावान्तरं प्रकरणद्वयम् अन्यत् सिद्ध्यतीत्याहुः **एवमित्यादि** सार्धेन. **इहे**ति आसक्तौ. **त्रिविधानामि**ति तामसराजससात्त्विकानाम्. ननु माहात्म्यज्ञापनाय क्रियमाणस्य कालनिवारणस्य भयाध्याये किमिति निरूपणमित्यपेक्षायामाहुः **कालजमित्यादि**. सान्त्वने कृते कालजं दुःखं चेत् स्यात् तदा सान्त्वनं व्यर्थमिति योजना. **कालजे सान्त्वनमि**ति वा पाठः ॥१६६॥

नन्वासक्तिप्रतिबन्धाभावो हि सान्त्वनप्रयोजनं, सा तु पूर्णा अनपनोद्या चेत् तत्सान्त्वनस्य किं प्रयोजनमित्याकाङ्क्षायामाहुः **अज्ञान** इत्यादि. **जगावि**ति,

यशोदा वाथ नन्दो वा गोपिका वा यदा यदा ॥१६७॥
कृष्णासक्तैकहृदयास्तदाविर्भावमेति हि।
बहिर्मुखदशायां तु न पश्यन्तीति दुःखिताः ॥१६८॥
अतः प्रबोध एवात्र कर्तव्यो न ततोऽधिकः।
लोकवत्तु व्यवस्थानं लोकधर्मविनाशनः ॥१६९॥
नन्दादीनां न कर्तव्यः पिष्टपेषो न युज्यते।
प्रपञ्चपातने सक्तास्ते कृष्णस्य न सर्वथा ॥१७०॥
अन्तर्मुखे त्वाविरासीत् ततो बोधनमुत्तमम्।
चौर्यादिकं यथापूर्वं प्रपञ्चस्मृतिशान्तये ॥१७१॥
तथा बहिर्मुखत्वेऽपि दुःखं यच्छत्यबोधतः।
मथुरास्था नाधुनापि निःप्रपञ्चा न सर्वथा ॥१७२॥
अतः प्रपञ्चधर्माणां सङ्ग्रहस्तां विचार्य हि।

श्रीपुरुषोत्तमानां निबन्धयोजना

भगवत्स्थित्यज्ञानं जगौ. तथा च स्थित्यज्ञाने दोषारोपसम्भवात् तदभावार्थं सान्त्वनं युक्तमित्यर्थः. ननु बहुधापि सान्त्वने कृते दोषारोपो न निवारयितुं शक्यः, शब्दापेक्षया लोके प्रत्यक्षस्य बलिष्ठत्वाद् इत्याकाङ्क्षायां सान्त्वनस्य युक्तत्वं तत्कार्यनिरूपणद्वारा बोधयन्ति **यशोदा** वेति द्वाभ्याम्. **ततोऽधिक** इति बहिः स्वानुभवः. तस्याकर्तव्यत्वे हेतुमाहुः **लोकवदित्यारभ्य** नेत्यन्तम्. अतो बहिः स्वानुभावरूपः पिष्टपेषो न युज्यत इत्यर्थः. अयुक्तत्वमुपपादयन्ति **प्रपञ्चे**त्यादि. **न सर्वथे**ति न प्रपञ्चविस्मृतिपर्यन्तम्. तथा च बहिरनुभवे तावत्पर्यन्तत्वाभावात् तादृशमनुभावनं न युक्तमित्यर्थः ॥१७०॥

नन्वेवं सति क्रूरत्वमापद्येतेत्यत आहुः **अन्तरि**त्यादीति. **आविरासी**दिति आविरास्ते. पक्षे प्राप्तमपि तन्निरस्यन्ति **चौर्यादिक**मित्यादि. तथा चात्र क्वापि दोषलेशाभावात् कापि लीला नायुक्तेत्यर्थः. ननु यथा व्रजस्थानां प्रपञ्चनिवृत्त्यर्थं भगवता यत्नो भूयान् क्रियते तथा मथुरास्थानामर्थे कुतो न क्रियते, निरोद्धव्यत्वस्यात्रापि तुल्यत्वाद् इत्याशङ्कायामाहुः **मथुरास्था** इत्यादि. **नाधुनापी**ति सम्यगासक्ता इति. तत्र गमकं **निःप्रपञ्चे**त्यादि. अतो हेतोः तामपूर्णासक्तिं विचार्य **प्रपञ्चधर्माणां** पुत्रत्वादीनां **सङ्ग्रहः**, स्वस्मिन् प्रत्यायनं भगवता **हि** निश्चयेन कार्यते इति शेषः.

हि यतो हेतोः स्वभावतो दुष्टा जीवा दोषसत्त्वमेव प्रापयन्ति.

जीवाः स्वभावतो दुष्टा दोषाभावं नयन्ति हि ॥१७३॥
सर्वमेव स्वसम्बन्धात् तथा कृष्णेऽपि सङ्गताः।
प्रपञ्चविस्मृतिः पूर्वं दोषाभावाय कारिता ॥१७४॥
कृष्णविस्मरणं तत्र न युक्तमिति बोधनम्।
प्रबोधे दोषहानिः स्यादात्मत्वे सुतरामपि ॥१७५॥
तदुद्धवेन गुरुणा बोधयामास केशवः।
य एव स्यादुपायोऽत्र स कर्तव्यो न चेतरः ॥१७६॥

श्रीपुरुषोत्तमानां निबन्धयोजना

तत्प्रसिद्धं महाभारते राजधर्मेषु बभ्रूग्रसेनादिकर्तृकं; तथा अधुनापि ज्ञातव्यम्. तथा च पूर्णासक्तेरजातत्वात् नेदानीं तत्प्रपञ्चाभावयत्नः किन्तु व्रजस्थानामेवार्थे इत्यर्थः ॥१७१-१७३॥

ननु व्रजस्थानां भगवदासक्ति-प्रपञ्चविस्मृत्योः पूर्णतया जातत्वे कार्यस्य पूर्तेः पुनः **प्रबोधनस्य** किं प्रयोजनमत आहुः **प्रपञ्चे**त्यादित्रयम्. **अत्रे**ति विप्रयोगदशायाम्. **दोषहानिरि**ति सात्त्विकभावप्रतिबन्धकदोषहानिः. **आत्मत्व** इति ज्ञात इति शेषः. **तदि**ति तस्माद् आत्मत्वं वा. तथा च स्वाविस्मरणार्थं सात्त्विकाभावप्रतिबन्धनिवृत्त्यर्थं प्रबोधोपदेशनमित्यर्थः. ननु यथेदं बोधनेनाभूत्

निबन्धकठिनांशविवेचनम्।

अग्रे चतुश्चत्वारिंशाध्यायार्थोक्तौ **जीवाः स्वभावतो दुष्टा** इत्यादि **स्फुट** इत्यन्तम्. जीवाः स्वार्थपरायणाः, स्वार्थे सिद्धे सर्वपरित्यागेन तज्जनितदुःखमप्यनुभूय स्वार्थसाधकं नोपकुर्वन्ति नापि स्मरन्तीति जीवगतो दोषः कृष्णसङ्गताभिर्गोपिकाभिः कृष्णे आरोप्यते. यथा वा ज्वराभिभूतरसनेन्द्रियेण सितायां कटुकत्वारोपः. तादृशदोषाभावाय पूर्वं प्रपञ्चविस्मृतिः संयोगलीलया कारिता, निरन्तरं भक्ताधीनतया स्थितो न स्वार्थमात्रपरायण इति भक्तैर्ज्ञातः. स्वरूपलीलारसनिमग्नानाम् अन्यविस्मरणात् महारसत्वमपि भगवतो ज्ञातं, परं भगवतो रसात्मकस्य द्विदलरूपत्वेन यदा भगवान् द्वितीयं दलमनुभावयति तदा तस्य तीव्रत्वेन सोढुमशक्यत्वाद् ज्ञापितेऽपि दोषाभावे दोषः पुनः प्रत्यवतिष्ठते, स्मरणेन च दुःखं जायत इति स्मरणमेव न कर्तव्यमिति भक्तानां भाति. तत् सर्वमुपदेशेन निवार्यते. वस्तुतस्तु भगवानात्मा सर्वाश्रयः भक्तवश्यः सत्यवाक् अतः त्यक्त्वा नैव गच्छतीति बोधेन पूर्वदोषनिवृत्तिः. संयोगलीलायां प्रकटरूपस्तु देहेन्द्रियादिगामी, विरहे निरन्तरं स्मृतस्तु मनोघर्षणेन मनोवृत्त्यात्मगामी भवतीति दूरस्थित्यभिप्रायज्ञापनेनापि पूर्वदोषनिवृत्तिः. एतदेवोक्तं जीवाः स्वभावत इत्यादिभिः षड्भिः श्लोकैः इति.

अतो बोधनमत्रोक्तं न तु साक्षात् स्वयं गतः।
आगतः सर्वदैवास्ते तदा (/स्ति सदा) चायाति सत्यवाक्॥१७७॥
इदं च बोधनात् सिद्धे दोषोऽपि विनिवर्तते।
दोषश्चतुर्धा टीकायां विस्तरेण प्रपञ्चितः॥१७८॥
तत्क्षान्तिश्चापि बोधेन तेन नात्रोच्यते स्फुटः।
कुब्जा तु राजसी नारी तथाक्रूरश्च यादवः॥१७९॥
उपलक्षणभावेन द्वावेतौ विनिरूपितौ।
कुन्ती च पाण्डवाश्चैव सात्त्विकौ पूर्ववन्मतौ॥१८०॥
धृतराष्ट्रकृते दुःखे तस्यापि स्यात्तु बोधनम्।
स तु सात्त्विकवर्यो हि पुत्रस्नेहात् तथाकरोत्॥१८१॥
अतः प्रबोध उचितस्तस्यापि स्यान्न संशयः।
एवं चतुर्भिरध्यायैः सान्त्वनं विनिरूपितम्॥१८२॥
प्रमाणेऽपि प्रमेयेऽपि भगवान् सप्तरूपधृक्।
क्रमेणैवात्र संयोज्यस्तेन नोक्तो विशेषतः॥१८३॥

श्रीपुरुषोत्तमानां निबन्धयोजना

तथा स्वतोऽपि स्यादिति स्वयमेव कुतो नागादित्यत आहुः **य एवेत्यादि.** नन्वनागमने "एष्याम" इति "आयास्य" इति वाक्यबाधप्रसङ्ग इत्यत आहुः **आगता इत्यादि. अयमित्यस्य** पूर्वार्धेन सम्बन्धः. **इत्थमिति** पाठश्चेत् तदा उत्तरार्धे एव सम्बन्धः ॥१७३-१७८॥

एवं सार्धद्वादशभिः तामसानां सान्त्वनं समर्थितम्, राजसानामाहुः **कुब्जेत्यादि. निरूपिताविति** एकस्मिन्नध्याये उक्तौ. सात्त्विकानामाहुः **कुन्तीत्यादि. पूर्ववदिति,** निरोद्धव्यत्वात् सान्त्वनीयौ ॥१७९-१८०॥

ननु तत्सान्त्वने कर्तव्ये धृतराष्ट्रज्ञानोपदेशः कुत उच्यत इत्यत आहुः **धृतेत्यादि.** अयं चरणः पूर्वत्रापि सम्बध्यते. तस्य दुःखहेतुताया वारणीयत्वात् तस्याप्युपदेश इत्यर्थः. ननु योग्यताभावे कथं स इत्यत आहुः **स त्वित्यादि. तथाकरोदिति** राजसभावेनाकरोत्. **अत** इति राजसभावस्य निवर्तनीयत्वात्. **न संशय इति,** प्रथमस्कन्धे तन्मुक्तेरप्युक्तत्वात् तथेत्यर्थः. प्रकरणार्थं निर्णीयोपसंहरन्ति **एवमित्यादि** ॥१८१-१८२॥

नन्वत्राध्यायार्थो विशेषतः कुतो नोक्त इत्यत आहुः **प्रमाणेऽपीत्यादि.** अत्र पूर्वार्धमपि समाप्तं तत्र बीजमाहुः **अलौकिकेनेत्यादि.** स्फुटमन्यत्.

अलौकिकेन भावेन यावद्धि भगवत्कृतः।
स पूर्वार्धो हरेः स्वस्य धर्मस्तादृश उच्यते॥१८४॥
लोकधर्मं पुरस्कृत्य यच्चकार यदूद्वहः।
अस्वभावादुत्तरार्धं कार्यं तत्तु प्रकीर्तितम्॥१८५॥
प्रमेयं च तथा चार्धं राजसप्रक्रियार्थतः।
एवं प्रमेयबलतः कृष्णासक्ताभवन्मुदा॥१८६॥

श्रीपुरुषोत्तमानां निबन्धयोजना

एवं सार्धत्रिंशद्भिः प्रमेयप्रकरणं विचारितम्. दशमस्कन्धस्य पूर्वार्धं समाप्तम्.



॥ गोष्ठीशालरामचन्द्रभट्टात्मज-घनश्यामभट्टकृता सूचिका॥

अतः परं राजसभक्तानां निरोधकरणार्थं राजसप्रकरणारम्भः.

अत्रापि पूर्ववदेव क्रमः — प्रमाणप्रमेयसाधनफलद्वारा निरोधः कर्तव्य इति. सप्तभिरध्यायैः प्रमाणप्रकरणमुच्यते. अत्रापि षडध्यायाः षड्धर्मनिरूपकाः सप्तमश्च धर्मिनिरूपकः. प्रमाणान्वेषणद्वारा भगवच्चरित्रे भगवति च बुद्धिः सिद्धा अतो अस्य प्रमाणत्वम्. तत्र प्रथमेऽध्याये भगवतः स्वतन्त्रतानिरूपणाद् ऐश्वर्यं स्पष्टमेव. द्वितीये दुष्टमारणाद् वीर्यं स्फुटमेव. तृतीयेऽक्रूरस्य व्रजगमने भगवन्माहात्म्यज्ञानाद् यशःकार्यं स्पष्टमेव. चतुर्थे भक्तानां विरहोद्बोधकत्वात् तत्रान्तःकरणे भगवत्प्रादुर्भावरूपं श्रीकार्यं स्फुटमेव. प्राणगमनरूपापन्निवारकत्वात् पञ्चमे ज्ञानकार्यं स्फुटमेव. षष्ठे अक्रूरस्य गृहप्रेषणेन उपेक्षारूपत्वाद् वैराग्यकार्यं स्फुटमेव. सप्तमे धनुर्भङ्गकरणादिना धर्मिकार्यं स्फुटम्. एवं प्रमाणद्वारा वसुदेवपुत्रत्व-ब्रह्मत्वादिकं यादवानां प्रमितिविषयीकृतम्.

अतः परं प्रमाणैः प्रमितिविषयीभूत-प्रमेयरूपभगवद्बलबोधकत्वात् प्रमेयप्रकरणत्वमस्य. अत्रापि सप्तमिरध्यायैः निरूपणम्. षडध्याया धर्मनिरूपकाः सप्तमश्च धर्मिनिरूपकः. तत्र प्रथमे कुवलयापीडवधरूपम् ऐश्वर्यम्. द्वितीये चाणूरादिवध-कंसवधरूपं वीर्यम्. तृतीये उग्रसेनाय राज्यदानं यशः. चतुर्थे गोकुलस्थापन्निवारकोद्योगरूपं श्रीकार्यम्. पञ्चमे "भवतीनां वियोगो मे" इत्यादिना ज्ञानकार्यम्. षष्ठे कुब्जाक्रूरादिगृहगमनं भक्तकृपालुत्वरूपं तदतिरिक्तासक्त्यभावरूपं वैराग्यम्. सप्तमे धृतराष्ट्रो अक्रूरोपदिष्टोऽपि पाण्डवरक्षणं न कृतवान् — इदं भूभारहरणमूलत्वाद् धर्मिकार्यम्.

अत्र पूर्वार्धं प्रमेयप्रकरणं च समाप्तम्.

॥ श्रीगोकुलरायकृतो अध्यायार्थः ॥

राजसप्रकरणान्तर्गतप्रमाणप्रकरणे गोकुलस्थानां विरहे जीवनसम्पादक-भगवदाविर्भावहेतुभक्ति-प्रतिबन्धकस्य अरिष्टस्य वधं कर्तुं शक्तत्वात्, नारदेन भगवति वसुदेवपुत्रत्वे ज्ञापिते वसुदेववधाय कंसे उद्युक्तेऽपि वसुदेववधे अशक्तत्वाद्, भगवदर्थं कंसचिन्तितानाम् उपायानां कंसवधहेतुत्वकरणेन अन्यथाकर्तुं शक्तत्वाद् ऐश्वर्यनिरूपणं त्रयस्त्रिंशेऽध्याये.

राजसप्रकरणान्तर्गतप्रमाणप्रकरणे गोकुलस्थानां राजसत्वभवने हेतुज्ञानप्र-तिबन्धकस्य केशिनः, परोक्षे सुखहेतुलीलाप्रतिबन्धकस्य फलहेतुकर्मप्रतिबन्ध-कस्य च व्योमासुरस्य हननात्; भक्तदुःखे हेतुकर्तृत्वेन भीतेन नारदेन भगवत्प्रबोधनस्यापि वीर्यकार्यत्वात् वीर्यनिरूपणं चतुस्त्रिंशेऽध्याये.

राजसप्रकरणान्तर्गतप्रमाणप्रकरणे भगवता भक्तिज्ञानकर्मप्रतिबन्धकनिवा-रणे अक्रूरे वैकुण्ठे स्थापनाय त्रितयसिद्ध्यर्थं मध्ये मार्गे भक्तिज्ञानकर्मोपयोगिभिः माहात्म्यविज्ञानस्वरूपबोधमनोरथैः कृष्ण-राम-नन्दानां प्रसादकथनाद् यशोनिरू-पणं पञ्चत्रिंशेऽध्याये.

राजसप्रकरणान्तर्गतप्रमाणप्रकरणे विरहे भक्तानां हृदि प्रादुर्भावेन प्राणगमनापन्निवारकत्वाद्, अक्रूरे वैकुण्ठप्रदर्शनेन सर्वसम्पत्त्या सर्वभक्तापन्निवा-रकत्वबोधनात् श्रीनिरूपणं षट्त्रिंशेऽध्याये.

राजसप्रकरणान्तर्गतप्रमाणप्रकरणे भगवद्भानेनैव अक्रूरेण स्तुतिकरणाद् ज्ञाननिरूपणं सप्तत्रिंशेऽध्याये. यत्र तात्कालिकज्ञानेन स्तुतिस्तत्र ज्ञानमध्यायार्थः यत्र पूर्वसिद्धज्ञानेन स्तुतिस्तत्र यशोऽध्यायार्थ इति विभेदः.

राजसप्रकरणान्तर्गतप्रमाणप्रकरणे अक्रूरस्य गृहे प्रेषणेन औदासीन्यबोध-नात्, रजके वायके मालाकारे च कर्महेतुकदण्डप्रसादाभ्यां स्वस्य औदासीन्यबोधनात् च वैराग्यनिरूपणम् अष्टत्रिंशेऽध्याये.

राजसप्रकरणान्तर्गतप्रमाणप्रकरणे कुब्जारूपकरणेन स्त्रीषु कृपावत्त्वस्य स्वरूपधर्मस्य बोधनाद्, धनुर्भङ्गस्य स्थावरनिग्रहस्य रक्षकवधस्य जङ्गमनिग्रहस्य कर्महेतुकत्वाभावेन भक्तानां दुःखनिवारक-माहात्म्यबोधनार्थकत्वेन धर्मिकार्य-त्वाद् धर्मिनिरूपणम् एकोनचत्वारिंशेऽध्याये.

राजसप्रकरणान्तर्गतप्रमेयप्रकरणे भक्तानाम् आसक्तिप्रतिबन्धक-बाह्यभयनिवारणार्थं कृतस्य कुवलयापीडवधस्य गजदन्तवरायुधार्थकत्वेन ऐश्वर्यबोधकत्वाद्, दशविधरसविशिष्ट-स्वरूपप्रदर्शनस्यापि ऐश्वर्यबोधकत्वाद्, दर्शनमात्रेण प्रबुद्धसंस्कारैः लोकैः परस्परतद्गुणप्रकाशक-वार्ताकरणस्यापि ऐश्वर्यबोधकत्वाद् ऐश्वर्यनिरूपणं चत्वारिंशेऽध्याये.

राजसप्रकरणान्तर्गतप्रमेयप्रकरणे भक्तानाम् आसक्तिप्रतिबन्धकान्तरभय-

निवारणार्थं कृतस्य मल्लकंसादिवधस्य केवलवीर्यबोधकत्वाद् वीर्यनिरूपणम् एकचत्वारिंशेऽध्याये.

राजसप्रकरणान्तर्गतप्रमेयप्रकरणे मातापित्रोर्विमोचनस्य उग्रसेनराज्यदानस्य सर्वयादवप्रत्यानयनस्य नन्दादिप्रतियापनस्य लब्धसंस्कारत्वस्य यशोबोधकत्वात्, कालभयस्य भगवदासक्तिहेतुत्वेन आसक्तेषु यादवेषु कालगुणजरानिवृत्तेः गुरोर्मृतपुत्रानयनेन साक्षात्कालनिवृत्तेश्च यशोबोधकत्वाद् यशोनिरूपणं द्विचत्वारिंशेऽध्याये.

राजसप्रकरणान्तर्गतप्रमेयप्रकरणे आसक्तिप्रतिबन्धाभावाय स्निग्धानां सान्त्वननिरूपणप्रस्तावे भगवतो व्रजस्थप्राणगमनरूपापत्ति-निवारणोद्योगकथनाद्, व्रजं गतस्य उद्धवस्यापि श्रीमत्त्वकथनाद्, व्रजवर्णनस्यापि श्रीनिरूपकत्वाद्, उद्धवसमागमे नन्देन दावाग्न्यादिमृत्युभ्यो रक्षितृत्वस्य स्मरणात्, उद्धवेनापि अन्तर्मुखत्वे भगवत्स्थितिबोधनात् लौकिकसम्बन्धनिराकरणाद् भगवतः सर्वरूपत्वकथनाच्च अन्ते भगवच्छ्रीरूपाणां गोपिकानां निरूपणाच्च श्रीनिरूपणं त्रिचत्वारिंशेऽध्याये.

राजसप्रकरणान्तर्गतप्रमेयप्रकरणे आसक्तिप्रतिबन्धाभावाय स्निग्धानां सान्त्वननिरूपणप्रस्तावे भगवति मानासूयादिदोषाणां ज्ञाननिवर्त्यत्वेन, पूर्वं दोषनिरूपणस्य ज्ञानोपयोगित्वाद्, उद्धवे भगवदुपदिष्टज्ञानस्य विद्यमानत्वेन गोपिकोक्तदोषाणां गुणत्वेनैव ज्ञानाद्, उद्धवेनोपदेशे वियोगाभाव-सर्वाश्रयत्व-ज्ञानमयात्मत्वबोधनात्, "यत्त्वहमि"त्यादिना विरहसामयिक-भगवदभिप्राय-बोधनाच्च, निरन्तरं व्रजभक्तसङ्गेन तादृग्भक्तिकारणस्य भक्तभावज्ञानस्य उद्धवेऽपि जातस्य उद्धवोक्तवचनैः गोपीनमस्कारान्तैः अवगमाद् ज्ञाननिरूपणं चतुश्चत्वारिंशेऽध्याये. एवं तामसानां सान्त्वनम्.

राजसप्रकरणान्तर्गतप्रमेयप्रकरणे आसक्तिप्रतिबन्धाभावाय स्निग्धानां सान्त्वननिरूपणप्रस्तावे कुब्जासमागमस्य कामहेतुकत्वेन तस्यै कामवरप्रदानेन औदासीन्यबोधनाद्, अक्रूरसमागमस्यापि अन्यत्र प्रेषणार्थकत्वेन औदासीन्यबोधकत्वाद्, अक्रूरस्तुतौ मायानिवृत्तेः वैराग्यकार्यस्य प्रार्थनाच्च वैराग्यनिरूपणं पञ्चचत्वारिंशेऽध्याये. एवं राजसानां सान्त्वनम्.

राजसप्रकरणान्तर्गतप्रमेयप्रकरणे आसक्तिप्रतिबन्धाभावाय स्निग्धानां सान्त्वननिरूपणप्रस्तावे कुन्तीस्तुतौ भक्तशरणत्वस्य स्वरूपधर्मस्य बोधनाद्, अक्रूरविदुराभ्यां कुन्तीपाण्डवसान्त्वनानन्तरम् अक्रूरोपदिष्टेन धृतराष्ट्रेण पाण्डवरक्षाया अकरणस्य भूभारहरणहेतुत्वेन धर्मिकार्यत्वाद् धर्मिनिरूपणं षट्चत्वारिंशेऽध्याये. एवं सात्त्विकानां सान्त्वनमिति दशमे पूर्वार्धम्.



श्रीमद्भागवतदशमस्कन्धान्तर्गत–
राजसप्रमाणप्रमेयप्रकरण–विषयानुक्रमणिका

विषयाः		पृष्ठानि
(१) राजसप्रमाणप्रकरणम्		१–१४३
१. भगवदैश्वर्यधर्मनिरूपकः	प्रथमोऽध्यायः	१–१८
(आदितः त्रयस्त्रिंशः)		
अरिष्टासुरवधः,		४-८
नारदप्रेरितेन कंसेन अक्रूरस्य व्रजप्रेषणं च		९-१८
२. भगवद्वीर्यधर्मनिरूपकः	द्वितीयोऽध्यायः	१९–३७
(आदितः चतुस्त्रिंशः)		
केशिवधः,		१९-२४
नारदकृतं भगवत्स्तवनं,		२५-३३
निलायनक्रीडायां व्योमासुरवधश्च		३४-३७
३. भगवद्यशोधर्मनिरूपकः	तृतीयोऽध्यायः	३८–६१
(आदितः पञ्चत्रिंशः)		
अक्रूरस्य गोकुलगमनं		३८-५४
तत्र रामकृष्णद्वारा तस्य सत्कारश्च		५५-६१
४. भगवच्छ्रीधर्मनिरूपकः	चतुर्थोऽध्यायः	६२–८७
(आदितः षट्त्रिंशः)		
श्रीकृष्णबलरामयोः अक्रूरेण सह संवादः,		६२-६५
मथुरागमनोद्यमः,		६६
विरहकातरगोपीनां विलापः,		६७-७९
कालिन्द्यामक्रूरकर्तृकं भगवद्दर्शनं च		८०-८७
५. भगवज्ज्ञाननिरूपकः	पञ्चमोऽध्यायः	८८–१०३
(आदितः सप्तत्रिंशः)		
अक्रूरकृता भगवत्स्तुतिः		८८-१०३
६. भगवद्वैराग्यधर्मनिरूपकः	षष्ठोऽध्यायः	१०४–१२६
(आदितः अष्टत्रिंशः)		
रामकृष्णयोः मथुरायां प्रवेशः,		१०४-११६
रजकवधः,		११७-११९
वायक-मालाकारयोः अनुग्रहणं च		१२०-१२६

७. धर्मिरूपभगवन्निरूपकः सप्तमोऽध्यायः १२७–१४३
(आदितः एकोनचत्वारिंशः)
कुब्जायामनुग्रहः, १२८-१३३
धनुषो भङ्गः, १३४-१३८
कंसवृत्तान्तं मल्लशालासज्जीकरणं च १३९-१४३

(२) राजसप्रमेयप्रकरणम् १४५–५२५
१. भगवदैश्वर्यधर्मनिरूपकः प्रथमोऽध्यायः १४५–१६५
(आदितः चत्वारिंशः)
कुवलयापीडवधः, १४६-१५१
भगवतोः रङ्गे हृदि च प्रवेशः, १५२-१६०
चाणूरेण सह संवादश्च १६१-१६५
२. भगवद्वीर्यधर्मनिरूपको द्वितीयोऽध्यायः १६६–१९०
(आदितः एकचत्वारिंशः)
चाणूरमुष्टिकादिमल्लानां वधः, १६७-१८०
सभ्रातृककंसवधः तेषां स्त्रीणामाश्वासनं च, १८१-१८८
देवकीवसुदेवयोः बन्धविमोकश्च १८९-१९०
३. भगवद्यशोधर्मनिरूपकः तृतीयोऽध्यायः १९१–२१७
(आदितः द्विचत्वारिंशः)
देवकीवसुदेवयोः निरोधः, १९१-१९७
यादवानां निरोधः, १९८-२०२
नन्दादीनां व्रजप्रेषणं, २०३-२०५
रामकृष्णयोः द्विजसंस्करणं, २०६-२११
गुरोः मृतपुत्रस्यानयनं, २१२-२१६
मथुरायां प्रत्यापत्तिश्च २१७
४. भगवच्छ्रीधर्मनिरूपकः चतुर्थोऽध्यायः २१८–३११
(आदितः त्रिचत्वारिंशः)
व्रजस्थानां स्ववियोगाधिनिवृत्त्यर्थं उद्धवप्रेषणं, २२४-२४८
नन्दोद्धवसंवादः, २४९-३०५
गोपीवृत्तान्तं च ३०६-३११

५.	भगवज्ज्ञाननिरूपकः	पञ्चमोऽध्यायः	३२० – ४८२
	(आदितः चतुश्चत्वारिंशः)		
	गोपीकृतोद्धवोपालम्भनं,		३२६ - ३४२
	भ्रमरगीतं,		३४३ - ३९०
	उद्धवेन भगवत्सन्देशादिना सान्त्वनं,		३९१ - ४३०
	गोपीप्रश्नाभिलाषावर्णनं,		४३१ - ४५३
	उद्धववृत्तान्तं,		४५४ - ४७६
	मथुरायां पुनरागमनं च		४७७ - ४८२
६.	भगवद्वैराग्यधर्मनिरूपकः	षष्ठोऽध्यायः	४८३ – ५०७
	(आदितः पञ्चचत्वारिंशः)		
	भगवता कुब्जामनोरथपूर्तिः,		४८४ - ४८९
	अक्रूरगृहगमनं तस्य हस्तिनापुरप्रेषणं च		४९० - ५०७
७.	धर्मिरूपभगवन्निरूपकः	सप्तमोऽध्यायः	५०८ – ५२५
	(आदितः षट्चत्वारिंशः)		
	अक्रूरवृत्तान्तं,		५०८ - ५१०
	पृथासान्त्वनं,		५११ - ५१४
	अक्रूरधृतराष्ट्रसंवादः		५१५ - ५२३
	अक्रूरपुनरागमनं च		५२४ - ५२५

(३) परिशिष्टानि ५२६-५६१

१.	स्वतन्त्रलेखाः	५२६ – ५२९
२.	आद्यसम्पादकानां प्रस्तावना	५३० – ५३७
३.	एतत्प्रकरणीय कारिका-श्लोक-उपन्यस्तवाक्य-सूचयः	५३८ – ५६१

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

श्रीमद्भागवतदशमस्कन्धसुबोधिन्यां तृतीये राजसप्रकरणे अवान्तरप्रमाणप्रकरणे प्रथमः स्कन्धादितः त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः



गुणातीतस्वरूपेण तामसत्वाद् व्रजस्थिताः ।
निरुद्धास्तत्त्वसङ्ख्यातैरध्यायैरिति वर्णितम् ॥(१)॥
प्रद्युम्नरूपो भगवान् वसुदेवहिताय हि ।
रजोलीलां तथा चक्रे राजसानां निरोधकृत् ॥(२)॥

श्रीमद्वल्लभजीमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

त्रयस्त्रिंशेऽध्याये प्रकरणान्तरं निरूपयितुं सङ्गत्यर्थं पूर्वप्रकरणार्थमनुवदन्ति **गुणातीते**ति. वासुदेवसंकर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धानां गुणातीततामसराजससात्त्विकत्वम्. तत्र वासुदेवेन तामसनिरोधः, प्रद्युम्नेन राजसनिरोधः, अनिरुद्धेन सात्त्विकः. तथाच **गुणातीते** वासुदेवे **स्वरूपं** यस्य तादृशेन भगवता निरुद्धाः, तद्व्यूहपुरस्कारेण निरुद्धा[1] इत्यर्थः. अयं निरोधो यौगिकः, स्कन्धादौ निबन्धे निरूपितो व्यूहकृतः, केवलपुरुषोत्तमकार्यरूपस्तु "निरोधोऽस्यानुशयनमि"तिलक्षणसिद्ध इतिभावः. संकर्षणचरित्रमेकादशस्कन्धे. एवं स्कन्धद्वयेन चतुर्व्यूहचरित्रमिति स्थूलविचारः, सूक्ष्मे तु तत्र तथा तथा स्वयमेवोह्यम्. अष्टाविंशतिभिर्निरूपणे हेतुमाहुः **तामसत्वादि**ति, तत्र तत्त्वातिक्रमणस्य वाच्यत्वादिति पूर्वं निरूपितम्. तथा च तामसानन्तरं राजसस्य क्रमप्राप्तत्वात् प्रसङ्गसङ्गतिः. तामसप्रकरणे तामसभावनिवर्तनेन राजसत्वं सम्पादितं, ततो राजसे तद्भावनिवर्तनेन सात्त्विकत्वं, ततः सात्त्विकानां तद्भावनिवर्तनेन निर्गुणत्वं, ततोऽग्रिमस्कन्धे तेषां मुक्तिरिति निबन्धे क्रमनिरूपणात् हेतुता सङ्गतिश्च निरूपिता (१).

प्रद्युम्नेति. **प्रद्युम्ने रूपं** स्वरूपं यस्येति विग्रहः. एतल्लीलाया वसुदेवहितार्थत्वात् प्रद्युम्नपुरस्कारो युक्त इति **हि**शब्दः. **तथे**ति तत्त्वातिक्रमणं सम्पाद्येत्यर्थः (२).

---

१. विमोचिताः इत्यर्थः. —सम्पा.

असम्बद्धाः पूर्वमुक्ताः सम्बद्धा राजसाश्च हि ।
उभयेषां निरोधोऽतः सर्वान्ते फलितो भवेत् ॥(३)॥
तत्त्वसङ्ख्यैरथाध्यायैश्चतुर्धा पूर्ववद्धरिः ।
गुणैः स्वरूपतो लीलां क्रमादेव तथाकरोत् ॥(४)॥
बन्धूनां तु सुखं दत्वा वंशवृद्धिं चकार ह ।
एतावता निरुद्धास्ते खण्डद्वयमतो[१]ऽत्र हि ॥(५)॥
उद्यमो मानतां यातः सप्तभिः स निरूपितः ।
सप्तभिः सुखदानं च विवाहश्चापि सप्तभिः ॥(६)॥
त्रिविधोऽन्ये फलांशे हि प्रविशन्ति यथा सुताः ।
उषाहरणपर्यन्तमिदं प्रकरणं मतम् ॥(७)॥
न कालनियमोऽन्यत्र सात्त्विके नापि च क्रमः ।
क्रमः पूर्वत्र संसिद्धः सात्त्विका विरला यतः ॥(८)॥

लेखः

असम्बद्धाइति कुलदेहसम्बन्धरहिता इत्यर्थः, व्रजे प्रद्युम्नव्यूहावताराभावादिति भावः. **सर्वान्ते** इति स्कन्धान्ते "जयति जननिवास" इति श्लोके 'व्रजपुरवनितानामि'तिपदेनेत्यर्थः (३).

प्रद्युम्नचरित्रं द्विविधमित्याहुः **बन्धूना**मिति (५).

उद्यम इति, नह्येवमुद्यममन्यः कर्तुं शक्त इति राजसानां पुरुषोत्तमत्वप्रमाजनक उद्यमः. **सुखदानं** स्वरूपकार्यमतः प्रमेयप्रकरणे निरूपितम्. **त्रिविध** इति पूर्वेणान्वेति; रुक्मिणीजाम्बवतीसत्यभामानां **विवाहः सप्तभिः**. एतासां भगवत्प्राप्तौ विवाहः साधनमिति साधनप्रकरणे निरूपितः, **अन्ये** विवाहाः **फलांशे प्रविशन्ति** अतः फलप्रकरणे निरूपिता इति शेषः. विशेषस्तु तत्र तत्र निरूपयिष्यते (६-७).

प्रसङ्गात् सात्त्विकप्रकरणस्यैकविंशतिभिर्निरूपणे हेतुमाहुः **न काले**ति, **अन्यत्र सात्त्विके कालनियमो** न इति साधनीयमिति शेषः. कालनियमाभावः साधनीयः, कालश्च "द्वादश मासा" इति श्रुतेरेकविंशतिविधः अतस्तावद्भिर्निरूपणमित्यर्थः. **नापी**ति अत्र षड्भिः षड्भिः प्रकरणत्रयम्, अन्ते त्रिभिस्तत्तद्धर्मिनिरूपणम् अतः **क्रमोपि न**. क्रमः क इत्यत आहुः **क्रम** इति, सप्तभिः सप्तभिरवान्तरप्रकरणविभाग इति **पूर्वत्र संसिद्धः क्रम** इत्यर्थः. क्रमाभावे हेतुः **सात्त्विका** इति, **विरला**स्तत्र तत्र विशकलिततया स्थिता इत्यर्थः (८).

---

१. मतो यदि इत्यपि पाठः.

नारदो द्विविधो ह्यत्र प्रमाणे विनिरूप्यते ।
कर्मज्ञानविभेदेन ह्यक्रूरो भक्तिबोधकः ॥(९)॥
प्रेमार्थबोधिका गोप्यो भगवद्बोधकश्च सः ।
कार्यं च ज्ञापयामास कंसः सम्भृतिबोधकः ॥(१०)॥
एवं सप्तभिरध्यायैः प्रमाणमिह रूप्यते ।
तत्राद्यः कर्ममार्गस्य ततो भक्त्या विरुद्ध्यते ॥(११)॥
साधनं च फलं तस्य त्रयमत्र निरूप्यते ।
लौकिकारिष्टगमने कर्ममार्गः प्रवर्तते ॥(१२)॥
अतोऽरिष्टवधो हेतुः सर्वव[1]स्त्वर्थबोधने ।
फलमुद्यम एवात्र[2] कंसस्य व्यग्रभावतः ॥(१३)॥
सात्त्विकं तामसं चैव प्रेषयामास राजसः ।

लेखः

प्रथमप्रकरणाध्यायान् विभजन्ते **नारद** इति, पूर्वाध्याये कर्ममार्गीयः, उत्तराध्याये ज्ञानमार्गीय; विशेषणभेदाद्भेदः. प्रथमे नारदात् कंसस्य भगवत्प्रमा द्वितीये नारदात् सर्वेषां, धनुर्यागेन भगवान् प्राप्तव्य इति ज्ञानस्य जातत्वादत्र बोधको नारदः कर्ममार्गीय इति भावः. तृतीये **अक्रूरो भक्तिबोधकः**, न ह्येवं भक्तिरन्यत्र भवतीति तद्भक्त्या श्रोतॄणां भगवत्प्रमा भवति (९).

चतुर्थमाहुः **प्रेमेति**, **प्रेम**रूपो यो**ऽर्थस्तद्बोधिकाः** तत्प्रेम्णापि भगवत्प्रमा भवति. पञ्चमे **सः** अक्रूरः स्तुत्या **भगवत्स्वरूपबोधकः**. षष्ठमाहुः **कार्यं चेति**, **सः** अक्रूरः **स्वकार्यं** कंसाय **ज्ञापयामास** चकाराद् मथुरादर्शनादिकम् —इदं सर्वं भगवत्प्रमाजनकम्. सप्तममाहुः **कंस** इति (१०).

विरुद्ध्यते इति भक्तानामुपद्रवकर्तृत्वादित्यर्थः (११).

साधनं चेति, भगवत्प्रमा **तत्साधनमरिष्टगमनं तत्फलं** कंसोद्यमश्चेति **त्रयमत्राध्याये निरूप्यते. तस्य** भगवज्ज्ञानस्येत्यर्थः (१२).

अत इति, "अरिष्टे निहते गोष्ठे" इत्यनेन हेतुत्वमुक्तम्. **सर्वेति सर्वेषां वस्तूनां** वसुदेवकृतभगवन्नयनादीनाम**र्थः** कंसमारणलक्षणं प्रयोजनं **तद्बोधन** इत्यर्थः. धनुर्यागेन भगवान् प्राप्तव्य इति ज्ञानादिदं नारदकृतबोधनं कर्ममार्गीयमिति भावः (१३).

---

१. सर्वत इत्यपि पाठः. २. एवास्य इत्यपि पाठः.

अत्र वध्या राजसा हि प्रसङ्गादपरेऽपि च ॥(१४)॥
त्रयस्त्रिंशे ततोऽध्याये ह्यरिष्टवध उच्यते ।
नारदोक्तिस्तथा कंसमन्त्रणं च रजो महत् ॥(१५)॥
कलाभिः साधिकैराद्यः सार्धाभ्यां वचनं तथा ।
त्रयोविंशतिभिः शिष्टविद्याः प्राकृतिकास्तथा ॥(१६)॥

पूर्वं च गोपिकादीनां निरोध उपपादितः, अधुनान्येषां निरोधं वक्तुंप्रक्रियान्तरमारभते **अथे**ति.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

अथ तर्ह्यागतो गोष्ठमरिष्टो वृषभासुरः ।
महीं महाककुत्कायः कम्पयन् खुरविक्षताम् ॥१॥

यदैव भगवता निरोधो[1] जात इति ज्ञातवान् **तर्ह्ये**व तदै**वारिष्टः समागत** इत्यर्थः. वृषो हि गोष्ठमायातीति नाश्चर्यं तथाप्ययम**रिष्टो वृषभा**कृतिर**सुरः महीं कम्पयन्** समागत इति राजसे सामर्थ्यविशेषो निरूपितः. **महान् ककुत्** कायश्च यस्य. अदृष्टद्वारा कम्पकत्वाभावायाह **खुरविक्षतामिति**, खुरैर्विक्षतं यथा भवति तथा वा ॥१॥

रम्भमाणः खरतरं पदा च विलिखन् महीम् ।
उद्यम्य पुच्छं वप्राणि विषाणाग्रेण चोद्धरन् ॥२॥

सार्धाभ्यामागमनं निरूप्यत इति तस्य चेष्टामाह **खरतर**मत्यन्तं निष्ठुरं यथा भवति तथा **रम्भमाणः** रम्भणं तज्जातीयमत्तशब्दः **पदा** च एकेन **विशे**षेण **महीं लिखन्**. चिन्तासमये ह्येवं करोति पश्चात् पुच्छ**मुद्यम्य** मध्ये पशुत्वात् पशुचेष्टां करोतीत्याह **वप्राणि विषाणाग्रेण चोद्धरन्नि**ति. गोकुलनिकटे स्थिताः प्राकारा

लेखः

सात्त्विकमिति, अक्रूर-केशि-कंसाः सात्त्विक-तामस-राजसाः. राजसप्रकरणे तामसवधः कुत इत्यत आहुः **अत्रे**ति, मुख्यतया त एव **वध्याः** परन्तु **प्रसङ्गादन्येऽपि** भवन्तीत्यर्थः (१४).

ततोऽध्याये इति, राजसानां मुख्यतया वध्यत्वादित्यर्थः (१५).

साधिकैरिति, अर्धाधिकैः **कला**संख्याकैः सार्धपञ्चदशभिः श्लोकैरित्यर्थः. श्लोकस्य विशेष्यत्वात् **साधिकै**रिति पुंल्लिङ्गः (१६).

---

१. सर्वथा स्वीयत्वेन पालनमत्रेति कस्मिंश्चिदादर्शे.

किञ्चित् किञ्चिच्छकृन् मुञ्चन् मूत्रयन् स्तब्धलोचनः ।
यस्य निर्ह्रादितेनाङ्ग निष्ठुरेण गवां नृणाम् ॥३॥
पतन्त्यकालतो गर्भाः स्रवन्ति स्म भयेन वै ।
निर्विशन्ति घना यस्य ककुद्यचलशङ्कया ॥४॥
तं तीक्ष्णशृङ्गमुद्वीक्ष्य गोप्यो गोपाश्च तत्रसुः ।
पशवो दुद्रुवुर्भीता राजन् सन्त्यज्य गोकुलम् ॥५॥
कृष्ण कृष्णेति ते सर्वे गोविन्दं शरणं ययुः ।
भगवानपि तद्वीक्ष्य गोकुलं भयविह्वलम्[१] ॥६॥

उभाभ्यां भेदने बलमत्यन्तं न निविष्टं भवतीति एकेनैव शूलवत् प्रविष्टेन उद्धरणं करोति, चकारात् परिवृत्त्या अपरेण द्वाभ्यां च क्वचित्. अंशतः पृथक्करणमुद्धरणम् ॥२॥

मत्तस्वभावमाह **किञ्चित् किञ्चिच्छकृन् मुञ्चन्** गोमयं त्यजन् गोमूत्रं च. **स्तब्धलोचनश्च** जातः. अनिवृत्तक्रोधत्वज्ञापनाय राजसत्वाद् विचारे प्रवृत्तः, न सहसा प्रविष्टः भगवदिच्छया गोष्ठाधिष्ठातृदेवेन निरुद्धानामनुभावेन च न प्रविष्टः. तस्य क्रियया यद् जातं तत् स्पष्टमेवेति रम्भणस्यैव कार्यमाह **यस्य निर्ह्रादितेनेति, निष्ठुरेण** अन्तः प्रविश्यापि मारयतीति तेन **गवां नृणां** च **अकालतो**पि कालस्य निमित्तत्वाभावेऽपि **गर्भाः पतन्ति स्रवन्ति** च **भयेन**. तृतीये चतुर्थे स्रावः, पातः पञ्चमषष्ठयोर्मासयोः. तत्र हेतुर्भयं न तु तस्य नादः मन्त्रारिष्टवददृष्टद्वारा, तथा सति लौकिकोत्कर्षो न स्यादिति. तस्य शरीराधिक्यमाह **निर्विशन्तीति, यस्य ककुदि** पर्वतबुद्ध्या मेघा उपविशन्ति. अनेन देहमहत्त्वं व्याख्यातम् ॥३-४॥

एवं तस्य शरीरक्रियाशब्दानामन्तःकरणस्य च क्रौर्यं निरूप्य ततो यद् जातं तदाह **तं तीक्ष्णशृङ्गमिति**. तीक्ष्णे शृङ्गे यस्य, ऊर्ध्वं दृष्ट्वा अत्युच्चैरिति उद्वीक्षणाद् **गोपा गोप्यः पशवश्च तत्रसुः**. निरुद्धा इति कदाचिद् देहाभिमानाभावाद् भयं न भविष्यतीत्याशङ्क्य निरूपितम्. पशुषु विशेषमाह **भीताः** सन्तो **दुद्रुवुरिति**. सावधानार्थं सम्बोधनम्. **गोकुलं सन्त्यज्ये**ति पुनरागमनापेक्षा त्यक्तेति भावः ॥५॥

तदा सर्वभयेषु भगवान् शरणमिति ज्ञात्वा **ते सर्वे कृष्ण कृष्णेति शरणं** गताः. स तस्य स्वाभाविको हृदि स्थितो धर्मः. यो महाभये मुखात् निःसरति; व्रजस्थानां पुनः कृष्ण एव निविष्ट इति कृष्ण कृष्णेत्येवाहुः. किञ्च **गोविन्दो** यः

---

१. विद्रुतम् इत्यपि पाठः.

मा भैष्टेति गिराश्वास्य वृषासुरमुपाह्वयत् ।
गोपालैः पशुभिर्मन्द त्रासितैः किमसत्तम ॥७॥
बलदर्पहाहं दुष्टानां त्वद्विधानां दुरात्मनाम् ।
इत्यास्फोट्याच्युतोऽरिष्टं तलशब्देन कोपयन् ॥८॥
सख्युरंसे भुजाभोगं प्रसार्यावस्थितो हरिः ।
सोऽप्येवं कोपितोऽरिष्टः खुरेणावनिमुल्लिखन् ।
उद्यत्पुच्छभ्रमन्मेघः क्रुद्धः कृष्णमुपाद्रवत् ॥९॥

स्वेन्द्र इति न केवलं तेषां वचनं किन्तु **भगवानपि** तन्निरीक्ष्य **वृषासुरमुपाह्वय**दिति सम्बन्धः. **भयेन विह्वल**मिति **मा भैष्टे**त्यादौ गोकुल**माश्वास्य** मनसा तद्वधं प्रतिज्ञाय पश्चादुपाह्वयत्, न तु समाधानार्थम्. वृष इति दैत्यांशाः सर्व एव वध्याः. यथा ब्रह्मणः पौत्रादयः तथा वृषादयोपि. देवांशानामेव वधे दोष इति धर्ममर्यादा. तदाह **वृषासुरमिति**, असुरा वध्या एव रोगमलप्रायाः. राजसत्वादादौ वचनमाह **गोपालै**रिति, गोपालाः पशवश्चाल्पसत्त्वाः सजातीयास्तत्पालकाश्च. न हि महान् अल्पैः सह युध्यति सजातीयैर्वा अत एव विचाराभावात् **मन्दे**ति सम्बोधनम्. मारयितुं त्वयैव न शक्यते, तथा सति शत्रुपक्षापकर्षोऽपि भवेत्. केवलं[1] त्रासितैः किं कार्यम्, अत एव वृथैव सद्भयजनको मारणीय इति ज्ञापयितुं सम्बोधयति **असत्तमे**ति. क्रियया दुष्टो सन् अन्तःकरणेनासत्तमः स्वरूपतोऽपि क्रूरस्तथा ॥६-७॥

ननु दुष्टानां कार्यमेवेमेवेति चेत् तत्राह **बलदर्पहाह**मिति, बलं तज्जनितं दर्पं च हन्तीति तथा. बहुलं छन्दसीति ब्रह्मभ्रूणवृत्रेष्वेवोपपदेषु न नियमः. **अह**मित्यात्मानं प्रदर्श्याह स्वपौरुषं ख्यापयन्निव **दुष्टाना**मेवाहं सामान्यतो **दर्पहा**, तत्रापि **त्वद्विधाना**मुद्वेजकानां **दुरात्मना**मित्यन्तःकरणदोषयुक्तानां क्रियया अन्तःकरणेन स्वरूपतश्च दुष्टा वध्या एवेति एवमुक्त्वा **आस्फोट्य** बाहुस्फोटनं मल्लवत् कृत्वा आस्फोटन**तलशब्दे**नैव तं **कोपयन्** हीनोसि त्वमिति ज्ञापनेन कोपं जनयन्. **अच्युत**त्वात् स्वयं निर्भयः ॥८॥

अवगणनया लीलां कृतवानित्याह **सख्युरंस** इति. **भुजाभोगं** महान्तं भुजं **प्रसार्यावस्थितो** जातः, एवं करणे हेतुमाह **हरि**रिति, यथा सोऽप्यरिष्टो लीलासहितं भगवन्तं पश्यन् अन्ते तमेव ध्यायन् मुक्तो भवति. तस्यापि वृत्तान्तमाह **सोपी**ति, एवमाक्षेपैः **कोपितः** स्वभावतो**ऽप्यरिष्ट**रूपः **खुरेण अवनिं** भूमि**मुल्लिखन्** पूर्ववत्

[1]. केवलत्रासितैरित्यपि पाठः.

अग्रन्यस्तविषाणाग्रः स्तब्धासृग्लोचनोऽच्युतम् ।
कटाक्षिप्याद्रवत् तूर्णमिन्द्रमुक्तोऽशनिर्यथा ॥१०॥
गृहीत्वा शृङ्गयोस्तं वै[1] अष्टादशपदानि सः ।
प्रत्यपोवाह भगवान् गजः प्रतिगजं यथा ॥११॥
सोऽपि[2] विद्धो भगवता पुनरुत्थाय सत्वरः ।
आपतत् स्विन्नसर्वाङ्गो निःश्वसन् क्रोधमूर्च्छितः ॥१२॥

मारणप्रकारं विचारयन् पश्चा**दुद्यत्पुच्छो** भूत्वा तेनोर्ध्वपुच्छेन **भ्रमन्तो मेघा** यस्य, पुच्छाघातेन मेघा इतस्ततो विक्षिप्ताः. ततः **क्रुद्धः** सन् अयुक्तं करोतीति ज्ञापयितुं **कृष्णं** सदानन्द**मुप** समीपपर्यन्तमाद्र**वत्** ॥९॥

आद्रवणे प्रकारमाह **अग्रन्यस्तेति**, **अग्रे** प्रथमतो **न्यस्ते** स्थापिते **विषाणाग्रे** येन, **स्तब्धे असृग्वर्णे लोचने** यस्य; बहिरन्तर्मारणसाधनपरिग्रह उक्तः. तयोरसाधनत्वसूचनायाह **अच्युतमिति**. आदौ दृष्टिवेधार्थं **कटाक्षीकृत्य;** वस्तुतस्तु कटाक्षेनापि भगवान् न विद्धः तथापि अकटाक्षमपि कटाक्षीकृत्य, **तूर्णमाद्रवत्**. अविचारेण समागमने दृष्टान्तमाह **इन्द्रमुक्त** इति, यथा पर्वतपक्षच्छेदने दुष्टानामेव छेदनार्थं प्रवृत्तः अन्यत्रापि गतः एवम् अयं भगवत्समीपमप्यागतः. अत्रैव वा अविचारदशाया**मिन्द्रेण मुक्तः** नमुचिप्रस्तावे वा ॥१०॥

तदा भगवता यत् कृतं तदाह **गृहीत्वेति**. लोकेऽतिसाहसं **शृङ्गयोरेव** धृत्वा **तं** प्रसिद्धमरिष्टं **वै** निश्चयेन अष्टादशविद्यास्थानेषु वृषो न वध्यत इति पश्चाद्भागे **अष्टादशपदानि प्रत्यपोवाह** यथा महान् छागं नयति. तथा करणे सामर्थ्यं **भगवानिति**, ज्ञाने च. ननु भगवांश्चेत् स्वबलं प्रदर्शितवान् तथा कथं पुनरागत इत्याशङ्क्य विशेषतो न ज्ञापितवानिति वक्तुं दृष्टान्तमाह **गजः प्रतिगजं यथेति**, तद्बलापेक्षया अल्पमेवाधिकं बलं प्रकटितवानित्यर्थः ॥११॥

न केवलं भगवता नीत एव तावद्दूरं किन्तु भूमौ त्यागसमये निक्षिप्तः, तादृशोऽपि पुनरागत इत्याह **सोऽपीति**. महतो भूमौ पतितस्य गात्रभङ्गसम्भवात् कथमागत इत्याशङ्क्य (आह!) **भगवता विद्ध** इति, तथैव विद्धः यथा पुनः आयाति. यतोऽयं वध्य एव अतः **पुनरुत्थाय** पूर्वापेक्षयापि **सत्वरः आपतत्** आगत एव भगवत्समीपम्. अधुनायं मारणीय इति ज्ञापयितुं विशेषणद्वयमाह. **स्विन्नानि सर्वाङ्गानि** यस्य. अनेन देहाभावार्थं मारणपर्यन्तं तेनैव प्रयत्नः कृत इति मारितो वा

१. वा इत्यपि पाठः. २. सोपविद्धो इत्यपि पाठः.

तमापतन्तं स निगृह्य शृङ्गयोः पदा समाक्रम्य निपात्य भूतले ।
निष्पीडयामास यथार्द्रमम्बरं कृत्वा विषाणेन जघान सोऽपतत् ॥१३॥
असृग् वमन् मूत्रशकृत् समुत्सृजन् क्षिपंश्च पादाननवस्थितेक्षणः ।
जगाम कृच्छ्रं निर्ऋतेरथ क्षयं पुष्पैः किरन्तो हरिमीडिरे सुराः ॥१४॥
एवं ककुद्मिनं हत्वा स्तूयमानः स्वजातिभिः ।
विवेश गोष्ठं सबलो गोपीनां नयनोत्सवः ॥१५॥

मारयित्वा वा निर्वतते नान्यथेति ज्ञापितं; **क्रोधेन मूर्च्छित** इत्यन्तःकरण-प्रवृत्तिरनिवर्त्या निरूपिता ॥१२॥

तदा भगवता मारित इत्याह **तमापतन्त**मिति, उपरि पतन्तमरिष्टं **शृङ्गयो**र्धृत्वा तस्य बलं **निगृह्य** यथा बलक्षीणो भवति तथा कृत्वा पश्चाद् भूमौ पातयित्वा **पादेनाक्रम्य** यथा यज्ञे पशुर्निष्पीड्यते तथा **निष्पीडयामास.** तथा क्षताभावेऽपि रोमकूपद्वारा रुधिरं निःसारितवानित्यर्थे दृष्टान्तमाह **यथार्द्रमम्बर**मिति, तदपि **हस्तेन** निष्पीडितमम्बरं न सर्वं जलं विमुञ्चति यथा रजकादिभिः काष्ठखण्डैर्निष्पीडितम्. तदाह **विषाणेन कृत्वे**ति, विपरीतनिर्देशः अग्रिमसम्बन्धार्थः, **विषाणेन** च तं **जघान**; येनैव मारणार्थं स प्रवृत्तः तेनैव स मारित इति "ये यथा मां प्रपद्यन्ते" इत्यर्थ उक्तो भवति. विषाणद्वयमेकं वा तदुदरे निवेशितवानित्यर्थः. ततः **स अपतत्** पुनरुत्थानप्रयत्नं न कृतवानित्यर्थः ॥१३॥

अन्तस्तु प्राणोद्गमनरूपः प्रयत्नो जात इत्याह **असृग् वमन्नि**ति. मुखद्वारा **असृक्, मूत्रं** मध्ये, **शकृद्** अन्ते —एवं सर्वतः सर्वं निःसृतमिति महान् प्रयत्नो मरणात्मकः सूचितः. गच्छतः प्राणस्य चेष्टामाह **क्षिपंश्च पादा**निति. **न अवस्थिते ईक्षणे** यस्य, नेत्रे विपरीते जाते. अनेन नेत्रद्वारा प्राणगमनमिति निरूपितम्. प्रथमतः **कृच्छ्रं** मूर्च्छां **जगाम.** ततो न पुनरावृत्तः किन्तु **अथ निर्ऋतेः क्षयं** मृत्युमेव **जगाम.** अथवा प्रथमतो **निर्ऋतेः क्षयम् अथ** तदनन्तरं **क्षयं** स्वस्थानमाश्रयभूतं **जगाम.** मुक्तिप्रकरणे गणितत्वात् वृषभवधः आकृतिसाम्यादयुक्तइव भविष्यतीत्याशङ्क्य देवानुमोदनेन तद्युक्तमिति समर्थयति **पुष्पैः किरन्त** इति, पुष्पवृष्टिं कृत्वा स्तोत्रमपि कृतवन्तः यतः स्वदुःखं दूरीकृतवान्. तदर्थपरिज्ञानाय **सुरा** इति ॥१४॥

उपसंहरति **एव**मिति.

सजातीया अपि कठिना इति **स्वजातिभि**रपि गोपैः **स्तूयमानः.** अत एव **जाति**पदम्. ततो गोष्ठशत्रुं हत्वा **गोष्ठं प्रविवेश, सबलो** बलभद्रसहितोऽपि जातः;

अरिष्टे निहते दैत्ये कृष्णेनाद्भुतकर्मणा ।
कंसायाथाह भगवान् नारदो देवदर्शनः ॥१६॥

प्रमाणसहितत्वात्. तस्य गोष्ठे प्रवेशस्य कारणं **गोपीनां नयनोत्सव**रूप इति, अनेन निरोधस्य सिद्धत्वात् नातः परं सम्बन्ध इति सूचितम् ॥१५॥

एवं हेतुभूते अरिष्टवधे जाते तत्फलम् अग्रे निरूपयिष्यन् प्रथमं कार्यमाह सार्धाभ्याम्. गोष्ठे **अरिष्टे निहते** नातः परं गोष्ठे कार्यमस्ति, सर्वमेव दुःखमेतन्मूलकमिति. ननु सदानन्दोऽप्यपेक्षित इत्याशङ्क्याह **कृष्णे**नेति, साधनत्वमापन्नः सदानन्द एवेति न तदर्थमन्यत्कार्यम्. **अद्भुतकर्मणे**ति, भगवता अरिष्टो न हतः किन्तु गोकुले स्थापितः यतः तत्प्रभृति गोकुले दुःखमेवेति विपरीतक्रियैव अद्भुतकर्मता. तदा भगवानागमिष्यतीति ज्ञात्वा रथादिप्रेषणार्थं नारद उपायं कृतवानित्याह **कंसायाथाहे**ति. **अथ** तदनन्तरमेव यदैव भगवान् गन्तुमियेष तदैव. **देववद् दर्शनं** यस्येति भगवतइव तस्य ज्ञानं निरूपितम्. लोकविरुद्धस्यापि करणे दोषाभावाय, देववद् वा आराधितप्रत्यक्षे यथेष्टं भवति तथा, नारदस्य दर्शनेन सर्वेष्टं जातमिति ज्ञापितम्. अथवा यो देवः पूर्वमाह "अस्यास्त्वामष्टमो गर्भ" इति तस्मिन् दृष्टे यथा भवति सर्वसन्देहनिवृत्तिः तथा नारदे दृष्टे जातेति ॥१६॥

नारदस्य वाक्यान्याह **यशोदायाः सुतामि**ति.

यशोदायाः सुतां कन्यां देवक्याः कृष्णमेव च ।
रामं च रोहिणीपुत्रं वसुदेवेन बिभ्यता ॥
न्यस्तौ स्वमित्रे नन्दे वै याभ्यां ते पुरुषा हताः ॥१७॥

दैवमप्यनृतं वदतीति तस्य या विपरीतबुद्धिः सा प्रथमतः अपोह्यते. कन्या न देवक्याः, नापि यशोदायाः पुत्रः, किन्तु यशोदायाः कन्या देवक्यास्तु पुत्रः. सर्वत्राहेति सम्बन्धः. **यशोदायाः सुतामाह कन्यां, कृष्णं** तु **देवक्याः** पुत्रमाहेति. **रामं च** देवक्याः पुत्रं **रोहिणीपुत्र**मपि. एवकारस्तद्व्यावृत्त्यर्थः, यथा देवक्याः रोहिण्याश्च रामः पुत्रः एवमेव देवक्याः यशोदायाः पुत्रो न भवतीति कथमेवं व्यत्यासो जात इति चेत् तत्राह, **वसुदेवेन बिभ्यता न्यस्तौ स्वमित्रे नन्द** इति एतावत्यर्थे, नारदोऽपि न जानाति यथा नन्दोऽपि न जानाति तथा भगवांस्तत्र तिष्ठतीति परमार्थतो

लेखः

एवं ककुद्मिनमित्यत्र **अनेने**ति, निरोधार्थकः सम्बन्धो न फलरूपो नित्यलीलासिद्धस्तु सार्वदिक इति भावः ॥१५॥

निशम्य तद्भोजपतिः कोपात् प्रचलितेन्द्रियः ।
निशातमसिमादत्त वसुदेवजिघांसया ॥१८॥
निवारितो नारदेन तत्सुतौ मृत्युमात्मनः ।
ज्ञात्वा लोहमयैः पाशैर्बबन्ध सह भार्यया ॥१९॥
प्रतियाते तु देवर्षौ कंस आभाष्य केशिनम् ।
प्रेषयामास हन्येतां भवता राममाधवौ ॥२०॥

वा न्यासः. **मित्र**पदं ज्ञात्वाप्यन्यथा न करिष्यतीति ज्ञापनार्थम्. **वै** निश्चयेन **याभ्यां** कृष्णरामाभ्यां **ते पुरुषाः** सर्व एव प्रलम्बादयो **हता** इति, अन्यथा नान्यो मारयितुं शक्नुयात्. एतावदुक्त्वा तूष्णीं तत्रैव स्थितः ॥१७॥

ततो यद् जातं तदाह **निशम्येति**, नारदोक्तं **तत्** प्रमेयं **निशम्य.** अन्यथाकरणे सामर्थ्यार्थमाह **भोजपतिरि**ति. भोजानां पतिः. अकस्माज्जातेन **कोपेन प्र**कर्षेण **चलितानीन्द्रियाणि** जातानि. अन्यायो वसुदेवस्येति ज्ञात्वा त**ज्जिघांसया निशातं** तीक्ष्णं खड्गमाददे ॥१८॥

प्रायेण वसुदेवः सभायामेवास्ते. तदा भीतो नारदो निवारयामासेत्याह **निवारित** इति. ननु तन्निवारितः कथं कंसो न मारयेदित्याशङ्क्याह **नारदेने**ति, स हि तेषां मान्यः, तुल्यो देवेषु तेषु च. तथापि शत्रुरिति बद्ध इत्याह **तत्सुतावात्मनो मृत्युरिति** देवकीवसुदेवौ **बबन्ध.** भ्रातॄणामपि स्वमध्यपातात् सेवकानां च. **सुताविति** द्विवचनम् अविशेषकथनात् सन्देहाद् वा. **लोहमयैः पाशैरि**ति न पादे शृङ्खला किन्तु सर्वावयवेषु शृङ्खलाभिरिव बन्धनम्. एतावदुक्त्वा नारदो निर्गतः. केचित् तु बन्धनमपि नारदेनैवोक्तमित्याहुः, मारणे तत्सुतौ पलायनं करिष्यतइति, तद् उपेक्षणीयम् अनृतवादप्रसङ्गात् ॥१९॥

ततो **देवर्षौ प्रतियाते** पुनस्तस्यान्यथाबुद्धिः पूर्ववद् भविष्यतीत्याशङ्क्य **तु**शब्दो वारयति, यतोऽयं देवानामपि मन्त्रद्रष्टा. तदा कंसः स्वनिकटे स्थितं स्वस्य पट्टाश्वरूपं[1] **केशिनमाभाष्य** हे केशिन्निति सम्बोध्य गोकुले **प्रेषयामास** त्वं गच्छ. गोकुलम् इति अर्थसिद्धत्वान्नोक्तम्. गतस्य कृत्यमाह **हन्येतामि**ति. गत्यर्थोऽपि

लेखः

निवारित इत्यत्र **भ्रातॄणामि**ति, वसुदेवस्य भ्रातरः सेवकाश्च **कंसमध्यपातिन** एवेति न तेषां बन्धनं किन्तु देवकीवसुदेवयोरेवेत्यर्थः ॥१९॥

---

१. पार्षदरूपमित्यपि पाठः.

ततो मुष्टिक-चाणूर-शल-तोशलकादिकान् ।
अमात्यान् हस्तिपांश्चैव समाहूयाह भोजराट् ॥२१॥
भो भो निशम्यतामेतद् वीरचाणूरमुष्टिकौ ।
नन्दव्रजे किलासाते सुतावानकदुन्दुभेः ॥२२॥
रामकृष्णौ ततो मह्यं मृत्युः किल निदर्शितः ।
भवद्भ्यामिह सम्प्राप्तौ हन्येतां मल्ललीलया ॥२३॥

हनधातुरिति आनयनार्थमेव घोटकः प्रेष्यत इति लक्ष्यते. सुखासनं तत्र भवतीति पश्चाद्रथप्रेषणम्. तस्य तथा सामर्थ्यमग्रे वक्ष्यति "तस्य हेषितसंत्रस्ता" इति. **माधव**पदं मधुवंशोत्पन्नाभिप्रायेण[1], **राम**स्तु प्रसिद्धः ॥२०॥

सोऽपि **भक्तो** भविष्यतीति साक्षाद्भगवन्नाम **न** मुखान्निःसृतम्, हृदये तेन कार्यं सेत्स्यतीति ज्ञात्वा सर्वानिवाहूय मन्त्रयामासेत्याह **तत** इति. **मुष्टिका**दयो मल्लाः **अमात्या** गृहमन्त्रिणः **हस्तिपाः** युद्धकुशलाः **च**कारादन्यांश्च बन्धून्, **एव**कारेण न विपक्षान्, **समाहूय** गृहस्थितानाकारयित्वा. आगमनार्थं हेतुमाह **भोजानां राजे**ति ॥२१॥

समागतेषु तेषु स्ववृत्तान्तमाह **भो भो** इति. सामान्यसम्बोधनद्विरुक्त्या सर्वेषामेव सम्बोधनं लक्ष्यते, तेन प्रत्येकं नाम गृहीत्वा कथयतीति ज्ञापितम्. **एतन्निशम्यतामि**ति सावधानीकरणम्. **वीरे**ति विशेषणं प्रकृतोपयोगित्वात् सर्वेषां, **चाणूरे**ति भिन्नतया निरूपणे तस्यैव वा. **वीरो** वा कश्चित्. मुष्टिकादीनां प्रधानेन ग्रहणात् बहुवचनं वा. अज्ञातं वृत्तान्तमाह **नन्दव्रज** इति, मन्त्रे वक्तुर्नाम न ग्राह्यमिति **किले**त्याह; प्रसिद्ध एवायमर्थः. **आसाते किल, नन्दव्रजे किल, आनकदुन्दुभेः सुतौ किल** ॥२२॥

नाम्ना प्रसिद्ध्यर्थं नामाह **रामकृष्णा**विति. किमतो यद्येवमित्याशङ्क्याह **ततो मह्यमिति, मृत्यु**र्मरणम्. अत्रापि पूर्ववत् **किले**ति. **निदर्शित** इति नितरां दर्शितः प्रत्यक्षतया सर्वैरुक्तः. तर्हि किं कर्तव्यमित्याकाङ्क्षायामाह **भवद्भ्या**मिति, **इह सम्यक् प्राप्तौ भवद्भ्यां** चाणूरमुष्टिकाभ्यां **मल्ललीलया हन्येता**मिति प्राप्येतामित्युक्तं भवति. यदि लौकिकभाषया स विरुद्धं न वदेत् तदा भगवानपि लोकरीत्या तं न मारयेत्. **लीलये**ति पदं भागिनेयाविति प्रकटतया तथाकरण-मनुचितमिति. अत एव भगवतापि तथैव कृतं, न तु शस्त्रेण नापि मुष्टिभिः ॥२३॥

अयं भावः भगवता तद्धृदये स्थापित इति बालकवञ्चनार्थं मल्लरङ्गप्रकारमाह

---

१. वृष्णिप्रमुखः वृषपुत्रो मधुः इति. —सम्पा.

मञ्चाः क्रियन्तां विविधाः मल्लरङ्गपरिश्रिताः ।
पौरा जानपदाः सर्वे पश्यन्तु स्वैरसंयुगम् ॥२४॥
महामात्र त्वया भद्र रङ्गद्वार्युपनीयताम् ।
द्विपः कुवलयापीडो जहि तेन ममाहितौ ॥२५॥
आरभ्यतां धनुर्यागश्चतुर्दश्यां यथाविधि ।
विशसन्तु पशून् मेध्यान् भूतराजाय मीढुषे ॥२६॥

मञ्चाः क्रियन्तामिति. विविधा इति मनोहरत्वाय, येनान्यचित्तत्वे मारयितुं शक्येत. **मल्लानां रङ्गमाश्रित्य परित**स्तिष्ठन्तीति. मञ्चानां सर्वतः करणं येनैव सुखेन मल्लैः सह युद्धम्. तत्रैव भ्रमार्थं, केवलैर्भ्रमो न भविष्यतीति, तत्र लोकानां निवेशनमाह **पौरा जानपदा** इति. पुरवासिनो जनपदवासिनश्च पृथक् पृथक् मञ्चे स्थिताः. **स्वैरसंयुगं** स्वेच्छया युद्धं पश्यन्त्विति तेषां कोलाहलेन वा अन्यचित्ततेति अपकीर्त्यभावश्च फलिष्यतीति ॥२४॥

भगवदर्थमेवैतद् जातम्. तत्रापि सन्देहे उपायान्तरमाह **महामात्रे**ति. **महामात्रो** महाहस्तिपः कुवलयापीडस्य पट्टहस्तिनो यन्ता, तस्य सम्बोधनं प्रोत्साहार्थम्. **त्वया कुवलयापीडो रङ्गद्वारि** नेतव्यः, न त्वन्येन नाप्यन्यः. **भद्रे**ति सम्बोधनं तव कापि चिन्ता न भविष्यतीति ज्ञापनार्थम्. सरस्वतीसंवादाद् **अभद्रे**ति ज्ञानम्[१]. **कुः** पृथिवी तस्या **वलयस्य आपीडं** मुकुटरूपम्. ततः किमत आह **मम अहितौ** कामक्रोधौ **जही**ति, न त्वन्यः अहितः ॥२५॥

एवं लौकिकमुपायमुक्त्वा अलौकिकमाह **आरभ्यता**मिति.

अयं विष्णवंश इति तस्य प्रतीतिः अतः शिव आराध्यः, स एव तत्प्रतिबलो भवितुमर्हतीति. तत्रापि तस्य यागा बहवः तन्मध्ये युद्धजयोऽभिकाङ्क्षित इति **धनुर्याग** एव कर्तव्यः. यत्र धनुषि शिवः पूज्यते स शैवतन्त्रे धनुर्यागः प्रसिद्धः. **चतुर्दश्यां** स कर्तव्यः यतश्चतुर्दशी शिवतिथिः. **यथाविधी**ति अधिवासनादिपुरःसरं तत्तन्त्रोक्तन्यायेन हिंसाप्रचुरश्च यागः कर्तव्यः. शैवतन्त्रे शिवभेदा बहवः सन्तीति तदर्थं हिंसाप्रचुरश्चेत् क्रियते तदा तादृश एव देवो भवतीति तदाह **भूतराजाये**ति, **मीढुषे** कामपूरकाय सर्वथा फलदात्रे ॥२६॥

एवं दृष्टादृष्टोपायमुक्त्वा समानयनोत्तरकालमेतदिति समानयनार्थम् अक्रूरं प्रेषयितुं तमाकारितवानित्याह **इत्याज्ञाप्ये**ति.

---

१. जातमित्यपि पाठः.

इत्याज्ञाप्यार्थतन्त्रज्ञ आहूय यदुपुङ्गवम् ।
गृहीत्वा पाणिना पाणिं ततोऽक्रूरमुवाच ह ॥२७॥
भो भो दानपते मह्यं क्रियतां मैत्रमादृतः ।
नान्यस्त्वत्तो हिततमो विद्यते भोजवृष्णिषु ॥२८॥
अतस्त्वामाश्रितः सौम्य कार्यगौरवसाधनम् ।
यथेन्द्रो विष्णुमाश्रित्य स्वार्थमध्यगमद्विभुः ॥२९॥
गच्छ नन्दव्रजं तत्र सुतावानकदुन्दुभेः ।

अर्थतन्त्रज्ञः कार्यपरिकराभिज्ञः अक्रूरं विना नान्येन कार्यं सिद्ध्यतीति ज्ञात्वा **यदुपुङ्गवं** यादवश्रेष्ठं गृहादा**हूय पाणिना** तस्य **पाणिं गृहीत्वा** सन्माननार्थं परिगृह्य **ततः** प्रीतं ज्ञात्वा स्वभावतोप्य**क्रूरमुवाच. ह**इत्याश्चर्ये, न हि भगवद्भक्त एवं कार्यार्थे प्रेषयितुमुचित इति ॥२७॥

भो भो इति सम्बोधने द्विरुक्तिरत्यादरसूचिका. **दानपत** इति तद्धर्मकीर्तनं, स हि दानमात्रस्याधिष्ठाता द्वादशसंवत्सरपर्यन्तं प्रत्यहं गोदाने क्रियमाणे जातः. तन्मातापि तथा गान्दिनी. यथा आर्तेभ्योऽन्यद्दानं तथा मह्यम् आर्ताय भगवान् देय इत्यर्थः. **मह्यं मैत्रं** मित्रकार्यं **क्रियताम्.** अनेन त्वयि मैत्री स्थाप्यते, यथा मित्रस्योचितं तथा कुर्वित्यर्थः. तत्राप्या**दृतः** आदरयुक्तः, कर्तरि क्तः. मया वा आदृतः आदृतो यतः. एतादृशं कर्म अन्येन कारणीयमित्याशङ्क्याह **नान्य** इति, **त्वत्तः अन्यः** मे **हिततमो** नास्ति. अनुवृत्त्या ज्ञायते. **भोजाः** पितृवंश्या **वृष्णयो** यादवाः; सामान्यविशेषभावे तद्द्वयमाह अतः सामान्यतो वा विशेषतो वा नान्यो हिततमो वर्तत इत्यर्थः ॥२८॥

ततः किमत आह **अतस्त्वामाश्रित** इति, एतावत्कालं मां त्वमाश्रितः अधुना तु त्वामहमाश्रितः. **सौम्ये**ति सम्बोधनम् आश्रययोग्यार्थम्. **कार्यस्य** मह**द्गौरवं** तस्य **साधनं** प्रति तत्साधयितुं साधने वा साधनार्थम्. ननु विधेयस्याश्रयः कथं युक्त इति चेत्तत्राह **यथेन्द्र** इति, **इन्द्रो** ज्येष्ठः **विष्णु**रुपेन्द्रः कनिष्ठः तथापि दैत्यैस्त्रैलोक्ये हृते तत्सिद्ध्यर्थं विष्णुमाश्रित्य कार्यं साधितवान्. एवमहमपि साधयितुमुद्युक्तः **स्वार्थं** गमिष्यामि. **विभु**रपीन्द्रः अतः कार्यार्थं समाश्रयणं न निन्दितमिति भावः ॥२९॥

तत्कार्यमाह **गच्छ नन्दव्रजमि**ति. ततः **तत्रानकदुन्दुभेः** जन्मकालेऽपि भगवदधिष्ठानत्वेन प्रसिद्धस्य **सुतौ** रामकृष्णौ **तत्र** व्रजे **आसाते.** ततः किमत आह

आसाते ताविहानेन रथेनानय मा चिरम् ॥३०॥
निसृष्टः किल मे मृत्युर्देवैर्वैकुण्ठसंश्रयैः ।
तावानय समं गोपैर्नन्दाद्यैः साभ्युपायनैः ॥३१॥
इहानीतौ घातयिष्ये कालकल्पेन हस्तिना ।
यदि मुक्तौ ततो मल्लैर्घातये वैद्युतोपमैः ॥३२॥
तयोर्निहतयोस्तप्तान् वसुदेवपुरोगमान् ।
तद्बन्धून् निहनिष्यामि वृष्णिभोजदशार्हकान् ॥३३॥
उग्रसेनं च पितरं स्थविरं राज्यकामुकम् ।
तद्भ्रातरं देवकं च ये चान्ये विद्विषो मम ॥३४॥

ताविहानेन रथेनानय; चिरं मा विलम्बो न कर्तव्यः ॥३०॥

प्रयोजनाकाङ्क्षायामाह **निसृष्ट** इति. **किले**ति प्रसिद्ध्या पूर्ववत् नारदगोपनम् उभावेव **मृत्युः, देवैर्निसृष्ट** इत्यनुल्लङ्घ्यः. ननु दैत्यानां देवा वध्या इति किं तैरिति चेत् तत्राह **वैकुण्ठसंश्रयैः** वैकुण्ठो विष्णुः स एव सम्यगाश्रयो येषाम्. अतो भगवदाश्रयेण देवैः क्रियत इति नान्यथा सोऽर्थः सेत्स्यति. पूर्वं ''रथेनानये''त्युक्त्वापि मृत्युत्वेन निर्देशेनानेष्यतीति पुनराह **तावानये**ति. विशेषमाह **समं गोपैरि**ति, सर्वैः सहैव कदाचिदायास्यतीति बालकत्वाद्वा नायास्यतीति पित्रा सखिभिः सहानयेति **नन्दाद्यैरि**त्युक्तम्. व्याजार्थमाह **साभ्युपायनैरि**ति, अभ्युपायनं गृहीत्वा समागन्तव्यमिति वक्तव्यम् ॥३१॥

ततः स्वस्य भगवतो निर्दोषार्थमन्तर्गतं भावमाह **इहानीताविति**.

अयं कुवलयापीडः कालादीषन् न्यूनः अतः **कालकल्पः** योऽर्थः कालेन साधनीयः सोऽनेनेति. कदाचित् कुवलयापीडो मत्तः अनवहितश्चेत् ततोऽन्तःप्रविष्टो भगवान् त्वामेव मारयिष्यतीत्याशङ्कायामाह **यदि मुक्ताविति, ततो यदि मुक्तौ** तदान्त**र्मल्लाः** सन्ति ते **विद्युद**ग्नितुल्याः, न तेषां प्रतीकारः कश्चन; तैः कार्यं साधयिष्यामीति भावः ॥३२॥

ततोऽपि यत् कर्तव्यं तदाह **तयोरि**ति. तप्तत्वात् तेषां युद्धादौ न सामर्थ्यम्. **वसुदेवः पुरोगमो** येषां **तद्बन्धून्** वसुदेवबन्धून्. वृष्णिभोजादयः सर्व एव गणिताः ॥३३॥

तत उग्रसेनोऽपि यद्यपि पिता तथापि स दुष्ट इति वक्तुं तस्य दोषमाह **स्थविरं राज्यकामुकमि**ति वृद्धोऽपि भूत्वा राज्यं कामयत इति. य एव शत्रुषु स्थास्यति स एवापकरिष्यतीति **तद्भ्रातरं देवकं च** मारयिष्यामि. किञ्च **ये** केचन

ततश्चैषा मही मित्र भवित्री नष्टकण्टका ।
जरासन्धो मम गुरुर्द्विविदो दयितः सखा ॥३५॥
शम्बरो नरको बाणो मय्येव कृतसौहृदाः ।
तैरहं सुरपक्षीयान् हत्वा भोक्ष्ये महीं नृपान् ॥३६॥

मम विद्विषः बान्धवाः **अन्ये च** तान् सर्वानेव हनिष्यामि. तेषां हनने हेतुः **विद्विष** इति ॥३४॥

ननु सर्वेषु हतेषु भोगो न भविष्यतीति किं हननेनेति चेत् तत्राह **ततश्चे**ति. **एषा मही नष्टकण्टका** भविष्यति. ये केचन राजानः भूमौ चरन्ति पथिकाइव तत्र ये प्रतिबन्धकाः ते कण्टकाः; तेषु गतेषु नष्टकण्टका भवति. अनेन अस्य अभिनिवेशवर्णनेन यदा भगवानस्मै मुक्तिं दास्यति तदास्य मनोरथः कर्तव्य इति भक्तहितार्थं निष्कण्टकं कृतवानिति निरूपितम्, अन्यथास्य मनोरथवर्णनं व्यर्थं स्यात्. विपरीतोक्तिरिति विपरीता गतिरग्रे वक्तव्या. निष्कण्टकभूमौ भोगः सिध्यति. सहायाश्च वर्तन्त इत्याह **जरासन्धो मम गुरुरि**ति, **गुरुः** श्वशुरः हितोपदेष्टा च. **द्विविदो** वानरः, स **दयितः** प्रियः स्वभावतोऽपि **सखा** च ॥३५॥

शम्बरादयश्च तथेत्याह **मय्येव** नान्यस्मिन्, अन्यथा दैत्येष्वपि परस्परविसम्मतौ भोगो न सेत्स्यतीति तदर्थमेवकारः. **कृतं सौहृदं** यैरिति, पूर्वमपि तैरुपकारः कृत इति अग्रेऽपि कर्तव्य इत्यर्थः. ननु बहवो देवपक्षाः कथं त्वयैकाकिना निवार्या इत्याशङ्क्याह **तैरहमि**ति, भोगेऽपि तेषां सहभावः शत्रुनिवारणेऽपि. पूर्वं दैत्यानामेव भूमिः राज्यं स्वर्गश्च, अत एव पूर्वदेवास्ते; ब्राह्मणाइव स्थिता देवाः पुरोहिताइव. पश्चाद् यज्ञादिभिः तान् निवार्य भगवन्तमाराध्य नित्यसृष्टिप्रकारेण वेदं दृष्ट्वा ततो देवा जाता इति कृत्रिमा एव ते न तु सहजा इति. अत एव कालः तेषामपि पक्षपातं करोति तथाधुनापि करिष्यतीति तस्य मनोरथः. **नृपा** युधिष्ठिरादयः. अतः सान्तमेव विरोधकार्यं सेत्स्यतीति न भयं त्वया कर्तव्यम् ॥३६॥

लेखः

तैरहं सुरपक्षीयानित्यत्र, **नित्यसृष्टी**ति. पुरोहितवत् स्थिता देवा विचारितवन्तः— अधुना तु दैत्या राजानः परं सर्वदा सृष्टौ कथमस्तीति ? ततो वेदे यज्ञैर्दैत्यपराजयमपश्यन् ततस्तथा कृतवन्तः. आसुरकल्पे प्रथमं दैत्यानामेव राज्यम्. अस्यासुरत्वात् तन्मतानुवादः. **तेषामपी**ति दैत्यानामपीत्यर्थः ॥३६॥

एतत् ज्ञात्वानय क्षिप्रं रामकृष्णाविहार्भकौ ।
धनुर्मखनिरीक्षार्थं द्रष्टुं यदुपुरश्रियम् ॥३७॥

किन्त्वेतत् **ज्ञात्वा क्षिप्रमानय.** ननु समर्थौ रामकृष्णौ कथं मया आनेतुं शक्याविति चेत् तदाह **अर्भकाविति**, बालकौ हि कौतुकार्थं यत्र क्वचनागच्छतः. तयोः स्थाने नास्मदभिप्रेतं वक्तव्यं किन्तु **धनुर्मखनिरीक्षार्थं यदुपुरस्य** मथुरायाश्च **श्रियं द्रष्टुमिति.** मित्रभेदं न करिष्यतीति सर्वमेव तदुक्तवान्. अक्रूरोऽयं द्विस्वभावो जीवः — सात्त्विकः कार्यार्थी दैत्याविष्टश्च. अन्यथा तं प्रति कंसो न वदेत्, नापि दैत्यैः सह प्रीतिः स्यात्, तद्दत्तविषयान् वा अनुभूयात्. एवं सति तस्य कार्यकर्तृत्वमपि न विरुद्धं भवति, स्यमन्तकादिप्रसङ्गश्च न विरुद्धो भवति ॥३७॥

॥ अक्रूर उवाच ॥

राजन् मनीषितं सम्यक् तव स्वावद्यमार्जनम् ।

सन्दिग्धं तं प्रत्युत्तरमाह द्विस्वभावत्वात्. **राजन्निति** सम्बोधनम् आज्ञाकरणावश्यकत्वार्थं स्नेहसूचनार्थम्. **मनीषितं** विचारितं **सम्यगेव**, तदपि **तव** न तु मम. विचारस्य सम्यक्त्वे हेतुः **स्वावद्यमार्जनमिति**, येन स्वस्य लौकिकप्रतीत्यापराधो न भवति. अनेन कालो राजा त्वं तु सेवक इति निरूपितम्, अन्यथा कथमयं भीतो भवेत् ? भ्रमात् लोकानामन्यथाप्रवृत्तौ कालस्तानेव दुष्टान् जानीयादिति न तव दण्डः स्यात्. दैत्यसिद्धान्तश्चावलम्बित इति न शास्त्रद्वारापि विरोधः. देवानामेव हि राज्ये तेषामधिकारात् तदुक्तरीत्या नरकस्वर्गौ न तु दैत्यानामधिकारे, अन्यथा दैत्यैर्देवपराजयो न स्यात्. ग्रहास्तु साधारणाः अतो **मनीषितं सम्यगिति** न विरुद्ध्यते. अयं च सर्वसिद्धान्ताभिज्ञः; कालस्यैषा व्यवस्था, भगवान् सर्वप्रकार इति न भगवच्छास्त्रविरोधः. अन्यथा वाचनिकी दैत्यानां मुक्तिर्बाधिता स्यात्, विरुद्धेष्वपि मतेष्वनुभावश्च न स्यात्. कालग्रहे प्रविष्टश्च भगवान् स्वकीयान् कालस्थानुद्धृत्य नयतीति भगवल्लक्षणो देशः कालादतिरिच्यते. अतो व्यवहारार्थं

लेखः

राजन्नित्यत्र अनेनेति, अपराधनिवृत्तिविचारकथनेन कालाद् भयं सूचितमिति भावः. एतदेव विशदयन्ति **अन्यथेति. अन्यथाप्रवृत्ताविति**, त्वं तु कालसेवक एव, लोकास्त्वां राजानं ज्ञास्यन्ति, अतः कालस्तानेव दण्डयिष्यतीत्यर्थः ॥३८॥

सिद्ध्यसिद्ध्योः समः कुर्याद् दैवं हि फलभावनम् ॥३८॥
मनोरथान् करोत्युच्चैर्जनो दैवहतानपि ।
युज्यते हर्षशोकाभ्यां तथाप्याज्ञां करोमि ते ॥३९॥

सर्व एव कालात् बिभ्यति. भगवांश्च कालं वञ्चयित्वैव भक्तान् नयति कालरूपश्च भवति, अतो भगवदवतारः कालातिक्रमार्थ एवेति प्रमेयबलसिद्धिः. प्रमाणबलं सर्वजनीनम्, अन्यथा देवा ब्राह्मणा धर्मश्च प्रतिष्ठिता न भवेयुः. मध्यमकालौ द्विविधाविति देवदैत्यविभागः, मूलभूतस्तु समः. अतः प्रमाणबलं मध्यभाव एव, प्रमेयबलं तु मूलोल्लङ्घनमपि कारयतीति सिद्धान्तरहस्यम्. यतो दैत्यानां सिद्धान्तोऽनेनावलम्बितः अतः सिद्धान्तानुसारेण सम्यगेवावलम्बितम्. अतः पक्षद्वये सम्बन्धात् मूलकालः किमनुगुण इति ज्ञातुमशक्यत्वात् नैकतरसिद्धान्तः सिध्यतीति तं प्रति सिद्धान्तमाह **सिद्ध्यसिद्ध्योः समः कुर्या**दिति. प्राणिना सर्वसिद्धान्ताभिज्ञेन यत् कर्तव्यं तत्राग्रहो न कर्तव्यः, यतो द्वैधस्य विद्यमानत्वात् प्रयत्न एव स्वस्य न तु फलम्. फलं दैवाधीनमित्याह **दैवं हि फलभावन**मिति, फलं दैवमेव भावयति. अनेन पक्षद्वयं समानमुक्तम् ॥३८॥

तदन्यदा भवति; इदानीं तु भगवानवतीर्ण इति द्वितीयः पक्ष एव मुख्यः. अतोऽनेन विचारितमनोरथः वृथैवेति विशेषमाह **मनोरथान् करोती**ति. **उच्चैः** स्वयोग्यैः, इदं हि सर्वेश्वरेण विचारयितुं शक्यते. अल्पोऽपि मनोरथस्तस्य न सिध्यतीत्याह **दैवहतान**पीति, यदैव भगवानवतीर्णः तदैव कंसादयो मारणीया इत्यतो भगवता हता एव मनोरथाः. तान् करोतीति भ्रान्त एवायम्. यतो **जनः** स्वयमेव जातः. यद्यस्य मनोरथः सिध्येत् कदाचिदपि तदा परगर्भे कथं जायेत ? कस्यचिद् वा मलरूपं रेतः कथं समाश्रयेत ? अतो यो मनोरथः कर्तव्यः स आत्मानं विचार्य कर्तव्यः. अन्यथा चेत् **हर्षशोकाभ्यां युज्यते,** कदाचिद् भगवान् किञ्चित् करोति किञ्चित् च न करोतीति. यद्यप्येवं ज्ञायते **तथापि ते आज्ञां करो**मीति, अन्यथा स्वस्य तव च कार्यं न सेत्स्यतीति ॥३९॥

एवमन्योन्यपरिभाषणमुक्त्वा उभयोः स्वस्थानगतिमाह **एव**मिति.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

एवमादिश्य चाक्रूरं मन्त्रिणश्च विसृज्य सः ।
प्रविवेश गृहं कंसस्तथाक्रूरः स्वमालयम् ॥४०॥

॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥

अक्रूरोक्तं तेन न विचारितमेव कार्यवैयग्र्याद्, अतस्तस्यैव कृतमनूद्योपसंहरति **एवमादिश्येति**. चकारात् केशिनं हस्तिपांश्च जनपदाकारणार्थं प्रवृत्तांश्च **मन्त्रिणश्च विसृज्य** तान् बहिरेव स्थापयित्वा स्वयमन्तःपुरं गतः. **तथा अक्रूरः स्वस्यालयं** गत इति न तस्मिन् दिवसे गृहात् निर्गमनम्. सोऽन्तःस्थितः तमर्थं चिन्तयिष्यति, अयमपि स्वगृहं गतः, गमनोपायं प्रकारं च. अग्रस्थतृतीयाध्याये कृत्यं वक्तव्यं विचारितं च ॥४०॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीमल्लक्ष्मणभट्टात्मजश्रीवल्लभदीक्षितविरचितायां
दशमस्कन्धविवरणे त्रयस्त्रिंशाध्यायविवरणम् ॥

लेखः

एवमादिश्येत्यत्र, **प्रकारं चे**ति **चिन्तयिष्य**तीति पूर्वेणान्वयः ॥४०॥

॥ त्रयस्त्रिंशाध्यायव्याख्या समाप्ता ॥

॥ इति त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥

॥ द्वितीयः स्कन्धादितः चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥

चतुस्त्रिंशे प्रेषितस्य तामसस्य निरूप्यते ।
कार्यं वाक्यानि च ऋषेर्लीलां काश्चित् हरेः प्रियाम् ॥(१)॥
हेतुकार्यफलान्यत्र पूर्ववद् बोधितानि हि ।
केश्यागमनकार्यं तु ऋषिवाक्यात् न चान्यथा ॥(२)॥
वधे न जाते नागच्छेदनर्थं कृतवानिति ।
वधो निदर्शनं तस्माद् अतो वाक्यानि बोधने ॥(३)॥
बोधितश्चेत् हरिर्लीलां न कुर्यात् स्वेच्छया मुदा ।
तदा प्रमेयरीतिर्हि दुर्बलैव भवेत् सदा ॥(४)॥
अतः फलार्थं लीला हि पूर्वजाता निरूप्यते ।
सिंहावलोकनं चापि करिष्यति हरिः स्वयम् ॥(५)॥
अतो न गोकुले चिन्ता कापीत्यपि निरूप्यते ।
केशी हतो गुणैः कृत्वा तथा व्योम ऋषिः पुनः ॥(६)॥
कालमात्रमुवाचेति नव षोडश वै नव ॥

पूर्वाध्याये केशी प्रेषित इत्युक्तम्, तस्यागतस्य कृत्यमत्र नवभिरुच्यते. पूर्वदैत्यवत् केश्यागमनं न भवतीति वक्तुं भिन्नं प्रकारमाह **केशी त्विति**. अन्ये पूर्वं साधारण्येन नियुक्ताः, **केशी तु** कंसेन प्रेषितः विशेषाकारेण. तदा **खुरैर्महीं** विदारयन् व्योमवदेवागतः; **निर्दरयन्** विदारयन्. ननु केशिनो राक्षसस्य कथं खुरा

लेखः

चतुस्त्रिंशे, **हेतुकार्ये**ति, ऋष्यागमने **हेतुः** केशिवधः, **कार्य**मृष्यागमनं, **फल**मग्रिमलीला. **केश्यागमनरूपं कार्यमृषिवाक्यात्** जातमिति ऋषिरेवा**नर्थं कृतवानिति** हेतोः केशि**वधे** भगवता **न जाते** सति ऋषि**र्नागच्छेत्**. अतः ऋष्यागमने **वधो** हेतुरित्यर्थः. **निदर्शनमिति**, कंसादिमारणसामर्थ्ये **निदर्शनं वधः अतः** सामर्थ्यं ज्ञात्वा बोधनार्थं **वाक्यानि** उक्तवानिति शेषः (२-३).

तथा व्योम इति क्रमो न विवक्षित इति ज्ञेयम्. **नव षोडशे**ति मूलस्थः क्रमो ज्ञेयः ($६\frac{१}{२}$).

केशी त्वित्यत्र, **व्योमवदेवे**ति, व्योमो यथा भूमौ बिलं कृतवान् तथायमपि महीं विदारयन्नागत इति साम्यादेव सगुणत्वाय नवभिरुभयोर्निरूपणमिति भावः ॥१॥

|| श्रीशुक उवाच ||

केशी तु कंसप्रहितः खुरैर्महीं महाहयो निर्दरयन् मनोजवः ।
सटावधूताभ्रविमानसंकुलं कुर्वन् नभो हेषितभीषिताखिलः ॥१॥
विशालनेत्रो विकटास्यकोटरो बृहद्गलो नीलमहाम्बुदोपमः ।
दुराशयः कंसहितं चिकीर्षुर्व्रजं स नन्दस्य जगाम कम्पयन् ॥२॥
तं त्रासयन्तं भगवान् स्वगोकुलं तद्धेषितैर्बालविघूर्णिताम्बुदम् ।

इत्याशङ्क्याह **महाहय** इति, महानयमश्वः. ननु सन्ध्यायामागतः कथं शीघ्रमागत इति चेत् तत्राह **मनोजव** इति. पूर्ववदस्यापि सामर्थ्यमाह **सटाभिरवधूताः अभ्रा विमानानि** च तैः **संकुलं नभः कुर्वन्** इति तस्य कायिको व्यापार उक्तः. वाचनिकमाह **हेषितभीषिताखिल** इति. **हेषितो**ऽश्वशब्दः, तेनैव **भीषितमखिलं** येन. साधारणप्रयोगः दैत्यानामपि भयजनकोऽयमिति ज्ञापनार्थः ॥१॥

तस्य क्रियाव्यतिरेकेणापि रूपं दृष्ट्वैव सर्वे बिभ्यतीति ज्ञापयितुं रूपं वर्णयति **विशालनेत्र** इति, विशाले नेत्रे यस्य. इयं विशालता प्रकरणवशाद् भयानका ज्ञातव्या. **विकटमास्यकोटरं** यस्य, **बृहद् गलो** यस्य, **नीलो** यो **महान्** घनः **तस्योपमा** यस्य. नीलघनापेक्षयाप्यधिक इति उपमानत्वनिरूपणार्थ**मुपमा**पदम्. रूपमेकेन, गुणत्रयं मुखे वर्तत इति तज्ज्ञापनार्थं नेत्रे आस्यं कण्ठश्च वर्णितः. अन्तर्दोषानाह **दुराशय** इति, स्वभावतोऽप्यन्तःकरणं दुष्टमिदानीं तु सुतरामित्याह **कंसहितं चिकीर्षु**रिति. ततो **नन्दस्य व्रजं जगाम** उपद्रवार्थमेव ॥२॥

स तु शीघ्रमेव कार्यं करिष्यतीति भगवान् प्रथमत एवाभिज्ञाय तत्कार्यात् पूर्वमेव तमाकारितवानित्याह **तं त्रासयन्त**मिति, तस्मिन्नागत एव रूपं दृष्ट्वैव त्रासः. मारणपरिज्ञानयोः सामर्थ्यज्ञापनार्थं **भगवा**निति. अक्लिष्टकार्यपि तथा कृतवानित्यत्र हेतुमाह **स्वगोकुल**मिति, स्वस्य गोकुलमिति, स्वा गावश्च तेषां कुलमित्यपि. तैः प्रसिद्धै**र्हेषितैः** यानि देवानामपि भयजनकानि. शीघ्राकारणे हेतुमाह **बालविघूर्णिताम्बुद**मिति, पुच्छभ्रामणेन विशेषेण घूर्णिता मूर्च्छिता अम्बुदा यस्य;

लेखः

विशालेत्यत्र, **उपमानत्वे**ति, एतदुपमा घनस्य न तु घनोपमा एतस्य, अत एतस्योपमानत्वम्. उपमाने चन्द्रादौ मुखादधिकगुणस्य दृष्टत्वादेतस्य घनापेक्षया-धिक्यम्, तथा च विग्रहे यत्कृता उपमा घनस्येत्यर्थः. **एकेने**ति **नीले**तिविशेषणेनेत्यर्थः. आद्यैस्त्रिभिर्गुणत्रयं निरूपितमित्याहु**र्गुणे**ति ॥२॥

आत्मानमाजौ मृगयन्तमग्रणीरुपाह्वयन् स व्यनदत् मृगेन्द्रवत् ॥३॥
स तन्निशम्याभिमुखो मुखेन खं पिबन्निवाभ्यद्रवदत्यमर्षणः ।
जघान पद्भ्यामरविन्दलोचनं दुराशय[1]श्चण्डजवो दुरत्ययः ॥४॥
तद् वञ्चयित्वा तमधोक्षजो रुषा प्रगृह्य दोर्भ्यां परिविध्य पादयोः ।

पुच्छभ्रामणमात्रेण यदैवं महाननर्थः तदा किञ्चिद्विलम्बेऽपि महानन्यायो भवेदिति. नन्वकस्मादागत्य कथं न गोकुलं मारितवान् तत्राह **आत्मानमाजौ मृगयन्तमिति**, न स गोकुलमारणार्थमागतः किन्तु भगवता सह युद्धं कर्तुम्. **आजौ** संग्रामे **आत्मानं** भगवन्तं **मृगयन्तमन्वेषयन्तं**— क्वास्ति कृष्ण इति. नन्वेवं कथं धाष्ट्यं कंसो यस्माद् बिभेति तत्राह **स** प्रसिद्धः केशी, अत एव **मृगेन्द्रवत्** सिंहवत् **व्यनदत्,** स ह्यन्यान् गजानिव मन्यते. बलभद्रं कथं न प्रेषितवान् इत्यत्र हेतु**रग्रणीरिति**. भगवानेवाग्रणीः, भगवान् अग्र एव उपद्रवान् दूरीकरोतीति ॥३॥

भगवदाह्वानं श्रुत्वा यत् कृतवांस्तदाह **स तमिति, उपाह्वयन्** वा **स** भगवानेव **व्यनदत्.** अथवा पूर्वं भगवन्तं दृष्ट्वैव गर्जनं कृतवान्, पश्चात् वाक्यं श्रुत्वा यत् करिष्यति तदग्रे निरूप्यते. **स** केशी **तद्** भगवद्वाक्यं **निशम्य मुखे**नाकाशं **पिबन्निव** व्यात्ताननः **अभिमुखः अभ्यद्रवत्.** ग्रासार्थीव शीघ्रमागमने आकाशो निविशतीव दृष्ट इति **पिबन्निवे**त्युक्तम्. यत्राकाशमेव ग्रसति तत्र तन्मध्यपातिनः सुखग्रासा इति बहिश्चेष्टा निरूपिता, **अत्यमर्षण** इत्यान्तरी. तदा निकटे समागत्य परावृत्त्य **पद्भ्यां जघान** धेनुकवत्. ननु संमुखमागत्य मुखेनैव मारणसम्भवेऽपि किमिति परावृत्त इति चेत् तत्राह **अरविन्दलोचनमिति**, कमलनयनो भगवानिति भगवतः परमसौन्दर्यं दृष्ट्वा साक्षादतिक्रमासमर्थः परावृत्त्य अपश्यन्नतिक्रमं कृतवानित्यर्थः. ननु पद्भ्यामपि भगवद्रूपं स्मृत्वा कथमतिक्रमः सम्भवतीत्याशङ्क्याह **दुराशय** इति, दुष्टान्तःकरणत्वात् तथा कृतवान्. **दुरासद** इति पाठे कथं रामादिभिः अतिक्रमो न निवारित इत्याशङ्क्याह **दुरासद** इति, दुःखेनासादो यस्येति न कोऽपि तन्निकटे गन्तुं शक्नोतीत्यर्थः. तत्र हेतुमाह **चण्डजव** इति, अतिशीघ्रमागच्छति. तस्य प्रतीकारो दूरे, तस्मिन्नागते पलायनमप्यशक्यमित्याह **दुरत्यय** इति, दुःखेनात्ययो यस्येति ॥४॥

भगवानतिचतुरः स सुरासुरैः शस्त्रैश्चावध्य इति तस्य प्रकारान्तरेण समाधानं कृतवानित्याह **तद् वञ्चयित्वे**ति, **तत्** पादप्रहरणं तिर्यग्भूत्वा **वञ्चयित्वा** मोघत्वं सम्पाद्य ततः **दोर्भ्यां** तस्य पादद्वयं धृत्वा **परिविध्य** भ्रामयित्वा उत्तोल्य **धनुः शतान्तरे**

१. दुरासद इत्यपि पाठः.

सावज्ञमुत्सृज्य धनुःशतान्तरे यथोरगं तार्क्ष्यसुतो व्यवस्थितः ॥५॥
स लब्धसंज्ञः पुनरुत्थितो रुषा व्यादाय केशी तरसापतत् हरिम् ।
सोप्यस्य वक्त्रे भुजमुत्तरं स्मयन् प्रवेशयामास यथोरगं बिले ॥६॥
दन्ता निपेतुर्भगवद्भुजस्पृशस्ते केशिनस्तप्तसमयःस्पृशो यथा ।

सावज्ञमुत्सृज्य व्यवस्थित इति सम्बन्धः. ननु शीघ्रमागतो मारयितुं पादप्रसारणं कृतवान्, यथा न प्रतिहतो भवति साधनवेगः; तत् कथं प्रतिहतो जात इत्याशङ्कायामाह **अधोक्षज** इति, इन्द्रियजन्यं तस्य ज्ञानं क्रिया वा तं न विषयीकरोति, अतो युक्त एव तस्य पादासम्बन्ध इति. वञ्चनमपि भगवतो लौकिकसामर्थ्याद् युक्तमिति न किञ्चिदनुपपन्नम्. संमुखमागतः किमिति परावृत्त इति रोषेण दोर्भ्यां गृहीतः. कदाचित् तस्य हृदये भीतः सन् वञ्चनं कृतवानिति शङ्का स्यात् ततो भगवान् निःशङ्कमासमिव दोर्भ्यां परिगृहीतवान् तत उत्तोलनं च कृतवान्. यौ पादौ भगवते चिक्षेप तत्रैव स्थाने स गृहीत इति दत्तमेव गृह्णातीत्यपि सूचितम्. उत्तोलनादिकं सर्वं यथा पुनर्नायाति तथा ज्ञापनार्थम्. महान् देवलब्धवर इति तस्य गर्वनाशार्थं **सावज्ञमवज्ञा**पूर्वकमुत्सर्गः, **शत**शब्दोऽपरिमितवाची, **धनुः**पदं वीरत्वज्ञापनार्थम्. ननु देहेन महान् सः बालकश्च भगवान्, अलौकिकं च सामर्थ्यं न प्रकटितवान्, तत् कथं तस्योत्तोलनादिकमित्याशङ्क्य दृष्टान्तमाह **यथोरगमि**ति, गरुडो यथा महान्तमप्युरगं भक्ष्यत्वात् क्लृप्तत्वाद् भक्ष्यमाणः. बले विद्यमाने पराक्रमं करिष्यतीति बलक्षयार्थं तथा क्रियते. तथा भगवानपि, असुरो निवार्य एवेति बलक्षयार्थं तथा करणम्. एवं कृत्वा न महत् कर्म कृतमिति मेने किन्तु पूर्ववदेव विशेषेणैव लीलयैव **स्थितः** ॥५॥

प्रक्षिप्तस्य वृत्तान्तमाह **स लब्धसंज्ञ** इति, पूर्वं मूर्च्छितः पश्चात् लब्धसंज्ञस्तथापि न निवृत्तः किन्तु **पुनरुत्थितः**. ततो मुखं **व्यादाय,** यतः **केशी तरसा** शीघ्रमेव **हरिमभ्यापतत्**. ततो भगवानपि भोजनार्थमिव व्यात्तमुखं भोजितवानित्याह **सोऽपी**ति. भगवान**प्यस्य वक्त्रे उत्तरं** वाम**भुजं स्मयन्** हसन् ''भक्षणार्थमायासि चेद् भक्षये''ति वदन्निव **भुजं प्रवेशयामास,** वामो हि भुजो दैत्यानामेवेति. स निःशङ्कं प्रविष्ट इति वक्तुं दृष्टान्तमाह **यथोरगं बिल** इति ॥६॥

भुजप्रवेशनं कथं मारणोपाय इति शङ्कायां प्रकारमाह **दन्ता निपेतुरि**ति. स भक्षणार्थं प्रवृत्तः दन्तसम्बन्धं कारितवान् तदा **भगवद्भुजस्पृशो** भगवद्भुजं स्पृशन्तीति तथाभूता **दन्ता निपेतुः. ते** प्रसिद्धा, यैर्देवा अपि हन्यन्ते. तत्रापि **केशिनः** अतिप्रसिद्धस्य अलौकिकप्रकारेणौषधादिस्पर्शेनेव दन्ताः पतिता भविष्यन्तीत्याशङ्क्य

बाहुश्च तद्देहगतो महात्मनो यथामयः संववृधे उपेक्षितः ॥७॥
समेधमानेन स कृष्णबाहुना निरुद्धवायुश्चरणांश्च विक्षिपन् ।
प्रस्विन्नगात्रः परिवृत्तलोचनः पपात लेण्डं विसृजन् क्षितौ व्यसुः ॥८॥

दृष्टान्तमाह **तप्तमयः स्पृश** इति. **तप्तमयः** अग्निवर्णं ये स्पृशन्ति ते **तप्तमयः स्पृशः. तप्तमयो** वा तप्तलोहं, **स्पृशः** षष्ठ्यर्थे द्वितीयेति. ततो **बाहुरपि तद्देहा**न्तःप्रविष्टः **ववृधे.** तस्य वृद्धौ साधनं नापेक्ष्यत[१] इत्यत्र दृष्टान्तमाह **यथामय** इति— यदेव किञ्चित् करोति पुरुषस्तद्रोगप्रतीकारमकुर्वन्, तेनैव स वर्धते. न हि देहवृद्धाविव रोगवृद्धौ साधनमपेक्ष्यते. ननु वृद्धौ विकारित्वं स्यात् तथा चानुभवो[२] न स्यात् दोषश्च स्यात् इति चेत् तत्राह **महात्मन** इति— स हि व्यापकः सर्वतः पाणिपादान्तः यावत् दूरे मायामुद्घाटयते येन तेनैवावयवेन "वृद्ध" इत्युच्यते. **महान् आत्मा** स्वरूपं यस्य. अस्य च उपेक्षा प्रणिपाताकरणं पलाय्यागमनं वा ॥७॥

ततो यद् जातं तदाह **समेधमानेने**ति, **सम्यक्** परितः **एधमानेन** वर्द्धमानेन. **स** केशी. **कृष्ण**पदमेतदर्थमेवावतीर्ण इति ज्ञापनार्थम्. बाहुश्च क्रियाप्रधानः अतोऽसमीचीने बाहुप्रक्षेपणादिकं न विरुध्यते. वक्त्रविवरस्य **बाहुना** पूर्णत्वात् **निरुद्धवायु**र्जातः. तदा व्याकुलः **चरणांश्च विक्षिपन् वि**शेषेण **क्षिपन्** दुरात्मभिरेवाह्मानीतो मारणार्थमिति क्षिपन्निव, **च**कारात् कंसं च. अन्तःप्रयासात् **प्रस्विन्नगात्रो** जातः, **परिवृत्ते लोच**ने यस्य— अन्तर्बहिः क्रियापगमः ज्ञानापगमश्च सूचितः. तदा **पपात लेण्डं विसृजन्** इति पायुद्वारा मलं विसृजन्. **लेण्ड**शब्देन शकृदुच्यते. **क्षिताव**पतदिति न पातेन कश्चिदुपद्रुत इति सूचितम् ॥८॥

ततः कार्ये सम्पन्ने भगवान् सर्वैः पूजितो गृहे गत इत्याह **तद्देहत** इति. समारब्धा वृद्धिः ततो न निवृत्ता गतेष्वपि प्राणेषु वर्धमाना देहं पक्व**कर्कटिकाफलवत्**

लेखः

दन्ता निपेतुरित्यत्र **षष्ठ्यर्थे** इति, तथा च तप्तस्य अयसः स्पृश इत्यर्थः. **विकारित्वमि**ति, जायतेऽस्ति विपरिणमते वर्धत इति क्रमेण वृद्धेश्चतुर्थविकारत्वादिति भावः. **तथा च** भगवति विकाराणां मायाप्रतीतत्वसिद्धान्तात् स्पर्शेन **तदनुभवो न स्यात्** न हि मायिकाः मरुमरीचिकाजलादयः स्प्रष्टुं शक्यन्ते इत्यर्थः. ननु मायिका अपि पदार्था नटविद्यायां स्पृश्यन्ते इत्यरुच्या दूषणान्तरमाहुः **दोषश्चे**ति, चस्त्वर्थे ॥७॥

---

१. नापेक्षत इत्यपि पाठः. २. अनुभावो इत्यपि पाठः.

तद्देहतः कर्कटिकाफलोपमाद् व्यसोरपाकृष्य भुजं महाभुजः ।
अविस्मितोऽयत्नहतारिरुत्स्मयैः प्रसूनवर्षैर्वर्षद्भिरीडितः ।।९।।
देवर्षिरुपसङ्गम्य भागवतप्रवरो नृप ।
कृष्णमक्लिष्टकर्माणं रहस्येतदभाषत ।।१०।।

विदीर्णं कृत्वा विदीर्णद्वारा हस्ते निर्गते निवृत्ता. मुखतो हस्तनिःसारणे क्रियापरिवृत्ता भवतीति तदर्थं देहविपाटनम्. **व्यसोरि**ति निष्कासने हेतुः, त्यक्तप्राणो देहः अशुचिर्भवतीति. कृतकार्यत्वं च ज्ञापितम्. अपाकर्षणं ततो निःसारणं पूर्ववत् करणं च. **महान् भुजो** यस्येति भुजेनापि मुक्तिं दातुं शक्यत इति तस्य मुक्तावपि न सन्देह इत्यर्थः. महती तस्य क्रियाशक्तिरिति च ज्ञापितम्. एवमपि कृत्वा **अविस्मितः,** न हि तृणे छिन्ने कस्यचिदभिमानो भवति. तदेव ज्ञापयति **अयत्नहतारि**रिति, न कोऽपि भगवता प्रयत्नः कृतः, अनायासेन हत इति. केचित् मायापगमः स्वाज्ञयेति न प्रयत्नः. ऊर्ध्व**स्मयैः** हसद्भिः सर्वैरेव देवैः **प्रसूनवर्षैः** पुष्पवृष्टिभिः सहितैर्भगवा**नीडितः**. तत्र स्थितवाक्यानि न सन्ति किन्तु पुष्पवृष्टिरेव, तदाह **वर्षद्भिरिति**— वर्षणमिव स्तोत्रमिति प्रसूनानां वर्षो येषां इति पुष्पवृष्ट्यधिकारिणो देवाः, तैर्वर्षद्भिरर्थात् पुष्पैरेव ईडित इति स्तोत्रं भिन्नमेव. एवं हेतुत्वेन केशिवधो निरूपितः ।।९।।

ततो नारदस्य स्वापराधक्षमापनार्थं वाक्यानि निरूपयन् पञ्चदशभिः प्रथमतः तस्य समागमनमाह **देवर्षि**रिति. यदैव भगवता केशी हतः तदा भगवत्समीपे न कोऽपि स्थित इति तदैव समागतः निकटे भक्तवत् नमस्कुर्वन्, तदाह **उपसङ्गम्ये**ति. देवर्षित्वाच्च तदर्थपरिज्ञानम्. भगवान् कथं तमनुज्ञातवानित्याह **भागवतप्रवर** इति, **भागवतानां** मध्ये **प्रवरः** श्रेष्ठः, भागवतमार्गोपदेष्टृत्वात्. **नृपे**ति सम्बोधन-मनभिप्रेतोऽप्यागच्छतीति राजलीलायाः परिज्ञापनार्थम्. उच्यमानः कथञ्चिद् अनभिप्रेतो नारद इति भगवान् मारयेद्, अतः कथं निर्भयो भूत्वा तथा वदतीत्याशङ्क्याह **अक्लिष्टकर्माण**मिति. स्वतोऽप्यागमनं परमानन्दरूपत्वात्

लेखः

देवर्षिरित्यस्याभासे **वाक्यानीति**, **पञ्चदशभिर्वाक्यानि निरूपयन्** **समागमनमाह** एकेनेति शेषः, एवं षोडश श्लोका इत्यर्थः. व्याख्याने **उच्यमान** इति, "अयं नारदो नाभिप्रेत" **इति कथञ्चिद्** भक्तैरागत्यो**च्यमानो भगवान् मारयेदि**त्यर्थः. **स्वतोऽपी**ति अक्लिष्टकर्मत्वादिविचाराभावेऽपीत्यर्थः. **अदृश्यत्वे** इति योगबलेनान्यादृश्यत्वं सम्पाद्येत्यर्थः ।।१०।।

सम्भवति तदाह **कृष्णमिति. रहसीति** उभयोरदृश्यत्वे एकान्ते वा गत्वा. उभयोरपि तथा सामर्थ्यसम्भवात् नानुपपत्तिः. **इदं** वक्ष्यमाणं स्तोत्रपूर्वकं निवेदनात्मक**मभाषत** ॥१०॥

स्वापराधनिवृत्त्यर्थं त्रिधा स्तोत्रं चकार ह ।
मूलरूपं तु सम्बोध्य मध्यकार्ये निरूपिते ॥(७)॥
ततोऽवतारकार्यस्य निरूपणमतः कृतम् ।
अनुमोद्य करिष्यन् यः पञ्चभिस्तदुदीरितम् ॥(८)॥
सामान्येन कृतं द्वेधा द्वाभ्यां स्वेन तथान्यतः ।
ज्ञानभक्तिविभेदेन स्वरूपं च निरूपितम् ॥(९)॥
आनन्दचित्सतां रूपं ज्ञाने भक्ताविहोद्गतिः ।
कार्यार्थमवतीर्णत्वाद् भक्तिमार्गे न दूषणम् ॥(१०)॥
कृतं तु भगवानेवेत्येवं सप्तभिरीर्यते ।
कर्ममार्गेऽप्यदोषाय सामान्यद्वयमीर्यते ॥(११)॥

लेखः

कारिकासु **त्रिधेति**, अन्ते एकैकेन ज्ञानं भक्तिश्च निरूपिता पूर्वैः सर्वैः कर्म निरूपितमेवं त्रिधेत्यर्थः. **मध्यकार्ये** इति, मध्यभावः कार्यभावश्चेत्यर्थः. एवं त्रयः श्लोकाः (७).

तत इति, एकेनेति शेषः, एवं चत्वारः. **अनुमोद्येति**, एकेनेति शेषः, एवं पञ्च. ततः करिष्यमाणकथनं **पञ्चभिः** (८).

ततः सामान्यकृति**र्द्वाभ्यां**, ततो **द्वाभ्यां ज्ञानभक्ति**निरूपणमेवं चतुर्दश. उपक्रमः पूर्वमुक्तः गमनमग्रे, एवं षोडश (९).

ज्ञाननिरूपकश्लोकं विवृण्वन्ति **आनन्देति**, भक्तिमाहुः **भक्ताविति, भक्तौ** सत्या**मिहैवोद्गतिः** भगवत्प्राकट्यं भवति. **कार्यार्थमिति**, त्वं कार्यार्थमवतीर्णः, अतस्त्वत्कार्यसाधकत्वात् कंसबोधनरूपो दोषो न ममेति भक्तिनिरूपके अन्त्यश्लोके निरूपितमित्यर्थः (१०).

विशेषसामान्यभेदेन चरित्रस्य सप्तभिर्निरूपणे हेतुमाहुः **कृतं त्विति**, भगवद्रूपत्वात् चरित्रस्येत्यर्थः. तत्र सामान्यचरित्रनिरूपणे हेतुमाहुः **कर्मेति**, **भगवानेव सामान्यतोऽसुरनाशकः** अतो न मम दोष इति **कर्ममार्गेऽपि** सूचनाय कर्मनिरूपकश्लोकेषु सामान्यचरित्रकथनमित्यर्थः (११).

ततोऽन्ते ज्ञानभक्ती च स्वापराधो यतो न हि ।
उपक्रमगतिभ्यां च षोडशात्मा निरूपितः ॥(१२)॥

॥ नारद उवाच ॥

कृष्ण कृष्णाप्रमेयात्मन् योगीश जगदीश्वर ।
वासुदेवाखिलावास सात्वतां प्रवर प्रभो ॥११॥

प्रथमं भगवन्तं नवधा सम्बोधयति **कृष्ण कृष्णे**ति. मूलरूपं निरूपयन् **कृष्णे**ति सदानन्दो मूलमन्यथा जगतस्तदात्मत्वं फलरूपता च न स्यात्. तत्र प्रमाणद्वयमाह अनुभवं वेदं चाग्रिमाभ्याम्. पुनः **कृष्णे**ति द्विरुक्तिरादरे, परमानन्द एवादरणीयो भवतीति. यद्यपीदमित्थतया नानुभूयते तथापि वस्तुस्वाभाव्यात् तत्रादर उत्पद्यते. अत्रार्थे प्रमाणं वदन् वेदानां गम्य इति तदर्थं वेदोत्पत्तिरिति द्वितीयं प्रमाणमाह **अप्रमेयात्मन्नि**ति, न प्रमातुं योग्यः केनाप्यात्मा यस्य. सर्वथा प्रमाणाभावे नास्तीति न मन्तव्यम्, आत्मत्वात्. अतो भगवतैव स्वरूपकथनं चोपपद्यते. एवं द्वाभ्यां प्रमाणरूपतां निरूप्य साधनरूपतां निरूपयति द्वाभ्यां **योगीश जगदीश्वरे**ति, बहिर्योगः अन्तरीश्वरत्वेन नियमनं तदर्थमाराधना च यथा सम्यगेव प्रेरयतीति. ईश्वरत्वाद् वावश्यं सेव्य इति. फलरूपत्वमाह द्वयेन **वासुदेवाखिलावासे**ति, **वासुदेवो** मोक्षदाता, **अखिलावासे**ति तस्य दाने परिज्ञानम्. भोक्तृरूपश्च स भोग्यरूपश्चेति फलत्वं च सम्पद्यते. प्रमेयरूपत्वेन निरूपयन् भगवत्सिद्धान्तसिद्धमेव प्रमेयमिति ज्ञापयितुं द्वयमाह. **सात्वतां प्रवर**— प्रकर्षेण व्रियत इति **प्रवरः**, प्रकृष्टो वा **वरः** भर्ता; सात्वतैः यो व्रियते स एव प्रमेयमिति. यश्च परिपालयितुं शक्तः स एव च पतिः. एवमुपास्योपासकयोः निरूपको धर्मो निरूपितः ॥११॥

एवं नवधा मूलरूपं निरूप्य स्वदोषपरिहारार्थं भगवतः सर्वात्मकत्वं निरूपयति **त्वमात्मे**ति. जीवा अप्यात्मानो भवन्तीति तद्व्यावृत्त्यर्थम् **एक** एव **त्वं सर्वभूतानामात्मे**ति, जीवाः प्रत्येकमात्मानः. अयम**आत्म**शब्दः ब्रह्मवादे परमात्मपरः, योगशास्त्रे विभूतिपरः, भगवच्छास्त्रे आत्मनामात्मा आधिदैविको गङ्गेव; साङ्ख्ये तु न जीवब्रह्मविभागः, "पुरुषेश्वरयोरत्रे"त्यत्र निषिद्धत्वात्. चतुर्ष्वपि पक्षेषु भगवतो

लेखः

ज्ञानभक्तिनिरूपणस्य प्रयोजनमाहुः **स्वापराधो यत** इति, यतः स्वापराधाभावो बोधितो भवतीत्यर्थः (१२).

त्वमात्मा सर्वभूतानामेको ज्योतिरिवैधसाम् ।
गूढो गुहाशयः साक्षी महापुरुष ईश्वरः ॥१२॥

न विलक्षणत्वं, प्रतीतिस्तूपाध्यादिविषय इति. तत्र दृष्टान्तमाह **ज्योतिरिवैधसामिति**, सर्वेषामेव काष्ठानां मध्ये ज्योतिरग्निरेक एव, वर्णान्तरप्रतीतिस्त्वौपाधिकी[1]. सम्बन्धी निरूपितः[1] नतु तत्तेवाधिकरणत्वम्. अनेन काष्ठमग्निरेव, काष्ठता परमग्नेर्लय-प्रतिबन्धिका, तस्मिन् दग्धे स्वरूप एव वह्निस्तिष्ठतीति. अत एव **गूढः**[2] विद्यमानमपि न कोऽपि जानाति. अग्नेः स्वरूपमुभयथा प्राप्नोति— भ्रातृव्यवशाद् दाह्याभावाद् वा. उपाधिरुभयस्यापि प्रतिबन्धकः— यथा न दहति तथा न शाम्यति

लेखः

त्वमात्मेत्यत्र, **तत्र दृष्टान्तमिति**, एकत्वे दृष्टान्तमाहेत्यर्थः. **काष्ठानां मध्ये** इति, अनेनैधसामग्न्यधिकरणत्वं व्याख्यातं; मूले सम्बन्धविवक्षया षष्ठी. **एक एवे**ति, अंशभूतानामङ्गाराणां नानात्वेऽप्यंशिभूतोऽग्निरेक एवेत्यर्थः. **वर्णान्तरे**ति, खादिराङ्गारा आरक्ता जायन्ते इति दारुनिष्ठतत्तद्वर्णप्रतीतिरित्यर्थः. **न तु तत्तेवे**ति, अङ्गाराणामेव दारुनिष्ठवर्णवत्त्वं न त्वंशिनस्तथा भगवति भूतनिष्ठ-विकारवत्त्वं नास्ति. तथैधसां भूतानां चांश्यधिकरणत्वमपि नास्ति किन्त्वंशा-धिकरणत्वम्, आधेयत्ववत् सर्वाधारत्वस्यापि भगवद्धर्मवत्त्वेन भगवत एव भूताधारत्वादित्यर्थः इति **बोधनार्थमिति** शेषः. यथांशिनि ज्योतिषि भगवति च तत्ता नास्ति तथांशाधिकरणत्वमेधःसु भूतेषु च नास्तीति बोधनार्थमग्निर्भगवांश्च **सम्बन्धी निरूपितः, एधसां भूतानामिति** षष्ठ्यन्तपदाभ्यां सम्बन्धमात्रं बोधितमित्यर्थः, **अनेने**ति, दार्ष्टान्तिके भूतात्मत्वकथनेन दृष्टान्तेऽपि काष्ठात्मकत्वं बोधितमित्यर्थः. **लये**ति, काष्ठतापर्यन्तं जले निक्षेपेऽप्यन्तःस्थितोऽग्निः शान्तो न भवतीत्यर्थः. तत्र हेतुः **तस्मिन्नि**ति, दग्धस्येव नवाङ्गारस्येव स्वरूपं यस्येत्यर्थः. मथनेनाविर्भूतस्तादृश एव दृश्यत इति भावः. **अत एवे**ति, अग्निदृष्टान्तकत्वादेवेत्यर्थः. दृष्टान्तं स्पष्टयन्ति **अग्नेः स्वरूपमि**ति, अग्निरिति शेषः. **भ्रातृव्यं** जलं, तेनाग्निः शान्तो भवति. दाह्यं किञ्चिन्नास्ति चेत् तदापि स्वयमेव शान्तो भवति. तथा चाग्निरु**भयथा** अंशभूताङ्गाररूपतां परित्यज्यांशिभूत**स्याग्नेः स्वरूपं प्राप्नो-तीत्यर्थः. उपाधिरि**ति काष्ठतेत्यर्थः. **उभयस्यापी**ति, उभयथा स्वरूपप्रापणस्येत्यर्थः. **न दहतीति**, दार्वन्तरसम्बन्धेऽपि तानि सम्बद्धानि दारुणि **न दहति.** तदा दाह्यस्य

१-१. औपाधिकसम्बन्धात् निरूपिता इत्यपि पाठः. २. गूढमित्यपि पाठः.

आत्मनात्माश्रयः पूर्वं मायया ससृजे गुणान् ।
तैरिदं सत्यसङ्कल्पः सृजस्यत्स्यवसीश्वरः ॥१३॥

च. तथा सङ्घाते जगति विद्यमाने आत्मा न स्वरूपं प्राप्नोति, न साधनैर्नापि बाधकैः. एतदर्थमेवमुक्तवान्. अस्तीत्यत्र मथनवत् प्रमाणमाह **गुहाशय** इति, गुहायामाशेते इति, अन्यथा सर्वप्रकाशो न स्यात्. किञ्च **साक्षी** सर्वकर्माणि पश्यति, अन्यथा अयमहमेतत्सर्वद्रष्टेति, अन्यथा फलभोगोऽपि न स्याद् इत्यपि निरूपितम्. जीवव्यावृत्त्यर्थमाह **महापुरुष** इति. सानुभावः पुरुषो महापुरुषः, अनुभावश्च परमकाष्ठामापन्नः चतुर्ष्वपि पक्षेषु भगवद्धर्म एव. किञ्च **ईश्वरस्त्वं** सर्वनियामकः. नियम्यास्तु जीवा इति यथा नियमयसि तथा कुर्वन्तीति स्वरूपत्वात् प्रेरकत्वात् च सामान्यन्यायेन न मम दोषः ॥१२॥

किञ्च उत्पत्तिविचारेणापि त्वयैव भिन्नतया सृष्टा इति न कंसस्य नापि मम दोष इत्याह **आत्मे**ति. त्वं कर्ता, **आत्माश्रय**स्त्वमेवाधिकरणम्. स्वरूपस्थितावपि त्वमेव करणमिति प्रथमतः करणनिर्देशः. **आत्मना मायया** सर्वभवनसामर्थ्यमप्यात्मैव, उभयेनेत्येके. **मायया** लोकानामन्यथाप्रतीत्यर्थं वा— उत्पादितास्तु सच्चिदानन्देभ्यः सत्त्वरजस्तमांसि, लोकानां प्रतीतिस्तु प्रकृतिरिति. अन्यथा भगवतः कर्तृत्वमेव न स्यात् स्वातन्त्र्याभावात्. स्वातन्त्र्ये तु उभयोः स्वतन्त्रता न सम्भवतीति प्रकृतिस्तदधीना मन्तव्या. अत **आत्मनैव गुणान्** सृजन् मायामपि करणत्वेन स्वीकृतवान्. गुणानामुपादानमात्मैव स्वरूपं च; अन्यथाप्रतीत्यर्थमेव भगवद्रूपा[1] भगवच्छक्तिर्व्याप्रियत इति पश्चात् **तैरेव इदं** सर्वं जगत् **सृजसि अत्सि** भक्षयसि **अवसि** पालयसि. ननु किमर्थमेवं करोषीत्याशङ्क्याह–

लेखः

विद्यमानत्वात् **स्वरूपं न प्राप्नोति,** उपाध्यभावे तु सम्बद्धानि दारूणि दग्ध्वा दाह्यान्तराभावात् स्वरूपं प्राप्नोतीत्यर्थः. **साधनैरिति,** स्वरूपप्राप्तिसाधनैर्ज्ञानादिभिरित्यर्थः. **बाधकैरि**ति, देहात्मत्वबाधकैः साङ्ख्यादिभिरित्यर्थः. यावद्देहभावं शाब्देन ज्ञानेनात्मानात्मविवेकेन वा स्वरूपप्राप्तिर्न भवतीति भावः. **अन्यथे**ति गुहाशयत्वाभावे इत्यर्थः. **द्रष्टे**ति न **स्या**दित्यग्रिमेणान्वयः. साक्षित्वमुपपादयन्ति **अन्यथे**ति, कर्मादर्शने फलं न दद्यादतस्तद्भोगो जीवस्य न स्यात्, "फलमत उपपत्तेरि"ति सिद्धान्तादिति भावः. **जीवे**ति, जीवसमष्टिरूपस्य **व्यावृत्त्यर्थमि**त्यर्थः ॥१२॥

---

१. लुप्तं कस्मिंश्चिदादर्शे.

स त्वं भूधरभूतानां दैत्यप्रमथरक्षसाम् ।
अवतीर्णो विनाशाय साधूनां रक्षणाय च ॥१४॥
दिष्ट्या ते निहतो दैत्यो लीलयायं हयाकृतिः ।
यस्य हेषितसंत्रस्तास्त्यजन्त्यनिमिषा दिवम् ॥१५॥

ईश्वर इति, ईश्वरेच्छाया नियन्तुमशक्यत्वात्, अन्यथा स्वविचारेण प्रयोजनस्याभावात् लीलायामपि प्रयोजनासम्भवः, अत ऐश्वर्यमेव नियामकमिति. अतस्त्वयैव सृष्टमिति त्रिभिर्गुणैरपि अग्रिमकार्यं च विचारितमिति न कस्यचिद् दोषः. साक्षाद् भगवतः सर्वं जायत इति पक्षः प्रकृते न सम्भवति, तथा सति वैलक्षण्ये नियामकाभावात् स्वापराधस्तिष्ठेदेव, स्वकृतवैयर्थ्यं च स्यादतोऽन्य एव पक्ष आश्रितः ॥१३॥

एतस्मिन्नर्थे हेतुं वदन् एतदर्थमेव त्वमवतीर्ण इति सेवकैरपि तदनुगुणमेव कर्तव्यमिति न ममापराध इति वक्तुमाह **स त्वमिति.**

भूधरा राजानः, ते भूभारका एव भूपालकत्वेन जाताः. वस्तुतो **दैत्याः** तेषु सात्त्विकाः, **प्रमथाः** यक्षा राजसाः, **रक्षांसि** तामसानि —एते त्रयोऽपि सर्वनाशकाः. न हि नाशकैः पालनं सम्भवति अतः केवलं पर्वतभूताः भाराय जाताः. तेषां **नाशाय अवतीर्णो** भगवान्, तेन भूमेर्भारो गच्छति. साधवश्च परिपालनीयाः, अराजके राज्ये साधूनां परिपालनं न सम्भवति, अरक्ष्यमाणा सर्व एवासाधवश्च भवन्ति. अतः प्रकारान्तरेण दैत्यवधेऽपि न कार्यं सिध्यति. सर्वेषां वधे प्रलय एव स्याद्, अतो राजानं विधायैव दैत्या हन्तव्याः. अतो भगवान् स्वय**मवतीर्णः साधूनां रक्षणार्थं च, च**काराद् भक्त्यर्थं च. अतस्तदनुगुणं सेवकैरपि कर्तव्यमिति मयापि कर्तव्यमिति भावः ॥१४॥

एतन्निदर्शनं वदन् भगवता साम्प्रतं कृतमनुमोदति **दिष्ट्ये**ति. त्वया **अयं** महान् नितरां **हतः. हय इत्याकृ**तिमात्रं, वस्तुतो **दैत्यः. लीलये**ति स्वयं पीडां च नाप्नुवन्, अन्यथा पीडायामपि सेवकस्यापराध एव स्यात्. अत एव **दिष्ट्या** मम महद्भाग्यम्. ननु तुच्छोऽनायासेनैव मार्यते किमाश्चर्यमित्याशङ्क्याह **यस्ये**ति, **हेषितेन संत्रस्ताः अनिमिषा** अपि **दिवं त्यजन्ति.** ज्ञानशक्तिः स्थिरा अनिमिषाणां, तेषामपि भयेन तन्नाशो निरूप्यते. किञ्च निमिषोऽपि येषां नास्ति तेषां मूर्च्छादिकमसम्भावितमिति भयं सर्वथा अयुक्तं; तेषामपि हेषितमात्रेण भयं जनयति. तदपि भयं महत्कार्यं करोतीत्याह दिवमपि त्यजन्तीति. अत आयासः कृतो भवेत्; स न कृत इति महद्भाग्यम् ॥१५॥

चाणूरं मुष्टिकं चैव मल्लानन्यांश्च हस्तिनम् ।
कंसं च निहतं द्रक्ष्ये परश्वोऽहनि ते विभो ॥१६॥
तस्यानु शङ्खयवनमुराणां नरकस्य च ।
पारिजातापहरणमिन्द्रस्य च पराजयम् ॥१७॥
उद्वाहं वीरकन्यानां वीर्यशुल्कादिलक्षणम् ।
नृगस्य मोक्षणं पापाद् द्वारकायां जगत्पते ॥१८॥

अन्यदप्यग्रे भविष्यतीति तदहं सर्वं द्रक्ष्यामीति मया मत्सुखार्थमेवैतत्कृतमिति स्वौत्सुक्यं प्रकटयन् स्वस्यापि दोषं स्वयमेव निवेदयन् आह **चाणूर**मिति.

योगजधर्मज्ञानं न सर्वात्मना सर्वं विषयीकरोतीति ज्ञापनार्थं व्युत्क्रमेण वर्ण्यते, अन्यथा हस्तिपः प्रथमं हतः नृगः पश्चात्. प्रथमं च स्यमन्तकः ततोऽपि पूर्वं मृतपुत्रोपादानम्. मुष्टिकचाणूरयोः प्रधानत्वात् कीर्तनम्. बलभद्रेणापि मारितो योगजधर्माद् भगवदावेशाच्च भगवत्कृत एवेति ज्ञायते. **निहतं** युद्धं चेति **च**कारार्थः. अद्य सन्ध्यायामक्रूरः समायास्यति श्वो गन्तव्यं, मथुरायां **परश्वो** हन्तव्या इति. तदप्य**हन्ये**व, न तु रात्रिपर्यन्तमपि विलम्बः. उपलक्षणमेतत्, पूर्वाह्ण एव **मल्लाः** शलादयः **अन्ये** च धनूरक्षकाः **चकारात्** कंसभ्रातरश्च. नारदत्वात् समनोरथः. **विभो** इति सम्बोधनं सर्वथा तथा भविष्यतीति निश्चयार्थम् ॥१६॥

न केवलं कंसं हत्वा निवृत्तो भविष्यसि किन्तु अन्यानपि मारयिष्यसीति तान् गणयति. **तस्य** कंसस्य वध**मनु शङ्खः** पञ्चजनः **यवनः** कालयवनः **मुरो** नरकमित्रम् —एतेषां वधं द्रक्ष्यामीति सम्बन्धः. एते त्रयः सात्त्विकराजसतामसभेदाः. **नरकस्य च** तथा वधं द्रक्ष्यामीति सम्बन्धः. अयं भगवत्पुत्रो विशिष्ट इति प्रथमं निरूपितः, **चकारा**दन्येऽपि तत्सेवकाः पीठादयः. ततो वधं परित्यज्य केवलं जयं वक्तुं निमित्तफलान्याह **पारिजातस्य हरणं** निमित्तम् **इन्द्रस्य पराजयः** ॥१७॥

वीरकन्यानामुद्वाहः विवाहः फलम्. ननु गृहीतानां तत्रापि बन्द्या गृहीतानां कथं विवाह उचित इति चेत् तत्राह, **वीर्यशुल्क** एव **आदिर्यस्य** मनस्तोषादिः गान्धर्वादिर्वा, तदेव **लक्षण**मसाधारणो धर्मो यस्योद्वाहस्य; विवाहे वीर्यमेव प्रयोजकम्. मूल्यक्रीते यथा न काचिच्चिन्ता, "सर्वं पण्यगतं शुची"ति वाक्यात्. तथापि वीर्यशुल्कमपि क्षत्रियकन्यानामेवोचितं न तु यस्य कस्यचित्, तत्राह **वीराणामे**व याः **कन्याः**. दानमेव प्रयोजकं चेत् तदा **नृगस्य** दानात् न किञ्चित् सिद्धमिति. **पापात्** ब्राह्मणगोहरणात् कृकलासरूपाद् वा. **द्वारकाया**मिति तस्योद्धारे भक्तत्वे च हेतुः.

स्यमन्तकस्य च मणेरादानं सह भार्यया ।
मृतपुत्रोपदानं च ब्राह्मणस्य स्वधामतः ॥१९॥
पौण्ड्रकस्य वधं पश्चाद् काशिपुर्याश्च दीपनम् ।
दन्तवक्त्रस्य निधनं चैद्यस्य च महाक्रतौ ॥२०॥
यानि चान्यानि वीर्याणि द्वारकामावसन् भवान् ।
कर्ता द्रक्ष्याम्यहं तानि गेयानि कविभिर्भुवि ॥२१॥
अथ ते कालरूपस्य क्षपयिष्णोरमुष्य वै ।

ननु ब्राह्मणगोहरणमक्षय्यं भवति तत् कथमुद्धार इति चेत् तत्राह **जगत्पत** इति, स एव **पति**र्नियामकः ॥१८॥

सत्राजितप्रसङ्गे **स्यमन्तकमणे**रप्यानयनम्. जाम्बवता हि नीतः, पश्चात् ज्ञात्वा कन्यामपि दत्तवानिति **भार्यया सह** नयनम्, **मृतपुत्रोपदानं** गुरोः. **च**कारात् मृतपुत्राणां **ब्राह्मणस्य** उपदानं, **स्वधामतो** मूलस्थानात्. योगजधर्मात् ते सर्वे स्फुरिताः तिरोहिता अपि. योगजधर्मस्यैतावदेव बलं न त्वविद्यमानमपि पश्यति, अत एव वैनाशिकप्रक्रिया असङ्गता ॥१९॥

पश्चात् पौण्ड्रकस्य वध इति स्वदर्शनापेक्षया. **पौण्ड्रको** मिथ्यावासुदेवः. **च**कारात् काशिराजस्यापि. **काशीनगर्या दीपनं** ज्वालनम्. **दन्तवक्त्रस्य** शिशुपालस्य च ततो वधः. विपरीतक्रमः; पूर्वजन्मद्वये हिरण्याक्षः कुम्भकर्णश्च प्रथमं हत इति तथैव मारयिष्यतीत्युक्तवान्. **महाक्रतौ** राजसूये. **चकारात्** सर्वत्र तत्सम्बन्धिपदार्थो ग्राह्यः ॥२०॥

एवं विशेषतो निरूप्य सामान्यतो निरूपयति **यानि चान्यानि** चेति. शाल्ववधादीनि **वीर्याणि** स्त्रीणां गृहेषु नानाविधा लीलाश्च **अन्यानि** जीवसाधारणानि. **द्वारकायां वसन्नि**ति प्रासङ्गिकानि तानीत्युक्तम्. **भवानि**ति सम्मुखतया स्वस्याप्रदर्शनं सूचितम्. ननू दर्शनेन किं स्यादित्याशङ्क्य वीर्याणां माहात्म्यमाह **गेयानि कविभिरि**ति. अथवा मयोपदेष्टव्यानीति तदर्थं मया द्रष्टव्यानि. **भुवी**ति अग्रिमाणां मुक्त्यर्थानीति सूचितम् ॥२१॥

एवं साक्षात् स्वकृतमुक्त्वा कारितमाह **अथे**ति. परम्परया करणे हेतुः सामर्थ्यं चाह **कालरूपस्ये**ति. अनेन कालरूपो भूत्वा भारतकार्यं कृतवानिति ज्ञातव्यं, न तु "कालोस्मी"ति वाक्यात् कालरूप एव भगवान् इति, कालस्य नियन्ता भगवानिति, तथाकरणे हेतुमाह **अमुष्य** भूभारस्य **क्षपयिष्णोः वै** निश्चयेन; कालो हि

अक्षौहिणीनां निधनं द्रक्ष्याम्यर्जुनसारथेः ॥२२॥

विशुद्धविज्ञानघनं स्वसंस्थया समाप्तसर्वार्थममोघवाञ्छितम् ।

. स्वतेजसा नित्यनिवृत्तमायागुणप्रवाहं भगवन्तमीमहि ॥२३॥

निमित्तत्वमेवापद्यते. **अक्षौहिणीनाम**ष्टादशपरिमितानाम्. अक्षौहिणीपरिमाणं च— "एकेभैकरथा त्र्यश्वा पत्तिः पञ्चपदातिका. पत्त्यङ्गैस्त्रिगुणैः सर्वैः क्रमादाख्या यथोत्तरम्. सेनामुखं गुल्मगणौ वाहिनी पृतना चमूः. अनीकिनी दशानीकिन्य-क्षौहिणीत्येकविंशतिसाहस्री सप्तत्यष्टशताधिका. सङ्ख्या रथाश्विनोः प्रोक्ता नराणां लक्षमुच्यते. तथा नवसहस्राणि त्रीणि चैव शतानि च. पञ्चाशच्च तथाश्वानां पञ्चषष्टिसहस्रकम्. दशाधिकसहस्राणि षडेवेत्येष सङ्ग्रहः." एवं स्वरूपाणा-**मक्षौहिणीनां निधनं द्रक्ष्यामि.** भगवता कारितमित्यत्र लौकिकं निदर्शनमाह **अर्जुनसारथे**रिति ॥२२॥

एवं चरित्रनिरूपणेन लौकिकदृष्टिप्रधानानां स्वदृष्टान्तेन भगवतोऽपि लौकिकत्वं मत्वा ब्रह्मत्वाय लीलयैवैतत् कृतमिति मत्वा स्वरूपमाह द्वाभ्यां ज्ञानभक्तिसि-द्धान्तनिरूपकाभ्यां **विशुद्धे**ति.

त्वं स्वरूपतः ज्ञानरूपः. तच्च ज्ञानं न जन्यं नापि सविषयं, तदाह **विशुद्धे**ति— ज्ञानशक्तिस्त्वजन्यापि स(अ?)विषया भवति तदैव विशिष्टा शुद्धिर्भवति. तच्च **विज्ञानं** ब्रह्मरूपमिति वक्तुं **घन**मित्याह; घनमेव हि बृहत् बृंहितं च भवति. एतादृशस्य ब्रह्मणः सर्वां सामग्रीं जगत्कारणे आधारादिभूतां फलं च स्वरूपमेव, अन्यथा असङ्गत्वभङ्गप्रसङ्गः स्यात्, विकारित्वं च स्यात्. स्वरूपपक्षे तु तथैव प्रादुर्भवतीति न कोऽपि दोषः सिध्येत्. तदाह **स्वसंस्थये**ति, **स्वस्मिन्नेव सम्यग्** या **स्थितिः** तयैव कृत्वा **समाप्तसर्वार्थः** समाप्ताः सर्वे अर्था यस्य, बोभूयमानाशेषपुरुषार्थस्वरूपमेव तस्य स्वरूपं, तत् स्वरूपस्थित्यैव भवति बहिर्मुखत्वे न भवतीति नित्यं स्वरूपे भगवानेव स्थितो न त्वन्य इति तस्यैव सिद्धाः सर्वे कामाः. न केवलमिष्टसिद्धिरेव स्वरूपस्थित्या किन्त्वनिष्टमेव निवर्तत इति तदाह **स्वतेजसे**ति— **स्वस्य** यत् **तेजः** कोटिसूर्याधिकप्रकाशं चैतन्यं स्वप्रकाशं तेनैव **नित्यनिवृत्ता** ये **मायागुणाः** सत्त्वादयः, तेषां **प्रवाहः** कार्यपरम्परा यस्य. एते

लेखः

विशुद्धविज्ञानमित्यस्याभासे **लौकिकत्वं मत्वे**ति, लौकिकत्वज्ञानं मत्वेत्यर्थः, जना भगवतोऽपि लौकिकत्वं ज्ञास्यन्तीत्यर्थः ॥२३॥

त्वामीश्वरं स्वाश्रयमात्ममायया विनिर्मिताशेषविशेषकल्पनम्।
क्रीडार्थमद्यात्तमनुष्यविग्रहं नतोऽस्मि धुर्यं यदुवृष्णिसात्वताम् ॥२४॥

हि दोषास्तमइव सर्वदा सर्वत्र भवन्ति, सूर्यमण्डले तु यथा न तमः तथा भगवति न भवन्ति. तत्र हेतुरवश्यं वक्तव्य; हेतुवशादेव नित्यनिवृत्तत्वम्, अन्यथा सर्वत्र प्रवर्तमाना दोषास्तत्र गता न निवृत्ता भवेयुः, सच्चिदानन्दगुणास्तूपयोगिन, इति तन्निवारणार्थं **मायेति**. एतादृशमपि औडुलोमिमतवत् न निर्गुणं निराकारं किन्तु **भगवन्तं** षड्गुणैश्वर्यसंपन्नं **त्वां ईमहि** शरणं व्रजामः. प्रार्थनायां लिङ् ॥२३॥

भक्त्यनुसारेण भगवन्तं निरूपयति **त्वामीश्वरमिति**. सर्वनियन्ता भगवान् ईश्वरः, अन्ये त्वीशितव्याः. एतादृशोऽपि न स्वार्थमीशितव्यानपेक्षते लौकिकेश्वरवत्, तदाह **स्वाश्रयमिति, स्वमा**त्मानमेवाश्रित्य तिष्ठति. यथा गरुडादेः धारणाप्रयत्नः स्वस्मिन्नेव वर्तत इति नाधारान्तरमपेक्षते. स प्रयत्नः शाम्यतीति गरुडादयः कदाचिदन्याधारा अपि भवन्ति, भगवतस्तु स प्रयत्नो नित्य इति न कदाचिदप्यन्याश्रितः. परिदृश्यमानोऽपि सम्बद्धइव दृश्यते नतु सम्बध्यते. अत एव "यः पृथिव्यां तिष्ठन्नि"त्यादिश्रुतयः. एवमपि सति असंयुक्त एव, संयोगोऽपि न तेन सह जायते, यत **आत्ममाययैव निर्मिता अशेषविकल्पा** येन. सर्वे विकल्पाः अन्यथाबुद्धिहेतवः, ते वस्तुतः माययैव प्रदर्श्यन्ते, स्वरूपं तु भगवानेवेति; भगवानसङ्गोऽपि. ननु दृश्यन्ते अवतारेषु देहेन्द्रियादिधर्मा इति चेत्तत्राह **क्रीडार्थमिति**— क्रीडायां ये अर्थाः परिगृह्यन्ते कुब्जत्वादयो धर्मा वाहनत्वादयश्च ते आकारसङ्गोपनेन प्रदर्शनार्था एव न तु सहजाः. तथा मनुष्यधर्माः देहाकृतिस्वभावादयः परमानन्दे स्वीक्रियन्ते, न तु भगवद्धर्माः सहजास्ते. तथापि कर्म तद्भवतीति फलसाधकत्वं, सहजत्वे दोषरूपत्वात् तदपि न स्यात्. अत एव **नतोऽस्मि** निर्दोषपूर्णगुणविग्रहम्. विशेषमाह **धुर्यमिति— यादवा वृष्णयः सात्वताश्च** सात्त्विकाः, यदुवृष्णिरूपा वा वैष्णवाः, तेषां **धुरं** सर्वमेव भारं वहतीति, सर्वभक्तोद्धारक इत्यर्थः ॥२४॥

लेखः

त्वामीश्वरमित्यत्र कुब्जत्वादय इति, क्रीडायां कश्चित् कुब्जो भूत्वा चलति गवादिरूपश्च भवतीत्यर्थः ॥२४॥

॥ श्रीशुक उवाच ॥

एवं यदुपतिं कृष्णं भागवतप्रवरो मुनिः ।
प्रणिपत्याभ्यनुज्ञातो ययौ तद्दर्शनोत्सवः ॥२५॥
भगवानपि गोविन्दो हत्वा केशिनमाहवे ।
पशूनपालयत् पालैः प्रीतैर्व्रजसुखावहः ॥२६॥
एकदा ते पशून् पालाश्चारयन्तोऽद्रिसानुषु ।
चक्रुर्निलायनक्रीडांश्चौरपालापदेशतः ॥२७॥

एतावदुक्तेऽपि न भगवान् किञ्चिदुवाच; भ्रान्तोऽयमिति केवलं गमनार्थमनुज्ञां दत्तवानित्याह **एवमिति**. एतदुक्तमवश्यं करिष्यतीति ज्ञापनार्थं **यदुपतिमिति**, तेषां पतिर्हि तत्कार्यं करिष्यतीति. **कृष्णं** सदानन्दं, किञ्चिदप्यकरणे स्वतःपुरुषार्थरूपम्. अवश्यं स्वज्ञातं स्वकृतं च स्वामिने निवेदनीयमिति निवेदितवानित्याह **भागवतप्रवर** इति. एष्यपरिज्ञाने हेतुः **मुनिरिति**. गमनार्थं साष्टाङ्गं प्रणामं कृतवान्, पश्चाद् भगवता **अभ्यनुज्ञातः ययौ.** ननु समागतो न किञ्चित् प्राप्तवान् कथं व्यर्थमेव गत इति चेत् तत्राह **तस्य** भगवतो **दर्शनमेवोत्सवो** यस्य. लोके महाफलमुत्सवं, तद्रूपं दर्शनमेव प्राप्तवानिति ॥२५॥

एवं मध्ये समागतं नारदमुपसंहृत्य केशिवधानन्तरं भगवान् गोकुले गत इति नोक्तमिति तदुपसंहरति **भगवानपीति**, यतो **गोविन्दः**. यथा नारदो गतः एवं **भगवानपि** ततो गोकुलं गतः. **आहवे** सङ्ग्रामे, अन्यथायं वधः राजसप्रकरणे न वक्तव्यो भवेत्. पूर्ववदेव **पशूनपालयत्,** न तु नारदवाक्येन ऐश्वर्यभावो वा खेदो वा जात इति. **प्रीतैः पालैरिति** स्वाभिप्रेतनिवेदनं पूर्ववच्च स्थितिरुक्ता. किञ्च अहर्निशं पूर्ववदेव **व्रजसुखावहो** जातः ॥२६॥

यद्यप्यग्रिमकथा तस्मिन्नेव दिवसे न कृता तथापि सिंहावलोकनन्यायेन कथां निरूपयति, इतो गतोऽपि भगवान् गोकुलं पालयिष्यतीति ज्ञापनार्थम्, **एकदेति** नवभिः. पूर्वमस्याः कथायाः प्रकरणं न स्थितमिति स्वकाले नोक्ता.

तदाह. कदाचित् **ते** सर्व एव **गोपालाः अद्रिसानुषु पशून् चारयन्तः,** गोवर्द्धनोच्चप्रदेशेषु स्थिताः दूरादपि द्रष्टुं शक्नुवन्तीति. **निलायनक्रीडां चक्रुः**— तत्र निलायनं यासु क्रीडासु ये क्रीडन्ति तन्मध्य एव केचन लीना भवन्ति केचनान्वेषणार्थं प्रवृत्ता भवन्ति. तत्रापि विशेषमाह **चौरपालापदेशत** इति, एवमपि केचन निलीनाः चौरा एव भवन्ति, अन्वेषकाः पाला एव ॥२७॥

तत्रासन् कतिचित् चौराः पालाश्च कतिचित् नृप ।
मेषायिताश्च तत्रैके विजह्रुरकुतोभयाः ॥२८॥
मयपुत्रो महामायो व्योमो गोपालवेषधृक् ।
मेषायितानपोवाह प्रायश्चौरायितो बहून् ॥२९॥
गिरिदर्यां विनिक्षिप्य नीतं नीतं महासुरः ।
शिलया पिदधे द्वारं चतुःपञ्चावशेषिताः ॥३०॥

चौर्यविषयसिद्ध्यर्थं विशेषमाह **तत्रासन्निति**. सर्वे गोपालास्त्रिविधा जाताः. प्रयत्नाधिक्यात् प्रथमत**श्चौराः**. **च**कारात् सर्वे परावृत्त्य[1] सर्वं भवन्तीति. **नृपे**ति सम्बोधनं लीलामात्रत्वज्ञापनार्थम्. **मेषा** नीयमानास्तूष्णीं तिष्ठन्तीति न छागादिरूपा निरूपिताः. **एक** इत्यशक्ताः. भगवता कृत्वा **न कुतश्चिद्भयं** येषाम्. प्रायेण भगवान् बलभद्रश्च तस्मिन् दिवसे न गोचारणार्थं गतौ, अन्यथा समागमनमात्रेणैव स हतो भवेत्. गोकुले स्थित एव तत्र गत्वा मारितवानिति विमर्शः ॥२८॥

दैत्यांशत्वात् कंसस्य तद्धितकारी मयपुत्रः स्वयमागत्य गोपानामुपद्रवं कृतवानित्याह **मयपुत्र** इति. **महती माया** यस्येति गोपालान् वञ्चयितुं मारयितुं च शक्तिरुक्ता. ते[2] पलायनं करिष्यन्तीति **व्योमासुरो गोपाल**रूपो जातः, **चौरायित**प्रतिच्छायरूपः. **मेषायितान्** मेषवत् पतित्वा स्थितान्, यथान्ये गोपाला नयन्ति. परं तेषु नीयमानेषु पालायिता[3] जाग्रति, अस्मिंस्तु नीयमाने नयति सति मायया कृत्वा न कस्यापि जागरणमिति **बहूने**व नीतवान् ॥२९॥

क्रीडार्थं न नयनं किन्तु मारणार्थमित्यग्रिमकृत्यमाह **गिरिदर्यामिति**. बहूनप्येकवारं नयति, बहुवारं च नीतवान्. गुहाद्वारमतिसूक्ष्ममिति ज्ञापयितुं **नीतं नीतमि**त्येकवचनम्. ननु बालाः दयापात्रं कथमेवं गुहायां प्रक्षिपतीत्याशङ्क्याह **महासुर** इति, अत्यन्तमासुरस्वभावः. अत एव न गुहाप्रवेशनमात्रमेव कारितवान् किन्तु **शिलया द्वारमपि पिदधे**. एवं मेषायिताः क्षीणाश्चेत् चौरायिताः पालायिताश्च मेषायिता एव क्रमेण भवन्तीति **चत्वारः पञ्च** वा **अवशिष्टाः**, तदानीं नीयमानेन सह पञ्च नो चेत् चत्वारः ॥३०॥

लेखः

मयपुत्र इत्यत्र, **नीयमाने नयति सती**ति, क्रियाफलस्य स्वपरगामित्वविवक्षया द्वयमुक्तम्. स्वस्य कंसस्य च हितार्थं नयनमित्यर्थः ॥२९॥

---

१. परावृत्त्या इत्यपि पाठः. २. लुप्तं कस्मिन्नादर्शे. ३. पालयिता इत्यपि पाठः

तस्य तत्कर्म विज्ञाय कृष्णः शरणदः सताम् ।
गोपान् नयन्तं जग्राह वृकं हरिरिवौजसा ॥३१॥
स निजं रूपमास्थाय गिरीन्द्रसदृशं बली ।
इच्छन् विमोक्तुमात्मानं नाशक्नोद् ग्रहणातुरः ॥३२॥

तदा अन्यत्र स्थितो भगवान् व्योमस्य कर्म ज्ञात्वा समागत्य यत् कृतवांस्तदाह **तस्येति**. **तत्कर्म** गुहायां निक्षिप्य शिलापिधानलक्षणं, **विशेषेण ज्ञात्वा** प्रत्यक्षदर्श्येव. तथा ज्ञाने हेतुः **कृष्ण** इति, सदानन्दो हि स; यदैव स्वानन्दस्तेभ्यः तिरोभूतः सद्रूपाश्च ते, अतो ज्ञातवान्. तथापि अक्लिष्टकर्मा भगवान् सर्वसमः किमिति तं जगृह इत्याशङ्क्याह **सतां शरणद** इति. यदि भगवान् शरणागतान् सर्वावस्थासु न पालयेत् तदा न कोऽपि शरणं गच्छेत्. ततः शरणदानमेव न स्यात्, सतां च मनसि तद्दुःखं भवेदित्यपि, शास्त्ररीतिरपि नश्येदित्यपि. **गोपान्** बहूनेव **नयन्तं** पालायितइव तत्रैव प्रादुर्भूतः आगतो वा **जग्राह**. तस्यैकदेशग्रहणव्यावृत्त्यर्थं दृष्टान्तमाह **वृकं हरिरिवेति**, स हि सर्वाङ्गे तं व्याप्य आच्छाद्य गृह्णातीति तथा सर्वाङ्गे गृहीत इत्यर्थः ॥३१॥

ततः स विचारितवान्— यद्यपि भगवान् महान् तथापि रूपान्तरं गृहीतवानिति मया स्वरूपे गृहीते भगवान् स्वल्परूपः इति न मारयितुं शक्ष्यति. भगवानपि चेत् स्वरूपं गृह्णीयात् तदावतारसमाप्तिरेव भविष्यतीति कंसादीनामस्माकं चामारणमेव स्यात्. इत्यभिप्रेत्य स्वरूपं गृहीतवानित्याह **स निजमिति**. **निजमासुरं रूपम्**. ग्रहणायोग्यत्वायाह **गिरीन्द्रसदृशमिति**. पराक्रमोऽपि वर्तत इति ज्ञापयितुमाह **बलीति**. एवमपि कृत्वा **आत्मानं** [1]**मोक्तुमिच्छन्नपि** अत्यन्तप्रयत्नं कुर्वन्नपि **आत्मानं विमोक्तुं नाशक्नोत्**. दूरापास्तं विमोचनं; **ग्रहणेनातुर** एव जातः, अन्तिमावस्था ग्रहणमात्रेणैव जातेति ॥३२॥

लेखः

तस्य तत्कर्मेत्यत्र, **सद्रूपाश्च त** इति. भगवतः सकाशात् पूर्णानन्दप्राप्तिः, स्वतस्तु धर्मिरूपसदात्मका गणितानन्दा एव, "आनन्दादयः प्रधानस्ये"ति न्यायादित्यर्थः ॥३१॥ ॥ चतुस्त्रिंशाध्यायव्याख्या समाप्ता ॥

---

१. विमोक्तुमित्यपि पाठः

तं निगृह्याच्युतो दोर्भ्यां पातयित्वा महीतले ।
पश्यतां दिवि देवानां पशुमारममारयत् ॥३३॥
गुहापिधानं निर्भिद्य गोपान् निःसार्य कृच्छ्रतः ।
स्तूयमानः सुरैर्गोपैः प्रविवेश स्वगोकुलम् ॥३४॥

॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥

तथापि मुख्यदैत्यत्वात् लीनो न भविष्यतीति [1]स्वयं मारितवानित्याह **तं निगृह्येति. दोर्भ्यां** निग्रहं कृत्वा स्वयं भयरहितः **अच्युतः महीतले तं पातयित्वा** यथा भूमिष्ठा देवास्तं न त्यजन्ति तथा कृत्वा यज्ञार्थं तस्य वधो भवत्विति धर्मनिरूपणार्थं **पश्यतामेव** सर्वेषां **देवानां पशुमारं** यथा भवति तथा **अमारयत्** मुखमुद्रणं कृत्वा गलमोड(ट!)नं कृतवानित्यर्थः. देवानां दर्शनं सुखार्थम्, अन्यथा भगवानक्लिष्टकर्मा तथा न कुर्यात् ॥३३॥

ततो यत् कृतवांस्तदाह. **गुहापिधानमिति**, मायया स्थापितं **निर्भिद्य** नितरां भित्त्वा, यथा पुनरन्योऽपि न प्रवेशयेत् तथा गुहात्वमेव दूरीकृतवान्. **कृच्छ्रतः** संकटात् **गोपान् निःसार्य** तैरेव **सुरैर्गोपैश्च स्तूयमानः** भगवत्कृतमुपकारं ते जानन्तीत्युक्तं, ततस्तैः सह **स्वगोकुलं प्रविवेश.** सर्वत्र प्रत्यापत्तिर्निरूप्यते, अग्रे लीलापराणामपि तथात्वाय ॥३४॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां
दशमस्कन्धविवरणे चतुस्त्रिंशाध्यायविवरणम् ॥

॥ इति चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥

॥ तृतीयः स्कन्धादितः पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥

पञ्चत्रिंशे भक्तिमार्गस्थापनाय निरूप्यते ।
अक्रूरागमनं भक्तिः फलं चैव हि मानसम् ॥(१)॥
सात्त्विकश्चेदभिमुखः तदा भवति भक्तिमान् ।
अन्यथा दैत्यसंसर्गे स्तब्धा भक्तिर्भवेद् ध्रुवम् ॥(२)॥

॥ श्रीशुक उवाच ॥

अक्रूरोऽपि च तां रात्रिं मधुपुर्यां महामतिः ।
उषित्वा रथमास्थाय प्रययौ नन्दगोकुलम् ॥१॥
गच्छन् पथि महाभागो भगवत्यम्बुजेक्षणे ।
भक्तिं परामुपगत एवमेतदचिन्तयत् ॥२॥

त्रयस्त्रिंशेऽध्याये अक्रूरः प्रेषित इत्युक्तं, तस्यागमनं निरूपयति **अक्रूरोऽपी**ति. यस्यां रात्रौ समादिष्टः **तां रात्रिं** मथुरायामेव स्थितः. सा हि भगवदधिष्ठिता भूमिः. भगवांश्चेत् निवारयेत्, मथुरा वा, भगवत्सेवको वा कश्चित्, तदा न गमिष्यामीति निश्चित्य तत्रैव स्थितः. ततो गमनमेव समीचीनमिति ज्ञात्वा प्रचलित इत्याह **महामतिरि**ति, अयमुपायः सर्वेषामेव हितकारी, अतो गत्वा समानेय इति. ततः कंसदत्तं दिव्यं **रथमास्थाय** स्वयमेकाकी सारथिरूपः **नन्दस्य गोकुलं** प्रति **प्र**कर्षेण बहिरन्तःसन्तोषपूर्वकं गृहे च सम्भृतिं कृत्वा **ययावि**त्यर्थः ॥१॥

सात्त्विकस्य भगवदाभिमुख्ये भक्तिर्भवतीति ज्ञापयितुं तस्य भगवद्विषयको मनोरथो जात इत्याह **गच्छन्नि**ति.

पथि गच्छन्निति मार्गगन्तुर्भक्तिरुचितैव. **पथि गच्छन्नि**ति रथप्रेरणं नापेक्षत इति सूचितम्. ननु दुष्टसंसर्गं प्राप्य स्थितो दुष्टप्रेरितः कथं भक्तो जात इत्याशङ्क्याह **महाभाग** इति, पूर्वसञ्चितपुण्यराशिः सर्वमेव भाग्यमद्य फलोन्मुखं जातमित्यर्थः. तत्फलमाह **भक्तिं परामुपगत** इति, **परां** प्रेमलक्षणाम्. विषयो न विभूतिरूप इत्याह **भगवतीति. अम्बुजवदीक्षणे** यस्येति दृष्ट्यैव सर्वतापनाशकत्वं निरूपितम्. अतः फलदातरि पुरुषोत्तमे भक्तिर्युक्ता. सापि भक्तिः पूर्वं जाता, मध्ये गता तिरोहिता,

---

लेखः

पञ्चत्रिंशे **अक्रूरोऽपी**त्यत्र **सारथिरूप** इति, अग्रिमाध्याये "अक्रूरश्चोदयामास"त्यनेन तस्यैव सारथित्वोक्तेरिति भावः ॥१॥

किं मयाचरितं भद्रं किं तप्तं परमं तपः ।
किं वाथाप्यर्हते दत्तं यत् द्रक्ष्याम्यद्य केशवम् ॥३॥
ममैतद् दुर्लभं मन्य उत्तमश्लोकदर्शनम् ।
विषयात्मनो यथा ब्रह्मकीर्तनं शूद्रजन्मनः ॥४॥

पुनरुपसमीपे स्वयमे**वागता. एतद्** वक्ष्यमाण**मेवं** प्रकारेणाचिन्तयदिति, गता भक्तिः समागता स्वतः प्रवेशमलभमाना कामनाद्वारा प्रविष्टेति भगवतो महत्त्वं ज्ञात्वा तेन स्वस्योत्कर्षं यथा कामयते तथा चिन्तायुक्तं कृतवतीत्यर्थः ॥२॥

प्रथमतो भगवद्धर्माणां माहात्म्यमाह भक्तिदार्ढ्याय, तत्रापि दर्शनस्य सर्वोत्कृष्टत्वमाह **किं मयाचरितं भद्र**मिति.

त्रयो विभागाः— स्वयं भगवान् अन्ये सर्वे च. तेषामुत्कृष्टधर्मैः सहजैरागन्तुकैर्वा सर्वात्मको भगवांस्तुष्यतीति ज्ञायते. तस्मिंस्तुष्ट एव तस्य दर्शनं भवतीति यतो ब्रह्मेशयोरपि सुखमोक्षदाता भगवानिति. तत्र स्वधर्म आचारः, भगवद्धर्मस्तपः, सर्वलोकोपकारी दानमिति. "आचारप्रभवो धर्म" इति,तदुक्तं **किं मयाचरितमिति, भद्रं** कल्याणरूपम्. "तपो मे हृदयं साक्षादि"ति वाक्याद् भगवच्छक्ति**स्तपः** अत उक्तं **किं तप्त**मिति. जीवधर्मतपोव्यावृत्त्यर्थं **परम**मिति. सर्वोपकारी धर्मो दानं सुपात्र एव महाफलं साधयतीति **अर्हते दत्त**मिति. **अथे**ति भिन्नप्रक्रमे, **किं** वेत्याकाङ्क्षायाम्; अत्यन्तं भगवत्पराय भगवदर्थमेव सर्वविनियोगाय श्रद्धया दत्तमिति धर्मशास्त्राद् भिन्नः प्रक्रमः. अन्यथा **अद्यैव** भगवद्दर्शनं न भवेदतो ज्ञायते त्रयाणामन्यतरत् कृतमिति ॥३॥

एवं कार्यावश्यकतां ज्ञात्वा कारणं परिकल्प्य तत्र बाधकमाशङ्क्य परिहरति द्वाभ्याम्.

ममैतद् दुर्लभं मन्य इति, **एतद्** दर्शनं **मम** साधने विद्यमानेऽपि **दुर्लभम्.** तत्रोपपत्ति**र्मन्य** इति, युक्त्यैवं निश्चीयते मम दर्शनं न भविष्यतीति. अयं च तर्कः भगवतो अलौकिकत्वज्ञापकः, लौकिकत्वे इति शङ्कैव नोदेतीति. दर्शनाभावे हेतुद्वयमाह भगवन्निष्ठं स्वनिष्ठं च धर्मद्वयम्. भगवन्निष्ठमाह **उत्तमश्लोकस्य दर्शनमिति,** उत्तमैरपि श्लोक्यत एव न च दृश्यते. **उत्तमाः** सर्वज्ञा भक्ताः. स्वनिष्ठमाह **विषयात्मन** इति. किञ्च विषयाणां न केवलं प्रतिबन्धकत्वं, तथा सति कदाचिद्, अनित्यत्वाद् विषयाणां, दर्शनमपि भवेत्, किंत्वधिकारनिवर्तकत्वमपि, यतः सिद्धेऽपि सुलभेऽपि विषये स्वस्य न योग्यतेति. तदाह **यथे**ति. **ब्रह्मकीर्तनं** वेदोच्चारणं;

मैवमेवाधमस्यापि स्यादेवाच्युतदर्शनम् ।
ह्रियमाणः कालनद्या क्वचित् तरति कश्चन ॥५॥
ममाद्यामङ्गलं नष्टं फलवांश्चैव मे भवः ।
यन्नमस्ये भगवतो योगिध्येयाङ्घ्रिपङ्कजम् ॥६॥

पूर्वजन्मनि ब्राह्मणोऽपि सर्वज्ञोऽपि वेदोच्चारणसमर्थोऽपि शूद्रबीजात् चेदुत्पन्नः तदा नार्हति कीर्तनं कर्तुम् ॥४॥

एवं प्रतिकूलतर्कं निरूप्य अनुकूलेन तस्य पराहतिमाह **मैवमेवे**ति. **मे**ति निषेधार्थे, यदुक्तं त्वया— विषयित्वात् नाधिकारो विषयाश्च बाधका इति, महतामपि केवलं स्तुत्य एव न तु दृश्य इति च —एतन् **मा** किन्तु **एवमेवै**तत्. उभयत्रापि साधकधर्मद्वयमाह **अधमस्यापि अच्युतदर्शनं स्यादेवे**ति. विषयाणाम् अधमाधिकारित्वसम्पादकत्वमेव न त्वधिकारनिवारकत्वम्. आसुरत्वमेव तथा, ''असुर्यः शूद्र'' इति श्रुतेः. नापि प्रतिबन्धकत्वं, विषयैरपि भगवद्भजनस्य शास्त्रे निरूपितत्वात् ''यद्यदिष्टतमं लोके'' इति किन्त्वधमत्वमेव सम्पादयति— सर्वथा निर्विषय उत्तमः बहिर्निर्विषयः मध्यमः उभयत्रापि सविषयोऽधम इति. **अधमस्यापि स्यादेवाच्युतदर्शनम्,** अन्यथाऽधमोऽधिकार एव न स्यात्. किञ्च **भगवानच्युतः** सर्वथा च्युतिरहितः स्वरूपतो धर्मतश्च यदि संकीर्तितः तत्कीर्तनं न व्यर्थमिति भवानेव फलमिति दर्शयेदेव कदाचिद्, अतः **स्यादेव**. ननूक्तो दृष्टान्तो बाधक इति चेत् साधकोपि दृष्टान्तोऽस्तीत्याह **ह्रियमाण** इति, **कालनद्या ह्रियमाणः क्वचित्** कदाचित् कश्चित् **तरती**ति, यथा तृणम्. दृश्यते च नौका जले पतिता स्वयमेव कूलात् कूलान्तरं गच्छति. कालोऽपि नदीरूपः भगवन्तं जीवसमूहं चान्तरा प्रवहति विषयमायाजलात्मा. तत्र तीरस्थान् कदाचित् मध्ये पातयित्वा उत्तरकूले नयेत्. अनेन कालवशादपि मोक्षः सिद्ध्यतीति केषाञ्चित् मतमुक्तम्. अत्र नियामकं भगवदवतारः ॥५-६॥

ननु बाधकस्य कालस्य कथं मोक्षसाधकत्वमिति चेत् तत्राह **कंस** इति. कदाचिद्बाधकान्येव साधकानि भवन्ति, विषं भक्षयित्वा जीवति अन्यथा म्रियेतेति लोकप्रसिद्धिः. तदाह **कंस** इति, **बते**ति हर्षे; यः सर्वथा बाधकः स एव **मे अद्यानुग्रहमकृत,** य एव हि भगवद्दर्शनं कारयति स एवानुग्रहं करोतीति. कदाचिदनुग्रहं

लेखः

मैवमेवेत्यत्र **कीर्तनं व्यर्थमि**ति, भवेदिति शेषः ॥५॥

कंसो बताद्याकृत मेऽत्यनुग्रहं द्रक्ष्येऽङ्घ्रिपद्मं प्रहितोऽमुना हरेः ।
कृतावतारस्य दुरत्ययं तमः पूर्वेतरन् यन्नखमण्डलत्विषा ॥७॥
यदर्चितं ब्रह्मशिवादिभिः सुरैः श्रिया च देव्या मुनिभिश्च सात्वतैः ।

करोति लौकिकं विषयादिद्वारा, अयं **त्वत्यनुग्रह** इति येन **प्रहितोऽङ्घ्रिपद्मं द्रक्ष्य** इति. ननु विपरीतार्थं प्रेषितवान् ततः कथमिष्टसिद्धिरिति चेत्, तत्राह **हरेरिति**, स हि सर्वदुःखहर्ता सम्बन्धमात्रमपेक्षते. स सम्बन्धोऽनेन कारित इति कंसस्यैवायमनुग्रहः. यथाकथञ्चित् सम्बन्ध एवात्र प्रयोजक इति ज्ञापयितुमाह **कृतावतारस्येति**, एतदर्थमेव भगवदवतार इति. तथात्वे प्रमाणमाह **पूर्वेतरन्निति**, **यस्य नखमण्डलत्विषापि पूर्वे** भगवदीयाः **अतरन्** संसारम्. भावितो हृदये प्रकाशमानश्चरणः मुक्तिं ददातीति अविद्यान्धकारनिराकरणार्थं कान्तिर्निरूपिता. **मण्डलपदं** सूर्यादिरिव निवारकत्वं ज्ञापयति न तु दीपइव. एकेनापि सूर्येणान्धकारो निवार्यते किं पुनर्दशभिरिति ख्यापयितुं **नखेति**. तरणं पादपोतेनैवेति अर्थात् पादयोः, अतो यत्र चरणसम्बन्धमात्रेणैव ध्यानप्राप्तेन सर्वे तीर्णाः तत्र दर्शनवतो मम तरणे कः सन्देहः ? ॥७॥

एवं स्वस्य फलमधिकारं च निश्चित्य बहुवादिविप्रतिपन्नत्वाद् भगवतो मोक्षदातृत्वं साधयति **यदर्चितमिति**.

अवश्यं मोक्षोऽस्तीत्यभ्युपगन्तव्यं, स च किञ्चिदधीन इति च. तत्र सन्मार्गे ब्रह्मा, लोके महान् लक्ष्मीश्च विषयत्वेन, ज्ञानशास्त्रे मुनयः, भगवच्छास्त्रे सात्वताः. एतदवतारे चतुर्धा अवतीर्णस्य दिनरात्रिभेदेन गोपा गोप्यश्च सेवकाः, ये धृष्टाः अज्ञाश्च न कञ्चन मन्यन्ते, **तत्रापि** स्त्रियः, तत्रापि तेन प्रकारेणेति. सर्वत्र भक्तिप्राधान्यार्थं पदग्रहणम्. जगति त्रयो मुख्याः— ब्रह्मविष्णुशिवाः, तत्र **ब्रह्मा शिवश्च आदिभूतौ** येषाम्. सात्त्विककल्पे विष्णुर्भगवानिति गुणावतारेऽपि विशेष उक्तः तैः सर्वैरेवेन्द्रादिभिः स्वेष्टसिद्ध्यर्थम**र्चितं**, स्वामित्वाद् वा **श्रिया चार्चितम्**. प्रथमतोऽपि तस्याः परिज्ञाने सामर्थ्यमाह **देव्येति**. **मुनिभिश्चेति च**कारात् कर्मिभिरपि फलार्थिभिः.

लेखः

यदर्चितमित्यत्र, एतदवतारे चतुर्धेति— ब्रह्मादिभिरनिरुद्धस्य पूजा धर्मार्थित्वात्, **श्रिया** प्रद्युम्नस्य पञ्चमस्कन्धे श्रिया कामदेवस्य पूजानिरूपणात्, **मुनिभिः** सङ्कर्षणस्य अविद्यानाशनार्थित्वात्, सात्वतैर्वासुदेवस्य सत्त्वैकनिष्ठत्वाद् एतदवतारे चत्वारोऽपि सन्तीत्यर्थः. **सात्त्विककल्पे** इति, तत्कल्पे विष्णुरूपो भूत्वा सृष्टिं करोति, ब्रह्मभवौ तु तत्तत्कल्पयोराज्ञापयतीति विशेष इत्यर्थः ॥८॥

गोचारणायानुचरैश्चरद् वने यद् गोपिकानां कुचकुङ्कुमाङ्कितम् ॥८॥

द्रक्ष्यामि नूनं सुकपोलनासिकं स्मितावलोकारुणकञ्जलोचनम् ।

मुखं मुकुन्दस्य गुडालकावृतं प्रदक्षिणं मे प्रचरन्ति वै मृगाः ॥९॥

सात्वतैरिति वैष्णवभेदा उक्ताः, ये सत्त्वैकनिष्ठाः. गोपानामर्चनपरिज्ञानार्थमाह **अनुचरैरिति**, अलौकिकं गवां चारणं शिक्षणीयमिति ते पूर्वं सेवकाः, **यस्माद् वने** ग्राम्याणां भगवदर्चने बाधकसद्भावात् न भवतीति. स्त्रीणामपि भजने हेतुं सूचयति **कुचकुङ्कुमैरङ्कितमिति**, कामेनैव तासां भजनं , ताभिः बहिरपि हृदये स्थाप्यत इति.

ऐश्वर्यं श्रीस्तथा ज्ञानं कीर्तिर्धर्मो विरागता ।

षड्गुणास्त्वत्र निर्दिष्टाः क्रमो नात्र विवक्षितः ॥(३)॥८॥

एवं सर्वनिर्धारं कृत्वा व्रजन् शकुनं दृष्ट्वा प्रोत्साहेन इष्टरूपं दर्शनं भविष्यतीत्याह **द्रक्ष्यामीति**.

यतो **मृगाः दक्षिणं प्रचरन्ति** अतो **नूनं द्रक्ष्यामि**. कंसभृत्यत्वाद् भगवान् न सम्मुखो भविष्यतीत्याशङ्क्य मुखारविन्दमेव द्रक्ष्यामीत्याह **मुखमिति**. तथापि क्रुद्धः कदाचिद् भवेद् अपकारं वा विचारयन् तिष्ठेत् तदा कपोलौ नासिका च वक्रा विषमा च भवेत्. तन्निवारणार्थमाह **सुकपोलनासिकमिति, सुष्ठु कपोलौ नासिका** च यस्मिन् इति भक्तिः तद्रसश्च निरूपितौ. ननु तथाप्यपकारार्थं समागच्छन्तं कथमङ्गीकुर्यात् ? तत्राह **स्मितावलोकारुणकञ्जलोचनमिति, स्मितमल्पहासस्तेन** ज्ञानेऽर्थव्यामोहस्तेनैव व्यामोह इति न ममापराधः. युक्तार्थं चैतत्कृतवानिति ज्ञानाधारभूत-क्रियायामरुणकमलसादृश्यं निरूपितम्. अक्ष्णोररुणता युद्धं सूचयति. मुखदर्शनेन सर्वं फलं सेत्स्यतीत्याह **मुकुन्दस्येति**. ननु वादिविप्रतिपत्त्या कथं भगवानेवं मुखदर्शनेनैव मोक्षं प्रयच्छतीति चेत्, तत्राह **गुडालकावृतमिति**. अलकाः तत्त्वविद इति पूर्वं निरूपितम्. ते चेत् कुण्डलाकाराः सर्व एव कुण्डलाकाराः प्रपन्नाः, ते च पुनर्मात्सर्यं परित्यज्य सर्वे सम्भूय भगवन्तमाश्रयन्ति तदा न विवाद इति. **गुडशब्देन** परावर्तनमुच्यते, सर्वतः प्रसरणस्वभावाः पिण्डीभावं प्राप्नुवन्तीति. **प्रकर्षो** यथाभिलषितार्थः, मदिच्छयैव वा तथा भवन्तीति मदर्थमेव शकुनं कुर्वन्तीति ज्ञायते. **प्रकर्षेण च चरन्ति** न तु पलायन्ते. अयमुक्तः सर्वोऽप्यर्थः न सन्दिग्धो नापि भ्रान्तिप्रतिपन्न इति **वै** निश्चयेनेत्युक्तम् ॥९॥

एवं शकुनेनापि दर्शनं निर्धार्य अद्यैव भविष्यतीति मनोरथं करोति **अपीति**,

अप्यद्य विष्णोर्मनुजत्वमीयुषो भारावताराय भुवो निजेच्छया ।
लावण्यधाम्नो भवितोपलम्भनं मह्यं न न स्यात् फलमञ्जसा दृशः ॥१०॥
य ईक्षिताहंरहितोऽप्यसत्सतोः स्वतेजसापास्ततमोभिदाभ्रमः ।

दुर्लभं दिनमेतदिति सम्भावना. विभूतिर्भविष्यतीत्याशङ्क्याह **विष्णोर्मो**क्षदातुः लीलया **मनुजत्वं मनुष्यत्वमीयुषः** स्वीकृतवतः. **उपलम्भनं भविता** एतदपि किं सम्भावितमिति. प्रयोजनमाह **भारावताराय भुव** इति. तत्रापि नियतं हेतुमाह **निजेच्छये**ति, भक्तानां ब्रह्मादीनामिच्छया. फलदानं कालान्तरेऽस्तु मा वा, इदानीमेव दर्शनमात्र एव परमानन्द इति तदर्थमाह **लावण्यधाम्न** इति, सौन्दर्यमात्रस्यैव स्थानभूतस्य. **उपलम्भनं** निकटे दर्शनं यदि भविष्यति तदा **मह्यमे**व भविष्यति, मदर्थमेव मम **दृशः** दृष्टीनाम् **अञ्जसा फलं** च भविष्यति. आत्मा तु मुक्त एव भविष्यति न सन्देहः जन्मापि सफलं भविष्यति इन्द्रियाणां साफल्यात् ॥१०॥

एवं शीघ्रदर्शनं सम्भाव्य अवतारे अन्यधर्मसम्बन्धमाशङ्क्य तथा सति सर्वमेवान्यथा भविष्यतीति तन्निवृत्त्यर्थं भगवति प्रापञ्चिकधर्मसम्बन्धाभावमाह **य ईक्षिते**ति. भगवतोऽन्यधर्मसम्बन्धः अहङ्कारे गुणेषु तत्कार्ये चेन्द्रियादौ वर्तमाने भवति, अहङ्कारादीनां तु कार्यं दृश्यमानमपि स्वरूपेणैव भवतीति न भगवतोऽन्यधर्मसम्बन्धः. तत्र प्रथमं अहङ्काराभावेऽपि तत्कार्यमाह **अहंरहितोऽपि असत्सतोर्य ईक्षिता.** द्रष्टा लौकिकः साहङ्कारो भवति, इन्द्रियेष्वहमध्यासव्यतिरेकेण द्रष्टृत्वाभावात्, ममतायां वा, तथात्वे वैदिकातिरिक्तसिद्धान्तेषु स्मार्तेषु पौराणिकेष्वपि अध्यासो मूलमिति ममतापक्षेऽप्यहङ्कारापेक्षा. भगवांस्तु "आनन्दमात्रकर-पादमुखोदरादि"रिति "चक्षुषश्चक्षुरि"ति अहंरहितोऽपीक्षिता भवति. अनेन भगवज्ज्ञानं निर्विषयमेवेत्युक्तं; दीपवदेव सर्वं प्रकाशयति. तदा विषयदोषसम्बन्धाभावात् **सतः असतश्चापीक्षिता** भवति. कार्यकारणयोर्वा, "सत्यं चानृतं चे"तिश्रुतेः कार्यमेव सर्वम्. गुणकृतदोषसम्बन्धाभावमाह **स्वतेजसे**ति, भगवत्तेजसैव **अपास्ता** दूरीकृताः **तमस्तामसमज्ञानं भिदा** भेदस्तत्कृतो राजसस्ततो **भ्रमः** सात्त्विकोऽपि विश्वप्रतीतिरूपः. न हि तमसि दूरीकृते तत्कृतचोरभयादयो वा सम्भवन्ति.

लेखः

य ईक्षितेत्यत्र, ममतायामिति, मम चक्षुरिति ममतायां सत्यां द्रष्टृत्वेऽप्यध्यासो मूलं, ममताया अहन्तानिरूपितत्वात्. **वैदिके**ति, वैदिकपक्षे तु वस्तुत एव सर्वत्रात्मबुद्धिः न त्वध्यास इत्यर्थः. **निर्विषयमेवे**ति, भगवानात्मत्वेनैव सर्वं

स्वमाययात्मन्रचितैस्तदीक्षया प्राणाक्षधीभिः सदनेष्वभीयते ॥११॥

भगवतीन्द्रियादिसम्बन्धप्रतीतिर्माययैव न तु वस्तुत इत्याह **स्वमाययेति**, **स्वाज्ञाकारिणी** या सर्वभवनसमर्था **माया** तया कृत्वा **आत्मनि** स्वस्मिन्नेव **रचितैः प्राणाक्षधीभिः** प्राणेन्द्रियान्तःकरणैः सहितेषु सर्वेष्वेव देहेषु गृहेषु **अभीयते** प्रकाशते भगवान्. स्वाधीनया स्वकीयानां देहेन्द्रियान्तःकरणानि प्रतीयन्ते. तेष्वात्मप्रतीतिसिद्ध्यर्थम् **आत्मनि रचितैः,** तेष्वात्मप्रतीतिर्भवत्विति. वस्तुतः सर्वत्रायमेव प्रतीयते, यत्रान्यत्रापि स्थितो भगवान् न तद्धर्मैर्युज्यते तदा केवलः कथं युक्तो भवेत् ? अन्यत्रापि ते सर्वे धर्माः भगवदिच्छयैव भगवद्रूपाः माययान्यथा प्रतीयन्ते तत्र भगवत्येव किं वक्तव्यम् ! अथवा लोकप्रतीत्यर्थं **सदनेषु** गोपिकागृहेषु यथा भगवानतत्रत्योऽपि तत्रत्यइव प्रतीयते. एवं **प्राणाक्षधीभिः** सहितोऽप्यधीयते, आत्मस्थान एव मायया तथा प्रतीत्युपपत्तेः. उभयोस्तुल्यत्वात् न दृष्टान्तभाव उक्तः अर्थतस्तु साधनीयं द्वयमपि.[१] विमर्शे त्वयमेवात्मा सर्वत्रेति कस्य

लेखः

गृह्णाति न तु विषयत्वेनेत्यर्थः. **प्रकाशते** इति, भातेर्भगवद्धर्मत्वादिति भावः. **स्वकीयानामिति** स्वांशभूतानामित्यर्थः. **आत्मनीति** ब्रह्मणीत्यर्थः. **अन्यत्रापि स्थित** इति अनुप्रविष्ट इत्यर्थः. **तदीक्षयेत्यस्यार्थमाहुः भगवदिच्छयैवेति.** बहुरूपत्वे हेतुभूतया **तदीक्षया मायया** करणेन **आत्मनि** ब्रह्मणि **रचितैः** प्राणादित्वेन रचितैस्तैः सहितेषु देहेषु तत्रानुप्रविष्टो भगवानेव प्रकाशते न तु ते इति मूलेऽन्वयः. प्रकाशाश्रये देहादित्वप्रतीतिर्मायिकी, वस्तुतस्तु भगवानेवानुप्रविष्टस्तत्तद्रूपेण प्रकाशाश्रय इत्यर्थः. देहेऽपि प्राणादिन्याय इति भिन्नतया तत्कथनमप्रयोजनक-मित्यरुच्या सदनपदस्यार्थान्तरमाहुः **अथवेति. अतत्रत्योऽपीति**, अतद्गृहस्थ इत्यर्थः. **तत्रत्यइवेति**, तद्गृहस्थइवेत्यर्थः. अक्रूरबुद्धिमनुसृत्यैवमुक्तम्. **उभयोस्तुल्यत्वादिति**, प्राणादीनामपि स्वरूपभूतत्वात् तत्साहित्यं नास्ति किन्तु तद्रूप एव. तथापि प्राणादिसहितः प्रकाशते इति साधने गोपिकागृहे यथाऽतद्गृहस्थोऽपि तद्गृहस्थ इव प्रतीयते इति दृष्टान्तः. पूर्वार्धोक्तरूपो भगवानधुना गोपिकासदनेषु प्रकाशते इति साधने यथाऽतत्सहितोऽपि प्राणादिसहितः प्रकाशते इति दृष्टान्तः. इत्येवमुभयोस्तत्तद्-दृष्टान्तत्वेन तुल्यत्वाद् 'इवा'दिपदैः स नोक्त इत्यर्थः. तर्हि कथं सिद्ध्यतीत्यत आहुः **अर्थतस्त्विति**, 'इवा'दिपदाभावेऽपि द्वयोरार्थिकः स्वस्वदृष्टान्तभाव इत्यर्थः. **विमर्शेति**, विचारे क्रियमाणे इत्यर्थः ॥११॥

१. स्वयमपि इति स.पाठः.

यस्याखिलामीवहभिः सुमङ्गलैर्वाचो विमिश्रा गुणकर्मजन्मभिः।
प्राणन्ति शुम्भन्ति पुनन्ति वै जगद् यास्तद्विरक्ताः शवशोभना मताः ॥१२॥
स चावतीर्णः किल सात्वतान्वये स्वसेतुपालामरवर्यशर्मकृत् ।
यशो वितन्वन् व्रज आस्त ईश्वरो गायन्ति देवा यदशेषमङ्गलम् ॥१३॥

दोषेणायं संयुक्तो भवेदित्यर्थः ॥११॥

किञ्च यदि भगवति केनाप्यंशेन प्राकृतधर्मसम्बन्धः स्यात् तदा भगवद्गुणनामादिकीर्तने कस्यापि पापक्षयो न स्यादित्यभिप्रायेणाह **यस्याखिलामीवहभिरिति**, **अखिलानामेव** अमीवानि पापानि घ्नन्तीति **अमीवहानि** भगवन्नामानि. न केवलं पापनाशकानि किन्तु **सुष्ठु मङ्गल**जनकानि. **तैर्विमिश्रिताः** अन्यदीया अपि **वाचः गुणाः** सत्यादयः **कर्माणि** गोवर्द्धनोद्धरणादीनि **जन्मानि** देवकीपुत्रादीनि सर्वेषां सर्वाण्येव पापनाशकानि. अत एव या **वाच** एतद्युक्ताः ताः **प्राणन्ति** जीवन्ति, वाचः प्राणरूपाः भगवद्गुणा इति. **शुम्भन्ति** शोभनयुक्ताः पुष्टा भवन्ति. ततः सानुभावा अपि भवन्ति **जगत् पुनन्ती**ति, यथा देहे प्राणा अन्नं धर्मश्च एवं वाचि भगवद्गुणजन्मकर्माणि. तथैव मनस्यपि त्रयो ज्ञातव्या; ''मनः पूर्वरूपं वागुत्तररूपमि''ति श्रुतेः न पृथगुभयोर्निर्देश उक्तः. आधिक्यपरं भविष्यतीति, ''सिद्धे साध्यवाक्यं तदाधिक्यं बोधयती''ति न्यायात्, इत्याशङ्क्य विपरीते बाधकमाह **यास्तद्विरक्ता** इति. यथा शवानां शोभा वस्त्राभरणैः क्रियते तथाप्यमङ्गलरूपैव, प्राणाभावात् तत्पोषकान्नाभावात् प्राणकार्यधर्माभावाच्च. अतो भगवति शतांशेनापि प्राकृतधर्मसम्बन्धो भवेत् तदैतत् न स्यादिति भावः ॥१२॥

एतादृश एवायमवतीर्णो न तु धर्मतिरोभावेनेति वक्तुमाह **सचावतीर्ण** इति. चकाराद् अन्तर्यामितयाऽवतीर्णोऽपि पुनर्बहिरप्यवतीर्ण इति. चकाराद् बलभद्रे वा शेषरूपः. **किले**ति, प्रसिद्धिः प्रमाणम्. महतो यत्र क्वाप्यवतारो न भवतीति **सात्वतान्वय** इत्युक्तम्. यादवाः सर्वे वैष्णवाः तेषां वंशप्रसिद्ध्यर्थं वा. अवतारप्रयोजनमाह **स्वस्य सेतुपालाः** भगवता कृता जगति या मर्यादा तस्याः पालका देवा इति तेषामवताराणां **शर्म** सुखं यथैव भवति तथैव करोति. अवतारेणैव भवतीति अवतारं करोतीत्यर्थः. मुख्यं प्रयोजनमाह **यशो वितन्वन्नि**ति, अग्रे

लेखः

यस्याखिलामीवहभिरित्यत्र, **देवकीपुत्रादीनीति**, 'देवकीपुत्रा'दिपद-प्रवृत्तिनिमित्तानि इत्यर्थः ॥१२॥

तं त्वद्य नूनं महतां गतिं गुरुं त्रैलोक्यकान्तं दृशिमन्महोत्सवम् ।
रूपं दधानं श्रिय ईप्सितास्पदं द्रक्ष्ये ममासन्नुषसः सुदर्शनाः ॥१४॥
अथावरूढः सपदीशयो रथात् प्रधानपुंसोश्चरणं स्वलब्धये ।
धिया धृतं योगिभिरप्यहं ध्रुवं नमस्य आभ्यां च सखीन् व्रजौकसः ॥१५॥

जनिष्यमाणानां मोक्षार्थम्. यावत् तानि कर्माणि सिद्धानि न भवन्ति तावद् **व्रज आस्ते.** ननु व्रजे स्थितौ किं प्रयोजनम्, उत्कृष्टस्थाने स्थितेनैव तथा कर्तुमुचितमिति चेत् तत्राह **ईश्वर** इति. अपकृष्टे स्थाने स्थित्वा तादृशं कर्म कुर्वन् सर्वेषां मोक्षं साधयतीति. रहस्यसिद्धान्ते चैतत् साधितम्. अत एव **यद्** भगवतश्चरित्रं सर्वे **गायन्ति** विशेषतो **देवाः** यस्माद**शेषस्या**पि **मङ्गल**भूतं भवतीति ॥१३॥

एवं भगवतो माहात्म्यमुक्त्वा सम्यगलौकिकत्वं सम्पाद्य तद्दर्शनं पुरुषार्थो भवतीति कामयते **तं त्वद्येति.**

तं पूर्वोक्तम्, तुशब्देन प्रातीतिकं पक्षं व्यावर्तयति. **अद्यैव** द्रक्ष्यामि, **नूनं** नात्र सन्देहः किन्तु निश्चितमेवैतत्. भगवतः पुरुषोत्तमत्वप्रतिपादनाय सर्वफलरूपत्वमाह. **महतामेव** फलं भवतीति तेषां **गतिः** गम्यः प्राप्यः फलमिति यावत्. साधनमपि स एवेत्याह **गुरुमिति**, उपदेष्टापि स एव, ज्ञानं ज्ञानोपदेष्टा वा. एवं वैदिकप्रकारेणोत्तमत्वमुक्त्वा लौकिकप्रकारेणाह **त्रैलोक्यकान्तमिति, कान्तः** पतिः सुन्दरश्च. किञ्च विशेषतो दृष्टिमतां ज्ञानवतां वा महानुत्सवो भवति. उत्सवः फलं भवतीत्यविवादम्. सर्वेषामेव पतिरपेक्ष्यत इति लौकिकं द्वयमपि फलम्. एवं लौकिकवैदिकफलरूपं दधानमिति दर्शनं महाफलमिति सूचितम्. किञ्च लोके सर्वपुरुषार्थरूपा लक्ष्मीः, "तया विना क्व देवत्वमि"त्यादिवाक्यात्, तस्या अपि **ईप्सितमास्पदं** स्थानम्. दर्शने आवश्यकं लक्षणमाह **ममासन्नुषसः सुदर्शना** इति, एते प्रातःकालाः अद्यतनाः प्रतिक्षणं **सुष्ठु दर्शनं** येषां तथाविधाः प्रतिक्षणमानन्दजनका दृश्यन्ते ॥१४॥

एवं दर्शनमनोरथमुक्त्वा दर्शनानन्तरमनोरथमाह **अथावरूढ** इति— रथावरूढः उत्तीर्णः भगवद्दर्शनानन्तरं सम्भावितदर्शने वा **ईशयोः चरणं नमस्ये** इति. आवेशावतारयोः चरणभेदो नास्तीत्येकवचनम्. ननु बालकयोः कथं नमस्कार उचित इति चेत् तत्राह **प्रधानपुंसोरीशयोरिति**, मातापित्रोरपि स्वामिनोरिति भावः. अतो गर्भदासाः सर्व एवेत्युक्तं भवति. ननु नमस्कारे किं प्रयोजनं, दर्शनेनैव सर्वपुरुषार्थसिद्धिरिति तत्राह **स्वलब्धये योगिभिरपि धिया धृतमिति**, आत्मप्राप्त्यर्थं यत्पदं

अप्यङ्घ्रिमूले पतितस्य मे विभुः शिरस्यधास्यन्निजहस्तपङ्कजम् ।
दत्ताभयं कालभुजङ्गरंहसा प्रोद्वेजितानां शरणैषिणां नृणाम् ॥१६॥
समर्हणं यत्र निधाय कौशिकस्तथा बलिश्चाप जगत्त्रयेन्द्रताम् ।
यद्वा विहारे व्रजयोषितां श्रमं स्पर्शेन सौगन्धिकगन्ध्यपानुदत् ॥१७॥

बुद्ध्या मानसिकं ध्रियते तत्साक्षात् नमस्कृतं किं किं न करोतीति नमस्कारमनोरथोऽपि युक्त इत्यर्थः. तद्ध्वनिन नमस्कारेण मोक्षः प्रार्थ्यत इत्याशङ्क्य तन्निवृत्त्यर्थं भक्तिरेव सिध्यत्वित्यभिप्रायेणाह **आभ्यां** सह एत**त्सखीन्** गोपालानपि **नमस्य** इति. ततो **व्रजौकस** एव सर्वा**न्नमस्य** इति भगवद्धर्माणां सर्वेषामेव सर्वोत्कृष्टत्वज्ञानं भक्तिहेतुरिति ॥१५॥

ततो भगवत्प्रसादरूपं मनोरथमाह **अप्यङ्घ्रिमूले पतितस्ये**ति, भक्त्युद्रेकात् शनैर्न नमस्कारः किन्तु चरणमूले पातः. नन्वदृष्टपूर्वे त्वयि कथं भगवान् कृपां करिष्यतीति चेत् तत्राह **विभुरिति**, स हि ज्ञाने प्रसादे[1] च समर्थः. **अप्यधास्यद्** "आशंसायां भूतवच्चे"ति. **अपीति** सम्भावनायां, प्रायेण हस्तं धास्यतीति. धारणेनैव महत्सुखं भविष्यतीति अन्यदपि ततः फलं भविष्यतीति हस्तपङ्कजं वर्णयति **दत्ताभयमि**ति. पङ्कजं हि जलकार्यं करोति. विषे हि जलेन प्रतीकारः तापरूपत्वाच्च. अत्रापि **काल** एव **भुजङ्गः** तस्य **रंहसा** वेगेन **प्रोद्वेजितानां**— दंशे तु मन्त्राद्यपेक्षा, केवलं दृष्ट्वैव भीताः पलायिताः कालो ग्रसिष्यतीति त्यक्तपरिग्रहाः सन्न्यासिनो विवेकिनो वा गृहस्थाः. ते च ते भगवच्छरणान्वेषिणः. अन्ये पुनर्देवादियोनयः साधनं कर्तुं शक्ताः, पश्वादयस्त्वज्ञा एव, अत उक्तं **नृणामि**ति. अभयं प्रयच्छति पङ्कजमिति— जले स्थिते कमले यः प्रविशति तस्य न भवत्येव सर्पभयम्. जले विषस्य न पराक्रमः नापि कमले सर्पः प्रविशति ॥१६॥

एवमनिष्टनिवारकत्वेन चरणं संस्तूय इष्टदातृत्वेनापि स्तौति **समर्हणमि**ति. **यत्र** हस्ते **समर्हणं निधाय** देयं किञ्चित् समर्प्य **कौशिकः** इन्द्रः **बलिश्च जगत्त्रयेन्द्रतामवाप.** अयमिन्द्रः पूर्वजन्मनि कौशिकगोत्रे उत्पन्नः बलिरिव भगवद्धस्ते सर्वं निवेदितवान्. तस्य कथा क्वचित् प्रसिद्धा भविष्यति, बलेस्तु प्रसिद्धैव, **अवापे**ति प्रवाहनित्यत्वात् पूर्वमपि बलिरैन्द्रपदं प्राप्तवानिति. "छन्दसि लुङ् लङ् लिट्" इति भविष्यदर्थे वा लिट्. एवं प्रभुत्वेन अनिष्टनिवारकत्वमिष्टदातृत्वं चोक्त्वा मित्रवदपि कार्यं करोतीत्याह **यद्वा विहार** इति. **व्रजयोषितां** सम्बन्धिनि **विहारे** तासां **श्रमं**

---

१. दानप्रदाने इति ख.पाठः.

न मय्युपैष्यत्यरिबुद्धिमच्युतः कंसस्य दूतः प्रहितोऽपि विश्वदृक् ।
योऽन्तर्बहिश्चेतस एतदीहितं क्षेत्रज्ञ ईक्षत्यमलेन चक्षुषा ॥१८॥

सौगन्धिकगन्धि सौगन्धिकपुष्पवत् गन्धयुक्तं श्रमजलमपानुदत्, वायुना हि श्रमो गच्छति त्रिगुणेन, तद्वत् हस्तेनापि गतमिति सूचयितुं श्रमजलसम्बन्धः. मान्द्यं च सिद्धमिति सौरभ्यार्थं तथोक्तवान्. अनेन नित्यं स भगवच्चरित्रानुसन्धानं करोतीति सूचितम्. वेति बह्वर्थसूचनार्थम्, अनेन सर्वेषामेव धर्मान् करोतीति सर्वफलदातृत्वं सूचितम् ॥१७॥

ननु शत्रुरेव भवान् शत्रुकार्यं च साधयतीति केश्यादेरिव तवापि **वधमेव** करिष्यति न तु प्रसादमित्याशङ्क्याह **न मय्युपैष्यतीति**. मयि **अरिबुद्धिं नोपैष्यति** शत्रुरयमिति नाङ्गीकरिष्यति. तत्र हेतु**रच्युत** इति— अच्युतत्वात् तस्य न कुतश्चिद् भयम् अतः स्वापकारकत्वेन न कोऽपि भगवतो अरिः. दैत्यानां मारणं तु तेषां लोकानां चोपकाराय. यद्यप्यहं **कंसस्य दूतः** तेनैव प्रेषितः मां प्रति यावदुक्तं तावच्च करिष्यामि, ततो लोकदृष्ट्या अरिबुद्धिः कर्तव्या, तथाप्यच्युतत्वात् न करिष्यति. मारणनिमित्तं तु मयि नास्तीति भावः. किञ्च **विश्वदृक्,** व्याजेन अपकारार्थं प्रवृत्त इति ममैव हितार्थं वधं कुर्यात्. तद् भगवति व्याजो न सम्भवति यतो विश्वमेव पश्यति. इदं च ज्ञायत इति न व्याजं च करिष्यामि नाप्यतिक्रमम्. अस्मिन्नर्थे प्रमाणमाह **योऽन्तर्बहिरिति, चेतसोऽन्तर्बहिश्च ईहितं** भगवानीक्षते. कदाचिदपि चित्तवृत्तिरेतादृशी भवेत् तदा मारणमेवोचितमन्यथा तु न मारयिष्यति. किञ्च **एतदपि** चित्ते**हितं** विश्वासरूपं भगवान् जानाति, स्वरूपे स्थित एव जानाति. प्रकारान्तरेणापि जानातीत्याह **क्षेत्रज्ञ** इति, सर्वं क्षेत्रं जानातीति. शरीरं क्षेत्रम्, "महाभूतान्यहङ्कार" इत्यादिना निरूपितं सविकारम्. क्षेत्रदर्शनेऽपि विशेषमाह **अमलेन चक्षुषेति**, चक्षुषः चक्षुषा, तदमलमेव भवति. अमलं चक्षुः वस्तुयाथात्म्यमेव गृह्णाति, अतः सर्वमेव भगवतः प्रत्यक्षमिति मद्वृत्तान्तं जानातीति न **मय्यरिबुद्धिः**. चित्तस्य बहिः कार्यमान्तरमिच्छा ज्ञानं च, इच्छा मध्य इति केचित्. एवं सति चित्तस्य चिदानन्दसद्रूपता भवति ॥१८॥

लेखः

यद्वा विहारे इत्यत्र, **सौगन्धिकगन्धीति**, प्रथमान्तमिदं; **सौगन्धिकगन्धि हस्तपङ्कजं** कर्तृ **श्रमं** श्रमजलं कर्म **अपानुददिति** टीकायां मूले चान्वयः. **गतमितीति**, श्रमजलं गतमिति वायुसाम्यं हस्तस्य सूचयितुमित्यर्थः. **मान्द्यं च सिद्धमिति**, प्रोञ्छनमनुक्त्वा स्पर्शमात्रकथनेन सिद्धमित्यर्थः ॥१७॥

अप्यंघ्रिमूलेऽवहितं कृताञ्जलिं मामीक्षितासौ स्मितमार्द्रया दृशा ।
सपद्यपध्वस्तसमस्तकिल्बिषो वोढा मुदं वीतविशङ्क ऊर्जिताम् ॥१९॥
सुहृत्तमं ज्ञातिमनन्यदैवतं दोर्भ्यां बृहद्भ्यां परिरप्स्यतेऽथ माम् ।
आत्मा हि तीर्थीक्रियते तदैव मे बन्धश्च कर्मात्मक उच्छ्वसित्यतः ॥२०॥

ननु तथापि संसर्गदोषाद् अन्नादिदोषाच्च त्वां नाङ्गीकरिष्यतीत्याशङ्क्य तत् परिहरन् मनोरथमाह **अप्यंघ्रिमूलेऽवहितमि**ति, पूर्वपुण्यवशाद् अहं पादयोः पतिष्यामि. ततः अपराधे गते मयि दया उत्पत्स्यते, नष्टो(?) जायत इति. तदा दयादृष्ट्या **सपद्येवापध्वस्तसमस्तकिल्बिषो** भूत्वा **मुदं** परमानन्दं **वोढा** वहिष्यामि, **वीतविशङ्क**श्च ततः प्रभृति भविष्यामि. **ऊर्जित**श्च चरणमूले पतितोऽवश्यं दृश्यते, अन्यथाग्रे गमनं न भवेत्. कदाचिदाक्रम्योल्लङ्घ्य वा अन्यचित्तो गच्छेदित्याशङ्क्याह **अवहितम्** इति, अहं सावधानः आत्मानं ज्ञापयिष्यामि प्रपन्नोऽहमिति. नान्यथाबुद्धिर्भविष्यतीत्येतदर्थमाह **कृताञ्जलिमि**ति. अत एव **मामीक्षिता** अवश्यं द्रक्ष्यति. तत्र प्रमाणमाह **असावि**ति, इदानीमेव भावनायामेव प्रत्यक्षो जातः तदा किं वक्तव्यमिति. मम प्रवृत्तिं पूर्वदौरात्म्यं च स्मृत्वा सस्मितोऽपि भविष्यति. ततः प्रवृत्तिं ज्ञात्वा **आर्द्रा**पि दृष्टिर्भविष्यति. एवं भगवतः दृष्टि-मन्दहास-स्नेहेषु जातेषु देशकालकर्मापेक्षाया निवृत्तत्वात् सपद्येव गतपापो भविष्यामि. वासनापि गमिष्यति, मां परित्यज्य अधस्तादेव पतिष्यति. भगवता ममैतावानुपकारः कृत इति फलसिद्ध्या निरन्तरं सन्तोषं च प्राप्स्यामि. पूर्वं यावानपराधः कृतः तावानग्रे न भविष्यतीति पूर्वस्य चेद् भगवान् निवारको जातः अग्रे कः सन्देहो भविष्यतीति **वीतविशङ्कः** शङ्कैव न भविष्यति. ततो भगवद्भक्तेषु भगवदीयकार्येषु वा **ऊर्जितः** समर्थश्च भविष्यामि. एतस्य सर्वस्यापि मूलं दर्शनमेव ॥१९॥

ततो मनोरथान्तरमाह **सुहृत्तममि**ति.

भगवान् **बृहद्भ्यां दोर्भ्यां मां परिरप्स्यते** किम्! तथा चेदात्मा मे देहः **तीर्थीक्रियते** अतीर्थभूतमपि तीर्थं भविष्यति; लोकानामप्युद्धारं करिष्यति किं

लेखः

न मय्युपैष्यतीत्यत्र, चेतसोऽन्तर्बहिरीहितमिति मूले निरूपितं तद्विवृण्वन्ति **चित्तस्येति**. **कार्यं बहि**रीहितम् **इच्छा आन्तरमी**हितम्. **एवं सती**ति, **ज्ञानं** चिद्रूपम्, **इच्छा** आनन्दरूपा सुखधर्मत्वात्, **कार्यं** सद्रूपमित्यर्थः ॥१८॥

लब्धाङ्गसङ्गं प्रणतं कृताञ्जलिं मां वक्ष्यतेऽक्रूर ततेत्युरुश्रवाः ।
तदा वयं जन्मभृतो महीयसा नैवादृतो यो धिगमुष्य जन्म तत् ॥२१॥

पुनर्ममेति. आलिङ्गनं त्रयाणां भवति— अन्तःकरणसम्बन्धिनां देहसम्बन्धिनां शास्त्रतो, भक्तानां च. अहं तु त्रिरूपोऽपीति ममालिङ्गनं करिष्यत्येव. **सुहृत्तमो**ऽतिस्निग्धः, ज्ञातिर्गोत्रिजः, न विद्यते **अन्यद् दैवतं** यस्य. सुहृत्तमत्वं लोके सन्दिग्धमपि स्वानुभवात् निर्णीतमिति सिद्धवत्कारेणोक्तम्. हेतुत्रयं बाधाभावाय आवश्यकत्वाय कार्याय च. देहे **आत्म**पदप्रयोगः भगवत्स्पर्शात् स्पर्शे वा तस्योत्तमत्वख्यापनाय. **(हि!)** युक्तश्चायमर्थः, **सर्वाङ्गे** चरणो हीनः, तत्र चेद् गङ्गादितीर्थान्युत्पद्यन्ते तत उत्तमाङ्गेषु ततोऽपि बहून्येव तीर्थानि निर्गच्छन्तीति परिरम्भणानन्तरं निर्गतो देहः गङ्गाद्यपेक्षयापि महानेव भवति. **तदैवे**त्यग्रेणैव सम्बन्धः, **तदैव** जातोऽग्रेप्यनुवर्तत इति वा. **तदैव कर्मात्मकश्च बन्ध उच्छ्वसिति** विदीर्णो भवति. अनेन स्वपरोपकार उक्तः. **अतो**ऽस्माच्छरीरात् मत्तो हेतोर्वा ॥२०॥

एवं मनःशरीरसम्बन्धौ प्रार्थयित्वा वाचनिकं प्रार्थयति **लब्धाङ्गसङ्गमिति.** पूर्वधर्माणामनुवृत्त्यर्थमनुवादः, अन्यथा विकल्पो भवेत्. **लब्धो अङ्गसङ्गो** येन, एतावता गर्वो भवेदित्यत आह **प्रणतमिति.** पूर्वधर्माश्चायं, ततः **कृताञ्जलिः** पुनर्विज्ञापकः. तदा हे **अक्रूर** हे **ताते**ति **मां वक्ष्यति** किम्! नाम्ना सम्बोधनं महत्त्वख्यापकं, पितृतुल्यत्वेन बन्धुत्वं स्नेहित्वं च ख्यापयति. **इतिशब्दः** प्रकारवाची. एवं सम्बोधने फलमाह **तदा वयं जन्मभृत** इति, स्वभावतः कुलतश्च, अन्यथा महत उत्पत्तिस्तादृशे कुले चोत्पत्तिर्व्यर्था स्यात्. ननु भगवान् किमित्येवं प्रतिष्ठां दद्यात् तत्राह **उरुश्रवा** इति, यस्य गृहे यदधिकं भवेत् तदेवान्यस्मै च दद्याद् **उरु** अधिकं **श्रवो** यस्येति. ननु स्वभावतो महान् भगवता चेत् नाङ्गीकृतः तदा किं स्यादित्याशङ्क्याह **महीयसा यो नादृतः अमुष्य जन्म धिगिति.** सर्वदा आदराभावेऽपि कदाचिदप्यादरोऽपेक्ष्यते, तदभावे जन्मवैयर्थ्यमेव. तेन जन्मना

लेखः

सुहृत्तममित्यत्र, **चरणो हीन** इति, मानुषभावस्वीकारादक्रूरबुद्धिमनुसृत्यैवमुक्तम् ॥२०॥

लब्धाङ्गसङ्गमित्यत्र **महत उत्पत्तिरि**ति, **वयमि**ति बहुवचनेन स्वस्य महत्त्वं सूचितं, तादृशस्योत्पत्तिरित्यर्थः. **नैवादृत इत्येव**कारस्यार्थमाहुः **सर्वदेति** ॥२१॥

न तस्य कश्चिद्दयितः सुहृत्तमो न चाप्रियो द्वेष्य उपेक्ष्य एव वा ।
तथापि भक्तान् भजते यथा तथा सुरद्रुमो यद्वदुपाश्रितोऽर्थदः ॥२२॥

लौकिकमपि कार्यं न भवतीति ज्ञापनार्थं **धिगित्युक्तम्** ॥२१॥

ननु पुरुषोत्तमो भगवान्, त्वमत्यन्तं हीनः, कथमेवं तवादरं करिष्यति, तस्य बन्धुत्वादि तु नापेक्ष्यत एवेति चेत्, सत्यं, तथापि मन्मनोरथः सेत्स्यतीत्याह **न तस्येति.** वस्तुतो भगवान् **सर्वेषामेव** स्वरूपम् , अन्तरान्यथाभावे तु पञ्च भगवता सह व्यवधानानीति. लोके जीवानां परस्परं पञ्च सम्बन्धा भवन्ति— बुद्धिस्त्रिविधा अपेक्षोपेक्षाद्वेषभेदाद्, अपेक्षा द्विविधा देहसम्बन्धात् मित्रभावाद् वा, द्वेषश्च द्विविधः स्वस्य द्विष्टतया तत्कृतापकारेण वा. तत्र **दयितः** देहसम्बन्धी स्निग्धः. **सुहृत्तमो**ऽतिमित्रं, भगवान् सर्वसख इति तद्व्यावृत्त्यर्थं 'तमप्'प्रत्ययः. **अप्रियः** स्वस्य द्वेषविषयः. **द्वेष्यः** द्वेषहेतुः, विपरीतं वा. भगवांस्तु कस्यापि किमपि **न** भवति यतो देहधर्मा एवैते. तथाच लौकिकन्यायेन पुरस्कारः अपकारो वा न भवति. दृष्टान्तार्थं द्वितीयमुक्तम्. तथापि भक्तिशास्त्रात् तथा करिष्यतीत्याह **तथापीति.** अन्यथा "ये यथा मां प्रपद्यन्त" इति प्रतिज्ञा विरुद्धा स्यात्. तेऽपि भगवन्तं भजन्त इति **भक्तान् भजते, यथा** भक्तास्**तथा.** नन्वेवं सत्यनर्थ एव स्यात्, प्रयोजनाभावश्च. भक्तो नमस्करोति पादसंवाहनं च करोति तथा चेत् कुर्याद् जीवानां कार्यमेव नश्येत्. तुलसी हि समर्प्यते भगवते भगवानपि चेत् तुलसीमेव दद्यात्(तेन!) किं स्यादित्याशङ्क्याह **सुरद्रुमो यद्वदिति.** भजनार्थमेव हि तथाकरणं, भगवांस्तु तदनुसार्यपेक्षितमेव फलं प्रयच्छति, नापि तत्कृतं नापि स्वेच्छया. यथा कल्पवृक्षः निकटे गत एव कार्यं साधयति. अनेन सर्वात्मकत्वेऽपि भगवतो भक्तेभ्य एव दानमिति वैषम्यं परिहृतम्. नह्यपेक्षितं प्रयच्छन् कल्पवृक्षो विषमो भवति, अन्यथा व्यवस्थितिर्न स्यादिति. कर्मफलं तु तुच्छं, तथा सति भगवत उत्कर्षोऽपि न स्यात्. अत **उपाश्रितायैव पुरुषार्थदः**, नत्वनुपाश्रितायेति सर्वं सुस्थम् ॥२२॥

लेखः

न तस्येत्यत्र, द्वेषहेतुरिति अपकारकर्तेत्यर्थः. **दृष्टान्तार्थमिति**, यथापकारकर्ता नास्ति तथा द्वेषविषयोऽपि नास्तीत्यर्थः. **यथा भक्तास्तथेति**, मूले **यथा-तथेति** पदयोर्मध्ये भक्ता इति शेषो ज्ञेय इत्यर्थः. **तथेत्यस्य** भजन्ते **इत्यर्थो** मूले टीकायां च. **कर्मफलं त्विति**, कर्मानुसारेण फलं दास्यति किमुपाश्रयणेनेत्याशङ्क्यैतदुक्तम्. **तथा सतीति**, कर्मानुसारेण फलदाने इत्यर्थः ॥२२॥

किं वाग्रजो मावनतं यदूत्तमः स्मयन् परिष्वज्य गृहीतमञ्जलौ ।
गृहं प्रवेश्याप्तसमस्तसत्कृतं सम्प्रक्ष्यते कंसकृतं स्वबन्धुषु ॥२३॥

॥ श्रीशुक उवाच ॥

इति सञ्चिन्तयन् कृष्णं श्वफल्कतनयोऽध्वनि ।
रथेन गोकुलं प्राप्तः सूर्यश्चास्तगिरिं नृप ॥२४॥

एवं भगवद्विषयकं कायवाङ्मनोरूपं मनोरथमुक्त्वा बलभद्रविषयकं मनोरथमाह **किं वेति**.

अग्रजो ज्येष्ठभ्राता, अनेन मया सर्वोऽपि वृत्तान्तो ज्ञायत इति मयि कृपां करिष्यतीति भावः. तस्याप्यहम**वनतः**. ज्येष्ठस्यापि कनिष्ठावनतौ उत्तमत्वं प्रयोजकमिति **यदूत्तम** इत्युक्तम्. **स्मयन्निति**, सम्यक्त्वमागतः कंसं घातयितुमिति. बन्धुत्वात् **परिष्वज्य** महत्त्वपूर्वकं माम**ञ्जलौ** गृहीत्वा अतिनिकटत्वाद् **गृहं प्रवेश्य** भोजयित्वा गृहगतमिव कृत्वा ततोऽप्यधिकं **वा आप्ता समस्ता सत्कृतिर्येन** तादृशं पश्चाद् विश्रान्तं **स्वबन्धुषु कंसकृतं सम्प्रक्ष्यते** किमिति लोके सिद्धमिति. भगवान् महानिति मनोरथः ॥२३॥

एवं मार्गे रथं स्थापयित्वा सन्ध्यापर्यन्तमनेकविधं मनोरथमेव कृतवान्, तथापि भगवत्सम्मुखं प्रवृत्तौ सर्व एवानुगुणा भवन्तीति रथ एव तं गोकुले समानीतवान्. तदाह **इति कृष्णं सञ्चिन्तयन्नेवा**न्तः **श्वफल्कतनयो** महान् यदान्तर्भगवन्तं प्राप्तवान् तदा **रथेन गोकुलम**पि **प्राप्तः**. भगवानानन्दरूपः स्त्रीणामेवेति सन्ध्यावधि-रात्रावेवेति. मनोरथसिद्ध्यर्थं सूर्योऽप्यस्तंगत इत्याह **सूर्य** इति. **च**कारात् **सूर्यो**ऽप्यनुगुणः सर्वप्रकारेण. **नृपे**ति सम्बोधनं मन्त्रणं गुप्ततयैव कर्तव्यमिति ज्ञापनार्थम्. अश्लीलव्यावृत्त्यर्थं **गिरि**पदम्, **श्वफल्को** महानुभाव इति

लेखः

इति सञ्चिन्तयन्नित्यत्र **प्राप्त** इति, अन्तर्भावितण्यर्थमिदं, प्रापित इत्यर्थः. **भगवानि**ति, **भगवान्** गोपानां सङ्गे **गोचारणादिना क्लिष्टइव रात्रौ** गृहे समागत्य यशोदादीनां **गोपिकादीनां** च **स्त्रीणामेव** तत्तद्योग्यविलासै**रानन्दनिरूपको** भवति **इति** हेतोः सन्ध्यामारभ्य **रात्रावेव** गन्तव्य**मितिप्रकारको** यो **मनोरथस्त-त्सिद्ध्यर्थमि**त्यर्थः. अत एव सन्ध्याप्रतीक्षया बहिरेव रथं स्थापयित्वा स्थित इति भावः. **रात्रावेवे**ति, अत्र गन्तव्यमिति शेषो ज्ञेयः ॥२४॥

पदानि तस्याखिललोकपाल-किरीटजुष्टामलपादरेणोः ।
ददर्श गोष्ठे क्षितिकौतुकानि विलक्षितान्यब्जयवाङ्कुशाद्यैः ॥२५॥
तद्दर्शनाह्लादविवृद्धसम्भ्रमः प्रेम्णोर्ध्वरोमाश्रुकलाकुलेक्षणः ।

तन्नाम्ना निर्दिष्टस्तथात्वाय, अन्यथा अनिष्टरूपो नागच्छेत् ॥२४॥

अत्र मध्ये तस्य भक्त्यतिशयार्थं कायिकोऽपि व्यापारो वक्तव्य इति लोकप्रसिद्ध्यर्थं च निरूपयति **पदानी**ति त्रिभिः हेतुक्रियाफलनिरूपकैः.

यो भगवान् हृदये फलत्वेन भाव्यते **तस्य पदानि** भूमावुद्गतानि भगवदीयशरीरसम्पादक-रजोयुक्तानि दृष्टवान्. तद्रजो ग्राह्यमिति वक्तुं **तस्य** रजसः ब्रह्मत्वाद्यपेक्षयापि महत्वमाह **अखिललोकपालकिरीटजुष्टामलपादरेणो**रिति. **अखिलाः** सर्वे **लोकपालाः**; सर्वेषामैश्वर्यं भगवदधीनमेवेति निरूपयितुं देवदैत्यादयः सर्व एव परिगृहीताः. **लोकपाला** इति स्वरूपतोऽपि महत्त्वं, महतां सेव्य एव महान् भवतीति. **किरीटजुष्ट**त्वेन धर्मार्थं तेषां प्रवृत्तिर्निवारिता— धर्मार्थं यो नमस्करोति स देहेनैव नमस्करोति, सर्वाभरणभूषितस्तु ईश्वरमेव नमस्करोतीति. मार्गरजोऽपि गच्छतां मुकुटसम्बन्धि भवति तद्व्यावृत्त्यर्थं रजसो विशेषण**ममल**मिति. एतादृशश्चरणरेणुर्यस्येति भगवत्सम्बन्धादेव तस्य माहात्म्यं न तु मृगमदवत् स्वरूपतो रेणुर्महान्. तादृशस्य **पदानि ददर्श** इति निधानप्राप्तिरिव सूचिता. ननु कथं ज्ञातवानेतानि भगवत्पदानीति तत्राह **विलक्षितानी**ति— सुखसेव्यत्वाय फलदानाय चाब्जरेखा, कीर्तिप्रकटनार्थं यवाकृतिः, मनोगजनिवारणार्थमङ्कुशरेखा, **आदि**शब्देन ध्वजादयोऽपि. ननु भगवानेवं दुर्लभानि किमिति प्रकटितवानित्यत आह **क्षिति-कौतुकानी**ति, क्षितौ कौतुकरूपाणि, भूमौ रसप्रकटनार्थं कौतुकत्वेन प्रकटितवान्, भूमिष्ठानां भजनसिद्ध्यर्थं यत्राल्पस्थानेऽपि महाफलान्येवं प्रयच्छतीति ॥२५॥

भक्तस्य दर्शने यदुचितं तत् कृतवानित्याह **तद्दर्शने**ति. भगवदीय-शरीरजनकास्ते रेणवः, तेषां दर्शने पूर्वस्थितदेहादीनां निवृत्तिर्वक्तव्या. तत्र भक्तिरसस्तस्मिन् निविष्टः स्वधर्मप्राकट्येन तद्धर्मान् दूरीकृतवान्. तदाह **तेषां** पदानां **दर्शनेन** यो जातो **महाह्लादः** तेन **विवृद्धः सम्भ्रमो** यस्य. मानसो धर्मो व्याकुलता निरूपिता. **प्रेम्णा ऊर्ध्वानि रोमाणि** यस्य, दैहिको धर्मो निरूपितः.

लेखः

पदानीत्यत्र **निधानप्राप्तिरिवे**ति, **निधानं** स्थापनं तत्प्राप्तिः; स्वस्मिन्नपि स्थापयिष्यतीत्यर्थः ॥२५॥

रथादवस्कन्द्य स तेष्वचेष्टत प्रभोरमून्यङ्घ्रिरजांस्यहो इति ॥२६॥

देहं भृतामियानर्थो हित्वा दम्भं भियं शुचम् ।

सन्देशाद् यो हरेर्लिङ्गदर्शनश्रवणादिभिः ॥२७॥

अश्रुकलाभिराकुले ईक्षणे यस्येतीन्द्रियधर्मा निरूपिताः. ततः पूर्वधर्माणां गतत्वात् संघातस्तेषु पतित इत्याह **रथादवस्कन्द्ये**ति. अवस्कन्दनमचेतनानां, तथा स पतित इत्यर्थः. ततो रजःप्रभावात् **सः** प्रसिद्धः अक्रूरो जातः. अन्तर्देहो भगवदीयो जातः, बहिर्देहस्यापि तथात्वाय **तेषु** रेणुषु **अचेष्टत** लुठनं कृतवान्. बहिस्तथा संवेदनाभावात् चेष्टामात्रमाह. ननु लुठने को हेतुर्वारंवारं तत्राह तद्गतमभिप्रायं **प्रभो**रिति, एतावत्कालं शास्त्रार्थत्वेन ईश्वरत्वेन महत्त्वेन सम्बन्धित्वेन वा ज्ञातवान्, इदानीं शुद्धः स्वयं सेवको जातः भगवांश्च प्रभुः. तथा सति तस्य परमदुर्लभा**न्यङ्घ्रिरजांसि** कथमेवं भूमौ स्थातुमुचितानि भवन्तीति स्वशरीरे तानि सर्वाण्येव योजयितुं यावत् तानि रजांसि सर्वाणि प्रविशन्ति तावत् लुठनं कृतवान्. किञ्च आश्चर्यरसाविष्टोऽपि जातः **अहो इति**. माहात्म्यमनेन सूचितम् ॥२६॥

एवं तस्य कृतमुक्त्वा फलमाह **देहं भृतामि**ति. यदस्य जातम् **इयानेव देहं भृतामर्थः** पुरुषार्थः जन्मसाफल्यम्. उत्पन्नेन हि परमः पुरुषार्थः साधनीयः, स च भगवदीयभावः. तथा यत्नः कर्तव्यः यथा स भवति. ज्ञानादिस्तु अवान्तरफलरूपः. मोक्षादपि स्वभावत एवायं भावोऽधिकः. तदुपपादितं "भगवदीयत्वेने"त्यत्र. अत इयानेव पुरुषार्थ इति युक्तमिति **हि**शब्दः. देहसङ्ग्रहणं क्लेशात्मकं तदपि कृत्वा यदि परमपुरुषार्थं न साधयेत् तदा वैयर्थ्यमिति. स कोऽर्थ इत्याकाङ्क्षायामाह **सन्देशा**दिति, सन्देशमारभ्य **हरेर्लिङ्गश्रवणदर्शनादिभिर्योऽर्थो** जातः. अयमेवार्थः सन्देशानन्तरमेव तस्य चित्तं भगवत्परं जातं तद्वर्धमानं भगवदीयत्वं च सम्पाद्य माहात्म्यज्ञानं कारितवत्. **लिङ्गानां** चिह्नानां भगवत्पदानां प्रथमतो **दर्शनं**, ततः स्पर्शनं ततस्तत्सायुज्यमिति, ततो भगवदीयत्वं माहात्म्यज्ञानं च. सर्वे च भगवदीया धर्माः **सन्देशा**दिति हेतोर्वा. अन्यार्थमपि प्रयुक्तं वाक्यम् एतावत्फलं साधयतीति अल्पप्रसङ्गेनाप्येतावत्त्वं महाफलमित्यर्थः. परं तत्र दोषत्रयं परित्यज्यैतत् कर्तव्यमित्याह **हित्वे**ति. **दम्भो** राजसः, **भयं** सात्त्विकं, **शोक**स्तामसः. **दम्भो** बाह्यः, **भयं** शारीरं, **शोको**ऽन्तःकरणस्य —एतत् सर्वथा त्यक्तव्यम्, अनेनापि त्यक्तमिति. **दम्भं**

लेखः

तद्दर्शनेत्यत्र, **अन्तर्देह** इति, वासनात्मक इत्यर्थः ॥२६॥

ददर्श कृष्णं रामं च व्रजे गोदोहनं गतौ ।
पीतनीलाम्बरधरौ शरदम्बुरुहेक्षणौ ॥२८॥
किशोरौ श्यामलश्वेतौ श्रीनिकेतौ बृहद्भुजौ ।

कापट्यं, त्यक्तवान्, यथा कंसेनोक्तम्. **भयं** च त्यक्तवान्, भगवान् किं करिष्यतीति. **शोकं** च त्यक्तवान्, भगवति तत्र गते कंसः किं करिष्यतीति. भयानन्तरं चैतद्भवतीत्युक्तम्. भगवतो माहात्म्यज्ञानाभावे शोको भवति नान्यथा, एवमन्यैरपि लौकिका अलौकिकाश्चैते भावाः त्यक्तव्याः, अन्यथा एतावत्त्वं न भवेदिति ॥२७॥

ततो योग्यशरीरं प्राप्य भगवन्तं दृष्टवानित्याह **ददर्शे**ति. यादृशः सेवकः तादृशं वर्णयित्वा यादृशो भगवान् तादृशं वर्णयति षड्भिः.

स्वरूपं च वयश्चैव देहेन्द्रियविचेष्टितम् ।
शोभास्वरूपं च तथा शोभा तस्याप्यलौकिकी ॥(४)॥

तत्र प्रथमं परिदृश्यमानं स्वरूपं वर्णयति. भक्तत्वात् प्रथमं **कृष्णं ददर्श** ततो **राममा**वेशिनं, **च**कारादाविष्टं, **व्रजे** अधिकरणे. तत्रापि **गोदोहनं गतौ** गोदोहनस्थाने स्थितौ, गावो दुह्यन्ते अस्मिन्निति. देशमुक्त्वा आवरणमाह **पीतनीलाम्बरधरावि**ति, भगवान् पीताम्बरधरः रामो नीलाम्बरधर इति. तादृशमेव वस्त्रद्वयं परिधृतमस्तीति ज्ञापयितुम् **अम्बरधरा**वित्युक्तम्. **शरत्**काले ये **अम्बुरुहे** सम्यक् जाते तद्वद**ीक्षणे** ययोः. अनेन गुणा उक्ताः. देशकालयोः स्वाभाविकयोः विपरीतत्वेऽपि तत् समीचीनं विधाय ज्ञानादिसर्वपुरुषार्थान् प्रयच्छतीति तथोक्तम् ॥२८॥

वयमाह **किशोरावि**ति. कैशोरे वयसि विद्यमानौ एकादशवार्षिकौ. नववर्षादूर्ध्वं षोडशवर्षपर्यन्तं किशोरावस्था. गोकुलवासिषु विद्यमानः कालः स्वस्मिन् गृहीत इति तं प्रकटयितुं तथावस्थो जातः. अग्रे प्रयोजनाभावात् कालावस्थां न वक्ष्यति. अत एव ध्याने भक्तकृपया तामवस्थां गृह्णातीति "सन्तं वयसि कैशोर" इत्युक्तम्. एकः **श्यामलः** अपरः **श्वेतः**. कैशोरे वयसि रूपमभिव्यक्तं भवतीति वयःकार्यत्वेन

लेखः

ददर्श कृष्णमित्यत्र देशकालयोरिति, शरदि काले अम्बुनि देशे कमलं सम्यग् भवति. इयं भाद्रपदकृष्णद्वादशीति कालः शरन्नास्ति, ईक्षणरूपे कमले देशोऽप्यम्बु नास्ति, तथापि कमलं समीचीनं कृतमित्यर्थः. **ज्ञानादी**ति, ईक्षणस्य ज्ञानरूपत्वादिति भावः ॥२८॥

सुमुखौ सुन्दरवरौ बालद्विरदविक्रमौ ॥२९॥
ध्वजवज्राङ्कुशाम्भोजैश्चिह्नितैरङ्घ्रिभिर्व्रजम् ।
शोभयन्तौ महात्मानौ सानुक्रोशस्मितेक्षणौ ॥३०॥

रूपमुक्तम्. **श्रीनिकेतौ** श्रीवत्साङ्कितौ, असाधारणं भगवच्चिह्नमेतद्, भगवत्त्वज्ञापकं, तदपि तदैव प्रकटमिति. भगवतो महती क्रियाशक्तिरिति **बृहद्भुजावित्युक्तम्**. अव्यग्रत्वाय **सुमुखाविति**, भक्तदर्शनावस्थायां सुमुखत्वे तस्य सर्वपुरुषार्थाः सिध्यन्तीति. **सुन्दरवराविति** सुन्दरश्रेष्ठौ, ''यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ती''ति सर्वगुणनिधानावित्यर्थः. **बालो** यो **द्विरदः** हस्ती तद्वद्**विक्रमो** ययोरिति अमानुषपराक्रमौ निरूपितौ.

सौन्दर्यं च तथा पुष्टिः प्रदृश्यत्वमसृण्यता ।
निर्भयत्वं स्वतःसिद्धसाधनत्वं च रूप्यते ॥(५)॥
अरण्य एव तद्वृद्धिः सुखं तस्य गृहं पुनः ।
नान्यत्रेति च बोधाय विदेशक्लेशबाधने ॥(६)॥

तद्वत् पराक्रम इति कौतुकार्थं सर्वानेव गोपालान् दूरादेव प्रक्षिपतीति निरूपितम् ॥२९॥

भगवतो धर्मान् निरूपयन् बाह्यानि निरूपयति **ध्वजवज्रेति**. ध्वजादिभिश्चतुर्भिश्चिह्नैः पुरुषार्थचतुष्टयरूपैः **चिह्निता** ये **अङ्घ्रयः** तैर्भूमावुद्गतैः **व्रजं शोभयन्तौ** शोभायुक्तं कुर्वन्तौ. ये सर्वपुरुषार्थदातारः ते यत्र शोभाकरा जाताः भगवत्कृपया, इतोऽधिकं भगवान् व्रजस्य किं कुर्यात् ! **महानात्मा** स्वरूपं ययोः, अयं धर्मिनिर्देशः धर्माणामुत्कर्षख्यापकः. तयोर्माहात्म्यमुक्त्वा कृपालुतामाह **सानुक्रोशस्मितेक्षणाविति**, दयापूर्वकं स्मितपूर्वकमीक्षणं ययोः. दीनेषु दया समेषु स्मितमुत्तमेषु ज्ञानमिति. संसारे क्लिष्टेषु दया, ततः कर्मणा परित्यागेन वा क्लिष्टेषु अल्पमोहनेन सुखदानम्, ततो भक्तेषु ज्ञानस्थापनमिति पर्यवसानतया दयया सुखदानं प्रत्यक्षत एव स्मितेनैव परमानन्दज्ञानमिति ॥३०॥

ततो लीलामाह **उदारेति**, **उदारा रुचिरा क्रीडा** ययोः. भगवल्लीला पात्रापात्रविचारव्यतिरेकेण सर्वेभ्य एव सर्वपुरुषार्थान् प्रयच्छतीति उदारा रुचिरा मनोहरा च. स्वतःफलरूपा क्रीडेति सामान्यापि लीला आभासरूपा लीला न

लेखः

किशोरावित्यत्र तदैव प्रकटमिति, वस्त्रेणानाच्छादितमित्यर्थः. **विदेशेति**, भगवतो गोकुलरूप**विदेश**स्थित्या प्राप्तो यः **क्लेशस्तद्बाधनार्थमेव**मुक्तमित्यर्थः ॥२९॥

उदाररुचिरक्रीडौ स्रग्विणौ वनमालिनौ ।
पुण्यगन्धानुलिप्ताङ्गौ स्नातौ विरजवाससौ ॥३१॥
प्रधानपुरुषावाद्यौ जगद्धेतू जगत्पती ।
अवतीर्णौ जगत्यर्थे स्वांशेन बलकेशवौ ॥३२॥
दिशो वितिमिरा राजन् कुर्वाणौ प्रभया स्वया ।

भवतीति. भगवन्तं वर्णयति **स्रग्विणाविति**, शिरसि कण्ठे नानाविधाः स्रजो ययोः. वनमालायुक्तौ च, "आपादावलम्बिनी माला वनमाले"ति. आगन्तुकैः सहजनिवृत्तिं मत्वा वनमाला पृथग् निरूपिता. विरतिवेलेति चन्दनपुष्पवस्त्राभरणान्येवोक्तानि, विरत्यनोदनत्वाद्[१] वा. **पुण्येन** गन्धेन **अनुलिप्तान्यङ्गानि** ययोः. एते अभिलेपा एव **पुण्यगन्धाः** स्नानाङ्गभूताः, ततः **स्नातौ,** ततो नूतननिर्मलवस्त्रपरिधानमिति **विरजवाससौ** ॥३१॥

कथमेवं गोकुलवासिनोर्महती पूजासम्भृतिरिति चेत् तत्राह **प्रधानपुरुषाविति**, प्रधानपुरुषरूपावुभावपि. कार्यप्रधानपुरुषव्यावृत्त्यर्थमाह **आद्याविति**. तयोः प्रधानपुरुषत्वे हेतुमाह **जगद्धेतू** इति, य एव जगत्कारणं स एव प्रथमं प्रधानपुरुषरूपो भवतीति. **प्रधानपुरुष**त्वं मुख्यपुरुषत्वं वा. जगत्कारणत्वमपि साधयति **जगत्पती** इति, यो भर्ता स एव स्रष्टा, उत्पत्तिस्थितिलयानामेककर्तृत्वात्. पालकत्वं तस्य सर्वजनीनम्, अत एव साम्प्रतं रक्षामाशङ्क्य **जगत्यर्थे** भूम्यर्थम**वतीर्णौ स्वस्य निजांशेन** आनन्दांशेन. उभयोरागमने विशेषकार्यं नाम्नैव निरूपयति— **बलः** क्रियाशक्तिप्रधानः उत्पत्तिस्थितिलयकर्ता, **केशवो** मोक्षदाता ब्रह्मादीनामपि ॥३२॥

तादृशस्यावतारे लोके अभिज्ञापकमाह **दिश** इति, दश **दिशः स्वया** असाधारण्या **प्रभया वितिमिराः कुर्वाणौ.** कान्तिरेव सूर्याधिका अलौकिकी न

लेखः

उदारेत्यत्र, **वित्त्यनोदनत्वाद्वे**ति, **वित्ते**र्ज्ञानस्यानो**दनत्वाद**नाशकत्वादित्यर्थः. वस्त्राभरणे स्वरूपं सम्यग्दृष्टं न भवति, चन्दनाद्याभरणे तु सम्यग् दृष्टं भवतीति भावः. **अभिलेपा एवे**ति, स्नानपूर्वाङ्गाः अभिलेपाः उत्तराङ्गा अनुलेपाः, **अनुलिप्ताङ्गा**वित्युक्तेऽपि अग्रे **स्नाताविति** कथना**दभिलेपा एवे**त्यर्थः ॥३१॥

रक्षामाशङ्क्येति, दैत्यानां रक्षामित्यर्थः ॥३२॥

---

१. वित्त्यनोदनत्वाद् इति लेखकारस्य पाठः

यथा मारकतः शैलो रौप्यश्च कनकाङ्कितौ ॥३३॥
रथात् तूर्णमवप्लुत्य सोऽक्रूरः स्नेहविह्वलः ।
पपात चरणोपान्ते दण्डवद् रामकृष्णयोः ॥३४॥
भगवद्दर्शनाह्लाद-बाष्पपर्याकुलेक्षणः ।
पुलकाञ्चित औत्कण्ठ्यात् स्वाख्याने नाशकत् नृप ॥३५॥
भगवांस्तमभिप्रेत्य रथाङ्गाङ्कितपाणिना ।

शीता न चोष्णा सर्वतापनाशिका सर्वेषां सर्वानन्ददायिनी ब्रह्मत्वबोधिका भवति, **राजन्नि**त्यलौकिकवस्तुपरिज्ञानार्थम्. अभूतोपमामाह **यथा मारकतः शैल** इति, मरकतमणिनिर्मितः **शैलो** भगवान्, **रौप्यः** कैलासतुल्यो बलभद्रः, उभावपि **कनकशृङ्गाङ्कितौ** चेद् उपमां प्राप्नुतः. सर्वत्र भगवान् धराधरत्वेन वर्ण्यते सर्वाश्रयत्वाय महत्त्वादिधर्मार्थं च ॥३३॥

एवं भगवन्तं वर्णयित्वा तादृशे स्वामिनि तादृशसेवकस्य कर्तव्यपूर्वकं भगवत्कार्यमाह दशभिः. तत्र द्वाभ्यां तस्य कृत्यम् अष्टभिर्भगवत्कृत्यमिति; भक्तिप्रपत्ती तस्य, अष्टैश्वर्यादिदानं भगवतः.

रथ इति, आदौ दृष्ट्वा रथे स्थित एव **तूर्णमवप्लुत्य** तत उच्चस्थानाद् भूमौ पतित्वा न तूत्तीर्य. **स** प्रसिद्धः पूर्वं चरणरजस्सु यः पतितः. साक्षाद्दर्शनानन्तरमप्युत्कटो यो जातः **स्नेहः** तेनापि **विह्वलः रामकृष्णयोश्चरणोपान्ते** निकट एव **पपात.** पाते देहादेरविचारार्थमाह **दण्डवदि**ति. अत्र ज्येष्ठानुक्रम उक्तः व्यवहारे वयसो मुख्यत्वख्यापनार्थः ॥३४॥

अकस्मात्पतिते शङ्का भवतीति कथं स्वनाम न गृहीतवान् तत्राह **भगवद्दर्शने**ति, **भगवद्दर्शनेन** योऽयं महाना**ह्लादो** जातः तेनान्तःपूर्णेन बहि**र्बाष्पतया** निर्गतेन **पर्याकुले ईक्षणे** यस्य. ज्ञानफलेन ज्ञानं तिरोहितमिति तस्य न विचार उत्पन्न इत्यर्थः. नन्वन्यो मास्तु विचारः 'अयमहमि'ति, अपूर्वदर्शनत्वात्, **कथं न** स्वाभिधानमुक्तवान् तत्राह **पुलकाञ्चित** इति, सर्वाङ्गे रोमाञ्चः प्रेमातिभराद् जातः तेन विवशत्वात् **स्वाख्याने** 'अयमहमस्मी'ति कथनेऽपि **नाशकत्** न समर्थो जातः. परिज्ञानार्थं सम्बोधनमादरार्थं वा ॥३५॥

ततस्तस्य वचनव्यतिरेकेणैव भगवांस्तं ज्ञात्वा कर्तव्यं कृतवानित्याह **भगवानि**ति. भगवत्त्वात् **तमक्रूरोऽयमित्यभिप्रेत्य** दुष्टसंसर्गजनितदोषनाशार्थं **रथाङ्गेन** चक्रेणा**ङ्कितेन** कालात्मकेन तद्दोषं दूरीकृत्य **पाणिना** तमाकृष्य स्वसमीपे

परिरेभेऽभ्युपाकृष्य प्रीतः प्रणतवत्सलः ॥३६॥

सङ्कर्षणश्च प्रणतमुपगुह्य महामनाः ।

गृहीत्वा पाणिना पाणिम् अनयत् सानुजो गृहम् ॥३७॥

आनीय; तस्मिन् स्वप्रवेशे लौकिकं कार्यं सेत्स्यतीति तमेव स्वस्मिन् आनीतवान्. ततः **परिरेभे** उभयोरैक्यं सम्पादितवान्. दण्डवत्पातेनैव **प्रीतः**. नन्वस्य बहवो दोषाः सन्ति संसर्गजाः तत् कथं प्रीत इति चेत् तत्राह **प्र**कर्षेण **नतेषु वत्सलः** वात्सल्ययुक्तः. भक्तकृपालौ प्रकर्षेण नतिमात्रेणैव कृपा अभिव्यक्ता भवति अत आलिङ्गनमुचितमेव. यो भगवता परिगृहीतः यः कृष्णपादाङ्कितेषु लोटनेन भगवदीयत्वं प्राप्तः स भगवति सायुज्यमेव प्राप्तवान्, न स पुनरुद्गतः, "भगवता परित्यक्त" इति वचनाभावात्. तस्य पूर्वकामितसिद्ध्यर्थं प्रतिकृतिमेव कृत्वा पृथक् कृतवानिति लक्ष्यते. न हि परमप्रेम्णा भगवत्सायुज्यं प्राप्तस्य पुनरुत्थानं सम्भवति. लौकिकन्याये तु भक्तिर्वृथैव स्यात्. अतो बलभद्रालिङ्गनानुपपत्त्या भगवद्विश्लेषः तस्य कल्पयितुं शक्यः. एवं सति भक्तिमार्गः सफलो भवति, अन्यथा भावान्तरमुत्पादयन् पाक्षिकफलः स्यात् ॥३६॥

सङ्कर्षणेऽपि प्रणत इति भावसङ्कटात् सङ्कर्षणोऽपि तं तथा कृतवानित्याह **सङ्कर्षणश्चे**ति. अत्रापि प्रणतत्वमेव हेतुः न तु लौकिक इति चकारेणातिदिष्टोऽप्यर्थः कर्तृधर्मपर इति पुनराह **प्रणतमि**ति. **महामना** इति तस्य लौकिकधर्माभिनिवेशः. ततोऽयं पितृव्यः समागत इति **पाणिना पाणिं गृहीत्वा** भगवत्सहितः तं **गृहमनयत्.** कामना सिद्धेति कथनार्थमुच्यते ॥३७॥

ततो लौकिकवैदिकमार्गेण तं पूजितवानित्याह **पृष्ट्वे**ति. अनामयमारोग्यं **पृष्ट्वा**

लेखः

भगवानित्यत्र, **तस्मिन् स्वप्रवेशे** इति, भगवतोऽक्रूरे प्रवेशे सइव तत्प्रविष्टो भगवानपि **लौकिकं कार्यं** कुर्यात्, भगवति तत्प्रवेशे तु भगवानिव तत्प्रविष्टः सोऽप्यलौकिकं कार्यं करिष्यतीत्यर्थः. **यो भगवते**त्यादि, भगवति सर्वे जीवाः सन्ति इति तादृशं द्विस्वभावं यं कञ्चिज्जीवं तत्सदृशदेहादिमन्तं कृत्वा पृथक् कृतवानित्यर्थः. **लौकिके**ति, लौकिकप्रकारेणागतत्वात्पुनरुत्थितो भवेदिति पक्षे इत्यर्थः. **अत** इति, भक्तेः सार्थक्यात् तत्कामनासिद्ध्यर्थं बलभद्राश्लेषोऽपि करणीय इति तस्य तत्प्रतिकृतिभूतस्य जीवस्य भगवद्विश्लेषः कल्प्यत इत्यर्थः. **एवं सती**ति, तस्य सायुज्ये सतीत्यर्थः. **भावान्तरमि**ति, लौकिकभावे सति पाक्षिकं फलं भवतीति स्यादित्यर्थः ॥३६॥

पृष्ट्वाथ स्वागतं तस्मै निवेद्य च वरासनम् ।
प्रक्षाल्य विधिवत् पादौ मधुपर्कार्हणमाहरत् ॥३८॥
निवेद्य गां चातिथये संवाह्य श्रान्तमादृतः ।
अन्नं बहुगुणं मेध्यं श्रद्धयोपाहरद् विभुः ॥३९॥
तस्मै भुक्तवते प्रीत्या रामः परमधर्मवित् ।
मुखवासैर्गन्धमाल्यैः परां प्रीतिं व्यधात् पुनः ॥४०॥

उत्कृष्टं तस्य गृहेऽपि दुर्लभम् **आसनं निवेद्य** ततः शास्त्रानुसारेण अभ्यागते यथा कर्तव्यं तथा **पादौ प्रक्षाल्य मधुपर्क**सहित**मर्हणं** पूजाम् **आहरत्** ॥३८॥

निवेद्येति, ततो **गां निवेद्य,** "महोक्षं वा महाजं वे" तिस्मृतेः. उत्सर्गपक्ष एव वात्र. यद्यप्ययमभ्यागतः तथाप्यपूर्व इत्यतिथिरेव. धर्मार्थं च भगवान् करोति न तु सम्बन्धेनेति ज्ञापयितुं च तथोक्तवान्. अतिथिस्तु गोघ्नो भवतीति हननार्थमेवेति केचित्. **चकारात्** महाजं च वस्त्रादिकं च. ततः **संवाह्य** तैलाभ्यङ्गमर्दनादिना सर्वाङ्गश्रमं दूरीकृत्य **आदृतो** जातः. संवाहे हेतुः **श्रान्तमि**ति. ततो **बहुगुणम**नेकव्यञ्जनयुक्त**मन्नम्** ओदनं **श्रद्धापूर्वमुपाहरत्. मेध्य**मिति तदानीं शुद्धतया निर्मितं रोहिण्या पक्कमित्यर्थः, न तु यथाकथञ्चित् सम्पादितम्. तथात्वे श्रद्धा हेतुः, अकालेऽपि सहसा सर्वसामग्रीसिद्धौ हेतुः **विभुरि**ति. अतिथिधर्मं जानातीत्यक्रूरः सर्वं तथैव कृतवान्. उभावपि भिन्नभावापन्नाविति न किञ्चिद् विरुध्यते ॥३९॥

भोजनान्तमेवातिथिकृत्यमिति अग्रिमोपचारं न कुर्यादिति पुनराह **तस्मा** इति. **भुक्तवते** आतृप्तेः ततः परम**प्रीत्या मुखवासै**स्ताम्बूलादिभिः **गन्धै**श्चतुःसमैः **माल्यैश्च** राजवत् **तस्मै परां प्रीतिं व्यधात्.** अयमसाधारणो धर्मः अतिथिं स्वसदृशं कुर्यादिति; ततोऽप्यधिकं कृतवान्. यद्यपि पूर्वं मधुपर्कादिसमये माल्यं दत्तमेव तथापि प्रीत्यैतद्दानमिति **पुन**रित्यनेनास्य लौकिकत्वमुक्तम् ॥४०॥

ततो ग्रामप्रभुणा असम्मानितश्चेत् लोके बालकैः सम्मानितोऽपि न परितुष्टो भवेद् इति सम्भाषणात्मकं सम्माननं नन्दकृतमाह **पप्रच्छे**ति त्रिभिः. पूर्वमेव सत्कृत इति पूजामकृत्वैव केवलं पप्रच्छ.

प्रश्नमेवाह **निरनुग्रहे कंसे** तस्य समीपे **कथं स्थे**ति, सम्भावितोपद्रवस्थानकुशलप्रश्नोऽयम्, कंसस्य न केऽपि गुणाः सन्तीति जीवनमेवोक्तम्. अपकीर्त्या वा

लेखः

निवेद्य गामित्यत्र उभावपीति, रामो लौकिकधर्माभिनिविष्टः, अक्रूरोऽपि प्रतिकृतिरूप इत्यर्थः ॥३९॥ पञ्चत्रिंशाध्यायव्याख्या समाप्ता ॥

पप्रच्छ सत्कृतं नन्दः कथं स्थ निरनुग्रहे ।
कंसे जीवति दाशार्ह सौनपाला इवावयः ॥४१॥
योऽवधीत् स्वस्वसुस्तोकान् क्रोशन्त्या असुतृप् खलः ।
किं नु स्वित् तत् प्रजानां वः कुशलं विमृशामहे ॥४२॥
इत्थं सूनृतया वाचा नन्देन सुसभाजितः ।
अक्रूरः परिपृष्टेन जहावध्वपरिश्रमम् ॥४३॥

॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पञ्चत्रिंशोध्यायः ॥

अजीवति, न हि मृतकस्थाने श्मशाने कश्चित्तिष्ठतीति भावः. **दाशार्हे**ति सम्बोधनं स्वतो वंशतश्च महत्त्वेन स्तोत्रार्थम्. सर्वत्र स्थितौ दोषाः सन्तीति जन्मभूमित्वात् स्थीयत इति चेत् तत्राह **सौनपाला** इति, सूनापरः **सौनः** नित्यशमिता मांसविक्रयी, स एव **पालो** येषां ते च **अवयः** गतानुगतिकाः. ते यथा अविचार्य तिष्ठन्ति तथा **स्थीयत** इति स्थितिरनुचितेति भावः ॥४१॥

कंसस्य निर्दयत्वमाह **योऽवधीदि**ति. भागिनेयाः अतिमान्याः, तत्रापि बालकाः. तत्रापि **क्रोशन्त्याः स्वसुः** सत्याः, **क्रोशन्त्या** कन्यया सह वा. ननु क्वचित् कर्मविशेषे पुत्रादयोऽपि हन्यन्त इति किमाश्चर्यं भागिनेयहनने ? तत्राह **असुतृप्** केवलं प्राणपोषकः, तेष्वमारितेषु स्वप्राणा गमिष्यन्तीति. तदपि न सर्वसम्मत्या नापि क्रियादिना किन्तु **खलः** दुष्टः. यत्रैतादृशः प्रभुः तत्र **प्रजानां** तदधीनानां **वो** युष्माकं **कुशलं** किं **विमृशामहे** किं विचारयामः ! अतः सन्देहे प्रश्नः. अत्र तु विपरीतभाव एव भिन्नतया कुशलप्रश्ने बन्धुविरोधी दुष्टोऽयमक्रूर इत्युक्तं भवति. अतः कुशलसम्भावनायामपि तथा नोक्तवान् ॥४२॥

एतादृशं नन्दवाक्यमुक्त्वा उपसंहरति **इत्थमि**ति. **सूनृतया** अत्यन्तं सत्यरूपया कोमलया सुखदया च **वाचा नन्देन सुष्ठु सभाजितः** पूजितः **अक्रूरः** कायिकवाचिकमानसश्रमान् **जहौ.** सुतरां पृष्ट इति अन्याभिनिवेशेन स्मृत्या प्राप्तमपि **अध्वपरिश्रमं जहावि**त्यर्थः ॥४३॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीवल्लभदीक्षितविरचितायां
दशमस्कन्धविवरणे पञ्चत्रिंशाध्यायविवरणम् ॥

॥ इति पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥

॥ चतुर्थः स्कन्धादितः षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥

षट्त्रिंशे भक्तकृपया हरी रूपमदर्शयत् ।
अत्यासक्तिं पूर्वसिद्धां त्यक्त्वापीति निरूप्यते ॥(१)॥
अक्रूरेण च संवादो गमनोद्यम एव च ।
गोपिकानां विलापश्च भगवद्रूपवर्णनम् ॥(२)॥
मनोरथस्य सिद्ध्यर्थं उद्यमस्य तथैव च ।
[1]तत्रागत्यागत्यभावे स भिन्न इति संशयात् ॥(३)॥
चत्वारोऽर्थाः क्रमादुक्ताः पुरुषार्था यतो व्रजे ।
सर्वे सिद्धा इति ज्ञाने भक्तो भूयात् तथा परः ॥(४)॥

॥ श्रीशुक उवाच ॥

सुखोपविष्टः पर्यङ्के रामकृष्णोरुमानितः ।
लेभे मनोरथान् सर्वान् पथि यान् स चकार ह ॥१॥
किमलभ्यं भगवति प्रसन्ने श्रीनिकेतने ।

पूर्वाध्याये तस्य मनोरथा निरूपिताः. ते वस्तुतोऽनभिप्रेता अपि भक्तिमार्गे भक्तेन कृता इति भगवता कृता इति वक्तुमाह **सुखोपविष्ट** इति. नन्दे गृहं गते पश्चात् **सुख**शय्याया**मुपविष्टः**. भगवता बलभद्रेण च सम्माननार्थमुपवेशितः. यदि लोके स्वस्मादप्यधिको मानो दत्तस्तदा किं वक्तव्यं किञ्चित् साधयिष्यति नवेति, अतो **मनोरथान् सर्वा**निव **लेभे**. पुरुषस्य हि सहस्रं कामाः यतः "काममय एवायं" तेन सर्वे प्राप्ता इत्याशङ्क्य विशिनष्टि **पथि यान् चकार ह**ेति. **स** सोऽक्रूरः पूर्वसिद्धः. **ह**ेत्याश्चर्ये, न हि मार्गे जातो मनोरथः कस्यचित् सिध्यतीति ॥१॥

यद्येवं तर्हि सर्वैरेव भक्तैर्भगवत्समीपमेव गमने कामनैव कर्तव्या स्यात्, कामनामेव प्रयच्छतीत्याशङ्क्य सकामा नोत्तमा इति शुको निष्कामः तं व्याजेन निन्दन्निवाह **किमलभ्य**मिति.

लेखः

षट्त्रिंशे, अत्र निरूप्यांश्चतुरः पदार्थानाहुः **अक्रूरेणे**ति (२). चतुर्णां प्रयोजनचतुष्टयमाहुः **मनोरथस्ये**ति. **अत्रे**ति, मथुरायामागत्य पुनर्व्रजे आगत्यभावे शङ्किते सतीत्यर्थः (३).

---

१. अत्र इति लेखकारस्य पाठः.

तथापि तत्परा राजन् न हि वाञ्छन्ति किञ्चन ॥२॥
सायन्तनाशनं कृत्वा भगवान् देवकीसुतः ।
सुहृत्सु वृत्तं कंसस्य पप्रच्छान्यच्चिकीर्षितम् ॥३॥

फलं द्विविधं— नित्यमनित्यं च, नित्यं षड्गुणात्मकम् अनित्यं लक्ष्म्याधीनम्. कृष्णस्तु भगवान् लक्ष्मीपतिश्च, स चेत् प्रसन्नः तदधीनं **किं** वा **अलभ्यं** भवेत् !

प्रसादो हि प्रवृद्ध आत्मानमपि यच्छति, परं प्रसाद एव दुर्लभः, न तु **प्रसन्ने** किञ्चिद्. अप्रसन्ने तु न किञ्चित् फलं भवति. अतः प्रसादहेतुं प्राप्य कामनां चेत् कुर्यात् तदा भ्रान्त एव स इति वक्तुं तथाभूता न कामयन्त इत्याह **तथापी**ति. यत**स्तत्पराः** न तु विषयपराः. अयं तु मध्ये संसर्गात् मध्यमाधिकारं प्राप्त इति कामनां कृतवान्. न तु सर्वैरेवोत्तमैः काम्यते, तथा सत्ययं मार्गः नोत्तमो भवेत्. **राजन्नि**ति स्नेहेनाप्रतारणार्थं सम्बोधनम्. यत**स्तत्पराः** अत एव **किञ्चना**पि **न वाञ्छन्तीति (हि!)** युक्तमेव ॥२॥

एवं भक्तानां कामनानिर्णयमुक्त्वा, कामितशेषं वक्ष्यमाणः सम्भावनयापि सिद्धवदुक्तं समर्थयन्नाह **सायन्तनाशन**मिति. यावत् नन्देन सह वार्ता तस्मिन् शय्यायां सुप्ते वा पश्चाद् यशोदागृहे सायंकालभोजनं **कृत्वा कंसस्य वृत्तं पप्रच्छे**ति सम्बन्धः. पश्चाद् भोजने बन्धनश्रवणानन्तरं प्रतीकारमुद्योगं वा अकृत्वा भोजनमनुचितमिति भुक्त्वा पृष्टवान्. यशोदायाः सन्तोषार्थं वा, तया भोजनार्थं सम्पादितमिति. यद्यपि **भगवान्** जानाति, न वा तस्य लौकिकेन् किञ्चित् कार्यं, तथापि **देवकीसुत** इति भक्तार्थमेवाविर्भूत इति पश्चादेव पृष्टवान्. देवकीपुत्रत्वादेव वसुदेवादयः सुहृदः, तस्य कदाचित् **सुहृत्सु** दैत्यावेशाभावे **वृत्तं** समीचीनमेव श्रूयते, अतः सन्देहात् प्रश्नः अक्रूरस्य तथा ज्ञापनार्थः, मानुषभावं ज्ञात्वा कदाचिदन्यथापि वदेद् अतो गोपिकावदेवायं परीक्षणीय इति. **अन्यद्** अन्येष्वपि उदासीनेष्वपि **चिकीर्षितं** कृतं करिष्यमाणं चेत्यर्थः, अन्यथा समागतः को वेद वक्तुं शङ्केतेति. अर्थात् कृतं बन्धनादिकं **चिकीर्षितं** नयनमिति. भक्तस्य तस्य स्वतः कथने दोष इति भक्तानां बुद्धिग्रहणार्थं शुकस्तथोक्तवान् ॥३॥

भगवतो वाक्यान्याह चतुर्भिः. तस्य तत्सुहृदां च पश्चात्तापोऽनुमोदनम्. आदौ कुशलं पृच्छति **ताते**ति.

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

तात सौम्यागतः कच्चित् स्वागतं भद्रमस्तु वः ।

अपि स्वज्ञातिबन्धूनामनमीवमनामयम् ॥४॥
किं तु नः कुशलं पृच्छे एधमाने कुलामये ।
कंसे 'मातुल'नाम्न्यङ्ग स्वानां नस्तत्प्रजासु च ॥५॥
अहो अस्मदभूद् भूरि पित्रोर्वृजिनमार्ययोः ।
यद्धेतोः पुत्रमरणं यद्धेतोर्बन्धनं तयोः ॥६॥
दिष्ट्याद्य दर्शनं स्वानां मह्यं वः सौम्य काङ्क्षितम् ।
सञ्जातं वर्ण्यतां तात तवागमनकारणम् ॥७॥

यः शब्दस्तेन मनोरथे निरुक्तः स एव भगवतोक्तः. **सौम्ये**ति तव न कोऽपि दोष इति दोषपरिहारार्थं सम्बोधनम्. स्वागतं यथा भवति तथा समागतः क्वचित्. महोपद्रवे समागतः आहोस्विद् अनुपद्रव इति सन्देहात् क्रियाविशेषणम्. अन्यायार्थमागत[1] इति स्ववृत्तान्तं न कथयेदिति तस्य निर्भयत्वाय समाश्वासनमाह **भद्रमस्त्वि**ति. समागमनमात्रेणैव सर्वेषामेव भद्रं भविष्यतीति बहुवचनेनोक्तम् . लोकवत् पृच्छति **अपी**ति. **स्वा** भक्ताः, **ज्ञातयो** गोत्रजाः, **बान्धवा** सम्बन्धिनः अक्रूर एव वा. देहपुत्रादयः **स्व**शब्देनोच्यन्ते. स्वकीया वा ये भवन्त इति प्रश्ने हेतुरुक्तः. द्वयं पृच्छति **अनमीवमनामयमि**ति, कंसनिकटे स्थितानां ब्रह्महत्यादिपापानि प्रत्यहं सम्भवन्तीति अमीवानाम् पापानाम् अभावः प्रष्टव्यः, संसर्गमात्रेणापि चिरकालदुःखदाः आधिव्याधयो भवन्तीति आमयाभावोऽपि प्रष्टव्यः ॥४॥

कथं द्वयमेव पृच्छ्यते, कुशलादिकं कथं न पृच्छ्यत इत्याशङ्क्य तत्र विपरीतनिश्चयः एवेत्याह **किं तु न** इति. **तु**शब्दः कुशलपक्षं व्यावर्तयति. **नो**ऽस्माकं; सर्वेषामेव बन्धुत्वख्यापनाय पित्रादीनात्मत्वेनैव निरूपितवान्. सर्वतः अकुले[2] **कुलस्यैवामयरूपे** सर्वग्रासकमहाव्याधौ प्रत्यह**मेधमाने** सति प्रतीकारमकृत्वा किं कुशलं **पृच्छ** इत्यर्थः. रोगान्तरशङ्काव्यावृत्त्यर्थं नाम गृह्णाति **कंस** इति. तर्हि कथमेतावत्कालं ज्ञात्वोपेक्षेति चेत् तत्राह **'मातुल'नाम्नी**ति, अमारणार्थं रोगे 'मातुल'संज्ञा जाता, यथा शत्रुर्ब्राह्मण इति. **अङ्गे**ति सम्बोधनमप्रतारणार्थम्. अतः स एव चेदुद्यमं कुर्यात् तदा निवारणे न कोऽपि प्रयास इति सूचितम्. **स्वानां नो** बन्धूनां **तत्प्रजासु च** कुशलं, **च**कारात् कंसप्रजासु ॥५॥

एवं सिद्धवत्कारेण बन्धूनामनिष्टं सम्भाव्य विशेषतः प्रश्ने अप्रश्ने च तस्य मनसि वैमनस्यं मत्वा कृतं वधादिकमनुशोचन्निवाह **अहो** इति. अन्यथा देवकीवसुदेवयोः उपेक्षां करोतीति दुःखं स्यात्. अन्यनिमित्तमन्यस्य दुःखं

१.अन्यार्थम् इत्यपि पाठः. २. अकुशले इत्यपि पाठः.

भवतीत्याश्चर्यं, यतो **अस्मन्निमित्तं पित्रोर्महद् वृजिनमभूत्**. तौ वस्तुत **आर्यौ** अपराधरहितौ, अतोऽस्माभिरेव तेषामुपद्रवः कार्यत इत्युक्तं भवति. **तद्वृजिनं भूरि,** सम्भाव्यमानमल्पं भविष्यतीति गणयति **यद्धेतोः पुत्रमरणमिति**, तयोरष्टमः पुत्रो मारयिष्यतीति मद्धर्मं श्रुत्वा निष्कारणमन्ये पुत्रा मारिताः. **तयोश्च बन्धनमहं** पुत्र इति आदावन्ते च ॥६॥

एवमनुतापमुक्त्वा तस्यागमनाभिनन्दन-पूर्वकमागमनप्रयोजनं पृच्छति **दिष्ट्येति. स्वानां यदद्य दर्शनमक**स्माज्जातं तद्दिष्ट्या भाग्येन. भक्तानां भगवद्दर्शनं भाग्येनेति, लौकिकभाषा चैषा. यतः हे **सौम्य मह्यं** ममैवोपकाराय मत्फलाय वा लोकोक्त्या ममैव चिर**काङ्क्षितं** कदा वा दर्शनं भविष्यतीति. **सौम्येति** सम्बोधनात् सत्त्वमुभयत्र हेतुरुक्तः. एवमभिनन्दनं कृत्वा पृच्छति **सञ्जातं वर्ण्यतामिति**, यद्वृत्तं साम्प्रतं तद्वर्ण्यताम्. **तातेति** सम्बोधनमभयत्वाय. **तवागमने किं कारणं** तदपि वर्णय, द्वयं पृष्टम् ॥७॥

॥ श्रीशुक उवाच ॥

पृष्टे भगवता सर्वं वर्णयामास माधवः ।
वैरानुबन्धं यदुषु वसुदेववधोद्यमम् ॥८॥
यत्सन्देशो यदर्थं वा दूतः संप्रेषितः स्वयम् ।
यदुक्तं नारदेनास्य स्वजन्मानकदुन्दुभेः ॥९॥
श्रुत्वाक्रूरवचः कृष्णो बलश्च परवीरहा ।

तदा आमूलं सर्वमेवोक्तवानित्याह **पृष्ट** इति. भगवता हि पृष्टम् अन्तर्यामित्वाद् वक्तव्यमीश्वरत्वाद् वक्तव्यं सर्वज्ञत्वाद् वक्तव्यम् आत्मत्वाच्च वक्तव्यमिति. यतोऽयं **माधव** इति मधुवंशोत्पन्नः, भक्तत्वेनापि गोत्रत्वेनापि सर्वथा वक्तव्यमेवेति. तदाह **वैरानुबन्धमिति**, वैरमनुबध्यतेऽनेनेति दृढद्वेष्यत्वम्. ततो **वसुदेवस्यापि वधार्थमुद्यमः** ॥८॥

स्वस्य प्रेरणे प्रकारश्च. **य** एव **सन्देशो** यस्य व्याजेनानेय इति **यदर्थं वा स्वयं दूतः** तेनैव **संप्रेषितः** अनिष्टभावनया समाकारणार्थमिति. एतस्य सर्वस्यापि मूलं नारदवाक्यमित्याह **यदुक्तमिति**. नारदोक्तमेव वदति— **आनकदुन्दुभेः** सकाशात् **स्वस्य** भगवतो **जन्मेति. अस्य** भगवतः **स्वस्य** देहस्य वा. **आनकदुन्दुभिपदेन** हेतुपूर्वकं सर्वमुक्तवानिति, द्वयं सञ्जातं द्वयमागमनकारणं हेतुर्नारदवाक्यमिति ॥९॥

श्रुत्वेति. एवं पञ्चपदार्थान् **श्रुत्वा कृष्णः** कालात्मा **बलश्च** क्रियाशक्तियुक्तः

प्रहस्य नन्दं पितरं राज्ञादिष्टं विजज्ञतुः ॥१०॥
गोपान् समादिशत् सोऽपि गृह्यतां सर्वगोरसः ।
उपायनानि गृह्णीध्वं युज्यन्तां शकटानि च ॥११॥
यास्यामः श्वो मधुपरीं दास्यामो नृपते रसम् ।
द्रक्ष्यामः सुमहत् पर्व यान्ति जानपदाः किल ।
एवमाघोषयत् क्षत्त्रा नन्दगोपः स्वगोकुले ॥१२॥

एतदर्थमेवावतीर्णौ **परस्य** शत्रोर्**वीराणां हन्ता** आवेशी, यदस्माभिः कर्तव्यं तदनेनैव कृतमिति **प्रहस्य,** गोप्यं गोप्यमेव विधाय, अन्यथा भीतो **नन्दो** गन्तुं न प्रयच्छेदिति पितृत्वं तस्मिन् स्थापयन्नेव, **राज्ञा आदिष्टं** कौतुकदर्शनार्थमागन्तव्यमिति व्यजिज्ञपत् ज्ञापयामासतुः ॥१०॥

भगवदिच्छया पूर्वं शङ्कितोऽपि कंसकृतोत्साहं द्रष्टुं सामग्रीं च सम्पादयितुं **सोऽपि** नन्दोऽपि **गोपान् समादिशत्.** अस्ति कश्चिद् रामे वाक्यवक्ता तद्द्वारा समादिशदित्यग्रिमवाक्यादवगन्तव्यम्. तस्याघोषवाक्यान्याह षट्. **गृह्यतामित्यादि. सर्वोऽपि गोरसः** दधिदुग्धात्मकः **गृह्यतामिति.** नयनार्थं पृथक् क्रियताम्; यत् प्रथमतः कर्तव्यं तदुच्यते, अन्यथा रात्रिशेषे दध्नो मन्थनं स्यात्. दुग्धानां च यथेष्टं विनियोगः. एते गोपालाः प्रत्येकं समर्थाः मण्डलाधिपतयइव महाराजाः. न केवलं गोरसमात्रं ग्राह्यम् **उपायनान्यपि गृह्णीध्वम**भीष्टानि वस्त्राभरणानि यानि भगवदर्थं युज्यन्ते, तान्येतद्द्वारा नीतानीति तदर्थमेवमुद्यतः. एवं पदार्थसम्भृतिमुक्त्वा साधनसम्भृतिमाह **युज्यन्तां शकटानीति.** यानि **शकटानि** गमनयोग्यानि स्वतः वाहनतश्च. योजनं सज्जीकरणं, चकारात् रथाश्वादिकं च ॥११॥

एवं सम्भारस्य प्रयोजनमाह **यास्याम** इति, **श्व** एव मथुरां **यास्यामः.** तर्हि स्वभोजनपर्याप्तमेव गोरसादिकं ग्राह्यमित्याशङ्क्याह **दास्यामो नृपते रसमिति.** रक्षकाय ह्यवश्यं देयं, षष्ठो भागस्तस्यैवेति. अतो **नृपते**रित्युक्तम्, पूर्वमसाध्यबुद्ध्या रसा न दत्ताः, अधुना तु क्रौर्यं परित्यज्य उत्सवार्थमाकारयतीति साध्यतापरिज्ञानम्. ननु निर्बन्धाभावात् शङ्कायास्त्वविद्यमानत्वात् किमिति गन्तव्यमिति चेत्तत्राह **द्रक्ष्यामः सुमहत् पर्वे**ति. इयं चतुर्दशी महत् पर्व. भाद्रपदकृष्णाष्टम्यामेकादशवर्षा जाताः, तत्र च धनुर्यागो जायत इत्यवश्यं गन्तव्यम्. अत्र कापट्यं नास्तीति प्रमाणमाह **यान्ति जानपदा** इति. तत्रापि प्रमाणं **किले**ति प्रसिद्धिः. इदं सप्तमं वाक्यं प्रमाणत्वाद् भिन्नमुक्तम्. प्रत्येकं गृहे यथेयं वार्ता श्रुता भवति तथा

गोप्यस्तास्तदुपश्रुत्य बभूवुर्व्यथिता भृशम् ।
रामकृष्णौ पुरीं नेतुमक्रूरं व्रजमागतम् ॥१३॥
काश्चित् तत्कृतहृत्ताप-श्वासम्लानमुखश्रियः ।
स्रंसद्दुकूलवलय-केशग्रन्थ्यश्च काश्चन ॥१४॥

अघोषयदित्याह **एवमाघोषयद**िति. **क्षत्त्रा** अन्तःपुराध्यक्षेण, स हि रहस्यवेत्ता भवति. अथवा गोपान् समीपे समागतानेवमादिशत् **स्वगोकुले** तु **क्षत्त्रा** समादिशदिति. एवं सर्वत्र श्वो भगवान् गमिष्यतीति प्रकारान्तरेण ज्ञापनमुक्तं, सर्वेषां प्रीत्याधिक्याय ॥१२॥

अतस्तथैव गोपिकानां जातमित्याह **गोप्य** इति. **ताः** पूर्वोक्ताः. **तद्** भगवान् गमिष्यतीति. यद्यपि लोकानां स्थाने न कोऽप्युक्तवान् तथापि लोकानामेव घोषात् श्रुतमित्याह **उपश्रुत्ये**ति. श्रवणमात्रेणैव **भृशं व्यथिता बभूवुः**. केवलं न निष्प्रपञ्चाः किन्तु भगवदर्थं, तद् भगवति प्रचलिते स्वकृतं व्यर्थमिति युक्तमेवोक्तं **बभूवुर्व्यथिता** इति. यथा महति पीडायां प्राणस्य क्लेशेषूपस्थितेषु मूर्च्छिता भवन्ति तथा जाता इत्यर्थः. कदाचित् कंसः व्याजेनाकारयतीति ज्ञात्वा व्यथिता भविष्यन्तीत्याशङ्क्य तत्परिहारार्थं निमित्तमनुवदति **रामकृष्णा**विति, सर्वासामेवोपद्रवार्थमुभयोर्ग्रहणम्. अन्यतरस्याप्यत्र स्थितौ भगवानागच्छेदित्युभयोर्ग्रहणम्. **पुरीं** गतस्य न शीघ्रमागमनमिति. सत्यं न भविष्यतीत्याशङ्क्य हेतुमाह **अक्रूरं व्रजमागत**मिति. **अक्रूर**मिति, अक्रूर इति नाम्ना प्रवेशं प्राप्तवान्. एकविधास्तु[1] मूर्च्छिता एव जाताः, सर्वथा अनिर्वृता वा ॥१३॥

अन्यासां वृत्तिमाह **काश्चि**दिति. त्रिगुणा एताः गुणातीता ज्ञानप्रधाना भक्तिप्रधानाश्चेति पञ्चविधाः. तत्र राजस्यो व्यथां प्राप्तवत्यः, सात्त्विक्यस्तु श्रवण**कृतो** योऽयं **हृत्तापः** तेन सहितो योऽयं **श्वासः** तेन **म्लाना मुखश्री**र्यासाम्. यद्यपि पूर्णज्ञानाः तथापि सगुणत्वात् बलिष्ठोऽयं विषय इति हृत्ताप उत्पन्न एव. तस्यावान्तरकार्यं श्वासः परमकार्यं म्लानतेति. अन्याः पुनः श्रुत्वा क्षीणा एव जाताः, महाभये शुष्कदेहाः, अतः **संसद्दुकूला** जाताः **संसद्वलयाश्च**, **केशेषु ग्रन्थयो**ऽपि

लेखः

गोप्यस्ता इत्यत्र, **महती**ति सन्तापे सतीति शेषः ॥१३॥

---

१. एकविधा तु इत्यपि पाठः.

अन्याश्च तदनुध्यान-निवृत्ताशेषवृत्तयः ।
नाभ्यजानन्निमं लोकमात्मलोकं गता इव ॥१५॥
स्मरन्त्यश्चापराः शौरेरनुरागस्मितेरिताः ।
हृदिस्पृशश्चित्रपदा गिरः संमुमुहुः स्त्रियः ॥१६॥
गतिं सुललितां चेष्टां स्निग्धहासावलोकनम् ।
शोकापहानि नर्माणि प्रोद्दामचरितानि च ॥१७॥

स्रंसन्तो जाताः. एता अन्तर्भयेनैव शुष्काः, सर्वाङ्गे न त्वेकदेश इति. एता एव सात्त्विक्य[1] इति केचित् ॥१४॥

ज्ञाननिष्ठा **अन्याश्चेति. तस्य** भगवतः **अनुध्यानेन** स्मरणानन्तरं प्राप्तेन ध्यानेन **निवृत्ताः अशेषाणाम्** इन्द्रियान्तःकरणदेहानां **वृत्तयो** यासाम्. ततः सुषुप्ताइव **इमं लोकं नाभ्यजानन्. आत्मैव लोकः** "अहरहर्ब्रह्मलोकं गच्छन्ती"ति श्रुतेः. वस्तुतस्त्वेताः समाधिस्थिता इति असम्प्रज्ञातत्वं वक्तुं सुषुप्तिर्दृष्टान्तीकृता ॥१५॥

भक्तास्तु मूर्च्छिता जाता इत्याह **स्मरन्त्य** इति. **अपराः** कदाचिदपि परभावं नापन्नाः सेवकीभूताः, **च**काराद्धृदये पश्यन्त्योऽपि, अत एव **अनुरागपूर्वकस्मितेन** मन्दहासेन **ईरिताः** प्रेरिताः. भक्तानां परमानन्दं दातुं महाननुरागः, भेदेन रसग्रहणार्थं स्मितमिति तेन स्वस्थानात् चालिताः. भगवत एता **हृदिस्पृश** इति तथाकरणे हेतुः. गिरां वा विशेषणम्; पूर्वं भगवता परमसौख्यार्थं या **गिर ईरिताः** ताः **स्मरन्त्यः संमुमुहुरिति. चित्राणि** विचित्राणि **पदानि** यासु— "कदापि न त्यक्ष्यामि त्वं प्राणभूते"त्यादीनि पदान्येव न तु वाक्यानि वाक्यार्थाभावात्. तदानीं पदार्थस्मारकत्वेन पदान्येव तानि **गिरः** स्मृत्वा **संमुमुहुर्**मूर्च्छिताः. भगवान् गच्छतीति श्रुत्वा पूर्ववचश्च "न गमिष्यामी"ति स्मृत्वा उभयोर्विरोधे निर्धारार्थं यतमानाः अनिश्चयात् मूर्च्छिता एव जाता इत्यर्थः ॥१६॥

अन्याः पुनः सर्वा मिलिताः जीवनार्थं विरहवाक्यान्युक्तवत्य इत्याह **गतिमिति** द्वाभ्यां विषयक्रियाभ्याम्. स्वसमीपे समागच्छतो भगवतः **गतिं** चिन्तयन्त्यः, ततः **सुष्ठु ललितां चेष्टां** समाश्लेषादिरूपां, ततः **स्निग्धो** योऽयं **हासपूर्वावलोकः** कन्दर्पलीलायाम्. एवं कृत्वा कियत्कालवियोगानन्तरं पुनरागतस्य पूर्वं विरहकृतः योऽयं **शोकः** तद्दूरीकरणसमर्थानि **नर्माणि** परिहासवाक्यानि. ततो मत्तगजवत् **प्रकर्षेण उद्दामानि** गतशृङ्खलारूपाणि यानि **चरितानि** स्वच्छन्दलीलारूपाणि. **च**कारादन्यान्यप्यवान्तररूपाणि ॥१७॥

---

१. सात्त्विक्यः ॥१४॥ काश्चित् ज्ञाननिष्ठा इत्यपि पाठः.

चिन्तयन्त्यो मुकुन्दस्य भीता विरहकातराः ।
समेता संघशः प्रोचुरश्रुमुख्योच्युताशयाः ॥१८॥

नन्वेताः असत्यइव [1]निषिद्धविषयपराः किमिति निरूप्यन्त इत्याशङ्क्याह **मुकुन्दस्येति**, मोक्षदातुः मोक्षसिद्ध्यर्थमिता लीलाः. ततः पूर्वावस्था सर्वस्वरूपा गतेति अत्यन्तं **भीताः**. धैर्याद्यभावार्थमाह **विरहकातरा** इति, अल्पविरहेऽप्यत्यन्तं दीनाः शीतभीताइव. ततः समानशीलव्यसनाः सर्वाः प्रत्येकं मिलिताः समूहभेदेन जाताः विंशतिभेदाः परमप्रेमयुक्ताः तद्भावाभिव्यञ्जकाश्रुमुचः. कामव्याप्तचित्ता अपि तथा भवन्तीति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह **अच्युताशयाः** सत्यः **प्रोचुः** अन्योन्य-जीवनार्थम् ॥१८॥

एतद्वाक्यैरेव भगवच्चरित्रं स्पष्टमिति न पुनर्निरूप्यते. निरोधान्ते युगलरूपा द्वादश निरूपिताः, तथैवैता इति. तासां द्वादशधा वचनान्युच्यन्ते, अत्रोपालम्भ्याः[2] प्रथमतो ब्रह्मा यद्वाक्याद् भगवानागतः, ततो भगवान्, ततोऽक्रूरः, साधारण्येन सर्वे, ततो बान्धवाः, ततः स्वात्मेत्येवं षड्विधाः. तत्र प्रथमं त्रिभिर्ब्रह्मण उपालम्भमाहुः **अहो** इति.

अविवेको दुरात्मत्वं दत्तापहरणं तथा ।
त्रिदोषं ब्रह्मणः प्राहुर्व्यवहाराद् यतः कृतम् ॥(५)॥

॥ गोप्य ऊचुः ॥

अहो विधातस्तव न क्वचिद् दया संयोज्य मैत्र्या प्रणयेन देहिनः ।

आदावविवेकमाहुः. **अहो** इत्याश्चर्ये, जगत्कर्तुर्वेदगर्भस्याप्यविवेक इति. ननु मया संयोजनमेव कृतं, वियोगकर्ता त्वन्य एवेति चेत् तत्राहुः **विधातरिति**, सर्वं विदधातीति अविशेषाद् वियोजकोऽपि त्वमेव. तर्हि युक्तमेवेति चेत् तत्राहुः **तव न क्वचिद् दयेति**. उत्पादितेषु स्वापत्यरूपेषु शिक्षार्थं दण्ड्येष्वपि क्वचिद् दया भवति— कश्चित् शरीरमेव छिनत्ति कश्चिद् द्रव्यं कश्चिदिहलोकपरलोकौ कश्चिद् विषयानिति.

लेखः

चिन्तयन्त्य इत्यत्र **विंशतिभेदा** इति, अष्टाविंशाध्याये एकोनविंशतिभेदा उक्ताः, तामसतामसी तत्र नास्ति, अत्र साप्यस्तीति विंशतिर्भेदा यासां तादृश्य इत्यर्थः ॥१८॥

निरोधान्ते इति द्वात्रिंशेऽध्याये इत्यर्थः. **अहो विधातरित्यत्र**, **वियोग-**

---

१. निबद्ध इत्यपि पाठः. २. उपालभ्याः इत्यपि पाठः.

तांश्चाकृतार्थान् वियुनङ्क्ष्यपार्थकं विक्रीडितं तेऽर्भकचेष्टितं यथा ॥१९॥

अस्माकं तु भगवान् सर्वमेवेति केनाप्यंशेन दया चेत् तदंशस्थापनार्थं वा भगवन्तं स्थापयेत्. तदभावात् क्वचिदपि न दयेति. ननु भवददृष्टादेव भगवान् मिलितः तदपगमे गच्छतीति चेत् तत्राहुः **संयोज्य मैत्र्येति**. भगवता सह जीवानां योगे नादृष्टं कारणं वियोगजनितत्वात्. सोऽन्तर्याम्यात्मा च. तं प्रार्थयित्वा बहिराविर्भावयित्वा सहजसम्बन्धव्यतिरेकेणैव **मैत्र्या संयोज्य तान्** पुनर्जीवान् भगवत्संयुक्तफलाभावाद् **अकृतार्थान् वियुनङ्क्षि** वियोजयसि. स यदि "पितृलोककामो भवती"त्यादिश्रुतौ सर्वकामनासिद्धिरुक्ता, पुनरावृत्त्यभावश्च; "आनन्दमयमात्मानमुपसंक्रम्ये"त्यादावपि तथा. अत्र तु न कोऽपि मनोरथोऽतः परं सेत्स्यति आवृत्तिश्च भविष्यतीति सर्व-प्रकारेणाभिलषितभगवद्वियोगाद् **अकृतार्थान्** एव जीवानस्मान् **वियुनङ्क्षि** वियोजयसि. भवेदप्येतदेवं यदि वियोजने तव वा कश्चित् पुरुषार्थः सिध्येत्. अतस्ते **विक्रीडितं** विशेषक्रीडारूपमेतद् **अर्भकचेष्टित**प्रायं[1] जातम्— अलौकिकमपि कृत्वा उत्तमामपि प्रतिमां मृदादिनिर्मितां क्षणादेव दूरीकुर्वन्तीति, ब्रह्मणोऽप्यविवेकः ॥१९॥

लेखः

जनितत्वादिति, संयोगस्य वियोगस्फूर्तिजनितत्वादित्यर्थः. अत्रैवं क्रमः— शरणोपदेशेन भगवति प्रणयः तेन एतावत्कालजातो यः कृष्णवियोगस्तज्जनितस्तापः क्लेश आनन्दतिरोभावश्च यस्मिन्नेतादृशोऽहमिति ज्ञानं भवति. अन्तर्दुःखं तापो बहिर्दुःखं क्लेश इति विभेदो ज्ञेयः. पृथग्भावात् तापस्तत आसन्यसंसर्गात् क्लेशस्ततः सर्वांशेनानन्दतिरोभाव इति क्रमः. एतावद्ज्ञानानन्तरमानन्दार्थं यतमानस्तदनूद्य भगवते लुप्तमप्यानन्दं सम्पादयितुं समर्थाय कृष्णायानन्दरूपाय सर्वं समर्पयति. जीवस्य वस्तुतो भगवद्दासत्वेन पूर्वसिद्धदासत्वस्यानुवादः. अत एवात्मनः पूर्वमपि भगवदीयत्वाद् देहादीनामेवान्यदीयत्वात् समर्पणं मुख्यमत आत्मनः सहभावः, ततः सर्वथा तदीयत्वेन स्थितिः, एवं सति स्वरूपयोग्यता भवति. ततः कृपया भगवति योगो भवतीति प्रलये भगवत्येव लयात् सृष्टिकालसूचनाय काले वर्षविभाग उक्तः. **आवृत्तिश्चेति**, भगवान् गमिष्यति वयं पुनरायास्याम इत्यर्थः. **अभिलषितेति**, अभिलषितो यो भगवान् तद्वियोगादित्यर्थः. पितृलोकादयो नाभिलषिताः, भगवानेवाभिलषितः. तं तु वियोजयस्यतो न कोऽपि मनोरथः सेत्स्यतीति भावः ॥१९॥

---

१. अर्भकचेष्टितम् इत्यपि पाठः.

यस्त्वं प्रदर्श्यासितकुन्तलावृतं मुकुन्दवक्त्रं सुकपोलमुन्नसम् ।
शोकापनोदस्मितलेशसुन्दरं करोषि पारोक्ष्यमसाधु ते कृतम् ॥२०॥
क्रूरस्त्वमक्रूरसमाख्यया स्म नश्चक्षुर्हि दत्तं हरसे बताज्ञवत् ।

किञ्च नाविवेकमात्रं किन्तु असमीचीनमेव करोतीत्याहुः **यस्त्वमिति.** त्वं ह्यस्मदुपकारार्थं शोकापनोदार्थं मोक्षार्थं वा भगवन्मुखारविन्दं प्रदर्शितवान्. तदप्रदर्शनदशायाम् अल्पमेव शोकादिकं स्थितं, साम्प्रतं त्वधिकं जायत इति यदपि त्वया कृतं तद**प्यसाध्वेव कृतं**, यथा मोहकः समीचीनमिव प्रदर्श्यासमीचीनं करोति. तथात्वमुपपादयन्ति. प्रथमतो **मुकुन्दस्य** मोक्षदातु**र्वक्त्रं** प्रधानभूतं यतो मोक्षो भवत्येव. तदपि बहुभिरेव सर्वज्ञैरावृतम्, तदाह **असितैः कुन्तलैरावृतमिति.** नीलालकावृतत्वेन स्वस्यानधिकारेऽपि तत्प्राप्तिः सूचिता. कामरस एवायं परितो वेष्टितः तिष्ठतीति. ततः **सुकपोलं** रसानुभवयोग्यम्. **ऊर्ध्वा नासिका** यस्मिन्निति पूर्णरसत्वेन प्रफुल्लरूपम्. शोकादिनिवृत्तिस्तु तद्धर्मलेशेनापि भवतीत्याहुः **शोकापनोदनं** करोति **स्मितस्य लेश** एव, तादृशोऽप्यत्र **सौन्दर्य** एवोपक्षीयते. एतादृशं मुखं सर्वदा दर्शनयोग्यं **पारोक्ष्यं करोषि** परोक्षस्य धर्मयुक्तं करोषि. न ह्यपरोक्षैकस्वरूपं भगवन्मुखारविन्दं स्वतः परोक्षतामापद्यते. **त्वं** पुनरव्यक्तमपि व्यक्तं करोषीतीदमपि विपरीतं करोषि. तत्तु सर्वोपकारीति **ते कृतं** साधु भवति, इदं **त्वसाधु.** किं बहुना, **ते** तवा**प्यसाधु,** अनेन कर्मणा तवापि नेष्टं सेत्स्यतीति भावः. अत एव भगवान् न ब्रह्मलोकमार्गेण गतः ॥२०॥

नन्वक्रूर एव नयति भगवन्तं, किमित्यहमुपालभ्य[1] इति चेत् तत्राहुः **क्रूर** इति. न हि त्वया समानीतः त्वद्वाक्येन समागतः अक्रूरेण नेतुं शक्यः, **अतस्त्वमेव** भगवन्नयनात् **क्रूरा**त्मापि सन् **अक्रूरो**ऽहमिति विपरीतं नाम धृत्वा — 'भद्रा'-'मङ्गलवार'वत्, अन्यथा प्रवेशो न भविष्यतीति, लोकापवादव्यावृत्त्यर्थं तेन रूपेण — **हरसे.** ''चक्षुषश्चक्षुरि''ति श्रुत्या भगवांश्चक्षुष**श्चक्षुः, (हि!)** युक्तश्चायमर्थः प्रामाणिकत्वात्. इदं पुनश्चक्षुर्न सर्वजनीनं किन्तु त्वयैवास्मभ्यं विशेषाकारेण **दत्तम्.** न हि दत्तं चक्षुः देवादिभिरपि ह्रियते, अन्येनापहृतं परं प्रयच्छन्ति, **बते**ति खेदे— एतदभावे सुतरामन्धत्वमेव, प्राकृतं चक्षुस्तु एतत्प्राप्त्या निवर्तितम्, अतोऽत्यन्तमपकाररूपत्वान्न हर्तव्यमिति भावः. ननु ये –

– यत् कर्तुं प्रवृत्तास्ते तत् करिष्यन्त्येवेत्युपालम्भो निरर्थक एवेति चेत् तत्राहुः

१. उपालभ्यत इत्यपि पाठः.

येनैकदेशेऽखिलसर्गसौष्ठवं त्वदीयमद्राक्ष्म वयं मधुद्विषः ॥२१॥

न नन्दसूनुः क्षणभङ्गसौहृदः समीक्षते नः स्वकृतातुरा बत ।

अज्ञवदिति, अत्रार्थे विमर्शकारित्वाभावात् विवेको बोधनीय इत्युपालम्भ उचित इत्यर्थः. किञ्च तवाप्यनेन चक्षुषा महानुपकारः सिध्यतीत्याहुः **येनैकदेश** इति. त्वया हि सौन्दर्यं सृष्टं क्वचित् प्रकाशनीयं, तत् समुदायेन सर्वस्यापि भगवदवयवे एव भवति, तन्मूलकत्वादेव तस्य सौन्दर्यस्य. "विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमि"ति वाक्याद् एकांश एव जगत् तत्राप्येकदेशे सौन्दर्यमिति. रूपग्रहणार्थमेव हि चक्षुषो निर्माणं, रूपं त्वत्रैव. व्यवहारस्त्वन्धानामपि सिध्यति. अत एव **येन** चक्षुषश्चक्षुषा तवै**वाखिलसर्गसौष्ठवं वयमद्राक्ष्म.** वयं च श्रुतिरूपाः, अन्यथा त्वत्कृतमप्रामाणिकमेव स्यात्. **मधुद्विष** इति तवाप्युपकारकर्ता भगवान्, सोऽत्र रमते तत्प्रतिबन्धोऽपि तवानुचित इत्यर्थः ॥२१॥

एवं ब्रह्मण उपालम्भमुक्त्वा स्वतन्त्रो भगवान् ब्रह्माणं न मन्यत इत्याशङ्क्य भगवत उपालम्भनमाहुः **न नन्दसुनुरि**ति चतुर्भिः.

यद्यपि भगवान् मार्गान् विधाय स्वयमुदासीन एव तिष्ठति, दूरे स्थित्वा च किञ्चित् करोति न तु सर्वथा, तथापि प्रपत्तिमार्गे न किञ्चित् कृतवान्, नापि शास्त्रं न वा साधनानि. प्रमाणवाक्येऽपि "अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि"इति प्रमेय-बलमेवोक्तवान्. अत उपालम्भ्यो भवत्येव. किञ्च **नन्दसुनुः** भक्तकृपया भक्ति-मार्गेऽपि नन्दस्य पुत्रो जातः. यत्रैतावद् भवति अप्रयोजके तत्रास्मासु मनोरथार्थमेव कथं न विलम्बं करोतीति ! अत एव प्रायेणान्याभिनिवेशो जात इत्याहुः **क्षणभङ्गसौहृद** इति, **क्षणेनैव भङ्गो** यस्य तादृशं **सौहृदं** यस्येति अन्यथा विचारयेद् वा. अत एव **न समीक्षते** सम्यक् पश्यत्यपि न, न हि गतसौहृदा दृश्यन्ते. द्रष्टव्या इत्यत्र हेतुमाहुः **स्वकृतातुरा** इति, **स्वकृते** भगवदर्थमे**वातुरा** दीनाः. **बते**ति खेदे. कर्ममार्गेऽपि लौकिकेऽपि स्वकृतातुरेषु समीक्षा क्रियते. ज्ञानमार्गे तु आत्मत्वेनैव नित्यप्रकाश इति बहिराविर्भावात् स पक्षो भगवतैव त्यक्तः. स्वस्य प्रपत्त्यधिकारित्वमाहुः **विहाये**ति,

---

लेखः

न नन्दसूनुरित्यत्र, भगवत्युपालम्भानौचित्यं मत्वा शास्त्ररीत्या स्वयमेव समर्थयति **यद्यपी**त्यादिना. **आन्तराश्च तथे**ति, देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणानि —एते स्वमध्यपातिनः **तथा** चत्वार इत्यर्थः. **एकशब्दार्थ उक्त** इति, "मामेकं शरणं व्रजे"-त्यत्रोक्तस्यैकशब्दस्यार्थः **स्वदास्यमिति स्व**शब्देनोक्त इत्यर्थः. **न त्विति**, भगवति तात्पर्यं न तु रसोद्दीपकसामग्र्यां देशादावित्यर्थः ॥२२॥

विहाय गेहान् स्वजनान् सुतान् पतीन् स्वदास्यमद्धोपगता नवप्रियः ॥२२॥
सुखं प्रभाता रजनीयमाशिषः सत्या बभूवुः पुरयोषितां ध्रुवम् ।
याः संप्रविष्टस्य मुखं व्रजस्पतेः पास्यन्त्यपाङ्गोत्कलितस्मितासवम् ॥२३॥
तासां मुकुन्दो मधुमञ्जुभाषितैर्गृहीतचित्तः परवान् मनस्व्यपि ।

''सर्वधर्मान् परित्यज्ये''त्यर्थः. गृहत्यागेन तद्धर्मत्याग उक्त एव. बाह्याश्चत्वारः आन्तराश्च तथा. बाह्यानां परित्याग एव, आन्तराणां तु दास्यार्थं स्थापनमिति. बाह्यानि गणयन्ति— **स्वजना** बान्धवाः, **सुताः** स्वस्मादुत्पन्नाः, **पतयो** नियामकाः. विशिष्टत्वाद् बाधकत्वात् स्वतन्त्रत्वात् स्वस्यैव भोक्तृत्वाभिमानाच्च आन्तरवत् नैषां दास्योपयोगः अतस्त्यक्तव्या एव. **स्वदास्यमि**त्येकशब्दार्थ उक्तः, न तु देशादिसहितस्य. तद**प्यद्धा** साक्षात् न तु नामादिद्वारा. एव**मुपगतानि न समीक्षते** विचारयत्यपि न, अतः केवलं खेद एव कर्तुमुचितः. असमीक्षायां हेतुं कल्पयन्ति **नवप्रिय** इति, असमीचीनमपि नवमेव प्रियं मन्यते. अयमप्येकः स्वभावः ॥२२॥

नवप्रियत्वेन सूचितं भावं प्रकटीकुर्वन्ति त्रिभिः, नूतनं त्रिविधं भवतीति, **सुखं प्रभाते**ति.

राजसस्तामसश्चैव सात्त्विकश्चेत्यनुक्रमः ॥

इयं रजनी अस्मत्प्रतिपक्षाणामेव **सुखं प्रभाता रजनी** न त्वस्माकम्. **आशिषश्च** मनोरथाः ब्राह्मणैर्निरूपिता वा तासामेव **सत्या बभूवुः**. यतस्ताः **पुरयोषितः** चतुराः, अन्यथात्रैवागच्छेयुः. अत एवास्माकं गमनमपि तत्र बाधितम्, सपत्नीनामयमवसर इति. अस्मद्भोगकालापेक्षया तासामुत्तमो भविष्यति, देशश्चोत्तमः, अतः पुरवासिन्यः भाव्यर्थं परिज्ञाय स्थिरा जाताश्चतुरा एव. अतः **ध्रुवमेव** महोत्सवो भविष्यति. उत्सवमाहुः **याः संप्रविष्टस्ये**ति, **सम्यक् प्रविष्टस्य व्रजस्पतेः** गोकुलस्वामिनो गोविन्दस्य स्वस्थानं प्रविष्टस्य **मुखं पास्यन्ति,** प्रभोर्मुखे परकीये च महानानन्दो भवतीति. तस्मिन् मुखे तासां मधुपानमपि भविष्यति, न केवलं लावण्यामृतपानमिति विशेषमाहुः **अपाङ्गेन उत्कलितं** यत् **स्मितं** तत्सहितमधरामृतं तदेव देहादिविस्मारकम्. अनेन तासां पूर्वदुःखस्मरणाभावात् साम्प्रतमानन्दानुभवाच्च तासामेव महद्भाग्यं न त्वस्माकम् ॥२३॥

नन्वस्तु तासामद्य, श्वः परश्वो वा भगवानत्रायास्यतीति अस्माकमेव सुखं भविष्यतीत्याशङ्क्याहुः **तासामिति**. स हि मोक्षदाता अस्माकं मुक्तिमेव दास्यति शास्त्रसिद्धाम्. तासां वा **मधु** स्वादिष्टं **मञ्जु** मनोहरं ग्रहणे पर्यवसाने चोत्तमं यद्

कथं पुनर्नः प्रतियास्यतेऽबला ग्राम्याः सलज्जस्मितविभ्रमैर्भ्रमन् ॥२४॥
अद्य ध्रुवं तत्र दृशो भविष्यते दाशार्हभोजान्धकवृष्णिसात्वताम् ।
महोत्सवः श्रीरमणं गुणास्पदं द्रक्ष्यन्ति ये चाध्वनि देवकीसुतम् ॥२५॥

भाषितम्, एकेनापि कार्यसिद्धौ बहूनि तानि अतो **गृहीतचित्तः** चित्ताधीनश्च पुरुषः. ननु नन्दोऽस्ति सङ्गे, भगवांस्तु जितेन्द्रियः पराधीनतयैव प्रवर्तते न तु स्वत इति चेत्, सत्यम्. यद्यपि **परवान्** यद्यपि **मनस्वी** तथापि **नः** अस्मान् प्रति **कथं प्रतियास्यति** ? एकदा अयं रसो भुक्त इति उद्धृता इतिवत्. यथा नन्दाधीनः तथान्याधीनोऽपि भविष्यति, यथा वयं तथा अन्या अपीति. **अबला** इति सम्बोधनं सम्मत्यर्थमुपायाभावार्थं च. **ग्राम्या** इति स्वस्मिन् बाधको धर्मः. यद्यपि ग्राम्यः प्राथमिको भवति रसः अतः सम्भावना तथापि नागरिकादीनां सर्वेषामेवोपभोगे महानेव कालो भवतीति पुनरावृत्तिर्भवति न वेति **कथमिति** प्रकारप्रश्नः. प्रथमप्रवृत्तौ **लज्जा** ततः **स्मितं** ततो **विभ्रमाः** तैस्तत्रैव **भ्रमन्** पुनस्तास्वेव मण्डलपरिभ्रमं कुर्वन् **कथं प्रतियास्यति ?** न हि भ्रमे उत्पन्ने गमनमार्गस्यापि विस्मृतत्वाद् भ्रमणं युक्तमेव ॥२४॥

ननु भगवान् भक्तवत्सलः समायास्यतीति चेत् तत्राहुः **अद्येति.** भक्ता अपि **तत्र** बहवः अतस्तेषां **दाशार्हभोजान्धकवृष्णिसात्वतां** पञ्चविधानां कुकुरादीनामपि संग्राहकाः तथापि सत्त्वप्रधाना एव गणिताः. तेषां **दृशो महोत्सवो** भविता. शोभा हि द्रष्टव्या, लक्ष्म्यधीना च शोभा, तस्या अपि **रमण** इति. किञ्च **ये चाध्वनि देवकीसुत**त्वात् तद्धितार्थं गच्छन्तं ये मार्गे **द्रक्ष्यन्ति** तेषामपि **दृशो भविष्यति महोत्सवः.** ननु दर्शनमात्रेण कथमिष्टसिद्धिरिति चेत् तत्राह **गुणास्पदमि**ति, अनन्त**गुणानामास्पद**त्वाद् दर्शनानन्तरं गुणास्तत्रैव समायास्यन्ति, अतो **महानेवोत्सवः** फलपर्यवसायी. त्रिविधा अपि गणिताः ॥२५॥

एवं चतुर्धा भगवन्तमुपालभ्य अक्रूरोपालम्भनमाह **मैतद्विधस्ये**ति. संज्ञा ह्यन्वर्थोचिता, क्रौर्यादयस्त्वन्तःकरणधर्माः, अतः अविचार्यैव **नामकरणं** कृतमिति. **अक्रूर इत्येतन्नामास्य मा भूत्,** यस्तु सर्वमारकः स कथमक्रूर इति ! यतोऽयमतीव

लेखः

तासामित्यत्र, पराधीनतयैवेति, परेच्छयैव भोगे प्रवर्तत इत्यर्थः ॥२४॥

अद्य ध्रुवमित्यत्र, त्रिविधा अपीति, 'सुखं प्रभाते'त्यस्याभासोक्ता नवप्रियत्वसूचिता भावा इति शेषः ॥२५॥

मैतद्विधस्याकरुणस्य नाम भूदक्रूर इत्येतदतीव दारुणः ।
योसावनाश्वास्य सुदुःखितं जनं प्रियात् प्रियं नेष्यति पारमध्वनः ॥२६॥
अनार्द्रधीरेष समास्थितो रथं तमन्वमी च त्वरयन्ति दुर्मदाः ।
गोपा अनोभिः स्थविरैरुपेक्षितं दैवं च नोऽद्य प्रतिकूलमीहते ॥२७॥
निवारयामः समुपेत्य माधवं किं नो करिष्यन् कुलवृद्धबान्धवाः।

दारुणः अतः 'आक्रूर' उचितः. ननु कार्यार्थी सोऽपि समागतः किं कुर्यादिति चेत् तत्राहुः **अनाश्वास्येति**, **सुदुःखितं** गोपीजनं तेषां सर्वस्वभूतं ता**ननाश्वास्य** नयतीति. आश्वासनं हि भगवन्तमानीय केनचिद्रूपेण वा अत्र स्थापयित्वा समागमिष्यामीति वाग्बन्धं वा कारयित्वा पश्चात् नयनमुचितं न तु धनादिदानं, यतो भगवान् **प्रियात्** प्राणादपि **प्रियः** आत्मनोऽपि. नयनं च न गोचारणवत् किन्त्व**ध्वनः पारं** यत्र गतः तस्मिन् दिवसे नायाति ॥२६॥

सर्वानेवोपालभन्ते[1] **अनार्द्रधीरेष** इति. गोपिकाव्यतिरिक्तानां सर्वेषामेव महानुत्साहः, अतः सर्वे प्रातरेव भुक्त्वा अक्रूरव्यतिरिक्ता रथारूढा जाताः शकटारूढाश्च. भगवानपि यशोदादिभिरभ्यनुज्ञातः **सम्यगेवास्थितो रथम्.** अस्मिन्नपि समये अस्मद्विचारं न कृतवानिति **अनार्द्रधीरेष** कृष्णो दृश्यते, न तु सोऽस्मान् पश्यति. किञ्च **तमनु** यावन्तो **गोपाः** ते सर्वे **दुर्मदाः** विचाररहिताः परघातेऽपि क्लेशरहिताः, **अमी त्वरयन्ति** यतस्तथैव दृश्यन्ते, **च**कारादक्रूरोऽपि. ते च शकटारूढा इति तेषां चलनक्लेशाभावश्च. पश्चात्स्थितशकटानुरोधेन गन्तव्यं पततीति **अनोभिः** साधनैरित्यप्युक्तम्. तर्ह्युपनन्दादयो वृद्धा वक्तव्या इति चेत् तत्राहुः **स्थविरैरुपेक्षितमिति**. तेषां विचारेण तथा गोप्यस्तथा नागर्यस्तथैव नन्दादयस्तथैव वसुदेवादय इति. नन्वदृष्टं प्रार्थयन्तु यथा विघ्नः कियत्कालं प्रतिबन्धो वा भवेत् तत्राहुः **दैवं चे**ति, **च**कारात् कालादयः सर्व एव **प्रतिकूलमीहन्ते** ॥२७॥

स्वप्रवृत्तिबन्धकत्वेन बान्धवानुपालभन्त्यः तानवगणयन्ति **निवारयाम** इति, सर्वाभिः सम्भूय भगवान्निवारणीयः. तथा सति बान्धवाः कोपं करिष्यन्तीति चेत् तत्राहुः **किं नो करिष्यन्निति**, **नो**ऽस्माकं **किमकरिष्यन्निति** किं पूर्वं कृतवन्तः करिष्यन्ति वा. ते हि **कुलस्यैव वृद्धा बान्धवाः** कुलापेक्षायां सत्यां कुले स्थापयन्ति

लेखः

अनार्द्रधीरित्यत्र, स्थविरैरुपेक्षितमिति भावेक्तः, तैरुपेक्षा कृतेत्यर्थः ॥२७॥

---

१. उपालम्भते इत्यपि पाठः.

मुकुन्दसङ्गात् निमिषार्धदुस्त्यजाद् दैवेन विध्वंसितदीनचेतसाम् ॥२८॥

यस्यानुरागललितस्मितवल्गुमन्त्र-
लीलावलोकपरिरम्भणरासगोष्ठ्याम् ।
नीताः स्म नः क्षणमिव क्षणदा विना तं
गोप्यः कथं न्वतितरेम तमो दुरन्तम् ॥२९॥

नत्वतिरिक्तं किञ्चित् कुर्वन्ति. भगवतः कुलस्य च तारतम्ये विचार्यमाणे कुलं बन्धकं भगवान् **मुकुन्दः**. किञ्च तस्य **सङ्गः** साक्षात् स तु **निमिषार्धमपि दुस्त्यजः**. तस्माद्धेतोः **दैवेनैव** स्वादृष्टेनैव **विध्वंसिताः** अत एव **दीनचेतसः**. तेषां कुलस्थैर्न किञ्चित् कर्तुं शक्यते. यदि ते भगवते दद्युः तर्हि कुर्युरेव. तत् तु न कुर्वन्तीति, प्रतिबन्धकत्वाच्च न तैः किञ्चित् कार्यम्. अपकारश्चेद् अस्माकं स्वत एव सिद्धः पिष्टपेषणं तैः किं कर्तव्यमिति. ननु निवारणे किं भविष्यति यदि नागमिष्यति तत्राहुः **माधवमिति**, स हि लक्ष्मीपतिः बलात् तया गृहीतस्तदीयो जातः एवमस्मदीयोऽपि भविष्यतीति. यत्ने कृते तु नास्माकं बुद्धिदोषः अकृते तु पश्चात्तापो भविष्यतीति भावः. पश्चात्तापाभावार्थमेवमुद्यमः न तु कार्यं भविष्यतीति. तथापि न सर्वासां सम्मतिरिति लौकिकालौकिक-परमार्थदृष्टियुक्ताभिरप्रवृत्तमिति ॥२८॥

ततो निराशा आत्मानमेवोपालभन्ते द्वयेन. दुःखाभावं सुखं च स प्रयच्छतीति तदभावे कथं दुःखनिवृत्तिः? कथं वा अनिवृत्तौ सत्यां जीविष्यामः? मरणे वा भगवन्तं न प्राप्स्याम इति किं वा भविष्यामः?

यस्यानुरागेति, अनुरागादयो भगवदीयाः. **अनुराग**पूर्वकं यत् **स्मितं** तत्पूर्वका ये **वल्गुमन्त्रा** गुह्यभाषणानि तत्सहिता **लीला** तत्पूर्वकोऽयम**वलोकः** ततोऽधिकरसोद्गमार्थं **परिरम्भो रासश्च** एतेषां या **गोष्ठी**समूहः अवसरो देशकालसहितः, तस्यां **क्षणदा** रात्रयः **क्षणमिव** नीताः. नात्र विविच्य प्रमाणं वक्तव्यं; **स्मेति** प्रसिद्धिः सर्वगोपिकानुभवसिद्धम्. या रात्रयो अन्येभ्यः क्षणं

लेखः

निवारयाम इत्यत्र, **विध्वंसिता** इति, मुकुन्दसङ्गार्थं स्वादृष्टेन कुलादधः पातिता इत्यर्थः ॥२८॥

यस्यानुरागेत्यत्र, **अवसर** इति, तत्तद्देशकाले तत्र तत्र भगवतोऽनुसरणमित्यर्थः ॥२९॥

योऽह्नः क्षये व्रजमनन्तसखः परीतो गोपैर्विशत्खुररजश्छुरितालकस्रक् ।
वेणुं क्वणन् स्मितकटाक्षनिरीक्षणेन चित्तं क्षिणोत्यमुमृते नु कथं भवेम ॥ ॥३०॥

प्रयच्छन्ति अतस्ता बहुक्षणा भवन्ति ता अपि **क्षणमिव नीताः**. अतः परं **तं विना** तदीयसर्वसामग्र्यपगमे चन्द्रादीनामप्यपगमात् **तम** एव निश्चलं स्थास्यति, तत् **कथं तरेमे**ति. एकापि रात्रिर्न गमिष्यतीति भावः. वस्तुतः कृष्णत्रयोदशीयम्, अतोऽन्धकारः सिद्धः आन्तरोऽपि ॥२९॥

किञ्च अन्धकारेऽपि केचित् जीवन्ति, अस्माकं तु जीवनमपि न भविष्यतीत्याह **योऽह्नः क्षय** इति. **अह्नः क्षये** सन्ध्यायाम्. **क्षय**शब्दप्रयोगोऽह्नो द्विष्टत्वज्ञापकः. **अनन्तो** बलभद्रः, अनेन कालस्यापि तदनुगुणत्वमुक्तम्. **गोपैः परीत** इति सर्वैः सहितोऽस्मत्कार्यमेव करोतीत्याहुः. किञ्च यदपि कृतं तदप्यस्मदर्थमेवेति वर्णयन्ति **विशत्खुररजश्छुरितालकस्रगि**ति, **व्रजं विशन्ति** या गावः तासां **खुररजसा छुरिता अलकाः स्रजश्च**. एके ज्ञानरूपाः. अन्ये भक्तिरूपाः, उभयत्रापि धर्मसम्बन्धः सूच्यते, उभयविधा एवं क्लेशेनाप्युद्ध्रियन्त इति ज्ञापयितुम्. ततो रसानुद्बोधयितुं **वेणुं क्वणन्** तान् पुष्टीकरिष्यन् स्मितपूर्वकं यत् **कटाक्षनिरीक्षणं** तेनास्माकं **चित्तं क्षिणोति** पीडयति. काममुद्बोधयित्वा पश्चाद् रमते. एवं सर्वत्र सौख्यदातारं विना **कथं भवेम** कामवस्थां प्राप्स्यामः ! ॥३०॥

एवमुपालभ्य पूर्वं रोदने प्रादुर्भूत इति रोदनं कृतवत्य इत्याह **एवमि**ति.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

एवं ब्रुवाणा विरहातुरा भृशं व्रजस्त्रियः कृष्णविषक्तमानसाः ।
विसृज्य लज्जां रुरुदुः स्म सुस्वरं गोविन्द दामोदर माधवेति ॥३१॥

अयमेकः प्रकारो निरूपितः, **एव**मनन्तप्रकारेण **ब्रुवाणा** जाताः, **विरहेण** भावनया **आतुराश्च** जाताः. यतो **व्रजस्त्रियः** सदानन्दासक्तचित्ताः, न विषयैः परितुष्यन्ति. ततो **लज्जां विसृज्य सुस्वरमुच्चै रुरुदुः**. शास्त्रतो देवादिभिः कृतं, भक्तिवशादस्माभिः कृतं, लोकतः स्वकृतं —सर्वमेव भगवान् दूरीकरोतीति सम्बोधनत्रयम्. **गोविन्दो**ऽभिषिक्तः **दामोदरो** वशीकृतः लक्ष्मीपतिश्च **माधवः** —एते धर्माः प्रायेण भगवता विस्मृता इति दयासिद्ध्यर्थं रोदनपूर्वकमुच्चारितवत्यः ॥३१॥

लेखः

योऽह्न इत्यत्र, **ज्ञानरूपा** इति, ज्ञाननिरूपका अलकाः, कीर्तिरूपत्वाद् **भक्तिनिरूपिकाः** स्रज इत्यर्थः. **उभयत्रापीति**, ज्ञाने भक्तौ चेत्यर्थः ॥३०॥

स्त्रीणामेवं रुदन्तीनामुदिते सवितर्यथ ।
अक्रूरश्चोदयामास कृतमैत्रादिको रथम् ॥३२॥
गोपास्तमन्वसज्जन्त नन्दाद्याः शकटैस्ततः ।
आदायोपायनं भूरि कुम्भान् गोरससम्भृतान् ॥३३॥
गोप्यश्च दयितं कृष्णमनुव्रज्यानुरञ्जिताः ।
प्रत्यादेशं भगवतः काङ्क्षन्त्यश्चावतस्थिरे ॥३४॥

स्त्रीणामिति. स्त्रीणां रोदने न गमिष्यतीति अभिप्रेत्य सूर्योदये जाते कालातिक्रमं च ज्ञात्वा स्वयम**क्रूरः** वसुदेवादिकार्यसाधकः कंसस्यापि मित्रकार्यं करिष्यन् **कृतमैत्रः** कृतसन्ध्यावन्दनः कृतावश्यको वा. "तिष्ठेदासूर्यदर्शनादि"ति सूर्योदयपर्यन्तं कर्मैव कृतवानिति लक्ष्यते, अग्निहोत्रादिसमयेषु वा न गन्तव्यमिति ज्ञापनार्थम्. **अथ** भिन्नप्रक्रमेण गोकुलवासनां परित्यज्य भिन्नवासनायामभिनिविष्टचित्तः **रथं** प्रेरयामास ॥३२॥

ततो गमनोत्सवो जात इति वक्तुमाह **गोपा** इति. **तं** भगवद्रथम् **अनु असज्जन्त**, तत एव हेतोः, **ततो** गोकुलाद् वा. **उपायनं गोरससम्भृतान् कुम्भांश्चादाय.** अवश्यगमने अत्यासक्तौ च तेषां हेतुरुक्तः, भगवत्परिपालितानां **रसो भगवतैव भोक्तव्य** इति ॥३३॥

ततो गोपिकारोदने पूर्ववद् भगवानन्तः प्रकट इति विशेषमनुक्त्वा पूर्ववदेव सिद्धत्वाद् अग्रिमवृत्तान्तमेवाह **गोप्यश्चे**ति चतुर्भिः.

गोप्यश्च भगवत्सङ्गे गताः सूक्ष्मरूपाः, स्थूलास्तु **दयितं** भर्तारं **कृष्णं**

लेखः

स्त्रीणामेवमित्यत्र, सन्ध्यावन्दनस्य सार्वदिकत्वाभावात् पक्षान्तरमाहुः **कृतावश्यको वे**ति. गुदस्य मित्रदैवतत्वात् तत्कार्यमावश्यकं **मैत्रं**, तदादि यस्य तादृशं कार्यं कृतं येनेति मूलार्थः. एवमर्थः प्रथमस्कन्धे व्याख्यातस्तदनुसारेण मयोक्तः ॥३२॥

गोप्यश्चेत्यस्याभासे **पूर्ववदिति**, अन्तर्गृहगताप्रसङ्गवदित्यर्थः. **इति हेतोरन्तःप्रकटे** भगवति सूक्ष्माणां सायुज्यरूपोऽपि स्थूलाभ्यो **विशेषः पूर्ववदेव** सिद्धः अतस्तमनुक्त्वा अग्रिमं रथप्रेरणानन्तरवृत्तान्तमेवाहेत्यर्थः. सायुज्यलक्षण-विशेषरूपस्तु पूर्ववृत्तान्त इति भावः. **गोप्यश्चेति अन्वसज्जन्ते**ति पूर्वेणान्वयः. अनुषङ्गं विवृण्वन्तश्चकारसूचितं सूक्ष्मस्थूलविभागमाहुः **भगवत्सङ्गे** इति. **सूक्ष्मं** द्वितीयदलानुभवेऽसमर्थं स्वरूपं यासां, याभ्योऽलौकिकसामर्थ्यरूपं मुख्यं फलं

तास्तथा तप्यतीर्वीक्ष्य स्वप्रस्थाने यदूत्तमः ।
सान्त्वयामास सम्प्रेष्यैरायास्य इति दौत्यकैः ॥३५॥
यावदालक्ष्यते केतुर्यावद् रेणू रथस्य च ।
अनुप्रस्थापितात्मानो लेख्यानीवोपलक्षिताः ॥३६॥

सदानन्द**मनुव्रज्य** कियद्दूरे सङ्गे गताः. ततो भगवता **अनुरञ्जिताः** स्वरागेण रक्ताः मध्यप्रदेशे प्रत्युत्तरं **भगवतः काङ्क्षन्त्यः**— किमस्माभिरागन्तव्यं स्वामिना वा आगन्तव्यमिति. नान्यः प्रकारोऽस्ति निस्तार इति **अवतस्थिरे** तथैव स्थिताः ॥३४॥

ततो भगवता यत्कृतं तदाह **ता** इति. याः स्थिताः याश्चनाविर्भूतस्वरूपाः तासामर्थे. **तथा** सन्तापयुक्ता **वीक्ष्य** स्वप्रस्थानमेव निमित्तमिति, यदुराजसिंहः यादवकार्यमपि कर्तव्यमिति, **सम्प्रेष्यै**रुत्तमदूतैः अहमे**वायास्य इति दौत्यकै**र्दूतवाक्यैः **सान्त्वयामास.** अत्र तासां वाक्ये भ्रमो जातः— भगवांस्तु दूतवाक्यद्वारा ''शब्दार्थरूपः ज्ञानरूपो वा आगमिष्यामी''त्युक्तवान् **दौत्यकैरायास्य** इति, ताः पुनः इदानीमेतदेव वचनं दूतकार्यमिति ज्ञातवत्यः. इदं भगवच्चरित्रमेव, अन्यथा न वक्तव्यं स्यात् ॥३५॥

तास्तथोक्ता अपि भगवत्सम्बन्धदर्शनार्थं तथैव स्थिता इत्याह **यावते**ति. शब्दादर्थो महानिति अर्थसम्बन्धार्थं तथा कथनम्. **यावता** कालेन **केतु**र्ध्वजः **लक्ष्यते**ऽपि सम्भावनयापि दृश्यते **यावद् वा रथस्य रेणु**रपि तावत्पर्यन्तं भगवत्सङ्गे **अनुप्रस्थापिता**न्तःकरणाः आधिदैविकरूपाः जीवस्वरूपा वा शरीरमात्रेण **लेख्यानीव उपलक्षिताः.** प्रतिमायां चलनं भवतीति तद्व्यावृत्त्यर्थमुक्तम्. आकृतिमात्रं

लेखः

भगवता न दत्तमिति यावत्, ता गोप्योऽन्तःप्रकटे भगवति सायुज्यं प्राप्ताः. ततो भगवति निवृत्ते तत्सङ्गे एव गता इत्यर्थः. देहादिसंघाते तु अमङ्गलतानिवृत्तये व्यवहारसिद्ध्यर्थं कश्चिज्जीवं भगवान् स्थापितवानिति ज्ञेयम्. **स्थूलास्त्विति,** अलौकिकसामर्थ्यदानाद् द्वितीयदलानुभवे समर्था इत्यर्थः ॥३४॥

तास्तथेत्यत्र **याश्चने**ति, **चने**त्यव्ययम्, **आविर्भूतं** सायुज्योपयोगि**स्वरूपं** यासां ता इत्यर्थः, **तासामर्थे यत् कृत**मिति पूर्वमाभासेनैवान्वयः ॥३५॥

यावतेत्यत्र, ''अत्रैव लोके प्रकटमि''त्यत्रोक्ता **आधिदैविकरूपा जीवस्वरूपा वा**[१] आत्मनः अनुप्रस्थापिता याभिरिति शेषः. अनेन पक्षेण सूक्ष्मा निरूपिताः, तथा चात्र व्यवस्थितविकल्पो ज्ञेयः. **प्रतिमायामिति,** स्थूलपक्षे चलनव्यावृत्त्यर्थं

---

१. लुप्तं कस्मिंश्चिदादर्शे.

ता निराशा निववृतुर्गोविन्दविनिवर्तने ।
विशोका अह्नी निन्युर्गायन्त्यः प्रियचेष्टितम् ॥३७॥
भगवानपि सम्प्राप्तो रामाक्रूरयुतो नृप ।
रथेन वायुवेगेन कालिन्दीमघनाशिनीम् ॥३८॥

तत्र स्थितं, स्वरूपं तु भगवता सह गतमिति वा ॥३६॥

ततोऽपि दूरं गते निवृत्ता जाता इत्याह **ता निराशा** इति, निवृत्ताशा जाताः, केनचित् निमित्तेनाद्यैव भगवान् निवर्तिष्यत इति. ततः कथं जीवितवत्य इत्याशङ्क्याह **प्रियचेष्टितं गायन्त्यः** भगवद्गुणा अपि भगवानेवेति तेनैव **विशोकाः अह्नी निन्युः**. रात्रिचरित्रगानेन रात्रिं दिवसचरित्रगानेन दिनमिति विशेषं वक्तुम् **अह्नी** इति द्विवचनेन निर्देश उक्तः. अनेन भगवतः भक्तोपेक्षादोषोऽपि निवारितः, भगवदनागमनेऽपि दोषाभावश्च. **अह्नी** इति जात्यभिप्रायः, गानेनैकरात्रिरिव सर्वा रात्रयो गता इत्यपि ज्ञापयितुम् ॥३७॥

यदा ता विशोका जाताः तदा भगवान् गोकुलवृत्तान्तमविचार्य अग्रे गत इत्याह **भगवानपीति**. यद्यप्यत्रैव स्थित्वा कंसं मारयितुं शक्तः गोपिकाश्च सङ्गे नेतुम्, एकेन रूपेण स्थित्वा रूपान्तरेण वा गन्तुं, तथापि मथुरामेव गत **इत्यपिशब्दः**. **रामाक्रूराभ्यां** सहित एकस्मिन् रथे स्थितः, तयोरप्रधानत्वाय तथोक्तिः, **नृप** इति सम्बोधनं राजलीलेयमिति ज्ञापयितुम्. **वायुवेगेन रथेने**ति योजनत्रयं चतुष्टयं वा घटिकामात्रेण समागत इति. सर्वे गोपाला नन्दादयः पश्चादेव स्थिताः, किञ्चित् प्रदर्शयितुं परं भगवानेव समागतः. अन्तर्वेद्यां गोकुलं वृन्दावनं गोवर्द्धन इति विमर्शः. कल्पादौ तदीया भागाः सांप्रतमन्यत्र जाता इति न प्रत्यक्षविरोधः. अन्या तु कल्पना न युक्ता. सारस्वतकल्पानुसारिणी चेयं कथा. एतावद्दूरमन्तर्वेद्यामेवागत्य मथुरानिकटे मथुरातः क्रोशद्वये सर्वत्रानिम्ना यमुना ह्रदेष्वेव गम्भीरेति **अघनाशिनीतीर्थे** समागत इति. साधारण्येन सर्वत्र वा कालिन्द्या विशेषणम्, अक्रूरस्य सर्वपापक्षये

लेखः

लेख्यपदमित्यर्थः. सूक्ष्मपक्षे प्रयोजनमाहुः **आकृती**ति, इति वा बोधनार्थमित्यर्थः. अनेन सूक्ष्मा निरूपिताः ॥३६॥

ता निराशा इत्यत्र **अनेने**ति, विशोकत्वकथनेन भगवत उपेक्षादोषो निवारितः, यतोऽलौकिकसामर्थ्यदानेन ता विशोका द्वितीयदलानुभवसमर्थाः प्राप्तमहाफला विधाय गतवानित्यर्थः ॥३७॥

तत्रोपस्पृश्य पानीयं पीत्वा मृष्टं मणिप्रभम् ।
वृक्षखण्डमुपव्रज्य सरामो रथमाविशत् ॥३९॥
अक्रूरस्तावुपामन्त्र्य निवेश्य च रथोपरि ।
कालिन्द्यास्तीरमागत्य स्नानं विधिवदाचरत् ॥४०॥
निमज्ज्य तस्मिन् सलिले जपन् ब्रह्म सनातनम् ।
तावेव ददृशेऽक्रूरो रामकृष्णौ समन्वितौ ॥४१॥
तौ रथस्थौ कथमिह सुतावानकदुन्दुभेः ?

भगवत्स्वरूपदर्शनयोग्यतासिद्ध्यर्थम् ॥३८॥

ततः प्रातःकाले भुक्तमिति तत्रागत्य यत् कृतवांस्तदाह **तत्रोपस्पृश्येति**.

तत्र कालिन्द्यां स्वयमुत्तीर्य लीलया **उपस्पृश्य** स्नात्वा **पानीयं पीत्वा मृष्टमु**ज्ज्वलं विरजत्वात्, स्वान्तःस्थितमप्यक्रूरं पावयित्वा अन्यानप्यपेक्षितान्. **मणिप्रभमिति** इन्द्रनीलश्यामं सर्वप्रकाशकमन्तःप्रविष्टमिति, तत्रत्यानां [1]शुद्धिवद् ज्ञानमपि जनयतीति ज्ञापयितुम्. ततो **वृक्षखण्डं** वृक्षसमूहं वैष्णवच्छायां समाश्रित्य बलभद्रसहितः पुनः रथारूढो जातः. अग्रे किञ्चित् कर्तव्यमिति छायायां रथे उपविष्ट इत्यर्थः ॥३९॥

ततोऽक्रूरः प्रत्यहं नद्यामागन्तुमसमर्थः दुर्लभत्वाद् यमुनायाः तत्र स्नात्वा गमिष्यामीति स्नानार्थं प्रवृत्त इत्याह **अक्रूर** इति. **तौ** रामकृष्णौ **आमन्त्र्य** "स्नानार्थं गमिष्यामी"ति प्रार्थयित्वा बालकाविति इतस्ततः क्रीडन्तौ **रथोपरि निवेश्य** उपवेश्यैव "अत्र स्थातव्यमि"त्युक्त्वा **कालिन्द्यास्तीरे** पुनः **समागत्य विधिवत्** मृत्तिकास्नानं पुनः कर्तुं प्रवृत्तः, प्रातःकाले मृत्तिकास्नानस्य निषिद्धत्वात् ॥४०॥

तत्राघमर्षणजपः जले निमज्ज्य कर्तव्यः "हिरण्यशृङ्गमि"त्यादि. जले **निमज्ज्य तस्मिन् सलिले सनातनं** वेदात्मकं **ब्रह्म जपन्** तेन शुद्धान्तःकरणः **तावेव** रामकृष्णौ **ददृशे. समन्वितौ** मिलितौ, यथा जलमध्यस्थाः पदार्थाः दृश्यन्ते तथा तावपि दृष्टवान्. तस्मिन् स्थाने माया उद्घाटितेति सानुभावं भवति स्थानम्. भगवांश्च पुनः सर्वत्रैव वर्तते देशादिदोषाच्च न प्रतीयते, प्रदर्शितवांश्च तस्य सन्देहव्यावृत्त्यर्थम् ॥४१॥

तत्र तौ दृष्ट्वा सन्देहात् विचारयति **तौ रथस्थाविति**.

भगवतः सर्वात्मत्वं भगवत्त्वं च विस्मृत्याह **आनकदुन्दुभेः सुतौ तौ** मया **रथस्थौ** कृतौ **कथमिह** दृश्येते, कथं वा समागताविति? यदि केनचित् प्रकारेण

---

१. शुचिवद् इत्यपि पाठः.

तर्हि स्वित् स्यन्दने न स्त इत्युन्मज्ज्य व्यचष्ट सः ॥४२॥
तत्रापि च यथापूर्वमासीनौ पुनरेव सः ।
निमज्ज्य दर्शनं यन् मे मृषा किं सलिले तयोः ॥४३॥
भूयस्तत्रापि सोऽद्राक्षीत् स्तूयमानमहीश्वरम् ।
सिद्धैर्भुजङ्गपतिभिरसुरैर्नतकन्धरैः॥४४॥
सहस्रशिरसं देवं सहस्रफणमौलिनम् ।
नीलाम्बरं बिसश्वेतं शृङ्गैः श्वेतमिव स्थितम् ॥४५॥

मय्यन्यचित्ते समागतौ **तर्हि स्यन्दने न** भविष्यतः **इति** विचार्य **उन्मज्ज्य व्यचष्ट** दृष्टवान्. द्रष्टा **स** एवेति अभिज्ञानार्थमाह ॥४२॥

ततोऽत्रापि[1] दृष्टवानित्याह **तत्रापि चेति. यथापूर्वं** यथा स्थापितौ तथैव दृष्टवान्. तस्य पुनरेव जिज्ञासा उत्पन्नेत्याह **पुनरेव** स इति. निमज्ज्य **मे** सतः **यद्** भगवतो **दर्शनं** तत् **किं मृषेति**, अर्थाद् विमर्शोऽयम् ॥४३॥

ततो भूयः निमज्ज्य दृष्टवानित्याह **भूय** इति. प्रथमपर्याये भगवतो माहात्म्याज्ञानात् कल्पयित्वा शास्त्राप्रामाण्यं पुनरुन्मज्ज्य दृष्टवान्. ततोऽनुभवात् प्रामाण्यमपि कृत्वा पुनर्द्रष्टुं प्रवृत्त इति नास्य लौकिकालौकिकप्रमाणेषु प्रतिष्ठेति भगवान् विचार्य तं बोधयितुं स्वमाहात्म्यं प्रकटितवानित्याह **भूयस्तत्रापीति.**

स एवाक्रूरः **भूयो** दृष्टवान्. **तत्रापीत्यपि**शब्देन बहिर्जलमध्येऽपि. अथवा, **तत्रापि** दर्शने विशेषं दृष्टवान्— यः सङ्कर्षणः तं शेषत्वेन दृष्टवान् भगवन्तं तु शेषशायिनम्. तस्य नारायणत्वेनैव ज्ञानं युक्तं भवतीति न तु पुरुषोत्तमत्वेन, सन्देहनिवारणार्थमेवं प्रदर्श्यत इति. **सिद्धादिभिः स्तूयमानं** च दृष्टवान्. **सिद्धाः** सर्वे शेषाविष्टसङ्कर्षणसेवकाः तथा षष्ठे निरूपिताः. **भुजङ्गानां** सर्पाणां ये **पतयः** वासुकिप्रमुखाः तैरपि. असुराणामपि ये पतयः कालनेमिप्रभृतयः तैरपि. सर्व एव सङ्कर्षणस्य भक्ता इति सर्वे दैत्याः ससेवकाः अतस्तैः किं भयमिति प्रथमकक्षायामेव भयाभावो निरूपितः ॥४४॥

सङ्कर्षणं वर्णयति **सहस्रशिरसमिति**. रूपान्तरे प्रतीतिर्दृढा न भवतीति स्वरूपमेव प्रकटितवान्, **सहस्रं** शिरांसि यस्य. दैत्यानां कामरूपे तथा भवतीति तद्व्यावृत्त्यर्थं **देवमिति**. सर्वत्र शिरसि फणाः मुकुटानि च. एतादृशं शेषस्यैव रूपं भवति. अन्यदपि ध्यानार्थमाह **नीलाम्बरमिति**, तस्य ह्यावरणं कालरूपमिति. पुनस्तम इति बिसश्वेतता, शीतलं चिक्कणं **श्वेतं बिसमिति**. अन्यधर्मार्थमेव श्वेतता

१. ततस्तत्रापि इत्यपि पाठः.

तस्योत्सङ्गे घनश्यामं पीतकौशेयवाससम् ।
पुरुषं चतुर्भुजं शान्तं पद्मगर्भारुणेक्षणम् ॥४६॥
चारुप्रसन्नवदनं चारुहासनिरीक्षणम् ।
सुभ्रून्नसं चारुकर्णं सुकपोलारुणाधरम् ॥४७॥

निरूपिता, वर्णनार्थं तु फणैः कृत्वा श्वेताद्रिं कैलासमिव **शृङ्गैः** सहितं दृष्टवान्. **स्थितमिति** फणभागे उच्चत्वाद् उत्थितइव दृष्टः ॥४५॥

ततो दृष्टं भगवन्तं वर्णयति **तस्योत्सङ्ग** इति. **उत्सङ्गे** काये; कोमलत्वात् समत्वात् क्रमेण वर्तुलत्वेन सूक्ष्मत्वात् सर्वस्यैव शरीरस्योत्सङ्गतुल्यता. सुखशयनार्थं तथोक्तवान्, अन्यथा सर्पे शयनं भयानकं भवतीति **उत्सङ्ग**पदम्, **घनश्याममि**ति तप्तानां तापनाशकं, यथा आकाशे मेघः स्वाधार एव भवति तथा भगवानपि. **पीतं** यत् **कौशेयं** पट्टाम्बरं तदेव **वस्त्रं** यस्य. एतेषां स्वरूपं प्रयोजनं च पूर्वमुक्तम्. **पुरुषं** पुरुषाकारं, **चत्वारो भुजा** यस्य. **शान्तं** गुणातीतम्, उत्पत्तिस्थितिलयानां तदंशैरेव सिद्धत्वात्. **पद्मगर्भवद् अरुणे ईक्षणे** यस्य, मेघतुल्यतया प्रयोजनं निरूपितम्, वासः प्रमाणं, पुरुष इति मूलरूपता, "पूर्वमेवाहमिहासमि"ति निरुक्त्या. पुरुषार्थचतुष्टयं दातुं चतुर्भुजाभिव्यक्तिः, अन्तःकरणादिदोषाभावाय शान्तिः. दृष्ट्यैव तापहारित्वाय अरुणवर्णेक्षणत्वं, कंसवधार्थं च. **गर्भ**पदेन व्याजेनैव मारयिष्यति न प्राकट्येनेति निरूपितम् —एवं षड्गुणा निरूपिताः ॥४६॥

चारु मनोहरं **प्रसन्नं वदनं** यस्य, स्वरूपतः फलतश्च सर्वसुखदायि **चारु** योऽयं **हासः** तत्पूर्वकं **निरीक्षणं** यस्य. भक्तिज्ञानयोरुत्कर्षः सफलो निरूपितः. **शोभने भ्रुवौ** यस्य, **ऊर्ध्वा नासिका** च —कालासन्ययोः बहिरन्तःकार्ये निरूपिते. सर्वं भगवत्यस्तीति ज्ञापयितुं निरूपयति **चारू कर्णौ** यस्य, सर्वत्र

लेखः

बिसश्वेतमित्यत्र, **पुनस्तम** इति, स्वरूपं तमोरूपं, तस्याधिदैविकतमसः श्वेतत्वात् स्वरूपमपि तथेत्यर्थः. **अन्यधर्मार्थमि**ति, [1]शीतलत्वादिधर्मकथनार्थमित्यर्थः ॥४५॥

पद्मगर्भेत्यत्र, **प्रयोजनमि**ति फलमित्यर्थः. वाससो वेदरूपत्वात् प्रमाणत्वं, मूलरूपता प्रमेयरूपत्वं, पुरुषार्थदानेन [2]साधनरूपत्वम् —एवं क्रमेण फलप्रमाणप्रमेयसाधनरूपता निरूपितेति भावः ॥४६॥

---

१. शीतलत्वादिधर्मार्थम् इत्यपि पाठः. २. साधनरूपम् इत्यपि पाठः.

प्रलम्बपीवरभुजं तुङ्गांसोरःस्थलश्रियम् ।
कम्बुकण्ठं निम्ननाभिं वलिमत्पल्लवोदरम् ॥४८॥
बृहत्कटितटश्रोणि-करभोरुद्वयान्वितम् ।
चारुजानुयुगं चारुजङ्घायुगलसंयुतम् ॥४९॥
तुङ्गगुल्फारुणनख-व्रातदीधितिभिर्वृतम् ।
नवाङ्गुल्यङ्गुष्ठदलै-र्विलसत्पादपङ्कजम् ॥५०॥
सुमहार्हमणिव्रात-किरीटकटकाङ्गदैः ।

भगवानुत्तम उक्तः. **सुष्ठु कपोलौ अरुणवर्णौ अधरौ** यस्येति कामलोभावुत्तमौ निरूपितौ ॥४७॥

प्रकर्षेण प्रलम्बाः पीवराः स्थूला **भुजा** यस्य. दूरस्थाः स्थूलदृष्टयोऽपि पुरुषार्थान् प्राप्स्यन्तीति ज्ञापयितुं **तुङ्गावंसावुरःस्थलं** च तत्र **श्री**र्यासां, सर्वेषामेव सर्वं भारमूढ्वा सर्वं प्रयच्छतीति. सर्वविद्यात्मकं त्रिवलीयुक्तं कण्ठस्थानमिति **कम्बुवत् कण्ठो** यस्य. **निम्ना नाभि**र्यस्येति जगत्कर्तृत्वमस्य गूढमिति सुलक्षणत्वं च निरूपितम्. त्रिवलीयुक्तं पत्रवदश्वत्थपत्रवद् **उदरं** यस्य; कोमलता किञ्चिदुन्नतत्वं च निरूपितं, येन तद्वर्तिनः सर्वे सुस्था इति ॥४८॥

बृहत् स्थूलः **कटितटो** यस्य, **श्रोणि**रपि तथा ततोऽधोभागः स्त्रीणां नितम्बस्थानीयः, ततोऽप्यधस्तात् **करभवद् ऊरुद्वयेनान्वितमि**ति अनेकपादत्वं व्यावर्तयति. भूमिः कटितटरूपेति आधारबाहुल्यं निरूपितम्. ततोऽधस्तात् सर्वाङ्गेषु सौन्दर्यं निरूपयन् तथा वर्णयति, सर्वाङ्गेषु तस्य दृष्टिः पतितेति. **चारु जानुयुगं** यस्य, तथा **जङ्घायुगेन च संयुतम्,** एकस्यां जङ्घायामपरा [१]स्थाप्य तिष्ठतीति. अन्यथा विश्लेषे भक्तानां गतिर्भिन्ना भवतीति ॥४९॥

तुङ्गौ गुल्फौ अरुणा नखास्तेषां व्रातः समूहः तस्य **दीधितिभिः** कान्तिभि**र्वृतं,** नखकान्तयः सर्वाङ्गं व्याप्य तिष्ठन्तीति. **नवा अङ्गुलयः अङ्गुष्ठौ** च कमलदलप्रायाः **तैर्विलसत्** शोभायुक्तं **पादपङ्कजं** यस्य, सुसेव्यत्वाय चरणौ तथा निरूपितौ ॥५०॥

एवं सर्वाङ्गवर्णनमुक्त्वा आभरणानां वर्णनमाह **कटिसूत्रे**ति, **कटिसूत्रं**

लेखः

प्रलम्बेत्यत्र, अंसयोरेव भारवाहकत्वात् तयोस्तुङ्गत्वेन भारवहनमुक्तं, श्रीसत्त्वेन दानमुक्तमिति ज्ञेयम् ॥४८॥ षट्त्रिंशाध्यायव्याख्या समाप्ता ॥

---

१. संस्थाप्य इत्यपि पाठः.

कटिसूत्रब्रह्मसूत्र-हारनूपुरकुण्डलैः ॥५१॥
भ्राजमानं पद्मकरं शङ्खचक्रगदाधरम् ।
श्रीवत्सवक्षसं भ्राजत्कौस्तुभं वनमालिनम् ॥५२॥
सुनन्दनन्दप्रमुखैः पार्षदैः सनकादिभिः ।
सुरेशैर्ब्रह्मरुद्राद्यैर्नवभिश्च द्विजोत्तमैः ॥५३॥
प्रह्लादनारदवसु-प्रमुखैर्भागवतोत्तमैः ।
स्तूयमानं पृथग्भावैर्वचोभिरमलात्मभिः ॥५४॥

काञ्चिदाम रूपमर्यादानिमित्तं, **ब्रह्मसूत्रं** यज्ञोपवीतं नाममर्यादानिमित्तं, **हारो** मुक्तानां हृदये शोभाकरः, मुक्तान् जीवान् हृदये स्थापयतीति ज्ञापयितुम्. **नूपुरं** पादे, **कुण्डले** कर्णयोः, भक्तिशास्त्रं योगज्ञाने च समलङ्कृते. **एतैर्भ्राजमानम्.** आयुधानि वर्णयति **पद्मकर**मिति, एकस्मिन् करे पद्ममेतत् सर्वायुधसमम् अतः सर्वबुद्धिभ्रामकम् इति. ततः **शङ्खः** अपां तत्त्वं, पृथ्वी **पद्म**मिति, तेजश्**चक्रं**, **गदा** आसन्यरूपेति. एतानि बिभर्तीति **तथा.** लक्षणान्तराण्याह **श्रीवत्सो** दक्षिणावर्तरोमरेखा **वक्षसि** यस्य —इदमसाधारणं लक्षणम्. **भ्राजत् कौस्तुभ**रत्नं यस्य, शुद्धा जीवाः कण्ठे स्थिता इति. **वनमाला**युक्तम् इति कीर्तियुक्तम् ॥५१-५२॥

एवं लक्षणानि निरूप्य सेवकान् निरूपयति **सुनन्दे**ति.

सुनन्दनन्दादयः[१] अष्टौ द्वाःस्थाश्च **सनकादयः** आधिदैविका भक्ताः. **सुरेशादयः** इन्द्रप्रमुखाः अष्टौ लोकपालाः **ब्रह्मा रुद्रश्च आद्यौ** येषामेते ह्युत्तमसेवकाः. मनुष्यान् देवान् निरूप्य ऋषीन् निरूपयति **नवभिश्चे**ति, मरीच्यादयो नव (**द्विजोत्तमाः!**) ब्राह्मणश्रेष्ठा भगवत्कर्मपराः ॥५३॥

भगवद्भक्ता अप्याधिदैविकास्तत्र दृष्टा इत्याह **प्रह्लादे**ति. दैत्येषु **प्रह्लादः** श्रेष्ठः, **नारदो** देवेषु, **वसुः** भीष्मो मानुषेषु— त्रिविधा एव जीवाः. तत्र भक्ता एव मुख्या इति एतत्**प्रमुखैर्भागवतोत्तमैः स्तूयमानं** दृष्टवान्. तत्र स्तोत्रे सात्त्विकराजसतामसभावाः वक्तृनिष्ठा इति **पृथग्भावैः** स्तोत्राणि. स्तोत्रमपि न तदानीमेव कल्पयित्वा कथनरूपं किन्तु **वचोभिः** पूर्वसिद्धैः गद्यपद्यादिरूपैः. ननु वैकुण्ठे भगवत्सन्निधाने वा परमानन्दानुभवोऽस्तीति भोगं विहाय किमिति स्तोत्रं कुर्वन्तीत्याशङ्क्याह **अमलात्मभि**रिति, निर्मलान्तःकरणास्ते भगवत्पराः न तु भोगपराः ॥५४॥

ततो भगवतः सर्वकार्यसाधिका द्वादश शक्तयः ता अपि दृष्टवानित्याह

१. सुनन्दादयः इत्यपि पाठः.

श्रिया पुष्ट्या गिरा कान्त्या कीर्त्या तुष्ट्येलयोर्जया ।
विद्ययाविद्यया शक्त्या मायया च निषेवितम् ॥५५॥

विलोक्य सुभृशं प्रीतो भक्त्या परमया युतः ।
हृष्यत्तनूरुहो भावपरिक्लिन्नात्मलोचनः ॥५६॥

श्रियेति, **श्रीर्लक्ष्मीः**, श्र्यादिभि**र्निषेवितम्**. **पुष्टि**र्नाम यया सर्वे पुष्टा भवन्ति. सा यत्र न प्रविशति ते बह्वाहारा अपि न पुष्टा भवन्ति, एवं सर्वत्र. **गीः** सरस्वती प्रसिद्धा, **कान्तिः** काचित् प्रभा राज्याभिषेकादिषु प्रकटा जायते, अलङ्करणानि तच्छेषाण्येव. **कीर्तिः** प्रसिद्धा, सा यत्र न प्रविशति तत्र समानकर्मणापि न कीर्तिर्भवति. **तुष्टिः** सन्तोषात्मिका, यदभावे महानपि तृणवद् भवति. **इला** भूमिः, **ऊर्जा** सर्वसामर्थ्यरूपा, **विद्या** ज्ञानरूपा मोक्षदायिनी. **अविद्या** बन्धिका, निद्रादयोऽपि तद्भेदा एव. केचन मायाभेदा इत्याहुः. **शक्तिः** इच्छाशक्तिः, एषा सर्वनियामिका. **माया** सर्वभवनसामर्थ्यं व्यामोहिका चेति उभयविधापि परिगृहीता **च**कारेण. अनेन सर्वत्र[१] सर्वे भेदाः परिगृहीताः. तेन मुख्या द्वादश, अवान्तरभेदा असङ्ख्याता एव भवन्तीति निरुक्तं भवति.

आधार एव रूपं च आकारोऽङ्गानि चैव हि ॥(६)॥
अलङ्करणचिह्नानि सेवका द्विविधा अपि ।
शक्तयश्चेति भगवान् सप्तधा विनिरूपितः ॥(७)॥५५॥

एवं दृष्टवतो यद् जातं तदाह **विलोक्येति**. आदौ तादृशं दुर्लभं दृष्ट्वा **सुभृशं प्रीतः** ततः **परमया भक्त्या युतः**, ततो **हृष्यत्तनूरुहः**,

अन्तस्तोषस्तथा भक्तिर्भक्तिचिह्नानि चैव हि ।
दृष्टे भगवति ह्यासन् भक्तस्येति निरूपितम् ॥(८)॥

भावेन क्लिन्नमन्तःकरणं लोचने च यस्य —प्रेमोद्गमलक्षणमेतत्, ततो वैकल्यमर्थादुक्तं भवति ॥५६॥

---

१. सर्वत्रापि इत्यपि पाठः.

गिरा गद्गदयास्तौषीत् सत्त्वमालम्ब्य सात्वतः ।
प्रणम्य मूर्ध्नावहितः कृताञ्जलिपुटः शनैः ॥५७॥

॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥

ततो यत् कृतवांस्तदाह **गिरेति**, **गद्गदया** वाण्या **अस्तौषीत्**. **सत्त्वमालम्ब्ये**ति, निर्गुणावस्थां दूरीकृत्य सत्त्वावस्थावलम्बनं कृतवान्. यतः **सात्वतः** वैष्णवः ततः साष्टाङ्गं **प्रणम्य** वैकुण्ठ एवाभिव्यक्त इति जलाद्यभावाद् **अवहितः** सावधानो भूत्वा मनः सुस्थिरं विधाय **कृताञ्जलिपुटो** भूत्वा चिरकालं तूष्णीं स्थित्वा अल्पोद्गमसामर्थ्येऽपि स्तोत्रं कृतवानिति वक्तुमाह **शनैरि**ति. स्तोत्रे हि कृते भगवता प्रदर्शितं तस्य हृदयारूढं जातमिति ज्ञायते नान्यथेति सर्वत्र स्तोत्रव्यवस्था ॥५७॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां
दशमस्कन्धविवरणे षट्त्रिंशाध्यायविवरणम् ॥

॥ इति षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥

॥ पञ्चमः स्कन्धादितः सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥

सप्तत्रिंशे तु सन्तुष्टः स्तोत्रं चक्रे मनोहरम् ।
चतुर्धा ज्ञातमाहात्म्य इति सिद्धान्त ईर्यते ॥(१)॥
स्वरूपेण प्रमाणेन युक्त्या वस्तुस्वरूपतः ।
अवतारफलैश्चैव सर्वस्यैव विनिर्णयः ॥(२)॥
राजसे स्तोत्रकर्ताऽयं मध्यमो विनिरूप्यते ।
उत्तमे नारदो वक्ता वसुदेवादयस्तथा ॥(३)॥
यस्य यस्य यथा भावस्तेन तादृक् निरूप्यते ।
सर्वं युक्तं भगवति न सर्वः सर्व एव च ॥(४)॥

॥ अक्रूर उवाच ॥

नतोऽस्म्यहं त्वाखिलहेतुभूतं नारायणं पूरुषमाद्यमव्ययम् ।

तत्र प्रथमं स्वरूपं कीर्तयन् नमस्करोति **नतोऽस्म्यहमि**ति. **त्वां** साक्षादग्रे आविर्भूतम्. कनिष्ठशङ्का तु नास्त्येव यतो**ऽखिल**लोकस्यापि जगतस्त्वं **हेतुः**. अखिलहेतुत्वे उपपत्तिं प्रमाणं चाह **नारायणमि**ति— आदौ ब्रह्माण्डे नारायणादेव सर्वं जातमिति सर्वलोकप्रसिद्धं, श्रुतिश्च "पुरुषो ह वै नारायणोऽकामयते"ति. तथा पुरुषसूक्ते, तदर्थमेव **पुरुषमि**त्याह. नैतावन्मात्रपरत्वमिति वक्तु**माद्यं पुरुषमिति**, प्रकृतिभर्तारम्. तस्यापि मूलभूतमिति वक्तु**मव्ययम**क्षररूपं निरूपयति. अथवा ब्रह्माण्डमध्यस्थितजगत एव कारणत्वेन भगवान् निरूप्यते, तादृशमेव रूपं प्रकटितमिति. तत्रैवाद्यता व्यष्ट्यपेक्षया मूलरूपता अविनाशित्वं च. लोके कर्तृत्वादिधर्माः तथा भवन्तीति क्षीणत्वादिव्यावृत्त्यर्थम् अक्षयबीजत्वार्थं वा

लेखः

सप्तत्रिंशे, कारिकासु **स्वरूपेणे**ति, आद्यं द्वाभ्यां, द्वितीयं नवभिः, तृतीयं चतुर्भिः, ततश्चतुर्थमिति विभागः (२). **उत्तमे** इति, उत्तमे स्तोत्रे **नारदो वक्ता** निरूपित इति शेषः (३). एवं विभेदे हेतुमाहुः **यस्य यस्ये**ति. तर्ह्यन्यथानिरूपणाद् दोषः स्यादित्यत आहुः **सर्वमि**ति. इदं विशदयन्ति **न सर्वः**, तदतिरिक्तत्वात्, **सर्व एव** सर्वरूपोऽपीत्यर्थः (४).

नतोऽस्म्यहमित्यत्र, **तथा भवन्तीति**, कर्ता व्यापाराविष्टः क्रमेण क्षीणो भवतीति **कर्तृत्वादिधर्माः** क्षयहेतवो **भवन्ती**त्यर्थः ॥१॥

यन्नाभिजातादरविन्दकोशाद् ब्रह्माविरासीद् यत एष लोकः ॥१॥
भूस्तोयमग्निः पवनः खमादिर्महानजादिर्मन इन्द्रियाणि ।
सर्वेन्द्रियार्था विबुधाश्च सर्वे ये हेतवस्ते जगतोऽङ्गभूताः ॥२॥
नैते स्वरूपं विदुरात्मनस्ते ह्यजादयोऽनात्मतया गृहीताः ।

अन्वयपदम्. जगत्कर्तृत्वमेव येन प्रकारेण तमाह **यन्नाभिजातादिति,** यस्य भगवतो **नाभेर्जाताद् अरविन्दकोशात्** कमलमुकुलात् पश्चाद् विकसितात् तत्र स्थितो भ्रमर इव **आविरासीद् ब्रह्मा, यतो** ब्रह्मणः सकाशाद् **एष लोकः** सर्वोऽपि प्रपञ्चः ॥१॥

एवं जगत्कारणत्वमुपपाद्य कार्यकारणयोर्वैलक्षण्यसिद्ध्यर्थं भगवतो नित्यमुक्तत्वं जीवानां तत्कृपया तथात्वमिति वक्तुं कार्यभूतप्रपञ्चस्य स्वरूपमाह **भूस्तोयमिति.** एतस्य वा मूलभूतत्वख्यापनाय तत्त्वान्येतस्मादेवोत्पन्नानीत्याह **भूस्तोयमिति.** मूलभूतानि चेद् एवं परमिति ज्ञातव्यम्. एवं क्रमस्तत्र न विवक्षितः प्रथमपक्षे तु विवक्षित इति गणनार्थं वा स्थूलात् सूक्ष्मे बुद्धिनिवेशनार्थं खान्तानि पञ्चभूतानि. **आदिरहङ्कारः, महान्** महत्तत्त्वम्, **अजा** प्रकृतिः, **आदिः** पुरुषः. ततो **मनः,** मनसा पुरुषः सर्वं करोतीत्याधिदैविकमनोविवक्षया व्युत्क्रमेणापि निरूपितम्. **इन्द्रियाणि च**काराद् बुद्धिः प्राणश्च. ततः **सर्वेन्द्रियार्था** गन्धादयः वागादयश्च, **च**कारात् तदवान्तरभेदाः स्त्र्यादयश्च. किं बहुना, सर्व एव विषयाः घटादयः स्रगादयश्च, **च**कारात्तज्जनितानि सुखादीनि —एते हि **सर्वे** यद्यपि **जगतो हेतवः** तथापि **ते** [१]अङ्गाज्जाताः अक्षरात्, तस्यैवाङ्गत्वश्रुतेः "ब्रह्म पुच्छमि"त्यादौ. अतः कारणात् त्वमेव जगद्धेतुरिति स्वरूपेण माहात्म्यमुक्तम् ॥२॥

प्रमाणेन वक्तव्यमित्याकाङ्क्षायां वेदातिरिक्तं प्रमाणं नास्तीति वक्तुं ब्रह्मादीनामपि इदमित्थतया ज्ञानाभावमाह **नैते स्वरूपमिति.** अथवा एते तव पुत्राः पौत्रा वा कथं न मुक्ताः, यद्येते एवामुक्ताः कथमन्यो मुक्तो भविष्यतीत्याशङ्क्य तेषाममुक्तौ अभिमानादज्ञानं कारणमित्यभिप्रायेणाह **नैते स्वरूपं विदुरिति.** अवश्यं ज्ञातव्यमिति बोधनार्थम् **आत्मन** इति. यद्यपि त्वमात्मा तथापि आत्मत्वेन त्वां न गृहीतवन्त इति. **अनात्मतया गृहीताः** कर्तरि क्तः. ते वा त्वया कृपया आत्मत्वेन न **गृहीता** इति. **अजादयः** अक्षरादयः पुरुषादयो वा **ते रूपं न विदुः.** ब्रह्मादयो

लेखः

भूस्तोयमित्यत्र, मूलभूतानि चेदिति, एतानि चेदस्मादुत्पन्नानि तदेदं रूपं परमेवेत्यर्थः ॥२॥

---

१. अंशाद् इति स.पाठः.

अजोऽनुबद्धः स गुणैरजाया गुणात् परं वेद न ते स्वरूपम् ॥३॥
त्वां योगिनो यजन्त्यद्धा महापुरुषमीश्वरम् ।
साध्यात्मं साधिभूतं च साधिदैवं च साधवः ॥४॥

हि प्रमाणपरा ज्ञास्यन्तीति विज्ञाय तेषामपि ज्ञानाभावमाह **अजोऽनुबद्ध** इति. **अजो** ब्रह्मा **अजायाः** प्रकृतेः सृष्टिरूपायाः **गुणैः** कर्तृत्वादिधर्मैः सत्त्वादिभिर्वा **अनुबद्धः** स्वासक्त्या बद्धोऽपि भगवदिच्छया वा पुनस्तैरनुबद्धः, अतो **गुणात् परं** पृथग्भूतं गुणनियामकं वा **ते रूपं न वेद.** न हि गृहे बद्धः गृहादन्यत्र स्थितं परिपश्यति, अतः परिच्छिन्नमेव मन्यते तस्मान्न मोक्ष इति. यदि तेऽपि न जानन्ति कथमन्यो ज्ञास्यतीति. अतो यः कश्चनैवं भविष्यति स न ज्ञास्यति, यः पुनस्त्वत्कृपया त्वां ज्ञास्यति स एव कृतार्थो भविष्यतीति नालौकिकं किञ्चित् ॥३॥

तर्हि कथं ज्ञानोपाय इति चेत् तत्रोच्यते— अज्ञात्वापि यथारुचि शास्त्रानुसारेण भगवान् सेव्यः, ततो ज्ञापयिष्यतीत्यभिप्रेत्य सर्व एव त्वां स्वाधिकारानुसारेण तत्तद्रूपं सेवन्त इत्याह **त्वां योगिन** इति षड्भिः सप्तभिर्वा, विशेषसामान्यप्रकारेण.

तत्रादौ योगिनः सर्वोपेक्षिणः मोक्षपरा इति तान् गणयति. यद्यपि योगे चित्तवृत्तिनिरोधे आत्मस्फूर्तिः फलमिति ध्यानार्थमेव भगवद्रूपमिति न ते भगवदुपासकाः, तथाप्यङ्गत्वेनेश्वरप्रणिधानमुक्तं, शास्त्रं वा नापेक्षत इति विरुद्धांशोऽग्रे त्यक्तव्य इति **योगिनोऽपि त्वामेव यजन्ति. अद्धा** साक्षात्, ते ह्यन्तरुपासकाः अतो देहादिभिर्न व्यवहिताः. तेषां मते पुरुष ईश्वरः साकारः सर्वजीवविलक्षणः अस्तीति नास्त्यत्र साङ्ख्ययोगयोरीश्वरस्य साकारत्वं निराकारत्वं च (वा!). स्थापितं तदाह **महापुरुषमीश्वर**मिति, अन्तर्बहिर्नियामकं च. **साधवः** पुनः सदाचाराः स्मार्तधर्मपराः भगवन्तमाश्रयरूपं मन्यमानाः आध्यात्मिकादिभेदत्रयं तदधीनमेवेति त्रितयसहित एव भगवानित्याहुः **साध्यात्म**मध्यात्मसहितमेवम**धिभूत**सहित**मधिदैव**-सहितमिति. अन्यथा कर्मणा बन्ध एव स्यात्. एवं सति करणं कर्ता प्रेरकश्च भगवदधीन इति नापराधोऽन्यस्य भवति ॥४॥

एवमपेक्षितम् आन्तरबाह्यधर्मपरान् स्मार्तान् निरूप्य श्रौतान् निरूपयति **त्रय्ये**ति. श्रुतौ पक्षत्रयं काण्डत्रयभेदात्, तत्र कर्ममार्गे त्रयी प्रधानम्, उपनिषदो ज्ञानमार्गे, उपासनायां तु प्रणवादिमन्त्राः, तत्क्रमेण त्रयमाह. सर्वेषामेव भगवज्ज्ञानोपयोग इत्यवोचाम. मन्त्रभेदेन वेदानां त्रैविध्यं— ऋचः सामानि यजूंषीति, तदुपयोगि ब्राह्मणं च. बाह्यक्रिया वा यजुषा क्रियते, आन्तरी साक्षाद्देवतायै द्रव्यसमर्पणादिरूपा

त्रय्या च विद्यया केचित् त्वां वै वैतानिका द्विजाः ।
यजन्ते विततैर्यज्ञैर्नानारूपामराख्यया ॥५॥
एके त्वाखिलकर्माणि संन्यस्योपशमं गताः ।
ज्ञानिनो ज्ञानयज्ञेन यजन्ति ज्ञानविग्रहम् ॥६॥
अन्ये च संस्कृतात्मानो विधिनाभिहितेन ते ।
यजन्ति तन्मयास्त्वां वै बहुमूर्त्येकमूर्तिकम् ॥७॥

ऋचा क्रियते, ततो देवतायाः फलदानार्थं हविर्ग्रहणार्थं च साम्ना स्तूयते. एवं प्रकारेण **वैतानिकाः** यज्ञवितानपराः यज्ञरूपं **त्वां विततैः** विस्तीर्णैः सहस्रसंवत्सरान्तैः नानाविधैर्**यज्ञैः यजन्त** इति सर्वत्र सम्बन्धः. चकारादङ्गोपाङ्गादिभिः सह, ज्ञानेनापि सहेति. **केचिद् द्विजा** इति जन्मकर्मावदाताः श्रोत्रियाः, न तु सर्वेषां तत्राधिकार इति. ननु तत्रेन्द्रादय एवेज्यन्ते न तु भगवानित्यभिप्रेत्याह **नानारूपेति**, नानाविधानि रूपाणि येषा**ममराणा**मिन्द्रादीनां तेषा**माख्यया.** आधिदैविकत्वाद् भगवत एव तन्नामेति वा, तेषामाख्यया भगवानेवेज्यते. वस्तुतस्त्वङ्गप्रायास्ते. यथा राज्ञः मुकुटोष्णीषादिनिर्माता सेवक एव भवति, यद्यपि शिरस एव परिचर्यां करोति, एवं कर्णादिष्वपि, तथापि राजसेवक एवोच्यते न त्वङ्गसेवक इति. तथा प्रकृतेऽपि, "इन्द्रादयो बाहव" इत्यादिभिरङ्गत्वश्रुतेः. अतो भगवानेवेज्यते ॥५॥

एकेति, अन्ये पुनः सर्व**कर्माणि** त्यक्त्वा **उपशमं गताः** चित्तस्य परमां शान्तिं प्राप्य **ज्ञानिनो** भूत्वा ब्रह्मात्मत्वस्फूर्तियुक्ताः आत्मयाजिनो भूत्वा ज्ञानरूपमेव यज्ञं कुर्वन्तः. **ज्ञानयज्ञो** नाम आत्मानमेव चिद्रूपं यज्ञरूपेण परिकल्प्य भगवते समर्पयन्ति. भगवत्प्रीतिसाधकत्वाद् वा ज्ञानमेव **यज्ञ**शब्देनोच्यते. अथवा जरामर्यादा-दिप्रकाराः ज्ञानयज्ञाः. तत्र इज्योऽपि ज्ञानरूप एवेत्याह **ज्ञानविग्रह**मिति ॥६॥

औडुलोमिवद् उपासकानाह **अन्ये चे**ति. ते हि स्वात्मानं भगवन्तं च भिन्नमभिन्नं च मन्यन्ते "नारुद्रो रुद्रमर्चयेदि"त्यादिवाक्यैः, अत आह **अन्ये** भिन्नाः चकारादभिन्ना अपि **संस्कृतात्मानो** दीक्षादिभिः शोधितसङ्घाताः, गुरुणा **अभिहितेन** मार्गेण. **ते** प्रसिद्धाः तत्तत्प्रकारेणैव तत्तद्देवतामन्त्रोपासकाः. ततस्**तन्मया** भूत्वा उपास्यदेवतया व्याप्तस्वरूपा भूत्वा **त्वा**मेव. **वै** निश्चयेन, नात्र तिरोहितमिव. **बहुमूर्त्या** मत्स्यकूर्मादिरूपैः **एकमूर्तिकम्** एकस्वरूपमेव **यजन्ति,** सर्वे हि विष्णूपासका इति. अत्र शैवादयोऽपि भगवन्निष्ठा एवेति ज्ञातव्याः. उपासनायां हि मन्त्र एव प्रधानं, स मन्त्ररूपः यज्ञवदेक एव, इन्द्रादिवत् तत्तदभिमानिन्यो देवता इति. ततः पञ्चविधैः

त्वामेवान्ये शिवोक्तेन मार्गेण शिवरूपिणम् ।
बह्वाचार्यविभेदेन भगवन् समुपासते ॥८॥
सर्व एव यजन्ति त्वां सर्वदेवमयेश्वरम् ।
येऽप्यन्यदेवताभक्ता यद्यप्यन्यधियः प्रभो ॥९॥

अनेकविधैर्वा मन्त्रैः उपासनामार्गसिद्धो भगवानेक एवोपास्यते. क्षुद्रोपासकांश्चाग्रे वक्ष्यते भिन्नप्रकारसिद्धांश्च ॥७॥

किञ्च शिवरूपोऽपि त्वमेवेति शैवा अपि त्वामेवोपासत इत्याह **त्वामेवे**ति. **अन्ये** उपासकेभ्यो भिन्नाः शिवशास्त्रानुसारिणः तामसे कल्पे शिवरूपेण विष्णुस्तिष्ठतीति शैवास्तमेव पक्षमाश्रित्य स्वभावरुच्या तथोपासते. **शिवोक्तो मार्गः** शैवपञ्चरात्रे पाशुपतादौ च प्रसिद्धः. तत्र **शिवरूपी** विष्णुरेव, केचिदावेशिनमाहुः. तत्र **बहवश्चाचार्याः** महापाशुपत-पाशुपतादिभेदभिन्नाः. **भगवन्नि**ति सम्बोधनाद् यदा वैराग्यगुणप्राधान्येन कार्यं करोषि तदा शिवरूपो भवसीति ज्ञापितं, सम्यगेवोपासत इति ॥८॥

एवं षड्विधान् निरूप्य सामान्येन क्षुद्रोपासकानाह **सर्व एवे**ति. किं बहुना, क्षेत्रपालाद्युपासका अपि **त्वामे**वोपासते, यतस्त्वं **सर्वदेवमयः** तेषाम**पीश्वरः**,''अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता चे''ति वाक्यात्. **सर्वदेवमयश्चासावीश्वरश्चे**ति. ननु बुद्धिस्तेषां न भगवत्परेति कथं सर्वेषां भगवदुपासकत्वमित्याशङ्क्याह **येऽप्यन्यदेवताभक्ता** इति. वयमात्मव्यतिरिक्तस्य विष्णुव्यतिरिक्तस्य च देवतान्तरस्योपासका इति **यद्यप्ये**षाम**न्यबुद्धिः** तथापि उपास्यो महानिति मत्वा हि तम् उपासते न त्वस्मदुपास्यो न किञ्चित्कर इति, अन्यथा नोपासीरन्, न हि कश्चिद्दीनमप्रयोजकं ज्ञात्वा कञ्चनोपास्ते. परं भ्रमादुपासना भवति. भ्रमे तु भगवद्धर्मा एव तत्रारोपिता इति. भगवानेव सेव्यते, आरोपस्य तुल्यत्वात्. अबुद्धिपूर्वकोऽयमिति विशेषः. योऽपि भ्रमाद् रजतं जानाति सोऽपि रजतज्ञानवानेव, अन्यथा अनुव्यवसायोऽपि भ्रान्तः स्यात्. यदुक्तं भगवता ''न तु मामभिजानन्ती''ति तद्विधिपरत्वेन, ''अविधिपूर्वकमि''ति वचनात्. प्रतिमादावपि भगवानारोप्यते तद्धर्मांश्च. तथा तत्तदुपासका अपि स्वसेव्ये भगवत्त्वं तद्धर्मांश्चारोपयन्ति. परं विध्यभावात् न तस्य ज्ञानजनकत्वं किन्तूद्देश्यफलमेव. अतो भगवदज्ञानात् तेषां संसार एव स्थितिरिति वदता भगवता विधिमार्गो मुख्यतया स्थापितः, न त्वविहितो मार्गो निन्दितः, अन्यथा ''मामेव यजन्ति'', ''अहं हि सर्वयज्ञानां'', ''लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तानि''ति न वदेत्. तस्मात्

यथाद्रिप्रभवा नद्यः पर्जन्यापूरिताः प्रभो ।
विशन्ति सर्वतः सिन्धुं तद्वत् त्वां गतयोऽन्ततः ॥१०॥
सत्त्वं रजस्तम इति भवतः प्रकृतेर्गुणाः ।
तेषु हि प्राकृताः प्रोता आब्रह्मस्थावरादयः ॥११॥

विधिस्तुतिपरमेवैतद्वाक्यम्, अतः सुष्ठूक्तं **येऽप्यन्यदेवताभक्ता यद्यप्यन्यधियः** तथापि **त्वामेवो**पासते इति. नन्वेवं भ्रमं भगवानुत्पाद्य किमित्येवं फलं प्रयच्छति ? कथं सर्वानिव नैकविधान् करोतीत्याशङ्क्याह **प्रभो** इति, स हि सर्वप्रकारसमर्थः, तथापि च करोत्येव च नानाप्रकारान् ॥९॥

ननु तत्तदुपासकानां तत्तद्देवतासायुज्यस्योक्तत्वात् कथं प्रमेयबलविचारेण तेषां गत्यभाव इति चेत् तत्राह **यथाद्रिप्रभवा** इति. साधनपरं चैतद्वाक्यम्, "आकाशात् पतितं तोयं यथा गच्छति सागरं, सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रति गच्छती"ति वाक्यात्. प्रमेयबले च तेषां भगवत्सायुज्यमेव यदि निष्कामाः. परम्परा कालविलम्बश्च भवति, यथा भूतोपासकाः भूतसायुज्यं प्राप्नुवन्ति ततो भूतानि महादेवसायुज्यं महादेवो भगवत्सायुज्यमिति. एवं विहितानामविहितानां वा साक्षात् परम्परया वा भगवत्सायुज्यमेव फलमिति. यथा सर्वासामेव पर्वतप्रभवानां नदीनां मेघैरापूर्यमाणानां सिन्धुरेव प्रवेशस्थानं, चतुर्दिक्षु न त्वन्यः कश्चित् प्रवेशयोग्यो भवति; **तद्वदेव** नदीप्राया जीवगणाः सहजेन पर्वतजलेनागन्तुकेन वा वृष्टिजलेन पूरिता भवन्ति तथा विधिना अविधिना च पूरिता जीवा जन्मकोटिभिः भगवत्सायुज्यमेव प्राप्नुवन्ति. तथाभूतानामपि फलं साधयतीति ज्ञापनार्थं **प्रभो** इति, **गतयः** फलानि **अन्ततः** त्वय्येव **विशन्ति** ॥१०॥

किञ्च उत्पत्तिविचारेणापि त्वत्त एवोत्पन्नाः त्वय्येव विशन्ति त्वमेवेति कथं तेषां त्वत्सायुज्यं न भवेत्? न ह्यन्यः कश्चिदस्ति. तदाह **सत्त्वमिति**. त्वमेव प्रकृतिः अतो **भवतः प्रकृते**स्त्वदीयाया वा **सत्त्वं रजस्तम इति** त्रयो **गुणाः**. **तेषु** सर्व एव **प्राकृताः** प्रकृतिप्रकारेणोत्पादिताः **तेषु** गुणेषु **प्रोताः ब्रह्मावधिस्थावरान्ताः**. अतः सर्वेषामेव गुणे लयः, गुणाः प्रकृतौ, प्रकृतिस्त्वयि, त्वमेव वा ॥११॥

एवं [1]सूपपत्तिकं प्रमाणं भगवद्विषयकं सफलं निरूप्य प्रमाणतः प्रमेयतश्च महत्त्वं निरूप्य नमस्यति **तुभ्यमिति**. अन्यथा महत्त्वं हृदयारूढं नेति शङ्का स्यात् तदर्थं माहात्म्यमुक्त्वा नमस्कर्तव्यम्. **तुभ्यमे**तादृशाय **नमः**, ते **तुभ्यं** त्वदर्थमेव

१. सोपपत्तिकम् इत्यपि पाठः.

तुभ्यं नमस्तेऽस्त्वविषक्तदृष्टये सर्वात्मने सर्वधियां च साक्षिणे ।
गुणप्रवाहोऽयमविद्ययाऽऽसकृत् प्रवर्तते देवनृतिर्यगात्मसु ॥१२॥
अग्निर्मुखं तेऽवनिरङ्घ्रिरीक्षणं सूर्यो नभो नाभिरथो दिशः श्रुतिः ।
द्यौः कं सुरेन्द्रास्तव बाहवोऽर्णवाः कुक्षिर्मरुत् प्राणः बलं प्रकल्पितम् ॥१३॥
रोमाणि वृक्षौषधयः शिरोरुहा मेघाः परस्यास्थिनखानि तेऽद्रयः ।
निमेषणं रात्र्यहनी प्रजापतिर्मेढ्रन्तु वृष्टिस्तव वीर्यमिष्यते ॥१४॥

त्वमेव फलमित्यर्थः. एवं त्वन्नमस्कारे त्वमेव फलं भवसीति प्रार्थयति **अस्त्विति**. नन्ववतीर्णोऽहं तद्धर्मैर्व्याप्त इति किं मम नमस्कारेणेत्यत आह **अविषक्तदृष्टय** इति. न विषक्ता दृष्टिर्यस्य, क्वापि धर्मेषु भगवद्दृष्टिर्न विषज्जते, तत्र हेतुः **सर्वात्मन** इति, अन्यस्मिन् हि आसक्तिर्भगवांस्तु सर्व एव. आत्मासक्तिरुक्तैव, अनेन स्वापराधोऽपि परिहृतः. प्रमाणं चाह **सर्वधियां च साक्षिण** इति, सर्वबुद्धीनां द्रष्टा, अन्तर्बहीरूपत्वं चोक्तम्. चकारादात्मनः प्राणादीनां च. यो हि सर्वात्मा भवति तस्यान्याध्यासो न भवति, यो वा सर्वसाक्षी स कर्ता न भवति , यस्त्वेतादृशः स विषक्तदृष्टिर्न भवति क्वापि, अतो भगवति नान्यधर्मसम्बन्धः. अन्यधर्माभावाच्च. तर्हि कस्यापि न स्यादित्याशङ्क्य यस्याविद्या तस्य भवतीत्याह **गुणप्रवाह** इति, **अयं गुणानां प्रवाहः अविद्ययैव देवनृतिर्यगात्मसु** त्रिविधेषु सात्त्विकराजसतामसेष्वेव **प्रवर्तते**, न तु गुणातीते ब्रह्मणि. तेषां तु **असकृदेव** यावदविद्या न निवर्तत इति ॥१२॥

एवं निर्दोषत्वम् उक्त्वा माहात्म्यं निरूप्य नमस्कृत्य अवयवानां स्वरूपमाह **अग्निर्मुखमिति**. सर्वदेवतात्मको भगवानिति वक्तुं सर्वे अवयवाः देवतात्वेन निरूप्यन्ते— **योऽग्निः स ते मुखं, या अवनिः** भूमिः सा **ते अङ्घ्रिः, यः सूर्यः** स **ते ईक्षणं** चक्षुः, **नभस्त्वाकाशः नाभि**. एतानि महाभूतान्यपि भवन्तीति केवलं देवता एवाग्रे निरूप्यन्ते **अथो** इति. **दिशस्ते श्रुतिः** श्रोत्रं, **द्यौः** स्वर्गः **ते कं** शिरः, **सुरेन्द्रास्ते बाहवः, अर्णवाः** समुद्राः ते **कुक्षिः, मरुद्** वायुस्ते **प्राणः**. स्थूलरूप एवायं सूक्ष्मरूप इति ज्ञात्वा तथा निरूपयति न तु पुरुषोत्तममेनं जानाति. यत् किञ्चित् **प्रकल्पितं** लोके कृतिसाध्यं तत् ते **बलम्** ॥१३॥

रोमाणीति, वृक्षौषधयस्ते रोमाणि, मेघः शिरोरुहाः. ननु बाधितोऽयमर्थः कथमुच्यत इत्याशङ्क्य सर्वसमाधानार्थं च निरूपयति **परस्य त** इति, त्वं **परः** स्वराट् परं ब्रह्म वा. **अद्रयस्ते अस्थिनखानि** च. **रात्र्यहनी** तु प्रजापतेः संवत्सरात्मकस्य कालस्य **ते निमेषणं** निरीक्षणं, निमीलनं रात्रिरुन्मीलनमहरिति.

त्वय्यव्ययात्मन् पुरुषे प्रकल्पिता लोकाः सपाला बहुजीवसङ्कुलाः ।
यथा जले सञ्जिहते जलौकसोऽप्युदुम्बरे वा मशका मनोदये ॥१५॥
यानि यानीह रूपाणि क्रीडार्थं त्वं बिभर्षि हि ।

प्रजापतिस्ते मेढ्रं गुह्यमिन्द्रियम्. **वृष्टिस्तु तव वीर्यम्,** तुशब्दस्तु केशाम्बुत्वं व्यावर्तयति. ननु कथं साध्यसाधनयोर्विरुद्धरूपत्वमित्याशङ्क्य प्रमाणमाह **इष्यत** इति, प्रामाणिकानामियमिष्टिः. दिवि चलन्तीति मेघानां केशत्वं, वृष्टिः सर्वोत्पत्तिसाधनमिति रेतस्त्वं तस्य चोच्यते ॥१४॥

एवमवयवान् निरूप्य सर्वलोकाधारत्वं निरूपयति **त्वय्यव्ययात्मन्निति.** एतेषामाधारत्वेन उपचयापचयावाशङ्क्य **पुरुष**रूपे त्वयि "पातालमेतस्य हि पादमूलमि"ति न्यायेन **अव्ययात्मनि** सर्वे **लोकाः प्रकल्पिताः** विशेषेण रचिताः. भगवतो भारमाशङ्क्य दृष्टान्तमाह **यथा जले सञ्जिहत** इति— जले मत्स्यादिजीवास्तिष्ठन्तीति न तावतापि तस्य कश्चन भारो भवति, एवं भगवत्यपि सर्वे **लोकाः सञ्जिहते** संहतास्तिष्ठन्ति. अचेतनस्य जलस्य दृष्टान्तो विषम इति चेतनमाह **उदुम्बरे वा यथा मशका** इति— एकैकस्मिन् फले कोटिशो मशकाः तत्रैवोत्पन्नास्तत्र तिष्ठन्ति, एकत्र बहवश्च भवन्ति; यथा जलौकसां जलमेव स्थानं तथोदुम्बर एव मशकानामपि. एतदपि प्रत्यक्षसिद्धं न भवति, को वेदोदुम्बरस्य मशकैः क्लेशोऽस्ति न वेति, शरीरावयवेषु जीवानां स्थितौ तत्रोत्पन्नानामपि क्लेशो भवतीत्याशङ्क्य दृष्टान्तान्तरमाह **मनोमय** इति— मनोरथे यथा जीवा विषयाश्च मनसः सुखदा एव भवन्ति न तु भाररूपाः, तथा भगवत्यपि सुखार्थमेव **कल्पिताः** ते **लोका**स्तिष्ठन्ति न तु भाररूपा भवन्ति ॥१५॥

एवं भगवदवयवानां सर्वाधारत्वं सर्वदेवतारूपत्वं च निरूप्य तादृशस्य महतः लोके जुगुप्सितरूपेणावतरणं न युक्तमित्याशङ्क्य अवतारप्रयोजनमाह **यानि यानीति.** हे भगवन् नानाविधक्रीडार्थं जले स्थले अरण्ये सर्वत्र क्रीडनार्थं मत्स्यादिरूपाणि करोषि तावतापि न तेषां रूपाणां लोके निन्दा, किन्तु **यानि यानि रूपाणि त्वं बिभर्षि, क्रीडार्थं** कृतत्वात् तव नातीवादरः, तथापि **तैः** रूपैः

लेखः

रोमाणीत्यत्र, केशाम्बुत्वमिति, शिरोरुहाणां मेघत्वाद् वृष्टेः केशाम्बुत्वं सम्भावितं तद् व्यावर्तितमित्यर्थः ॥१४॥

तैरामृष्टशुचो लोका मुदा गायन्ति ते यशः ॥१६॥
नमः कारणमत्स्याय प्रलयाब्धिचराय च ।
हयशीर्ष्णे नमस्तुभ्यं मधुकैटभमृत्यवे ॥१७॥
अकूपाराय बृहते नमो मन्दरधारिणे ।
क्षित्युद्धारविहाराय नमः शूकरमूर्तये ॥१८॥

आमृष्टशुचः सर्वतो नाशितशोकाः सर्व एव **लोकाः ते यशो मुदा गायन्ति.** अतो लोकानां गानार्थं तव चरित्रं तेन च सर्वपुरुषार्थसिद्धिः. सर्वेषां दुःखनाशार्थमवताराणि चेत्युक्तं, **मुदा** गायन्तीत्यनेन चरित्राणां स्वतःपुरुषार्थता च निरूपिता ॥१६॥

यद्यप्यनन्तानि रूपाणि तथापि प्रसिद्धानि कानिचित् गणयन् महत्त्वख्यापनाय सर्वत्र नमस्यति **नमः कारणमत्स्याये**ति, **मत्स्याय** ते **तुभ्यं नमः**. ननु निन्दितो मत्स्यः किमिति भगवान् जात इत्याशङ्क्याह **कारणे**ति, यदा मत्स्या जाताः तदा बीजत्वेन कश्चिन्मत्स्यः पूर्वसिद्धः कारणत्वेनाङ्गीकर्तव्यः, अन्यथा मत्स्यानामुत्पत्तिर्न स्यात्. उदुम्बरादिषु मांसेषु वा जीवानामुत्पतौ कारणभूतरूपस्य तत्र स्थितिरवश्यमङ्गीकर्तव्या, अन्यथा कारणता भज्येत. अनेन जगति यावन्ति रूपाणि तावन्ति रूपाणि भगवतः कारणरूपाणीति न भगवतः कस्मिंश्चिद्रूपे गृहीते विगानं भवति. कारणार्थं वा, प्रलये सत्यव्रतरक्षा वेदोद्धारश्च कार्यं तदर्थं मत्स्य इति तस्मै नमः, तदपि रूपमुपास्यमिति. **प्रलयकालीनो योऽब्धिः** तस्मिंश्च**रती**ति चरित्रं सत्यव्रतरक्षात्मकम्. वेदोद्धारः रूपद्वयेन कृत इति हयग्रीवरूपं च कृतवानित्याह **हयशीर्ष्ण** इति, हयस्य शिरइव शिरोभाग एव, अङ्गं तु पुरुषरूपमेव. हयग्रीवावतारेण कृतं चरित्रमाह **मधुकैटभयोः मृत्यु**रिति, मधुकैटभौ तेन रूपेण हताविति. **मृत्यु**त्वात् स्वत एवोत्पन्नयोरपि वधे न कश्चिद्दोषः, अत्युपकारित्वात् तस्मै ते **तुभ्यं** सर्वदा **नमो**ऽस्त्विति प्रार्थयति ॥१७॥

कूर्मं नमस्यति **अकूपाराये**ति, **अकूपाः** अनिम्नाः **आरा** रेखा यस्येति कूर्मः योगप्राधान्यात् समुद्रवत् कूर्मस्यापि वाचकः **अकूपारः** शब्दः. समुद्रादप्यधिक इति जलचरत्वदोषपरिहारार्थमाह **बृहत** इति, अतिस्थूलाय. चरित्रमाह **मन्दरधारिण** इति, अमृतमथने मग्नं मन्दरं धृतवानिति. **क्षित्युद्धारार्थमेव विहारो** यस्येति वराहरूपत्वेऽपि न काचित् क्षतिः, अत एव रूपात् प्रथमतः चरित्रमुक्तम्. **शूकर**रूपा **मूर्ति**र्यस्य ॥१८॥

नमस्तेऽद्भुतसिंहाय साधुलोकभयापह ।
वामनाय नमस्तुभ्यं क्रान्तत्रिभुवनाय च ॥१९॥
नमो भृगूणां पतये दृप्तक्षत्रवनच्छिदे ।
नमस्ते रघुवर्याय रावणान्तकराय च ॥२०॥
नमस्ते वासुदेवाय नमः सङ्कर्षणाय च ।
प्रद्युम्नायानिरुद्धाय सात्वतां पतये नमः ॥२१॥
नमो बुद्धाय शुद्धाय दैत्यदानवमोहिने ।
म्लेच्छघ्नाय क्षत्रहन्त्रे नमस्ते कल्किरूपिणे ॥२२॥

नमस्त इति. **अद्भुतसिंहो**ऽर्धसिंहः अर्धं च नरः वचनप्रामाण्यात् स्तम्भाद् वा निर्गमादद्भुतत्वम्. चरित्रमाह सम्बोधनेन **साधुलोकानां** प्रह्लादादीनां **भयमपहन्ती**ति. यद्यपि वामनोऽपि नावताररूपं किन्तूपेन्द्र एव तथापि कार्यं तेन रूपेण कृतमिति **वामनाये**त्युक्तम्. **क्रान्तानि त्रिभुवनानि** पदक्रमैर्येन. **च**ेति बलिबन्धनादिकमपि कृतवान् ॥१९॥

नम इति, **भृगूणां पतये** भार्गवोत्तमाय परशुरामाय. चरित्रमाह **दृप्तं** यत् **क्षत्रं** तदेव दैत्यत्वादतिप्रवृद्धं **वन**रूपं जातं तत् **छिनत्ती**ति. **रघुवर्यः** रघुवंशोत्पन्नेषु श्रेष्ठो रामभद्रः. चरित्रमाह **रावणस्य अन्तकराये**ति. **च**कारादन्यदप्यनन्तमेव चरित्रं गृह्यते ॥२०॥

भगवांश्चतुर्मूर्तिरवतीर्ण इति भगवतः कृष्णस्यावतारे विशेषमाह **नमस्ते वासुदेवाये**ति. अत्रादिमध्यावसानेषु नमनम्. **सङ्कर्षण** आवेशमपि भगवान् करोतीति तदपि रूपं **च**कारेण परिगृहीतम्. चरित्रमाह **सात्वतां पतय** इति, समस्तभक्तानां **पतये** सर्वथा रक्षकाय. प्रार्थनाव्यतिरेकेणापि स्वकीयानां सर्वपुरुषार्थसिद्ध्यर्थमवतार इत्यर्थः ॥२१॥

अग्रे जायमानमाह **नमो बुद्धाये**ति. आर्षज्ञानेन यथा यथा पश्यति तथा तथा निरूपयति. भगवान् वा तं प्रति तथा तथा आत्मानं प्रदर्शयति. बुद्धो वेदादिनिन्दया विसदृशो भविष्यतीत्याशङ्क्याह **शुद्धाये**ति, सर्वदोषरहिताय. तर्हि किमर्थं तथोक्तवानित्याशङ्कां परिहरन् चरित्रमाह **दैत्यान् दानवांश्च मोहयती**ति. दैत्यदानवानां यो मोहः सोऽस्य वर्तत इति अयं चेत् न प्रकटीकुर्यात् तदा मोहो न भवेदिति. मत्वर्थीय **इन्**प्रत्ययः. कल्किनं नमस्यति **म्लेच्छघ्नाये**ति. **क्षत्रं** रक्षकत्वेन स्थितं हन्तीति क्षत्रघ्नः **क्षत्रहन्ता;** तदा क्षत्रियाः म्लेच्छरूपा इति **म्लेच्छघ्नाये**त्युक्तम्. द्वयं

भगवन् जीवलोकोऽयं मोहितस्तव मायया ।
अहं ममेत्यसद्ग्राहो भ्राम्यते कर्मवर्त्मसु ॥२३॥
अहं चात्मात्मजागार-दारार्थस्वजनादिषु ।
भ्रमामि स्वप्नकल्पेषु मूढः सत्यधिया प्रभो ॥२४॥
अनित्यानात्मदुःखेषु विपर्ययमतिर्ह्यहम् ।

भिन्नतया निरूपितवान् गुणदोषयोर्विपरीतत्वबोधनाय. **म्लेच्छा** ये सहजदैत्याः ते गुणवन्तोऽपि हन्तव्याः, क्षत्रियास्तु दोषवन्त एवेति. एवं प्रयोजनमुक्त्वा पश्चात् स्वरूपमाह **कल्किरूपिण** इति. कल्कस्येव निष्पीडितरसस्य चतुर्युगात्मकस्य कालस्य स्वरूपमस्मिन् वर्तत इति **कल्की.** न केवलं तस्यैव रूपं स्वस्मिन् प्रतिबिम्बितं प्रतीयते किन्तु अस्यापि पृथग्रूपत्वमुक्तम् ॥२२॥

एवं कियन्ति रूपाणि भगवतो नत्वा किञ्चित् प्रार्थयितुं सर्वेषामेव साधारणं दुःखं निवेदयति **भगवन्निति.** एतादृशेऽपि त्वयि सर्वदा जागरूके **लोकाः त्वन्मायया मोहिता** इति दुःखं प्राप्नुवन्ति. अन्यथा कथं दुःखं स्यात् ! **भगवन्निति** सम्बोधनं सर्वसामर्थ्याय. **अयं** सर्वोऽपि परिदृश्यमानो **जीवलोकः तवैव मायया** अनुल्लङ्घ्यया **मोहितः,** अन्यथा **अहं ममेति असति** दुष्टे देहादौ **ग्राहः** आग्रहो यस्य तादृशः कथं भवेत्? अत एव कर्ममार्गेषु उच्चावचेषु श्वयोन्यादिषु **भ्राम्यते** पुनः पुनः परिभ्रमति. यदि मायया मोहितो न स्यात् तदा सकृत् क्लेशं प्राप्य पुनरहंममाभिमानं न कुर्यात् ॥२३॥

तर्हि तव किमित्याकाङ्क्षायामाह **अहं चे**ति, यथा अन्ये मोहिताः एवम् **अहमपि** मोहितः. किञ्च मयि विशेषोऽप्यस्तीत्याह **आत्मात्मजे**ति, **आत्मा** देहः **आत्मजाः** पुत्राः **आगारं** गृहं **दाराः** स्त्रियो **अर्थो** धनं **स्वजनाः** बान्धवाः, तेषु सर्वेष्वेव सकृदवगतवैषम्योऽपि पुनः **पुनर्भ्रमामि.** न वा एते स्वरूपतः सन्तः नापि कार्त्स्न्येनाभिव्यक्ताः, अन्यथा तेषां कार्यम् आपाततोऽपि प्रकटं स्यात्. यतोऽहं **स्वप्नकल्पेष्वपि भ्रमामि** न केवलमहन्ताममतामात्रमपि, अतो **मूढः** सर्वापेक्षयापि. किञ्च न केवलं भ्रममात्रं किन्तु तेषु **सत्य**बुद्धिरपि जायते येन विचारेऽपि अन्यथाबोधेऽपि भ्रमो न निवर्तते. **प्रभो** इति सम्बोधनं, त्वं सर्वसमर्थः एतादृशमप्यसाध्यं साधयिष्यसीति ॥२४॥

ननु शास्त्राद् विवेक उत्पन्ने संसारस्यासारतां ज्ञात्वा स्वयमेव सर्वं त्यक्ष्यसि, किं मया कर्तव्यमित्याशङ्कायामाह **अनित्ये**ति. शास्त्रमप्युल्लङ्घ्य मम बुद्धिर्विपरीता जाता— **अनित्ये** सर्वत्र नित्यबुद्धिः, देहे दैहिके च **अनात्मनि** आत्मबाधके

द्वन्द्वारामस्तमोविष्टो न जाने त्वात्मनः प्रियम्[1] ॥२५॥
यथाबुधो जलं हित्वा प्रतिच्छन्नं तदुद्भवैः ।
अभ्येति मृगतृष्णां वै तद्वत् त्वाहं पराङ्मुखः ॥२६॥

आत्मबुद्धिः, देहादावेव **दुःखे** विण्मूत्रपूयस्थितौ सुखबुद्धिः, अतो ज्ञातमपि शास्त्रं नानुभवं बाधते. अतो **द्वन्द्वेष्वेव** सुखदुःखादिषु रागद्वेषादिषु वा **आरामो** यस्य तादृशो जातः. **ननु** कथमेवं भ्रमस्तत्राह **तमोविष्ट** इति, **तमो** महामोहः अज्ञानमेव वा. तर्ह्यस्य निवृत्तिः कदेत्याशङ्कायां त्वयि ज्ञाते प्रकाशो भवतीति निश्चित्य त्वज्ज्ञानमेव चक्षुषि विद्यमानतमसा न जायत इत्याह **न जान** इति. न हि स्वप्रकाशमपि सूर्यमन्धः पश्यति, तथा **त्वामपि आत्मानमपि प्रियं** परमानन्ददातारं सुगममपि प्रत्यक्षसिद्धमपि तथात्वेन **न जाने. आत्मनः परमिति** वा, नियन्तारम् ॥२५॥

ननु श्रुत्यनुभवौ परित्यज्य युक्तिमान् विवेकी कथं न जानातीत्याशङ्क्य दृष्टान्तेन स्पष्टयति **यथेति. अबुधो** मूर्खो जलार्थी सन् जलाशयोपरि तिष्ठन् कमलपत्रादिभिः **आच्छन्नं जलं** तृणपत्रादि समूहमेव ज्ञात्वा तददूरीकृत्य मध्यस्थितं **जलमगृहीत्वा** दूरे **मरुमरीचिकाजलं** पश्यन् **तदर्थमभिधावति, तद्वदेवान्तःस्थितं** भगवन्तम् अहङ्कारादिभि**स्तदुद्भवैराच्छन्नं** तददूरीकृत्य परमानन्दमननुभूय दुःखात्मके बहिर्विषये अभिधावति. **तद्वदहं त्वां हित्वा** विषयसुखार्थं गच्छामि. अत्र हेतुमाह **पराङ्मुख इति, पराक्** बहिरेव **मुखं** यस्येति. **मुखमत्र** प्रवृत्तिस्वभाव आत्मा, तस्य प्रतिनिधिरूपमिदं मुखं यदभिमुखस्तदेव च करोति. अतः शास्त्रादिद्वारा यदा अन्तर्मुखो भवति तदैव निकटे भगवन्तं प्राप्नोति. बहिर्जलप्राप्तिस्तु भगवदिच्छया प्रलयइव सर्वत्र भगवदभिव्यक्तौ भवति. यथैव वायं प्रदर्शयति तथैव स मन्यत इति स्वयमपि तथैव तं प्रत्यभिव्यक्त इति न काप्यनुपपत्तिः ॥२६॥

ननु जाते विवेके कथं मोह इति चेत् तत्राह **नोत्सहेऽहमिति.** मनो हि द्विःस्वभावं— क्रियाशक्तियुक्तं ज्ञानशक्तियुक्तं च. यथा विवेकेन शास्त्रेण च ज्ञानशक्तिरुत्पद्यते एवं योगेन क्रियाशक्तिरपि चेदुत्पाद्येत तदैकमुखं मनो भवति, अन्यथा बलिष्ठा क्रिया ज्ञानं बाधित्वा स्वकार्यमेव करोति. अत एव केचित् ज्ञानापेक्षया योगमेव प्रशंसन्ति, ज्ञानिभ्योऽपि अधिको मत इति भगवानप्याह. ज्ञानेच्छाप्रयत्नानामुत्तरोत्तरप्राबल्यं, तथैव मनोवाक्कायानामपि. तत्र कामादयो बाधकाः.

---
१. परम् इत्यपि पाठः

नोत्सहेऽहं कृपणधीः कामकर्महतं मनः ।
रोद्धुं प्रमाथिभिश्चाक्षैर्ह्रियमाणमितस्ततः ॥२७॥
सोऽहं तवाङ्घ्र्युपगतोऽस्म्यसतां दुरापं
तच्चाप्यहं भवदनुग्रह ईश मन्ये ।
पुंसो भवेद् यर्हि संसरणापवर्ग-
स्त्वय्यब्जनाभ सदुपासनया मतिः स्यात् ॥२८॥

तैः संसार एव मनः प्रवर्त्यति, योगादयस्त्वशक्या; न ह्यन्धकारे महति वायौ वृष्टौ च दीपः स्थापयितुं शक्यते. तत्राह **कृपणधीरिति, कृपणा** दीना बुद्धिर्यस्य. मनसो हि नियामिका बुद्धिः, सैवादौ **कृपणा** दीना विषयपरा; न हि चौरेणान्यः सन्मार्गे स्थापयितुं शक्यः. किञ्च **मनः** पुनः **कामकर्मभ्यां हतम्.** उत्कटेच्छा **कामः, तदनुगुणं च **कर्म,** ज्ञानं तु दुर्बलमसहायं कामकर्मभ्यां च हतं, न तु स्वच्छं; तद्भयेन तदनुगुणमेव भवति न त्वात्मानुगुणम्. अतो **रोद्धुमुत्साहमपि न करोमि** अशक्यज्ञाननिश्चयात्. किञ्च **प्रमाथिभिर्बलिष्ठैरिन्द्रियैः इतस्ततो ह्रियमाणम्,** अतः सर्वत्रैवाशक्तः केवलं शरणं गच्छामि बलिष्ठांस्तांश्च निवेदयामि स्वाशक्यत्वं च ॥२७॥

एवं सति यत् कर्तव्यं भगवतैव तत् चेत् क्रियेत, कृपया स्वव्रतविचारेण अस्मद्भाग्येन तस्यैव वा कार्यार्थं, तदैव निस्तारो नान्यथेत्यभिप्रायेणाह **सोऽहं तवाङ्घ्र्युपगतोऽस्मीति.** सर्वथा अशक्यसाधनः **सोऽहं तवाङ्घ्रिमुपगतः** दीनतया शरणं प्रविष्टः इदानी**मस्मि.** एतदपि शरणागमनमपि **असतां दुरापं,** ये असन्तः पूर्वोक्ताः विवेकरहिता अपि, विवेकेन त्वेतावत् सम्पाद्यत इति. किञ्च **भगवदनुग्रहमेव तत् मन्ये,** अन्यथा शरणागतो न भवेत् शरणागतो जात इति वा न भवेत्. यदि सङ्घातमनुगुणं कुर्यात् त्याजयेद् वा तदा शरणागतिः सिद्धेति ज्ञातव्यम्. अनुगुणपक्षस्तु ज्ञातुं सुगमः, त्याजनपक्षस्तु दुर्ज्ञेयोऽपि अनुभावेन

लेखः

सोहमित्यत्र, पूर्वोक्ता इति "भगवन् जीवलोकोयमि"त्यादिश्लोकैरुक्ता इत्यर्थः. **विवेकेन त्विति,** शरणं गच्छेयमित्येतावान् विवेको मय्यस्तीत्यर्थः. **किञ्चेति,** वस्तुतस्त्वनुग्रहादेवेदमित्यर्थः. **त्याजनेति,** सङ्घातत्यागो देहपाते ज्ञातुं शक्यते तथाप्यधुना कश्चनानुभावो भवति कृपया स्वत एव प्रकाशकश्च भवति तेन ज्ञातुं शक्य

कृपाप्रकाशेन च ज्ञायते. अतः स्वरूपतो निष्पत्त्या वा शरणागमनमेव भगवतोऽनुग्रहः सत्से वानुग्रह इति स्वरूपसत्त्वमेव नियामकं, तथैव ते उत्पादिता इति मूलेच्छात्र नियामिका. ननु त्याजनमनुगुणं वा तस्यापि स्वार्थमात्रेऽप्यशक्यं भगवान् कथं करिष्यतीति चेत् तत्राह **ईश** इति, हे सर्वसमर्थ. अत्र ममानुभव एव प्रमाणमित्याह **मन्य** इति. अनेन भगवानेव यदि करोति तदैव निस्तारो भवति इति ज्ञापितम्. नन्वेवं सति शास्त्रं व्यर्थं स्याद् ज्ञानस्याप्यनुपयोगादिति चेत् तत्राह **पुंसो भवे**दिति. **यर्हि पुंसः** भगवदिच्छया **संसरणापवर्गः** स्यात्. सृष्टिसमये हि भगवान् सर्वानेव विचारयति इममित्थं करिष्यामीति. तत्र यं मोचयिष्यामीति मन्यते तत्र जन्मानि अवधिमन्ति करोति. तथा सति यदैवान्तिमं जन्म भवति स **संसरणापवर्ग** उच्यते, अग्रे संसरणाभावात्. अत्रोपपत्तिरूपं किञ्चिदाह **पुंसो भवे**दिति, अन्यथा तं पुरुषमेव न कुर्यात्. ''तासां मे पौरुषी प्रिये''ति भगवद्वाक्यात्. अतः पुंसां मुक्तिरस्तीति सम्भाव्यते, परं कालनियमे न प्रमाणं, तदाह **यर्ही**ति, **यर्ह्ये**वान्तिमं जन्म. तथा करिष्यतीत्यत्र नियामकमाह **अब्जनाभे**ति, अन्यथा स्वयमागत्य सृष्टिं नोत्पादयेत्. **अब्जं नाभौ** यस्येति स्वयमाविर्भूय यतः सृष्टिं कृतवान् न तु सेवकद्वारा अतो ज्ञायते केषाञ्चित् मुक्तिस्तस्यां सृष्टौ दास्यतीति. तदा तस्मिन् जन्मनि भगवति **मतिर्भ**वति, ''तमेव विदित्वातिमृत्युमेती''ति नियमात्. ''ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरमि''ति भगवद्वाक्याच्च भगवज्ज्ञानमावश्यकम्. तत्र सतां बोधकत्वेन उपदिश्यमानत्वेन च शास्त्रोपयोगः. साधनेनैव सर्वं करोतीति एतावानर्थस्तुल्य इति अशक्ये भगवानेव वर्तत इति त्याजनपक्षेऽपि न काप्यनुपपत्तिः. अतः सत्सेवारुचिः भगवत्स्वरूपज्ञानेच्छा भगवच्छास्त्रपरत्वं च अन्तिमजन्मज्ञापकम् ॥२८॥

लेखः

इत्यर्थः. **अनुग्रह** इति अनुग्रहकार्यमित्यर्थः. **सत्सेवे**ति, अनुग्रहकार्ये शरणगमने सम्पन्ने सति सतां सेवा भवति, तया भगवति मतिर्भवतीति श्लोकोत्तरार्धे निरूपितमित्यर्थः. **स्वरूपत** इति, स्वरूपतो ये सन्तो, न त्वागन्तुकशमादिमन्त इत्यर्थः. **तथैवे**ति, स्वरूपत एव केचन सन्तः केचनासन्त इत्यर्थः. **शास्त्रमि**ति. सायुज्याय भगवति मतिसिद्ध्यर्थं शास्त्रोपयोग इति समाधानम्. **साधनेने**ति, साधनहेतुकं सर्वकरणमनुगुणपक्षे त्याजनपक्षे च तुल्यमित्यर्थः. ननु त्याजनपक्षे बोधकाभावात् कथं भगवज्ज्ञानमित्यत आहु**रशक्ये** इति ॥२८॥

नमो विज्ञानमात्राय सर्वप्रत्ययहेतवे ।
पुरुषेशप्रधानाय ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये ॥२९॥
नमस्ते वासुदेवाय सर्वभूतक्षयाय च ।
हृषीकेश नमस्तुभ्यं प्रपन्नं पाहि मां प्रभो ॥३०॥

॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥

एवं विज्ञाप्य विज्ञापनासिद्ध्यर्थं नमस्यति **नमो विज्ञानमात्राये**ति. शास्त्रस्य सतां च तदैवोपयोगो भवति यदा भगवान् विशिष्टज्ञानमात्रमेव भवति, अन्यथा ज्ञाने सामान्यसिद्धिः मनननिदिध्यासादिना च विशेषसिद्धिरित्ययमर्थो नोपपद्येत, ज्ञानस्याङ्गत्वं च न स्यात्. शास्त्रेण हि ज्ञानमेवोत्पाद्यते न त्वन्यत्, तच्चेद् विज्ञानमन्यदेव स्यात् किं भगवद्भजनेन शरणागमनेन वा स्यात्? अतस्त्वं **विज्ञानमात्र**रूपः. किञ्च यदि भगवान् आन्तरो न भवेद् आत्मा वा न भवेत् तदान्यत्रस्थितमन्यो न प्राप्नोति, अन्यश्चान्यो न भवतीति मुक्तिरेव न स्यात्. **सर्वेषां प्रत्ययानां** ज्ञानानां **हेतुः** कारणमन्तर्यामी आत्मा वा, स भवानेव. ननु तस्य ज्ञानैकरूपस्यात्मनः कथं जगत्कारणत्वमित्याशङ्क्याह **पुरुषेशप्रधानाये**ति. **पुरुषः** प्रकृतिभर्ता, **ईशः** कालः गुणक्षोभकः, (प्रधानः!)गुणात्मिका च प्रकृतिः—हेतुत्रितयरूपः. नन्वेकस्य कथमनेकरूपता तत्राह **ब्रह्मण** इति, बृहत्त्वात् बृंहणत्वात् सर्वभवनसमर्थं तदेव, **ब्रह्म**शब्दस्तादृश एव वर्तत इति. प्रकारान्तरेणापि सर्वरूपत्वमुपपादयति **अनन्तशक्तय** इति, **अनन्ताः शक्तयो** यस्येति तत्तच्छक्त्या तथा तथा भवतीति न काप्यनुपपत्तिः. स्वरूपमेव वा तथेति पक्षद्वयमप्यविरुद्धम् ॥२९॥

पुनर्विज्ञापनार्थं नमस्यति **नमस्ते वासुदेवाये**ति, मोक्षदात्रे. ननु तथाप्येतावत् कालं त्वमन्यत्र स्थितः कृतापराधश्च ततः कथं मोक्षो देय इत्याशङ्कायामाह **सर्वभूतानां क्षयाय** स्थानरूपायेति. तेन त्वय्येव स्थिताः, भूतेषु स्थितावपि त्वय्येव स्थिताः. चकारात् सर्वभूतस्वरूपाय. किञ्च यदपि कृतं तत्रापि त्वमेव हेतुः यतो **हृषीकेशः** इन्द्रियप्रेरकः. अतः सर्वापराधशान्त्यर्थं **तुभ्यं नमः**. विज्ञापनामाह **प्रपन्नं** शरणागतं **मां पाहि** पालय, यथा पुनः प्रवाहे न पतामीति प्रार्थना वाचनिकी, शरणागमनं प्रथमतो मानसं पश्चात् कायिकमिति, तदुपपादितं शरणागतिप्रकरणे ॥३०॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीमल्लक्ष्मणभट्टात्मजश्रीवल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे सप्तत्रिंशाध्यायविवरणम् ॥

लेखः

नमस्ते इत्यत्र, **प्रथमत** इति, ''सोऽहमि''ति श्लोके ''शरणागतो न भवेदि''त्यनेनोक्तमित्यर्थः. **पश्चादिति**, ''शरणागतो जात''इत्यनेनोक्तमित्यर्थः. **शरणागतिप्रकरणे** इति, ''सोऽहमि''तिश्लोके इत्यर्थः ॥३०॥

॥ सप्तत्रिंशाध्यायव्याख्या समाप्ता ॥

॥ इति सप्तत्रिंशोऽध्यायः॥

।। षष्ठः स्कन्धादितः अष्टत्रिंशोध्यायः ।।

अष्टत्रिंशे ज्ञाततत्त्वं श्वफल्कतनयं हरिः ।
विसृज्य मथुरामैक्षदुक्तो माहात्म्यबोधकः ।।(१)।।
गोपनार्थं परीक्षोक्ता हृदयारूढबोधनम् ।
वाक्यैर्निरूपितं वर्ण्या प्रवेशे नगरी हरेः ।।(२)।।
उत्सवे तु यथा रोधः तथात्रापि चकार ह ।
माहात्म्यज्ञापनार्थाय रजकं हतवान् स्वयम् ।।(३)।।
अनिष्टेष्टप्रदो लोके महानिति निरूप्यते ।
वायकस्य सुदाम्नश्च वरदानं यथेप्सितम् ।।(४)।।
प्रपञ्चविस्मृतिः सर्वा कृतानेन हि राजसे ।
स्वासक्तिरग्रे वक्तव्या सामान्यं तेन सेत्स्यति ।।(५)।।

।। **श्रीशुक उवाच** ।।

स्तुवतस्तस्य भगवान् दर्शयित्वा जले वपुः ।
भूयः समहरत् कृष्णो नटो नाट्यमिवात्मनः ।।१।।

पूर्वाध्याये स्तुतिरुक्ता तामुपसंहरन् अग्रे भगवत्कृतमाह **स्तुवतस्तस्ये**ति. **तस्या**क्रूरस्य **स्तुवत** एव सतः, न तु स्तोत्रसमाप्तौ, तथा सति वरो देयः स्यात्. ननु कथमेवं सामि कार्यं कृतवानित्याह **भगवा**निति, स्वच्छन्दात्मा, तावतैव कार्यसिद्धिं मत्वा, न हि ब्रह्मसाक्षात्कारः परमदुर्लभो बहुकालं भवति नाप्ययं वैकुण्ठे नीतः किन्तु

लेखः

अष्टत्रिंशे कारिकासु, **उक्त** इति, अक्रू**रेणोक्तो** भगवान् कंसाय **माहात्म्यबोधकः** रजकवधादिना जात इति शेषः (१).

गोपनार्थमिति, अक्रूरः पूर्वदृष्टं गोपितवानिति बोधनार्थं "किं ते दृष्टमि"ति प्रश्नेन भगवता कृताक्रूर**परीक्षा**त्रो**क्ते**त्यर्थः. ततोऽक्रूरेण **हृदयारूढं बोधनं** ज्ञानं **वाक्यै**र्गुप्तै**र्निरूपित**मित्यर्थः (२).

अस्पृश्यस्यापि रजकस्य स्वयं मारणे हेतुमाहुः **माहात्म्ये**ति, कंसायेति शेषः (३).

अनिष्टेष्टेति, **अनिष्टानां** कंसपुरस्थानाम**पीष्टप्रदो लोके** महान् भवतीति हेतोः लोकानामपि महत्त्वबोधनार्थं **वायकस्य सुदाम्नश्च वरदानं** निरूपितमित्यर्थः (४).

अनेन हीति, वरदानकृतमहत्त्वज्ञानेनेत्यर्थः (५).

सोऽपि चान्तर्हितं[1] वीक्ष्य जलादुन्मज्ज्य सत्वरः ।
कृत्वा चावश्यकं सर्वं विस्मितो रथमागमत् ॥२॥
तमपृच्छद् हृषीकेशः किं ते दृष्टमिहाद्भुतम् ।
भूमौ वियति तोये वा तथा त्वां लक्षयामहे ॥३॥

जले स्ववपुर्ब्रह्माण्डात्मकं नारायणरूपं प्रदर्शितवान्. यथाविर्भावः तथा तिरोभावोऽपि वक्तव्य इति **भूयः समहरत्** उपसंहृतवान्. अनेन भगवति स्थित एवायं प्रपञ्चः ब्रह्माण्डात्मकः हस्तमिव प्रसार्य पुनरुपसंहृत इति निरूपितम्, न तु तत्रत्यः मायाजवनिकादूरीकरणेन प्रदर्शित इति. यतोऽयं **कृष्णः** एतदर्थमेव सदानन्दोऽवतीर्ण इति. अन्तःस्थितमेव प्रदर्शितमित्यत्र दृष्टान्तमाह **नटो नाट्यमिवेति**— यथा नटविद्यामन्तःस्थितां बहिः प्रकटयत्यभिनयेन तथा भगवानप्येतादृश इति ज्ञापयितुं नारायणरूपं प्रदर्शितवानित्यर्थः. ननु नाट्ये वैलक्षण्यं प्रतीयते, न हि नाट्यमेतादृशमिति, तत्राह **आत्मन** इति, अद्भुतमेतन् नाट्यम् ॥१॥

सोऽपि भगवतैव कृतमिति ज्ञात्वा ज्ञाततत्त्वोऽन्तरङ्ग भगवत्समीपमागत इत्याह **सोऽपीति. अन्तर्हितं** स्वयमेव. अथवा **च**कारेण वा **अन्तर्हि** मध्ये हृदये **तं वीक्ष्य** बहिर्दृष्टमन्तः स्थापयित्वा. **(हिं)** युक्तश्चायमर्थः, अन्यथा दर्शनं व्यर्थं स्याद् धर्मान्तरप्रवेशश्च स्यात्. ततो भयं च न निवर्तेत, अन्यथाबुद्धिश्च स्यात्. अत एव **जलादुन्मज्ज्य** स्नानविधिं त्यक्त्वा पूर्णो भूत्वा भगवदपराधं सञ्चिन्त्य **सत्वरः** अत्या**वश्यकं** कर्म शीघ्रं विधाय, चकारादकृत्वापि, कथमेवं दुर्लभं प्रदर्शितवानिति **विस्मितः रथ**समीप**मागमत्** न तु मननादिकं कृत्वा निवृत्तो जातः ॥२॥

तदा भगवान् विस्मयांशोऽनुचित इति तन्निवृत्त्यर्थं किञ्चित् पृष्टवानित्याह **तमपृच्छदिति**. यदि भगवत्पृष्टं वदेद् अन्यत्रापि वदेत् तदा न माहात्म्यं तस्य हृदयारूढं, भगवतेऽपि यदि न वदति तदान्यस्मै कथनसम्भावनैव न भवति. **हृषीकेश** इति, स्वयमेव तथा प्रेरितवान्. इच्छानिवर्तनार्थं परं पृष्टवानिति **किं ते** त्वया **दृष्टमिति. इहास्मिन्** जलाशये जलादिकं बह्वेव दृष्टमिति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह **अद्भुतमिति**, अलौकिकमदृष्टपूर्व**मद्भुतम्**. दृष्टं वस्तु अन्याधारं जानाति न वेति

लेखः

सोऽपि चेत्यत्र, **अथवे**त्यनेन पक्षयोर्विकल्प उक्तः, **चकारेण वे**त्यनेन समुच्चय इति भेदः ॥२॥

---

१. अन्तर्हि तम् इत्यपि पाठः अङ्गीकृतः.

तन्मनोनिश्चयार्थं स्थानानि निर्दिशति **भूमौ वियति तोये वे**ति. दर्शनसमये भूमिरिव दृष्टा, युक्त्या गन्धर्वनगरादिवद् आकाशेऽपि दर्शनं सम्भवति, निमज्ज्य पश्यतीति जल एव भवति. **वे**त्यनादरे, यत्र क्वचित्. अवश्यं दृष्टमिति अलौकिकं ज्ञानं गोपयितुमाह **तथा त्वां लक्षयामह** इति, अद्भुतदर्शनमिव स ह्याश्चर्याभिनिविष्टः, प्रपञ्चमग्रिमकार्यं च न स्मरतीति.

प्रसन्नो[1] ह्यन्यथा दृष्टिरद्भुतार्थनिरीक्षकः ।
तादृशं भगवान् दृष्ट्वा दर्शनं कल्पयेत्[2] पुनः ॥(६)॥३॥

॥ अक्रूर उवाच ॥

अद्भुतानीह यावन्ति भूमौ वियति वा जले ।
त्वयि विश्वात्मके तानि किं मेऽदृष्टं विपश्यतः ॥४॥
यत्राद्भुतानि सर्वाणि भूमौ वियति वा जले ।
तं त्वानुपश्यतो ब्रह्मन् किं मेऽदृष्टमिहाद्भुतम् ॥५॥

अक्रूरस्तु ज्ञातमाहात्म्यः तन्न वक्तव्यमिति ईश्वरपृष्टं वक्तव्यमिति ज्ञात्वा सामान्यत उत्तरमाह **अद्भुतानी**ति. स्वरूपमाधारः भगवानेवेति प्रदेशान्तर-प्रश्नोऽनुपपन्नः. सोऽपि वा प्रदेशः त्वय्येवास्तीति न त्वत्तोऽन्यत्राद्भुतमस्ति, त्वद्दर्शनं तु अद्भुतमेवेति चिह्नमप्यव्यभिचारि. इहास्मिन् समये देशे वा **भूमौ वियति जले वा यान्यद्भुतानि तानि त्वय्येव** यतस्त्वं **विश्वात्मकः,** विश्वस्मिन्नेव ह्यद्भुतानि भवन्ति. अत**स्तानि किं मे** मया न दृष्टानि यतस्त्वां **विपश्यतः.** अदृष्टस्तु त्वं केनापि, अन्यस्याद्भुतत्वमेव नास्ति केनचिद् दृष्टत्वात्. भगवांस्तु सर्वादृष्टः, तादृशम**दृष्टं** भगवन्तं **विपश्यतो मे किं तानि** न दृष्टानीत्यर्थात्. **तानी**ति पूर्वत्रैव वा अनुवादः, सर्वाद्भुताधारे दृष्टे नादृष्टं किञ्चिदवशिष्यत इति आक्षेपोऽयुक्तः ॥४॥

कदाचिदयमुपचाराद् वदतीति पुनः प्रश्नशङ्कायामाह **यत्राद्भुतानी**ति. **यत्र** क्वचि**दद्भुतानि** लोकैर्दृश्यन्ते तानि त्वय्येव वस्तुतः, अतो येनकेनचिदपि त्वय्येव चेदद्भुतानि द्रष्टव्यानि तदा **त्वां पश्यतो मे किं** वा **अद्भुतमदृष्टम्?** अनेन तत्रापि त्वमेवाद्भुतो दृष्टः त्वय्येव च दृष्टं त्वमेव सः त्वय्येव तदिति सर्वाधारस्त्वमेवेत्याधार-प्रश्नोऽपि न कर्तव्य इति. भगवन्तमाधारत्वेन निर्दिशति **तं त्वे**ति. **ब्रह्मन्नि**ति तत्समर्थनायोपपत्तिः ॥५॥

एवं परोक्षेणोत्तरमुक्त्वा भगवदिच्छां ज्ञात्वा रथं प्रेरितवानित्याह **इत्युक्त्वे**ति.

---

१. प्रपन्नो इत्यपि पाठः. २. कल्पयद् इत्यपि पाठः.

इत्युक्त्वा चोदयामास स्यन्दनं गान्दिनीसुतः ।
मथुरामनयद् रामं कृष्णं चैव दिनात्यये ॥६॥
मार्गे ग्रामजना राजन् तत्र तत्रोपसङ्गताः ।
वसुदेवसुतौ वीक्ष्य प्रीता दृष्टिं न चाददुः ॥७॥
तावद् व्रजौकसस्तत्र नन्दगोपादयोऽग्रतः ।
पुरोपवनमासाद्य प्रतीक्षन्तोऽवतस्थिरे ॥८॥

भगवद्वाक्ये नावहेलेति उत्तर**मुक्त्वा** पश्चाद् रथं **चोदयामास.** ननु काऽस्योत्तालता? तथा ज्ञात्वा भगवान् सम्यक् प्रसादनीयः, किं वा भगवतः कार्यं? तुच्छं हि तत्, तत्राह **गान्दिनीसुत** इति, गोदानेन चोत्पन्ना गोरूपैव भवति तस्याश्च पुत्रः सौरभेय एव. परं भगवन्तं **मथुरां** प्रापयन्, **रामो** हि रतिकर्ता **कृष्णश्च** तत्फलं सदानन्दः, स चेत् नगर्यां प्रतिष्ठितो भवति तदा तत्रत्यानां निरन्तरमेव सुखं भवतीति. **दिनात्यये** सन्ध्याकाले, सा हि गोधूलिकाप्रवेशे सुमुहूर्ता भवति. **च**कारात् मध्ये स्थितान् सर्वानिव. भगवदिच्छयैव सन्ध्याकालोऽपि अपराह्णो भविष्यति. यावता च कालेन कार्यं भविष्यति तावान् कालो ग्राह्यः, अन्यथा **दिनात्यय**पदं बाधितं स्यात्. अत्ययारम्भे वा मध्याह्नोपरि, मध्याह्ने अतिक्रान्ते दिनमतिक्रान्तमेवेति. मथुरास्य-**दिनानां** वा दुःखदाना**मत्यये** स्वस्य वा ॥६॥

ततो भगवान् शनैर्गच्छन् सर्वानन्दकरो जात इत्याह **मार्ग** इति. मध्ये ये **ग्रामाः**, तदीया वा सर्वत्र **मार्गे. राजन्निति** सम्बोधनं तथानुभवाय. **तत्र तत्रेति**, न देशविशेषः, तेषां दर्शने अभिप्रेते अनभिप्रेते च देशे **उपसङ्गताः** निकटे समागताः. **वसुदेवसुतावे**ताविति **वीक्ष्य** सम्बन्धात् स्वरूपाच्च **प्रीताः** भगवते दत्तदृष्टयः **च**कारात् सर्वमपि दत्वा **नाददुः** न पुनर्गृहीतवन्तः. सामान्येन मार्गस्थानां निरोध उक्तः. दृष्टेरग्रहणे हेतुः **प्रीताः** इति, प्रीतिरेव दानफलं जातमिति पुनः कथं ग्रहणं भवेत् ! सुखार्थमिन्द्रियाणां परिग्रहः, तस्मिन् जाते न प्रवर्तन्त एव. तेषामधिका बुद्धिर्न जातेति **वसुदेवसुत**त्वोक्तिः ॥७॥

भगवद्गमनात् पूर्वमेव नन्दादयः मथुरोपवनपर्यन्तं गताः अग्रे भगवति समागते गन्तव्यमिति प्रतीक्षयैव स्थिता इत्याह **तावदिति.** यतस्ते **व्रजौकसः** अनावृत एव देशे स्थातुं योग्याः अत एवाग्रेऽपि गताः. बहवो बालकाः भगवन्मित्राणि सहैव स्थिताः, **नन्दगोपादय** एव परं वृद्धाः पूर्वं गता **उपवनं** नानाविधफलप्रधानं मथुरानिकटस्थम् **अवतस्थिरे** केवलं स्थिताः न तु तत्स्थितियोग्यं साधनमपि

तान् समेत्याह भगवानक्रूरं जगदीश्वरः ।
गृहीत्वा पाणिनां पाणिं प्रश्रितं प्रहसन्निव ॥९॥
भवान् प्रविशतामग्रे सहयानः पुरीं गृहम् ।
वयं त्विहावमुच्याथ तावत् द्रक्ष्यामहे पुरीम् ॥१०॥

सम्पादितवन्त इत्यर्थः. अनेन व्यवहार एव भगवतोऽपि प्राधान्यं सूचितम् ॥८॥

ततोऽक्रूरविसर्जनमाह **तान् समेत्ये**ति. अक्रूरे स्थिते लोकव्यवहारे पितृव्य इति स्वच्छन्दलीला नोचितेति व्यवहारेऽपि निर्बन्धेन नागत इति ख्यापयितुं **तान्** नन्दादीन् **समेत्य अक्रूरं** प्रत्या**ह. भगवा**निति निःशङ्कः. बहिःस्थिते कंसः कदाचिदुपद्रवं कुर्यादिति शङ्काभावायाह **जगदीश्वर** इति, स एव हि जगतो नियन्ता स्वामी ऐश्वर्यं गुप्तं कृत्वा सख्यबन्धुत्वादिप्रकटनार्थं **पाणिना पाणिं गृहीत्वा** तेन नम्रं **प्रहसन्** व्यामोहयन् पूर्वावस्थां तस्य सम्पादयन् वक्ष्यमाणमब्रवीत्. भगवद्वाक्ये चित्तदार्ढ्यार्थं पृथङ्निरूपणम् ॥९॥

वचनमेवाह **भवा**निति, असम्बन्धख्यापनार्थं **भवा**निति. अस्मत्प्रवेशात् पूर्वमेव, अन्यथा तव कार्यं कृतमपि उपद्रवादकृतं मन्येत कंसः. ततो गृहेऽपि त्वया गन्तव्यम्, अन्यथा कंसः. अस्मन्निषेधार्थं त्वां प्रेरयेत्, तच्चानुचितम्. यथा तवापराधो न भवति तदर्थं **वयमिहै**व प्रतिमुच्य शिबिरं कृत्वा **अथ** भिन्नप्रक्रमेण **तावत्** यावत् कंसः आकारयिष्यति तावत् **पुरीं द्रक्ष्यामः** अनेन पुरी सम्यक् स्थापिता न वेति ॥१०॥

भगवान् मध्ये उदासीनमिवोक्तवानिति तदसहमानः किञ्चित् प्रार्थयति **नाहमि**ति षड्भिः, सर्वे हि भगवद्गुणास्तेन वर्णनीया इति.

॥ **अक्रूर उवाच** ॥

नाहं भवद्भ्यां रहितः प्रवेक्ष्ये मथुरां प्रभो ।
त्यक्तुं नार्हसि मां नाथ भक्तं ते भक्तवत्सल ॥११॥

स **ह्येवं** ज्ञातवान्— यथा कंसादयस्तथायमिति ज्ञात्वा भगवान् मां दूरीकरोतीति. एवं सति भगवान् स्वच्छन्दलीलां करोतु नाम, मयाप्यत्रैव स्थातव्यं क्वचित् न तु भगवद्रहितं पुरं गृहं वा प्रवेष्टव्यम्. अत एव वैराग्यविधिः, भगवदभावे गृहादिकं त्यक्तव्यमिति. अतो **भवद्भ्यां रहितः** शब्दब्रह्मपरब्रह्मभ्यां, मधुदैत्ययुक्तां तत्सम्बन्धिनीं **मथुरां** (न!) **प्रवेक्ष्ये,** "नैतमृषिं विदित्वा नगरं प्रविशेद् यदि प्रविशेत् मिथो चरित्वा प्रविशेदि"ति श्रुतेः. शङ्का तु तव नास्तीत्याह **प्रभो** इति. अतः परमनागमने मत्त्यागो हेतुः, तत् न कर्तव्यमिति प्रार्थयति **त्यक्तुं नार्हसी**ति, **नाथे**

आगच्छ याम गेहान् नः सनाथान् कुर्वधोक्षज ।
सहाग्रजः सगोपालैः सुहृद्भिश्च सुहृत्तम ॥१२॥
पुनीहि पादरजसा गृहान् नो गृहमेधिनाम् ।

त्यक्ते न कापि पाल्यानां गतिर्भवतीति. तत्रापि **भक्तं,** तत्रापि ते अवतारलीलाविशेष**भक्तम्.** कार्यार्थं त्याग इति चेत् तत्राह **भक्तवत्सले**ति, भक्तेषु वात्सल्यं तिष्ठतीति न कदाचिदपि भक्तास्त्यक्तव्याः ॥११॥

नगरे स्थानं नास्तीति चेत् तत्राह **आगच्छे**ति, सर्वैः सहागच्छ. गृहं तुल्यमिति ख्यापयितुं **याम** इति, सर्वेषां गमनं तुल्यं निरूपितम्. **नो गेहा**निति बहवो वयं भ्रातरः, एकैकस्य गृहा अपि बहवः, अतो न स्थलसङ्कोचः. ननु विशेषाभावादत्रैव स्थातव्यमिति चेत् तत्राह **सनाथान् कुर्वि**ति. यो हि प्रभुर्भवति स स्वगृहे तिष्ठति न त्वन्यगृहे, यद्यस्मद्गृहे त्वया न स्थितं स्यात् तदा अस्मन्नाथो न भवेः, तदा वयमनाथाः, अतः **सनाथान् कुरु.** अस्मत्सम्बन्धेन तवापराधो भविष्यतीति चेत् तत्राह **अधोक्षजे**ति, ज्ञानविषय एव त्वं न भवसि कुतस्तरां क्रियाविषयो भविष्यसीति. अनेन भगवतो ज्ञानशक्तिर्निरूपिता, ''यस्यामतं तस्य मतमि''ति. तर्ह्येकाकी समागमिष्यामीत्याशङ्कायामाह **सहाग्रज** इति, तवाप्यग्रजस्य सुतरामेव न भयं मान्यश्च. गोरक्षणधर्माद् अचातुर्याच्च गोपालानां भयशङ्कैव नास्ति. त्वयि सति केषामपि न भयमिति वक्तुं **सुहृद्भिः** सहेति, **गोपाला** एव **सुहृदः** नन्दादयो वा बान्धवाः, **चकारात्** सर्वे सेवकाः अनांसि वृषभादयश्च. ननु कथमेतावद्भिः सह गन्तव्यमिति चेत् तत्राह **सुहृद्भिश्च सुहृत्तमे**ति, स्वामी भवानत्यन्तं सुहृद्, भवत्सम्बन्धिनः सुहृत्तराः, अन्ये सेवकादयः सुहृदः, अतः सर्वैरेवागन्तव्यम् ॥१२॥

यशोरूपं भगवन्तं निरूपयति **पुनीही**ति.

अनेन सनाथत्वमात्रं चेत् वचनेनापि सनाथत्वं सम्पद्यत इति किमागमनेनेत्याशङ्का परिहृता, यतो गृहपावित्र्यमधिकं कर्तव्यमिति. पावित्र्योपायमाह **पादरजसे**ति, चरणरजो हि भगवदीयत्वं सम्पादयतीति परमशुद्ध्यैव तथात्वं भवतीति पादरजसा गृहाणां पावनं कर्तव्यम्. तत्रेतो नयने अल्पमेव रजो भवेत्, तत्र गमने तु सर्वैव भूः चरणरजो भवतीति सर्वेषामेव गृहाणां पावनं भवति. ननु भगवदीया भवन्तः गृहाश्च तथा सति का पावनापेक्षेति चेत् तत्राह **गृहमेधिनामि**ति, गृहे **मेधा** हिंसा नित्यमुत्पद्यते. तथा सति य एव गृहस्थो भवति ज्ञाननिष्ठो भक्तो वा स एव लिप्यते कालगुणैरिव, ते चेद् गृहाः अपहतपाप्मानो भवन्ति तदैव निस्तार

यच्छौचेनानुतृप्यन्ति पितरः साग्नयः सुराः ॥१३॥
अवनिज्याङ्घ्रियुगलमासीत् श्लोक्यो बलिर्महान् ।
ऐश्वर्यमतुलं लेभे गतिं चैकान्तिनां तु या ॥१४॥
आपस्तेऽङ्घ्र्यवनेनिज्य त्रीन् लोकान् शुचयोऽपुनन् ।
शिरसाधत्त याः शर्वः स्वर्याताः सगरात्मजाः ॥१५॥

इति. किञ्च न केवलं जीवतामेव भगवदागमने उपकारः किन्तु सर्वेषामेव पित्रादीनां परमा तृप्तिरित्याह **यच्छौचेने**ति, **यस्य** भगवतः **शौचेन** चरणोदकेन **पितरः अग्नयो** देवाश्च **अनुतृप्ता** भवन्ति. यतो ब्रह्मदण्डहता अपि मुच्यन्ते अतस्तव चरणोदकं पितृणां परमानन्दहेतुर्भवति. तेषां कव्यं गृहीत्वा प्रयच्छति अग्निरिति तेषां च तृप्तिरपेक्ष्यते. तत्र प्रविष्टा एव पितरो जाता इति च. तथा तदधिष्ठात्र्यो देवताः. यज्ञो देवाः पितरश्च तृप्ता भवन्तीत्युक्तं भवति ॥१३॥

श्रियं निरूपयन् चरणोदकस्य माहात्म्यमाह **अवनिज्याङ्घ्रियुगलमि**ति. चरणोदकनिर्माणेन प्रक्षालनक्रियया **बले**स्त्रयं जातं— कीर्तिः ऐश्वर्यं भक्तिर्मोक्षो वा. **श्लोक्यो**ऽपि जातः **महा**नपि जातः. महत्त्वं सर्वलोकप्रसिद्धिः, "सत्यं शौचमि"त्यादिगुणवत्त्वं, "प्रार्थ्या महत्त्वमिच्छद्भिरि"ति वाक्यात्. **ऐश्वर्यम्** इन्द्रत्वम्, **अतुलं** ततोऽप्यधिकं, भगवान् वश इति. **एकान्तिनां** भक्तानां **या गतिः** स्वतन्त्रा भक्तिः सायुज्यं वा. **ये**ति सर्वलोकप्रसिद्धा "अनिच्छतो गतिमण्वीं प्रयुङ्क्त"इत्यादि वाक्यसिद्धा ॥१४॥

धर्मं निरूपयन् वीर्यं वा चरणोदकमेव स्तौति **आप** इति.

ते त्रिविक्रमस्य **अङ्घ्र्यवनेनिज्य आपः** चरणक्षालनोदकानि **त्रीन् लोकान्** मन्दाकिन्यादिभेदेन **अपुनन्,** यतः स्वयं **शुचयः** शुद्धाः. नखोदकस्याशुद्धत्वमाशङ्क्य तथोक्तवान्, न केवलं पवित्रत्वजनकत्वं किन्तु आधिदैविकत्वसम्पादकत्वमपीत्याह **शिरसाधत्त याः शर्व** इति. **शर्वो** महादेवः, "शिवः शिवोभूदि"त्यत्र फलं विस्तरेण निरूपितम्. ततो भूमिं गतापि ब्रह्मदण्डहतानपि पावयामासेत्याह **स्वर्याता** इति. **सगरस्य** पुत्राः दुरात्मत्वेन प्रसिद्धाः स्वर्गं गताः, इन्द्रेण नाशार्थं कृतप्रयत्नाः अपि चरणोदकेनेन्द्रसमानाः कृता इत्यर्थः ॥१५॥

भगवत ऐश्वर्यं कीर्तयन् नमस्यति. ऐश्वर्यं षड्विधम्— उपास्यत्वेन प्रभुत्वेन दोषनिवारकत्वेन गुणाधायकत्वेन उत्तमस्तुल्यत्वेन जगत्कारणत्वेन च. **देवदेव** तत्र भगवान् देवानामपि देवः उपास्यानामप्युपास्यः. **जगत** एव **नाथः** न त्वेकदेशस्य,

देवदेव जगन्नाथ पुण्यश्रवणकीर्तन ।
यदूत्तमोत्तमश्लोक नारायण नमोस्तु ते ॥१६॥

पुण्ये पापनिवारके **श्रवणकीर्तने** यस्य, यथा श्रवणं तथैव कीर्तनं पापनाशकम्. **यदूत्तमे**ति यदोरपि गुणाधायक:, "अकर्तोच्चरितं पितुरि"ति न्यायेन पितु: प्रतिकूलत्वात् न कस्यापि साध्य:, तस्यापि गुणान् धत्त इति. **उत्तमै**रपि व्यासादिभि: **श्लोक्यत** इति. **नारायणो** जगत्कर्ता इति. एवं षड्गुणपूर्णं नमस्यति **नमोस्तु त** इति, नमस्कारप्रार्थनया नित्यं नमस्कार उक्त: ॥१६॥

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

आयास्ये भवतो गेहमहमार्यसमन्वित: ।
यदुचक्रद्रुहं हत्वा वितरिष्ये सुहृत्प्रियम् ॥१७॥

तदा भगवान् नित्यकार्यकर्तेति भगवत्कृतस्य विघाताभावाच्च "तावत् पुरीं द्रक्ष्यामह" इति वाक्याद्, आगमनस्य प्रार्थितत्वात् कालान्तरे समागन्तव्यमित्याह **आयास्य** इति. उदासीनवचनाभावाय स्वाभिप्रेतं चाह आगमिष्यामि **परमार्यसमन्वित:** इदानीं विद्यमानानां मध्ये बलभद्रसहित:. प्रार्थितानां पूरणार्थम् उद्धव: समागमिष्यतीति भाव:. तर्हि द्वाभ्यामेव गन्तव्यमिदानीमेवेति चेत् तत्राह **यदुचक्रद्रुहं हत्वे**ति, सर्वेषामेव **यादवानां चक्रस्य** यो **द्रोहकर्ता** तं कंसं **हत्वा**. सिद्धवत्कारेण कथनात् न सन्देहोऽपि, अप्रार्थितोऽप्यायास्ये. समागमने प्रयोजनं सूचयति **वितरिष्य** इति, **सुहृदा**मत्रत्यानां पाण्डवानां च **प्रियं वितरिष्य** इति. अनेन तेषां सुखार्थं त्वां प्रेषयिष्यामि तदर्थमागमिष्यामीति सूचितम् ॥१७॥

॥ श्रीशुक उवाच ॥

एवमुक्तो भगवता सोऽक्रूरो विमना इव ।
पुरीं प्रविष्ट: कंसाय कर्मावेद्य गृहं ययौ ॥१८॥

एवमागमनं निर्धार्य भगवदाज्ञया गृहे गत इत्याह **एवमुक्त** इति. **भगवता** अप्रतिहतसामर्थ्येन एवमाज्ञप्त: इदानीमेव नेष्टं सिद्धमिति **विमना:**, अग्रे कार्यमपि करिष्यतीति **इव,** स्वयं प्रथमत एव **पुरीं प्रविष्ट: कंसाय** भगवानानीत इति स्वकृतं **कर्मावेद्य गृहं ययौ** शीघ्रमेव स्वगृहं गत: ॥१८॥

एवं पूर्वसम्बन्धिनां निरोधमुक्त्वा वार्तयैव पूर्वमपि निरोधं सम्पाद्य

लेख:

अथापराह्ण इत्यस्याभासे **पूर्वसम्बन्धिनामिति, पूर्वेषां** वसुदेवादीनां

अथापराह्णे भगवान् कृष्णः सङ्कर्षणान्वितः ।
मथुरां प्राविशद् गोपैर्दिदृक्षुः परिवारितः ॥१९॥
ददर्श तां स्फाटिकतुङ्गगोपुर-द्वारां बृहद्धेमकपाटतोरणाम् ।
ताम्रारकोष्ठां परिखादुरासदा-मुद्यानरम्योपवनोपशोभिताम् ॥२०॥
सौवर्णशृङ्गाटकहर्म्यनिष्कुटैः श्रेणीसभाभिर्भवनैरुपस्कृताम् ।

स्वरूपेणापि सम्पादयितुं स्वयं मथुरां दृष्टवानित्याह **अथेति. अथ** भिन्नप्रक्रमेण मित्रभूतैरेव गोपालैः सहापराह्णे तृतीये भागे **भगवान्** आविष्कृतसर्वधर्मा **कृष्ण** एतदर्थमेवावतीर्णः, कंसमारणार्थं यत्नः कर्तव्य इति **सङ्कर्षणसमन्वितः,** अन्यथा उभयोरवतारो न स्यात्. **गोपैः परिवृत** इति एतैः सह एतावत्कालं क्रीडा कृतेति ज्ञापनार्थं शोभार्थं मनसि शङ्काभावार्थं तेभ्यः माहात्म्यप्रदर्शनार्थं च **मथुरां** स्वनगरीं प्रकर्षे**णाविशत्.** सामीप्ये सप्तमी, पुरद्वारनिकटे गत इत्यर्थः ॥१९॥

ततो भगवान् दृष्टवानित्याह **ददर्शेति.** भगवद्दृष्टां पुरीं वर्णयति चतुर्भिः पुरुषार्थचतुष्टयपूर्णाम्.

स्वरूपतो द्रव्यतश्च वैचित्र्येणाप्यनुत्तमाम् ।
अलङ्कृतां साम्प्रतं तु भगवद्दर्शनार्थिभिः ॥(७)॥

तां मथुरां दृष्ट्वैव सन्तोषं प्रापितवान्. **स्फाटिकानि तुङ्गानि गोपुराणि पुरद्वाराणि** च यस्यां, द्वारादिषु **बृहन्ति** सुवर्ण**कपाटानि तोरणानि** च यस्यां, **ताम्रमयाः आराः कोष्ठानि** च प्राकाराः यस्याः. केचित् तु **आरशब्देन आरकूटमाहुः ताम्रमयान्यारकूटमयानि च कोष्ठानि** यस्याम्. **परिखा** परितो गर्तः तया कृत्वा **दुरासदां,** यमुना तु दूर इति परिखाया न बाधः. **उद्यानानि** पुष्पप्रधानवाटिकाः तै रम्याम्. **उपवनैश्च** फलप्रधानैः **उप** समीपे शोभिताम्.

द्वारप्राकारपरिखाफलपुष्पैः सुशोभिता ।
पञ्चधा नगरी रम्या सालङ्कारा च रूपिता ॥(८)॥२०॥

बाह्यतः शोभामुक्त्वा आन्तरशोभामाह **सौवर्णेति, सुवर्णमयाः शृङ्गाटका**दयः **तैरुपस्कृता**मिति. **शृङ्गाटकं** पुरमध्यचतुर्मार्गे विश्रामस्थानमीरितम्. **हर्म्याणि** धनिनां गृहाः. **निष्कुटं** कुट्टिमा भूमिः. एकशिल्पोपजीविनां क्रयविक्रयस्थानं **श्रेणिः. सभा** नराणामुपवेशस्थानानि. **भवनानि** सर्वेषामेव गृहाः —सर्व एव सुवर्णमया इति

लेखः

सम्बन्धिनोऽक्रूरपाण्डवादयस्तेषामित्यर्थः. अक्रूरप्रेषणेन पाण्डवानामपि निरोधो मानस उक्त इति भावः ॥१९॥

वैदूर्यवज्रामलनीलविद्रुमैर्मुक्ताहरिद्भिर्वलभीषु वेदिषु ॥२१॥
जुष्टेषु जालामुखरन्ध्रकुट्टिमेष्वाविष्टपारापत[1]बर्हिनादिताम् ।
संसिक्तरथ्यापणमार्गचत्वरां प्रकीर्णमाल्याङ्कुरलाजतण्डुलाम् ॥२२॥
आपूर्णकुम्भैर्दधिचन्दनोक्षितैः प्रसूनदीपावलिभिः सपल्लवैः ।
सवृन्दरम्भाक्रमुकैः सकेतुभिः स्वलङ्कृतद्वारगृहां सपट्टिकैः ॥२३॥
तां सम्प्रविष्टौ वसुदेवनन्दनौ वृतौ वयस्यैर्नरदेववर्त्मना ।
द्रष्टुं समीयुस्त्वरिताः पुरस्त्रियो हर्म्याणि चैवारुरुहुर्नृपोत्सुकाः ॥२४॥

न क्वाप्यशोभा. **वैदूर्या**दयो मणयः तैरप्युपस्कृताम्. **वज्रो** हीरकम्, **अमलाः** स्फाटिकाः, **नीलो** नीलमणिः, **विद्रुमः** प्रवालः, **मुक्ताश्च हरिन्**मणयश्च —एभिर्निर्मिताः पूर्वोक्ता **वलभ्या**दयश्च. **वलभ्यो** द्वाराग्रे वक्रदारुनिर्मिताः उपवेशनार्थं, **वेदयः** उपवेशनोच्चस्थानानि, तेषु **वैडूर्या**दिभिरुपस्कृतामिति सम्बन्धः ॥२१॥

अग्रेपि तै**र्जुष्टेषु** योजितेषु **जालामुखरन्ध्रकुट्टिमेषु** गवाक्षरन्ध्रमध्यभूमिषु **आविष्टा** ये **पारापताः बर्हिण**श्च तेषां **नाद**युक्ताम्. एवमुपरि सौभाग्यमुक्त्वा मार्गादिसौभाग्यमाह **सम्यक् सिक्ता रथ्या**दयो यस्याम्. **रथ्या** राजमार्गः, **आपणयः** पण्यवीथी**मार्गाः** अन्ये **चत्वराण्य**ङ्गणानि. **प्रकीर्णानि** सर्वत्र **माल्यानि** पुष्पाणि **अङ्कुराः** यवाङ्कुराः **लाजाः** भ्रष्टधान्यानि **तण्डुला**श्च. मङ्गलार्थमेतेषां विकरणं, भगवानायास्यतीति ॥२२॥

आसमन्तात् **पूर्णकुम्भैः दध्ना चन्दनेन** च **उक्षितैः, दध्ना** सहितैश्च**न्दनैः उक्षितैः पूर्णकुम्भैः** सहितामिति. **प्रसूनानि दीपावलयः** आरात्रिकाणि, **पल्लवस**हिताश्चैते. **सवृन्दाः** फलसहिताः **रम्भाः** कदल्यः **क्रमुका**श्च पूगपोताः ध्वजसहिताः तैः **सुष्ठु अलङ्कृताः द्वाराणि गृहा**श्च यस्यां, **सपट्टिकाः** रम्भादयः. अत्रैवं प्रक्रिया— द्वारस्योभयपार्श्वे कुम्भद्वयं तदुपरि दधिपूर्णपात्रं तत्र निकटे दीपाः रम्भा क्रमुकश्च ध्वजः[2] पताकाः च चन्द्रवर्णाश्चन्द्राकारा आदर्शाश्च महोत्सवे सर्वत्र क्रियन्त इति ॥२३॥

एवं पुरीं वर्णयित्वा तस्यां प्रविष्टावित्याह **तां सम्प्रविष्टा**विति. सर्वेषां भगवद्दर्शनार्थमेव तथा निर्माणमिति येषां बहिरागत्य दर्शनं सम्भवतिताननुक्त्वा यासां न सम्भवति तासामुद्योगाधिक्यमाह **द्रष्टुं समीयु**रिति. नगरीं **प्रविष्टौ वसुदेवस्य** पुत्रौ गोपालै**र्वृतौ नरदेववर्त्मना** राजमार्गेण संयुक्तौ गच्छन्तौ **द्रष्टुं पुरस्त्रियः समीयुः** सम्यगाभिमुख्येन समागताः. याः साधारण्यः **पुरस्त्रियः** दूरस्थाश्च

१. पारावत इत्यपि पाठः. २. ध्वजाः पताका इत्यपि पाठः.

काश्चिद् विपर्यग्धृतवस्त्रभूषणा विस्मृत्य चैकं युगलेष्वथापराः ।
कृतैकपत्रश्रवणैकनूपुरा नाङ्क्त्वा द्वितीयं त्वपराः स्वलोचनम् ॥२५॥
अश्नन्त्य एकास्तदपास्य सोत्सवा अभ्यज्यमाना अकृतोपमज्जनाः ।
स्वपन्त्य उत्थाय निशम्य निःस्वनं प्रपाययन्त्योऽर्भमपोह्य मातरः ॥२६॥

बहिर्निर्गमनासमर्थाश्च **हर्म्याणि** उच्चगृहान् **आरुरुहुः, च**कारात् यत्रैव स्थिताः द्रष्टुं शक्नुवन्ति तमेवा रुरुहुरिति. **नृपे**ति सम्बोधनं राज्ञो गमनेऽप्येवं कुर्वन्तीति ज्ञापनार्थं, भगवति तु विशेषः **उत्सुका** इति ॥२४॥

तासामौत्सुक्यं वर्णयन् वस्त्राभरणानां विपर्यासमाह **काश्चिदि**ति. भगवति भावो विशेषः, अन्यथा लौकिक्येव भाषा भवति. **काश्चित्** स्त्रियः **विपर्यक्** विपरीततया **धृतानि वस्त्राणि भूषणानि** च याभिः; पादयोराभरणं हस्ते अधोवस्त्राण्युपरि, एवं सर्वत्र. किञ्च न केवलं विपर्यासः अपि तु **युगलेषु एकं विस्मृत्य च एकमे**वाभरणं धृत्वा गताः. **अथ** विपर्यग्धृतेभ्यः **अपराः** अन्याः. तत्र पूर्वापेक्षयाप्येता उत्तमा इति युगलाभरणेषु हस्तकटकादिषु एकस्यापि धारणं भवति. यत्र पुनः द्वयोरेव धारणं नैकस्य एकधारणं सर्वथा विगीतं तादृशमपि कृतवत्य इत्याह **कृतैकपत्रश्रवणैकनूपुरा** इति, **कृतं** स्थापित**मेकमेव पत्रं** ताटङ्कं **श्रवणे** याभिः **एकमेव च नूपुरं** श्रवणे पादे वा कृतं याभि ताश्च ताश्च. अन्याः पुनः **द्वितीयं लोचनं न अङ्क्त्वा द्रष्टुं समीयु**रिति सम्बन्धः. **तु**शब्दोऽन्यार्थः, **स्वलोचन**मिति अर्थादन्यलोचनमपि, अन्यस्य कज्जलं प्रयच्छन्ती मध्ये तथैव गतेति ॥२५॥

क्रियासक्त्यभावमाह **अश्नन्त्य एका** इति. **तद**शनकर्म अन्नं वा. अन्यथापि त्यागो भवतीति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह **सोत्सवा** इति, उल्लाससहिताः. अन्याः पुन**रभ्यज्यमानाः** सर्वाङ्गे दत्ततैलाः शिरसि धृता वा **अकृतोपमज्जनाः** स्नानमकृत्वैव ययुः. अन्या पुनः **स्वपन्त्यः उत्थाय** भगवानागत इति कोलाहलं **निशम्य** तथैवाविचारितदेहाः **समीयुः.** अन्याः पुनः **मातरः** धात्रीव्यतिरिक्ताः साक्षात् स्वप्रसूतानपि बालकान् **प्रपाययन्त्यः अर्भम्** अतीवबालकमपि विसृ**ज्यापोह्य** त्वरिता ययुः इति सम्बन्धः ॥२६॥

एवं सर्वासां भगवद्दर्शनार्थं प्रपञ्चविस्मृतिर्निरूपिता, ततो निष्प्रपञ्चासु स्वासक्त्यर्थं भगवच्चरित्रमाह **मनांसि तासामिति. तासां** पूर्वोक्तानां मनश्चेद् भगवदीयं जातं तदा स्वासक्तिः सिद्धैव, मनोमूलकत्वात् संसारस्य. मनसो हि वशीकरणं द्वेधा भवति— वस्तुसामर्थ्यात् मन एव वशे भवति यथोत्कृष्टविषये,

मनांसि तासामरविन्दलोचनः प्रगल्भलीलाहसितावलोकनैः ।
जहार मत्तद्विरदेन्द्रविक्रमो दृशां ददत् श्रीरमणात्मनोत्सवम् ॥२७॥
दृष्ट्वा मुहुः श्रुतमनुद्रुतचेतसस्तं तत्प्रेक्षणोत्स्मितसुधोक्षणलब्धमानाः ।

स्वधर्मैश्च मोहकैर्भवति यथा मन्त्रादिभिः. तत्र**ारविन्दलोचनः** कमलनयन इति स्वरूपसौन्दर्यं सर्वतापनाशकत्वेनोपकारित्वं च निरूपितम्. धर्मान् मोहकानाह **प्रगल्भा** या **लीला** तत्सूचकं यद् **हसितं** तत्पूर्वक**ावलोकनै**रिति. अतिकामुकस्य तादृशचेष्टासूचकं हास्यं भवति अवलोकनं च, पुरस्थित्वात् तासां तत्परिज्ञानं तेनैव ता व्यामुग्धा भवन्तीति. **हसितं** मन्त्रात्मकं दृष्टिः पाशात्मिकेति. यस्याः मनः येनैव प्रकारेणायाति तादृशमेव हसितं प्रेक्षितं चेति ज्ञापयितुं बहुवचनम्. तत्र बाधिकां बुद्धिं दूरीकर्तुमाह **मत्तद्विरदेन्द्रविक्रम** इति, भयं बाधकं लौकिकं तासां वैदिके अधिकाराभावात्, विचारे दोषाभावाच्च. तत्रायं यथा **मत्तो द्विरदः** स्वार्थं सर्वानविचार्य लौकिकालौकिकसाधनयुक्तो यथा मत्तगजः. सजातीयानामप्यति क्रमार्थम् **इन्द्र**पदम्. तस्यापि सर्वथा कर्तव्यत्वेन धर्मो अत्यधिको भवतीति **विक्रम**पदम्. तस्मादस्य एतत्प्रपत्तौ तासां च सर्वथा भयाभावश्च सूचितः. ननु दृष्टिद्वारा हि मनोग्राह्यमन्तःस्थितम् इन्द्रियान्तरव्यापारस्य तदानीमभावात् दृष्टिः पुनः चञ्चला अन्यत्र गच्छेद् यदि तदा तद्द्वारा ग्रहणं सर्वथा न सम्भवतीति कथमेकान्ततो ग्रहणमिति चेत् तत्राह **तासां दृशां श्रीरमणात्मना** लक्ष्मीरमणरूपेण **उत्सवं ददद्**िति. उत्सवासक्तो हि नान्यत् किञ्चन वेद सर्वस्वापहारेऽपि, चञ्चलानां मध्ये लक्ष्मीः परमकाष्ठामापन्ना, तां चेद् रमयति अनन्यासक्तां करोति कथमन्यां न कुर्यात्? अतो निष्प्रत्यूहं तासां मनोहरणमुपपद्यते, **आत्म**पदेन चावश्यकत्वं तत्परत्वे सूचयति ॥२७॥

ननु भगवानक्लिष्टकर्मा तासां मनः कथं गृहीतवानित्याशङ्क्याह **दृष्ट्वे**ति. आत्मानं सकार्यं ताभ्यो दत्वा तासां मनो गृहीतवान्. भगवत्स्वरूपग्रहणे तासां प्रकारमाह **दृष्ट्वे**ति. **मुहुः** पूर्वं वारंवारं **श्रुतो** यो भगवान् स इदानीं दृष्टः. ततः प्रथमं चक्षुःप्रीतिरुक्ता, श्रवणव्यतिरेकेण प्रीतिर्न भवतीति, अन्यथाद्भुतरस एवोत्पद्यते न प्रीतिः. सर्वेभ्योऽधिकप्रीतिसिद्ध्यर्थं मुहुः श्रवणमपेक्ष्यते. ततस्तासां चित्तासङ्गमाह **अनुद्रुतचेतस** इति, दर्शन**मनु द्रुतं चित्तं** यासाम्. अत एव ध्रियमाणमपि स्वभावादिभिर्न स्थितम्. **तमि**ति हृतमनसं, तेन चित्तप्रतिबन्धकं मनोऽपि नास्ति प्रत्युतानुगुणमेवेति. तथाप्यपुरस्कृताः महान्तं ग्रहीतुमसमर्था इति पुरस्कारमाह **तस्य प्रेक्षण**पूर्वकं **यदुत्स्मितमू**र्ध्वस्मितं सर्वप्रपञ्चाद् अधिकरसं तद्विस्मारकं च, सैव

आनन्दमूर्तिमुपगुह्य दृशात्मलब्धं हृष्यत्त्वचो जहुरनन्तमरिन्दमाधिम् ॥२८॥

प्रासादशिखरारूढाः प्रीत्योत्फुल्लदृशोऽबलाः ।

अभ्यवर्षन् सौमनस्यैः प्रमदा बलकेशवौ ॥२९॥

सुधाम्. इष्टत्वाय स्मितम् अलौकिकभावाय प्रेक्षणमिति द्वयं मिलितममृततुल्यं भवति. आभासैरप्युपमीयते प्रकृतोपयोगाय, तया यदु**क्षणं** सेचनं तेन **लब्धो मानो** याभिः. लताप्रायास्ताः अमृतासिक्ताः, भगवतोऽप्यानन्दरूपं फलं फलिष्यन्तीति. ततः सन्माननां प्राप्य आनन्दानुभवे योग्याः सत्यः भावलक्षणं वा मानं प्राप्य तदपनोदनार्थमिव समागतं भगवन्तं स्वतः पुरुषार्थरूप**मानन्दरूपा मूर्तिर्य**स्येति **उपगुह्य** अन्तरात्मना चित्तेन च समालिङ्ग्य अन्तःपूर्णानन्दा जाताः. भगवत्प्रविष्टमार्गमाह **दृशा आत्मलब्धमि**ति, दृष्टिद्वारा ज्ञानद्वारा च आत्मन्यात्मत्वेन वा लब्धम्. ततो अन्तःपूर्णानन्दाः बहिरपि तं प्रकटितवत्य इत्याह **हृष्यत्त्वच** इति, सर्वाङ्गेषु रोमाञ्चयुक्ताः. ततः पूर्णमनोरथा जाता इत्याह **अनन्तमाधिं जहुरि**ति. भगवानस्माभिर्न प्राप्त इति पूर्वं मनःपीडा स्थिता. प्राप्तेऽपि भगवति यावन् नित्यप्राप्तो भगवान् न ज्ञायते यावद् वा नान्तःप्रविश्य स्थिरो भवति तावद् भूतभविष्यत्कालयोः भगवत्सम्बन्धाभावचिन्ता न गच्छतीति अधुनान्तःप्रविष्टे भगवति तेनैव पूर्णाः मनःपीडायाः स्थानाभावात् तां जहुः. अन्यथा नित्यमनोरथः क्षणमात्रदृष्टे न सिद्ध्येत्. **अरिन्दमे**ति सम्बोधनं लौकिकालौकिकतुल्यतया स्त्रीपुंप्रसङ्ग इति लौकिकभावेन कामादिर्भवेदिति तन्निवृत्त्यर्थम्, **अरीन्** कामादीन् **दमयति** ॥२८॥

ततः पूर्णमनोरथानां कृत्यमाह **प्रासादशिखरारूढा** इति.

देवानां कृत्यं पुष्पवृष्टिः, एतास्तु देवरूपा जाताः अन्तःपूर्णामृतत्वात्. बहिरपि देवतुल्यत्वं जातमित्याह **प्रासादशिखरेषु समारूढाः** विमानेष्विव स्थिताः. अनिमिषत्वसिद्ध्यर्थमाह **प्रीत्योत्फुल्लदृश** इति, स्नेहेन कृत्वा **निर्निमेषाः** विकसितनयना एव स्थिताः. **अबलाः** स्वभावतः सौन्दर्ययुक्ताः अतः सर्वथा देवतुल्याः **सौमनस्यैः** पुष्पैरुत्तमै**रभ्यवर्षन्.** ननु निकटे स्थिताः बहुपुष्पैः **वर्षणे** अतिक्रमशङ्कया कथं न भीता जाता इति चेत् तत्राह **प्रमदा** इति, **प्रकृष्टो मदः** कामात्मको यासु; तदा आविर्भूतकामाः विचाररहिता जाता इत्यर्थः. किञ्च पुष्पवृष्ट्या न भगवतः काचिद् अनुपपत्तिरिति नामविशेषमाह— **बलो** बलभद्रः बलाधिक्यादेव **केशव**स्तु ब्रह्मेशयो सुखदातेति सर्वदा पुष्पवृष्टिमनुभवति. मत्वर्थीये च 'व'प्रत्यये पुष्पाणां केशेषु स्थापनं सर्वदेति नातिक्रमशङ्का ॥२९॥

दध्यक्षतैः सोदपात्रैः स्रग्गन्धैरभ्युपायनैः ।
तावानर्चुः प्रमुदितास्तत्र तत्र द्विजातयः ।।३०।।
ऊचुः पौरा अहो गोप्यस्तपः किमचरन् महत् ।
या ह्येतावनुपश्यन्ति नरलोकमहोत्सवौ ।।३१।।
रजकं कञ्चिदायान्तं रङ्गकारं गदाग्रजः ।

एवं स्त्रीणां सन्माननं निरूप्य ब्राह्मणानां सम्बन्धि सन्माननमाह **दध्यक्षतै**रिति. लोके स्त्रियः अलौकिके द्विजा इति द्वयमेव जगद्रत्नं, तेन भूषितो भगवान् निरूप्यते. देशाचारात् तिलकार्थं **दधि अक्षता**श्च, तैः प्रथमतो अर्चनं, ततः पादप्रक्षालनाद्यर्थं **उदपात्राणि.** बहुवचनमनेकधा जलोपयोग इति नानाविधजलानि निरूपयति. तत उत्तमाः **स्रजः**, ततो **गन्धः** चन्दनकृतो धूपकृतश्च, ततो **अभ्युपायनानि** मिष्टान्नादीनि फलादीनि वा. एवं चतुर्विधैः साधनैः **तौ** रामकृष्णौ **आनर्चुः** ततः **प्रमुदिता** अपि जाताः. द्विजातीनां पर्यवसानेऽपि क्वचिदेव सुखं भवतीति पश्चात् प्रमोद उक्तः. **तत्र तत्रे**ति ब्राह्मणानां सम्मर्दो निवारितः क्रमपूजा चोक्ता. **द्विजातय** इति सर्वे साधारण्येन पूजार्थं प्रवृत्ता इति तेषामपि निरोध उक्तः ।।३०।।

एवं कायिकं मानसिकं सन्माननमुक्त्वा वाचनिकमाह **ऊचु**रिति. सर्व एव पुरवासिनः सकृद् भगवन्तं दृष्ट्वा अमितानन्दमनुभूय विचारितवन्तः— ये सर्वदैव भगवन्तं पश्यन्ति तेषां महद्भाग्यम्. तद्भाग्यं स्मृत्वा आश्चर्याविष्टा आहुः **अहो** इति. **गोप्यस्तपः किमचरन्नि**ति. भगवन्तं द्रष्टुं स्त्रिय एव जानन्तीति तासां प्रशंसा. तपसैव सर्वं सिध्यतीति ज्ञातेऽस्माभिरपि तत् कर्तव्यमिति यत्र साधनेऽपि तत्रत्यानामिच्छा तत्र फले किं वक्तव्यमिति भावः. भगवद्दर्शनस्योत्कृष्टत्वायाह **नरलोकमहोत्सवावि**ति. उत्सवः कदाचिदेव भवति महोत्सवस्तु ततोऽपि दुर्लभः तत्रापि सर्वेषामुत्सवोऽतिदुर्लभः. **एतावि**ति प्रदर्शनेनाद्भुतत्वे प्रमाणमुक्तम् ।।३१।।

एवं कायवाङ्मनोभिः सन्माननं निरूप्य ये सन्माननं न कुर्वन्ति ये वा कुर्वन्ति उभयोः फलं दर्शयितुं हीनजातीयानाम् अतिक्रमे नाशो निरूप्यते **रजक**मिति सप्तभिः. हीनो भगवन्तं न मन्यत इति ज्ञापयितुमेवं कथा, अन्यथा भगवान् हीनं न कुर्यात्. अन्त्यजेषु मुख्यो रजकः, ''रजकश्चर्मकारश्चे''त्यादिवाक्यात्. अत एव रामावतारे रजकस्याधिक्षेपवाक्यम्. अत एव इयं जातिरेव दुष्टा, स वा. अयं **कञ्चिदि**ति महान्तं साभरणमुत्तमवस्त्रयुक्तमायान्तं स्वसम्मुखम्. रजका द्विविधाः केवलमलशोधकाः रञ्जकाश्च. तत्रायं रञ्जक इत्याह **रङ्गकार**मिति. ननु भगवान् राजवस्त्राणि किमिति

दृष्ट्वायाचत वासांसि धौतान्यत्युत्तमानि च ॥३२॥
देह्यावयोः समुचितान्यङ्ग वासांसि चार्हतोः ।
भविष्यति परं श्रेयो दातुस्ते नात्र संशयः ॥३३॥
स याचितो भगवता परिपूर्णेन सर्वतः ।
साक्षेपं रुषितः प्राह भृत्यो राज्ञः सुदुर्मदः ॥३४॥

प्रार्थयति तत्राह **गदाग्रज** इति. **गदो** रोहिणीपुत्रो द्वितीयः, सोऽग्रे भविता, तस्मादग्रे जातो भगवान्. स चोत्पादनीयः, तत् कंसवधाभावे न भवतीति कंसे मारिते तानि वस्त्राणि स्वस्यैव. याचनं तु तं मेलयितुं, यथा पुरवासिनः तथा तद्भृत्या अपि चेत् न मारणीया इति. केचित्तु गदोऽयं भविष्यतीति मारणार्थं तथोक्तवानित्याहुः. कृपादृष्टिस्तस्मिन् पतितेति तदुद्धरणार्थं याचितवान्, तदाह **दृष्ट्वायाचते**ति. ननु विद्यमानेषु वस्त्रेषु किमिति याचितवांस्तत्राह **धौतानी**ति, साम्प्रतमेव प्रक्षालितानि स्वरूपतोऽ**प्युत्तमानि, च**कारात् नानाविधानि ॥३२॥

याचनमाह **देह्यावयोरि**ति. गोपालेभ्यः पश्चात् देयमिति सङ्कोचादाव**योरे**वेत्युक्तम्. **समुचितानि** मह्यं पीतप्रधानानि बलभद्राय नीलप्रधानानि. **अङ्गे**ति सम्बोधनं तस्मिन् स्नेहसूचकमतिक्रमाभावार्थं च. **वासांसि** परिधानयोग्यानि, **च**कारात् यदि तवाभरणानि भवन्ति, गोपालेभ्योऽपि वा. न ज्ञायत इति चेत् तत्राह **अर्हतोरि**ति, आवां उत्तमवस्त्राण्यर्हन्तौ. दाने किं स्यादत आह **भविष्यति परं श्रेय** इति, अन्येभ्यो दानापेक्षयापि मह्यं दाने **परम**धिकमेव **श्रेयो भविष्यति.** परं **दातुरेव ते** न त्वदाने, अन्यथा भगवद्वाक्यमन्यथा स्यात्. दानपक्षे पश्चात् राजत्वे वृत्तेऽपि दोषान्तरशङ्कया श्रेयो न भवेदिति शङ्कां वारयति **नात्र संशय** इति ॥३३॥

एवं व्यवहारसिद्धत्वात् तदुपकारार्थं याचनेऽपि कृते दुष्टो नाङ्गीकृतवानित्याह **स याचित** इति. अविद्यमानत्वात् याचनं व्यावर्तयति **भगवानि**ति. समर्थस्यापि कदाचित् न भवेदिति तदर्थमाह **परिपूर्णेन सर्वत** इति, सर्वदेशेषु सर्वकालेषु च परितः सर्वद्रव्याणि सर्वफलानि सर्वतः पूर्णानि. ततश्च तादृशाय वचनेनापि हितं वक्तव्यमिति तत् नोक्तवानित्याह **साक्षेपमि**ति, आक्षेपपूर्वकं **रुषितः प्राह.** अन्तर्बहिः तस्य दोषौ निरूपितौ, रोष आन्तरः साक्षेपं यथा भवतीति बाह्यः. तस्य तथात्वे हेतुमाह **भृत्यो राज्ञ** इति, कंसस्य भृत्यः. स्वभावतोऽपि दुष्ट इत्याह **सुदुर्मद** इति, सुतरां **दुष्टो मदो** यस्येति ॥३४॥

आक्षेपमाह **ईदृशान्येवे**ति. यो हि समीचीनवस्त्राणि परिधत्ते स कदाचिदभावे

ईदृशान्येव वासांसि नित्यं गिरिवनेचराः ।
परिधत्त किमुद्‌वृत्ता राजद्रव्याण्यभीप्सथ ॥३५॥
याताशु बालिशा मैवं प्रार्थ्यं यदि जिजीविषा ।
बध्नन्ति घ्नन्ति लुम्पन्ति दृप्तं राजकुलानि वै ॥३६॥
एवं विकत्थमानस्य कुपितो देवकीसुतः ।
रजकस्य कराग्रेण शिरः कायादपातयत् ॥३७॥

याचयित्वापि परिधत्ते द्रव्यं दत्वा वा. तथा किं भवन्तः **ईदृशान्येवा**त्युज्ज्वलानि **नित्यं परिधत्त?** तथैवेत्याशङ्कायामाह **गिरिवनेचरा** इति, **गिरौ वने** च ये **चरन्ति** ते विद्यमानवस्त्रा अपि कुचैला एव भवन्ति, **नित्यं** ये गिरिवनेचराः तेषामुत्तमवस्त्र-परिग्रहो व्यर्थ एव. नन्वपरिहितान्यपि औत्सुक्यात् याच्यन्त इति चेत् तत्राह **किमुद्‌वृत्ता** इति, औत्सुक्ययाचने न राजकीयानि याच्यन्ते किन्तु साधारणानि, न त्वसाधारणान्यपि याच्यन्ते. का मर्यादेति चेत् तत्राह तर्हि **किं** भवन्त **उद्‌वृत्ता** इति, **उद्गतं वृत्तं** मर्यादारूपं येभ्यः, एतादृशोद्‌वृत्तता किमर्थं क्रियत इति वा, येन **राजद्रव्याण्यभीप्सथ** यस्तु मूर्धाभिषिक्तः तन्मात्रोपभोग्यानि मत्प्रक्षालितानि वस्त्राणि, तान्यपि यतोऽभीप्सथ ॥३५॥

अज्ञात्वा याचितमिति चेत् तत्राह **याताश्विति**. इतः शीघ्रमेव **यात** ग्रामान्तरं गच्छत, यतोऽत्रत्यवृत्तान्तो न ज्ञायते भवद्भिः. हितमाह **मैवं प्रार्थ्यमि**ति. बाधकमाह **यदि जिजीविषे**ति. यतः प्रार्थयितारं **राजकुलानि** मर्यादार्थं युक्ता राजभटाः अल्पापराधे **बध्नन्ति,** महत्यपराधे गृहस्थासम्मते तमेव **घ्नन्ति,** अन्यथा **लुम्पन्ति** सर्वस्वलुण्टनं[१] कुर्वन्ति. तथाकरणे दोषमाह **दृप्तमि**ति. अतो यावत् दृप्ततां न जानन्ति तावदन्यत्र **याते**ति रोषवाक्यम्. एवं सर्वसाधारणं भगवन्तं ज्ञात्वा बहुवचनेन सर्वान् प्रत्युक्तवान् ॥३६॥

तत्र [२]बलभद्राक्षेपम् असहमानः अग्रे कार्यमपि कर्तव्यमिति तं मारितवानित्याह **एवमिति. विशेषेण कत्थमानस्य** असम्बद्धभाषिणो भगवन्माहात्म्यमज्ञात्वा स्वोत्कर्षमेव वदतीति. अत एव **कुपितः.** किञ्च **देवकीसुत** इति, देवकी तु बद्धा तस्यां कृपया कंसो मारणीय इति तं मारितवान्. अथवा मातुलेयो न मारणीय इति तं ज्ञापयितुं स्वस्य पौरुषप्राकट्यार्थं रजकं मारितवान्. **कराग्रेण** चपेटेन नखेन वा. केचिद् अदृष्टं सुदर्शनं कल्पयन्ति. तस्य मुखस्यैव दोष इति **शिरः कायात्**

---

१. लुण्ठनम् इत्यपि पाठः. २. बलभद्र आक्षेपमिति पाठः इति मम प्रतिभाति.

तस्यानुजीविनः सर्वे वासःकोशान् विसृज्य वै ।
दुद्रुवुः सर्वतो मार्गं वासांसि जगृहेऽच्युतः ॥३८॥
वसित्वात्मप्रिये वस्त्रे कृष्णः सङ्कर्षणस्तथा ।
शेषाण्यादत्त गोपेभ्यो विसृज्य भुवि कानिचित् ॥३९॥
ततस्तु वायकः प्रीतस्तयोर्वेषमकल्पयत् ।
विचित्रवर्णैश्चैलेयैराकल्पैरनुरूपतः ॥४०॥

दूरीकृतवान्, उभयोः सम्बन्धो न युक्त इति. तत्प्रक्षालितानि हि भगवता परिधेयानीति ॥३७॥

ततोऽन्ये अहन्यमाना अपि पलायिता इत्याह **तस्यानुजीविन** इति. **तस्य** मुख्यरजकस्य **अनुजीविनः** सेवकाः सर्व एव रजकाः अतस्ते **वासःकोशान्** वस्त्रभारान् भण्डाररूपान् **विसृज्य वै** निश्चयेन पुनःप्राप्तिप्रत्याशां दूरीकृत्य यथायथं **दुद्रुवुः सर्वत** एव **मार्गो** यथा भवति तथा, भीतपलायने सर्वत्रैव मार्गो भवतीति. ततो भगवान् अप्रतिहतः स्वयं **वासांसि जगृहे,** क्षत्रियाणामयं धर्मः हतस्य शत्रोः पदार्थाः स्वस्यैवेति. च्युतिराहित्यमत्र कोलाहलादिना भयशङ्काव्यावृत्त्यर्थम् ॥३८॥

अत एव निर्भयव्यवहारमाह **वसित्वात्मप्रिये वस्त्रे** इति. **आत्मप्रिये** पीते, **सङ्कर्षणोपि तथा. तथा शेषाणि** पुनर्वस्त्राणि **गोपेभ्य आदत्त** भगवान् **सङ्कर्षणश्च,** तेषां स्वतो ग्रहणमनुचितमिति. भारे उपरि यदि अनभिप्रेतं भवेत् तानि **भुवि विसृज्य** उत्तमान्येव दत्तवान्. प्रायेण बहून्येव गृहीतानि त्यक्तानि तु बहूनि. **वस्त्रे** इति द्विवचनं जात्यभिप्रायम्, उभयोर्वैजात्येन वस्त्रजातीयाः प्रिया इति, न तु वस्त्रद्वयमेव. एतदर्थमेवावतीर्ण इति **कृष्ण**स्योचितं परिधानम्. सम्यक् कर्षतीति द्रष्टृदृश्ययोर्मेलक इति **सङ्कर्षण**स्यापि परिधानमुचितम् ॥३९॥

ततो यथाकथञ्चित् बन्धनार्थं प्रवृत्तौ, [१]ज्ञानतत्त्वावपि मुग्धभावेन वायकपरितोषार्थम्. तदा सन्तुष्टो **वायकः** वस्त्रपरिधानकारयिता यः प्रभुभ्योऽपि सम्यक् परिधानं कारयति स **प्रीतः** सन्, मम कार्यमेतदिति. स्वकार्ये प्राप्ते सर्वोऽपि प्रीतो भवति, तत्राप्युत्कर्षे. **तयोः** रामकृष्णयोः **यो वेष** उचितः स्वयं पूर्वं ध्यातो **वा तमकल्पयत्.** स्वयं विचार्य नानाविधवस्त्राणि गृहीत्वा, कोशेभ्यो भगवतैव वा पूर्वं गृहीतानि. **विचित्रो वर्णो** येषामिति यस्मिन् भागे यादृशो वर्ण उचितः. **चैलेयै**रुत्तमवस्त्रै**राकल्पै**राभरणरूपैः. **अनुरूपत** इति यथा श्यामे यथा शुक्ले[२] वेश

१. ज्ञाततत्त्वौ इत्यपि पाठः. २. शुक्लवेश इत्यपि पाठः.

नानालक्षणवेशाभ्यां कृष्णरामौ विरेजतुः ।
स्वलङ्कृतौ बालगजौ पर्वणीव सितेतरौ ॥४१॥
तस्य प्रसन्नो भगवान् प्रादात् सारूप्यमात्मनः ।
श्रियं च परमां लोके बलैश्वर्यस्मृतीन्द्रियम् ॥४२॥

उचितो भवति. एकत्रैव एकविषयक एव हिताहितसिद्धिरिति ज्ञापयितुं वायकनिरूपणम् ॥४०॥

तत्परिधापनेन भगवतः शोभामाह, अन्यथा तस्मै वरदानं सारूप्यलक्षणमयुक्तं स्यात्. अतस्तत्क्रियया शोभा जातेत्याह **नानालक्षणेति**, **नानालक्षणानि वेशे** ययोः कृतौ. तस्य वैयग्र्याभावाय सदानन्दत्वं रतिजनकत्वं चोक्तम्. विशेषेण पूर्वापेक्षयापि **रेजतुः**, यतः **स्वलङ्कृतौ** भवतः. अतिमहतः स्वरूपेणोत्कृष्टस्यालङ्कारेण कौतुकमेव भवतीति ज्ञापयितुं दृष्टान्तमाह— **बालगजौ** अतिसुन्दरौ यथा **पर्वणि** नवम्यादावुत्सवे अलङ्कृतौ भवतः तथातिचपलाविव अतिसुन्दरौ सर्वैर्दृष्टावित्यर्थः ॥४१॥

तदा सर्वेषामधिकसन्तोषे फलं देयमिति सन्तुष्टो भगवान् फलं दत्तवानित्याह **तस्य प्रसन्न** इति. मनसि रूपं भावयित्वा रूपं कृतवानिति **सारूप्यमेव** दत्तवान्. सामर्थ्यार्थं **भगवानिति**. मुक्तिः प्रसन्ने एव भवतीति **प्रसन्न** इत्याह. **आत्मनः सारूप्यं** व्यापिवैकुण्ठवासिनः एतद्देहावसाने भविष्यतीति तदानीमनभिप्रेतमिति फलान्तरमप्याह **लोके परमां श्रियमिति**, इहलोके धनादिसम्पत्तिम्. श्रीर्बाह्येत्याभ्यन्तरमप्याह **बलैश्वर्येति**, **बलं** देहस्य, **ऐश्वर्यं** वाचनिकम्, आज्ञासामर्थ्यमिति यावत्. **स्मृतिर्मानसी** भगवदनुसन्धानरूपा आत्मानुसन्धानरूपा. **ऐन्द्रियमपि** सर्वेन्द्रियसामर्थ्यं दत्तवान्. एवमन्तश्चतुर्धा ऐहिकं पारलौकिकं चेति षट्फलानि दत्तानि. धर्म एव तेन सम्पादित इति न स्वरूपदानम् ॥४२॥

भक्त्या सह स्वरूपदानार्थमुपाख्यानान्तरमाह **ततः सुदाम्न** इति.

यो हि दाता स पूर्वं यद्देयं तद् दत्त्वैव दुर्लभं प्रयच्छति, अतस्तदनन्तरं उत्तममालाकर्तुः भवनं गतौ. प्रायेण तस्य भवनं न राजमार्गे, अन्यथा प्रासङ्गिकमेव स्यात्.

लेखः

ततस्तुवायक इत्यत्र, **एकविषयके** इति, एक एव कार्यविषयो वस्त्ररूपो यस्य तादृशे वायके रजके च हितस्याहितस्य च सिद्ध्यर्थमित्यर्थः ॥४०॥

ततः सुदाम्न इत्यत्र, **यो हीति**, देयं सारूप्यं वायकाय दत्वा अदेयं स्वरूपं सुदाम्ने दातुं प्रवृत्त इति भावः ॥४३॥

ततः सुदाम्नो भवनं मालाकारस्य जग्मतुः ।
तौ दृष्ट्वा स समुत्थाय ननाम शिरसा भुवि ॥४३॥
तयोरासनमानीय पाद्यं चार्घार्हणादिभिः ।
पूजां सानुगयोश्चक्रे स्रक्ताम्बूलानुलेपनैः ॥४४॥
[1]प्राह नः सार्थकं जन्म पावितं च कुलं प्रभो ।

विक्रयस्थाने तु नोत्तमाः पदार्था भवन्तीति **भवनमेव जग्मतुः. सुदाम**पदं रूढं वा भवेदिति विशेषमाह **मालाकारस्ये**ति, असाधारण्येन मालाकर्तुः. नन्वक्लिष्टकर्मा भगवान् किमित्यल्पार्थे परगृहं गत इति शङ्काव्युदासाय तस्य भक्त्यादिकं निरूपयति **तौ दृष्ट्वे**ति सार्द्धैः षड्भिः, षड्गुणेभ्योऽधिकं देयमिति भक्तिरर्धमिति. स ह्युत्तमां मालां विधाय किं कर्तव्यमिति तिष्ठति, तदैवागतौ रामकृष्णौ **दृष्ट्वा स** प्रसिद्धः पूर्वमपि भगवद्भक्तः **समुत्थाय भुवि शिरसा** साष्टाङ्गं **ननाम.** लौकिक्येषा भाषेति यथाकृतमुक्तवान्. निरोधार्हो भवतीति ज्ञापयितुं वा प्राकृतत्वाभावाय भक्तत्वाभावाय च मध्यभावं [2]निरूपयन्[2] निरूपयति ॥४३॥

एतावत् महत्युदासीनेऽपि क्रियत इति विशेषतः पूजामाह **तयोरासनमानीये**ति, स्वगृहे तादृशं योग्यं प्रायेण नास्तीति यत्रैवोत्तमं तदानीय दत्तवान् , अव्यवहार्यं वा. तथा **पाद्यं च. च**कारादन्येऽप्युपचारास्तथैव कृताः, **अर्हणादिभिश्च**न्दनादिभिः. पाद्यान्ते उपचारे कृते सान्निध्याद् जातस्नेहः भक्त्युत्तरं कृतवानिति ज्ञापयितुम् **अथ**शब्दः. अतः **सानुगयोस्तयोः पूजां चक्रे.** इयं पूजा आकस्मिकीति लोकसाधारणीमाह **स्रक्ताम्बूलानुलेपनैरि**ति, आदौ **चन्दनानुलेपनं ततस्ताम्बूलं** ततो मालेति. तथापि स्वधर्मो मालेति व्युत्क्रमेण निरूपितवान्. भक्तिवशात् वा यदैव यत् सम्पन्नं तदेवाग्रे कृतवानिति ॥४४॥

एवं कायिकमुक्त्वा तत्कृतां वाचनिकीं पूजामाह त्रिभिः **प्राहे**ति. स्वकृतार्थत्वं, भगवत्कृतस्य फलत्वाय, भगवतो निर्दोषपूर्णगुणत्वं च निरूपयति.

आदौ भक्तोद्धारको भगवानिति स्वकृतकृत्यमाह **नः सार्थकं** जन्मेति. पुरुषार्थपर्यवसायि **जन्म सार्थकं नः** इति गृहस्थानां सर्वेषामेव. ये वा भगवतैवं कृताः, श्लाघायां वा. यद्यपि जन्मकाल एव तादृशं फलं भविष्यतीति सर्वदैव सार्थकं तथापि फलोन्मुखता **अद्ये**ति ज्ञानं वेति, प्रतिदिनं देहाद्युत्पत्तेर्वेत्यद्येत्युक्तं, **प्राहे**ति पाठे तु न सन्देहः. न केवलं मम जन्म किन्तु मत्सम्बन्धिनां सर्वेषामेवेत्याह **पावितं**

---

१. **अद्य** इत्यपि पाठः अङ्गीकृत. २-२. लुप्तं कस्मिन्नादर्शे.

पितृदेवर्षयो मह्यं तुष्टा ह्यागमनेन वाम् ॥४५॥
भवन्तौ किल विश्वस्य जगतः कारणं परम् ।
अवतीर्णाविहांशेन क्षेमाय च भवाय च ॥४६॥

च कुलमिति, **च**कारात् कुलस्थाः सर्वे च. तथात्वे सामर्थ्यं **प्रभो** इति. सर्वस्यापि स्वकृतस्य जन्मकोटिभिः सम्पादितस्य विनियोगोऽत्रैवेति वक्तुं पूर्वं स्वाराधितदेवादीनां प्रसादफलमेतदेवेत्याह **पितृदेवर्षय** इति. युवयो**रागमनेन पितृदेवर्षयो मह्यं तुष्टा** इति केचित्, वस्तुतस्तु **पितृदेवर्षयो मह्यं तुष्टाः. (हि!)** युक्तश्चायमर्थः, युवयो**रागमनेने**ति फलकीर्तनं, करणता त्वग्रिमफलार्थम्. अथवा नातः परं पित्राद्याराधनं कर्तव्यं यतस्त्व**दागमनेनै**व ते सन्तुष्टाः. **मह्यमि**ति मदर्थं फलं दातुं मम वा. अनेन त्वय्येव पूजिते सुतरां ते तुष्टा भवन्तीति किं वक्तव्यमित्युक्तम् ॥४५॥

महत्यारोपन्यायेन स्तुतिरेवंविधा सम्भवतीति तद्व्यावृत्त्यर्थं स्वस्य भगवत्स्वरूपज्ञानमाविष्करोति **भवन्ताविति. विश्वस्य** सम्बन्धिनौ **भवन्तौ किल** प्रसिद्धौ, विश्वस्मिन् भवन्तौ[1] प्रसिद्धावित्यर्थः. अनेन जगति यावन्तो महद्धर्मास्ते सर्वे निरूपिताः. कारणत्वं च निरूपयन्नाह **जगतः कारणं परमि**ति, **जगद्** यद् जायते तस्य मूल**कारणं** भवानेव. **विश्व**शब्दो वा 'सर्व'शब्दवत् सामान्यविशेषवाची. उत्पादकत्वेन महत्त्वेन फलत्वेन च उत्पत्त्या चोपपत्त्या च माहात्म्यं निरूपितं, **न** तूत्पत्तिस्थितिलयैः येन न्यूनता स्यात्. सर्वनिधानत्वेनैव वा सर्वप्रकारेण स्तुत्यता निरूपिता. साधारणकारणत्वं कालस्यापि वर्तत इति **परमि**ति. अनन्तमूर्तिर्भगवानिति द्विवचनं न दोषाय, रूपद्वयेन चाविर्भूत इति माहात्म्यं परमुच्यते. तादृशयोरवतारे प्रयोजनमाह **अवतीर्णाविहांशेने**ति, **इह** प्रपञ्चे **अंशेन** क्रियाशक्त्या **अवतीर्णौ**, ज्ञानांशेनान्य एव सृष्टा इति. पूर्ववदेवदेशेन[2]

लेखः

भवन्तौ किलेत्यत्र, **न तूत्पत्ती**ति, उत्पादकत्वादिकमुक्तं न तु तवोत्पत्तिर्महत्कुले, स्थितिः संहारश्च महानित्यादिकम्. तथा सति तेन निरूपणेन स्तुत्यस्योत्पत्त्यादिकमायातीति **न्यूनता स्यादि**त्यर्थः. तदा तन्निराकरणमपि वक्तव्यं भवेदिति भावः. अत्र तु क्रियाज्ञानोभयावतार इत्याशयेन पक्षान्तरमाहुः **पूर्ववदेवे**ति, "तत्रांशेनावतीर्णस्येत्यत्रेव" इत्यर्थः ॥४६॥

---

१. भवन्तावेव इत्यपि पाठः. २. एकदेशेन इत्यपि पाठः.

न हि वां विषमा दृष्टिः सुहृदोर्जगदात्मनोः ।
समयोः सर्वभूतेषु भजन्तं भजतोरपि ॥४७॥

वा. एकवचनं तु तदेवान्यत्राविष्टमित्येकावताराभिप्रायम्. अत एव क्रियाप्रयोजनमाह **क्षेमाय च भवाय चेति**— स्थितस्य परिपालनार्थं चकारादक्षेमव्यावृत्त्यर्थं, **भवायोद्भवाय** आधिक्यार्थं **चकारात्** मोक्षाय च. आधिक्यमत्र भक्तिः. अतः कार्यचतुष्टयार्थं भगवदवतार इत्युक्तं— सर्वदुष्टनिराकरणार्थं सतां रक्षणार्थं मोक्षार्थं भक्त्यर्थं च ॥४६॥

नन्वेवं क्रियमाणे अब्रह्मत्वं स्यात् विषमकरणादित्याशङ्क्य सर्वदोषान् परिहरति **न हि वां विषमा दृष्टिरिति**. मूलकारण एव हि नैर्घृण्यमपि प्रसिद्धं भवति, अवतीर्णे तु[1] वैषम्यमेव प्रसिद्धमिति तदेव निराक्रियते. **वां** युवयोर्न **विषमा दृष्टिः** कश्चित् मारणीयः कश्चित् स्थाप्य इति. तत्र हेतुत्रयं वदति **सुहृदोः जगदात्मनोः समयोरिति**. युक्त्या प्रमाणेन च पदार्थे निर्णीते प्रातीतिको दोषः, भ्रमप्रतीतिरपि अन्यथा वा व्याख्येयेति न काप्यनुपपत्तिः. युक्तश्चायमर्थ इति सर्वत्रैव[2] निर्णयः इति **हिशब्दः**. न हि कश्चित् पुत्रं मारयन् कश्चिदभिनन्दन् पिता विषमो भवति, शिक्षार्थमेव तथा करणात्. न हि हस्तेन पादं प्रक्षालयन् शिरश्चाप्रक्षालयन् विषमो भवति, क्वचिदेव वा अलङ्कुर्वन्. कालमुखे प्रविष्टानां जीवानामुद्धारार्थमागतः कालं वञ्चयित्वा नयन् वञ्चनार्थं सुहृदेव अन्तर्यामित्वात् सखित्वात् कृपालुत्वाच्च प्रदर्शनार्थं विषममपि कुर्वन् विषमो भवति. तदाह **सुहृदोरिति**, यथैव सौहार्दं सिध्यति तथैव कुरुतः. **जगत एवात्मानौ** कथमेकस्यैव विषमौ भविष्यतः? अनेन स्वात्मानं यथासुखं करोति इति नैर्घृण्यमपि परिहृतं ज्ञातव्यम्. **सर्वभूतेषु** समत्वं कारणत्वादेव सिद्धम्. **भूत**पदेन च रोगादिवद् ये निवर्तनीया एव सहजासुराः ते व्यावर्तिता इति केचित्. वस्तुतस्तु जाताभिप्रायम्, अन्यथा आत्मैवेति नात्मनः समो भवति, साम्यस्य भेदसहिष्णुत्वात्. नन्वेतच्छिक्षार्थं मारणे गतिरुक्ता, वरदानादेः का गतिरिति चेत् तत्राह **भजन्तं भजतोरपि**— "ये यथा मां प्रपद्यन्त"इति वाक्यात् कल्पतरुस्वभावत्वाच्च प्रार्थितायैव प्रयच्छतीति सर्वेभ्यः अदानेऽपि न विषमत्वम् ॥४७॥

एवं स्तुत्वा स्वस्य मानसं निवेदयति **तावाज्ञापयतामिति**. अयं हि मनसा भगवते सर्वं निवेद्य दासो जातः, स चेद् भगवता दासत्वेन स्वीक्रियते तदा दासः सम्पद्यते, तस्य चाभिज्ञापकमाज्ञापनम्, अतस्तौ स्वामिनौ **भृत्यं मामाज्ञापयताम्.**

---

१. अवतीर्णेषु वै इत्यपि पाठः. २. सर्वत्रैवम् इत्यपि पाठः.

तावाज्ञापयतां भृत्यं किमहं करवाणि वाम् ।
पुंसोऽत्यनुग्रहो ह्येष भवद्भिर्यन्नियुज्यते ॥४८॥
इत्यभिप्रेत्य राजेन्द्र सुदामा प्रीतिमानसः ।
शस्तैः सुगन्धैः कुसुमैर्मालां विरचितां ददौ ॥४९॥
ताभिः स्वलङ्कृतौ प्रीतौ रामकृष्णौ सहानुगौ ।
प्रणताय प्रपन्नाय ददतुर्वरदौ वरान् ॥५०॥

ननु वेदे सर्व एव जीवाः भृत्या आज्ञप्ताः तथा भवानपीति चेत् तत्राह **किमहं करवाणि वामिति**, युवयोरर्थे **किं** विशेषेण **करवाणि**? अन्यथा विशेषतो दासभावप्राप्तेः कः पुरुषार्थः स्यात्? ननु पूर्णकामा वा **वां**, नास्मभ्यं किञ्चित् कर्तव्यमिति चेत्, तत्राह **पुंसोऽत्यनुग्रह** इति. न ह्ययं नियोगः भवदुपकाराय किन्त्वस्मदुपकाराय, यथा वरदानम्. वरापेक्षयाप्ययमत्यनुग्रहः **यत्** सेवकत्वेन स्वीकृत्य **नियुज्यते. (हि।)** युक्तश्चायमर्थः, वरः परिच्छिन्नः अपरिच्छिन्नं च दासत्वमिति, तस्य हि सर्वं कार्यं स्वामिनैव कर्तव्यमिति. **भवद्भिरिति** बहुवचनं ससेवकाभिप्रायम्. **एष** इति भक्त्या भगवदाज्ञापनं तस्य पुरःस्फूर्तिकमित्युक्तम्, अत एवाग्रे अनुक्तोऽपि मालां दास्यति. अनेन भगवत्प्रपत्तेः स्वतः सामर्थ्यं द्योतितं, यथात्रालौकिकद्रष्टृत्वम्, भगवद्धर्मेणैवाज्ञा बोधितेति वाक्यापेक्षाभावात् न किञ्चिदुक्तवन्तौ ॥४८॥

स्वयमेव ज्ञात्वा यत् कृतवांस्तदाह **इत्यभिप्रेत्येति. राजेन्द्रेति** सम्बोधनात् केचन सेवकाः अभिप्रेतार्थमपि जानन्ति इति नाश्चर्यमेतदिति ज्ञापनार्थम्. तादृशाः सेवकाः सार्वभौम एव भवन्तीतीन्द्रपदम्. पदार्थे निश्चिते **प्रीतिमानसो** जातः, आज्ञा प्राप्तेति. ततः **शस्तैः** शास्त्रतः स्तुतैः स्वरूपतश्च **सुगन्धैः** मल्लिकादिभिः **कुसुमैर्विरचितामे**कामेव **मालां ददौ. माला विरचिता** इति वा पाठः. एकवचने तु भगवति दत्ते भगवानाविष्ट इति तत्रापि बलभद्रेऽपि स्फुरति प्रतिबिम्बवत्. अन्या अपि माला दत्तवान् इति ज्ञातव्यम् ॥४९॥

ततो भगवान् वरं दत्तवानिति वक्ष्यन् तत्कृतं शोभातिशयं भगवति आह **ताभिः स्वलङ्कृताविति**. उत्कृष्टमालाभिः **सुष्ठु अलङ्कृतौ.** ततः **प्रीतौ** जातौ. सदानन्द-रमणकर्तारौ फलसाधनरूपौ सर्वसेवकैः **सह** प्रीतौ निर्विवादौ. **प्रणताय** नम्राय विनीताय कर्मज्ञानमार्गयोरपि फलदानयोग्याय, **प्रपन्नाय** शरणागताय भक्तिमार्गेऽपि फलयोग्याय. यतो **वरदौ** अतो **वरान् ददतुः**. वरदेश्वरत्वं नाविर्भावितं किन्तु वरदत्वमेव. "वरान् दास्यावः प्रार्थये"त्युक्तवन्तावित्यर्थः ॥५०॥

सोऽपि वव्रेऽचलां भक्तिं तस्मिन्नेवाखिलात्मनि ।
तद्भक्तेषु च सौहार्दं भूतेषु च दयां पराम् ॥५१॥
इति तस्मै वरं दत्वा श्रियं चान्वयवर्धिनीम् ।
बलमायुर्यशः कान्तिं निर्जगाम सहाग्रजः ॥५२॥

॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे अष्टात्रिंशोऽध्यायः ॥

अथवा स्वयं वरान् दत्तवन्तावेव, सोऽपि पृथग् याचितवानिति, तदाह **सोऽपि वव्र** इति. भगवता दत्तवरोऽपि कृतार्थोऽपि **अचलां भक्तिं वव्रे.** विषये वैलक्षण्याभावाय **तस्मिन्नि**त्येकवचनम्. ज्ञानापरपर्यायरूपा स भक्तिरिति ज्ञापयितुमाह **अखिलात्मनी**ति. अनेन सर्वत्र विषमा दृष्टिरपि परिहृता, तथापि भक्तेर्वैशिष्ट्यं वक्तुं भेदसहिष्णुत्वाय सर्वोत्तमत्वं स्थापयितुमन्यद् वरद्वयमाह **तद्भक्तेषु च सौहार्दमि**ति. **चका**राद् भगवदीयव्यतिरिक्तेष्वौदासीन्यम्. **भूतेषु** दीनेषु सर्वेषु **च परामु**त्कृष्टां **दयां** लोकोत्तरां, यया ते कृतार्था एव भवन्ति. **चका**रात् प्रश्रयादिकमपि स्वोत्कृष्टेषु प्रार्थितं भवति ॥५१॥

प्रार्थितं दत्तवानित्याह **इती**ति, एवं प्रकारेण प्रार्थितं **वरं तस्मै दत्वा** स्वयं पुनः वंशं तद्वृद्धिं तत्र सर्वत्र श्रियः अविच्छेदं **श्रियं च** दत्तवान्. एतद् बाह्याभ्यन्तरं च दत्तवानित्याह **बलमि**ति, **बलं** देहसामर्थ्यम् **आयुः यशः** कीर्तिं **कान्तिं** सौन्दर्यं चेति. एवं दत्वा ततो भक्तगृहात् **निर्जगाम.** अत्र दाने भगवानेव कर्ता बलभद्रः सहभावमात्रमिति. निर्गमने वा प्राधान्येन निर्गत इति, **सहाग्रज** इति बलभद्रसहितः. एतदर्थमेवावतीर्णाविति गमनावश्यकत्वं सूचितम् ॥५२॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे अष्टत्रिंशाध्यायविवरणम् ॥

लेखः

सोऽपि वव्रे इत्यत्र, **ज्ञानापरे**ति, अखिलात्मरूपत्वमक्षरस्यैवेति तत्पर्यवसायिनी भक्तिरित्यर्थः. मुख्यभक्तिस्तु सर्वात्मनि, सर्वेष्वात्मा स्वरूपमाधिदैविकवत् यस्य तस्मिन्, पुरुषोत्तमे भवतीति विभेदः ॥५१॥

इतीत्यत्र, वंशमिति, अन्वये वर्धते तच्छीला **अन्वयवर्धिनी**, छान्दसत्वादधिकरणेऽप्युपपदे णिनिः. एतेनैव वंशः तद्वृद्धिः श्रीः तस्या अविच्छेदश्च **दत्तो** इति भावः ॥५२॥ अष्टत्रिंशाध्यायव्याख्या समाप्ता ॥

॥ इति अष्टत्रिंशोऽध्यायः ॥

॥ सप्तमः स्कन्धादितः एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥

एकोनचत्वारिंशे तु हरेरद्भुतकर्मणः ।
स्वासक्त्यर्थं राजसानां वीर्यं तस्य निरूप्यते ॥(१)॥
अलौकिकं लौकिकं हि प्रसन्नः कुरुते फलम् ।
नान्यस्तत्र फलं दातुं शक्नोतीति धनुःकथा ॥(२)॥
लौकिकालौकिकत्वेन सामर्थ्यं लक्षणं पुनः ।
निरूप्यते स्वदोषस्य निवृत्त्यै स तथापि हि ॥(३)॥
न निवर्तत इत्युक्त्वा मल्लरङ्गकथापरा ।
एतावताक्लिष्टकर्मा हरिरत्र निरूपितः ॥(४)॥
प्रमाणानां फलं ह्येतत् कार्यं चापि निरूपितम् ।
कुब्जाप्यत्र धनूरूपा वायुना तु तथा कृता ॥(५)॥

लेखः

एकोनचत्वारिंशे, **वीर्यमिति**, धनुर्भङ्ग इत्यर्थः. अध्यायार्थो धर्मिनिरूपणमेव निबन्धोक्तः, वीर्यं तदङ्गत्वेन निरूप्यते इति **तु**शब्दः (१).

अलौकिकमिति, अलौकिकं कुब्जायाः स्वरूपसम्पादनं, **लौकिकं** वणिग्जनानां पुरस्त्रीणां च भावः. **हि** यत इदं द्वयमपि भगवानेव **प्रसन्नः** सन् **कुरुते, तत्र** भगवत्पुरे **अन्यो** देवः **फलं दातुं न शक्नोति इति** हेतोः **धनुर्भङ्गकथा** उक्तेति शेषः (२).

लक्षणमिति, मरणलक्षणमित्यर्थः. **स्वदोषस्येति**, एतावज्ज्ञापनेऽपि न निवृत्तस्ततो भगवता मारित इति भगवतो दोषो नास्तीत्यर्थः. इदं विवृण्वन्ति **स** इति, कंस इत्यर्थः (३).

प्रमाणानामिति, एतद् अलौकिकलौकिक-माहात्म्यज्ञानं **प्रमाणानां फलम्,** अतः प्रमाणप्रकरणान्ते निरूपणं युक्तमिति **हि**शब्दः. **कार्यं चापीति**, मरणज्ञानं प्रमाणकार्यमित्यर्थः. अत एव कौषीतक्युपनिषदि मरणलक्षणान्युक्तानि, ज्ञाते हि मरणे तत्साधने प्रवर्तते इत्याशयेन. प्रमाणानि मरणं ज्ञापयन्ति सन्ति तत्साधने पुरुषं प्रवर्तयन्तीति भावः. विरूपायां कुब्जायां तथाप्रसादे हेतुमाहुः **कुब्जापीति**, तथा कुब्जत्वप्रकारेण **धनुषो रूपमिव रूपं** स्वरूपं यस्यास्तादृशी **वायुना कृता,** स्वतस्तु लक्ष्म्यंशत्वादतिसुन्दरी, अतस्तावानंशः समः कर्तव्य इति भावः, यथान्या भगवद्भोग्या लक्ष्म्यंशास्तथेयमपीत्यपिशब्दः (५).

कंसे उपास्यदेवस्यापि प्रतिकूलत्वं वक्तुमसुरत्वेन तदुपास्यस्य कालस्य

आध्यात्मिको रुद्ररूपः शिष्टौ धनुषि संस्थितौ ।
यत् पालकं तस्य खण्डौ साधनं नाशने मतम् ॥(६)॥
कालोऽपि विपरीतोऽभूत् दुर्निमित्तैः पतिर्द्विषाम् ।
बुद्धिर्हि न हिता तस्य प्रतिकूलेऽखिलं हरौ ॥(७)॥

॥ श्रीशुक उवाच ॥

अथ व्रजन् राजपथेन माधवः स्त्रियं गृहीताङ्गविलेपभाजनाम् ।

पूर्वाध्यायान्ते सुदाम्नो भवनात् निर्गत इत्युक्तं, तत्र पुनरन्यस्य गृहे गमनं सम्भवतीति तद्व्यावृत्त्यर्थं भिन्नप्रक्रमेण स्वपूर्वलीलयैव भगवान् प्रचलित इत्याह **अथे**ति. राजमार्गेणैव **व्रजन् स्त्रियं** ददर्शेति. स्त्रियो हि भगवतः कृपापात्रमिति तत्र भगवतो नात्यन्तं प्रयासः, कालेनैव ताः भगवदीयाः क्रियन्ते, "तत्प्रियार्थं सम्भवन्तु सुरस्त्रियः"[१] इति वाक्याद्. अतः कुब्जा मध्ये मिलिता. अलौकिकं तत्समीकरणमिति अलौकिकसामर्थ्यज्ञापनाय चतुष्पथ एव तथा करणम्. **माधव** इति लक्ष्मीपतित्वात् तदंशभूता सेति तस्या उद्धारः कर्तव्यः. तस्या नामाप्रसिद्धमिति जात्यादिकमेव निरूपितम्. **स्त्रियमि**ति विशिष्टां भोगयोग्याम्. **गृहीतमङ्गविलेपभाजनं** यया, सा हि स्वगृहे अङ्गविलेपनं सज्जीकृत्य कंसार्थं नयति. भगवति च प्रविष्टे ततो राजधर्मा निवृत्ताः भगवत्येव समागताः, अत एव वस्त्राणि चन्दनं माला राजभोग्याः भगवतैव

लेखः

त्रैविध्यमाहुः **आध्यात्मिक** इति, काल इति शेषः. रोदयतीति **रुद्र**स्तादृशं **रूपं** यस्य सोः मरणकालः **आध्यात्मिकः, शिष्टौ** आधिभौतिकाधिदैविकौ **धनुषि संस्थितौ**-- धनुराधिभौतिककालरूपं, तत्र बाह्यस्थापितो देवः आधिदैविककालरूपः. इदं सर्वं **नाशने साधन**मित्यग्रिमेणान्वयः. **यत् पालक**मिति मतमिति शेषः, कंसस्य पालकत्वेन यदभिमतं **तस्य खण्डौ** पूर्वार्धोक्तत्रयं च **नाशने साधनं** मतं भगवत इति शेषः (६).

कालस्य प्रातिकूल्ये हेतुमाहुः **कालोऽपी**ति, **द्विषा**मसुराणां **पतिरपि कालः दुर्निमित्तै**र्दुरदृष्टैः कृत्वा **विपरीतोऽभूत्.** मरणं ज्ञात्वापि तथा कुतः प्रवृत्त इत्यत आहुः **बुद्धिर्ही**ति, हि यतस्तस्य **बुद्धिर्हि**ता न, तस्य हितं नाचरतीत्यर्थः. सर्ववैपरीत्ये मुख्यहेतुमाहुः **हरौ प्रतिकूले** सर्वं तथा भवतीति (७).

अथ व्रजन्नित्यत्र **कालेनैवे**ति, अवतारकालेनेत्यर्थः ॥१॥

---

१. भाग. १०/१/२३.

विलोक्य कुब्जां युवतीं वराननां पप्रच्छ यान्तीं प्रहसन् रसप्रदः ॥१॥

॥ श्री भगवानुवाच ॥

का त्वं वरोर्वेतदुहानुलेपनं कस्याङ्गने वा कथयस्व साधु नः ।
देह्यावयोरङ्गविलेपमुत्तमं श्रेयस्ततस्ते न चिरात् भविष्यति ॥२॥

गृहीताः. तां **कुब्जां** निर्गतपृष्ठभागां **युवतीं** वयसोत्तमाम्. दर्शनेऽप्युत्तमामाह **वराननामिति**, भोगे परमयोग्या, मुख्ये उत्ताने असामर्थ्यात्. अतोऽर्धफलां तां मध्ये मार्गं दृष्ट्वा **पप्रच्छ यान्तीमेव**, न तु सा भगवन्तं दृष्ट्वा स्थिरीभूता. भोगाभावनिश्चयात् भक्तिज्ञानादावनधिकाराद् दर्शने मनोभवपीडासम्भवाद् गच्छन्तीव सा जाता. **प्रहसन्निति** तस्याः सर्वमेव विवेकं दूरीकुर्वन् परिभाषणं कृतवान् यथा सा पश्यति. कृपापात्रं भगवान् स्वयमप्याकार्य स्वस्मिन् प्रवर्तयतीति ज्ञापयितुमाभाषणं कृतवान्. कुब्जेयमपूर्वा गच्छतीति लोकरीत्या प्रहसनम्. ननु गच्छन्तीं किमित्याकारितवान् तत्राह **रसप्रद** इति, **रसमा**त्मस्वरूपं कामरसं वा **प्र**कर्षेण **ददाती**ति ॥१॥

प्रश्नमाह **का त्वमिति. वरोर्वी**ति सम्बोधनं भोगयोग्यतां सूचयति. **उह** अपि च **एतदनुलेपनं कस्य त्वं वा कस्ये**ति. **अङ्गने**ति पुनः प्रीत्या सम्बोधनं तव विशेषप्रीत्या [1]भोगयोग्यतां सम्पादयिष्यामीति ज्ञापनार्थम्. **वे**त्यनादरे, नास्माकं सम्बन्धिपरिज्ञाने किञ्चित् प्रयोजनमिति **साधु** यथा भवति तथा **नो**ऽस्मभ्यं **कथयस्व.** किञ्च **आवयोरे**तदनुलेपनम् **उत्तमं** प्रतीयत इति **देहि.** अङ्गविलेपने दत्ते अङ्गमेव दास्यामीति भगवदभिप्रायः, तदेवाह **श्रेय** इति, **ततस्ते** अचिरादेव **श्रेयो भविष्यति.** यद्यपि दानफलं देशादीनां प्रशस्तत्वाभावात् शीघ्रं न भविष्यति तथापि दर्शनमपि दाने शीघ्रं सफलं भविष्यतीति तथोक्तिः ॥२॥

॥ सैरन्ध्र्युवाच ॥

दास्यस्म्यहं सुन्दरवर्य सम्मता त्रिवक्रनामा ह्यनुलेपकर्मणि ।

सा तु सैरन्ध्री अन्तःपुरदासिका बहिस्तिष्ठति अभर्तृका च. सा स्वस्वरूपं निरूपयति **दास्यस्मी**ति, स्वभावतो जात्यैव **दासी. सुन्दरवर्ये**ति सम्बोधनात् त्वं चेत् कृपां करिष्यसि तवैव भविष्यामीति. राजदास्योऽपि वेश्याप्रायाः गुप्ताः, परम् **अनुलेपकर्मणि** चतुःसमनिर्माणे **सम्मता** सर्वेषामेव. अस्मिन्नर्थे अनुलेपभोक्ता राजा प्रमाणमिति तस्यापि सम्मतिमाह **मद्भावितमिति**, मया भावितं भागशो

---

१. भोग्यतां, भोगभोग्यताम् इत्यपि पाठौ.

मद्भावितं भोजपतेरतिप्रियं विना युवां कोऽन्यतमस्तदर्हति ॥३॥
रूपपेशलमाधुर्य-हसितालापवीक्षितैः ।
धर्षितात्मा ददौ सान्द्रमुभयोरनुलेपनम् ॥४॥
ततस्तावङ्गरागेण स्ववर्णेतरशोभिना ।
सम्प्राप्तपरभागेन शुशुभातेऽनुरञ्जितौ ॥५॥
प्रसन्नो भगवान् कुब्जां त्रिवक्रां रुचिराननाम् ।
ऋज्वीं कर्तुं मनश्चक्रे दर्शयन् दर्शने फलम् ॥६॥

निर्मितमङ्गविलेपनं **भोजपतेः** कंस**स्यातिप्रियम्,** अतः **(यु!)वां** भवन्तौ **विना अन्यतमः को** वा **अर्हति ? भोजपतेः प्रियमेव**, न तु भोजपतिरर्हति ॥३॥

यद्यपि राजकीयं तत् ततो जीवति राज्ञि अर्हतु वा मा वा, तथापि नान्यस्मै दातुमुचितं, तथापि कामेन भगवद्वशा भूत्वा दत्तवतीत्याह **रूपेति. रूपं** भगवतो नीलमेघश्यामं, तस्य **पेशलं** कोमलता. अङ्गानां भोगयोग्यता **माधुर्यं;** तस्यैव कोमलताया अयमधिको गुणः. **माधुर्य**युक्तं वा **हसितं, हसित**पूर्वक**मालाप**श्च **वीक्षितानि** च. रूपं हसितं भाषितं वीक्षणमिति देहेन्द्रियान्तःकरणात्मनां वशीकरणसाधनान्येतानीति **तैः धर्षितात्मा** स्वरूपात् च्यावितदेहेन्द्रियादिरूपा . **सान्द्रं** गाढम् अन्तःस्थित**मुभयोरनुलेपनं ददौ.** उभयत्रापि मनःप्रीतिरिति भगवतापि तथैव याचितमिति ॥४॥

ततो भगवतस्त्रिविधोऽप्यलङ्कारो जात इत्याह **ततस्तावि**ति. **स्ववर्णात्** शुक्लनीलाद् **इतरो** यः पीतो वर्णः तेन **शोभिना** शोभायुक्तेन **अङ्गरागेण तावु**भावपि **शुशुभाते.** स्वरूपतः शोभाकर्तृत्वं वारयति **सम्प्राप्तपरभागेने**ति, **सम्यक् प्राप्तः परो** नाभेरूर्ध्व**भागो** येनाङ्गरागेण. नाभेरूर्ध्वं सर्वत्रैव कण्ठपर्यन्त-व्याप्तमनुलेपनम्. यथा वस्त्राणां मालादीनां वा शोभा नापगता भवति तथा प्राप्तिः **सम्यक् प्राप्तिः. ननु** वस्त्रादिघर्षणेन स्वतो वा तदपगमे कथं शोभा प्रतिष्ठिता स्यादत आह **अनुरञ्जिताविति**, माञ्जिष्ठादिना वस्त्रमिव तेन रागयुक्तौ जातौ प्रीतौ वा ॥५॥

ततो भगवान् वाक्यं कृतमिति किञ्चित् फलं तदानीमेवाग्रिमफलसाधकं कर्तुमारब्धवानित्याह **प्रसन्न** इति. तस्याः कृतं शोभातिशयं ज्ञात्वा **प्रसन्नो** जातः, **भगवांश्च** सर्वफलदानसमर्थः तथाप्यादौ दोषो दूरीकर्तव्य इति दोषमेव दूरीकृतवान्. तदर्थमाह **कुब्जामि**ति. न केवलं कुब्जत्वमात्रं किन्तु **त्रिवक्रां** ग्रीवा पादौ मध्यमिति. मुखे व क्रतामाशङ्क्य तद्व्यावृत्त्यर्थमाह **रुचिरमाननं** यस्याः. **ऋज्वीं** कुब्जतां

पद्भ्यामाक्रम्य प्रपदे द्व्यङ्गुल्युत्तानपाणिना ।
प्रगृह्य चुबुकेऽध्यात्ममुदनीनमदच्युतः ॥७॥
सा तदर्जुसमानाङ्गी बृहच्छ्रोणिपयोधरा ।
मुकुन्दस्पर्शनात् सद्यो बभूव प्रमदोत्तमा ॥८॥
ततो रूपगुणौदार्यसम्पन्ना प्राह केशवम् ।

वक्रत्वं च दूरीकरिष्यामीति **मनश्चक्रे** — ब्रह्मसृष्टौ सा तथाभूतैवेति मूलेच्छाया अभावात् नूतनं मनः कर्तव्यम्. राजसा ह्यतिकठिना इति तेषामर्थे नूतनमपि करोतीति ज्ञापयति. नन्वेतदङ्गरागदानफलं, तथा सति शास्त्रविरुद्धमित्याशङ्क्याह **दर्शने फलं दर्शयन्निति**, दर्शनस्यापि नैतत् फलं किन्तु दर्शनैकदेशस्येति सप्तम्या निरूपितम् ॥६॥

समीकरणप्रकारमाह **पद्भ्यामाक्रम्ये**ति, तस्याः पादाग्रद्वयं स्वस्य **पद्भ्यामाक्रम्य** पृष्ठभागे हस्तं दत्त्वा **द्व्यङ्गुलोत्तानपाणिना** कनिष्ठानामिके सङ्कोच्य मध्यमादेशिनीद्वयमुत्तानं विधाय **चिबुकाधो** गृहीत्वा **अध्यात्मं** तस्य शरीरम् **उदनीनमद्** ऊर्ध्वं नीतवान्. ननु स्त्रीस्पर्शे भावान्तरोत्पत्तेरावश्यकत्वात् कथमव्यग्र एवं कृतवानित्याह **अच्युत** इति. अच्युतत्वादेव तामपि नावयवशः च्युतां कृतवान् किन्त्वपेक्षितप्रकारेणैव समां चक्रे. भगवान् प्रकारान्तरेणापि ऋज्वीं करोति तथापि सा यान्ती स्थितेति तस्यै काममोक्षावेव दातुं द्वे एवाङ्गुली उत्ताने कृते, अङ्गुष्ठस्य तु सर्वसमत्वात् न योजनम्. एवं कौतुकमिव वस्त्रपुत्तलिकामिव सज्जीचकार ॥७॥

भगवत्स्पर्शपर्यन्तमेव तथात्वमिति स्थितिस्थापकसंस्कारेण पूर्ववदेव मा भवत्विति भगवता परित्यक्तामपि तां वर्णयति **सा तदे**ति. **सा** त्रिवक्रापि **तदैव ऋजु समानं चाङ्गं** यस्यास्तादृशी जाता. ननु कुब्जभागे ये अवयवाः बहवः स्थिताः ते चेत् तदुदरे प्रविशन्ति तदा कृशोदरीत्वं भज्येत, अथापगच्छेयुः तदैकदेशनाशाद् अच्युतस्पर्शः न युक्तो भवतीत्याशङ्क्याह **बृहच्छ्रोणिपयोधरे**ति, **श्रोण्योः पयोधरयोश्च** ते भागाः प्रविष्टा अतो भोगोपकारायैव जाताः. किञ्च **मुकुन्दो** मोक्षदाता सर्वेषामेव पूर्वावस्थां त्याजयित्वा स्वानन्दं प्रापयति, तथा तस्या अपि पूर्वावस्थां दूरीकृत्य लक्ष्मीसमानामवस्थां प्रापितवान्. तदाह **मुकुन्दस्पर्शनात् सद्य एव प्रमदोत्तमा** जाता ॥८॥

ततो भगवान् स्वार्थमेव कृतवानिति भगवन्तमेव गृहीतवतीत्याह **तत** इति. **ततः** तस्या **रूपं सम्पन्नं, गुणाश्च** पद्मगन्धादयः, पूर्णो रसः तस्य च दानार्थ**मौदार्यं**

उत्तरीयान्तमाकृष्य स्मयन्ती जातहृच्छया ॥९॥
एहि वीर गृहं यामो न त्वां त्यक्तुमिहोत्सहे ।
त्वयोन्मथितचित्तायाः प्रसीद पुरुषर्षभ ॥१०॥
एवं स्त्रिया याच्यमानः कृष्णो रामस्य पश्यतः ।
मुखं च वीक्ष्यानुगानां प्रहसंस्तामुवाच ह ॥११॥

च **सम्पन्नम्**, औदार्ये च सर्वे गुणा इति आन्तराः सत्यादयः सर्वे निरुक्ताः. एवं सर्वगुणसम्पन्ना सती **केशवं** ब्रह्मादिभ्योऽपि सुखदातारं **प्राह. सा** दासीति प्रमदा जातेति भगवदङ्गस्पर्शोऽपि वृत्त इति निर्भया सती विटमिव कामरसिकमिव **वा उत्तरीयान्तं** भगवत **आकृष्य** तदानीमेव जातभावा स्वहृदयं बोधयन्तीव **स्मयन्तीव** वक्ष्यमाणमाह. ननु कथं सभायां चतुष्पथे तथा कृतवतीत्याशङ्क्याह **जातो हृच्छयो** यस्या इति ॥९॥

तस्या वाक्यमाह **एहीति**. स्त्रीणां रसान्तरं न रोचत इति गोपिकावदेषापि काममेव पुरुषार्थं मन्यते, तं दातुं समर्थ इति **वीरे**ति सम्बोधनम्. **गृहं** रमणयोग्यमिति, आत्मानं भगवन्तं च आत्मतया सम्भाव्य **याम** इत्याह. सर्वेषां कार्यमस्ति चेत् त्वयावश्यमागन्तव्यमित्यभिप्रायेणाह **न त्वां त्यक्तुमिहोत्सह** इति, अकृतकार्यत्वात्, सम्भृतिरेव सम्पादिता न तु भोजितेति. त्यागो दूरे तदर्थमुत्साहमपि न करोमि. नन्वेवं निर्बन्धे को हेतुस्तत्राह **त्वयोन्मथितचित्ताया** इति, त्वया हि **चित्तं** मदीय**मुन्मथितं** येन चेतना गता. मथनं कृत्वा हि तत्फलं नवनीतमिव भोक्तव्यम्, अतो भोगार्थं निर्बन्ध इत्यर्थः. नन्वीश्वरे कथमेवं धाष्ट्र्यमिति शङ्कायामाह **प्रसीदे**ति, प्रसन्नो भव स्वामिन्, त्वयि प्रसन्न एव सर्वं भवतीति. तर्हि निष्कामां करिष्यामीति चेत् तत्राह **पुरुषर्षभे**ति, हे पुरुषश्रेष्ठ. न हि पुरुषः स्त्रियं निष्कामां करोति अपि तु कामपूर्णामेव, सुतरामेव पुरुषर्षभः ॥१०॥

एवं कामपीडितायां प्राय्र्थमानायां सत्यां तदुल्लङ्घनम् अनुचितमिति भगवान् किं कृतवानित्याशङ्कायामाह **एवमिति**. **एवं** निर्बन्धप्रकारेण **स्त्रिया याच्यमानः कृष्णः** तासामेवार्थे अवतीर्णः तथापि **रामस्य पश्यतः** सतः. सङ्कोचार्थं साधनसिद्ध्यर्थं वा रामकीर्तनम्. ततः **अनुगानां च मुखं** निरीक्ष्य, चकाराद् बलभद्रस्यापि. बालाः कौतुकचेतसः, बलभद्रो युद्धाभिलाषी, इयं च कामपरा. एवं च सति सर्वानुरोधः कर्तव्य इति **प्रहसन्** प्रकर्षेण **तां** मोहयन् **उवाच. ह**ेत्याश्चर्ये, नहि स्त्रीभिः प्रार्थितः कृष्णो विलम्बं करोतीति. अथवा पूर्णानन्दः कथमेवमाह अहमागमिष्यामीति ॥११॥

एष्यामि ते गृहं सुभ्रु पुंसामाधिविकर्षणम् ।
साधितार्थोऽगृहाणां नः पान्थानां त्वं परायणम् ॥१२॥
विसृज्य माध्व्या वाण्या तां व्रजन् मार्गे वणिग्जनैः ।
नानोपायनताम्बूलस्रग्गन्धैः साग्रजोऽर्चितः ॥१३॥
तद्दर्शनस्मरक्षोभादात्मानं नाविन्दन्[1] स्त्रियः ।
विस्रस्तवासःकबर-वलयालेख्यमूर्तयः ॥१४॥

भगवद्वाक्यमाह **एष्यामि ते गृहमि**ति. **सुभ्रु** इति सम्बोधनं प्रार्थनार्थमेवेति सूचयति परिहासार्थम्. यथा तस्याः अयं रसो गुप्तो भवति तदर्थम् उपहासवदाह **पुंसामाधिविकर्षणमि**ति, ये केचन पुरुषाः तेषां मनःपीडा गुप्तार्था तां त्वद्गृहमेव त्याजयति, अतः **आधिविकर्षणम्.** परमारब्धं समाप्य कर्तव्यमिति विलम्बः कर्तव्य इत्याह **साधितार्थ** इति, कंसं हत्वेत्यर्थः. ननु पश्चादागमिष्यसीत्यत्र किं प्रमाणमित्याशङ्क्याह **अगृहाणां नः पान्थानां त्वमेव परायणमि**ति, परिहासोक्तिरेषा. स्वार्थमेवागमिष्याम इति नात्र सन्देहः कर्तव्यः. **पान्थानामि**ति गृहार्थमप्यागमनं, क्वचित् स्थातव्यमिति. यदि कश्चित् प्रार्थयेत् तदा तत्र स्थितौ कः सन्देह इत्यर्थः. किञ्च **त्वमेव परमयनमि**ति अस्माकं सुतरां स्वार्थमुत्पादिता परायणं भवत्येव ॥१२॥

एवमुक्त्वा प्रकृतार्थमेव प्रवृत्त इत्याह **विसृज्येति.** **वाणी** च **माध्वी** अर्थस्तु विलम्बसाधकत्वात् न मधुरः. **तामि**ति सा एका स्त्री कृतोपकारा च, एते तु तद्विपरीता इति एतेषां मनोरथसिद्ध्यर्थं **मार्ग** एव **व्रजन्** राजमार्गे गच्छन् तत्रत्यै**र्वणिग्जनैः** **नानाविधान्युपायनानि** रिक्तहस्तपरिहाराय **ताम्बूलस्रग्गन्धाः** पूजासाधनानि. बलभद्रसहितः पूजितः ॥१३॥

एवं साधारणपुरुषाणां विनियोगमुक्त्वा साधारणस्त्रीणामाह **तद्दर्शने**ति. **तस्य** भगवतो **दर्शनाद्** यः **स्मरस्य क्षोभः** तेन **आत्मानं** देहं **नाविन्दन्** —दृढा प्रपञ्चविस्मृतिरुक्ता. भगवद्दर्शनं हि स्मरं जनयति नूतनं, पूर्वमप्येकः स्मरः सहजः, उभौ मिलितौ क्षुब्धौ जातौ. मुख्यतया दृष्ट्या जातः काम इति स एव क्षोभक उक्तः. यत्र देहस्याप्यस्मरणं तत्रान्यस्मरणं दूरादपास्तमिति अत्यन्तविस्मरणं ज्ञापयितुमाह **विस्रस्ते**ति. सर्वाभरणभूषिताः भगवद्दर्शनार्थमागताः, तत्र भगवद्दर्शनेन क्षोभे जाते आभरणानि स्वत एव विशकलितानि जातानि. उभयोरप्युपयोगाभावात् **विशेषेण** **स्रस्तानि** अधःपतितानि **वासांसि कबरः** केशपाशः **वलयाः** कङ्कणाद्याभरणानि.

---

१. नाविदन् इत्यपि पाठः.

ततः पौरान् पृच्छमानो धनुषः स्थानमच्युतः ।
तस्मिन् प्रविष्टो ददृशे धनुरैन्द्रमिवाद्भुतम् ॥१५॥
पुरुषैर्बहुभिर्गुप्तमर्चितं परमर्द्धिमत् ।

किञ्च सर्वक्रियापि निवृत्तेत्याह **आलेख्यं** चित्रमिव **मूर्तिर्यासामिति**, पूर्वापेक्षयाप्येतासां सर्वक्रियाराहित्यमधिकमुक्तम् ॥१४॥

एवमधिभूतरूपाणां प्रपञ्चविस्मृतिमुक्त्वा आधिदैविकानामपि तथा प्रेरणाभावाय भयं वा प्रपञ्चविस्मृतिं वा जनयन् धनुर्भङ्गार्थं प्रवृत्त इत्याह **ततः पौरान् पृच्छमान** इति. सन्ति तत्र द्रष्टुमप्यागता जानपदाः तद्व्यावृत्त्यर्थं **पौरा** विशेषं जानन्तीति **पृच्छमानः** कुत्र धनुर्यागो जायत इति. ननु धनुर्यागे कथं गच्छति भयस्थानत्वादित्याशङ्क्याह **अच्युत** इति. तैरुक्त इत्यर्थसिद्धत्वात् नोक्तम्. अथवा लोकानां भ्रमसिद्ध्यर्थमेव प्रश्नः, गुप्ततयैव हि सर्वं कर्तव्यमिति. एवं **पृच्छमान** एव **तस्मिन्** यागस्थाने **प्रविष्टः धनुर्ददृशे.** प्रायेणेदं धनुः उपास्यदेवतया स्थापितं, यावदिदं धनुः स्थास्यति तावत् न तव पराजय इति. अन्यथा भगवान् तद्भङ्गं न कुर्यात्, सोऽपि मरणसंशये तदाराधनं न कुर्यात्. यथा **ऐन्द्रं** धनुर्विचित्रं भवति महच्च तथैवैतदपि ततोऽप्य**द्भुतम्,** तदेकविधमेव **भवति** इदमनेकविधमिति, तत् तस्य प्राणभूतमिति ॥१५॥

पुरुषैर्बहुभिर्गुप्तं तद्रक्षकाः शस्त्रपाणयः देवताश्च दैत्यहितैषिण्यस्तदाह **बहुभिरिति.** किञ्च तद**र्चितं** वस्त्रादिभिः, अनेन देवतासान्निध्यमुक्तम्. अनुभावमप्याह **परमर्द्धि**युक्तमिति. ततो दर्शनार्थं गतो भगवान् अदृश्यः अन्तः प्रविष्टः सन्

लेखः

तद्दर्शनेत्यत्र, **पूर्वापेक्षयेति**, वणिग्जनापेक्षयेत्यर्थः ॥१४॥

अधिभूतानामिति, देहोपयोगिताम्बूलादिभिः पूजाकथनात् वणिजां, देहविस्मृतिकथनात् स्त्रीणां च देहप्राधान्येनाधिभूतत्वम्, अत एवात्मपरत्वेन तत्र व्याख्यातं, तेषामित्यर्थः. **आधिदैविकानामिति**, आवाहितदेवताक-धनूरक्षकाणां शस्त्रपाणीनां तद्देवतानां चेत्यर्थः. इदं **पुरुषैर्बहुभिर्गुप्तमि**त्यत्र विचारयिष्यते. एतेषामपि तद्भयं जनयितुमित्यन्वयः. प्रयोजनमाहुः **तथेति**, भीता विस्मृतप्रपञ्चा वा कंसमधुनैव स्वयमागत्य युद्धं कर्तुं न प्रेरयेयुः, तथा सत्यधुनैव मारणे कुवलयापीडादिवधलीला न भवेयुरिति भावः ॥१५॥

वार्यमाणो नृभिः कृष्णः प्रसह्य धनुराददे ॥१६॥
करेण वामेन सलीलमुद्धृतं सज्जं च कृत्वा निमिषेण पश्यताम् ।
नृणां विकृष्य प्रबभञ्ज मध्यतो यथेक्षुदण्डं मदकर्युरुक्रमः ॥१७॥
धनुषो भज्यमानस्य शब्दः खं रोदसी दिशः ।
पूरयामास यं श्रुत्वा कंसस्त्रासमुपागमत् ॥१८॥

तद्धनुर्गृहीतवानित्याह **वार्यमाणो नृभिरि**ति. सर्वैरेव **नृभि**र्ग्रहणे **वार्यमाणः कृष्णः** तदर्थमेवावतीर्णः **प्रसह्य** बलात् तान् दूरीकृत्य **धनुराददे** पूजास्थानं पद्भ्यामाक्रम्य धनुर्गृहीतवान् ॥१६॥

ग्रहणे प्रकारं वदन् भङ्गमाह **करेणे**ति. धनुर्हि वामकरे एव स्थाप्यते. दक्षिणेनापि गृहीत्वा अवहेलया दैत्यांशत्वाच्च वामेनैव ग्रहणम्. महतोऽपि ग्रहणं लीलयेति तेषां युद्धार्थं प्रवृत्त्यभावाय. एवमपि पश्यन् यदि युद्धार्थं प्रवर्तते तदा भगवतो न कोऽपि दोष इति ज्ञापयितुं **सलीलमुद्धृतम्. सज्जं च कृत्वा निमिषेण** निमिषमात्रेण, स्थितैव प्रत्यश्चा, भङ्गभयाभावाद् अग्रे नामितवान्, तथा करणमल्पेनापि कालेन भवति. **अनिमिषेण** वा **पश्यतां** सताम्. ततो मध्ये धृत्वा **विकृष्य प्रबभञ्ज मध्य** एव, यथा योजितं न भवति. दृढमुष्टिं बद्ध्वा गाढम् **आकृष्य** पश्चात् मुष्टिमध्यशैथिल्ये धनुषो भङ्गो भवति, अतस्तथा **विकृष्य मध्यतः प्रबभञ्ज. प्र**कर्षेण **भङ्गो** नावयवशः किन्तु खण्डद्वयप्रकारेण. आयासाभावाय दृष्टान्तमाह **यथेक्षुदण्डमि**ति. **दण्ड**पदेन शुष्कताप्युक्ता. **मद**युक्तश्च **करी** जानात्यपि न. ननु दृष्टान्तमात्रेण न साध्यं सिध्यति किन्तु दार्ष्टान्तिके युक्तेन, तत् कथं बालेन धनुषो भङ्गोऽनायासेनेति चेत् तत्राह **उरुक्रम** इति ॥१७॥

तर्हि दैवगत्यैव भग्नमध्यं तद् भविष्यतीत्याशङ्क्य भङ्गस्य महत्त्वमाह **धनुषो भज्यमानस्ये**ति. शिथिलभङ्गे न महान् शब्द उत्तिष्ठति. ननु स शब्दः अन्यहेतुक एव तदानीं जातो भविष्यतीति तत्परिहारार्थमाह **भज्यमानस्ये**ति, **वर्त**मानप्रयोगेण तत एव शब्दोत्पत्तिरुक्ता. तेन सर्व एव स्वाश्रयः पूरित इति वक्तुं **खं** ब्रह्माण्डमध्यं **रोदसी** द्यावापृथिव्यौ चतस्रो **दिश**श्च **पूरयामास**, धनुर्भङ्गशब्द एव सर्वत्र श्रूयते नान्यशब्द इति. एतदल्पकालेनैव कृतमिति तेषां निवारणसामर्थ्यं न वृत्तं, पश्चात् शब्देनैव कियत्कालं व्यापृताः, अतो धनुर्भङ्गः निष्प्रत्यूहो जातः. अस्य प्रयोजनं कंसभयजननमिति तत् जातमित्याह **यं** नादं **श्रुत्वा कंसस्त्रासं** महाभय**मुपागमत्** निकट एव फलं प्राप्स्यामीति सन्त्रस्तो जातः ॥१८॥

तद्रक्षिणः सानुचराः कुपिता आततायिनः ।
ग्रहीतुकामा आवव्रुर्गृह्यतां बध्यतामिति ॥१९॥
अथ तान् दुरभिप्रायान् विलोक्य बलकेशवौ ।
क्रुद्धौ धन्वन आदाय शकले तांश्च जघ्नतुः ॥२०॥
बलं च कंसप्रहितं हत्वा शालामुखात् ततः ।
निष्क्रम्य चेरतुर्हृष्टौ निरीक्ष्य पुरसम्पदः ॥२१॥
तयोर्विचरतोः स्वैरमादित्योऽस्तमुपेयिवान् ।

उभयत्र प्रतीकारार्थं प्रवृत्तानां निराकरणमाह **तद्रक्षिण** इति त्रिभिः.

प्रथमं धनुःस्थान एव धनूरक्षकाः स्थिताः, ते भगवन्तं बलभद्रं गोपांश्च **ग्रहीतुकामाः कुपिताः** सन्तः अन्यायः कृत इति मूर्खाः **आततायिनः** शस्त्रपाणयो जाताः. ततः **आवव्रुः** वेष्टितवन्तः. तेषां मानसं कायिकं च व्यापारमुक्त्वा वाचनिकमाह **गृह्यतां बध्यतामिति,** ये गृहीतास्तेषां बन्धनमादिशन्ति ॥१९॥

ततो भगवांस्तेषामतिक्रमं ज्ञात्वा नैतावतापि त्यक्ष्यन्तीति तेषां दुष्टमभिप्रायं ज्ञात्वा भिन्नप्रक्रमेण लीलां परित्यज्य आविष्कृतपौरुषौ गोपानां रक्षार्थं कंसं च ज्ञापयितुं प्रवृत्तावित्याह **अथ तानिति. बलो** बलभद्रः ब्रह्मरुद्रयोरपि सेव्यः ततो महान् **केशवः** भक्तातिक्रमं ज्ञात्वा **क्रुद्धौ** जातौ. ततः साधनेनैव मारणीया इति तेऽपि शस्त्रपाणय इति यदेवैतावत्कालं पालितवन्तः तदेव तन्मारकं जातमिति ज्ञापयितुं **धन्वनः शकले आदाय तान्** चकारादन्यानपि दुष्टान् **जघ्नतुः** आधिदैविकदेवान् वा, **धन्वन्**शब्दोऽपि धनुर्वाचकः, "धन्वना गा धन्वनाजिं जयेमे"ति प्रयोगात्. देशविशेषमपि वक्ति "धन्वन्निव प्रपा असी"ति ॥२०॥

एवं रक्षकान् देवान् नरांश्च हत्वा गमनार्थमुद्युक्तौ. तावता कोलाहले जाते कंसो बलं च प्रेषितवान्. एकहेलया तं च हत्वा निर्गतावित्याह **बलं चे**ति. हस्त्यश्वरथ-पदात्यात्मकं **बलं** सेनां **हत्वा शालामुखात् निष्क्रम्य** युद्धावेशं परित्यज्य क्षणात् मनोहररूपावेव जातौ. अतः **हृष्टौ** सन्तौ **पुरसंपदो निरीक्ष्य चेरतुः** यथैताभ्यां धनुर्वार्तापि न ज्ञायत इति लोकप्रतीतिर्भवति. तत्र पूर्ववदेव स्त्रीणां पुरुषाणां च व्यवहारो जात इति न विशेष उक्तः ॥२१॥

एवं तयोर्महत्यानन्दे अग्रिमानन्दसिद्ध्यर्थं **तयोर्विचरतोरेव** सतोः सूर्योऽस्तं गत इत्याह **तयोरिति. स्वैरं** यथासुखम्, अनेनामर्यादापि लीला निरूपिता. ये दैत्यांशास्ते मारिताः लुण्टिताश्च कंसहितैषिणः, स्त्रियश्चात्यन्तकामपीडिताः सन्तोषं

कृष्णरामौ वृतौ गोपैः पुरात् शकटमीयतुः ॥२२॥
तयोस्तदद्भुतं वीर्यं निशम्य पुरवासिनः ।
तेजः प्रागल्भ्यं रूपं च मेनिरे विबुधोत्तमौ ॥२३॥
गोप्यो मुकुन्दविगमे विरहातुरा या आशासताशिष ऋता मधुपुर्यभूवन् ।

प्रापिताः. एवमनुग्रहनिग्रहात्मकं तु कुर्वाणौ विचेरतुरिति. तदा **आदित्योऽस्तं** गतः, भीत इति केचित्. भगवानपि निवृत्त इत्याह **कृष्णरामाविति.** अत्र मध्ये क्वचिदेकः श्लोकः अविगीत एव श्रूयते ॥२२॥

यदा बलं हत्वा निर्गतौ तदा लोकानां भगवदासक्त्यर्थं माहात्म्यज्ञानमपि वृत्तमित्याह **तयोस्तदद्भुतं वीर्यमिति, तद्** धनुर्भङ्गलक्षणं पराक्रमम्. यत्रैव भगवन्तं पश्यन्ति तत्रैव पृष्ठतः प्रवृत्ता लोकाः एताभ्यां धनुर्भङ्गादिकं कृतमिति सर्वत्रैवाहुः. ततो **निशम्य** सर्व एव **पुरवासिनः** तेषां **तेजः** शरीरकान्तिः **प्रागल्भ्यं** प्रगल्भता **रूपं च** कोटिकन्दर्पलावण्यं रूपं च दृष्ट्वा श्रुत्वा च तौ **विबुधोत्तमौ मेनिरे.** यथा नन्दादयः प्रथमप्रकरणे "गोपवृद्धाश्च गोप्यश्चे" त्यत्र[1] तामसास्तृतीये तद् ज्ञातवन्तः. राजसास्तु द्वितीये ज्ञातुं युक्ताः प्रथमे निरूप्यत इति. विगीतमित्यपि केचित्. गोकुलचरित्रमपि श्रुतमित्यर्थादेतदपि द्वितीयम्. द्वितीये च वक्ष्यति "मन्ये कृष्णं च रामं चे"ति[2]. स्वापेक्षया देवा उत्तमाः तेभ्योऽप्येतावुत्तमाविति ब्रह्माण्डे सर्वोत्तमत्वमुक्तं भवति. **गोपैः** सहितौ **कृष्णरामौ** पुरदर्शनं परित्यज्य **शकटं** शकटस्थानं यत्र नन्दादयस्तिष्ठन्ति **तदीयतुः** ॥२३॥

एवं भगवच्चरित्रमुक्त्वा प्रमाणप्रकरणत्वात् तत्र प्रमाणमतिदिशन् माहात्म्यमाह **गोप्य इति.** मथुरायां तावदेव जातं यावत् गोपीभिरुक्तं , युद्धादिकं तु दोषनिवर्तकमिति न तत् निष्पन्नत्वेनोच्यते. अनेन गोपिकाः परित्यज्य तासु क्लिष्टासु कथमन्यत् कृतवानित्यपि दूषणं निराकृतम्. यतस्ता एव **या आशिषः आशासत** ता एव सत्याः कर्तव्या इति भगवांस्तथा कृतवान् तासामेव वचनप्रामाण्यार्थम्. यतो भगवान् **मुकुन्दः** असत्यवचने मोक्षोऽपि दातुमशक्य इति. तत्रापि **मुकुन्दस्य विगमे** वियोगे उपस्थिते **विरहातुराः** सत्यः भगवता निरुद्धा इति द्वेषादिकमकृत्वा **आशिष**

लेखः

तयोस्तदद्भुतमित्यत्र, तामसास्तृतीये इति, जन्मप्रकरणमारभ्य गणनायां प्रमेयप्रकरणं तृतीयमिति ज्ञेयम् ॥२३॥

---

१. १०/१७/२. २. १०/४३/२३.

सम्पश्यतां पुरुषभूषणगात्रलक्ष्मीं हित्वेतरान् नु भजतश्चकमेऽयनं श्रीः ॥२४॥
अवनिक्ताङ्घ्रियुगलौ भुक्त्वा क्षीरोपसेचनम् ।
ऊषतुस्तां सुखं रात्रिं ज्ञात्वा कंसचिकीर्षितम् ॥२५॥

एवाशासत, ताभ्यो हितमपि कर्तव्यं तदभावे वाक्यं वा कर्तव्यमिति. अतस्ता **एवाशिषः मधुपुरि** मथुरायां सत्या जाताः. तदपि भगवता कर्तव्यमिति न कृतं किन्तु अनुषङ्गादेव जातमित्याह **सम्पश्यतामिति. पुरुषाणां भूषण**रूपस्य मुकुटमणेर्भगवतः **गात्रलक्ष्मीं सम्पश्यतामिति**, "अद्य ध्रुवं तत्र दृशो भविष्यती"[२]ति "सुखं प्रभाता रजनीयमि"[३]ति सामान्यविशेषाभ्यां ताभिर्यद् विचारितं तत् सत्यमेव जातमिति. ननु कथं स्त्रीणामेव वचनं सत्यत्वेन निरूप्यते नान्येषामित्याशङ्क्याह **हित्वेति**. आदौ वाक् स्त्री, स्त्रीणां मूलभूतया लक्ष्म्या च भगवान् परिगृहीतः, अतः परिग्रहदार्ढ्यात् ता एवात्र प्रमाणम्. **श्रीरितरान्** ब्रह्मादीन् **नु** निश्चयेन **भजतो**ऽपि सेवार्थमागतानपि **हित्वा** स्वस्या**यनं** स्थानभूतं यं **चकमे** अयमेव मम स्थानं भवत्विति. सैव सर्वा गोप्यः, तासां च वाक्यमत्र सिद्धं, न त्वतिरिक्तं किञ्चित् ॥२४॥

अवमोचनं गतस्य भगवतश्चरित्रमाह. **अवनिक्तमङ्घ्रियुगलं** याभ्यां **क्षीरमुपसिच्यते** अस्मिन्निति क्षीरोदनं पायसं वा पृथुका वा पक्वान्नविशेषे वा. **क्षीरस्योपसेचनं** यथा भवति तथा वा. प्रथमतो नगरगमने क्षीरोदनभोजनं मुख्यमिति, यथा गमने दध्योदनभोजनं, लघुपाकार्थं वेति केचित्. ततस्तां **रात्रिं सुखमूषतुः** अन्यत्रासुखं वक्तुं भगवति विद्यमानसुखस्यानुवाद उक्तः. ननु पितरौ बद्धौ अमोचयित्वा कथं सुखमूषतुस्तत्राह **ज्ञात्वा कंसचिकीर्षितमिति**, कंसस्य चिकीर्षितं ज्ञात्वा कंस एव तत् करिष्यति किमित्यस्माभिः क्लिष्टं कर्तव्यमिति. यथैतावान् कालः वसुदेवपुत्रत्वं सङ्गोप्य नीतः एवमियमपि रात्रिः सङ्गोप्यान्यथा नन्दादीनां क्लेशो भवेत्. व्यवहारोऽपि शत्रुं हत्वैव शत्रुपरिगृहीतं ग्राह्यम्, अन्यथा चौर्यं स्यात्. अतः स्ववधार्थं कंस एव यत्नं करिष्यतीति निश्चित्य **सुखमूषतुः** ॥२५॥

एवं भगवच्चरित्रमुक्त्वा अग्रिमचरित्रसिद्ध्यर्थं कंसस्य वृत्तान्तमाह

लेखः

गोप्यो मुकुन्दविगमेत्यत्र, आदौ वाक् स्त्रीति, अतो वाच एव सत्यत्वं निरूप्यते न कृतेरिति भावः. कृतेः सत्यत्वे तु मथुरायां नागतः स्यात्. **न त्वतिरिक्तमिति** कृत्यादिकमित्यर्थः ॥२४॥ एकोनचत्वारिंशाध्यायव्याख्या समाप्ता ॥

---

२. १०/३९/२५. ३. १०/३९/२३.

कंसस्तु धनुषो भङ्गं रक्षिणां स्वबलस्य च ।
वधं निशम्य गोविन्दरामविक्रीडितं परम् ॥२६॥
दीर्घप्रजागरो भीतो दुर्निमित्तानि दुर्मतिः ।
बहून्यचष्टोभयथा मृत्योर्दौत्यकराणि च ॥२७॥
अदर्शनं स्वशिरसः प्रतिरूपे च सत्यपि ।

कंसस्त्विति. रात्रौ कंसस्य महती अनिर्वृतिर्जाता— आदौ निद्राभावः, निद्रायामपि दुःस्वप्नादिकमिति. एवं मरणनिश्चायकमपि ज्ञात्वा पुनः मरणार्थमेव प्रवृत्त इति भगवतोऽक्लिष्टकर्मत्वार्थम् इदमुपाख्यानमुक्तवान्. आदौ निद्राभावे हेतुमाह. **तु**शब्दः सुखात्मकतां व्यावर्तयति अग्रे कंसस्य दुःखमेवेति ज्ञापयितुम्. धन्वनो **धनुषो भङ्गं** श्रुत्वा **रक्षिणां स्वबलस्य च वधं** श्रुत्वा एतदपि **गोविन्दस्य रामस्य** च **विक्रीडित**त्वमात्रं श्रुत्वा. **परमु**त्कृष्टं **विक्रीडितं, परमि**त्यर्थविशेषे वा ॥२६॥

दीर्घप्रजागरो जातः. प्रकृष्टो **जागरः** बहिर्विक्षेपसहितः. न केवलं प्रजागरणमात्रं किन्तु **भीतो**ऽपि जातः. अन्तःकरणमेव तस्यादौ मरणं सूचयति. एवमपि न भगवन्तं प्रपद्यत इति **दुर्मति**त्वात् **दुर्निमित्तानि** दुष्टनिमित्तानि अवश्यंभाविमरणसूचकानि **बहून्ये**व **व्यचष्ट.** अनेन द्वेषेणापि भगवन्तं चिन्तयन् कथं दुर्निमित्तानि दृष्टवानिति परिहृतम्, यतो **दुर्मतिः** भगवत्यनिष्टं भावयति तच्चात्मने फलतीति. **बहूनि** बहुविधानि, प्रकारबहुत्वमत्र विवक्षितम्. **उभयथा** यो **मृत्युः** स्वस्वकीयविषयः ऐहिकपारलौकिकविषयो वा, परलोकोऽपि न भविष्यतीति. भयोत्पादनार्थं तथा दृष्टानि. **उभयथा** स्वप्नजागरितानीति वा. नन्वेतानि किमिति दृश्यन्ते तत्राह **मृत्योर्दौत्यकराणी**ति. मृत्युरत्रायास्यतीति दूतवद् बोधयन्ति. **चकारात्** स्वतोऽपि भयानकानि ॥२७॥

जागरितान्याह **अदर्शनमि**ति, सप्तविधानि मृत्युरपि भगवानिति. प्रतिबिम्बे दर्पणादौ **स्वशिरसः अदर्शनं** ग्रीवापर्यन्तमेव **प्रतिरूपं** दृश्यते, **चका**रात् प्रत्यक्षेऽपि, नासिकादिमुखभावो यो दृश्यते सोऽपि न दृश्यत इति. तर्ह्येतस्यैवाभाव इति चेत् तत्राह **सत्यपी**ति, स्पर्शादिना बहिर्ज्ञायते अन्यश्च प्रतिबिम्बो दृश्यत इति. चक्षुर्हि ज्ञानात्मकं, तद् आत्मानमेव गृह्णाति स्वप्रकाशत्वात् विषयदोषसम्भवात् च. तथा सति भगवानेव दृश्यते सर्वत्र. यत्र पुनः येनांशेन तिरोधत्ते तत् क्रियया सदपि ज्ञानविषयत्वेन न सद् भवति. तत्र देहे ग्रीवान्तं क्रियाप्रधानं ज्ञापनार्थं ज्ञानांशेनैव तिरोहितः न तु सदंशेन, अग्रे क्रियायाः कर्तव्यत्वात्. अनेन मरणं निर्धारितं न तु

असत्यपि द्वितीये च द्वैरूप्यं ज्योतिषां तथा ॥२८॥
छिद्रप्रतीतिश्छायायां प्राणघोषानुपश्रुतिः ।
स्वर्णप्रतीतिर्वृक्षेषु स्वपदानामदर्शनम् ॥२९॥
स्वप्ने प्रेतपरिष्वङ्गः खरयानं विषादनम् ।

कृतम् इति बोधितम्. द्वितीयमाह **असत्यपि द्वितीये च द्वैरूप्यमिति.** भगवानेक एव सर्वत्र, यदा प्राणी कालाभिमुखो भवति तदा द्वितीयः कालो भासते. तदत्र सूचयति द्वितीयः समागत इति. तृतीयमाह **ज्योतिषां तथेति,** ज्योतिषामपि द्वैरूप्यं दृश्यते, दीपचन्द्रनक्षत्रादीनामेकस्मिन् दीपे अक्षिनिकोचनादिव्यतिरेकेणापि दीपद्वयप्रतीतिः. ज्योतिर्ह्याधिदैविकं रक्षकं तदपि कालव्याप्तं जातमिति ज्ञापितम् अतिदेशेन ॥२८॥

तत्राप्येकदेशाप्रतीतिरपि चतुर्थमाह **छिद्रप्रतीतिरिति, छायायां मध्ये छिद्रं** प्रतीयत इति. पुरुषोऽयं भगवानिति ज्ञापयितुं प्रतिच्छाया भवति पुरुषाकृतिः. तं केचित् तेजोऽभावमाहुः, सर्वत्र विद्यमानं पुरुषव्यवधानात् तावद्दूरे न दृश्यत इति. तथा सच्चिदानन्दोऽपि तिरोहित इति प्रपञ्च एव तत्तदाकारेण भासत इति. वस्तुतस्तु छायापुरुषो भिन्नो भगवद्रूपस्तत्र जीवं चेत् निष्कासयेत् तदान्यत्रापि निर्गतो भविष्यति जीव इति ज्ञानवत् छायापुरुषेऽप्यर्धतिरोधानं जीवांशस्यैव. आध्यात्मिकी व्यवस्थैषा त्रिविधा, आधिभौतिकी पूर्वं निरूपिता. तत्रेयं तामसी, **प्राणघोषो** राजसः, पीतप्रतीतिश्चाक्षुषी सात्त्विकीति. प्राणस्य क्रियैव प्रधानमिति तस्याः कार्यं निवर्तितम्. इतो भगवान् क्रमशो निवृत्तव्यापारो भविष्यतीति ज्ञापनार्थं सामिकार्याणि निरूप्यन्ते. **प्राणघोषस्य** कर्णपिधानेऽपि **अनुपश्रुतिः, वृक्षेषु** सर्वत्र **स्वर्णप्रतीतिः.** वृक्षा हि दारुरूपाः, अग्नेश्च रेतः सुवर्णं, तेषु यद्यग्निः तदा सर्वाभाव; अग्नेः रेत एव तेषु दृष्टमित्यर्धनाश एव बोधितः. आधिदैविकमाह **स्वपदानामदर्शनमिति, स्वस्य पदानां** भूमौ स्थापितानाम**दर्शनं;** भूमिर्देवता तं त्यक्तवतीति तत्पदानि भूमौ नाभिव्यक्तानि भवन्ति ॥२९॥

एवं जागरितानि निरूप्य अवस्थान्तरेऽपि दुर्निमित्तानि निरूपयति, अन्यथा मृतप्रायो व्याधितो वा जीवेत्. तान्यपि सप्तविधानि. **प्रेतस्य परिष्वङ्गः** श्मशाने पतितः शवः कंसे गते तदालिङ्गनं करोति, तस्य मित्रमयमपि भविष्यतीति. प्रेतानां वा मृतानां समालिङ्गनं, साधु समागतोऽसीति. **खरयानमिति,** गर्दभारूढमात्मानं पश्यति. काली हि तामसी शक्तिः मृत्युदेवता, तस्या वाहनं गर्दभः. सा स्वयानं प्रेषितवतीति, "रासभेन भ्रमती"ति वाक्यात्. विषभक्षणम् आधिभौतिकम्. एतत् त्रयं

यायात् नलदमाल्येकस्तैलाभ्यक्तो दिगम्बरः ॥३०॥
अन्यानि चेत्थम्भूतानि स्वप्नजागरितानि च ।
पश्यन् मरणसन्त्रस्तो निद्रां लेभे न चिन्तया ॥३१॥
व्युष्टायां निशि कौरव्य सूर्ये चाद्भ्यः समुत्थिते ।
कारयामास वै कंसो मल्लक्रीडामहोत्सवम् ॥३२॥
आनर्चुः पुरुषा रङ्गं तूर्यभेर्यश्च जघ्निरे ।

सत्त्वरजस्तमोरूपम्— प्रेतानामालिङ्गनमेव न तु प्रेतत्वं, गर्दभेन गमनमात्रं न तु यमपुरीप्रवेशः, विषस्य भक्षणमेव न तु मरणमिति. सामिकार्याणि पुनस्त्रिविधान्युक्त्वा धर्मिणमपि चतुर्थमाह **यायादिति. नलदमाला**युक्तमात्मानं दृष्टवान्, महाराजोऽप्येकाकी **यायादिति**. आशंसितमेतदिति ज्ञापनार्थं लिङ्प्रयोगः. **तैलाभ्यक्तं** चात्मानं पश्यति, एकत्वं तामसमिति. **दिगम्बर** इत्याधिदैविकं, सर्वदेवतामयेन वाससा त्यक्त इति, "सर्वदैवत्यं वास" इति श्रुतेः. क्रिया पुनः या अन्ते निरूपिता सा तस्य गमननिर्धारं कारयति ॥३०॥

एवं कानिचित् निरूप्य अन्यान्यपि कालेन सूचितानि दृष्टवानित्याह **अन्यानि चे**ति, **च**कारात् स्वप्नेऽपि. विशेषतः अनुक्तौ हेतुमाह **इत्थम्भूतानी**ति, **च**कारादेतान्यपि पुनः पुनर्दृष्टानि. किञ्च स्वप्ने यद् जागरणं तत्राप्येतानि दृष्टानीत्याह **स्वप्नजागरितानी**ति, **च**कारात् स्वप्ने यः स्वप्नः तत्र तदुपयोग्यानि दृष्टानीति. न केवलमेतानि दृष्टानि किन्तु स्वकार्यमपि चक्रुरित्याह **पश्यन् मरणसन्त्रस्त** इति, **मरणात् सन्त्रस्तः** मरणं निश्चित्य त्रासं प्राप्तवानित्यर्थः. एतदर्धरात्रसमये, ततः प्रभृति **चिन्तया निद्रां न लेभे** ॥३१॥

एवमपि न निवृत्त इत्याह **व्युष्टायामि**ति. **कौरव्ये**ति विश्वासार्थं सम्बोधनम्. **निशि व्युष्टायां** प्रभातायां सत्यां दोषे अपगते गुणेऽपि जाते **सूर्ये चाद्भ्यः समुत्थित** इति, "अद्भ्यः प्रातरुदेत्यपः सायं प्रविशति", "य उदगात् महतोऽर्णवादि"त्यादिश्रुतेः. **च**कारात् लोकेष्वप्युत्थितेषु त्रैवर्णिकानामावश्यककर्मानन्तरं च. **मल्लक्रीडामहोत्सवं कारयामासे**ति, मल्लक्रीडाप्रधानोऽयं महोत्सवः, यस्मिन् महोत्सवे मल्ला क्रीडन्ति. लोकवञ्चनार्थं तमेकं परिकल्पितवान् ॥३२॥

तत्र सम्भारानाह **आनर्चुरि**ति. **पुरुषा** अधिकारिणः **रङ्गं** रङ्गप्रदेशम् **आनर्चु**र्लेपादिना पूजितवन्तः. तत् हि भूम्यन्तरिक्षाकाशात्मकं, तत्र भूमिप्रदेशस्य पूजोक्ता, मध्यप्रदेशस्याह **तूर्यः. तूर्यो** वा मङ्गलवाद्यानि **भेर्यश्च** उत्सवसूचकानि

मञ्चाः स्वलङ्कृताः स्रग्भिः पताकाचैलतोरणैः ॥३३॥
तेषु पौरा जानपदा ब्रह्मक्षत्रपुरोगमाः ।
यथोपजोषं विविशू राजानश्च कृतासनाः ॥३४॥
कंसः परिवृतोऽमात्यै राजमञ्चमुपाविशत् ।
मण्डलेश्वरमध्यस्थो हृदयेन विदूयता ॥३५॥
वाद्यमानेषु तूर्येषु मल्लतालोत्तरेषु च ।
मल्लाः स्वलङ्कृता दृप्ताः सोपाध्यायाः समाविशन् ॥३६॥

चकारादन्यानि **जघ्निरे** शब्दिताः. भेरीणां हननाभावाद् ढोल्लकापरपर्यायो वा **भेरी**शब्दः, विसर्गलोपः. **तूर्य**शब्दो वा, **तूर्याणि भेर्यश्चे**ति. उपरि शृङ्गारमाह **मञ्चाः स्वलङ्कृता** इति, सर्वत्र मालाभिः **स्वलङ्कृताः पता**कादिभिश्च. वस्त्रमयानि च **तोरणानि** वस्त्रैस्तोरणैश्चैवेति वा ॥३३॥

एवमलङ्कृतस्य रङ्गस्थानस्य उपयोगमाह **तेषु पौरा** इति. आदावुपरि विनियोगः. **तेषु** मञ्चेषु **पौराः** पुरवासिनो **जानपदा** देशवासिनश्च **ब्रह्मक्षत्रौ पुरोगमा**वग्रे उपविष्टौ येषां मञ्चानाम्. बहुत्वसूचनायाह **यथोपजोषमि**ति, ये समाहूताः खण्डमण्डलाधिपतयो **राजानः** ते **कृतासनाः** दत्तासनाः सन्मानार्थं युद्धार्थं **च**कारात् राजकीयाश्च कृतमासनं येभ्य इति ॥३४॥

कंसोऽप्युपविष्ट इत्याह **कंस** इति, **अमात्यैः परिवृतः राजमञ्चं** मध्ये श्रेष्ठत्वेन विनिर्मित**मुपाविशत्.** तत्र मण्डलेश्वरा अप्युपवेशिता इत्याह **मण्डलेश्वरमध्यस्थ** इति, **मण्डलेश्वराणां मध्ये तिष्ठती**ति बहिःशोभा निरूपिता. **हृदयेन विदूयता** उपलक्षितः सहितो वा, तेनान्तःशोभाभाव उक्तः ॥३५॥

वाद्यानां निमित्तत्वेन मध्यस्थानामुपयोगमाह **वाद्यमाने**ष्विति. तूर्याणां वाद्ये मङ्गलप्रतीत्या सर्वे मल्लाः समागताः. तत्र च **मल्लानां तल**शब्दाः आस्फोटनरूपाः **उत्तराणि** येषाम्; तूर्यैराकारिता इव मल्लाः आस्फोटनतलशब्दान् कृत्वा आगता एव वयमित्युत्तरमिवोक्तवन्तः. एवमाकारणं प्रतिवचनं च सत्यवाक्यानामागमन-निमित्तमुक्तम्. ततस्ते समागता इत्याह **मल्लाः स्वलङ्कृता** इति, अद्य विद्याप्राकट्यमिति मल्लरीत्या अलङ्कृताः. अथवा कटकादिभिरेव, यतो **दृप्ताः** केवलं शोभार्थं गच्छामः, न तु कश्चिदस्माकं प्रतिपक्षोऽस्तीति. अथवा भगवतो माहात्म्यं श्रुत्वा अभीताः कथमागता इत्याशङ्क्याह **दृप्ता** इति. विद्याबलमपि तेषां नास्तीति सूचयितुमुपाध्यायसहिता आगता इत्युक्तम्. बुद्धिदोषाभावं ज्ञापयितुं वा

चाणूरो मुष्टिकः कूटः शलस्तोशल एव च ।
त आसेदुरुपस्थानं वल्गुवाद्यप्रहर्षिताः ॥३७॥
नन्दगोपादयो गोपा भोजराजसमाहूताः ।
निवेदितोपायनास्ते एकस्मिन् मञ्च आविशन् ॥३८॥

॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥

भगवता तथा कृताः. **सम्यगेव** पुरस्कारपूर्वकं रङ्गस्थान**माविशन्** ॥३६॥

ततः सर्वेष्वागतेषु चाणूरादयो युद्धभूमिं युद्धावेशेन समागता इत्याह **चाणूर** इति, पञ्चैते दैत्यप्राणरूपाः पञ्चैव **उपस्थानमा**गताः, उप समीपे **स्थीयते** अस्मिन्निति यत् युद्धस्थानं, **च**कारात् तत्सेवका अपि **आसेदुः**. आगतानामुत्साहमाह **वल्गुवाद्येन प्रहर्षिता** इति ॥३७॥

एवं सर्वसामग्रीसम्पत्तौ समाहूता नन्दादयः समागता इत्याह **नन्दगोपादय** इति. बालकास्तु भगवन्मित्राणि भगवतैव सहागमिष्यन्ति. **नन्दगोपसदृशा** ये ते **भोजराजेन** अप्रतिहताज्ञेन **समाहूताः** समानीतान्युपायनानि **निवेद्य**, यतो गृहादेवोपायनानि गृहीतवन्तः. तदाह **त** इति, सर्वदा वा तदधीनाः, प्रसिद्धाः वा, प्रसिद्धैरुपायनं देयमिति. विजातीयैः सह कलहशङ्कया दुर्बलाः **एकस्मिन्नेव मञ्चे आविशन्.** अनेन मञ्चानां स्थूलता निरूपिता ॥३८॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्ध-विवरणे एकोनचत्वारिंशाध्यायविवरणम् ॥

॥ इति एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥

॥ समाप्तं राजसप्रमाणप्रकरणम् ॥



|| श्रीकृष्णाय नमः ||

|| श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ||

|| श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ||

श्रीमद्भागवतदशमस्कन्धसुबोधिन्यां
तृतीये राजसप्रकरणे अवान्तरप्रमेयप्रकरणे
प्रथमः स्कन्धादितः चत्वारिंशोऽध्यायः



शब्दस्य हि बलं पूर्णं सप्तभिर्विनिरूपितम् ।
अर्थस्यापि बलं रोधे तावद्भिर्विनिरूप्यते ॥(१)॥
प्रपञ्चो विस्मृतः सर्वैरुत्सवाद्यैरनेकधा ।
माहात्म्यस्य परिज्ञानात्तदासक्तिर्निरूप्यते ॥(२)॥
द्रष्टॄणां[1] च तथा पित्रोः सर्वेषामेव चैव हि ।
पूर्वोक्तानां तथान्येषां द्वाभ्यां द्वाभ्यामुदीर्यते ॥(३)॥
एवमासक्तिसिद्धौ[2] हि तदेकपरता पुनः ।
वक्तव्येति[3] ततो हेतोः फलं चापि[4] निरूप्यते ॥(४)॥
चत्वारिंशत्तमेऽध्याये कृष्णासक्तिर्निरूप्यते ।
दृष्ट्वा सामर्थ्यमतुलं विस्मितानामनेकधा ॥(५)॥

पूर्वाध्याये भगवतो दोषाभावाय विशेषचेष्टाफलं साधारणचेष्टारूपस्य कालस्य च दुर्निमित्तप्रदर्शनलक्षणं निरूपितम्. तथाप्यनिवृत्तौ [5]भक्तोपेक्षादोषो भगवतोऽपि

लेखः

चत्वारिंशे कारिकासु **शब्दस्येति** प्रमाणस्येत्यर्थः. शब्दस्यापि भगवद्रूपत्वात् सप्तभिर्निरूपणं युक्तमिति हिशब्दः. **अर्थस्यापीति** प्रमेयस्येत्यर्थः (१).

द्रष्टॄणां चेति. एतेषां त्रयाणामासक्तिरेकैकेन निरूप्यते इति शेषः; **पूर्वोक्तानामन्येषां च द्वाभ्यां द्वाभ्यामुदीर्यते** —एवं सप्ताध्यायाः (३).

वक्तव्येतीति, **इति** हेतोः साधनप्रकरणे तदेकपरता व्यसनं निरूप्यते इति शेषः. **तत इति**, व्यसनाद्धेतोः **फलं च निरूप्यते** फलप्रकरणे इति शेषः (४).

अथ कृष्णश्चेत्यस्याभासे विशेषचेष्टाफलमिति अलौकिकलौकिकमाहात्म्यज्ञानमित्यर्थः.

---

१. द्रष्टानाम् इति स. २. आसक्तिशुद्धौ इति स. ३. यत्कृपेति स.
४. वापि इति स. ५. भक्त्युपेक्षा इति स.

भविष्यतीति अनाहूतयोरपि रामकृष्णयोर्दर्शनार्थं प्रवृत्तिर्निरूप्यते. तत्र प्रथमं रङ्गदर्शनार्थं प्रवृत्तावित्याह **अथ कृष्णश्च रामश्चेति.**

॥ श्रीशुक उवाच ॥

अथ कृष्णश्च रामश्च कृतशौचौ परंतप ।
मल्लदुन्दुभिनिर्घोषं श्रुत्वा द्रष्टुमुपेयतुः ॥१॥

चकारद्वयं तदीयानां समुच्चयार्थं; ससाधनं फलं च तत्र गच्छतीति निरोधे न कोऽपि सन्देह इति भावः. **अथे**ति प्रक्रियान्तरं, प्रमेयबलमारभ्यत इति. **कृतशौचौ** कृतावश्यकाविति केचित्. पूर्वदिन एव **कृतं शौचं** स्वशुद्धता याभ्याम्. **परंतपे**ति सम्बोधनं गूढार्थपरिज्ञानाय, ब्रह्मधर्मा **ह्येते** तपसा ज्ञातव्या इति. तदा **मल्लानां दुन्दुभीनां** च **नितरां घोषं श्रुत्वा** सर्वसामग्री सिद्धेति स्वयमपि **द्रष्टुमुपेयतुः** निकटे गतौ ॥१॥

प्रमेयनिरोधे दृष्टं माहात्म्यं प्रयोजकमिति वक्तुं प्रथमं कुवलयापीडवधो निरूप्यते **रङ्गद्वारमि**ति त्रयोदशभिः. कालजयो हि पौरुषमिति स त्रयोदशात्मा संवत्सरो निरूपितः.

रङ्गद्वारं समासाद्य तस्मिन् गजमवस्थितम् ।
अपश्यत्कुवलयापीडं कृष्णोऽम्बष्ठप्रचोदितम् ॥२॥

कुवलयं भूमण्डलं तस्यापीडं मुकुटस्थानीयम्. आसमन्तात् **पीडा** वा यस्मात्. द्विपश्रेष्ठं हन्तुमुद्यत इत्याह **रङ्गद्वारमि**ति. **रङ्ग** उत्सवस्थानं, तस्यापि शोभार्थं द्वारादिनिर्माणम्. तावत्पर्यन्तं सम्यगेव गत्वा **तस्मिन्** द्वारमध्ये **गजमवस्थितमपश्यत्.** तदैव ह्युत्सवः संपद्यते यदि कालो निवृत्तो भवति, तदोत्सवदर्शनमिति. मृत्युर्हि गजरूपः पञ्चमे निरूपितः. **अवस्थितम**चलं दृष्ट्वैव हननार्थ**मपश्यत्.** सर्वथा हनने[1] हेतुः **कुवलयापीडमि**ति सर्वेषामेव दुःखदम्. तत्रापि **अम्बष्ठेन** संकरोद्भवेन जातिहीनेन **प्रकर्षेण** प्रेरितं स्वसंमुखमागच्छन्तम्. अनेन भगवतोऽक्लिष्टकर्मत्वं निरूपितम्. कदाचित् साधारणोऽयं भवेद्, अतस्तच्छङ्कापरिहारार्थं **कृष्णः**[2] ॥२॥

कालात्मानं दृष्ट्वापि तेन बलक्षये जातेऽपि पुनः प्रबोधं कृतवानित्याह **बद्ध्वेति.**

बद्ध्वा परिकरं शौरिः समुह्य कुटिलालकान् ।
उवाच हस्तिपं वाचा मेघनादगम्भी(भी!)रया ॥३॥

१. समर्थाहनने इति स. पाठः. २. कृष्णं कालात्मानमिति पाठः.

परिकरमुत्तरीयं वस्त्रं कटिसंबद्धं कृत्वा, **कुटिलालकांश्च** हस्तद्वयेन चूडाकारेण **बद्ध्वा**, कालमुभयतो निरुध्य, भ्रमनिवृत्त्यर्थं वाचा निर्भर्त्सनं कृतवानित्याह **उवाचेति**. हस्ती चेत् दुष्टः हस्तिपेन वारणीयः. हस्तिपश्चेत् स एव मारणीयः. अन्यथा उभावपि मारणीयाविति, तदधीनो हस्तीति. तस्य निर्भर्त्सने यथा भयमुत्पद्यते तथा सिंहसमानस्य मेघस्येव नादं कृतवानित्याह **मेघनादगम्भी(भी!)रया वाचेति**, मेघनादापेक्षयापि गम्भीरा. अनेनान्तःस्थितानां तसानां वसुदेवादीनां तापोऽपि निवारितः ॥३॥

निर्भर्त्सनमाह **अम्बष्ठाम्बष्ठेति**.

अम्बष्ठाम्बष्ठ मार्गं नो देह्यपक्रम मा चिरम् ।
नोचेत्सकुञ्जरं त्वाद्य नयामि यमसादनम् ॥४॥

निन्दायां वीप्सा, प्रतिलोमजोऽ**म्बष्ठ** इति तस्य सहजदोषकीर्तनेनैव[1] तिरस्कारो भवति. अनवहितस्य श्रवणार्थं वा द्विरुक्तिः. **नो मार्गं देहीति**, अयमस्माकमेव मार्गः, उत्सवोऽस्मदर्थमेव कृत इति. अस्मभ्यं मार्गं देहीति च. कथं [2]देयमिति चेत् तत्राह **अपक्रमेति**, इतोऽन्यत्र गच्छ **चिरं मा**, अन्यथाज्ञोल्लङ्घने मदीयः कालोऽधिकारी मारयिष्यतीति. किञ्च यदि केनापि प्रकारेण मार्गं न दास्यसि तत[3] उभयोर्दोषि कुञ्जरसहितं **त्वामद्यैव यमसादनं नयामि** प्रापयिष्यामि, मध्ये न त्यक्ष्यामीति. मृत्युरेव[4] यमगृहम्, अन्यथा "मल्लेभकंसयवना" इति गणना विरुध्येत. कदाचिद्धस्ती मम युद्धसाधनमिति न मन्तव्यमित्यभिप्रायेणाह **सकुञ्जरमिति**. **अद्यैवेति** तव मारणेऽपि विलम्बो न भविष्यतीत्यर्थः. **अद्येति** वर्तमानकालवाचकं, न तु दिनवाचकम् ॥४॥

ततो यज्जातं तदाह **एवं निर्भर्त्सित** इति.

एवं निर्भर्त्सितोऽम्बष्ठः कुपितः कोपितं गजम् ।
चोदयामास कृष्णाय कालान्तकयमोपमम् ॥५॥

एवमित्यसह्यं निर्भर्त्सनम्. नितरां भर्त्सितः अम्बष्ठो हीनः अत एव

लेखः

बद्ध्वेत्यस्याभासे दृष्ट्वापीति, कृष्णं दृष्ट्वापि स्थितस्य हस्तिपस्येति शेषः. **तेन** दर्शनेन **बलक्षये जातेऽपि** हस्तिपस्य भगवति साधारण्यशङ्काभावार्थं **प्रबोधं** भगवान् **कृतवानित्यर्थः**.

---

१. सहजदोष इति स. २. देयः. ३. तदोभयोः. ४. मृत्युदेव इति स.

हितवाक्येऽपि **कुपितः.** हस्ती पूर्वमेव तेन कोपितः कृतोऽस्ति. अतस्तत्कर्मनिपुणः मूर्खः **कृष्णाय सदानन्दाय** कालाय वा प्रेरयामास. ननूपद्रवार्थं प्रेरणम्, [1]उपद्रवे हि **कालो** निमित्तम्, अन्यथा साधनानि विपरीतानि भवेयुः.[2]**अन्तको** मृत्युः, स चेत् कुतश्चिज्जायेत ततोऽनिष्टं भवेत्. [3]अधिकारी **यमो** वा यद्याज्ञां दद्यात्. एवम् [1]अङ्ग [2]श्रुति [3]पुराणशास्त्रभेदेन, तेष्वसंगतेषु प्रयोजनाभावात् किं प्रेरणया ? इत्याशङ्क्याह **कालान्तकयमोपममिति**, त्रितयप्रतिरूपोऽयम्. यत्रैतदभावः तत्र तेषामपेक्षा, **न** त्वस्मिन् विद्यमाने ॥५॥

यद्यम्बष्ठप्रेरितः हस्ती विशेषतो नापकुर्यात् तदा न मारयेदिति तस्य विशेषापकारमाह **करीन्द्रस्तमभिद्रुत्येति.**

करीन्द्रस्तमभिद्रुत्य करेण तरसाग्रहीत् ।
कराद्विगलितः सोऽमुं निहत्याङ्घ्रिष्वलीयत ॥६॥

ननु भगवत्समीपागमने देवैः कथं न निरुद्ध इत्याशङ्क्याह **इन्द्र** इति— क्रियाशक्तिप्रधानः करी क्रियायामधिपतिश्चेन्द्रः. अतो निष्प्रत्यूहं **तं** भगवन्तमभिप्रेत्य **तरसा** शीघ्रमेव **करेण** शुण्डादण्डेन भगवन्त**मग्रहीत्.** क्रिययापि भगवान् व्याप्तो भविष्यतीति बुद्ध्या तथा कृतवान्. भगवांस्तु भक्त्यैव वश्य इति **कराद्विगलितो** जात इत्याह, विशेषेण गलितः. करो हि धर्तुमेवाशक्तो जातः, स्थूलबुद्ध्या धृतः सूक्ष्मो जातः, यतः, **स** प्रसिद्धः सर्वशक्तिः. ततः **अमुं** हस्तिनं **निहत्य** तस्याज्ञानार्थम्[1] **अङ्घ्रिष्वलीयत** तस्यैव पादचतुष्टयमध्ये गुप्तो जातः. अनेन दैवाद्विमोकः पलायनं च व्यावर्तितम्. तस्यान्तर्दृष्ट्यर्थं च जिज्ञासायामेव प्राप्यत इति ज्ञापनार्थम् ॥६॥

ततो यज्जातं तदाह **संक्रुद्ध** इति.

संक्रुद्धस्तमचक्षाणो घ्राणदृष्टिः स केशवम् ।
परामृशत्पुष्करेण स प्रसह्य विनिर्गतः ॥७॥

ताडनेन **सुतरां क्रुद्धः.** दृष्ट्वा हि प्रयत्नः कर्तव्य इति दर्शनार्थं यतमानोऽपि नापश्यदित्याह **तमचक्षाण** इति. भगवन्तमपश्यत्, पशुत्वाद्, **घ्राणदृष्टि**र्जातः, घ्राणेन हि ते जानन्ति. यतः **स** प्रसिद्धः युद्धादौ समर्थः **केशवं परामृशत्.** स हि ब्रह्मादीनां

लेखः

एवं निर्भर्त्सित इत्यत्र **एवमंगेति. अंगे** ज्योतिःशास्त्रे कालस्य निमित्तत्त्वम्. **श्रुतौ** "अन्नात्र मृत्युर्जायत" इत्यादौ मृत्योर्निमित्तत्वम्. **पुराणे** यमस्य निमित्तत्वम्. इमानि शास्त्राणि, तद्भेदेनेत्यर्थः ॥५॥

१. तस्याज्ञापनार्थम् इति स.पाठः.

सुखार्थमवतीर्ण इति तेनापि धृतो जातः. तत्रापि **पुष्करेण** धृतः. पुष्करं हस्तमुखम्. तदा भगवान् स्थूलो भूत्वा **प्रसह्य** बलात् पुष्कराद्विनिर्गतो जातः. न हि पुष्करनाभः पुष्करेण ग्रहीतुं शक्यः ॥७॥

ततो भगवान् विशेषाकारेण कोपमुत्पादयितुं पश्चाद्गत्वा पुच्छं गृहीतवानित्याह **पुच्छे प्रगृह्येति.**

पुच्छे प्रगृह्यातिबलं धनुषः पञ्चविंशतिम् ।
विचकर्ष यथा नागं सुपर्ण इव लीलया ॥८॥

प्रकर्षेण हस्तद्वयेन **गृहीत्वा धनुषो**[1] मानेन चतुर्हस्तेन **पञ्चविंशतिसङ्ख्या** यावता भवति तावद्दूरं **विचकर्ष.** धनुषः पञ्चविंशतिर्यत्रेत्यलुक् समासः. ननु **महान्** सः सूक्ष्मश्च भगवान् , कथमाकर्षणं कृतवान् इत्याशङ्क्याह **यथा नागमिति, सुपर्णो** हि महान्तमपि **नागमा**कर्षति. भक्षो[2] हि निःसत्त्वः कर्तव्यः, अन्यथा भक्षणे प्रतिबन्धको भवेत्. तथा भगवानपि मारणार्थं तस्य बलनाशं करोति. पञ्चविंशति तत्त्वानि हि तस्मिन् सन्ति, तेषामनुरोधात्. धनुश्च रक्षकमिति तेन मिता भूमिः तदर्थमाकृष्टा. तावता मार्गो भवति, ''शतहस्ते तु करिणमि''ति तावद् दूरे गते मार्गस्थानां नापकाराय भवतीति. धनुर्हस्तचतुष्टयम्. एतदपि **लीलया.** अनेन तस्य स्वबलमपि ज्ञापितवान् ॥८॥

ततः स, मोचयितुं समर्थः स्थिरीभवितुं च, परावृत्त्या भगवान् धर्तव्य इति यत्नं कृतवानित्याह **स पर्यावर्तमानेने**ति.

स पर्यावर्तमानेन सव्यदक्षिणतोऽच्युतः ।
बभ्राम भ्राम्यमाणेन गोपुच्छेनेव बालकः ॥९॥

सव्यदक्षिणतः वामेन दक्षिणेन च भागेन परिवर्तमानेन कृत्वा. **स** प्रसिद्धो येनाकृष्टः. भयाभावायाह **अच्युत** इति, श्रोतुः शङ्कानिवृत्त्यर्थं सर्वत्रैव तथोक्तवान्. स्वयमपि भगवान् **बभ्राम,** स हि भगवदर्थं प्रयत्नं करोतीति. किञ्च भगवतैव स **भ्राम्यमाणो** जातः अतो भ्रामयन् स्वयं बभ्राम. ननु भगवान् सर्वसमर्थः किमिति बभ्राम ? तत्राह **गोपुच्छेनेव बालक** इति— बालको हि लीलया परिभ्रमति, तथा लीलाप्रदर्शनार्थं तथा कृतवान् ॥९॥

लीलार्थमेव तथा करणमिति पश्चाल्लीलां त्यक्त्वा प्रौढलीलाप्रदर्शनार्थं संमुखमागत्य युद्धं कृतवानित्याह **तत** इति.

---
१. धनुषा इति स.पाठः. २. भक्ष्यः.

ततोऽभिमुखमभ्येत्य पाणिनाहत्य वारणम् ।
प्राद्रवत्पातयामास स्पृश्यमानः पदे पदे ॥१०॥

पुच्छं विसृज्य **अभिमुखमभ्येत्य** हस्तिसंमुखे गत्वा सजातीयबालकसंमुखमिव पौरुषख्यापनार्थं **पाणिना** मुखे **आहत्य प्राद्रवत्.** स हि हस्ती **वारणः** सर्वानेव निवारयितुं शक्नोति; तादृशोऽप्यप्रयोजको जात इति वक्तुं तथोक्तवान्. किञ्च तथैव **प्राद्रवत्** यथा **पदे पदे स्पृश्यमानो** भवति. तथाभवनस्य प्रयोजनमाह **पातयामासेति**— सूक्ष्मो भगवान् स महानुच्चैः स्पृष्ट्वा धर्तव्य इति नीचो भवन् पतति. एवमनुलोमप्रतिलोमाभ्यां क्रीडां कृतवान् ॥१०॥

ततो वञ्चनेन[1], दैत्यांशः स इति सोऽपि प्रकारो ज्ञायत इति ज्ञापयितुं, लीलां[2] कृतवानित्याह **स धावन्निति.**

स धावन्क्रीडया भूमौ पतितः सहसोत्थितः ।
तं मत्वा पतितं क्रुद्धो दन्ताभ्यां सोऽहनत् भुवम् ॥११॥

क्रीडया धावन् अनवहितइव **भूमौ पतितः.** पतनपर्यन्तमेव स दृष्टवान्. भगवांस्तु पतित्वा **सहसैवोत्थितः.** ततस्तस्य भ्रमकार्यमाह **तं मत्वेति,** भगवन्तं तथा मत्वा पूर्वमपकृतः **क्रुद्धः** सन् **भुवं दन्ताभ्यां** पतितस्थानम**हनत्.** ततोऽतिव्यथां प्राप्तवान्. साधनत्रयमपि तस्यैवं पराहतं जातम् ॥११॥

ततः क्रुद्धो यत्कृतवांस्तदाह **स्वविक्रम** इति.

स्वविक्रमे प्रतिहते कुञ्जरेन्द्रोऽत्यमर्षणः ।
चोद्यमानो महामात्रैः कृष्णमभ्यद्रवद्रुषा ॥१२॥

स हि साधनबले क्षीणे सम्पूर्णेनैव शरीरेण तदुपरि पतिष्यामीति बुद्ध्या प्रवृत्तः. यतः **कुञ्जरेन्द्रः** स्वरूपतो महान् अतः साधने क्षीणेऽपि न निवृत्तः किन्तु साधनक्षयः[3] रोषहेतुरेव जात इत्याह **अत्यमर्षण** इति, अधिक**ममर्षणं** क्रोधो यस्य तादृशो जातः. तत्रापि **महामात्रैः** उपरि पृष्ठतः परितश्च **चोद्यमानः कृष्णं** सर्वमारकं, सुतरां साम्प्रतं दैत्यपक्षस्य. शुद्धभावेन चेद्गच्छेत् कृतार्थो वा भवेत्, किन्तु **रुषा अभ्यद्रवत्** ॥१२॥

तदा भगवान् सर्वात्मना समायातीति मारितवानित्याह **तमापतन्तमिति.**

तमापतन्तमासाद्य भगवान्मधुसूदनः ।
निगृह्य पाणिना हस्तं पातयामास भूतले ॥१३॥

---

१. अम्बष्ठपचनेन इति स. २. लीलान्तरं हीति पाठः. ३. साधनक्षमः इति स.

उपरि **पतन्तं तम् आसाद्य** स्वयमग्रे गत्वा. मारणप्रकारानभिज्ञ: भगवान् (इति!) शङ्का वा अमारणं वा न संभावितमिति ज्ञापयितुमाह **मधुसूदन** इति— यो हि मधुकैटभौ मारितवान् तस्याल्पसत्त्वस्यास्य हनने क: प्रयास इति. किन्तु **स्वपाणिना हस्तं** प्रसार्यमाणं **निगृह्य** नितरां लकुटवद् गृहीत्वा शाखामिव **भूतले पातयामास** ॥१३॥

स्थूलशरीरस्य पातनेनैव मूर्च्छा सम्पन्ना. ततो यत्कृतवांस्तदाह **पतितं तं पदाक्रम्येति.**

पतितं तं पदाक्रम्य मृगेन्द्र इव लीलया ।
दन्तमुत्पाट्य तेनैव हस्तिपांश्चाहनद्धरि: ॥१४॥

प्रथमव्यापारेणैव पतित:; तादृशं मस्तके पादं दत्वा **दन्तमुत्पाट्य तेनैव** दन्तेना**हनत्.** उत्पाटने प्रकारमाह **मृगेन्द्र** इति— स हि कुम्भस्थलं विदार्य तत्र दन्तमूलं बन्धनेभ्य: पृथक्कृत्य पश्चाद्दन्तमेवोत्पाटयति. परं महता प्रयासेन, भगवांस्तु **लीलये**ति विशेष:. **ततस्तेनैव** दन्तेन सर्वानेव महामात्रान् यैर्यै: प्रेरित: तान**हनत्, च**काराद् हस्तिनम्. ननु गज: किमिति हत:, अर्द्धमृत एव त्यक्तुमुचित इति चेत्, तत्राह **हरिरि**ति, सिंहो हि मारयत्येव, शाश्वतिको विरोध इति. भगवांश्च हरि: सर्वदु:खहर्ता, अर्द्धमृतस्य जीवने महान् क्लेश इति. वसुदेवादीनामपि दु:खं दूरीकर्तव्यमिति ॥१४॥

एवं हस्तिनं हत्वा प्रतिबन्धकापगमे तन्निवृत्तिं सूचयन् अन्त:प्रविष्ट इत्याह **मृतक**मिति.

मृतकं द्विपमुत्सृज्य दन्तपाणि: समाविशत् ।
अंसन्यस्तविषाणोऽसृङ्-मदबिन्दुभिरङ्कित: ॥
विरूढस्वेदकणिका-वदनाम्बुरुहो बभौ ॥१५॥

स हि पूर्वमेवासमर्थ: अप्रयोजको जीव:, यत: पानेऽप्युभयसापेक्ष:. अतस्तं विसृज्य **दन्तपाणिर्भूत्वा सम्य**गेवाव्यग्र **आविशत्.** तदा प्रविष्टस्य भगवत: स्वरूपं वर्णयति **अंसन्यस्तविषाण** इति, लोकानां प्रतीत्यर्थं दन्तोऽयं महाभार इति अंसे स्थापितवान्. साप्येका लीला. तत: **असृङ्मदयो: बिन्दुभिरङ्कितो** जात:. सर्वाङ्गे **समाकर्षणेन** दन्तस्य तत्र स्थित: मद: रुधिरं च कणशो भगवति सम्बद्ध:. यथा पूर्वदिवसे मालया चन्दनैश्च शुशुभे एवमिदानीमपि दन्तेन मदबिन्दुभिश्च शुशुभे. **विषाणमि**ति कदाचिद्वाद्यविषाणं गोपाला: स्कन्धेऽपि बिभ्रति नापूर्वमिति ख्यापयितुं,

कुवलयापीडं च बलीवर्दतुल्यं ज्ञापयितुम्. किञ्च **विरूढेति**, **विशेषेण रूढा** या: **स्वेदकणिका:** ता **वदनाम्बुरुहे** यस्य. भक्तार्थं भगवानेवं प्रयासं करोतीति ज्ञापयितुं कणिकोद्भेद:. एतादृशोऽपि **बभौ** सर्वोत्कृष्टकान्तियुक्तो जात इत्यर्थ: ॥१५॥

एवं भगवन्तं वर्णयित्वा सर्वेषां सुखेन रङ्गप्रवेशमाह **वृताविति**.

वृतौ गोपै: कतिपयैर्बलदेवजनार्दनौ ।
रङ्गं विविशतू राजन्गजदन्तवरायुधौ ॥१६॥

केचन गोपाला इतस्तत: पलायिता: केचनान्त:प्रविष्टा: केचनैव च स्थिता:, अत: **कतिपयैरेव गोपैर्वृतौ**. बलभद्रेणापि द्वितीयो दन्तो गृहीत:, हस्तिन: सर्वस्वं तदिति, शत्रोर्धनं ग्राह्यमिति, अग्रे साधनस्याप्यपेक्षितत्वात्. तत्र प्रवेशे दैत्यवधार्थं सामर्थ्यं सहजद्वेषं (च!) सूचयितुं **बलदेव** इत्युक्तवान्. **जनार्दन:** अविद्यामपि मारयतीति किं तस्य तद्गृहीतमारणे प्रयास इति ज्ञापयति. **रङ्गमिति**, तादृशौ **रङ्गं** रङ्गप्रदेशं **गजदन्तावेव वरे** उत्कृष्टे **आयुधे** ययो: तादृशौ इदानीमेव मारयिष्याव इति बोधयन्ताविव **विविशतु:** नि:शङ्कतया प्रविष्टौ ॥१६॥

तादृशवेषेण प्रवेशस्य प्रयोजनं वदन् भगवत: स्वरूपं बलभद्रसहितं सर्वैर्दृष्टं यथाधिकारं नानाभावान् जनयतीत्याह **मल्लानामशनिरिति**.

मल्लानामशनिर्नृणां नरवर: स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्
गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रो: शिशु: ।
मृत्युर्भोजपतेर्विराडविदुषां तत्त्वं परं योगिनां
वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रङ्गं गत: साग्रज: ॥१७॥

प्रमेयेण निरोधोऽत्र कर्तव्यो हरिणा भृशम् ।
लोकाश्च दशधा भिन्नास्ततो दशविधोऽभवत् ॥(६)॥
यस्य भावो यथा लोके तस्यानुसरणे कृते ।
निरोधो जायते सम्यग् अन्यथा बन्धनं भवेत् ॥(७)॥
गुणा नवविधा: प्रोक्तास्तदभावस्तथा पर: ।
शृङ्गारादिरसाश्चैव तेषामेव निरूपका: ॥(८)॥

लेख:

मल्लानामशनिरित्यत्र प्रमेयेणेति स्वरूपेणेत्यर्थ:. **तस्यानुसरणे** इति भावस्यानुसरणे इत्यर्थ:. **अन्यथेति**, तद्भावानुसरणाभावे तस्य भावस्यालौकिकत्वाभावात्तत्कृतं **बन्धनं भवेदित्यर्थ:** (६-७).

राजसास्त्रिविधा: पूर्वं सात्त्विकाश्च[1] तत: परा: ।
आध्यात्मिकास्तथा पूर्वं दैविकास्तु[2] तत: परम् ॥(९)॥
रौद्रोऽद्भुतश्च शृङ्गारो हासो[3] वीरो दया तथा ।
भयानकोऽपि बीभत्स: शान्तो भक्तिरसस्तथा ॥(१०)॥
एतान् दर्शयितुं भावान् हरिरेवं बभौ महान् ।
अतस्तस्मिन् गुणा एव सर्वे भावा न चान्यथा ॥(११)॥

आदौ **मल्ला:** प्रतियोगिनमन्वेषमाणा: भगवान् न प्रतियोगी किन्तु विसदृश इति सोऽपि सर्वथा मारक एवेति ज्ञातवन्त इत्याह **मल्लानामशनिरिति विदित: साग्रजो** बलभद्रसहित: **रङ्गं गत** इति. यत्र हि विद्युत्पतति वृष्टिश्च तत्र न समीचीनमिति ज्ञात्वा विद्युतोऽतिवेगात् पलायनेऽप्यशक्ता जाता इत्यर्थ:. तेन मल्लस्वभावा निरुद्धा: ये रौद्रप्रकृतय:. ततोऽन्ये साधारणा: राजसा: भगवन्तमद्भुतं ज्ञातवन्त इत्याह **नृणां नरवर** इति. अद्भुतो नर: नरश्रेष्ठ इति भगवन्तं दृष्ट्वा अद्भुतदर्शनमिति अद्भुतरस एवोत्पन्न:, साधारणास्त्वद्भुतरसेनैव वशे भवन्ति इति. सर्वत्र **इति विदितो रङ्गं गत** इति सम्बध्यते. तादृशावस्थायामपि स्त्रीणां राजससात्विकानां भगवान् स्वफलस्वरूप एव प्रतिभात इत्याह. **स्त्रीणामिति** द्रष्टुमागतानाम्. ता: [4]कामपृतना: कदापि स्वस्वामिनं न दृष्टवत्य:. **स्मरो** हि स्मर्तव्यात्मा, स इदानीं **मूर्तिमान्** चेज्जात: तदा सनाथा जाता:, अत: परं सर्वैरेवेन्द्रियै: शरीरेणान्त:करणेन च सेव्यो जात इति. एवमेकविधास्त्रयो निरूपिता:. सर्वाधमा मल्ला: उत्तमा: स्त्रिय इति पुष्टिमार्गे क्रम उक्त:, आधिभौतिकाभिमानिनामेषा रीतिरिति. एवं सामर्थ्यप्रकटनेऽपि **गोपानां** राजसतामसानां **स्वजन:** अस्मदीय एवायं बन्धु: परमुत्कर्षापन्न:, अतो भगवता यो वेश: कृतो विलक्षण: स हास्यरसजनको

लेख:

तामसा इति पूर्वं निरूप्यन्त इति शेष:. **राजसाश्च** तदनन्तरं निरूप्यन्त इति शेष:. **ततस्तदनन्तरं परा** उत्कृष्टा: सात्विका: निरूप्यन्त इति शेष:. **आध्यात्मिका:** निरूप्यन्ते इति शेष:. **तथा पूर्वम्** आध्यात्मिकेभ्य: पूर्वम् आधिभौतिका निरूप्यन्ते इति शेष:. **तत: परं दैविका** आधिदैविका इत्यर्थ: (९).

ततोन्येति, मल्लास्तामसतामसा: एते **साधारणराजसास्तामसराजसा** इत्यर्थ:. **आधिभौतिकेति**, आधिभौतिकं स्थूलं शरीरं तदभिमानिनामित्यर्थ:.

---

१. तामसाश्चेति पाठ:. २. वैदिका:. ३. हास्यम्. ४. कामस्य.

जात:; यथा स्वकीये वेशे कृते आध्यात्मिके. एते देहस्वरूपा:, इन्द्रियरूपास्त्वग्रिमा:, आत्मरूपास्तत इति. दम्यत्वेन इन्द्रियतुल्यता राज्ञाम्; भगवन्तं दृष्ट्वा तेषां वीररस उत्पन्न इत्याह **असतां क्षितिभुजां शास्तेति**. सन्तो ये ते वृष्णित्वेन वक्तव्या: भक्त्यधिकारिण:. ये च लौकिका: असन्तस्ते पामरा एव बीभत्सरसे वक्तव्या:. ये पुन: राजसराजसा: ते राजसभावसिद्ध्यर्थं **क्षितिभुज** उच्यन्ते. वीररसस्तेषामेव. भगवन्तं दृष्ट्वा युद्धार्थं बुद्धिस्तेषामुत्पन्ना परमयं **शास्तेति** तेषां न प्रवृत्ति:, वीररसस्तूत्पद्यत एवेति रसोत्तमत्वार्थमेवमुक्तम्. यथा हीनस्यापि पुरुषस्य महाराजावरोधे दृष्टे शृङ्गाररस उत्पद्यत एव, परं तासां नोत्पद्यते, अधमबुद्धेर्बाधकत्वात्. स्वस्मात्तत्रोत्कर्षबुद्धि: सर्वत्र रसपोषिका. [१]अतिवीराणा**मसतां** विचाररहितानां दृप्तानां शास्तृत्वप्रतीतावपि वीररसो युक्त एव. यथा स्त्रीणां स्नेहो भगवति तथैव ततोऽप्यधिको वसुदेवदेवक्यो: स्नेह:, परं तम:[२] अज्ञानात्मकमिति कामस्तत्र प्रयोजक: अत्र तु मोह इति. मोहांशे राजसत्वं, स्नेहांशस्तु सर्वत्र सात्त्विक एव; लौकिकत्वाद्राजसत्वं निषिद्धत्वात्तामसत्वं विहितत्वात् सात्त्विकत्वं चेति स्नेहे त्रयो भेदा:. तत्तदधिकारिणां तथैव निरोध उक्त:. **स्वपित्रोर्व**सुदेवदेवक्यो: **शिशु**र्बालक एव; करुणापरपर्यायो दयारस उत्पन्न:. स हि स्नेहस्यान्तरङ्गं भवति. सा दया करुणारूपा. स्नेहधर्मा बालक एवेति तेषां शिशुरेवेति प्रतिभात:. सात्त्विकान् गणयति. ये हि मुक्त्याधिकारिण: अलौकिका: ते भय-बीभत्स-शान्तरसेष्वधिक्रियन्ते, तत्रानुपदमेव मुक्तिर्भविष्यतीति. दुष्टकर्मकर्तेति कंस: तामससात्त्विक: देहाधिष्ठात्री देवतेव प्राज्ञ इव निरूप्यते **मृत्युर्भोजपतेरि**ति. **मृत्यु**र्भयात्मक:[३], न हि ततोऽधिकं भयमस्ति. लोकन्यायेन नरकापेक्षयापि मृत्युरेव महान्. **भोजानां पतिरिति** महत्त्वं सात्त्विकत्वार्थमुक्तम्. **विराडविदुषामिति**— ये हि भगवत्स्वरूपनिष्ठा भक्ता: राजससात्त्विका: तेषां स्नेहवशात्[४] रुधिरमदबिन्दुभि: कृत्वा बीभत्सरस उत्पद्यते, यथा स्वपुत्रादौ असद्द्रव्यसम्बन्धे विचिकित्सा भवति. अन्यथा तद्दूरीकरणार्थं प्रवृत्तिर्न स्यात्. निन्दा तु भगवल्लीलापरिज्ञानात्. "उत्कृत्योत्कृत्यकृत्तिभि"'त्यादिकमपि महतामेव बीभत्सरसजनकं न तु प्राकृतानाम्, अन्यथा निरोधे ते न वक्तव्या: स्यु:. न ह्यतिप्राकृता: "त्यक्तव्य एव भगवानि"ति

लेख:

आध्यात्मिक इति लिङ्गसङ्घाते इत्यर्थ:. **यथा स्त्रीणामिति, तथैव** भगवान्परमसुन्दर

---

१. अतो वीराणाम्. २. तप:. ३. भयात्कंस: इति स. पाठ:. ४. स्नेहात्.

बुद्धियुक्ताः निरोधाधिकारिणो भवन्ति. **विराट्शब्दः** शोभाभाववाचकः विगतराजनरूपः न तु प्रसिद्धः, अदृष्टत्वादसम्मतत्वाच्च. न हि तत्स्वरूपज्ञा अविदुषो भवन्ति. **परं योगिनो** हि सात्त्विकसात्त्विकाः, प्रवृत्तिस्वभावत्वान्न गुणातीताः. तेषां स्वेष्टसिद्ध्यर्थमात्मत्वेन च स्फुरणात्प्रकारद्वयेन च स्नेहः. अतो **योगिनां परमेव तत्त्वं** पुरुषोत्तमरूपम्. तेषां सर्वं तत्त्वात्मकमित्यात्मापि तत्त्वरूपो भवति; योगसाङ्ख्ययोरेषैव व्यवस्था. **परत्वं** परमकाष्ठापन्नत्वम्. **वृष्णयो** हि यादवा भगवदीया गुणातीताः, येषां सात्विकान्ते परमो निरोधो वक्तव्यः "शय्यासनाटनालापे"ति, तेषां भगवति परत्वं स्वामित्वं देवतात्वं च विदितं जातम्. दासस्य हि स्वामी नियामकः, स लौकिकोऽपि भवतीति तद्व्यावृत्त्यर्थं **देवतापदम्**. स्वस्मिन् अलौकिकबुद्धौ हीनत्वाभावाद् दृढा भक्तिर्न भविष्यतीति स्वस्मिन् प्राकृतत्वबुद्धिरेव. अतः परदेवतात्वं भगवति युक्तम्, भगवांस्तु यादृशस्तादृश एव सर्वविलक्षणः सर्वरूपश्चेति. अत उक्तमिति **विदित** इति. रङ्गस्थानं गतः यत्र सर्वेषामेव रसः पुष्टो भवति. यद्यपि शान्तरसस्य न विशेषाभिनयः तथापि तथोपवेशनेन सामान्याभिनयोऽस्त्येव; "अष्टौ नाट्ये रसा" इति विशेषाभिप्रायम्, भक्तिरसोऽपि रसदृष्टिवत् निपुणैरभिनेय इति. सर्वेषामेवार्थे रङ्गं गतः. **साग्रजो** बलभद्रसहितः; समानतया सर्वत्र निरूपयन् अत्र गौणत्वार्थं सहभावमेवोक्तवान्, अन्यथा द्विवचनेनैव वदेत्. वेदसहभावोऽपि भगवति वक्तव्यः अलौकिकत्वाय. तत्रापि सर्वरससम्बन्धे **पित्रोरित्यादि** न सामंजस्येन युक्तं भवेत्. गोपानामपि लीलाया अकृतत्वात् न हास्यरसत्वम्. तस्मादसर्वत्वात् सहभाव एवोक्तः. रसोत्पत्तौ तत्तद्बुद्धिर्योग्यत्वेन निरूपिता फलोन्मुखत्वाय ॥१७॥

प्रधानक्रमेण कंसस्यादौ भयमाह **हतं कुवलयापीडमिति.**

हतं कुवलयापीडं दृष्ट्वा तावपि दुर्जयौ ।
कंसो मनस्व्यपि तदा भृशमुद्विविजे नृप ॥१८॥

स हि ज्ञातवान् वञ्चयित्वा समायास्यतीति, तत्र मारयित्वा समागत इति यद्यपि महाशूरः राजापि तथापि **भृशमुद्विविजे**. यदि गजो हतः अशस्त्रेण तर्ह्यन्यानपि मारयिष्यतीति युक्तिः. प्रमाणमाह **दृष्ट्वा तावपि दुर्जयाविति**— मनसा दृष्ट्या च

लेखः

इतिप्रकारक एवेत्यर्थः. **प्रकारद्वयेन चेति**, अतोपि न **गुणातीता** इति पूर्वेण समुच्चयः. **तत्रापीति** बलदेवेऽपीत्यर्थः ॥१७॥

एतौ दुर्जयाविति प्रतिभाति. मया च यत्नः कर्तव्यः, कृतश्च भूयान्, अपकृतश्च पित्रादिबन्धनेन, अतो मारयिष्यत्येव, नान्यथेति भृशमुद्वेगः[१]. दुःखेन जयो ययोरिति नात्र योगो वक्तव्यः किन्तु अजेयावित्येव रूढोऽर्थः. **नृपेति** सम्बोधनं शत्रोस्तथात्व-दर्शनात् विश्वासार्थम् ॥१८॥

एवं प्रधानस्य रसाविर्भावमुक्त्वा, मल्लानामतिकठिनानां भगवतो गुणश्रवणमपि अधिकमपेक्ष्यत इति तान् परित्यज्य, शिष्टानां रसाविर्भावो जात इत्याह **तौ रेजतुः** इति.

तौ रेजतू रङ्गतौ महाभुजौ विचित्रवेषाभरणस्रगम्बरौ ।
यथा नटावुत्तमवेषधारिणौ मनः क्षिपन्तौ प्रभया निरीक्षताम् ॥१९॥

तौ निरीक्षतां प्रभया मनः क्षिपन्तौ रेजतु इति. मनो हि प्रतिबन्धकं क्षणेन रसान्तरमप्युत्पादयेद्, अतस्तस्याक्षेपो वक्तव्यः यथा नोत्पादयेदिति. प्रतिबन्धकनिवृत्त्यर्थं प्रथमतो भगवच्छोभावर्णनम्. शोभायामुभयोस्तुल्यता, यथा नीलमुक्तामणी. नटवदेव भगवन्तौ रूपान्तरं गृहीतवन्तौ, **तौ चेद्रङ्गतौ** भवतः वेशः सार्थको भवतीति परमार्थतः. लोकेऽपि रङ्गस्थान एव नटोत्तमता, नान्यत्र. अतो **रङ्गतौ रेजतुः** पूर्वपिक्षयापि. नन्वयं रङ्गः कृत्रिमः कथमत्र रमणमिति चेत्, तत्राह **महाभुजाविति**— तथापि भुजाभ्यामेव सर्वे निराकर्तव्या इति युक्तैव शोभा. ननु तथापि ये रसानभिज्ञाः प्राकृताः शुद्धस्वाङ्गरसं न जानन्ति तेषां कथं रसोत्पत्तिरित्यत आह **विचित्रवेषाभरणस्रगम्बराविति**— विचित्रो वेषो यथा भवति तथा आभरणानि स्रजः अम्बराणि च ययोः, त्रिविधान्यप्याभरणानि वैचित्र्यं जनयन्तीति अन्येषामपि रसयोग्यता. नन्वेतयोः नटवद्रूपान्तरग्रहणमिति हि महतां प्रतीतिः न सर्वेषां, तत्कथं नटबुद्ध्यभावात् रसोत्पत्तिरिति चेत्, तत्राह **यथा नटाविति**— नटवदेव तदानीमभिनयं कुरुतः अतः सर्वेषामेव नटप्रतीतिः.. ननु स्वाभाविकमेव अपूर्वदर्शनात्तयोः कथं न भवेदित्याशङ्क्याह **उत्तमवेषधारिणाविति**— उत्तमवेषं धारयत इति नटाभिनयो न स्वाभाविकः अतः सर्वेषामेव स्वप्रभया मनोहरणं युक्तम् ॥१९॥

लेखः

तौ रेजतुरित्यस्याभासे रसाविर्भाव इति, मनःक्षेप इत्यर्थः. भगवति शोभाया नित्यत्वात्तदनुवादेन मनःक्षेप एव वाक्यार्थ इति भावः.

---

१. समुद्वेगः.

ततस्तेषां रस आविर्भूत इति वक्तुं भगवति प्रेमपूर्वकमवलोकनमाह **निरीक्ष्ये**ति.

निरीक्ष्य तावुत्तमपूरुषौ जना मञ्चस्थिता नागरराष्ट्रका नृप ।
प्रहर्षवेगोत्कलितेक्षणानना: पपुर्न तृप्ता नयनैस्तदाननम् ॥२०॥

पुरुषमात्रमपि सुन्दरं दृष्ट्वा प्रमोदो भवेद्, एतौ तु पुरुषोत्तमौ, **उत्तम: पुरुष:** परमात्मेति आत्मनोपि नियामकौ. **जना:** सर्व एव प्राणिन: साधारणा:. ततो विशिष्टा: **मञ्चस्थिता:**. दर्शनयोग्यत्वाय वा मञ्चस्थितत्वम्. **नागरराष्ट्रका:** नगरवासिनो देशवासिनश्च. नगरवासिनो रसाभिज्ञा: देशवासिनो बहुज्ञा:, अत उभये विशिष्टा गणिता:. ततोऽपि **नृपा**स्त्रिविधा: चतुर्विधा वा; सर्वेषामपि नियन्तारं दृष्ट्वा मुदिता जाता:. न केवलं हर्षमात्रं किन्तु **प्रहर्षस्य** यो **वेग:** तेनो**त्कलितं** विकाशाभिमुख**माननं** येषाम्. प्रथमदर्शन एवैतद्, अग्रे वाक्यैर्विकाशं वक्ष्यति. अत**स्तदाननं पपु:** तेन मार्गेणान्त:प्रवेशितवन्त:. **नयनै**रिति, नयनरूपाण्येव तानि, अतो मुखमपि नीतवन्त इति. इयमेव तदासक्ति: यदन्तर्बहि: स एव दृश्यते ॥२०॥

न केवलं योगिवदन्त:स्थापयित्वा चरितार्था जाता: किन्तु भक्ता इव परमाकाङ्क्षायुक्ता इव क्षुधिता इव मुग्धा इव प्रोष्यागता इव परमस्निग्धा इव जाता इत्याह **पिबन्त इवे**ति.

पिबन्त इव चक्षुर्भ्यां लिहन्त इव जिह्वया ।
जिघ्रन्त इव नासाभ्यां श्लिष्यन्त इव बाहुभि: ॥२१॥

चक्षुर्भ्यां पिबन्त इव जाता:. प्रत्येकं चक्षुर्द्वयेनान्तर्दु:सहतापशान्त्यर्थम् अन्तर्निवेशितवन्त:. यथा पानसमये जलमन्तर्बहिर्व्यासं तिष्ठति तथा भगवान् जात इत्यर्थ:. यथा गौर्वत्से जाते **जिह्वया** प्रेमपूर्त्यर्थं लेहनं करोति तथा ज्ञानानन्तरं भावमाविष्कृतवन्त:. यथा पिता तदर्थमेव सम्पादितपदार्थ: प्रोष्यागत: मूर्ध्नि जिघ्रति जातं वा तथा भगवति सर्वे जाता:. ज्ञानप्रेमानन्तरं बहिरात्मत्वेन व्यवहृतवन्त इत्यर्थ:. यथा वा मित्राणि स्त्रियो वा चिरागतं आलिङ्गन्ति तथा भगवति सर्व एव जातभावा जाता:. ज्ञानप्रेमात्मव्यवहारेषु सिद्धेषु सख्यान्तमात्मसमर्पणान्तं वा भक्तिसाधनानि क्रियन्ते[१] तथा कृतवन्त: ॥२१॥

एवं ज्ञानक्रियाशक्तिविनियोगेन अन्त:करणशरीरयोर्भगवति विनिवेशन-मुक्तम्, लेहनाघ्राणाभ्यामिन्द्रियप्राणयोरपि. एवं चतुर्धा क्रियाज्ञानशक्ती निरूपिते. अनेन तदासक्ति: सिद्धैव, तथापि स्थूणाखननन्यायेन यदि न स्थिरीक्रियते रसस्तदा

१. निरूप्यते इति स. पाठ:.

दृढो[1] न भवतीति भगवति वाचनिकमाह **ऊचुरि**ति.

ऊचुः परस्परं ते वै यथादृष्टं यथाश्रुतम् ।
तद्रूपगुणमाधुर्यप्रागल्भ्यस्मारिता इव ॥२२॥

यद्यपि सर्वे जानन्ति, तथापि वक्तारः श्रोतारश्च सर्व एव जाताः, दार्ढ्यकरणस्यैव प्रयोजकत्वात्. अतः **परस्परमेवोचुः**. यत**स्ते** प्रसिद्धा निरुद्धाः. सर्व एव तथा जाता इति वक्तुं (**वै!**) निश्चयमाह. तत्र भगवन्माहात्म्यं ज्ञात्वा वक्तव्यमिति ज्ञानार्थं दर्शनं श्रवणं चाह **यथादृष्टं यथाश्रुत**मिति, नतु कल्पनया. श्रुतं कीर्त्यत इति सिद्धम्, दृष्टमसंभावनादिनिराकरणाय. ननु कः प्रसङ्गोऽत्र भगवद्गुणनिरूपणे? तत्राह **तद्रूपे**ति— **तस्य रूपं गुणाः माधुर्यं** कोमलता च **प्रागल्भ्यं** सामर्थ्यं तैर्दृष्टं श्रुतं **स्मारितं** येषु. तेन संस्कारोद्बोधात् संयोगापेक्षया, संस्कारस्य बलवत्त्वाद् ऊचुरेव, अन्यथा [2]अप्रत्यक्षविषये परिदृश्यमाने अन्यचित्तता न स्यात्. वस्तुतस्तु भगवद्गुणाः स्वरूपं च भगवत्कृपया तेष्वाविर्भूतमेव तथापि स्मृता इव वदन्तीती**वे**त्युक्तम् ॥२२॥

तेषां वाक्यान्याह **एतावि**त्यष्टभिः, अष्टैश्वर्याणि वक्तव्यानीति. गुणैः सह भगवान् प्रमाणं चेति वा. जन्मावधि सर्वमाहुः.

॥ जना ऊचुः ॥

एतौ भगवतः साक्षाद्धरेर्नारायणस्य हि ।
अवतीर्णाविहांशेन वसुदेवस्य वेश्मनि ॥२३॥

तत्रोभयोरुत्पत्तौ तुल्यतामाहुः. **एतौ** कृष्णरामौ **भगवतः** पुरुषोत्तमस्य **साक्षात्** स्वयमागत्य (**हरेः!**) सर्वदुःखनिवारकस्य. स एव स्वस्मिन् तानानीय स्वकीयान् देहादीन् तेषु सम्पाद्योद्धारं कुर्वन् समागत इत्याह **नारायणस्ये**ति. अनेन मूलमध्यब्रह्माण्डभावा निरूपिताः. तस्यैतावान् समारम्भः सर्वमुक्त्यर्थः. स भगवदवतारव्यतिरेकेण न संभवतीति युक्त एव तस्यावतार इति **हि**शब्दः. अवतारो हि ये उद्धर्तव्याः तेषां मध्ये अवतरणम्. कूपे पतितो हि गुणैः स्वयमागत्य वोद्ध्रियते.

लेखः

ऊचुः परस्परमित्यत्र **प्रयोजकत्वादि**ति, कथने दार्ढ्यकरणमेव प्रयोजनं हेतुरित्यर्थः. अग्रे **संयोगापेक्षये**ति, उक्तः संयोगेत्यर्थः. **स्मृता इवे**ति, स्मृतं स्मरणं तद्युक्ताः, अर्श आद्यच् ॥२२॥

---

१. रूढो इति स. २. प्रत्यक्षेति शोधितः पाठः.

तत्राज्ञेषु स्वागमनमेवोचितमिति **अवतीर्णौ इह** प्रपञ्चे. यावतांशेन एते उद्धृता भवन्ति तावन्तमेवांशं व्यापृतवानित्याह **अंशेने**ति. अंशत्वं स्वरूपत्वं च सर्वत्र पूर्णगुणके आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादावनन्तमूर्तौ पूर्णे न विरुध्येते. सर्वप्रसिद्धमेतदिति वदन् **वसुदेवस्य वेश्मनि** गृहे भार्यायां चेत्युक्तम्. अतो द्वयमपि समर्थितं गृहे ह्याविर्भाव एवेति. **यथाश्रुतमि**ति वाक्याद्वा, तावदेव तैः श्रुतमिति ।।२३।।

एवमुभयोः सामान्यरूपमुक्त्वा भगवति विशेषरूपमाह **एष** इति.

एष वै किल देवक्यां जातो नीतश्च गोकुलम् ।
कालमेतं वसन्गूढो ववृधे नन्दवेश्मनि ।।२४।।

एषः कृष्णः **वै** निश्चयेन **किले**ति प्रसिद्धौ **देवक्यां जातः गोकुलं च नीतो** वसुदेवेन. **च**कारात् तत्प्रतिनिधित्वेन कन्याप्यानीता. नारदवाक्यादेषा प्रसिद्धिः. ततः एतावत्**कालं** एकादशवर्षपर्यन्तं तत्रैव **वसन् नन्दवेश्मनि ववृधे.** तर्हि कथं सर्वैर्न व्यवहृत इति चेत्, तत्राह **गूढ** इति गुप्त इति; गुप्तत्वार्थं गुप्तत्वे वा न व्यवहृत इत्यर्थः. वृद्धिर्जननवत्प्रातीतिकी ।।२४।।

न केवलं तूष्णीं वृद्धिं गतः किन्तु चरित्राण्यपि कृतवानित्याह **पूतने**त्यादि पञ्चभिः, दुष्टनिग्रहः शिष्टदुःखदूरीकरणं तेभ्यः फलदानं चेति. तत्र दुःखं त्रिविधम्— आधिभौतिकमाध्यात्मिकमाधिदैविकमिति. ततश्चरित्रं पञ्चविधम्. तत्र प्रथममाह.

पूतनानेन नीतान्तं चक्रवातश्च दानवः ।
अर्जुनौ गुह्यकः केशी धेनुकोऽन्ये च तद्विधाः ।।२५।।

अनेन पूतना अन्तं नीता प्रथमम्, तत**श्चक्रवात**स्तृणावर्तः **अन्तं** नीतः. स **च दानवो** महान्. ततो**ऽर्जुनौ** यमलौ वृक्षौ, ततो **धेनुकः**, ततः साम्प्रतं **केशी. गुह्यकः** शङ्खचूडः. **अन्ये चा**रिष्टादयः **तद्विधाः** पूर्वोक्तसमानाः.

षडेते प्रतिपक्षास्तु इन्द्रियाणीव रूपिताः ।
अतिदिष्टास्तथा चान्ये सर्वतुल्या यतः परे ।।(१२)।।२५।।

आधिभौतिकोपद्रवपरिहारमाह **गावः सपाला** इति.

गावः सपाला एतेन दावाग्नेः परिमोचिताः ।
कालियो दमितः सर्प इन्द्रश्च विमदः कृतः ।।२६।।

एतेन भगवता **सपाला गावः दावाग्नेः** सकाशात् **परितो मोचिताः.** अचेतनबाधनिराकरणमुक्तम्, सचेतननिराकरणमाह **कालियः** सर्पो **दमितः.** आधिदैविकोऽपि भूततुल्यो जात इति वक्तुं सहकीर्तनम् **इन्द्रश्च विमदः कृत** इति. **च**काराद् ब्राह्मणाः वरुणादयश्च ।।२६।।

आधिदैविकोपद्रवनिराकरणमाह **सप्ताहमिति.**

सप्ताहमेकहस्तेन कृतोऽद्रिप्रवरोऽमुना ।
वर्षवाताशनिभ्यश्च परित्रातं च गोकुलम् ॥२७॥

एकहस्तेनाद्रिप्रवरो गोवर्धनः **कृतो** धारितः. अनायासार्थ**मेकहस्तेन कृत** इत्युक्तम्. सर्वत्राप्रयोजकव्यावृत्त्यर्थमुक्तिविशेषः. यथा कालियः सर्प इति, सर्पो हि दमने दुःसाध्य इति. **अमुना** भगवतेति बालकत्वं प्रदर्शितवन्तः. किं धारणेन कृतमित्याशङ्कायामाह **वर्षवाताशनिभ्यश्चे**ति. अशनिप्रायाः पाषाणाः, यदि वा क्षणं तिष्ठेयुः तदाशनयोऽपि पतेयुरिति निर्धारितत्वादुक्तम् **अशनिभ्यश्चे**ति. **च**काराद् इन्द्रयागादपि उपधर्मात् परिपालिता इति ॥२७॥

आध्यात्मिकपीडापरिहारमाह **गोप्य** इति.

गोप्योऽस्य नित्यमुदित-हसितप्रेक्षितं मुखम् ।
पश्यन्त्यो विविधांस्तापांस्तरन्ति स्माश्रमं मुदा ॥२८॥

गोप्यो हि **अस्य मुखं पश्यन्त्यः विविधांस्तापान्** जहुः. **नित्यमुदितं** च तत् हर्षपूर्वकं **प्रेक्षितं** यत्र तादृशं च. नित्यमुदितत्वेन तत्र न किञ्चित्कर्तव्यम्, दृष्टिश्च स्वतः प्रवृत्ता भवति. विवेकेन ये क्लेशाः, ये वा अज्ञानेन, ते उभये हसितप्रेक्षिताभ्यां निराकृताः. **मुखं** हि परमानन्दरूपम्. **विविधास्तापाः** कामादयः (अज्ञानादयः) [1]विध्याद्यनुरोधादयश्च. तरणे (**स्म**!) प्रसिद्धिरेव प्रमाणम्. **अश्रममि**ति, कर्मज्ञानभक्तिमार्गेषु श्रमोऽप्यस्त्यन्ततः, अत्र तु श्रमाभावः. किञ्च नौकया नद्यादितरणे श्रमाभावोऽस्ति, अत्र तु **मुदे**त्यधिकम् ॥२८॥

एवं दुःखाभावमुक्त्वा सत्सु सर्वसुखप्रदानं भविष्यमाह **वदन्त्यनेन वंशोऽयमि**ति.

वदन्त्यनेन वंशोऽयं यदोः सुबहुविश्रुतः ।
श्रियं यशो महत्त्वं च लप्स्यते परिरक्षितः ॥२९॥

अनेन भगवता कृत्वा **यदोर्वंशः** विगीतोऽपि **सुबहुविश्रुतो** भविष्यति. दुष्टो हि न श्रूयते, दोषनिराकरणे तु श्रूयते. ततोऽपि गुणाधाने **विश्रुतं** भवति, अलौकिके तु गुणे **बहुविश्रुतं** भवति. मोक्षदानार्थं भगवति समागते **सुबहुविश्रुतं** भवति. किञ्च **श्रियं** च **लप्स्यते** पूर्वस्मादधिकाम्. **यशश्च**, श्रियो हि सांसिद्धिको दोषो लोभ इति तन्निवृत्त्यर्थं यशसो निरूपणम्. बहिःशोभैषा, अन्तःशोभार्थमाह **महत्त्वं चे**ति.

---

१. विपद्य.

महत्त्वेन सत्यादयः सर्वे गुणा उक्ताः **च**कारान्मोक्षं च प्राप्स्यति. **अनेनैव परिरक्षितश्च** भविष्यतीति, न तु सन्निपातेन म्रियमाणः यथा गङ्गया मुक्तः क्रियते. तथा सति न सर्वोत्कर्षो भगवति समायाति ॥२९॥

एवं भगवच्चरित्रमुक्त्वा प्रमाणबलमिव निरूपयन् बलभद्रचरित्रमाह **अयं चे**ति.

अयं चास्याग्रजः श्रीमान्रामः कमललोचनः ।
प्रलम्बो निहतो येन वत्सको धेनुकादयः ॥३०॥

यथा भगवान् षड्गुणैश्वर्यसंपन्नः एवमयमपीति **च**कारादतिदिश्यते. अनेन तुल्यत्वनिरूपणेष्वपि उपदेशातिदेशकृतं वैलक्षण्यमुक्तं भवति. **अस्य** भगवतः **अग्रजो** ज्येष्ठभ्राता. तस्य ज्येष्ठत्वे भगवत्त्वे च हेतुमाह **श्रीमा**निति— शोभातिशयवान् अधिकश्च दृश्यते. **राम** इति प्रसिद्धः, अनेन साधनरूपता तस्योक्ता. **कमललोचन** इति दृष्ट्यैव सर्वतापनाशक इति. अस्य पौरुषं तथा न प्रसिद्धमिति रूपमेव बहुवर्णितम्. पौरुषमप्याहुः **प्रलम्बो निहतोऽनेने**ति. **वत्सकः** लोके बलभद्रेण हत इति प्रसिद्धत्वाद् गणितः. **धेनुकादय** इति तत्सम्बन्धिनः तालाश्च परिगणिताः. भगवतापि धेनुको हत इति प्रसिद्धिः अतः पूर्वमुक्तम्. **ये बकादय** इति वा पाठः. अप्रसिद्धत्वाद् दर्दुरादयः **आदि**शब्देन ग्राह्याः. एवं सर्वे भगवद्गुणतत्पराः कायवाङ्मनोभिर्भगवत्प्रपन्ना जाताः ॥३०॥

ततो गुणश्रवणे मल्लानामपि रस आविर्भूत इत्याह **जनेष्वि**ति.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

जनेष्वेवं प्रगृणत्सु तूर्येषु निनदत्सु च ।
कृष्णरामौ समाभाष्य चाणूरो वाक्यमब्रवीत् ॥३१॥

अन्यथा भयात् रौद्ररस उत्पन्नोऽपि प्रतिबद्धः स्थितः, भीता एव रौद्ररसेन जाताः; गुणश्रवणे तु रौद्रता गतेति इदानीं संभाषणार्थं प्रवृत्ताः. **एवं** सर्वेष्वेव **जनेषु प्रकर्षेण गृणत्सु** सत्सु **तूर्याणि** च निरन्तरं वाद्यमानानि जातानि. **च**कारात् मल्लविस्फोटनानि. एवं मङ्गले सम्पन्ने स्वस्य जयमाशङ्क्य **कृष्णरामौ समाभाष्य** सम्यगाभाषणं कृत्वा कुशलप्रश्नादिकं विधाय ततः प्रसन्नौ ज्ञात्वा **चाणूरो वाक्यमब्रवीत्** मुख्यत्वात्. पदार्थास्तदीया बाधितार्थाः, युद्धं कर्तव्यमिति वाक्यार्थः परमबाधितः, अतो **वाक्य**मित्युक्तम् ॥३१॥

स हि चतुरः गोप्यं गोप्येनैव निरूपयन्नाह **हे नन्दसूनो** इति.

॥ चाणूर उवाच ॥

हे नन्दसूनो हे राम भवन्तौ वीर्यसंमतौ ।
नियुद्धकुशलौ श्रुत्वा राज्ञाहूतौ दिदृक्षुणा ॥३२॥

वस्तुतो जानात्येव नायं नन्दसूनुरिति, तथा सति भ्रातरमिव भागिनेयमपि युद्धे न युञ्ज्यात् कंसः. **रामे**ति वचनं नाममात्रेण संतोषार्थम्; उत्कर्षवाचकत्वाद्. बलभद्रेति नोक्तम्, संकर्षणत्वं च गोप्यमेव. नामग्रहणानन्तरं तत्स्तुतिमाह **भवन्तौ वीर्यसम्मताविति**— पराक्रमे विषये सर्वैः स्तुतौ, न कोऽपि युवयोः पराक्रमे विप्रतिपद्यत इति. अतः **राज्ञा आहूतौ**. किञ्च **नियुद्धकुशलौ** मल्लानामिव बाहुयुद्धे समर्थौ. राज्ञा श्रुतं प्रामाणिकमेव भवति, अतो **दिदृक्षुणा**, अर्थाद् बाहुयुद्धं, **राज्ञा आहूतौ** ॥३२॥

ननु राज्ञो दर्शने सुखं भवति, अस्माकं कः पुरुषार्थ इति चेत्तत्राह **प्रियं राज्ञ** इति.

प्रियं राज्ञः प्रकुर्वत्यः श्रेयो विन्दन्ति वै प्रजाः ।
मनसा कर्मणा वाचा विपरीतमतोऽन्यथा ॥३३॥

राज्ञः प्रियं प्रकर्षेण कुर्वन्त्यः तदधीनाः **प्रजा श्रेयः** उत्तमफलं धनादिकं **विन्दन्ति**. परं कापट्ये फलं न भवतीत्यभिप्रायेणाह **मनसा कर्मणा वाचे**ति— ये हि कायवाङ्मनोभिः प्रियं कुर्वन्ति ते **श्रेयो वै** निश्चयेन **विन्दन्ति.** न केवलं प्रिये कृते श्रेयः प्राप्यते अन्यथा नेत्येतावदेव किन्तु **विपरीतम्**— यः प्रियं न करोति कायवाङ्मनोभिः सः **अतः** अस्माद्धेतोः **अन्यथा** अश्रेयो मारणादिकं च प्राप्नोति, यतः प्रजानाम् अयं स्वधर्म इति ॥३३॥

नन्वस्माभिर्बालैर्वनस्थैः क्व मल्लयुद्धं शिक्षितमिति चेत्तत्राह **नित्यं प्रमुदिता** इति.

नित्यं प्रमुदिता गोपा वत्सपाला यथा स्फुटम् ।
वनेषु मल्लयुद्धेन क्रीडन्तश्चारयन्ति गाः ॥३४॥

एके हि जीविकार्थं शिक्षन्ति, अन्ये तु बलार्थं (शिक्षन्ति) पुष्टाः सन्तः. शिक्षकाः परम्परया प्राप्ताः, परं ते लौकिका भवन्ति. अतः शास्त्रीयेभ्यः फलतो हीना अपि स्वरूपतः पुष्टा भवन्ति. तदाह **नित्यमेव प्रमुदिता गोपाः** बाल्येऽपि **वत्सपालाः स्फुटमेव वनेषु मल्लयुद्धेन क्रीडन्तः गाश्चारयन्ति.** गोचारणे हि

श्रमे दुग्धपानं स्वतःसिद्धम्. वृषभाणां निग्रहश्च बलिष्ठैरेव भवति. अतः सर्वथा श्रुतं सत्यम् ॥३४॥

तस्माद्राज्ञः प्रियं कर्तव्यमित्याह **तस्मा**दिति.

तस्माद्राज्ञः प्रियं यूयं वयं च करवामहे ।
भूतानि नः प्रसीदन्ति सर्वभूतमयो नृपः ॥३५॥

राजा हि सर्वाराध्यः, अतो **यूयं** लौकिका **वयं** च शास्त्रीयाः **चकाराद्** एवमन्ये विद्यावन्तोऽपि **प्रियं करवामहे.** सर्वानेकीकृत्य वदति, एकमार्गप्रवृत्तानां हि मुख्यानुसरणं युक्तमिति, अस्माभिश्चेत्कर्तव्यं भवद्भिरपि कर्तव्यमेवेति. ततः किमत आह **भूतानि नः प्रसीदन्ति** (इति), सर्वभूतमयः प्राणी अतस्तेषां हितं कर्तव्यम्, अन्यथात्वे शापप्रसादे[1] कृतघ्नता भवेत्. फलदानार्थं यतः **सर्वभूतमयो नृपः.** भूतान्यत्र देवतारूपाणि तस्य विवक्षितानि, वस्तुतस्तु पाञ्चभौतिक एव ॥३५॥

ततो भगवान् युक्तियुक्तं ग्राह्यमिति लौकिकमपि न बाधनीयमित्यक्लिष्टकर्मा उत्तरमाहेत्याह **तन्निशम्ये**ति.

तन्निशम्याब्रवीत्कृष्णो देशकालोचितं वचः ।
नियुद्धमात्मनोऽभीष्टं मन्यमानोऽभिनन्द्य च ॥३६॥

तद्युक्तियुक्तं वचः, **कृष्ण**स्तदर्थमेवावतीर्णः समागतश्च, तथापि **देशकालयोः यदुचितं** तदाह, लौकिकत्वात् प्रश्नस्य. शस्त्रादियुद्धापेक्षया **नियुद्धमात्मनोऽभीष्टम्.** क्षत्रियाणां हि शस्त्रग्रहणं षोडशे वर्षे, उपनयनानन्तरं च शिक्षा,अत इदानीं बाहुयुद्धमे**वाभीष्टं मन्यमानः** देशकालावस्थानामनुगुणत्ववचनात्तं चाणूर**मभिनन्द्य,** चकारात् राजानं च, उवाच ॥३६॥

द्वयमत्र वक्तव्यम्— राज्ञः प्रियं कर्तव्यमेव, परं त्वया सह नियुद्धं न कर्तव्यम् अतुल्यबलत्वादिति, तदाह द्वयेन **प्रजा** इति.

प्रजा भोजपतेरस्य वयं चापि वनेचराः ।
करवाम प्रियं नित्यं तन्नः परमनुग्रहः ॥३७॥

अस्य भोजपतेः कंसस्य, प्रदर्शनेन तिरस्कृत इव, **वय**मिति प्रदर्शनेन कथं वा प्रजात्वमित्युपहसितः. **वयं च**काराद्यूयं च. वस्तुतस्तु यूयमेव, **च**स्त्वर्थे. **वयं** तु **वनेचरा** इति नास्माकं राज्ञा कृत्यं तथापि **नित्यं** करवाम. फलं तु नापेक्ष्यत इत्याह **तन्नः परमनुग्रह** इति— मातुलो हि राजा, स चेद्भागिनेयगुणान् पश्येत् तदा

१. 'अन्यथा तेषामप्रसादे' इति पाठः प्रतिभाति -सम्पा.

अनुगृह्णीयादेवेति युक्तत्वादभिनन्दनम्. एतावानर्थः साधारणः ॥३७॥

विशेषमाह **बाला वयमिति.**

बाला वयं तुल्यबलैः क्रीडिष्यामो यथोचितम् ।
भवेन्नियुद्धं माऽधर्मः स्पृशेन्मल्लसभासदः ॥३८॥

प्रदर्शनमेव ह्यत्र प्रयोजनं नत्वन्यत् चेत् तदा बाहुयुद्धं शास्त्रानुसारेण कर्तव्यमिति तथैव करिष्याम इत्याह **बाला वयमिति.** नियुद्धशास्त्रे हि समानवयस्कैरेव समानबलदेहैः युद्धं कर्तव्यमिति हि स्थितिः, अतः बालैः समानवयस्कै**स्तुल्य-बलैरे**तैर्गोपैः सह **क्रीडिष्यामः** तथासत्युचितं भवति. तदाह **यथोचितमिति.** नन्वाज्ञा प्रमाणम्, का औचितीत्याशङ्क्याह **भवेन्नियुद्धमिति,** असमानैः क्रियमाणमेतद्युद्ध**मधर्मो मा भवेत्.** ततो द्रष्टॄणां मल्लसभासदां दोषोऽपि न भवेदित्याह **मल्लसभासदः मा स्पृशेदिति.** चाणूरोक्तो हि लौकिको धर्मः, तदविरुद्धोऽयं शास्त्रीयो धर्म इति युक्तमुक्तं भगवतापि. चाणूरादयो दैत्या इति छलेनैवोक्तवान्. बलसम्बन्धिनो वयं **बालाः तुल्यबलाः** प्रातीतिकाः सखित्वाद्गोपाः बलभद्रो वा. भवांस्तु न तुल्यबलः किन्तु हीनबल इति अभिप्रायेण प्रत्युक्तम् ॥३८॥

चाणूरस्तु विपरीतं ज्ञात्वा अनिष्टफलार्थं विपरीतत्वं सम्पाद्य युद्धार्थं प्रवर्तयते **न बाल** इति द्वाभ्याम्. उपपत्त्या बलं साधयति. न वा त्वं बालः. स्थूलाभिप्रायेण सूक्ष्मत्वमाशङ्क्य इष्टासिद्धिं मत्वा अङ्गीकारे तत्परिहारार्थमाह **न बालो न किशोर** इति.

॥ चाणूर उवाच ॥

न बालो न किशोरस्त्वं बलश्च बलिनां वरः ।
लीलयेभो हतो येन सहस्रद्विपसत्त्वभृत् ॥३९॥
तस्माद्भवद्भ्यां बलिभिर्योद्धव्यं नाऽनयोऽत्र वै ।
मयि विक्रम वार्ष्णेय बलेन सह मुष्टिकः ॥४०॥

॥ इति श्रीभागवत-दशमस्कन्धे चत्वारिंशोऽध्यायः ॥

वयस्तव बलादिनियामकं न भवतीत्यभिप्रायः, वस्तुतोऽपि तथा. **बलश्चेति** चकारात् सोऽपि **न बालो न किशोरः** किन्तु **बलिनां वरः** सोऽपि भवांश्च. उभयोर्बलमपि प्रतिज्ञाय अन्यतरबलसाधनं दृष्टान्तेनेतरत् साधयितुम्. **सहस्र-द्विपानां सत्त्वं बिभर्ति** इति तादृशरूपः कुवलयापीडः. द्विपस्य बलं शास्त्रसिद्धं—

पुरुषाच्छतगुणं बलमिति भारं वहति पुरुषशतभारं वहति गज इति. तादृशोऽपि **लीलयैव हतः**. नह्यसाधनेन ससाधन **इभः** पुरुषेण बालेन वा हन्तुं शक्यः, अतोऽतिपुरुषकारस्त्वयि वर्तत इति **न** भवान् पुरुषैस्तुल्यः, एवं बलभद्रोऽपि ॥३९॥

तत किमत आह **तस्मादिति, भवद्भ्यां** सह गजादपि बलिष्ठै**र्योद्धव्यम्.** एवं युद्धे **नानयः, शत्रुभिर्योद्धव्यमेव.** न्यायविरोधोऽपि नास्ति **वै** निश्चयेन. तर्हि गोपालास्तथाविधाः सन्ति, तैः सह युद्धं कर्तव्यमिति चेत्, तत्राह **मयि विक्रमे**ति. **वार्ष्णेये**ति सम्बोधनं छलं दूरीकरोति— कपटं परित्यज्य स्पष्टं मया सह युद्धं कुरु. त्वं कंसस्य भागिनेयः अतः किमिति छलवादः क्रियते? छलं परित्यज्य मया सह द्वेषिणा स्पष्टं युद्धं कर्तव्यम्. तदाह **विक्रमे**ति, पराक्रमं कुरु, **बलेन सह मुष्टिकः** पराक्रमं करोतु. अनेन मुष्टिको हीनः बलः प्रबलः अहं महाबलस्त्वत्तोऽपीति निरूपितवान्. अत एव भगवता चाणूरो हतः, अन्यथा अक्लिष्टकर्मा न हन्यात्, हननस्याप्रतिज्ञातत्वात्. एवं वाग्बन्धावधि सर्वेषां द्रष्टॄणां भगवत्यासक्तिर्निरूपिता ॥४०॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीवल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धपूर्वार्धे चत्वारिंशाध्यायविवरणम् ॥

॥ इति चत्वारिंशोऽध्यायः ॥

॥ द्वितीयः स्कन्धादितः एकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥

एकचत्वारिंशत्तमे वधः कंसस्य रूप्यते ।
तदीयैः सह तस्माद्धि पित्रो रोधश्च दीनयोः ॥(१)॥
बलक्षयाय लीलापि वाक्यान्यासक्तिबोधने ।
भक्तार्थे मारणं चास्य कंसस्यापि तथैव च ॥(२)॥
प्रतिबन्धनिवृत्त्यर्थमेतावद्भगवत्कृतम् ।
निरुद्धास्तेऽपि मुक्ता हि पूर्वस्माच्च विशिष्टता ॥(३)॥
बोधिता ज्ञानकथनादासक्तिश्च स्थितैव हि ।
त्रिविधाः सर्व एवैते गुणातीतोऽपि सात्त्विकः ॥(४)॥
अथवा ते पुनर्वाच्यास्तत्रैके मोचिताः स्वतः ।
निरुद्धाः सफलाः प्रोक्ताः पितरौ पूर्वतोऽधिकौ ॥(५)॥

लेखः

एकचत्वारिंशे प्रथमकारिकायां **तस्माद्धी**ति, कंसवधाद्धेतोः **पित्रो रोधः** भगवदासक्तिर्निरूप्यते इत्यर्थः. **आसक्तिबोधने** इति निमित्तसप्तमी, पित्रोरासक्तेरुद्बोधनार्थं योषितां वाक्यानि निरूप्यन्ते इत्यर्थः. **मारणं च** मल्लानामिति शेषः (१-२).

निरुद्धा इति, भक्ता निरुद्धाः **तेऽपि** द्विष्टा अपि मुक्ताः अस्मिन्नध्याये इति बोधितम्. भगवत्त्वेन **ज्ञानकथना**द्यत्**पूर्वस्मा**न्निरोधा**द्विशिष्टता च बोधिते**त्यन्वयः. **आसक्ति**रपि **स्थितैवे**ति निरूप्यते, न तु नूतनोत्पाद्यतेऽतोपि विशिष्टता. तामसे तु न भगवत्त्वेन ज्ञानम् आसक्तिश्च नूतनेति भावः. **त्रिविधा** इति मल्लाः योषितः पितरौ च, एते सर्वे एव क्रमेण तामसराजससात्त्विकाः. अन्यत्र **गुणातीत**त्वेनोक्तो**ऽपि** वसुदेवः अत्र **सात्त्विकः**, वैकुण्ठलोकस्य फलत्वेन वक्तव्यत्वात्तस्य ज्ञानिगम्यत्वाद् ज्ञानस्य च "सत्त्वात्संजायते ज्ञानमि"ति वाक्येन सात्त्विकत्वादिति भावः (३-४).

अथवेति, ते त्रिगुणाः पुनः एतदध्यायानन्तरं वाच्याः. तान्विभजन्ते **तत्रे**ति. **एके** यादवाः **स्वतः** न तु पित्रोरर्थे दिग्भ्यः समाहूय दुःखान्**मोचिताः**. सान्दीपनिश्च तथा. एते सात्त्विका अग्रिमाध्याये निरूप्यन्ते. द्वितीयानाहुः **निरुद्धा** इति, पूर्वं **निरुद्धा** व्रजस्थास्तामसास्ततोऽध्यायद्वयेन निरूप्यन्ते. तृतीयानाहुः **सफला** इति, कुब्जाक्रूरप्रभृतयो राजसास्ततोऽध्यायद्वयेन निरूप्यन्ते. अस्मिन्नध्याये तु पूर्व-

पूर्वाध्याये युद्धार्थं चाणूराकारणमुक्तम्. "आहूतो न निवर्तेते"ति शास्त्राद् हीनबलेनापि युद्धार्थं प्रवृत्तावित्याह **एवमिति**.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

एवं चर्चितसंकल्पो भगवान्मधुसूदनः ।
आससादाथ चाणूरं मुष्टिकं रोहिणीसुतः ॥१॥

चर्चितो विचारितः **संकल्पो** येन, यस्य वा. चर्चा हि विचारात्मिका, अविचार्य चेद् दुर्बलेन सह (महान्) युद्धं कुर्यात् तदा दोषो भवेत्. किञ्च **भगवान्** तद्धृदयमपि जानाति, युद्धाभावे न निवर्तते इति. शङ्का तु नास्तीत्याह **मधुसूदन** इति— यो मधुमपि हन्ति तत्रायं को वा वराक इति. अत एव **आससाद** निकटे सम्बद्धो जातः, **अथे**ति प्रथमं चाणूरस्य. पश्चाच्चाणूरः सः स्वस्मिन् योजितः. भिन्नपक्षे मारितो दूरीकृतो वा **अथ** तदनन्तरं **चाणूरमाससाद. मुष्टिकं** तु **रोहिणीसुत** इति, मुष्टिको ह्यप्रयोजकः, बिभेति च स्वतः, स्वयं च नोक्तवान्, तथापि चाणूरे संलग्ने तद्वाक्यात् स्वयमपि संलग्नः; तदनुचितमिति **रोहिणीसुत** इत्युक्तम् ॥१॥

मल्लयुद्धप्रकारेण प्रवृत्ताविति तदाह चतुर्भिः—

बलं शिक्षा च माया च प्रसादश्च गुरोस्तथा ।
चत्वारोऽपि निराकार्यास्ततः श्लोकचतुष्टयम् ॥(६)॥

हस्ताभ्यां हस्तयोर्बद्ध्वा पद्भ्यामेव च पादयोः ।
विचकर्षतुरन्योन्यं प्रसह्य विजिगीषया ॥२॥

हस्ताभ्यामिति, हस्ताग्रे हस्ताग्रं धृत्वा पादाग्रे च पादाग्रं विचकर्षतुः. प्रथमं समत्वायाह **अन्योन्यं प्रसह्य विजिगीषया** आकर्षणं कृतवन्तौ, येनैवाकृष्टो परः

लेखः

निरोध्येभ्योऽ**प्यधिकौ** गुणातीतौ **पितरौ** निरूप्येते तन्मोचनार्थमन्यनिरूपणमित्यर्थः (५).

एवं चर्चितेत्यत्र **चाणूरस्य यश्चाणूर** इति आधिदैविक इत्यर्थः. **भिन्नपक्षे** स चाणूरश्चाणूर एव तिष्ठतीति पक्षे इत्यर्थः. भगवतः सत्यसंकल्पत्वाद्यदेव मारणार्थं दूरीकरणार्थं वा संकल्पं कृतवांस्तदैव तथा सम्पन्नम्; लोकदृष्ट्या परं तथा स्थापितवान्. "मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा"इति न्यायोऽनुसन्धातव्यः. इदं **संकल्प**पदतात्पर्यमुक्तम् ॥१॥

आकृष्टो भवति स पराजितो भवति इति. अङ्गुलीनां बन्धनं परस्परमुभयोः अत्रैव. जये महाबलत्वम् ॥२॥

ततः साक्षात्सर्वाङ्गेषु संयोगेन युद्धमाह **अरत्नी द्वे** इति.

अरत्नी द्वे अरत्निभ्यां जानुभ्यां चैव जानुनी ।
शिरः शीर्ष्णोरसोरस्तावन्योन्यमभिजघ्नतुः ॥३॥

हस्तमध्ये उभयत्रापि हस्तसम्बन्धः **अरत्नि**वाच्यो भवति. तथा जानुद्वयमपि अधोभागसहितजानुद्वयेन संवेष्टितं भवति. क्रमेणैतच्चतुष्टयं बोद्धव्यम्— **शिरः शिष्णा उरसा उरः**. एवं तौ **अन्योन्य**माभिमुख्येन **जघ्नतुः**. बलशिक्षे निरूपिते ॥३॥

मायया शास्त्रीयप्रकारमाह **परिभ्रामणे**ति.

परिभ्रामणविक्षेप-परिरम्भावपातनैः ।
उत्सर्पणापसर्पणैश्चान्योन्यं प्रत्यरुन्धताम् ॥४॥

परितो भ्रामणमेकस्यैकेन, ततो दूरे **विक्षेपः**, ततः पुनरागतयोः **परिरम्भः** गाढालिङ्गनम्, ततो मिलितेनैव भूमाववपातनम् —एवं चत्वारः एकक्रमेण. ततो विश्लिष्टयोः **उत्सर्पण**मूर्ध्वप्रक्षेपः, **अपसर्पणं** हत्वा पश्चात्सर्पणमधः सर्पणं वा. पतितो मल्लः ऊर्ध्वं सर्पणेनापि उपरितनं जयति, उपरितनो वा अधस्तनम्. एव**मन्योन्यं प्रत्यरुध्य(न्धा)ताम्** अन्योन्यस्य बलं यथा प्रतिरुद्धं भवति ॥४॥

ततः प्रसादेनापि प्राप्तैः प्रकारैर्युद्धमाह **उत्थापनै**रिति.

उत्थापनैरुन्नमनैश्चालनैः स्थापनैरपि ।
परस्परं जिगीषन्तावपक्रमतुरात्मनः ॥५॥

उपविष्टं स्थिरं प्रतिज्ञाय **उत्थापनं** करोति स जयति. यस्तूर्ध्वं तिष्ठति तं य **उन्नमयति** सोऽपि जयति. तथा यः स्थिरो भवति तं च य**श्चालयति** प्रतिज्ञया सोऽपि तथा. यश्चलतीतस्ततः तं यः स्थिरीकरोति सोऽपि. एवमेतेऽपि चत्वारः प्रकाराः; तैः **जिगीषन्तौ** मल्लौ **आत्मनः अपक्रमतुः** देहस्यापकारं कृतवन्तौ. अत्र संघातः प्रत्यक्षः स्थूलः कार्पास इव चाणूरादेः, सूक्ष्मोऽतिनिष्ठुरः वज्रस्येव भगवतः ॥५॥

एवं फलतः भगवज्जयेऽपि प्रतीत्या विपरीत इति ये पूर्वं स्वासक्ताः कृताः तत्रापि स्त्रियो मुग्धाः तास्त्वसहमानाः स्वहृदयस्थं भावं प्रकाशितवत्य इत्याह **तदिति** एकादशभिः. तत्र सप्तभिर्दृष्टवर्णनं भगवच्चरित्रत्वाय, चतुर्भिः स्वनिन्दार्थं गोपिकास्तोत्रमिति. तत्र प्रथमं युद्धं दृष्ट्वा खिन्नानाम् आक्रोशार्थं प्रवृत्तिमाह.

तद्बलाबलवद्युद्धं समेताः सर्वयोषितः ।
ऊचुः परस्परं राजन् सानुकम्पा वरूथशः ॥६॥

तद्युद्धं बलाबलवद्, अतः **परस्परं योषितः समेताः सानुकम्पाः** स्वस्वदेशग्रामभेदेन **वरूथशः समेताः** वक्ष्यमाणमू**चुरि**ति सम्बन्धः. तत्प्रसिद्धं वा **बलाबलवद्युद्धमेवोचुः.** एतद्बलाबलयुद्धमिति ततस्तस्य दोषा अप्यग्रे ऊचुरिति केचित्. तद्युद्धमालक्ष्य वा समेताः. बलाबलवतोर्युद्धम्, बलं चाबलं च, मतुबुभयत्र सम्बध्यते. तयोर्बलाबलयुक्तं यथा भवति तथा वा युद्धम्. **सर्वेषां योषित** इति निरोध एव नियामको न सम्बन्धादिरित्युक्तम्. **परस्परमि**ति समानशीलव्यसनता सर्वेषामुक्ता. **राजन्नि**ति स्नेहात्संबोधनमवधानाय, स्त्रीणां वचनमिति कदाचिदुपेक्षां कुर्यादिति, स्निग्धे स्नेहस्यायं गुणः यत्समर्थेऽप्यसमर्थबुद्धिरिति, समूहबाहुल्ये हि सम्यक् श्रवणं भवतीति ॥६॥

दशविधा वा लीलया, सगुणा नवविधा एकविधा निर्गुणा इति. एवं दशप्रकारसमूहाः. तत्रैका न्यायाभिनिविष्टाः अन्यायमसहमाना आहुः **महानयमि**ति.

॥ स्त्रिय ऊचुः ॥

महानयं बताधर्म एषां राजसभासदाम् ।
ये बालबलवद्युद्धं राज्ञोऽन्विच्छन्ति पश्यतः ॥७॥

बतेति खेदे, कथमेवमकस्माद् अनर्थः प्रवृत्त इति. **अयं महानेवाधर्मः एषां राजसभासदां** भविष्यति. यद्यपि राजसम्बन्ध एवाधर्मः तत्रापि सभासम्बन्धः तत्राप्यधिकारः, सर्वापेक्षया अयं महानेवाधर्मः. तमेवाह निमित्तं वा **ये बालबलवद्युद्धमिति**— एको बालः अपरो बलवानिति तयोर्युद्धं शास्त्रविरुद्धमिति. तत्रापि **राज्ञः पश्यतः**— राजा हि धर्ममूर्तिः, तस्य दर्शने सुतरामधिकृतैरन्यायो न कर्तव्य इति. अतः **राज्ञः पश्यतो**ऽपि सतः **अन्विच्छन्ती**ति. अनेन राजाप्येवं ज्ञास्यति— एते सर्वत्रैवंभूता दुष्टा इति. ततो दृष्ट्वापकारोऽपि भविष्यतीति तासामाशयः ॥७॥

ननु भगवानपि सबलो बलिष्ठः अतो नाधर्मो भविष्यतीति चेत्तत्राहुः **क्व वज्रसारसर्वाङ्गावि**ति.

लेखः

महानयमित्यस्याभासे **दशविधा** इति, **नवविधाः सगुणाः** "अत्र या दोहने"इति श्लोकोक्तबाल**लीलया दशविधा** भवन्तीत्यर्थः.

क्व वज्रसारसर्वाङ्गौ मल्लौ शैलेन्द्रसंनिभौ ।
क्व चातिसुकुमाराङ्गौ किशोरौ नाप्तयौवनौ ॥८॥

न हि बाधितमर्थं वेदोऽपि बोधयति— भगवतोऽङ्गानि कोमलानीत्यनुभवसिद्धम्, मल्लानामप्यङ्गान्यतिकठिनानीत्यपि लोकप्रसिद्धिः. किञ्च तावुच्चौ, एतौ च सूक्ष्मौ; "यत्राकृतिस्तत्र गुणा"इति न्यायविरोधोऽत्र प्रदर्शितः. तदाह **वज्रादपि सार**भूतानि **सर्वाङ्गानि** ययोः, सुतरां **मल्लौ** मल्लविद्यायां निपुणौ, तत्रापि **शैलेन्द्रसंनिभौ** महामेरुतुल्यौ **क्व,** एतौ बालकौ वा अतिसुकुमारौ **क्व. अत्यन्तं सुकुमाराण्यङ्गानि** ययोः, वयसा तु **किशोरौ.** लोके किशोरावपि देहवशाद्बीजादिवशाद्वा प्राप्तयौवनाविव भवतः, तदपि नास्तीत्याहुः **न प्राप्तं यौवनं** याभ्यामिति. नञ्समासः स्पष्टतया प्रदर्शनार्थः ॥८॥

एवमधर्मे हेतुभूतं न्यायविरोधं निरूप्य न केवलमधर्मः एषां भविष्यति किन्तु यस्य धर्मस्य प्रभावेन ऐश्वर्यादिकं भुञ्जते तस्याप्यतिक्रमो भविष्यतीत्याहुः **धर्मव्यतिक्रम** इति.

धर्मव्यतिक्रमो ह्यस्य समाजस्य ध्रुवं भवेत् ।
यत्राधर्मः समुत्तिष्ठेन्न स्थेयं तत्र कर्हिचित् ॥९॥

अस्य समाजस्य ध्रुवं व्यतिक्रमो भवेत्, शुभफलं धर्मादेवेति तदतिक्रमे नाश एव. ततः पूर्वं विषमनियोगेनाधर्मः, अन्येऽपि सहजा अधर्माः सन्त्येव. वस्तुतोऽपि धर्मस्य प्रभुरच्युत इति प्रभोरन्यथाविनियोगे लीलादर्शने वा धर्मसेवकत्वेन सेवकसेवकानां भवत्येवातिक्रमः, सोऽप्यधर्मः, "धर्मं नातिक्रमेदि"ति निषेधात्. एवमधर्मः अस्मिन् समाजे सर्वत एवोद्गतः अतो **यत्र सम्यगधर्म उत्तिष्ठेत् तत्र** दुःखस्यावश्यंभावात् कदाचिदपि **न स्थेयम्.** यद्यपि दुःखसंभावना नास्ति तथापि कारणोत्पत्तेर्विद्यमानत्वात् सर्पनिकटशयनवत् न स्थेयमेव ॥९॥

नन्वेवं सति सर्वेषामेवाधर्मः, को विशेषः समाजस्येति चेत्तत्राहुः **न सभां प्रविशे**दिति.

न सभां प्रविशेत्प्राज्ञः सभ्यदोषाननुस्मरन् ।
अब्रुवन्विब्रुवन्नज्ञो नरः किल्बिषमश्नुते ॥१०॥

लेखः

धर्मव्यतिक्रम इत्यत्र **ततः पूर्व**मिति नाशात्पूर्वम्; एको बालः अपरो बली **विषमो नियोग** आज्ञापनं **तेनाधर्मो** जात इत्यर्थः ॥९॥

अथवा किमित्युच्यते, निर्गन्तव्यं वा तूष्णीं वा स्थातव्यमित्याशङ्क्य स्वार्थमप्याहुः **न सभामिति**. सभास्थैरवश्यं वक्तव्यम्. अथासामर्थ्यं चेत्, प्रथमत एव **प्राज्ञः** अग्रिमार्थं सर्वं जानन् **सभामेव न प्रविशेत्**, "सभायां न प्रवेष्टव्यं वक्तव्यं वा समञ्जसम् अब्रुवन् विब्रुवन् वापि नरो भवति किल्बिषी"ति **मनुवाक्यात्**. एते हि **सभ्यदोषा** इत्याहुः **अब्रुवन्निति**, सभायाम् उपविष्टेनावश्यं वक्तव्यम्. पृष्टः अपृष्टो वा यथोचितं न वदेत् तथापि नरकभागी स्यात्. यदि वा विरुद्धं वदेत्, अन्यायपृष्टः अपृष्टो वा, पृष्टश्चेज्जानन्नपि 'नाहं जाने' इति वदेत् सोऽज्ञ इत्युच्यते. एवं त्रिविधा अप्येते नरकभाजो भवन्ति. सभायां प्रविशन् सभास्मरणे तद्गतगुणदोषाणामपि स्मरणमावश्यकमिति तथोक्तम्. **किल्बिषमावश्यकं** नरकम् ॥१०॥

ननु भगवतोऽपि बलमवश्यमस्ति कुवलयापीडवधात्तत्राहुः **वल्गतः शत्रुमभित** इति.

वल्गतः शत्रुमभितः कृष्णस्य वदनाम्बुजम् ।
वीक्षतां श्रमवार्युप्तं पद्मकोशमिवाम्बुभिः ॥११॥

शत्रुं चाणूरम**भितः वल्गतः** मल्लशब्दान्कुर्वतः **कृष्णस्य** सदानन्दस्य अस्माकं सर्वस्वस्य वा **वदनाम्बुजं** प्रस्वेदजलैर्व्याप्तं पश्यत. यद्यधिकबलः समबलो वा स्यात् तदा शत्रोरिवास्यापि श्रमो न स्यात्, "शब्दश्चासमर्थस्यैवे"ति लोकप्रसिद्धिः. **श्रमवारिभिर्व्याप्तं** न तु कणैः, अनेनान्तःश्रमाधिक्यं द्योतितम्. ननु [1]भवत्येव कर्मणा श्रमः, को दोष इति चेत्तत्राहुः **पद्मकोशमिवाम्बुभिरिति**— पद्मकोशो हि जलादुद्गतो भवति, न कदाचिज्जलं स्पृशति, यथा जलं वर्धते तथा तन्नालमपि वर्धत इति तस्य जलव्याप्तिरसंभाविता; तथा भगवतोऽपि श्रमजलसम्बन्धोऽसंभावित इत्यर्थः. तासामासक्तिसिद्ध्यर्थं भगवता तथा प्रदर्शितम्, अन्यासक्ता मा भवेयुरिति. कंसादीनां च प्रथमतः सुखार्थम् ॥११॥

एतत्सर्वेषां न प्रकटमिति वक्तुरपि कदाचिद्दर्शनाभावाद् बलभद्रे सर्वजनीनं तदिति सापेक्षमाहुः **किं न पश्यतेति**.

किं न पश्यत रामस्य मुखमाताम्रलोचनम् ।
मुष्टिकं प्रति सामर्षं हाससंरम्भशोभितम् ॥१२॥

रामस्य मुखमासमन्तात् ताम्रलोचनं किं न पश्यत? भ्राता ज्येष्ठोऽयम्, अस्य श्रमः सर्वजनीनः. अन्यथा क्रोधाविर्भावं न कुर्याद्, अशक्तस्यैव तथा करणात्. ननु स्वभावतोऽपि ताम्रो भवेदित्याशङ्क्याह **मुष्टिकं प्रति सामर्षमिति**, मुष्टिको

१. भवतु.

मारणीय इति क्रोधमाविर्भावयति. स्वतो ह्यसमर्थानां कामादयः प्रवर्तका भवन्ति. नन्वेतदपि सहजमिति चेत्तत्राह **हाससंरम्भशोभितमि**ति, हासेन यः क्रोधसंरम्भः तेन शोभितम्. अथवा पूर्वं **हाससंरम्भेण** हासपूर्वककामलीलया **शोभितम्.** पूर्ववचने अस्मान्खिन्नान्वा दृष्ट्वा **हाससंरम्भाभ्यां शोभितम्**— एता अस्मान् न जानन्तीति हास्यम्, दुःखं प्राप्नुवन्तीति शीघ्रं मारणीय इति संरम्भमपि करोति. उभाभ्यां वातिशोभितम् अतो न सहजं किमपीत्यर्थः ॥१२॥

एवं स्नेहवशादश्रान्तेऽपि भगवति श्रमं मत्वा अनवसरे भगवानस्माभिर्दृष्ट इति स्वभाग्यं विगर्हयन्त्यः गोकुलवासिनां भाग्यमभिनन्दन्ति **पुण्या बत** इति चतुर्भिः.

पुण्या बत व्रजभुवो यदयं नृलिङ्ग-
गूढः पुराणपुरुषो वनचित्रमाल्यः ।
गाः पालयन्सहबलः क्वणयंश्च वेणुं
विक्रीडयाञ्चति गिरित्ररमार्चिताङ्घ्रिः ॥१३॥

आदौ भूमिमभिनन्दन्ति, पश्चात् स्त्रियः. आदौ **व्रजभुव** एव धन्याः, **यदयं नृलिङ्गेन** कपटमानुषवेषेण **गूढः** सन् स्वयं **पुराणपुरुषो**ऽपि **वनचित्रमाला**युक्तश्च तत्रत्या गाः **पालयन्** ससहायोऽपि तत्परः बलभद्रसहितः **विक्रीडयैव** विशेषेण क्रीडार्थमेव **अञ्चति** व्रजभुवं गच्छति वा, स्वयं तु **गिरित्रेण रमया** च **अर्चितौ अङ्घ्री** यस्य. भूमिः स्वभावतः पुण्या भवति. यद्यपि मथुरापि तथा गणिता तथापि मथुरमण्डले **व्रजभुव** एव **पुण्याः**, पुण्यं हि सुखफलं भवति, निरन्तरं तत्रत्यानां सुखानुभवाद्, अत्र तु तद्विपरीता इति. **बते**ति हर्षे, एतादृशमपि लोके स्थानं भवतीति. गोप्यस्य हि क्रीडा सुखदायिनी, अतो भगवतोऽपि गुप्तक्रीडासाधनत्वात् सुखदा भूमिः. **पुराणपुरुष** इति तासां स्वरूपज्ञानं दृढमिति ज्ञापितम्. तथापि श्रमाविर्भावात् स्थलान्तरप्रशंसैव. गुप्तश्च सर्वैर्व्यवहर्तुं शक्यते, तथात्वे नियामकमप्याह **वन**स्थानामपि **चित्रमाल्यानां** धारक इति. **गाः पालयन्नि**ति सुतरां गौणभावाश्रयणात् स्वच्छन्दलीला सम्पद्यते. बाधकनिराकरणार्थं ससहायोऽपि. रसोद्बोधनार्थं रक्षकदेवोद्बोधनार्थं वा दिनेऽपि परमानन्दानुभवार्थं च **वेणुक्वणनम्. च**कारात् नानाविधां च लीलां कुर्वन्. भूमेः पूजने तत्रत्यानपि पूजयतीति स्वच्छन्दलीलायामतिक्रमेऽपि नापराधो भवति. अन्यत्र गुप्तत्वाभावे स्वस्य नेष्टम्, गुप्तत्वे तु चाणूरादीनामतिक्रम इति उभयथाप्यत्र दुःखम्. न च गोकुले स्वरूपप्रच्युत एव तिष्ठतीति शङ्कनीयं यतस्तत्र स्थितमपि महादेवो लक्ष्मीश्च पूजयति. सहि पशुपतिः, तदीयानां पशूनां पाला(ल्या!)नां भगवान् रक्षक इति स्वयमपराधी च पूजनया स्वापराधं

दूरीकरोति. महांश्चेत्स्वकार्यं करोति तदा हीनो लज्जते अतः पूजयति. अन्यथा गोवर्धनोद्धरणे इन्द्रस्यापकारं कुर्याद्, गोवर्धनं वा विशकलितम्. स हि यथास्थितान् पर्वतान् पालयति. सुदर्शनस्यापि मोक्षं नाङ्गीकुर्यात्. अतः सेवकत्वेनैव तस्य व्यवहारो दृश्यते. लक्ष्मीः पुनः [1]सर्वस्त्रीमूलप्रकृतिः, तद्वैभवरूपा गोप्यः, तासामपि कृपां करोतीति. अथवा महादेवो भगवति पशुपालने क्रियमाणे तस्य पालनं गमिष्यतीति, रमा च गोपिकासु स्थितासु आदरो गमिष्यतीति ॥१३॥

एवं भूमिमभिनन्द्य गोपिकाभिनन्दनमाह त्रिभिः **गोप्यस्तपः किमचरन्निति**, भगवतो रूपं यादृशं ध्येयं तादृशं यतः पश्यन्ति, भगवन्तमेव च गायन्ति, तदासक्ताश्च नित्यं तिष्ठन्तीति.

गोप्यस्तपः किमचरन्यदमुष्य रूपं
लावण्यसारमसमोर्ध्वमनन्यसिद्धम् ।
दृग्भिः पिबन्त्यनुसवाभिनवं दुराप-
मेकान्तधाम यशसः श्रिय ऐश्वरस्य ॥१४॥

न ह्येतत्त्रयं स्वल्पतपसा प्रसिद्धतपसा वा भवति, अन्यथा अन्येषामपि स्यात्. अतो न ज्ञायते किं वा तपस्ताभिः कृतमिति. यद्यप्यस्माभिरपि भगवद्रूपं दृश्यते तथापि **अमुष्यैतद्रूपं लावण्यमेव सार**भूतं यत्र, केवलं लावण्यमेव तत्र प्रकाशते, लावण्यस्यापि वा सारम्. इदानीं तु क्रोधस्याविर्भावाद् अवस्थया तिरोहितमिव प्रतिभाति. किञ्च **असमोर्ध्वं** न सममूर्ध्वं च यस्मात्. तासां हि दृष्टौ भगवानेक एवेति प्रतिभाति, अत्र तु दुष्टः सम्बन्धी चाणूरादिरपि दृश्यते ऊर्ध्वता च कंसादेः मञ्चस्थितत्वात् प्रतीयते. किञ्च **अनन्यसिद्धं** स लावण्यरसः केवलं भगवत्येव सिद्धः, अन्यथा भुव्यन्येऽपि भाग्ययुक्ता भवेयुः. अतस्तादृशामृतपानं तपसा विना न भवतीति अवश्यं तपस्तासु सिद्धम्. किञ्च **दृग्भिः पिबन्ति** दूरादपि पातुं शक्यते दृशा, तत्रापि नानाविधैः कटाक्षैः अलसवलितादिभिः पानम्. अनेन सर्वोऽपि

लेखः

पुण्या बतेत्यत्र अन्यथेति, सेवकत्वाभावे पशुविरोधिनमिदं पशुपतित्वा-दपकुर्यान्महादेवः, सेवकत्वे तु स्वाम्याज्ञाभावान्न तथा करोतीति भावः. **सुदर्शनस्यापीति**, शिवरात्रौ समागतानामपकारी सुदर्शन इति तस्मै मोक्षदाने प्रतिबन्धं कुर्यादित्यर्थः ॥१३॥

---

१. सर्वासां मूलप्रकृतिरितिपाठः.

रमणप्रकारस्तासां सूचितः. चर्वितचर्वणव्यावृत्त्यर्थमाहुः **अनुसवाभिनवमिति**, अनुसवं प्रतिक्षणं नूतनमेव भवति पूर्वानुभूतरसादुत्कृष्टम्. नापि तत्सर्वसुलभमित्याहुः **दुरापमिति**, सर्वेषामेव दुःखेनापि प्राप्तुमशक्यं तासां त्वयत्नसिद्धं जातमिति. ननु केवलं भोग एव भगवता सिद्ध इति कथं सर्वोत्कृष्टता, यद्धि सर्वमेव फलं साधयति तत्सर्वोत्तममिति चेत्तत्राह **एकान्तधामेति**. भोगस्त्वैहिकपारलौकिकसर्वोत्कृष्ट इति वीर्यस्य न पृथगुपयोगः, ज्ञानवैराग्ययोश्च, अतस्त्रयमेवावशिष्यते यशः श्रीः ऐश्वर्यं चेति. तेषा**मेकान्ततः** भगवल्लावण्यामृतमेव **धाम**, तस्मिन् प्राप्ते ऐश्वर्यादिकं सर्वं सिध्यतीति न भोगमात्रपरत्वम्. **ऐश्वरमिति** भावे घञ्. **चकारा**दपेक्षितानामपि ज्ञानवैराग्यादीनां ग्रहणम् ॥१४॥

ननु सर्वोत्तमा भगवद्भक्तिः, तासां तु कामः प्रधानमिति का स्तुतिरिति चेत् तत्राहुः **या दोहन** इति.

या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप-
प्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो
धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचिन्तयानाः ॥१५॥

दोहनं सायम्[1] अतिप्रभाते वा, ततः **अवहननम्**, ततो **मथनं** दध्नः, प्रातरेव **लेपनं** च —एतच्चतुष्टयं गृहकार्यं व्रजस्त्रीणां सहजं सर्वासाम्. ततः **प्रेङ्खेङ्खनं** दोलयांदोलनम्, (दोलान्दोलनं तत्र!) विद्यमानबालकाना**मर्भकरुदितं** बालकरोदनम्, **उक्षणं** सेचनं वृक्षादिषु, सूक्ष्मेषु तुलस्यादिषु वा, **मार्जनं** प्राङ्गणादेः —एतेषु **एतं** भगवन्तं **गायन्ति**, **चकारात्** स्मरन्ति भावयन्ति तदर्थमेव च कुर्वन्ति. धर्मपरा अपि तत् कुर्वन्ति इति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह **अनुरक्तधिय** इति, अनुरक्ता धीर्यासाम्. अनुरागमात्रेण न भक्तिर्भवति उत्कटभावाभावात्, लौकिकप्रेमवतां धर्ममार्गेऽपि तथात्वादित्यत आह **अश्रुकण्ठ्य इति**— अश्रूणि नेत्रयोः गद्गदकण्ठता च, तदुभयं निर्दिष्टम्. अथवा नेत्रयोः [2]स्मरणाभावाद् अन्तर्दृष्टीनामश्रूणि कण्ठएव समागतानीति

लेखः

या दोहने इत्यत्र **अश्रूणीति**, अश्रूणि च कण्ठश्च, अत्र कण्ठो गद्गदो ज्ञेयः. इदं भावप्रधानम्, गद्गदकण्ठ इत्यर्थः. एतद्युक्ताः, अर्श आद्यच्, छान्दसो ङीप्. **किन्तु**

---

१. सायंतने प्रभाते. २. श्रवणाभावात्.

तथोक्तवत्यः. अतः सर्वभावेन प्रपन्नाः फलं च प्राप्नुवन्तीति **व्रजस्त्रियो धन्याः**. किञ्च **उरुक्रमचिन्तयानाः**— न केवलं कदाचिदेव तासामेवं भावः किन्तु सर्वदेति वक्तुं **सर्वदैवोरुक्रमं चिन्तयानाः** उरुक्रमं चिन्तयन्ति ॥१५॥

किञ्च एतादृश्योऽपि न केवलं योगिवत् साक्षात्काररहिताः किन्तु तपस्विन इव वरदानार्थमागतं भगवन्तं सर्वदैव पश्यन्तीत्याह **प्रातर्व्रजाद् व्रजत** इति.

प्रातर्व्रजाद् व्रजत आविशतश्च सायं
गोभिः समं क्वणयतोऽस्य निशम्य वेणुम् ।
निर्गम्य तूर्णमबलाः पथि भूरिपुण्याः
पश्यन्ति सस्मितमुखं सदयावलोकम् ॥१६॥

गूढास्तु लीलाः ताभिर्न ज्ञायन्त इति भगवद्दर्शनं सायं प्रातरेवेत्याहुः. **प्रातः**काले गाः नीत्वा **व्रजाद् व्रजतः सायं**काले च **व्रजमाविशतः**. **च**कारादन्यदापि यदृच्छया आगच्छतः, अन्याश्च दर्शनावस्थाः सर्वा एव संगृहीताः. **गोभिः सममिति** पाल्यमानानामानयनमावश्यकमिति निर्भयार्थं च. न हि वेदबोधिते पदार्थे कस्यचिदपि शङ्का भवति. किञ्च **वेणुं क्वणयत** इति, यथा चित्तमपहृतं भवति तथा वेणुनादं करोति. तेन तद्भावाः सर्वे भगवद्विषयका आविर्भवन्ति, अन्ये तु तिरोभवन्ति. अतस्तस्य वेणुनादं **निशम्य तूर्णं** गृहान्निर्गताः **पथि** मार्ग एव भगवन्तं पश्यन्ति. योगिनो हि समागते भगवति पश्यन्ति, एतास्तु अर्धसमागत एवेति विशेषः. अतो **भूरिपुण्याः अबला** इति तासां दोषाभावो[1] भूरिपुण्यत्वे हेतूक्तः. किञ्च **सस्मितं मुखं पश्यन्ति** अन्तरानन्दमाविर्भावयत्. तेन यथा भक्तिप्रतिबन्धकमुत्पन्नमपि ज्ञानं निवृत्तं भवति तादृशं प्रेमानन्दम् एव प्रयच्छतीति मोक्षादप्यधिकफलत्वमुक्तम्. किञ्च **सदयावलोकमिति**, दयापूर्वकमवलोकनं **यस्मिन्**. न च

लेखः

सर्वदेति, चिन्तयाना इति शानचोऽर्थोऽयम् ॥१५॥

प्रातर्व्रजादित्यत्र निर्भयार्थं चेति, निर्गत्य दर्शने इत्यादि भयाभावार्थमित्यर्थः. **वेदबोधिते** इति, **गोभिः सममिति गो**पदेन वाग्रूपाः श्रुतयोऽप्युच्यन्ते इति भावः. **दोषाभाव** इति, स्त्रीकृतो दोषो भर्तुर्लगतीति तासां दोषाभावात्पुण्यमेव भूरीत्यर्थः ॥१६॥

१. चाणूरादिवद् बलवत्त्वाभावो इति भावः -सम्पा.

वक्तव्यं संसारो न निवर्तिष्यत इति, यतो भगवान् दयया पश्यति. कृतार्था एताः कर्तव्या इति दयया दोषनिवृत्तिः अवलोकनेन सर्वस्वदानमिति द्वयमुक्तम् ॥१६॥

अतः स्त्रीणां तादृशभगवल्लीलायां महानेव प्रयास उक्तः. ततो भगवांस्तदसहमानः यत्कृतवांस्तदाह **एवं संभाषमाणास्विति**.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

एवं संभाषमाणासु स्त्रीषु योगेश्वरो हरिः ।
शत्रुं हन्तुं मनश्चक्रे भगवान्भरतर्षभ ॥१७॥

स्त्रीष्वेवं सम्यग्भाषमाणासु; अन्येन ह्यासक्तोऽपि सर्वात्मत्वात् शृणोत्येव, **योगेश्वर**त्वादपि दूरश्रवणदर्शनादेस्तद्धर्मत्वाद् दूरादेव श्रुत्वा **हरि**स्तासां दुःखहर्ता **शत्रुं** कंसमेव **हन्तुं**, चाणूरं तासां विषादं वा, **मनश्चक्रे**. स ह्यक्लिष्टकर्मा न मारयेत्, सन्ध्यापर्यन्तं युद्धं च कुर्यात्. ततः सम्यक् ताडिताः न प्रातरागच्छेयुः. तथापि मारणार्थमेव नूतनं मनः कृतवान्. ननु कथमेवं नूतनं पूर्वसिद्धादधिकं करोतीति चेत्, तत्राह **भगवानिति**. विश्वासार्थं **भरतर्षभेति** सम्बोधनम् ॥१७॥

ननु तथापि स्त्रीणां वाक्यात् सर्वात्मा कथं तान् मारयितुं प्रवृत्त इति चेत्, तत्राह **उपश्रुत्येति**.

उपश्रुत्य गिरस्तासां पुत्रस्नेहशुचातुरौ ।
पितरावन्वतप्येतां पुत्रयोरबुधौ बलम् ॥१८॥

तासां वाक्यात् देवकीवसुदेवयोर्महानेव क्लेशो जातः. यदि शीघ्रं भगवान्न मारयेत् तयोरपि क्लेशः अधिकः अनुवर्तेत, अतः पित्रोरप्यर्थे हन्तुं मनश्चक्र इति. स्त्रीणां **गिर उपश्रुत्य** तावपि तत्र समानीताविति निकटे च गिरो जाता इति **अन्वतप्येतां** तासां वचने भगवतः असामर्थ्यमिव प्रतिभातम् अतः पूर्वं सामर्थ्यं जानतोरपि वाक्यश्रवणमनु तापो जातः. ननु माहात्म्यज्ञानस्य जातत्वात् कथं ताप इति चेत् तत्राह **पुत्रयोरबुधौ बलमिति**— माहात्म्यं तु जानीतः परं न बलम्, ततः क्लेशं प्राप्नोतीति तयोरनुतापः ॥१८॥

एवं प्रासङ्गिकमुक्त्वा प्रस्तुतं वदन् यत्पूर्वं कृष्णचाणूरयोः प्रकारचतुष्टयं निरूपितं तद्रामभुष्टिकयोरप्यतिदिशति **तैस्तैरिति**.

तैस्तैर्नियुद्धविधिभिर्विविधैरच्युतेतरौ ।
युयुधाते यथान्योन्यं तथैव बलमुष्टिकौ ॥१९॥

नियुद्धविधिभिः बाहुयुद्धप्रकारै**स्तैस्तैः** प्रसिद्धैः पूर्वोक्तैर्वा ततोऽपि

विविधैरनेकप्रकारैः **यथाच्युतेतरौ अन्योन्यं युयुधाते तथैव बलमुष्टिकावपि** तेनैव प्रकारेण **युयुधाते. अन्योन्यमि**ति द्वन्द्वयुद्धता अनुपदेशश्लोक्तः ॥१९॥

अग्रे चाणूरमारणं वक्तुं पूर्वकृतयुद्धस्य वैयर्थ्ये उत्तरत्रापि तथैव भविष्यतीति पूर्वकृतस्य फलमाह **भगवद्गात्रे**ति.

भगवद्गात्रनिष्पातैर्वज्रनिष्पेषनिष्ठुरैः ।
चाणूरो भज्यमानाङ्गो मुहुर्ग्लानिमवाप ह ॥२०॥

भगवतो गात्राण्यवयवाः तेषां **निपातैः** (निष्पातैः) उपरिपातैः **वज्रनिष्पेषात्** वज्रेण पेषणादपि पुनः पुनर्घर्षणादपि **निष्ठुरैः** अतिदुःसहैः **चाणूरो भज्यमानाङ्गः मुहु**र्वारंवारं **ग्लानिमवाप. ह**ेत्याश्चर्यम्— स हि पूर्वमिन्द्रेण सह युद्धे वज्रे प्रक्षिप्ते वक्षःस्पर्शेनैव तं वज्रं दूरीकृतवान्, तादृशो हि चाणूरः कथं मूर्च्छामवापेति ॥२०॥

ततो मारणं वक्तुं भगवानक्लिष्टकर्मेति प्रथमं तस्यापराधमाह **स श्येनवेग** इति.

स श्येनवेग उत्पत्य मुष्टीकृत्य करावुभौ ।
भगवन्तं वासुदेवं क्रुद्धो वक्षस्यबाधत ॥२१॥

श्येनवेग इति, श्येनादप्यधिको वेगो यस्य. श्येनो हि भ्रातृव्यं निपात्याधत्ते, श्येनात्सर्वे सपक्षा बिभ्यति. अतस्तत **उत्पत्य उभावपि करौ मुष्टीकृत्य** गदावदेकीकृत्य पृथग्वा मुष्टिद्वयं संयोज्य. सर्वेश्वरमगणयन्तं **वासुदेवं** मोक्षदातारम्, अन्यथा भुजाधिष्ठातेन्द्रो न प्रवर्तयेत्. मोक्षं दास्यतीति भगवदिच्छया अन्यथा-कर्तुमशक्ताः कालादयस्तूष्णीं स्थिताः. नन्वन्तर्यामी कथमेवं प्रेरितवांस्तत्राह **क्रुद्ध** इति, क्रोधेन व्याप्तस्तथा कृतवान्, न बुद्धिपूर्वकं प्रेरितो वा. राज्याद्यर्थे लक्ष्मी-निवासभूतमिति संतुष्टात्कंसाल्लक्ष्मीं प्राप्स्यामीति वक्षःस्पर्शमात्रं कृतवान् ॥२१॥

सोऽपि स्पर्शस्तस्य व्यर्थो जात इत्याह **नाचलदि**ति.

नाचलत्तत्प्रहारेण मालाहत इव द्विपः ।
बाह्वोर्निगृह्य चाणूरं बहुशोऽभ्रामयद्धरिः ॥२२॥

तस्य प्रहारेण ईषदपि **चलनं** स्पन्दनमपि न प्राप्तवान्. दूरे स्पन्दनं, ज्ञातवानपि नेति वक्तुं दृष्टान्तमाह **मालाहत इवे**ति— हस्ती हि अङ्कुशप्रहारमपि न मन्यते, का वार्ता मालाप्रहारस्य?! ततो भगवांस्तं मारितवानित्याह **बाह्वोर्निगृह्ये**ति, यौ बाहू मुष्टीकृत्य भगवति प्रक्षिप्तवान् तावेकहस्तेन गृहीत्वा यथा न मोचयति तथा

निगृह्य बहुशो बहुवारम**भ्रामयद्** भ्रामितवान्, यथा क्षेपणीरज्जुः बहुधा भ्राम्यते ॥२२॥

भूपृष्ठे पोथयामास तरसा क्षीणजीवितम् ।
विस्रस्ताकल्पकेशस्रगिन्द्रध्वज इवापतत् ॥२३॥

ततः **भूपृष्ठे पोथयामास** पाषाणे वस्त्रमिव पातितवान्. तस्य पुनरुत्थानाभावायाह **तरसा क्षीणजीवितमि**ति, शीघ्रमेव भ्रामणसमय एव क्षीणं जीवितं यस्य. भगवान् हि दूरादेव प्रक्षिप्तवान्, नत्वेकं भागं धृत्वा भूमौ ताडितवान्. अतस्तस्य भगवद्धस्ताद्विमुक्तस्य भूमौ पतने प्रकारमाह **विस्रस्ताकल्पकेशस्रगिति— विस्रस्ताः** इतस्ततः प्रक्षिप्ता **आकल्पाः** आभरणानि **केशाः स्रजो** मालाश्च यस्य तादृशो भूत्वा. लक्ष्मीस्थानप्रहारेण लक्ष्मीस्तस्य विमुखेति तत्सम्बन्धिनः पदार्थाः विशेषेण स्रस्ताः. ततः **इन्द्रध्वज इव**, पूर्वमिन्द्रगर्वनाशो भगवता कृत इति तद्वदस्यापि जातमिति ज्ञापयितुम्. पूर्वदिशे प्रसिद्धः **इन्द्रध्वज** उच्चैस्तम्भः परितो रज्जूनामाकर्षणेनोत्थापितः यथा रज्जूनां शैथिल्ये गलितवस्त्राद्याभरणः पतति तथा कालादृष्टकर्मादीनां विशकलितत्वेन रक्षकाभावात् शरीरं स्तम्भयितुमशक्तः **भूमावपतत्.** मल्ला हि पतन्तोऽपि स्वशरीरं धारणावशाद्धारयन्ति, तदत्र नाभूदिति ज्ञापयितुं दृष्टान्तकथनम् ॥२३॥

यथैतस्य भगवता मारणं कृतम् एवं मुष्टिकस्यापि बलभद्रेण कृतमिति वक्तुमाह **तथैवे**ति.

तथैव मुष्टिकः पूर्वं स्वमुष्ट्याभिहतेन वै ।
बलभद्रेण बलिना तलेनाभिहतो भृशम् ॥२४॥

बलभद्रस्याप्यक्लिष्टकर्मत्वं बोधयितुं पूर्वं मुष्टिकस्यातिक्रम उच्यते. **तथे**त्यनेन स्त्रीणां वचनानन्तरं तद्दुःखदूरीकरणाय शत्रुहननेच्छा, तथैव गात्रस्पर्शैः शत्रोः सर्वाङ्गव्यथा, ततो मारणमिति सर्वमतिदिष्टम्. मारणे प्रकारं वक्तुं पुनर्निरूपणमाह— **स्वमुष्ट्या अभिहतेन** बलेन **तलेन** चपेटेनाभिहतः **भृशं प्रवेपित** इति **मुखाद्रुधिरमुद्वमन्** अत्यन्तमर्दितः **व्यसुः सन् पपात.** असावधानत्वाय दृष्टान्तः **वाताहत इवे**ति, चपेटताडनेनैव क्रियाशक्तिस्तस्यापगता, बलवता सजातीयेनोपहतेति. **स्वमुष्ट्ये**ति, 'मुष्टिक'नाम्ना तस्य मुष्टिरेव प्रसिद्धा, अत एव **तेनाभितो हतः** आभिमुख्येन वा. प्रथमपक्षे मुष्टिभिः सर्वाङ्गेषु हननं, द्वितीये तु मुखे वक्षसि वा सकृदेव हननमिति. ननु चपेटमात्रेण कथं हननमित्याशङ्क्याह **बलिने**ति. अनेन

कर्णप्रान्ते मर्मस्थानमिति दैवगत्या हत इति पक्षो व्यावर्तितः. **अभितो हत** इत्यनेनापि, यतो **बलमस्य भद्रमेव** उपकार्यैवेति ॥२४॥

आहननमात्रेण कथं प्राणोद्गम इति आशङ्क्य प्रकारमाह **प्रवेपित** इति.

प्रवेपितः स रुधिरमुद्वमन्मुखतोऽर्दितः ।
व्यसुः पपातोर्व्युपस्थे वाताहत इवाङ्घ्रिपः ॥२५॥

प्रवेपित इति, प्रकर्षेण वेपित इति मूर्च्छया परितः कम्पितो जातः, ततोऽन्तःक्षोभाद् **आघातेन** सर्वाङ्गे रुधिरमेकीभूतं मुखान्निर्गतम्, ततः **पीडितो** जातः **यथा प्राणापगमो भवति**, ततः **स्तंभकस्याभावात्** पतितः. बलक्रियापतनपर्यन्तमपि व्यापृतेति ज्ञापयितुं **दृष्टान्त** उक्तः. नावयववियोगेन कारणनाशात् पतितः किन्तु बलमूलकारणवायोरेव सामर्थ्यादिति ॥२५॥

ततः कूटमनुप्रासं रामः प्रहरतां वरः ।
अवधील्लीलया राजन्सावज्ञं वाममुष्टिना ॥२६॥

तस्मिन् हते **कूटो** नाम बहुकपटाभिज्ञः युद्धे कूटवत् स्थितोऽपि बलभद्रं ताडितवान्, ततो बलेन लीलयैव हत इत्याह. अत्र न बलव्यापारः किन्तु मल्लरसस्योद्गमनार्थं रमणात्मक इति रसोद्गमार्थमेव. **प्रहरतां वर** इति **लीलये**ति च पुरुषकारोऽपि[1] निरूपितः. **राजन्नि**ति विश्वासार्थं सम्बोधनमलौकिकत्वात्. क्रियाशक्तिप्रधानः राम इति 'बल'नामवत् **राम**नाम्नोऽपि सामर्थ्यप्रतिपादकत्वं वक्तुमिदमुक्तम् ॥२६॥

एवमुभयोर्वधो बलान्निरूपितः, अवशिष्टयोर्वधं भगवतः सकाशादाह **तर्ह्येवे**ति.

तर्ह्येव हि शलः कृष्णपादापहतशीर्षकः ।
द्विधा विदीर्णस्तोशलक उभावपि निपेततुः ॥२७॥

न तु बलभद्रव्यापारानन्तरं शलतोशलौ हतौ किन्तु यदैव कूटो हतः तर्ह्येव **शलो**ऽपि चतुर्थः **कृष्णपादापहतशीर्षको** जातः. स हि पादं धर्तुमागतः क्षिपता पादेन हतः. तस्मिन्नेव समये **तोशलको**ऽपि समागतः, स तु **द्विधा विदीर्णः** पदैव. उभयोरपि पदव्यापारः, साक्षाद्भगवता हताविति वक्तुम् एवं वचनमुचितम्. अत्र प्रकारान्तरादपि सम्भवति— **कृष्णपादापहतं** दूरं प्रक्षिप्तं **शिरो** यस्य तादृशः **शलो** जातः. तेन **द्विधा विदीर्णः**, तस्य शिरसा **तोशलको** हतः, द्विधा विदीर्णः प्रदरवत्, न तु भगवत्पदा हत इति. अर्थद्वयेऽपि **उभावपि निपेततुः** सकृदेव, एको विदीर्णः एकस्तिर्यक् द्विधा जात इति विशेषः ॥२७॥

---

१. चकारोऽपि इति स. पाठः.

एवं भगवतोऽक्लिष्टकर्मत्वं निरूपितम्. **चाणूर** इति.

चाणूरे मुष्टिके कूटे शले तोशलके हते ।

शेषाः प्रदुद्रुवुर्मल्लाः सर्वे प्राणपरीप्सवः ॥२८॥

गणना हतानामभिज्ञानार्था, पञ्चानां मध्ये एकस्मिन्नपि प्राणे स्थिते यथा देहो नापगच्छति तथा शिष्टा मल्ला नापगच्छन्तीति. ततः सर्वे स्वप्राणरक्षकाः धनप्राप्त्याशां दूरीकृत्य **प्रकर्षेण दुद्रुवुः**. अयुद्धे कंसाद्भयम्, युद्धे तु भगवत इति पलायनमेव शरणम्. अन्येषां वीराणामपि पलायनं मा भवत्विति **मल्ल**ग्रहणम्. सावशेषे शिष्टानां युद्धं कर्तव्यमिति **सर्व**ग्रहणम्. ननु सर्वैरेव स्वपौरुषं प्रदर्शनीयम्, कथमतिक्रम इति चेत्, तत्राह [१]हतेषु **प्राणपरीप्सव** इति, यदि चाणूरादीन्न हन्यात् तदा अन्येऽपि युद्ध्येरन्. न हि वीरा इव मल्लाः प्राणनिरपेक्षं यतन्ते; परिपालयितुमीप्सवः **परीप्सवः** ॥२८॥

ततो भगवांस्तुल्यबलैः क्रीडिष्याम इति पूर्वमेव प्रतिज्ञानात् तेषु गतेष्वपि राजप्रीतेश्चिकीर्षितत्वात् गोपैः सह मल्लयुद्धं कृतवानित्याह **गोपान्वयस्यानि**ति.

गोपान्वयस्यानाकृष्य तैः संसृज्य विजह्रतुः ।

वाद्यमानेषु तूर्येषु वल्गन्तौ रुतनूपुरौ ॥२९॥

वयस्याः समानवयसा प्रीत्या कालकृततुल्यबलाः, तेऽपि किञ्चिद्भीता इत्यालक्ष्य **आकृष्य** स्वयं हस्ते धृत्वा समाकृष्य **विजह्रतुः**. ननु भगवान् न विहरणार्थं प्रवृत्तः नापि कंसस्यैतदभिप्रेतमिति किमिति विजह्रतुः? प्रतिज्ञा तु पूर्वं तैः सह युद्धनिषेधार्था, न तु बालैः सह युद्धार्थापि. उभयत्र तात्पर्ये वाक्यभेदप्रसङ्गात् प्रकरणं नियामकमिति इतरनिषेधो वक्तव्य एवेति चेत्, तत्राह **वाद्यमानेषु तूर्येष्विति**— तेषु हतेष्वपि मल्लानां रसजनकानि तूर्याणि वाद्यमानान्येव जातानीति निमित्तस्य विद्यमानत्वात् लोकप्रतीत्यर्थं लीलया कस्यापि संतोषो न जात इति लोकानां प्रीत्यर्थं तथा कृतवन्तौ. किञ्च **वल्गन्तौ** शब्दं कुरुतः मल्लानां जयख्यापकम्. किञ्च **रुतनूपुरौ** च जातौ. नूपुरयोरपि जयख्यापकत्वं लोकसिद्धम् ॥२९॥

एतद्यदर्थं कृतं तज्जातमित्याह **जना प्रजहृषुरि**ति.

जनाः प्रजहृषुः सर्वे कर्मणा रामकृष्णयोः ।

ऋते कंसं विप्रमुख्याः साधवः साधुसाध्विति ॥३०॥

जनाः प्रकर्षेण जहृषुः हर्षं प्राप्ताः. **सर्व** इति अष्टविधाः मल्लकंसव्यतिरिक्ताः[२].

---

१. सर्वे. २. "मल्लानामशनिः" इति श्लोकोक्ताः -सम्पा.

रूपेण तथा जाता भविष्यन्तीत्याशङ्क्याह **कर्मणे**ति, **रामकृष्णयोरु**भयोरपि मल्लवधलक्षणेनालौकिकेन **कर्मणा**. साम्प्रतं बालैः सह मल्लयुद्धलक्षणेन वा, पूर्वकर्म तूद्वेजकमिति न रसोत्पादकम्. कंसस्यापि सुखमाशङ्क्याह **ऋते कंसमि**ति. तत्रापि ये **विप्रमुख्याः** ये वा **साधवः** भगवत्पराः **साधु साध्विति** वदन्तो **जहृषुः.** कायिकव्यापारो दर्शनमेव, हर्षो मानसः, वाचनिकी प्रशंसेति सर्वथा तेषां हर्षो निरूपितः. हीनानां प्रशंसाकरणमयुक्तमिति विप्रश्रेष्ठाः साधवश्च गणिताः ॥३०॥

मध्ये कियत्कालं यावता गोपैः सह युद्धं तावच्चिन्ताकुलो विचारमूढः स्थितः, पश्चात्पुनर्दैत्यावेशेन बहिर्मुखो जात इति निवारणादिकं कृतवानित्याह **हतेष्वि**ति.

हतेषु मल्लवर्येषु विद्रुतेषु च भोजराट् ।
निवारयत्स्वतूर्याणि वाक्यं चेदमुवाच ह ॥३१॥

केचन **हताः** केचन **विद्रुताः** तथापि प्रसिद्धतयैव अपकारः कर्तव्य इति विचारितवान्, यतो **भोजराट्.** आदौ निमित्तं दूरीकृतवानित्याह **निवारयत्स्वतूर्याणी**ति, **न्यवारयदि**ति वा. **इदमग्रे** वक्ष्यमाणं **वाक्यं चोवाच. च**काराद्युद्धार्थं सावधानोऽपि जातः. कपटलीला स्वेनैव निराकृता, ईश्वरत्वं चाविष्कृतवान्. तथा सति यदि तयोर्वरं दद्यात् तूष्णीं वा अन्तर्गच्छेत् तदा न काचिच्चिन्ता स्यात्. अक्लिष्टकर्मा हि भगवान् वसुदेवं मोचयित्वा नयेत् स्थापयेद्वा. "भक्तद्रोहे वधः स्मृत" इति भगवत्प्रतिज्ञेति अक्लिष्टतासिद्ध्यर्थं वक्ष्यमाणमुक्तवान्. **हे**त्याश्चर्ये, एतावदपि दृष्ट्वा पुनर्निर्लज्ज आज्ञापयतीति ॥३१॥

तस्यायुक्तवचनान्याह **निःसारयते**ति द्वाभ्याम्.

॥ कंस उवाच ॥

निःसारयत दुर्वृत्तौ वसुदेवात्मजौ पुरात् ।
धनं हरत गोपानां नन्दं बध्नीत दुर्मतिम् ॥३२॥

भगवति तत्सम्बन्धे च लोके दोषप्रतीतिव्यावृत्त्यर्थं कपटेन वदति. यतो **दुर्वृत्तौ** बालौ च, न हि मारणं उचितम्. युद्धदर्शनार्थमेव परमाकारितौ वसुदेवस्यैवैतौ अतो भागिनेयाविति **निःसारणमेव** कुर्वन्तु. **गोपानां** च **धनं हरत**, धनेन तैः पोषिताविति. **नन्दः** अस्मदीयोऽपि भिन्नपक्षो जात इति **बध्नीत.** ननु कोऽपराधो नन्दस्य, स हि स्वपुत्रत्वेन जानाति नत्वन्यथेति चेत्, तत्राह **दुर्मतिमि**ति, दुर्बुद्धिरयम्. विलक्षणं पुत्रं दृष्ट्वा स्वस्माज्जातः कथमेवं भविष्यतीत्याशङ्कायां राज्ञे

खलु निवेदनीयम्, विचारकाणां चतुराणामेषा रीतिरिति. तदकरणात् दुर्मतिः. अतस्तस्य बन्धनमेव दण्डः ॥३२॥

वसुदेवस्तु मुख्योऽपराधी अतोऽस्माद्विशेषमाह **वसुदेव** इति.

वसुदेवस्तु दुर्मेधा हन्यतामाश्वसत्तमः ।
उग्रसेनः पिता चापि सानुगः परपक्षगः ॥३३॥

तुशब्देन बन्धनपक्षं व्यावर्तयति. **दुर्मेधा** इति— स्वयमष्टमो मया आनेय इति प्रतिज्ञायापि नानीतवान्, कंस एव मारणीय इति च कपटं कृत्वान्यत्र स्थापितवान्, अतो **हन्यतामाश्वि**त्यविचारेण. सतां बन्धूनां हननं निषिद्धमिति चेत् तत्राह **असत्तम** इति, सर्वोपास्यराजहननार्थं कृतप्रयत्न इति. नन्वेवं सति यादवाः सर्वे त्वां मारयेयुरिति चेत्, तत्राह **उग्रसेन इति**— यद्यपि **पिता** तथाप्यु**ग्रसेनो** हन्तव्यः **सानुगो** देवकसहितः, स एव **परपक्षग** इति. अन्ये अराजकभयात् साधारणत्वाद्वा नापकरिष्यन्तीति भावः ॥३३॥

स्वाग्रे स्वाधिकबलानां हननं दृष्ट्वापि दुर्बुद्धिः अनुनयं परित्यज्य विपरीतं वदति अतो मारणीय इति तस्य दोषं त्याजयितुं मारणार्थं प्रवृत्त इत्याह **एवं विकत्थमान** इति.

एवं विकत्थमाने वै कंसे प्रकुपितोऽव्ययः ।
लघिम्नोत्पत्य तरसा मञ्चमुत्तुङ्गमारुहत् ॥३४॥

रजकतुल्योऽयं **कंसः** कं प्रति सः? न कमपीति. **एवं** वदतीति अधिक्षेपविषयत्वात्. **अव्ययः** स्वतो भयाभावात् **प्रकुपितः** भक्तानामपकारश्रवणात् **लघिम्ना** मल्लविद्यायामिवोत्पतनप्रकारेण **उत्तुङ्गं** स्थूलं **मञ्चमारुहत्** यत्र कंसस्तिष्ठति. अयं हि ततोऽधःपातनीयः, उच्चस्थानोपवेशनाद्यतो वल्गति ॥३४॥

ततो यज्जातं तदाह **तमापतन्तमि**ति.

तमापतन्तमालोक्य मृत्युमात्मन आसनात् ।
मनस्वी सहसोत्थाय जगृहे सोऽसिचर्मणी ॥३५॥

उपर्यागत्य पतन्तम्. तदानीमपि यदि प्रपन्नो भवेत् तदापि न मारयेदिति सूचयितुं तत्रापि तस्यातिक्रम उच्यते. **स** हि पूर्वमेव **तमात्मनो मृत्यु**त्वेन श्रुतवान्, तथापि **मनस्वी** शूरः, शूराणामन्तकाले शौर्यमाविर्भवतीति. तदा **आसनात्स-हसोत्थाय** आसने उपवेशनमयुक्तमित्याशङ्क्य स्वधर्मवि(सिद् ?)ध्यर्थं— युद्धे च

मरणं क्षत्रियस्योक्तमिति स्वधर्ममिव— खड्गचर्मणी जगृहे, निकटे तयोरेवोपयोगात् ॥३५॥

ततो युद्धार्थे यतमानं तं विलोक्य अन्तरिक्षे च युद्धमयुक्तमिति भूमावुत्पन्नत्वाद् भूमौ पातयितुं गृहीतवानित्याह **तं खड्गपाणिमिति.**

तं खड्गपाणिं विचरन्तमाशु श्येनं यथा दक्षिणसव्यमम्बरे ।
समग्रहीद्दुर्विषहोग्रतेजा यथोरगं तार्क्ष्यसुतः प्रसह्य ॥३६॥

तस्य महत्वाय युद्धकौशलमाह **आशु विचरन्तं श्येनमिव.** अलौकिकी **शिक्षा** तदीयोक्ता, स ह्युपरि पतन्नेव दृष्टः अम्बरे च, **अम्बर** एव तं गृहीतवान्. ननु प्रहारात्कथं न भयं? तत्राह **दुर्विषहः** दुःखेनापि विशिष्टं सह्यो यस्य, असह्यं वा. **उग्रं तेजो** यस्य, **अग्रे** वा सर्वापेक्षया तेजो यस्य; प्रभावसामर्थ्ययोर्विद्यमानत्वात् न भयम्. अत एव तेजःसामर्थ्यात् न शस्त्रप्रक्षेपः ग्रहणसिद्धिश्च. कालात्मा भगवान् तं मारणार्थमेव गृहीतवानिति दृष्टान्तमाह **यथोरगं तार्क्ष्यसुत** इति. **प्रसह्य** बलाद्, अनेन तस्य शरीरव्यापारः प्रतिकूलः सूचितः. तथापि गृहीत इति तस्याग्रेऽपि विनयार्थं सामर्थ्यं प्रदर्शितवान् ॥३६॥

तथाप्यविनीतं पातितवानित्याह **प्रगृह्येति.**

प्रगृह्य केशेषु चलत्किरीटं निपात्य रङ्गोपरि तुङ्गमञ्चात् ।
तस्योपरिष्टात्स्वयमब्जनाभः पपात विश्वाश्रय आत्मतन्त्रः ॥३७॥

स हि भगवता स्पृष्टोऽपि न किन्तु **केशेषु** गृहीतः. वैयग्र्यसूचनायाह **चलत्किरीटं** यथा भवतीति. ततः सर्वथा सज्जीकृतं रङ्गस्थानमिति स्वपदेन पवित्रमिति भगवदीयरूपसिद्ध्यर्थं **तुङ्गमञ्चात् रङ्गोपरि निपात्य स्वयमपि तदुपरि** पतितः. यथा अनवहितौ ततः पतितौ भवतः तथा लोकप्रतीतिर्जनिता. तत्क्रियायां स्वयमपि व्यापृत इति न क्लिष्टकर्मत्वम्. नन्वेवं कथं पातलक्षणमपूर्वं साधनं कृतवान्? न हि शत्रुमारणे स्वयमात्मा साधनत्वेन नियुज्यते तत्राह **अब्जनाभ** इति— स हि कमलनाभो मूलकारणं स्वात्मानमेव सर्वत्र नियुङ्क्ते तथात्रापि. अनेनालौकिकपक्षकरणदोषोऽपि निवारितः सर्वेषां च पितृत्वेनोद्धारोऽपि कर्तव्य इति तथा कृतवानित्यर्थः. **विश्वाश्रय** इति तस्य भारेणैव मारणं कृतमिति केचित्, वस्तुतस्तु तस्यापि भगवानाश्रय इति सोऽप्युद्धर्तव्य इति तस्मै स्वात्मानं दत्तवान्. **आत्मतन्त्र** इति स्वस्य शङ्काभावाय, स हि स्वतन्त्रः, उभयत्रापि हेतुरपीडायामनधिकारिणे स्वात्मानं प्रयच्छतीत्यत्रापि ॥३७॥

ततस्तस्मै स्वात्मदानेन कृतार्थं तं लोकप्रतीत्यर्थं, कपटं कृत्वा तिष्ठतीति भ्रान्तानां प्रतीतिसिद्ध्यर्थं च, सम्परेतमपि तं विचकर्षेत्याह **तं सम्परेतमिति.**

तं सम्परेतं विचकर्ष भूमौ हरिर्यथेभं जगतो विपश्यतः ।
हाहेति शब्दः सुमहांस्तदाभूदुदीरितः सर्वजनैर्नरेन्द्र ॥३८॥

सम्यक् परः इतः प्राप्तो येन, भगवद्धस्ते वा सम्यक् मृत इति. नास्य प्राणा ह्युत्क्रान्ताः किन्तु मूर्च्छया अन्तर्दृष्टौ अन्तर्बहिर्यद्रूपं भगवदीयं सर्वदा दृश्यते तस्मिन् स्वयं प्रविशन् प्राणानपि प्रवेशितवानिति सारूप्यपक्षे भवति. सायुज्ये तु अस्मिन्नेव शरीरे आत्मनि वा प्राणानां लयः, "इहैव समवलीयन्त" इति "मृत्युर्यस्योपसेचनमि"ति च श्रुतौ. ततस्तादृशस्य भगवदीयशरीरोत्पत्त्यर्थं **विचकर्ष** यत्र यत्राङ्घ्रिरेणवः तत्र सम्बद्धं कृतवान्. अत एव **भूमावि**त्युक्तम्. लोकप्रतीतौ तस्य निकृष्टत्वख्यापनाय विकर्षणम्, विशीर्णावयवं च निकर्षणेन कृतवानिति ज्ञापयितुं दृष्टान्तमाह **हरिर्यथेभमिति**— अल्पमूर्तिः सिंहः स्थूलमपि गजं हत्वा दैवादेवायं मृत इति शङ्का भविष्यतीति विशीर्णावयवं यथा भवति तथा कर्षणं करोति, तथा दैवगत्या कदाचिन्मृतो भवेदिति शङ्कापरिहारार्थम्. वस्तुतस्तु **हरिः** सर्वदुःखहर्ता **यथा** गजेन्द्रमुपरि नीतवान् तथात्र कंसं **भूमौ विशेषेण चकर्षे**ति विशेषः. अधिकः प्रयत्नो न कृत इति माहात्म्यार्थमक्लिष्टकर्मत्वख्यापनार्थं च प्रमाणमाह **जगतो विपश्यत** इति. पितरौ क्लेशिताविति तयोः संतोषार्थं विकर्षणमिति केचित्. तत्र दृष्टान्तादिकं न संगच्छते. स यमुनां प्रापित इति पुराणान्तरम्, तत्र विश्रान्त इति. किञ्च सर्वेषामेव स मारित इति प्रतीतिर्जातेत्याह **हाहेति शब्दः सुमहानभूदिति.** अयुक्ते तथा शब्दः, पित्रोर्हितार्थे तथाकरणे सर्वजनानां हाहेतिशब्दो नोपपद्येत. राजत्वाद्वा अकस्मात्तथा वचनम्. **नरेन्द्रे**ति सम्बोधनं लोकपीडकेषु रक्षकाणां तथा भवतीति ज्ञापनार्थम् ॥३८॥

एवं सर्वजनीने तस्य मारणे प्रवृत्ते प्रमेयबलमाश्रित्य तस्य परलोके किं जातमित्याकाङ्क्षायां सारूप्यं वा जातमित्याह **स नित्यदोद्विग्नधिये**ति.

स नित्यदोद्विग्नधिया तमीश्वरं पिबन्वदन्वा विचरन्स्वपन्श्वसन् ।
ददर्श चक्रायुधमग्रतो यत्तदेव रूपं दुरवापमाप ॥३९॥

सर्वदैव भये**नोद्विग्नबुद्ध्या तमे**व भगवन्तं भयप्रत्यासत्त्या प्रदर्शिते**श्वर**स्वरूपं **चक्रायुधं** शङ्खचक्रगदापद्मधरं सर्वावस्थासु पश्यन् **तदेव रूपमवाप.** सदा तद्भावभावितः अन्ते तु तं दृष्टवानेव. पाने हि दुःखनिवृत्त्या सुखेन च विषयप्राबल्यात्

सर्वविस्मरणं सिद्धम्, तथा भोजने. विशेषेण **चरणे** आखेटकादावपि, **स्वपन्** निद्रायाम्, **श्वसन्** मूर्च्छायामपि. यत्र पञ्चस्ववस्थासु दर्शनं तत्रोपवेशनादौ न सन्देह एव. किञ्च **न** केवलं स्मरणमात्रं **किन्त्वग्रतश्चक्रायुधं ददर्श.** सर्वदैव भयजनको भगवानिति तस्य न भयं निवृत्तम् अतोऽन्तेऽपि सुतरां भगवान् मारयितुं प्रवृत्त इति भयजननात् **तदेव रूपं** प्रकटीभूतम् अन्तरेवेति विमर्शः, बहिःपक्षे उत्क्रान्तिरप्यपेक्षते. यद्यपि कालरूपसायुज्यं युक्तं योधानामिव तथापि भावनाया बलिष्ठत्वात् सर्वदा साक्षात्कृतमेव रूपमवाप. तद्वस्तुतः सर्वेषामेव दुरापम् ॥३९॥

एवं तस्य भगवदिच्छया तथात्वमापन्नस्य स्वतो दोषाभावात् गुणस्य च विद्यमानत्वात् सायुज्यमुक्त्वा व्यवहारे शिष्टं कृत्यं वदन् तद्भ्रातृणां वधमाह **तस्यानुजा** इति.

तस्यानुजा भ्रातरोऽष्टौ कङ्कन्यग्रोधकादयः ।
अभ्यधावन्नतिक्रुद्धा भ्रातुर्निर्वेशकारिणः ॥४०॥

तस्य कंसस्य **भ्रातरः अष्टौ** भ्रातरः. **कङ्को न्यग्रोध** इति सपक्षतामहत्व-निरूपणार्थं नामद्वयं निरूप्य तदादिभूता निरूपिताः. कंसे निहते भ्रातरि जीवति, भ्राता परैर्न हन्तव्य इति हते, पुनः ''जिघांसन्तं जिघांसीयादि''ति न्यायाद्, **भ्रातुर्निवेशनं** निष्कृतिं कुर्वन्तीति **अतिक्रुद्धाः** सन्तः **अभ्यधावन्.** कपटेना-कस्मान्मारितवानित्यतिक्रोधः. एकः कथञ्चिन्मारितः वयमष्टावेकश्च मारक इति क्रुद्धबुद्धयः आभिमुख्येनैव धावनं कृतवन्तः. **निर्वेशो** ऋणशोधनम्, हन्यात् हतो वा भवेद् अन्यथा न निर्वेशः स्यादिति ॥४०॥

अत्रापि भ्रातैव अष्टानामनुकल्प एक एव तान् मारितवानित्याह **तथाति-रभसानिति.**

तथातिरभसांस्तांस्तु संयत्तान्रोहिणीसुतः ।
अहन्परिघमुद्यम्य पशूनिव मृगाधिपः ॥४१॥

यथा कंसः अतिवेगवान् एवं ते सर्व एव अतिशीघ्रमागता**स्तान्** प्रसिद्धान्. **तु** इति भगवन्मारणपक्षं व्यावर्तयति. नाप्युपेक्ष्याः यतः **संयताः** शस्त्रपाणयः. ननु भगवानेव मारयेत्, किमिति बलेन हतास्ते? तत्राह **रोहिणीसुत** इति, देवकीभ्रातरस्ते अतो मातुला भगवता न हन्तव्या इति. कंसस्तु अन्येन वधं नार्हतीति कथंचिद्धतः अव(वि!)मृश्यकारित्वात्. अत एव सशस्त्रान् स्वयमपि **परिघ**प्रायं दन्तमेव गृहीत्वा, अन्यद्वा तत्र विद्यमानमायुधं अर्गलामेव वा, तेन **अहन्** मारितवान्. **पशूनिवे**त्यत्रापि

सम्बध्यते; यथा लकुटेन पशवो हन्यन्ते तथा सर्वे मारिताः. तेषां छेदनं न भविष्यतीत्याशङ्क्य दृष्टान्तमाह **मृगाधिप इवेति**— सिंहो हि क्षुधितः भक्षणार्थमेव मारयतीति तथा सर्वे विशीर्णावयवाः कृता इत्यर्थः. अनायासेन मारणे सन्देहाभावे वा दृष्टान्तः ॥४१॥

एवं सभ्रातरि हते देवानामपि परमानन्दो जात इति देवविपक्षवधेन भगवतो धर्मस्थापनमेव जातमिति मातुलदोषपरिहारार्थं देवकृतं पुष्पवृष्ट्यादिकमाह **नेदुर्दुन्दुभय** इति.

नेदुर्दुन्दुभयो व्योम्नि ब्रह्मेशाद्या विभूतयः ।
पुष्पैः किरन्तस्तं प्रीताः शशंसुर्ननृतुः स्त्रियः ॥४२॥

ब्रह्मा ईश्वरश्च आदौ येषाम्. विष्णुर्भगवानेवेति द्वावेवावशिष्टाविति द्वयोर्गणना, प्रमेयप्रमाणभूतौ वा. **तं** भगवन्तं **प्रीताः** सन्तः **पुष्पैः किरन्तः शशंसुः**. दुन्दुभीनां नादं स्वतन्त्रं तत्प्रेरणया जातमिति कायिकं भिन्नकर्तृकमपि ब्रह्मादीनां मानसं भवति. पुष्पवृष्टिः कायिकी, शंसनं वाचनिकम्. तेषां तु **स्त्रियः** पुरुषधर्मैरतुल्या अपि एकशेषेणोक्ताः भगवति स्नेहविशेषात् **ननृतुः**. ननु ब्रह्मणः सर्वतुल्यत्वान्महादेवस्य च कंसो भक्त इति कथं सर्वेषामनुमोदनमिति चेत्, तत्राह **विभूतय** इति— भगवतो विभूतिप्रायाः, विभूतिमान् भगवान् अतः स्वामिकृतं तेषामभिनन्द्यमेव ॥४२॥

भगवान् स्त्रीणां सुखार्थे अवतीर्ण इति कथं तेषां स्त्रीणां सुतरां मातुलानीनां वैधव्यं सम्पादितवानित्याशङ्क्य तासामतिदुःखं न जातं भर्तृदोषस्मरणाद्, अन्यथा निर्वाहाभावाद्, भगवत्यादरातिशयाच्चेति वक्तुं तेषां स्त्रीणामुपाख्यानमाह.

तेषां स्त्रियो महाराज सुहृन्मरणदुःखिताः ।
तत्राभीयुर्विनिघ्नन्त्यः शीर्षाण्यस्रविलोचनाः ॥४३॥

तेषां स्त्रिय इति मल्लादीनां कंसादिनवानां च. **महाराजे**ति संबोधनमाश्चर्यमेतदिति ज्ञापनार्थं प्रोत्साहनार्थं वा; लौकिकमिति कदाचिन्न शृणुयात्. **सुहृदां** भर्तृणां **मारणेन** अति**दुःखिताः**. अन्यायित्वेन पतितत्वाद् भर्तृत्वमनुक्त्वा मित्रत्वमेवाह, ''पत्नी हि सर्वस्य मित्रमि''ति श्रुतेः. मरणेनैव दुःखिताः; यदि भगवांस्तान् बन्दीकुर्यात् तदा दुःखमपि न भवेत्. अतः **शीर्षाणि विनिघ्नन्त्यः तत्राभीयुः**. **अस्राणि**

लेखः

तेषां स्त्रिय इत्यस्याभासे, स्त्रीविलापस्य भागवते कथने हेतुमाहुः **भगवानिति**.

विलोचनयोर्यासाम्. अश्रूण्यन्तःकरणधर्माः, हननमिन्द्रियाणाम्, अभिगमनं कायिकम् —शोककार्यं त्रयमपि. कुलस्त्रीणां सभास्वागमनं नान्यदा ॥४३॥

आगत्य यादृक् दृष्टवत्यस्तदाह **शयाना**निति.

शयानान्वीरशय्यायां पतीनालिङ्ग्य शोचतीः ।
विलेपुः सुस्वरं नार्यो विसृजन्त्यो मुहुः शुचः ॥४४॥

वीरशय्यायामिति रणाङ्गणे. शय्यायामेव शयने स्त्रीणामधिकार इति, **पतीनालिङ्ग्ये**ति स्नेहोद्गम उक्तः. ततः **शोचन्त्यो** जाताः **विलेपुः सुस्वरं**, यतो **नार्यः**. अन्तःकरणपूर्वकत्वायाह **मुहुः शुचो विसृजन्त्य** इति. लौकिक्येषा भाषा, यथा देवक्यादयः पुत्राद्यपाये रोदनं कृतवत्यः तथा तासामपि जातमिति. भगवान् भक्तकृपया तथा कृतवानिति वक्तुमेवं निरूप्यते ॥४४॥

चतुर्भिर्विलापमाह **हा नाथे**ति. आदौ तान् शोचन्ति ततः पुरीं ततस्तेषां दुर्दशां तत ईश्वरापराधेन परलोकेऽपि न सुखमिति.

॥ स्त्रिय ऊचुः ॥

हा नाथ प्रिय धर्मज्ञ करुणानाथवत्सल ।
त्वया हतेन निहता वयं ते सगृहप्रजाः ॥४५॥

प्रथममात्मानं शोचन्ति **हे**ति महादुःखे सम्बोधनानि स्वस्य धर्मादिभक्त्यन्त-पञ्चपुरुषार्थसाधकत्वेन. **नाथ**त्वाद् धर्मस्तस्य सेवया सिध्यति. **प्रिय**त्वादर्थं साधयति. **धर्मज्ञ**त्वाद् कामं, "स्त्रीणां व्रतमनुस्मरन्नि"त. **करुणे**ति तत्कृपया मोक्षोऽपि भवतीति. **अनाथवत्सले**ति दीना वयं त्वच्छरणं गता इति भक्तिरपि सिध्यति. इदानीं तु **त्वया हतेन ते वयं** त्वदीयाः **सगृहप्रजाः निहताः**. त्वया निहतेन, कयाचित्क्रियया व्यासो भवतु, यथाकथंचिन्मरणहेतुः मारक एव भवति. शरीरेण गृहेण पुत्रैर्वा धर्मः सेत्स्यतीति पक्षो निराकृतः यतो वयं सर्वे हता एव ॥४५॥

ननु मथुरेयं तीर्थभूता, अत्र जीवता मृतेन वा मोक्षः साधनीय इति किं भर्त्रपगमे शोकः क्रियत इति चेत्तत्राह **त्वया विरहिते**ति.

त्वया विरहिता पत्या पुरीयं पुरुषर्षभ ।
न शोभते वयमिव निवृत्तोत्सवमङ्गला ॥४६॥

त्वया पत्या विरहिता इयं पुरी स्वयमेव **न शोभते**, किमन्येषामुपकारं करिष्यतीति भावः. यतो **निवृत्तानि उत्सवाः मङ्गलानि** च यस्याम्. तस्मिन्विद्यमान एव **उत्सवो मङ्गलानि** च प्रवृत्तानि न तु निवृत्ते, तासां दृष्ट्या अमङ्गलमिव

प्रतिभातीति. वाद्यानां निवृत्तत्वादुत्सवो निवृत्त इति तथोक्तम्. अत एव **न शोभते.** क्षणान्तरे शोभिष्यत इत्याशङ्क्याहुः **वयमिवेति**. यथा वयमतः परमशोभायुक्ता एव तथा पुर्यपीति तासां प्रतिभा(नं!), यतः **त्वया पत्या विरहिता**. यद्यपि पुर्याः पतिर्भविष्यति यः कश्चित्तथापि त्यक्तो भविष्यतीति जीर्णपटमिव शोभाकरो भविष्यतीति भगवांस्तु पतिर्न भविष्यतीति तासां वचनं सत्यमेव. त्यक्तव्या च ततः परं, तदाह **हे पुरुषर्षभेति** ॥४६॥

ननु स्त्रीणां भाग्ये अवैधव्ये विद्यमाने कथमेवं भवेत्? अतो भवतीनामेव दुर्भाग्यान्मृत इति किमिति विलापः क्रियत इति चेत्तत्राहुः **अनागसामिति**.

अनागसां त्वं भूतानां कृतवान्द्रोहमुल्बणम् ।
तेनेमां भो दशां नीतो भूतध्रुक् को लभेत शम् ॥४७॥

निरपराधानां प्राणिनां **त्वमुल्बणं** पुत्रादिमारणरूपं **द्रोहं कृतवान्** तेनैवं दुर्मृत्युरूपां **दशां नीतः**. ननु धर्मोऽपि भूयान् कृत इति यथा धर्मफलं न जातं तथैतदपि न भवेदित्याशङ्क्य द्रोहस्य विशेषमाहुः **भूतध्रुगिति**— अत्यन्तधर्मकर्तापि भूतद्रोहं चेत्कुर्यात् तदा **शं न लभेतैव**, सर्वं धर्मं बाधित्वा द्रोहः स्वफलमेव प्रयच्छतीति ॥४७॥

ननु राज्ञां द्रोहः स्वाभाविक एव भवतीति कथमन्यरीत्या फलमिति चेत्तत्र विशेषमाहुः **सर्वेषामिह भूतानामिति**.

सर्वेषामिह भूतानामेष हि प्रभवाप्ययः ।
गोप्ता च तदवध्यायी न क्वचित्सुखमेधते ॥४८॥

राज्ञोऽपि सर्वथा सर्वभूतद्रोहे भवत्येवानिष्टम्, ततोऽपि तव प्रकारान्तरेण महज्जातमिति तत्फलं तथा. यतः **सर्वेषामेव भूतानामेष** भगवान् **प्रभव** उत्पत्तिस्थान**मप्ययो** नाशश्च. तेन मध्येऽपि स एव. (**हि**!) युक्तश्चायमर्थः यतो ब्रह्म भगवान् कारणत्वेनोक्तः. अत**स्तदवध्याने** भूतसाध्यं सुखमिति **न क्वचिद**पि **सुखं** भवेत्. भूतानां हि भगवानाराध्यः, मारकत्वाद्भयजनकश्च, **गोप्ता च** रक्षकः. अतस्तद्विरोधे तदात्मकमेव सर्वमिति **न क्वचित्सुखम्.** तस्मात्स्वदोषेणैव तवेयमवस्थेति ॥४८॥

लेखः

त्वया विरहितेत्यत्र त्यक्तो भविष्यतीति, बन्धनान्मुक्तः कश्चिदसमर्थः इत्यर्थः ॥४६॥

॥ श्रीशुक उवाच ॥

राजयोषित आश्वास्य भगवांल्लोकभावनः ।
यामाहुर्लौकिकीं संस्थां हतानां समकारयत् ॥४९॥

राजयोषित इति. एवं तासां सत्यवचनं श्रुत्वा ताः **आश्वास्य भगवान्** समर्थः, आश्वासनेनैव तासां परमानन्दो जात इति अलौकिकं सामर्थ्यं **भगवच्छ**ब्दादवगम्यते. **लोकभावन** इति न तस्य शत्रुमित्रोदासीनत्वम्, अतः शत्रुस्त्रीणामपि कृत एव भगवतोपकारः. तासु कृपयैव परलोकक्रियां कारितवानित्याह **यामाहुर्लौकिकीं संस्थामिति**, दाहादिरूपाम्. **हतानामिति**, न तासां सहगमनम्, भगवता आश्वासनस्य कृतत्वात्. यद्यपि अस्तिप्राप्ती दुष्टे तथाप्यग्रे लीलायाः कर्तव्यत्वात् नानुमरणे बुद्धिर्दत्ता. **सम्यगकारयत्** तथा शब्दतो नियोगं कृतवान् ॥४९॥

एवं दुष्टमारणं तत्रातिसंनिहितप्रतिक्रियां च कृत्वा यदर्थमेतावत्कृतं तयोः पित्रोर्लौकिकनिरोधं त्याजयित्वा स्वनिरोधं कृतवानित्याह **मातरं पितरमिति** द्वाभ्याम्.

मातरं पितरं चैव मोचयित्वाथ बन्धनात् ।
कृष्णरामौ ववन्दाते शिरसास्पृश्य पादयोः ॥५०॥

मुख्यं दुःखं मातुरेव, अतः प्रथमं निरूपिता. यद्यपि बहव एव बद्धा उग्रसेनादयः तथापि प्रथमत एतावेव मोचितौ, **च**कारादेतन्निकटे सेवकाश्च. आदौ निरोधाद् दूरीकृतवन्तौ **अथ बन्धनात्**, प्रथमं मानसो विमोकः द्वितीयः कायिकः. तयोर्वैलक्षण्यप्रतिपादनाय **अथे**ति, नियोगानन्तरं वा कृतकार्यत्वेनाव्यग्रत्वाय. ततः **कृष्णरामौ** फलसाधनभूतौ **ववन्दाते** अभिवादनं कृतवन्तौ, तथैव तौ निरुद्धौ भवत इति. **शिरसा पादयोरास्पृश्य** सत्यलोकादुपरि तौ नीतौ. फलं च तयोर्देयम्, न तु दुःखनिवृत्तिमात्रम्. यत्र पुत्रस्य सत्यलोकप्रापणं तत्र पित्रोस्ततोऽधिकस्थानप्रापणं युक्तमेव. **आ**समन्तात्स्पर्शनं तु सत्यमाक्रम्य यथा गच्छतः तथोपायं कृतवन्तौ ॥५०॥

लेखः

मातरमित्यस्याभासे **लौकिकनिरोधमिति** निगडबन्धनमित्यर्थः. **स्वनिरोधमिति** सत्यलोकोपरि स्थित-स्वगृहवैकुण्ठप्रापणमित्यर्थः.

एवमुत्कृष्टफलदानलक्षण-स्वगृहनयनेन निरुद्धौ तौ अनधिकारिणौ मा भवत इति लोके ज्ञापनार्थं तयोरधिकारमाह **देवकी वसुदेवश्चे**ति.

देवकी वसुदेवश्च विज्ञाय जगदीश्वरौ ।
कृतसंवन्दनौ पुत्रौ सस्वजाते न शङ्कितौ ॥५१॥

॥ इति श्रीभागवत-दशमस्कन्धे एकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥

चकारस्तूक्तसमुच्चयार्थः, अन्यतरस्यापि गौणत्वाभावाय. कंसादिकमारणेन वैकुण्ठप्रापणेन च प्रत्यक्षतोऽनुभावं दृष्ट्वा **जगदीश्वरा**वेताविति **विज्ञाय कृतसंवन्दनौ** कृतनमस्कारौ भगवन्तौ **न सस्वजाते** नालिङ्गितवन्तौ, यतः **शङ्कितौ**, ईश्वरे हि सम्बन्धिनामपि शङ्का भवत्येव. प्रपञ्चः कंसेनैव निराकृतः, आसक्तिः स्थितैव; फलं साधनं च परं कर्तव्यम्. तत्र फलं वैकुण्ठप्राप्तिः साधनं ज्ञानमिति तयोः पूर्णनिरोधो निरूपितः ॥५१॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीवल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धपूर्वार्द्धे एकचत्वारिंशाध्यायविवरणम् ॥

॥ इति एकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥

॥ तृतीयः स्कन्धादितः द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ॥

साधारण्येन सर्वेषां द्विरूपोऽपि निरूप्यते[1] ।
द्विचत्वारिंशे ह्यध्याये निरोधः सर्वसम्मतः ॥(१)॥
पित्रो राज्ञस्तथान्येषां स्वस्यापि च निरूप्यते ।
द्विरूपे मध्यमे रोधे यादवत्वं प्रयोजकम् ॥(२)॥
स्वस्य शब्दात्मके रोधः स्वाज्ञायां निखिलस्य[2] च ।
देवे दैत्ये च सर्वत्र कालादिष्वपि सर्वतः ॥(३)॥

पूर्वाध्याये विशेषतो निरोध उक्तः **पित्रोः**, स चालौकिकः. लौकिकोऽपि कर्तव्य इति तयोर्बोधनेन तमाह **पितराविति** एकादशभिः; मध्यमत्वाद्गुणैर्ज्ञानभक्तिभ्यां चेति, अन्यथा पूर्वस्मादपकर्षः स्यात्.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

पितरावुपलब्धार्थौ विदित्वा पुरुषोत्तमः ।
माभूदिति निजां मायां ततान जनमोहिनीम् ॥१॥

लौकिको निरोधः अलौकिके बोधे[3] विद्यमाने न भविष्यतीति तदाच्छादनार्थं मायां विस्तारितवानित्याह. **उपलब्धार्थौ पितरौ विदित्वा** उपलब्धार्थता **मा** भवत्विति **जनमोहिनीं निजां मायां ततान.** प्रयच्छत्येव सर्वं निरोधे, किं बहुना, व्यापिवैकुण्ठमपि दत्तवान्; तथापि वेशेन क्रीडतीति ज्ञानं न लीलौपयिकम्, अतो बाधकत्वात् सा मा भवत्विति मायाच्छादनम्. ननु को दोषः स्यात्तत्राह **पुरुषोत्तम** इति मूलभूतः. यदि कश्चिदंशः समागच्छेत् तस्य लोके समागतस्य ज्ञानं नात्यन्तं लज्जाकरं, महतस्तु मूलभूतस्य भवत्येव. तत्फलं च भविष्यत्येव. तत्फलं च भक्तिः,

---

लेखः

द्विचत्वारिंशे कारिकायां **द्विरूप** इति, नवमाध्यायवदत्रापि भगवतो भक्तानां चेति द्विरूपो निरोध इत्यर्थः. **सर्व**शब्दार्थमाहु **पित्रो**रिति. **देवे** इति, सर्वत्र सर्वतो निरोधो जात इत्यर्थः (१-३).

पितरावित्यत्र **मध्यमत्वा**दिति, अत एतैरेव न तु स्वरूपेणेत्यर्थः. गुणातीतरूपेण तामसानामेव निरोध इति पूर्वं निरूपितम्. **अन्यथे**ति, ज्ञानभक्त्यकथने पूर्वाध्यायोक्तादलौकिका**दपकर्ष** एतस्या **स्या**दित्यर्थः.

---

१. विनिरूप्यते इति ग. पाठः. २. निलयस्य इति स. ३. बाधे इति मु. पाठः.

परमानन्दस्य तुल्यत्वात्. ननु मायया मोहे ततोऽप्यपकर्षो भवेत्तत्राह **निजामिति**, सा हि स्वकीया यथायुक्तमेव कार्यं करिष्यतीति. ननु भगवदतिक्रमे दोषः स्यात् ततोऽनिष्टसाधकत्वं मायाया इत्याशङ्क्याह **जनानेव मोहयति** न तु भगवदीयान्. **जनेषु** च **मोहयति** न तु भगवति, अत्र हेतुर्वा स्वेति. तस्याः कार्यनिदर्शनार्थं वा[1] जनमोहिनीत्वमुक्तम् ॥१॥

ततः अलौकिकमुपायं विधाय लोकन्यायेन सापराधावेताविति एतस्मिन्कृते वसुदेवो दुःखं प्राप्नोतीति नालिङ्गनं कृतवानिति प्रतीतिमुत्पाद्य तद्दोषपरिहारार्थं तादृशानि वचनानि आह **उवाचेति**.

उवाच पितरावेत्य साग्रजः सात्वतर्षभः ।
प्रश्रयावनतः प्रीणन्नम्ब तातेति सादरम् ॥२॥

नमस्कारं परित्यज्य स[2] **एत्य** निकटे समागत्य, बलभद्रस्तथा वक्तुं[3] न जानातीति तस्यापि दोषः परिहर्तव्य इति तत्सहितः, **सात्वतानामृषभः** स्वामी भगवद्भक्तानां शिक्षकः सन्मर्यादां शिक्षयन् **प्रश्रयेण** विनयेन नम्रो बाल इव **प्रीणन्** प्रीतिमुत्पादयन् आदरपूर्वकम् **अम्ब तातेति** सम्बोधन**मुवाच**. लज्जा सापराधत्वं च लोकदृष्टौ सम्भवतः, तत्र प्रथमं लज्जा निवारणीया. पुत्रः स्वात्मैवेति न तेन कृते मोचने लज्जा भवति अतः पुत्रत्वं ज्ञापयन् **अम्ब तातेति** सम्बोधनं कृतवान्. उपचारव्यावृत्त्यर्थं **सादरं**, कपट एवोपचारप्रयोगः. तथापि तद्हृदये पूर्वस्मृतिनाशेऽपि विपरीता बुद्धिः कथमुत्पद्येत तत्राह **प्रीणन्निति**, यथा प्रीतिर्भवति तथा मुखचेष्टां कुर्वन्. अवगणनया पुत्रत्वेऽपि सम्बोधिते प्रीतिर्नोत्पद्यत इति विनयप्रकाशनम् ॥२॥

एवं लज्जां दूरीकृत्य अपराधनिराकरणेनास्माभिरपराधः कृत इति वक्तुं तत्साधनाय तयोरपेक्षितत्वं ज्ञापयति **नास्मत्त** इति.

॥ श्रीकृष्ण उवाच ॥

नास्मत्तो युवयोस्तात नित्योत्कण्ठितयोरपि ।
बाल्यपौगण्डकैशोराः पुत्राभ्यामभवन्क्वचित् ॥३॥

लेखः

नास्मत्त इत्यत्र. **पुत्राभ्यामावाभ्यां हेतुभूताभ्यां** कृत्वा कीर्तिमदादीनेकीकृत्यास्मत्सकाशा**द्बाल्यादयो** मुदो न जाता इत्यन्वयः. कीर्तिमतः पाञ्चवार्षिकत्वेऽपि कैशोरपर्यन्तं तस्यापि न जातमेव ॥३॥

---

१. इति ग.पाठे अधिकम्. २. इति ग.पाठे अधिकम्. ३. कर्तुम् इति ग. पाठः.

नित्योत्कण्ठितयोरपि सर्वदा पुत्रयोर्बाल्यपौगण्डकैशोरा द्रष्टव्या इति आकाङ्क्षा. बाल्यादयो मुद इति संतोषे हि सर्वस्याकाङ्क्षा भवति. **पुत्राभ्यामिति** पञ्चमी; आवाभ्यां (पुत्राभ्याम्) हेतुभूताभ्याम् आवयोः सम्बन्धिनः बाल्यादयः अन्येषां च कीर्तिमत्प्रभृतीनां न जाताः. भगवानुत्पत्स्यत इति श्रवणाल्लोकोपद्रव इति स्वस्यैव निमित्तता स्वस्यापि बाल्याद्यदर्शने. अक्लिष्टकर्मत्वाय स्वयमेवोक्तवान् मां गोकुले नयेति, अतः स्वयमेव निमित्तम्. समर्थानुपेक्षां कृतवन्तावित्यपि. स्वधर्मपरिपालनं हि गोप्यता. अक्लिष्टकर्मता (वा) स्वस्यैव रक्षणीया, पित्रोस्तु बाधिकैव, अतः स्वनिमित्तमेव बाल्यादीनामननुभवः ॥३॥

यद्यपि भवतां सुखाभावः तथाप्यस्माकं भूयान् क्लेशो भवतामल्प इति निरूपयति **न लब्ध** इति.

न लब्धो दैवहतयोर्वासो नौ भवदन्तिके ।
यां बालाः पितृगेहस्था विन्दन्ते लालिता मुदम् ॥४॥

दैवहतयोः दैवं हतं याभ्याम्, अर्थाद्भवदीयम्. ब्रह्मणो हि नादृष्टं दैवप्रेरितयोर्वा, तथाप्यन्यथाप्रत्यायकः शब्दः मोहिकया मायया जनित इति न भगवद्वाक्ये बाधितार्थत्वं विरोधः. परोक्षता तु व्याख्यातैव; लौकिकीयं भाषा. अतो भगवान् गोप्य एव सर्वथा विज्ञैरपीति फलिष्यति, भगवतापि बाल्यत्वमाविष्कृतमिति, तद्यादृशं लोके प्रशस्तं भवति तादृशं प्रकटीकर्तव्यम्. इदं त्वस्मिन्नंशे विकलमिति श्रुत्या यथार्थतापि भवति. आत्मत्वेन तद्धर्माः परिगृहीता इति ऐक्यनिरूपणमपि न दोषाय. स्वबाल्यस्य लोकप्रसिद्धत्वात् कथं विकलतेत्याशङ्क्याह **यां बाला** इति. लोकानां संतोषहेतुर्बाल्यं यद्यप्यस्मदीयं तथाप्यस्मत्संतोषहेतुर्न भवति. नन्दादिषु तथा हृदयं न प्रकटीकृतमिति सहजो धर्मस्तेषु नोत्पन्नः. कृत्रिमो हि न सुखदायी, अन्यथा बन्धनं न कुर्यात्, भारे वा भूमौ न स्थापयेत्. तस्मात्सुष्ठूक्तं **पितृगेहस्था** एव बालाः पितृभ्यां **लालिताः मुदं विन्दन्त** इति. **मुदमित्येकवचनं** सर्वेषां बालानां तुल्यत्वाय. तेन अन्ये[१] उत्कर्षहेतवो धर्माः स्थिता अप्यप्रयोजका इति निरूपितम् ॥४॥

उपेक्षाशङ्का तु न कर्तव्यैव, लोकतः स्वार्थमेवापेक्षितत्वात्, वेदे तु तस्य बाधकत्वात्तदाह **सर्वार्थसम्भव** इति.

लेखः

सर्वार्थसम्भव इत्यस्याभासे **तस्ये**ति, उपेक्षणं स्वस्यैव बाधकमित्यर्थः.

---

१. नान्ये इति मु. पाठः

सर्वार्थसम्भवो देहो जनितः पोषितो यतः ।
न तयोर्याति निर्वेशं पित्रोर्मर्त्यः शतायुषा ॥५॥

सर्वे अर्था धर्मादयः अस्मिन्नेव मानुषशरीरे सम्भवन्ति, तथा लीला अपि. सामान्योक्तेः नात्यन्तं भगवत्परता हि वक्तव्या. **जनितः** पित्रा, **पोषितो** मात्रा, आवश्यकपोषितो हि तयैव भवति. अथवा उभाभ्यां **जनितः पोषितश्च** भवति यथोपयोगं, **यतो** याभ्यां यस्माद्वा **तयोर्निर्वेशं** निष्कृतिं प्रत्युपकारं **शतायुषापि न याति. मर्त्य** इति मरणधर्मा; स हि कालेनोपद्रुतः[१] स्वयमेवासमर्थः जीवनेऽपि तयोः कमुपकारं करिष्यति ! अथवा नायमनृणः, यतो **मर्त्यो** म्रियते. नहि दोषाभावे म्रियते, वर्षाणां शतेनाप्यानृण्यं न भवतीति. पूर्णमायुर्भुक्त्वापि म्रियते, अन्यथा अग्रेऽपि जीवेत्. पापेन हि दुःखमेव, अन्यथा पुण्यपापोपभोगः सर्वत्रैव नियत इति एतच्छरीरत्याजनेन पुण्यपापयोः क उपकारः स्यात्! आनृण्ये तु तावत्कालं प्रतीक्ष्य तदधिकारिणः स्वसन्तानात् तं दूरीकुर्वन्ति. तस्मान्मर्त्यता युक्ता भवति. **शतायुषेति** परमावधिः, कालस्य शतावृत्तावप्यनुपयोगे अग्रे नोपयोग एवेति तन्निवृत्तिः. तत्रत्यानां देवानां पूर्वमेवाकाङ्क्षानिवृत्तौ शीघ्रं मरणम्, अन्यथा तु ततोऽप्यधिकं जीवनमिति शतसंख्या उपलक्षिका ॥५॥

तत्र विशेषमाह **यस्तयोरात्मज** इति.

यस्तयोरात्मजः कल्प आत्मना च धनेन च ।
वृत्तिं न दद्यात्तं प्रेत्य स्वमांसं खादयन्ति हि ॥६॥

तयोः पित्रोः शरीराज्जातः न करोत्येव तयोर्निष्कृतिं बुद्धिपूर्वकम्. तिष्ठत्वन्यत् यो **वृत्तिं** जीविकां **न दद्यात् तं प्रेत्य** परलोके मृत्वा स्थितं **प्र**कर्षेण **एत्या**गत्य वा **स्वमांसं** तस्यैव मांसं **खादयन्ति. (हि !)** युक्तश्चायमर्थः, तदुद्भवेन शरीरेणोत्पादितं तदीयमेव भवति, यथा दासकृतं स्वक्षेत्रोद्भवं वा.. तच्चेत् स्वार्थमेव नियोगं कुर्यात्

लेखः

व्याख्याने **अन्यथे**ति, आनृण्यसम्पत्तावित्यर्थः. ननु पापेन मरणं नतु आनृण्यसम्पत्त्येत्यत आहुः **पापेने**ति— तेन तु दुःखमेव भवति, दुःखं त्वस्मिन्नपि देहे सम्भवतीति न शरीरत्याजनाग्रह इत्यर्थः. **अन्यथे**ति, पापेन मरणपक्षे एतदुभयजन्म-सुखदुःखभोगोऽस्मिन्नपि शरीरे भविष्यत्येवेत्येतत्त्याजनेन तयोः किं सिद्धमिति दूषणमित्यर्थः. **आनृण्ये त्विति**, आनृण्यप्रतीक्षापक्षे त्वित्यर्थः ॥५॥

---

१. उपहतः इति पाठः

शरीरं पोषयेत् परलोकं वा साधयेत् तदा अविशेषात् शरीरेणापि तदुद्भवेन तत्साधयतु, मुख्यत्वाच्च. तस्मादयमेव दण्डो विहितः. निष्कृतिश्च भवति, तदीयमनेन भक्षितमिति परस्वभक्षक एव भवेत्. नतु तेन किञ्चित् कुर्याद् अतो देवास्तदुपकारार्थं वृद्ध्यभावाय निष्कृतेश्च सम्भावना नास्तीति तन्मांसमेव तं खादयन्ति, यो हि वृत्तिमेव न ददाति स किमन्यत्करिष्यतीति ! ॥६॥

एवं सामान्यविशेषप्रकारेण पितृविषयकं दैविकबाधकमुक्त्वा— प्रसङ्गात्सामान्यतस्तेषां पोषणाभावे जन्मैव निष्फलमिति मृत एवेति मृतवत् तादृश उपेक्षणीय एव, स्वस्य जन्मवैयर्थ्यभयात् बुद्धिमांश्च नोपेक्षां करिष्यतीति— अपालने जन्मवैफल्यमाह **मातरं पितरमिति.**

मातरं पितरं वृद्धं भार्यां साध्वीं सुतं शिशुम् ।
गुरुं विप्रं प्रपन्नं च कल्पोऽबिभ्रच्छ्वसन्मृतः ॥७॥

पितृविशेषणं **वृद्धमिति**, अन्यथा स एव समर्थः. माता त्वग्रिमविशेषणरहितापि पोषणीया. **साध्वीति भार्या**. विशेषणं **शिशुमिति सुतस्य**, अनुपनीतं पश्चाद्भिक्षादिना स्वयमेव स्ववृत्तिं सम्पादयिष्यति. **गुरुं विप्रं** पुरोहितमिति यावत्. अयं धर्म क्षत्रियाणाम्. तथैव **प्रपन्नं च** शरणागतम्. पृथगुपदेशात् शरणसाहचर्याच्च **विप्रपदम्** उभयत्र सम्बध्यते. **कल्पः अबिभ्रत् श्वसन्नेव मृतो** भवति. श्वासमात्रं तस्य परं, न तु जीवनोपायोऽन्यः कश्चन ॥७॥

अतो दोषत्रयेण स्वस्यैवायमपराधः तेन चाकार्यं, न तु भवतां काचित्क्षतिरिति निरूपयति **तन्नावकल्पयोरिति.**

तन्नावकल्पयोः कंसान्नित्यमुद्विग्नचेतसोः ।
मोघमेते व्यतिक्रान्ता दिवसा वामनर्चतोः ॥८॥

तत् तस्मात्कारणाद्, बाधकज्ञानस्य विद्यमानत्वात् **नौ** आवयो**रकल्पयोरेव** बाधकान्तराभावाद् **एते दिवसाः मोघं व्यतिक्रान्ताः** पुरुषार्थसाधका न जाताः. तत्र हेतुः **वामनर्चतोरिति** युवयोरर्चामकुर्वतोः. असामर्थ्यं लोकरीत्या. देशान्तरे स्थितः असमर्थो भवत्येव, बालकत्वाच्च. यद्यपि लीलयैवार्चा भवति तथापि कंसान्नित्यमुद्वेग इति न तत्सम्पन्नमित्याह **कंसादिति**, स हि नित्यं पूतनादिदैत्यान् प्रेषयति ततोद्वेगः सर्वदैव. वस्तुतस्तु युवयोर्निमित्तं, स हि कदा वा भवत्स्वरूपं

लेखः

तन्नावकल्पयोरित्यत्र कारयिष्यतीति, इति प्रतीक्षा भगवतः स्थितेति शेषः.

ज्ञात्वा उपद्रवं कारयिष्यतीति. अत एवान्ते तथैव जातम्. अत एवैते दिवसा भवदुपयोगाभावात् मोघा जाताः. **वां युवामनर्चतो** नमस्कारादिना महत्वात् पूजादिना च ॥८॥

ननु सामर्थ्यस्य विद्यमानत्वात् तदैव समागत्य कथं कंसो न हत इति चेत्तत्राह **तत् क्षन्तुमर्हथ** इति.

तत्क्षन्तुमर्हथस्तात मातर्नौ परतन्त्रयोः ।
अकुर्वतोर्वां शुश्रूषां क्लिष्टयोर्दुर्हृदा भृशम् ॥९॥

सत्यमपराधोऽस्ति परमर्धम्. स्वयमेकाकिना अलौकिकेन प्रकारेण समागत्य हन्तुमुचितो भवति. तथा सति अवतारवैयर्थ्यं, हन्तुं च न शक्यते, अलौकिकात्तस्य वधो वरान्निषिद्ध इति. तथापीश्वरत्वात् पित्रोरनुरोधेन मारणीयो भवेत्, तन्न कृतमित्यपराधः क्षन्तव्यः. क्षमायां **तात मातरिति** मातृत्वं पितृत्वं च प्रयोजकम्. **नौ** आवयोरिति उभयोरयं दोषः समानः. किञ्च नैकान्ततोऽस्मद्दोषः यतः **परतन्त्रावावां** नन्दाधीनौ. तथा हि बुद्धिरुत्पादिता, तस्यातिक्रमे प्राणानेव त्यजेत्. अत एव कालीयावसरे परीक्षितः. तेन सहागमने परराष्ट्रवत् युद्धेन मारणं प्रसज्येत, तत्तस्यैवानभिप्रेतम्. एतच्च परीक्षितमिन्द्रयागभङ्गोपदेशेन. अलौकिकत्वात्तैरङ्गीकृतमपि, एतत्तु प्रजात्वादङ्गीकारमपि नार्हति. अतः परतन्त्रयोरशक्या सेवा. अपराधमाह **अकुर्वतोर्वां शुश्रूषामिति**. कंसादिमारणेन लोकेऽपि सामर्थ्यं प्रतीतमिति सेवायोग्यता. स्वार्थं हि सर्वमिति पुत्रादपि सेवा मृग्यत एव. **दुर्हृदेति** तस्य क्लेशदाने न कश्चित्पुरुषार्थः सिद्धः किन्तु हृदयदोषात् केवलं क्लेशः. तत्रापि भवदादिबन्धने सुतरामेव क्लेशं प्रयच्छतीति **भृशमित्युक्तम्** ॥९॥

नन्वीश्वरः कथमेवमनीश्वरवद्वदतीति चेत्तत्राह **इतीति**.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

इति मायामनुष्यस्य हरेर्विश्वात्मनो गिरा ।
मोहितावङ्कमारोप्य परिष्वज्यापतुर्मुदम् ॥१०॥

मायया मनुष्यो यथा कायिकं चेन्मायिकं, वाचनिकमपि तथैव कर्तव्यमिति

लेखः

तथा च भगवत्कृतगोपनादेव मत्स्वरूपाज्ञानेनोपद्रवाकरणाद् एतावत्पर्यन्तमहं नागत इति भावः. **अत एवेति**, स्वरूपज्ञाने उपद्रवनिश्चयादेवेत्यर्थः. **तथैव जातमिति**, अक्रूरप्रेषणेन लीलास्थले उपद्रवं कारितवानित्यर्थः ॥८॥

मनुष्यत्वमात्रप्रदर्शनं मायिकमिति न भगवति काचित्क्षतिः. मायिकेषु तु सर्वमेव मायिकम्. ननु कंसादिवधार्थे तथा कृतवान्, अत्र प्रयोजनाभावाद् जातं ज्ञानं किमिति नाशयतीत्याह **हरेरिति**, अन्यथा तौ पूर्वमपि क्लिष्टौ. ज्ञानं च क्लेशात्मकम्— साधनमेव परं तत्पुरुषार्थस्य, चिन्ताद्यपगमात् तदानीमपि सुखमिव प्रतिभाति, अतो ज्ञानेन दुःखं प्राप्स्यन्तीति. नन्वत्यन्तोपकारी फलाव्यभिचारिमार्गेण यतमानं किमिति व्यावर्तयति, नान्तरीयकं च दुःखं नात्यन्तं द्वेष्यमत आह **विश्वात्मन** इति, सहि परमदयालुः सर्वस्यात्मा यथासुखं सर्वान् प्रेरयतीति. भक्त्यैव सः कृतार्थः कर्तव्य इति "युवां मां पुत्रभावेने"ति मुक्तेः सिद्धत्वात् सिद्धसाधनं ज्ञानमिति ज्ञाननिराकरणार्थं वाचा मोहनमुचितमेव. ततो **मोहितौ** तदानीमेव च **परिष्वज्य मुदमापतुः**, अन्यथा देहावसान एव सुखं स्यात् ॥१०॥

ततो लौकिकसुखं महदेव जातमित्याह **सिञ्चन्ताविति**.

सिञ्चन्तावश्रुधाराभिः स्नेहपाशेन चावृतौ ।
न किञ्चिदूचतू राजन्बाष्पकण्ठौ विमोहितौ ॥११॥

अश्रुधाराभिः पुत्रौ, कर्म, **सिञ्चन्तौ** जातौ, अश्रूणां धाराभिः बहुकालवियोगस्मरणात्, **स्नेहपाशेन च आवृतौ.** पाशपदेनैव लौकिकत्वं पुत्रत्वं चोक्तम्. ततः **न किञ्चिदु**क्तवन्तौ. इदमप्येकं मोहकार्यं— निर्भरतया पुत्रस्नेहप्लुतत्वम्. अन्यथा स्तुतौ अवश्यं गुणा वक्तव्या इति पुनरपि ज्ञानमुद्बोधितं स्यात्. **राजन्निति** सम्बोधनं श्रवणार्थम्. अवचने दृष्टं हेतुमाह **बाष्पकण्ठाविति**. सर्वथा भगवत्स्पर्शेऽपि मोहोऽनुवृत्त इति आद्यन्तयोर्दृढं मोहमुत्पाद्य निश्चिन्तो जात इति वक्तुमाह **विमोहिताविति**. अन्ते पुनर्विशेषणम्, **मोहितौ** यथा न कदाचिदपि आत्मज्ञानं भगवज्ज्ञानं वा तयोरुदेति. ततः प्रत्यापत्तिं वक्ष्यति ज्ञानाध्याये, अन्यथा भगवाननिष्टकर्ता स्यात्. अतो निरोधे समास एव पश्चात्तन्निरूपणम् ॥११॥

एवं पित्रोर्निरोधमुक्त्वा सर्वयादवानां निरोधं वदन् प्रथमतो राज्ञ उग्रसेनस्य निरोधमाह **एवमिति**.

एवमाश्वास्य पितरौ भगवान्देवकीसुतः ।
मातामहं तूग्रसेनं यदूनामकरोन्नृपम् ॥१२॥

पितरावाश्वास्य मातामहं यदूनां नृपमकरोत्. मातामहत्वं स्पष्टयति **देवकीसुत** इति. भक्तहितकारित्वाय यतोऽवतारः, पितरि श्वशुरे च राजनि दुहितुर्जामातुश्च चिन्तारहितो महान् भोगो भवतीत्यनुभवसिद्धम्. अतो न वसुदेवं

राज्येऽभिषिक्तवान्, स च क्लिष्टो भवेत् पुत्रा हता इति. एवं च सति उग्रसेनार्थमेव कंसो हत इति भवति, तेन गृहीतं राज्यं तस्मै दत्तम् इति. **तु**शब्दः स्वपक्षं स्वसम्बन्धिपक्षं च व्यावर्तयति. नाम्ना तस्य सामर्थ्यमाह **उग्रसेन**मिति. पूर्वं तु तस्य देशाधिपत्यं स्थितं यादवास्तु न मन्यन्ते, अधुना तु **यदूनां नृपमकरोत्.** यदूनामाधिदैविकरूप इति तदधीनाः सर्वे भगवत्कृतं मन्यन्ते ॥१२॥

अत एव विश्वासार्थं कृत्यधिकं वाक्यमप्युक्तवानित्याह **आह चे**ति.

आह चास्मान्महाराज प्रजास्त्वाज्ञसुमर्हसि ।
ययातिशापाद्यदुभिर्नासितव्यं नृपासने ॥१३॥

चकारान्मनसापि तं राज्ये स्थापितवान्. यादवानां विधेयत्वार्थमाह हे **महाराज अस्मान् प्रजाः आज्ञसुमर्हसी**ति. वयमेव **प्रजाः**, तुशब्देन सन्ततिरूपां प्रजां वारयति. तर्ह्यहमपि यादव इति प्रजास्वेवान्तर्भाव इति चेत्तत्राह **महाराजे**ति. खण्डमण्डलाधिपतित्वं पूर्वमपि स्थितमिति यादृशी पूर्वमाज्ञापना तादृशी भविष्यतीत्याशङ्क्य **महत्वमुक्तम्**. राज्ञा ह्यवश्यमाज्ञापनीया इति विधिवशादेवाज्ञापनं बोध्यते नत्वाज्ञाप्यत इत्यर्थः. ननु किं स्वगृहीतं राज्यं दीयते आहोस्वित् पूर्वसिद्धमेव परिपाल्यते? आद्ये स्वयमादौ राज्यं गृहीत्वा पश्चाद्देयम्, अतस्त्वमादौ सिंहासने उपविश. द्वितीयः पक्षस्तु कंसेन त्वया च निराकृतः. महाराजत्वं चाधिकं कंसस्थं प्रायेण, स तु तद्घातक एव भवति. नैकट्य एव तद्धर्मस्तस्मिन् प्रविशति. अतस्त्वयैव सिंहासने उपवेष्टव्यमित्याशङ्कायामाह **ययातिशापा**दिति. **यदुभिर्नृपासने नासितव्यम्.** यदुर्हि ज्येष्ठ एवासीत्, सचेत्पित्रा निवारितः ततः प्रभृति न मर्यादाराज्यम्. अर्जुनादयस्तु पुष्ट्या सार्वभौमा जाताः अत एव हताः, कंसोऽपि. भगवता तु तन्न कर्तव्यं, मर्यादार्थमवतीर्ण इति. ईश्वरत्वं ज्ञापयितुं कदाचित्परं पुष्टिमवलम्बते, राज्यं तु सर्वदा पुष्टिहेतुर्भवति. यो हि यद्वेशं करोति स तस्य सहजानेव धर्मान् गृह्णाति न तु केनचित्कदाचिदन्यथाकृतम्, अतोऽस्माभिः मुख्यशाखायामागतैः नासितव्यमेव.

लेखः

एवमाश्वास्येत्यत्र **अत** इति, स्वस्य राज्ये चिन्ताभावादित्यर्थः. **यदूनामाधिदैविके**ति, भगवानेतेषामा**धिदैविकरूपः** प्रवर्तको निवर्तक**श्चेति** हेतोरेते भगव**दधीना भगवत्कृतमे**व राजानं **मन्यन्ते** न त्वन्यमित्यर्थः ॥१२॥

आह चेत्यत्र **तद्घातक एवे**ति, महाराज**घातक एव स भवति,** महाराजो भवतीत्यर्थः. तत्र हेतुमाहुः **नैकट्ये**ति, मारणे घातकस्यैव **नैकट्य**मिति भावः ॥१३॥

भोजत्वादयश्च प्रान्तशाखाः, अत एव विवाह उपपद्यते. भगवान् सर्वेश्वर इति चरणाधिपत्यं कस्मैचिद्दद्यादपि; न तु स्वयं गृह्णीयात्, वैयर्थ्यादनीश्वरत्वापत्तेः सिद्धत्वाच्च ॥१३॥

तर्हि मया कथं ग्राह्यं, शापादीनां तुल्यत्वात् सामर्थ्याभावाच्चेति चेत्तत्राह **मयि भृत्य उपासीन** इति.

मयि भृत्य उपासीने भवतो विबुधादयः ।
बलिं हरन्त्यवनताः किमुतान्ये नराधिपाः ॥१४॥

अवश्यं हि साधारणत्वं भजता कश्चित्प्रभुः स्वीकर्तव्यः. स च कंसः स्थितः. तस्य पुत्राभावात् पितापुत्रयोरैक्याद् अग्रे अनुवृत्त्यभावात् पितरि समागतः. अतः स्थित एवानूद्यते, अतो ग्रहणदाने नाप्यपेक्ष्येते. क्रौर्याभावे नाङ्गीकरिष्यन्तीति चेत्तत्राह **मयि भृत्ये उप** समीपे **आसीने** सति **भवतः** भवते **विबुधादयो**ऽपि **बलिं** हरिष्यन्ति, ये मेर्वादिभूसम्बन्धेन भोगं प्राप्नुवन्ति. **अन्ये नराधिपाः** ये केवलं भूसम्बन्धिभोक्तारः ते **किं** वक्तव्याः! **अवनता** इति नम्रा, न तु प्रसादरूपेण प्रसन्नाः सन्तः. नरास्तु भूमिष्ठा एव स्थूलसंघाताभिमानिनः, देवास्तु सूक्ष्मेन्द्रियाद्यधिकारिणः. भगवान् ''भर्ता सन् भ्रियमाण'' इति श्रुतेः भरणीयोऽपि भवति. साधारणयादवत्वस्य क्रीडायां स्वीकृतत्वात् राजनि भृत्यत्वमुपपद्यते, यतः पुत्रत्वं वसुदेवे. लौकिक्येषा भाषा, सर्वथा भगवान् गोप्य इति फलिष्यति. **मन्निमित्तं** वा यो **भृत्यः** मदभिप्रेते स्थाने **उपासीनो** भवति तस्मै तुभ्यं **विबुधादयो**ऽपि **हरन्तीति** वास्तवोऽर्थः. एवं स निरुद्ध एव, अन्यथा अतिविरक्तः कदाचिद् ज्ञानार्थं वा प्रयत्नं कुर्यात्. अतो भगवान् स्वार्थमेव तं स्थापितवानिति भगवदर्थमेवेति निरोधः सिद्धः. ॥१४॥

सर्वेषां साधारणं निरोधमाह **सर्वानिति** पञ्चभिः.

सर्वान्स्वज्ञातिसम्बन्धान्दिग्भ्यः कंसभयाद् गतान् ।
यदुवृष्ण्यन्धकमधु-दाशार्हकुकुरादिकान् ॥१५॥

स्वा भक्ता **ज्ञातयः** गोत्रिणः, **सम्बन्धिनो** विवाह्याः, **स्व**शब्देन भ्रातरो वा बहव एव वसुदेवपुत्राः पित्रादयश्च. एते त्रिविधाः सात्त्विकादयः **दिग्भ्यः** समाहूय

लेखः

मयि भृत्य इत्यत्र राजनीति, राजनिमित्तं राजनिरूपितमित्यर्थः. **वसुदेवे** इति, वसुदेवनिरूपितमित्यर्थः ॥१४॥

स्वगेहेषु न्यवासयदित्युत्तरेण सम्बन्धः. **दिक्षु** वा **कंसभयाद्गतान्. दिग्भ्यः** इति चतुर्थी वा, भयेन दिश एवोद्देश्याः. अनेन पुनरागमनाभाव उक्तः. तत्र हेतुः **कंसभयाद्गतानि**ति— कंसो ह्यतिक्रूरात्मा तथैव लोके प्रसिद्धः. अत एव नन्द आह "योऽवधीत् स्वस्वसुस्तोकानि"ति. सर्वेषामेकमेव भयम्. षड्विधा यादवा अपि गणिताः **यदुवृष्ण्यन्धके**ति. **आदि**शब्देनान्येऽपि बहवस्तद्भेदाः सन्तीति ज्ञापितम्. तत्सम्बन्धिनो वा ॥१५॥

न केवलमाकारणमात्रेण पूर्वसिद्धदानं किन्तु अधिकमपि दत्तवानित्याह **सभाजितानि**ति.

सभाजितान्समाश्वास्य विदेशावासकर्शितान् ।
न्यवासयत्स्वगेहेषु वित्तैः संतर्प्य विश्वकृत् ॥१६॥

सभाजिताः सत्कारं प्रापिताः —अयं तेषां मानसो ह्यधिकः. ततः **समाश्वासनं** वाचनिकम्. ततः कायिकं वक्तुं तेषां श्रममाह **विदेशावासेन** परदेशस्थित्या **कर्शितान्** दुर्बलान् धनाद्यभावेन दीनान्वा. केवलगृहे स्थित्यापि[1] सुखं न भविष्यतीत्याशङ्क्य परदेशस्थित्या गतं धनादिकं ततोऽप्यधिकं सर्वेभ्यो दत्तवानित्याह **वित्तैः संतर्प्ये**ति. ननु राज्यस्थितं सर्वमेव द्रव्यं भक्षितं नाशितमिति कुत एतावद्दत्तवानित्याशंक्याह **विश्वकृदिति**— स विश्वमेव कर्तुं समर्थः, किं तेभ्योऽल्पदाने वक्तव्यमित्यर्थः ॥१६॥

एवं भगवत्कृतं दुःखाभाव-सुखभेदेन द्वयं निरूपितम्. अधुना तेषां प्रपञ्चविस्मृतिर्भगवदासक्तिश्च वक्तव्या, यतः स्वरूपे समागताः. स्वस्था हि सर्वे सर्वत्राधिकृता भवन्ति. एते गृहा भगवद्दत्ताइति पूर्वसम्बन्धस्त्याज्यः, स तु चिन्तात्मक इति पूर्वं तदभावो निरूप्यते. राजसा हि विषयैरेव तदासक्ता भवन्ति अतः प्रथमं तेषां भगवद्दत्तो विषयभोगो निरूप्यते. इयमेव प्रपञ्चविस्मृतिः, तस्य तथात्वं निरूपयता भगवदासक्तिस्ततो निरूप्यते. तस्य च फलं कालातिक्रम इति राजसत्वात् फलमपि निरूप्यते, परमैहिकम्. तत्र प्रथममाह **कृष्णसंकर्षणभुजैरि**ति.

कृष्णसंकर्षणभुजैर्गुप्ता लब्धमनोरथाः ।
गृहेषु रेमिरे सिद्धाः कृष्णरामागतज्वराः ॥१७॥

कृष्णसंकर्षणयोर्भुजाः— एकः फलात्मा अन्यो जीवं ब्रह्मणि सम्यगाकर्षति इति साधनरूपः; तयोः क्रियाशक्तयः सर्वपुरुषार्थसाधिकाः, ता हि नियतफलाः;

1. स्थित्वा इति पाठः.

अतस्ते सर्वे **गुप्ता लब्धमनोरथाश्च** जाताः दुःखाभावपूर्वकं सुखं प्राप्तवन्तः. अग्रेऽपि भयाभावाय गोपनम्. अन्यथानुभूतभयाः, कंससम्बन्धिनां जरासन्धादीनां विद्यमानत्वात्. अतो निश्चिन्ता अन्तर्बहिःखेदरहिता **गृहेषु रेमिरे**. इदं रमणं मुक्त्युत्तरकालीनमिव, तदाह **सिद्धा** इति. तत्तत्कामनया पीडितास्तथा रमणं कृतवन्त इति पक्षो निवारितः. चिन्ताभावायाह **कृष्णरामाभ्यां** सर्वतो **विगतज्वराः**; आध्यात्मिकादितापा मुक्तानामपि भवन्तीति तदर्थमुक्तं सिद्धानां तापाभावलक्षणम्. **कृष्णरामौ** फलसाधनभूतौ. अथवा तेषां संसारे भगवद्दत्ते आपाततो रमणमुक्त्वा निषेधति निरोधार्थं **कृष्णरामाभ्यां** कृत्वा **आगतः अगतो** वा **ज्वरो** येषाम्, गोपिकावत्सर्व एवैते विरहातुराः सर्वदा भवन्तीति. तासां तु गुणैरपि रमणं भवति, एतेषां तु तदपि नास्तीत्युभयोर्ग्रहणम् ॥१७॥

एतदेव साधयितुं भगवदासक्तिमाह **वीक्षन्त** इति.

वीक्षन्तोऽहरहः प्रीता मुकुन्दवदनाम्बुजम् ।
नित्यं प्रमुदितं श्रीमत्सदयस्मितवीक्षणम् ॥१८॥

अहरहः प्रतिदिनं **मुकुन्दवदनाम्बुजं वीक्षन्तः** प्रमुदिता जाताः. प्रतिक्षणमपूर्वैव[1] प्रीतिः अतः परमार्थज्ञानाभावेऽपि वस्तुसामर्थ्यादेव भगवन्मुखारविन्ददर्शनं नित्यमुदितं प्रीतिमुत्पादयति नित्यनूतनं नित्यनूतनाम्. वस्तुतस्तु रसस्यैवायं स्वभावः. आदौ प्रीतिस्तु आकाङ्क्षावशादिति वस्तु अरसभूतमेव, विषयबलाज्जायमाना तु प्रीतिः सर्वदैव जायते. अत एव लौकिकोपाख्याने सूपकारविद्यायां तथा रसः प्रसिद्धः, "रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दीभवती"ति श्रुतेश्च. **हीति** युक्तता लोकवेदसिद्धा, अन्यथा आनन्दमेव प्राप्यानन्दीभवतीति

लेखः

कृष्णसंकर्षणेत्यस्याभासे **तस्य तथात्वमिति**, **तस्य** प्रपञ्चस्य **तथात्वं** भगवद्दत्तत्वं निरूपयन्नियमेव प्रपञ्चविस्मृतिः इत्याहेति शेषः. व्याख्याने **अन्यथेति**, गोपनाभावे एतेषां **विद्यमानत्वात्** चिन्तां प्राप्नुयुरिति शेषः. **मुक्तानामपीति**, ये सत्यलोके स्थित्वा ब्रह्मणा सह मुच्यन्ते तेषां तापा भवन्ति, "यच्चित्ततोदः कृपयानिदंविदामि"ति वाक्यादित्यर्थः ॥१७॥

वीक्षन्त इत्यत्र **आदाविति**, पूर्वं तु कामवशात्कामिन्यादिषु प्रीतिर्भवति, भोगानन्तरं चेत्प्रीतिस्तदा कामिन्यादिविषयस्योत्तमत्वमित्यर्थः. **आनन्दमेवेति**,

१. र्वैव इति मु. पाठः.

वक्तव्यं स्यात्. अत एव कामशास्त्रोपयोगश्च; सहजश्च कामः इन्द्रियवदाकाङ्क्षारूपः न पुरुषार्थं साधयति. ननु विषयत्वेनात्रासक्तौ बन्धः स्याद् इत्याशङ्क्य **मुकुन्द** इति. तस्य रसरूपस्य मुखारविन्दस्य कदाचित्तिरोभावे प्रीता न भविष्यन्तीति आशङ्क्य **नित्यप्रमुदित**त्वमाह. तर्हि रसपुरस्सरमेवानन्दं जनयतीति रूपाद्यपेक्षार्थमन्यासक्तिः स्यात्— यद्यपि विषया दत्ताः तथापि कामः समुद्र इति "समुद्र इव हि कामः नैव हि कामस्यान्तोऽस्ति न समुद्रस्ये"ति श्रुतेः— अत आह **श्रीमदिति,** तल्लक्ष्मीयुक्तं सर्वविषयरूपम्. तथापि सर्वलौकिकसिद्धावपि धर्मार्थं भक्त्यर्थं ज्ञानार्थं च अन्यासक्तिरवश्यमपेक्षितेत्याशङ्क्याह **सदयस्मितवीक्षणमि**ति, दया धर्मस्थानीया, तदात्मको धर्म इति. स्मितं भक्तिस्थानीयं, वीक्षितं ज्ञानरूपम्. त्रितयमपि मुखारविन्दे वर्तत इति काण्डत्रयार्थमपि अन्यापेक्षा न युक्तेत्यर्थः ॥१८॥

एवं निरुद्धानां कालातिक्रममाह **तत्र प्रवयस** इति.

तत्र प्रवयसोऽप्यासन्युवानोऽतिबलौजसः ।
पिबन्तोऽक्षैर्मुकुन्दस्य मुखाम्बुजसुधां मुहुः ॥१९॥

अग्रे कालातिक्रमो न भविष्यतीति न वक्तव्यमेव, योऽपि विषयः कालेन भक्षितः सोऽपि तस्य मुखात् निष्कास्यते. तदाह ये **प्रवयसः** स्थिताः वृद्धाः. वार्धक्ये बहिःशरीरकान्तिः अन्तर्बलं च गच्छति, तदुभयमाह **युवानो**ऽपि जाताः **अतिबलीयस**श्चेति. अलौकिकसामर्थ्यात् तथात्वमाशङ्क्याह **पिबन्तोऽक्षै**रिति, **मुखाम्बुजसुधां पिबन्त** एव तथा जाताः. ननु सुधाया अपि न तथा साधकत्वं यतस्त्रिदशाः कालेन च ग्रासं प्राप्नुवन्ति, अत आह मोक्षदातु**र्मुकुन्दस्ये**ति. यो हि आत्मस्वरूपं प्रयच्छति स कालातिक्रमं कारयत्येव, तत्रापि तस्य **मुखं** प्रधानभूतम्, तत्राप्य**म्बुजं** परमशान्तं सर्वतापनाशकं स्वभावत एव तादृशधर्मयुक्तम्. तत्रत्या च सुधा अलौकिकी भवत्येवेति कालेन भक्षितपदार्थानामपि पुनरुद्गमनं युक्तमेव. तत्रापि **मुहु**रिति. अनेन तेषाममृतमयत्वमेव युक्तं, कियदेतद् यदतिबलिष्ठत्वादि! ॥१९॥

एवं सर्वेषां निरोधमुक्त्वा नन्दादीनां प्रस्थापनेन तामसानामप्युत्कर्षार्थं

लेखः

आनन्दविशेषो रसस्तं प्राप्यानन्दीभवतीति श्रुत्यर्थ इति भावः. **अत एवे**ति, तादृशरसोद्बोधार्थमेवेत्यर्थः. **इन्द्रियवदाकाङ्क्षारूप** इति, इन्द्रियवतः पुरुषस्य विषयाकांक्षारूप इत्यर्थः ॥१८॥

राजसप्रकरणे विशेषमाह **अथ नन्दमि**ति षड्भिः. भगवतैव षड्गुणैस्ते व्यावर्तिताः अतिबलेन, अन्यथा अव्यावृत्ता एव भवेयुरिति.

संभाषणार्थमुद्योगः पूर्वस्थापनमेव च ।
निराकृतिश्च बाधानां प्रेषणाज्ञापनं ततः ॥(४)॥
दानं च प्रीतिसंसिद्ध्यै गमनं चापि रूप्यते ॥

अथ नन्दं समासाद्य भगवान्देवकीसुतः ।
संकर्षणश्च राजेन्द्र परिष्वज्येदमूचतुः ॥२०॥

अथेति भिन्नप्रक्रमे. प्रामाणिकत्वं दासत्वं स्वामित्वं च निरूपितम्. पुनः प्रस्थानतासिद्ध्यै[१] नन्दसामीप्यमागतौ. **सम्यगासाद्य** पूर्ववदेव, भगवदिच्छाया बलिष्ठत्वात् पुत्रप्रतीतिर्दृढोत्पादितेति. अन्यथाशङ्काभावात् सम्यगेवासाद्य **भगवान्** सर्वसमर्थः, प्रत्यक्षदृष्टमप्यन्यथाकर्तुं समर्थः, प्रेषणार्थं, **संकर्षणश्च,** उभौ मिलि**त्वेदमूचतुः**. उभयोरप्यन्यपुत्रत्वेन तुल्यत्वात् समानभावं च ख्यापितवन्तौ. नन्वेवं किमिति कृतवान्, कथं गोकुलपर्यन्तं न गत इति चेत्तत्राह **देवकीसुत** इति. तर्हि बलभद्रः कथं न गत इत्याशङ्क्याह **संकर्षण** इति, **च**कारात्सोऽपि **देवकीसुतः**. तर्हि कथं रोहिणीसुत इत्याशङ्क्य तदुदरापादकं धर्मं सूचयितुं **संकर्षण** इत्याह. **राजेन्द्रे**ति महामन्त्रयुक्तानां राज्ञामयं धर्म इति बोधयति. **परिष्वङ्गः** विरहाभावाय स्वधर्मस्थापनार्थः, बालो हि दूरादागत्य पितरमालिङ्गते. **इदं** वक्ष्यमाणम् ॥२०॥

तदेवाह **पितरिति** त्रिभिः.

॥ रामकृष्णावूचतुः ॥

पितर्युवाभ्यां स्निग्धाभ्यां पोषितौ लालितौ भृशम् ।
पित्रोरप्यधिका प्रीतिरात्मजेष्वात्मनोऽपि हि ॥२१॥

आदौ पूर्वकृतस्य परिपालनस्याभिनन्दनमाह. **पितरि**ति संबोधनं पूर्ववत् तस्योपकारमनुवदति. **स्निग्धाभ्यां युवाभ्यां** यशोदानन्दाभ्यां **भृशं पोषितौ लालितौ** च आवाम्. यथा जनकः तथैव पोषकः, तद् वक्ष्यति. धर्मार्थमपि पालनं भवतीति

लेखः

अथ नन्दमित्यत्र प्रामाणिकत्वमिति, एतेन **पितर्युवाभ्यामि**त्यादिश्लोकत्रयस्यार्था उक्ताः. स्वामित्वे नन्दसमीपागमनं किमर्थमित्यत आहुः **पुनरि**ति, **सम्यक्** पूर्ववत्**स्थानं** स्थितिर्ययो रामकृष्णयोस्तत्ता**सिद्ध्यै** इत्यर्थः ॥२०॥

१. संस्थानतासिद्ध्यै इति मु. पाठः.

तद्व्यावृत्त्यर्थं **स्निग्धाभ्यामि**ति. पोषणमात्रं स्नेहेनापि भ्रात्रादिष्वपि संभवति एतदर्थमाह **लालिताव**िति. अल्पलालनं बालत्वाद् भ्रातृपुत्रादावपि भवति ततः आह **भृशमि**ति,स्वशरीरापेक्षयाप्यधिकं लालितौ. एतच्च लालनं पुत्र एव भवति. किञ्च न केवलं लालनं बाह्यमान्तरः स्नेहोऽप्यसाधारणः आवयोः कृत इति **पित्रोरप्यधिका प्रीति**रिति, **आत्मनोऽप्यधिकात्मजेषु पित्रोरेव** भवति. क्षेत्रजादिव्यावृत्त्यर्थ-**मात्मजेष्वि**त्युक्तम्. ''प्रजाह्यात्मनोऽन्तरतरे''ति श्रुतेः, लोकेऽपि स्वानिष्टं परं वाञ्छन्ति न पुत्रस्य, तदाह **ही**ति ॥२१॥

ननु सहजे पुत्रे एतदुचितं न तु कृत्रिम इत्याशङ्क्याह **स पिता सा च जननी**ति.

स पिता सा च जननी यौ पुष्णीतां स्वपुत्रवत् ।
शिशून्बन्धुभिरुत्सृष्टानकल्पैः पोषरक्षणे ॥२२॥

पितृत्वं पुत्रत्वं वा अन्नविकारत्वाद् आत्मत्वेन परिगृहीतान्तःकोशो भवति. तदन्नं साधारणं, तत्र यद्यन्य एवाभिमानं कुर्यात् तादृशं तदा तस्यैव भवति, अन्नस्य साधारणत्वात्. अन्यथा अन्योद्भवे भर्तरि भार्यायां च स्वाधिकस्नेहो न स्यात्. स्नेहश्च कालीयप्रसङ्गे परीक्षितः, न हि दृष्टे अनुपपन्नं नाम. अतः सिद्धमेव पुत्रत्वं च स्नेहानुभवाभ्याम्. ननु लोके तथा न प्रसिद्धिः, पुत्र एव परं तथा स्नेहाभावेऽपि प्रसिद्धिः, तत्राहतुः **यौ स्वपुत्रवत् पुष्णीतां**, लोकेऽपि स एव पिता सैव जननी इति प्रसिद्धिः. एकेन परिपालने उपचारोऽपि भवेत् न तु उभाभ्याम्. बहुभिरप्युपचारः तत्रापि पोषणे बाह्याभ्यन्तर्भावे पुत्र एव भवति चेत्तदा लोक इव स्वहृदयेऽपि सम्भवति. तत्रापि विशेषः **बन्धुभिः** सर्वैरेव **उत्सृष्टान्पुष्णीतः**. परित्यागे न दानरूपं परित्याजनं किन्तु **पोषरक्षणे**. पोषणं रक्षणं च एकवद्भावेन निरूपितम् अन्यतरसामर्थ्यनिराकरणाय, तत्रासमर्थैः सर्वथा ॥२२॥

एवं पूर्वसिद्धं पितृत्वं स्थापयित्वा सर्वस्वं च निवेद्य आज्ञापयति **यात यूयमि**ति.

यात यूयं व्रजं तात वयं च स्नेहदुःखितान् ।
ज्ञातीन्वो द्रष्टुमेष्यामो विधाय सुहृदां सुखम् ॥२३॥

यूयं सर्वे गोपालाः **व्रजं यात, वयं च** कार्यार्थं यास्याम इति चकारार्थः. भवन्तः कुत्र गमिष्यन्तीत्याशङ्क्य देवगुह्यत्वात् परोक्षेणाह **ज्ञातीन्वो द्रष्टुमेष्याम**

इति, गोपेष्वात्मभाव: प्रापित इति सर्वात्मकता तेषु सिद्धा, अतस्त एव ज्ञातयो भवन्ति ये यादवगोत्रजा:. अथवा **वयमिति** अस्मत्संबन्धिन: पुत्रादयोऽपि सर्वे भवतामेवेति वयं सर्वे भवतामेव ज्ञातय:, भवन्तश्चास्माकम्. अयमधिको वरो[१] दत्त:, अत एवाद्यापि गोकुलसम्बन्ध्येव भगवान् कीर्त्यते. विवाहादिष्वपि बलादेव विवाह:, भगवदिच्छयैव सर्वलोकानामपि तथा प्रतीति:, अत एव रुक्मिवचनं "**गोपाला**" इति, तथैव श्रुतावुपासनाकाण्डेऽपि मन्त्रा:. तस्माद्भवन्त एव ज्ञातय:. तथाप्येतेऽपि **सुहृद:**, अतस्तेषां **सुखं विधाय** पश्चादागमिष्याम:. **ज्ञातीनेव द्रष्टुं** न तु गोकुल इत्यपि. अत एव भगवान् वक्ष्यति "गतांश्चिरायितान् शत्रुपक्षक्षपणचेतस" इति. आगमने हेतु: **स्नेहदु:खितानिति**, नत्वन्यद्भयं भविष्यतीति भाव: ॥२३॥

एवं त्रयमुक्तम् अलौकिकं, लौकिकमपि बहु दत्तवान् इत्याह **एवं सान्त्वय्येति**.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

एवं सान्त्वय्य भगवान्नन्दं सव्रजमच्युत: ।
वासोऽलङ्कारकुप्याग्रैरर्हयामास सादरम् ॥२४॥

भगवानित्यङ्गीकारे सामर्थ्यम्. ननु कथमेवं पूर्वमर्थं स्थापितवान्? लीलार्थमेव हि तत्र गत:, सेवकाश्च ते, कस्तेषामनुरोध इति चेत्तत्राह **अच्युत** इति, स हि सर्वदा च्युतिरहित:, पूर्वधर्मपरित्यागे धर्मतश्च्युति: स्यात्. न केवलं गोपालानेवार्हयामास किन्तु **सव्रजमिति** स्त्रीणां पुरुषाणां च सर्वेषामेवार्थे वस्त्राण्याभरणानि च दत्तवान्. **कुप्याग्राणि** व्यवहारपात्राणि सुवर्णरजतातिरिक्तधातुमयानि. **सादरमिति** प्रत्येकं नामग्रहणेन गृहस्थवत्, न तु महाराजवत्[२] ॥२४॥

दानानन्तरं गताविति शङ्कां वारयितुमाह **इत्युक्त** इति.

इत्युक्तस्तौ परिष्वज्य नन्द: प्रणयविह्वल: ।
पूरयन्नश्रुभिर्नेत्रे सहगोपैर्व्रजं ययौ ॥२५॥

लेख:

यात यूयमित्यत्र गोपेष्वात्मभाव इति, गोपेष्वात्मत्वस्थापनात्**सर्वे** गोपा **आत्मानो** यस्य **तत्ता तेषु** तन्निरूपिता भगवत: **सिद्धे**त्यर्थ:. **अत** इति तेषामिति शेष:, तेषां गोपानां यादवा एव ज्ञातयो भवन्तीत्यर्थ:. तथा च मूले **व:** युष्माकं **ज्ञातीन्** यादवानित्यर्थ इति भाव: ॥२३॥

इत्युक्त इत्यस्याभासे **दानानन्तरमि**ति, दानानन्तरं तत: स्थलान्नन्द: पूर्वं ययौ, न तु **नन्दं** विहाय पूर्वमेव कृष्णरामौ गृहं गतावित्यर्थ:.

---

१. वाक्यो इति स. २. महाजनवद् इति स.

तौ कृष्णरामौ **परिष्वज्य नन्दः प्रणयविह्वलः** भगवद्दत्तसर्वार्थैः पूर्णः किञ्चिदपि वक्तुमसमर्थः ततः **अश्रुभिः नेत्रे पूरयन् गोपैः सह व्रजं ययौ.** भगवता गोपाला अपि प्रस्थापिताः, न तु मित्राणीव केचित् स्थापिताः ॥२५॥

एवमेषां निरोधमुक्त्वा वेदेन भगवतोऽपि निरोधमाह **अथे**ति यावदध्यायपरिसमाप्ति. तत्र प्रपञ्चविस्मृतिं पञ्चभिराह, शिष्टैर्वेदार्थासक्तिर्वक्तव्या.

अथ शूरसुतो राजन्पुत्रयोः समकारयत् ।
पुरोधसा ब्राह्मणैश्च यथावद्द्विजसंस्कृतिम् ॥२६॥

अथ सर्वकार्यसिद्ध्यनन्तरं शिशिरे **शूरसुतो** वसुदेवः, **राजन्नि**ति क्षत्रियाणामवश्यकर्तव्य इति ज्ञापनार्थं, **पुत्रयोः सम्यगकारयत् पुरोधसा** गर्गेण अन्यैश्च **ब्राह्मणैः**. क्षत्रियाणां पुरोहित एवोपदेष्टा. उपनयने मातामहप्राधान्यव्यावृत्त्यर्थं **शूर**पदम्. **यथावत्** स्वगृह्योक्तानुसारेण. **द्विजसंस्कृतिं** येन द्विजो भवति. चूडाकरणसंस्कारः पूर्वमेव जातः "काकपक्षधरावि"ति वचनाद्, उपनयनसंस्कारस्त्वत्र कृतः. "द्वादशे पशुकाममि"ति संवत्सरविचारेण तु एकादश एव भवति. काम्यपक्ष एवात्राश्रयणीयः, सप्रायश्चित्तमित्यन्ये ॥२६॥

ततस्तेभ्य उत्सवार्थं दक्षिणार्थं च दानानि दत्तवानित्याह **तेभ्य** इति.

तेभ्योऽदाद्दक्षिणा गावो रुक्ममालाः स्वलङ्कृताः ।
स्वलङ्कृतेभ्यः सम्पूज्य सवत्साः क्षौममालिनीः ॥२७॥
याः कृष्णरामजन्मर्क्षे मनोदत्ता महामतिः ।
ताश्चाददादनुस्मृत्य कंसेनाधर्मतो हृताः ॥२८॥

गवादय एव **दक्षिणा** विहिता वा, **रुक्ममाला**युक्ताः **सुष्ठु अलङ्कृताश्च**. **स्वलङ्कृतेभ्यश्च** विप्रेभ्यः **सम्पूज्य** विधानपूर्वकम् अयुतद्वयम् ॥२७॥

भगवज्जन्मनि रामजन्मनि च तावदन्यथा वा **या मनोदत्ताः**, **महामितिरि**ति स्मरणे पूर्वमेव सेत्स्यतीति, दाने वा, **ताः अनुस्मृत्य** ब्राह्मणेभ्यो**ऽदात्**. नन्वेतावत्यो

लेखः

अथ शूरसुत इत्यत्र **संवत्सरविचारेणे**ति, संवत्सरपूर्तिविचारेणेत्यर्थः. अस्मिन्पक्षे **द्वादशे** द्वादशसंवत्सरपूर्तौ त्रयोदश इत्यर्थः. **सप्रायश्चित्त**मिति, कालातिक्रमप्रायश्चित्तं कृत्वा संस्कारं कृतवान्, तथा च नित्य एव पक्षः सिद्ध इति भावः. आपदि कालातिक्रमे प्रायश्चित्तविधानाद्भगवति तथा वक्तुं नोचितमित्याशयेनान्य इत्युक्तम् ॥२६॥

गावः कुत्रत्या वसुदेवस्येति चेत्तत्राह **कंसेन** गृहलुण्ठनसमये **हृताः** ॥२८॥

ततोऽन्येन निरोधे कारितेऽपि स्वतोऽपि कर्तव्यमिति व्रतात्मकं नियमं पूर्वसिद्धत्यागापरपर्यायं स्वयं कृतवन्तावित्याह **ततश्चे**ति द्वाभ्यां, ग्रहणसमर्थनभेदेन.

ततश्च लब्धसंस्कारौ द्विजत्वं प्राप्य सुव्रतौ ।
गर्गाद्यदुकुलाचार्याद्गायत्रं व्रतमास्थितौ ॥२९॥

तदनन्तरमेव संस्कारदिनं परित्यज्य दिनत्रयं मासषट्कं संवत्सरमात्रं वा **सुव्रतौ** शोभनवेदव्रतयुक्तौ ब्रह्मचर्यनियमयुक्तौ वा. **यदुकुलस्यैवाचार्यो गर्ग** इति **गायत्रं व्रतं** सावित्रापरपर्यायं व्रत**मास्थितौ** जातौ ॥२९॥

नन्वेतस्य व्रतस्य काम्यत्वं, यथा सरस्वतीस्फूर्तिर्भवति, तदत्र प्रकृते नोपयुज्यत इति किमिति व्रतमास्थितावित्याशङ्कायामाह **प्रभवावि**ति.

प्रभवौ सर्वविद्यानां सर्वज्ञौ जगदीश्वरौ ।
नान्यसिद्धामलज्ञानं गूहमानौ नरेहितैः ॥३०॥

यद्यपि **सर्वविद्यानां प्रभवौ**. विद्यापेक्षाभावेऽपि स्वतोऽपि **सर्वज्ञौ**. मास्तु वा ज्ञानं, **जगदीश्वरौ** कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थौ, क्रियाशक्तिरेव सर्वोत्कृष्टेत्यर्थः. तथाप्यनन्यसिद्धं स्वतःसिद्धमेव ज्ञानं **नरेहितै**र्मानुषलीलाभिः **गूहमानौ** गोप्यं कुर्वाणौ **गायत्रं व्रतमास्थितावि**ति पूर्वेणैव सम्बन्धः. सर्वज्ञता ब्रह्मविदामिव कृत्रिमापि भवतीति **नान्यसिद्धे**त्युक्तम् ॥३०॥

एवं प्रपञ्चविस्मरणात्मकं निरोधमुक्त्वा आसक्त्यात्मकं निरोधमाह **अथो** इति विंशत्या. ततो द्वाभ्यां प्रत्यापत्तिर्वक्ष्यति, अन्यथाग्रे क्रियमाणो निरोधः कर्तृरहितः स्यात्. आत्मैकविंश इति नखस्थानीया एते धर्मा भगवतो निरूपिताः.

अथो गुरुकुले वासमिच्छन्तावुपजग्मतुः ।
काश्यं सान्दीपनिं नाम ह्यवन्तीपुरवासिनम् ॥३१॥

अवश्यं हि गुरुकुल एव विद्याग्रहणम्, अतो **गुरुकुले वासमिच्छन्तौ** जातौ. तत ईश्वरत्वात्कश्चिद्गुरुः स्वयमुपस्थितः भगवता वा कल्पित इति शङ्कां वारयितुम् **अथ जग्मतुः काश्यमि**ति. **सान्दीपनिरि**ति, सन्दीपनस्यापत्यं सान्दीपनिः, अत इञ्; पितृनाम्नैव तस्य प्रसिद्धिः. **काश्य** इति एकदेशग्रहणेन काश्यपगोत्रजः. **काश्यो** वा स्वतन्त्रो गोत्रप्रवर्तकः, "काश्यः कुत्सो गृत्समद" इति गृत्समदात् शौनकः. तथा काश्यस्यापि ब्रह्मवंशजनकत्वं यद्यपि विशेषतो नोक्तं तथाप्यवगम्यते. केचन ऋषयः पितृनाम्नैव प्रसिद्धा इति सन्दीपन एव निरुक्तः, सम्यग् दीपनं बुद्धेर्यस्मादिति.

अवन्तीपुरं तु शैवं महाकालस्थानम्, तत्रापि यथा मुक्तिर्भवति. सोऽपि तीर्थवासेन विरक्तो महान् ॥३१॥

तत्र गत्वा यथा गुरुवृत्तिः कर्तव्या तथैव कृतवन्तौ, नत्वैश्वर्येण धनादिना वा विद्याग्रहणमित्याह **यथोपसाद्येति**.

यथोपसाद्य तौ दान्तौ गुरौ वृत्तिमनिन्दिताम् ।
ग्राहयन्तावुपेतौ स्म भक्त्या देवमिवादृतौ ॥३२॥

अरिक्तहस्ततया "ब्रह्मचर्यमागामुपानयस्वे"त्यादिवाक्याद् **उपसाद्य** निकटे गत्वा. आवश्यकधर्मपरिग्रहणार्थमाह **दान्ताविति**. नन्वेवं किमर्थं कृतवन्तौ तत्राह **गुरौ वृत्तिमनिन्दितां ग्राहयन्तौ**, लोके गुरावेवं गुरुशुश्रूषयैव नीचतयैव विद्या ग्राह्येति शिक्षयितुम्. निन्दिता वृत्तिर्धनादिना. अत एव **उपेतौ स्म**, यतः उपनीतौ= गुरुणा समीपे आनीतौ. अत्र प्रमाणं न वक्तव्यं, गुरु कथमेवं धाष्टर्यं कृतवानित्यपि नाशङ्कनीयम्, यतः **स्मेति** प्रसिद्धम्. भगवदिच्छा तत्र युक्तिः. ततो ग्रहणानन्तरं विहितभक्त्या परमादरयुक्तौ, प्रेम बहिरपि, भक्तिधर्मोऽपि पदद्वयेनोक्तः, **देवमिव** आराध्येष्टदेवतामिव **उपेतौ स्म** बहिरन्तश्च समीपं गतौ स्मेत्यर्थः ॥३२॥

ततो गुरुकर्तव्यमाह **तयोरिति** द्वाभ्याम्.

तयोर्द्विजवरस्तुष्टः शुद्धभावानुवृत्तिभिः ।
प्रोवाच वेदानखिलान्साङ्गोपनिषदो गुरुः ॥३३॥

स हि **द्विजवरः** ब्राह्मणश्रेष्ठः सर्वधर्मज्ञः प्रथमतस्तत्स्वरूपमज्ञात्वापि **तयोरनुवृत्तिमेव** दृष्ट्वा सन्तुष्टो जातः, तत्रापि **शुद्धेन भावेन** सहिता अनुवृत्तिः. अत्र भावशुद्धिः अलोलुपत्वादिः प्रसादातिरिक्तकामनाभावश्च. ततो विद्यार्थमागताविति आदौ सर्वानेव **वेदान् प्रोवाच** चत्वारो वेदा बहुशाखाविततः, ततोऽ**ङ्गानि** षट् **उपनिषदश्च** ब्रह्मप्रतिपादिकाः. यतो **गुरुरुपदेष्टा**, नत्वीश्वरः ॥३३॥

अन्या अपि विद्या उक्ता इत्याह

सरहस्यं धनुर्वेदं धर्मान्न्यायपथांस्तथा ।
तथा चान्वीक्षिकीं विद्यां राजनीतिं च षड्विधाम् ॥३४॥

सरहस्यमिति, रहस्यमन्त्रसहितं **धनुर्वेदं** पाठितवान्. क्षत्रियाणामिदं दृष्टोपयोगि उपवेदेषु, नान्ये. **धर्मान्** धर्मशास्त्रम्, **न्यायपथान्** न्यायमार्गान् सामादीन्, **आन्वीक्षिकी** आत्मविद्या साङ्ख्ययोगादिरूपा. **राजनीतिरन्या**, सा **षड्विधा** सन्धि-विग्रह-यानासन-द्वैधीभाव-संश्रयाख्या ॥३४॥

एतावतीं विद्यां कियता कालेन पठितवन्तावित्याह **सर्वं तदमरश्रेष्ठाविति.**

सर्वं [1]तदमरश्रेष्ठौ सर्वविद्याप्रवर्तकौ ।

सकृन्निगदमात्रेण तौ सञ्जगृहतुर्नृप ॥३५॥

यावद्गुरुणोक्तं तावत्**सकृन्निगदमात्रेणैव** एकवारश्रवणेन **सञ्जगृहतुः** सम्यग् गृहीतवन्तौ— यावता कालेनानध्यायादिपरिपालनेन गुरुस्तावतीं विद्याम् उच्चारितवान् तावता कालेन गृहीतवन्तौ. **नृपेति** सावधानार्थं सम्बोधनम् ॥३५॥

किञ्च कौतुकविद्याअपि कलारूपाः पठितवन्तौ इत्याह **अहोरात्रैः** इति.[2]

अहोरात्रैश्चतुःषष्ट्या संयतौ तावतीः कलाः ।

गुरुदक्षिणयाचार्यं छन्दयामासतुर्नृप ॥३६॥

चतुःषष्टिसङ्ख्यायुक्तैरहोरात्रैः संयतौ नियतौ **तावतीः कलाः** चतुःषष्टिकलाः **सञ्जगृहतुरिति** संबन्धः. एकस्यां कलायां बहवः प्रकारा बहवो ग्रन्थाः शिक्षा च महती, तथाप्येका कला एकस्मिन्नेव दिवसे शिक्षिता.

ताः कलाः शैवतन्त्रोक्ता लिख्यन्ते. गीतं[1] वाद्यं[2] नृत्यं[3] नाट्यम्[4] आलेख्यं[5] विशेषकाछेद्यं तन्दुलकुसुमबलिविकाराः[6] पुष्पास्तरणं[7] दशनवसनानां गणाः[8] मणिभूमिकाकर्म[9] शयनरचनम्[10] उदकवाद्यमुदकाघातः[11-12] चित्रा योगाः[13] माल्यग्रथनविकल्पाः[14] शेखरापीडयोजनं[15] नेपथ्ययोगाः[16] कर्णपत्रभङ्गाः[17] गन्धयुक्तिः[18] भूषणयोजनम्[19] ऐन्द्रजालाः[20] कौचुमारयोगाः[21] हस्तलाघवं[22] शित्रं[23] शाकयूश्च[24] भक्षविकारक्रियाः[25] पानकरसरागासवयोजनं[26] सूचीवानकर्म[27] सूत्रक्रीडा[28] वीणाडमरुकवाद्यानि[29] प्रहेलिका[30] प्रतिमाला[31] दुर्वाचकयोगाः[32] पुस्तकवाचनं[33] नाटकाख्यायिकादर्शनं[34] काव्यसमस्यापूरणं[35] पत्रिकाचित्रवाचनविकल्पाः[36] तर्ककर्माणि[37] तक्षणं[38] वास्तुविद्या[39] रूपरत्नपरीक्षा[40] धातुवादः[41] मणिरागज्ञानम्[42] आकरज्ञानम्[43] वृक्षायुर्वेदयोगाः[44] मेषकुक्कुटलावकयुद्धविधिः[45] शुकसारिकाप्रलापनम्[46] उत्सादनम्[47] केशमार्जनकौशलम्[48] अक्षरमुष्टिकाकथनं[49] म्लेच्छितकलिकल्पाः[50] देशभाषाज्ञानं[51] पुष्पशकटिका[52] निमित्तज्ञानं[53] यन्त्रमातृकाः[54] धारणामातृकाः[55] सम्पाद्यं[56] मानसी काव्यक्रिया[57] अभिधानकोशः[58] छन्दोज्ञानं[59] क्रियाविकल्पाः[60] —एताश्चतुःषष्टिकलाः. तत्र [1]गीतं गानशिक्षा गीतकरणं रागभेदाः तानमात्रादिरचनाप्रकाराः साधकबाधकतानानां परिज्ञानं च; एवमेकस्य गीतस्य. तथैव [2]वाद्ये चतुर्विधे वादनसामर्थ्यं ज्ञानं तदाधाररचनं तद्भेदानां

१. नरवरश्रेष्ठौ इत्यपरेषां पाठः. २. इति ग. पाठे अधिका उत्थानिका उपलभ्यते.

करणज्ञाने साधकबाधकज्ञानं च. पञ्च पञ्च प्रकाराः सर्वत्र. [3]नृत्यमभिनयमात्रम्. [4]नाट्यं ग्रन्थरूपम्. [5]आलेख्यं चित्रकर्म, तत्र ये विशेषाः के= कुत्सिता भ्रामकाश्च सर्वे कप्रत्ययेन सङ्गृहीताः, तेषां छेद्यं= यथा छेदनप्रकारेण छिन्ने वैचित्री भवति तथा चणकद्विदले हस्तिशतलेखनम्. [6]तन्दुलानां कुसुमानां च आरात्रिकाकारेण बलिविकाराः,[1*] पूजायां वा स्थापनप्रकाराः. [7]पुष्पास्तरणं स्पष्टं शय्यादौ. [8]दशनवसनानां गणाः= भेदाः, अधरोष्ठयोः लक्षणपरिज्ञानं, रसार्थमेषा परीक्षा. [9]मणिभूमिकाकर्म यथा मणयो यत्र यादृशा अपेक्ष्यन्ते तत्र यादृशी भूमिः तत्क्रियारचनम्. [10]शयनं शय्यास्थानं तस्य रचनम्. [11]उदकवाद्यं यथा स्वत एवोदके नाना शब्दा भवन्ति. [12]उदकाघात उदकस्याघातो यथा आहतमुदकमुपरि गच्छति अधो गच्छति विपरीतं च गच्छति. [13]चित्रा योगाः विचित्राः प्रकाराः सर्वत्र. [14]माल्यानां पुष्पाणां रचने विविधाः प्रकाराः. [15]शेखरस्य= शिरसः केशबन्धस्यापीडयोजनं= केशादीनां पुष्पाणां मुकुटस्य वा योजनप्रकाराः. [16]नेपथ्ययोगाः नटशालादिनिर्माणप्रकाराः. [17]कर्णपत्राणां कर्णाभरणपत्राणां भङ्गा अनेके भेदाः. [18]गन्धयुक्तिश्चन्दनादेः पुष्पवस्त्राद्याकारेण निर्माणं नानासुगन्धनिर्माणं वा. [19]भूषणानां योजनप्रकाराः. [20]ऐन्द्रजालाः मायादर्शनप्रकारा, यासु मायासु कल्पिका युक्तिर्न संभवति. विंशतिभेदा एते. [21]कौचुमारयोगा बहुरूपप्रकाराः. [22]हस्तलाघवं स्पष्टम्. [23]शित्रं [24]शाकयूश्चेति प्रायेण स्थौल्यसङ्कोचौ. [25]भक्षविकाराणां क्रिया. [26]पानकानां ये रसाः रागाश्च तेषामासवता मादकता, भावप्रधानो निर्देशः; पानकानां रसानाम् आसवानां रागाणां योजनप्रकाराः. [27]सूचीवानकर्म सूच्या वानं सीवनमिव परिवयनम्. तत्र नानाप्रकाराः. [28]सूत्रक्रीडा सूत्रैर्नानाविधा क्रीडा, यथा भ्रमरादिभ्रामणं सूत्रोपरि चलनं च, बन्धनप्रकारो वा. [29]वीणाडमरुकवाद्यानां वादनप्रकाराः. [30]प्रहेलिका कूटवाक्यपरिज्ञानम्. [31]प्रतिमाला सर्ववस्तूनामनुकरणम्. [32]दुर्वाचकयोगाः चतुरक्षरादिप्रकाराः. [33]पुस्तकवाचनम्= अतिशीघ्रमविद्यमानानपि वर्णान् योजयित्वा वाचनम्. [34]नाटकाख्यायिकादर्शनम् दीपव्यवधायके पटे नाटकाख्यायिकाया नाटकस्थितकथायाः प्रदर्शनम्. वस्त्रादिनिर्माणे वा नाटकस्थकथायाः प्रदर्शनम्. [35]काव्ये अविद्यमाने पदे तस्यैव पदस्य पूरणं, कविकर्मानुसारेण वा समस्यापूरणम्. [36]पत्रिकाचित्रवाचनविकल्पाः नानाविधाः पत्रिका व्यस्तसमस्ताः मेषयुद्धादिप्रकाराः तत्र विविधाः कल्पाः. [37]तर्ककर्माणि तर्केणैव सर्वपदार्थज्ञानं कृतिश्च. [38]तक्षणं

१.* आवलिविकाराः इति ग. पाठः.

चन्द्रावर्तादिप्रकारेण शिल्पभेदाः. [३९]वास्तुनिर्माणं वास्तुविद्या गृहनिर्माणप्रकाराः. [४०]रूपरत्नपरीक्षा[१*] रूपाणां रत्नानां च परीक्षाः. इति विंशतिः. [४१]धातुवादः प्रसिद्धः. [४२]मणिरागज्ञानं मणिषु रागनिर्माणज्ञानम्. [४३]आकरज्ञानं राशिं दृष्ट्वैव एतावदस्तीति. [४४]वृक्षाणामायुर्वेदयोगाः वृक्षाणां जीवनप्रकारः, फले निर्बीजिकरणम्, वृक्षान्तरात्फलान्तरोत्पादनमित्यादि. [४५]मेषाणां कुक्कुटानां लावकानां युद्धप्रकाराः. [४६]शुकसारिकादीनामशिक्षितानामपि प्रकर्षालापनप्रकाराः. [४७]उत्सादनं यस्य कस्यचिदुद्वेगोत्पादनेनान्यत्र गमनप्रकारः. [४८]केशमार्जनकौशलं स्पष्टम्. [४९]अक्षरमुष्टिकाकथनम् अक्षराणां परदृष्टानां मुष्टिकादीनां च मुष्टिकास्थितपदार्थानां कथनम्. [५०]म्लेच्छितकलिकल्पाः म्लेच्छितकल्पाः कलिकल्पाश्च, यथा शत्रुर्म्लेच्छितो भवति सर्वैः सह कलिं च करोति तथोपायाः. [५१]देशभाषाज्ञानं सर्वदेशेषु भाषापरिज्ञानम्. [५२]पुष्पशकटिका पुष्पैरेव शकटविमानादिरचनाप्रकारः. [५३]निमित्तज्ञानं काकादिभिरन्यैर्वा भाव्यर्थपरिज्ञानम्. [५४]यन्त्रमातृका प्रतिमादिचालनं भाषणादिप्रकाराः करपल्लवी वा. [५५]धारणामातृका वर्णादिपदार्थधारणमेव. आदिमध्यान्तवर्णभेदेन मातृकावर्णपरिज्ञानं भवति. [५६]संपाद्यमभेद्यस्यापि हीरकादेः द्वैधीकरणप्रकारः. [५७]मानसीकाव्यक्रिया मानसिकसमस्यापूरणम्. [५८]अभिधानकोशः अन्योच्चारितानां सर्वेषामेव पदार्थानां क्रमेण पुनरुच्चारणसामर्थ्यम्. पुरुषं दृष्ट्वैव तस्य [५९]छन्दोज्ञानमयमेवं वृत्त इति, कामिन्यादीनां मनोज्ञानं वा. [६०]क्रियाविकल्पाः सर्ववस्तुषु या प्रक्रिया पूर्वसिद्धा तामनादृत्य अन्यैरेव प्रकारैस्तन्निर्माणम्. विंशतिः. [६१]कामादिसान्त्वनम् [६२]उद्बुद्धानां शमनम्, तदुद्बोधः. [६३]शत्रुमित्रकरणम्, [६४]सर्ववस्तूनामन्यथाकरणम्. प्रतिभानेन च तत्र उक्ताः पूर्वोक्तेषु वा अवान्तरभेदाः क्वचिद्ग्राह्याः.

ततो "गुरवे तु वरं दत्वे"ति स्मृतेः **गुरुदक्षिणा** देयेति दक्षिणार्थं मनस्यभीष्टा दक्षिणा ग्राह्येति **छन्दयामासतुः** स्वाच्छन्द्यं संपादयामासतुः. विद्यासमाप्त्यनन्तरं या दक्षिणा गुरवे दीयते तया कृत्वा स्वाच्छन्द्यम्, "उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः सरहस्यं तदङ्गं च तमाचार्यं प्रचक्षत"इति. यद्यप्युभौ वरद्वयं न दास्यतः तथापि उभयोः कर्तव्यमिति स्वच्छन्ददानं निरूप्यते. **नृपेति** तादृशा राज्ञः स्थाने समागत्य कृतार्थाः भवन्तीत्यनुभवार्थम् ॥३६॥

गुरुस्तु बहूनेवाध्यापयामास, नैवंविधौ कदाचिद् दृष्टौ, अत

१.* परीक्षकाः.

एताभ्यामलौकिकमपि दातुं शक्यत इति निश्चयं कृतवान्. "पत्नी च कदाचिद्गां दुहन्ती दोहनपात्रं विस्मृत्य सन्ध्यावन्दनार्थं नियमेनोपविष्टं भगवन्तं प्रार्थितवती तदा भगवान् नियमोल्लङ्घने गुरुपत्नीवाक्योल्लङ्घने च दोषं दृष्ट्वा उपविश्यैव हस्तं प्रसार्य दोहनपात्रं दत्तवान्, तदा अनुत्थितं भगवन्तं स्वनिकटे दोहनपात्रं च दृष्ट्वा विस्मिता आसीदि"ति पुराणान्तरप्रसिद्धिः. अत उभयोरपि भगवन्माहात्म्य-परिज्ञानादलौकिकमेव याचनीयमिति निश्चित्य तथा याचितवानित्याह **द्विज** इति.

द्विजस्तयोस्तं महिमानमद्भुतं
संलक्ष्य राजन्नतिमानुषीं मतिम् ।
सम्मन्त्र्य पत्न्या स महार्णवे मृतं
बालं प्रभासे वरयांबभूव ह ॥३७॥

स हि यज्ञादीन् चिकीर्षुः, पुत्रवांश्चाधिकारी, तस्मिन्नुपहते स्थगितः— विचार्य च **वंशकर्तृत्वेन** तथोत्पादितः, ईश्वरकृपाव्यतिरेकेण कालेन तदुपहतम्, तथापि वेदप्रामाण्याद् ईश्वरेच्छामज्ञात्वा कालं प्रतीक्षन्नेव स्थितः— अतस्तस्य तदावश्यकमिति ज्ञापयितुं **द्विज** इत्युक्तं तृतीयजन्मापेक्षितम्. **तयो** रामकृष्णयोः **तदलौकिकं महिमानं** श्रुतं च दृष्टं च. **अद्भुतश्च** महिमा दृष्टः— तौ पाठयन् स्वयं ज्ञातवान्. न हि पूर्वमयमेतादृशः स्थितः, अन्यथा ऋषिभ्योऽप्यधिकः स्यात्. अत-स्तौ पाठयन् स्वयमेव पठितवान्. वैपरीत्यमेवाद्भुतत्वं संलक्षयति. स हि ऊहापोहकुशलः स्वस्य पश्चात् पूर्णज्ञानं भगवत्कृतमेवेति निश्चित्य लौकिकन्यायेन भगवदिच्छयैव गुरूत्वं स्थापयितुं **महार्णव** एव **मृतं** पुत्रमयाचतेति संबन्धः. **राजन्निति** क्लिष्टत्वादादरेण सम्बोधनं विश्वासार्थं च. किञ्च **मतिरप्यलौकिकी**, नत्वलौकिक एव भावः मन्त्रादिष्विव. अतः असाध्यमपि ज्ञास्यति करिष्यतीति निश्चित्य, दृष्टादृष्टस्य साधनस्य विद्यमानत्वात्. **पत्न्या** च यज्ञकर्मयोग्यया **सम्मन्त्र्य** एतदेव प्रार्थनीयमिति. यतः **स** प्रसिद्धः तदाकाङ्क्षी, तदुपपादितम्. **महार्णवे** न तु सागरे **मृतम्.** ते प्रभासयात्रायां बहव एव गताः. तत्र सकुटुम्बगमने अग्निकुण्डे बालको निमग्नः. ननु कोऽयं निर्बन्धः, मृत्युकालादीनां सत्यतापि स्यात्? तत्राऽऽह **बालमिति**, तत्रोत्पन्नः स्नेहः स न निवृत्त इति. **प्रभासे** मृतः पुनर्नायातीति मन्त्रादिनापि तदानयनमशक्यं **वरयाम्बभूव** वरत्वेन याचितवान्, "गुरवे तु वरं दद्यादि"ति वरदानमावश्यकमिति. **हेत्याश्चर्यम्**— विदितसर्वतत्त्वः, "किं प्रजया करिष्याम"इति श्रुतिवशात्प्रजाव्यतिरेकेणापि कार्यसिद्धेः तथापि, याचितवानिति. निरोधो भगवता

तस्यापि कर्तव्य इति तथैव याचितवान् ॥३७॥

भगवान् पुनः अलौकिके दत्ते स्वात्मानं ज्ञास्यतीति गोपनार्थं प्रवृत्तोऽपि कालादिमर्यादापि दूरीकर्तव्येति कदाचिन्न करिष्यतीत्याशङ्क्याङ्गीकारमाह **तथेति.**

तथेत्यथारुह्य महारथौ रथं
प्रभासमासाद्य दुरन्तविक्रमौ ।
वेलामुपव्रज्य निषीदतुः क्षणं
सिन्धुर्विदित्वार्हणमाहरत्तयोः ॥३८॥

ओमिति वक्तव्ये आकृतिरेव तुल्येति समानरूपं सङ्घातान्तरमेवानेष्यतीति शङ्काव्यावृत्त्यर्थं य एव सङ्घातः यादृशस्तथैवानेतव्य इति **तथेति** प्रतिज्ञोक्ता. एतच्च शिष्यभावे न संभवतीति ऐश्वरं भावमाश्रित्य भिन्नप्रक्रमेण तदर्थं गतावित्याह **अथेति. महारथं** सर्वगामिनं स्वयमपि **महारथौ** रथशिक्षायां निपुणौ एकमेव **रथं समारुह्य** पर्यायेण सारथित्वं सम्पादयन्तौ शीघ्रमेव **प्रभासमासाद्य.** समुद्रादपि भयाभावायाह **दुरन्तो विक्रमो** ययोरिति. ततः समुद्र**वेलामुपव्रज्य** ज्ञापयन्ताविव **क्षणमुपसेदतुः.** ततः सिन्धुर्भगवन्तं जामातरं गृहपतिं बन्धकं च ज्ञात्वा **अर्हणं** पूजां **तयोराहरत्.** त्रेधा हि तस्य बालकस्य विनियोगः— वियोजनं प्राणापानयोः समुद्रेण कृतम्, शारीरभागः पञ्चजनेन गृहीतः, अन्यश्च सङ्घातः कर्मवशात् पूर्वसूक्ष्मावस्थया सहितः सजीवः यमपुर्यां तिष्ठति. भगवता च तावती भूमिः समुद्रात् पृथक्कर्तव्या च. लीलौपयिकं भवति न वेति विचारणीयम् ॥३८॥

अतः समुद्रं प्रति भगवान् किञ्चिदुवाचेत्याह **तमाहेति.**

तमाह भगवानाशु गुरुपुत्रः प्रदीयताम् ।
योऽसाविह त्वया ग्रस्तो बालको महतोर्मिणा ॥३९॥

ननु पूजया तत्सापेक्षः सङ्कोचं च प्राप्य कथमेवमाज्ञां दत्तवानित्याशङ्क्याह **भगवानिति**— स हि सर्वेश्वरः सेवके च कः सङ्कोच इति तथैवाज्ञां दत्तवान् **आशु गुरुपुत्रः प्रदीयतामिति.** मम स्थाने क्वेति न वक्तव्यम्. आधिदैविकं रूपं प्रदर्शयन्नाह **योऽसाविति, असौ यः** अभिज्ञानार्थं प्रदर्शनम्. कया क्रियया मयि समागत इत्याशङ्कायामाह **त्वया ग्रस्त** इति. ननु ब्राह्मणः कथं ग्रासमर्हति तत्राह **बालक** इति, अनुपनीतः. ग्रासश्च न बुद्धिपूर्वक इत्याह **महतोर्मिणेति,** महता तरङ्गेण, तस्मान्न दण्ड्यः ॥३९॥

प्रत्युत्तरमाह समुद्रो **नैवाहार्षमिति.**

॥ समुद्र उवाच ॥

नैवाहार्षमहं देव दैत्यः पञ्चजनो महान् ।
अन्तर्जलचरः कृष्ण शङ्खरूपधरोऽसुरः ॥४०॥
आस्ते तेनाहृतो नूनं

शरणागतः पञ्चजन इति भगवता ऐक्यात्समुद्र एव निरुक्तः **त्वया ग्रस्त** इति. स तु स्थित्यर्थमेवाहं प्रयोजकः न तु तत्कृतगुणदोषयोरिति तं पृथक्कृत्य आत्मनो दोषाभावमाह तं, **नाहमहार्षम्**. ऊर्मयः कराः भवन्ति, न हि कराः हरणे साधनत्वेन समागताः किन्तु स्वभावत एव निमित्तत्वं प्राप्ता इति भगवद्वाक्यम्. अन्यथा दूराज्जलचरं दृष्ट्वा बालकः पलायनमपि कुर्यात्. अर्थान्निमित्तत्वं जातमिति न दोष इति समुद्राभिप्रायः. साक्षात्कर्तारं निर्दिशति **दैत्यः पञ्चजन** इति. अत्र विश्वासार्थं **देवे**ति संबोधनम्, प्रत्यक्षेणापि सर्वं पश्यति. स कथं न निराकृत इत्याशङ्कायां **दैत्य** इत्याह. दैत्या हि बहवो बलिष्ठाश्च, तत्राप्ययं **पञ्चजनः** वसवो रुद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरुत इति पञ्चजनानामयमेक एवानुकल्प इति पञ्चजनरूपः, पञ्चसंवत्सरात्मको वा दैत्यरूपः, पञ्चपर्वाऽविद्यारूपो वा. तत्रापि **महान्** मयापि मारयितुमशक्यः. तमसाध्यं निरूपयितुं स्वरूपमुक्तवान्, स्थानं निरूपयति **अन्तर्जलचर** इति, जलमध्य एव चरति न कदाचिदपि बहिरायाति. रूपमात्रं दृष्ट्वा भीतः सन् परमन्यथा वदति, न तु स्वरूपं जानातीति शङ्कां वारयितुमाह **कृष्णे**ति. परिज्ञानार्थमाकृतिमाह **शङ्खरूपधर** इति. अन्यथापि स वध्य इति वक्तुं तद्दोषमाह **असुर** इति, सुरप्रतिपक्षी. यदि पश्चात्सोऽपि मृतः स्यात्तदापि व्याजत्वं संभवेत् तन्निवृत्त्यर्थमाह **आस्त** इति, जीवतीत्यर्थः. **तेनैवाहृतः**. तत्र प्रविश्यान्यो मारितवानिति शङ्काव्यावृत्त्यर्थमाह **नूनमि**ति. नयनमात्रं निषिद्धमिति संयोगविभागः अनेनैव कृत इति एतस्मात्संयोगः बलं च गृहीतम् ॥४०½॥

॥ श्रीशुक उवाच ॥

तच्छ्रुत्वा सत्वरं प्रभुः ।
जलं प्रविश्य तं हत्वा नापश्यदुदरेऽर्भकम् ॥
तदङ्गप्रभवं शङ्खमादाय रथमागमत् ॥४१॥

कालादीनां परिणामहेतूनां प्रतिलोमतया निवेशनार्थम् उत्तरं कार्यं भगवान् गृह्णातीत्याह **तच्छ्रुत्वा** दूरे मा गच्छत्विति (**सत्वरं**!) शीघ्रमेव (**प्रभुः**!) समर्थत्वात्स्वयमेकाकी समुद्रजलं **प्रविश्य** पलायमानं **तं** शङ्खोद्धारे हत्वा **तदुदरे**

तं बालकं प्राणेन्द्रियजीवसङ्घातरूपं **नापश्यत्**, ततः कर्मवशादन्यत्र गत इति. ननु गच्छत्येवान्यत्र, किमिति जिज्ञासया दृष्टः हतो वेत्याशङ्क्याह **अर्भकमिति**, बालकत्वात् न कर्माधीनो भविष्यतीत्याशङ्क्य दर्शने हेतुः; मारणे तु **तदङ्गप्रभवं शङ्खमादाये**ति. अत एव भगवतः शङ्खः पाञ्चजन्यः. तत्र स्थितान् सूक्ष्मानवयवान् प्रतिलोमतया मज्जनक्षणस्थितपर्यन्तान् विधाय तान्पुनः यमलोके स्थितदेहे निवेश्य तत्र स्थितान् प्रतिलोमतया पुनरुत्क्रमणावस्थास्थितान्कर्तुं **रथमा**गच्छद् यत्र बलभद्रः ॥४१॥

ततः संयमनीं नाम यमस्य दयितां पुरीम् ॥
गत्वा जनार्दनः शङ्खं प्रदध्मौ सहलायुधः ॥४२॥

ततः संयमनीं सम्यग्यमयति सर्वानिवेति मृत्युदेवतायाः **पुरीं**, **नामे**ति प्रसिद्धां यद्भयात्सर्व एव सन्मार्गरता भवन्ति. यद्यपि **यमस्य** बहूनि स्थानानि सन्ति तथापि सा **दयिता**. अभयार्थमाह **जनार्दन** इति, जनामविद्यामेव यत्रार्दयति तत्र का अन्यवार्ता ! तत्रापि **सहलायुधः** पातालस्यापि पतिः ॥४२॥

ततः समुद्रवद् यमस्यापि कृत्यमाह **शङ्खनिर्ह्रादमाकर्ण्ये**ति.

शङ्खनिर्ह्रादमाकर्ण्य प्रजासंयमनो यमः ।
तयोः सपर्यां महतीं चक्रे भक्त्युपबृंहिताम् ॥४३॥

शङ्खनादनं तु सर्वप्रबोधनार्थं, तत्रत्यावयवानां प्रेरणार्थं च. **प्रजानां संयमन** इति स्वाधिकारव्यावृत्त्यर्थं च भीतः सन् **तयोः महतीमे**व **सपर्यां** पूजां वैष्णवत्वाद् **भक्त्युपबृंहितां** चक्रे ॥४३॥

स हि कृतार्थः सन् आत्मानं कृतकृत्यं मन्यमानः सन् कार्यविशेषार्थमागत इति विज्ञाय स्वापराधनिवृत्तये तत् पृच्छति **उवाचे**ति.

उवाचावनतः कृष्णं सर्वभूताशयालयम् ।
लीलामनुष्य हे विष्णो युवयोः करवाणि किम् ॥४४॥

नम्रः सन् **कृष्णं** सदानन्दं कारणार्थमागतं वा, भयाभावार्थमुक्तम्. ज्ञात्वैव पृच्छतीति शङ्काव्यावृत्त्यर्थमाह **सर्वभूताशयालयमि**ति, **सर्वभूतानामाशयेष्व**न्तःकरणेषु **आलयो गृहं** यस्य. अज्ञात्वा कथनं व्यावर्तयति **लीलामनुष्ये**ति. वस्तुतस्तु **विष्णुरे**व भवान्. एवं सति **युवयोरहं** किङ्करः **किं करवाणि**, करवामेति वा सर्वानात्मतया परिगृह्य ॥४४॥

मर्यादां बाधकत्वेन वक्ष्यतीति भगवानीश्वरवाक्यमाह **गुरुपुत्रमिहानीतमि**ति.

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

गुरुपुत्रमिहानीतं निजकर्मनिबन्धनम् ।
आनयस्व महाराज मच्छासनपुरस्कृतः ॥४५॥

निजकर्मैव नितरां बन्धनं यस्य, स्वतः कर्माधीनम् अतस्त्वया स्वार्थं नानीतः भाविज्ञानेऽप्यतो नापराधः. आज्ञामाह **आनयस्वेति**. कथं मर्यादा मया त्यक्तव्येति शङ्कायां **महाराजसम्बोधनम्**, स हि कदाचित्पुष्टिमपि स्वीकरोतीति. विशेषमप्याह मर्यादातिक्रमे **मच्छासनपुरस्कृत** इति, मम शासनमाज्ञैव पुरस्कृतं येन ॥४५॥

एवमधिकारवशादीश्वराज्ञया च निरूपितेऽर्थे तदर्थं निस्सन्दिग्धं प्रवृत्त इत्याह **तथेतीति**.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

तथेति तेनोपानीतं गुरुपुत्रं यदूत्तमौ ।
दत्वा स्वगुरवे भूयो वृणीष्वेति तमूचतुः ॥४६॥

तथैव करिष्यामीति **तेनानीय** दत्तं **गुरुपुत्रं** भगवत्कृपया पूर्वावस्थां प्राप्तं प्रतिसङ्क्रमेण दृष्टद्वारैव नत्वलौकिकप्रकारेण समानीय. यादवश्रेष्ठौ, यदुरपि धर्मपरायणः, अतो गुरूक्तं तथैव कृतवन्तौ. ततः **स्वगुरवे दत्वा भूयो वृणीष्वेत्यूचतुः**, अयं तु तव सुतो न दक्षिणारूपः किन्तु तेषामेव तेभ्यो दत्तमिति प्रतिबन्धनिवर्तकत्वेनाज्ञाकारी जातः ॥४६॥

द्वितीयवारं वरो न याचनीय इति तस्य बुद्ध्या स एव वर इति लोकबुद्ध्या अप्रार्थयन्निव प्रार्थयति **सम्यक् सम्पादितो वत्साविति**.

॥ गुरुरुवाच ॥

सम्यक्सम्पादितो वत्सौ भवद्भ्यां गुरुनिष्क्रयः ।
को नु युष्मद्विधगुरोः कामानामवशिष्यते ॥४७॥

भवद्भ्यां गुरुनिष्क्रयः गुरोः प्रत्युपकाररूपो दक्षिणात्मकः **भवद्भ्यामेव सम्यक् सम्पादितः**, नत्वन्यः असाध्यं कर्तुं शक्तः. एवं सति शास्त्रप्रामाण्यात् शिष्याद्गुरुर्महान् भवतीति भगवत्कृपयैव महत्त्वे सिद्धे **युष्मद्विधस्य गुरोर्मम कामानां** मध्ये **कः** कामो**ऽवशिष्यते** यः प्रार्थनीयः स्यात् ! ॥४७॥

परमेतदेव कर्तव्यमिति अभ्यनुज्ञारूपं द्वयं प्रार्थयति.

गच्छतं स्वगृहं वीरौ कीर्तिर्वामस्तु पावनी ।

छन्दांस्ययातयामानि भवन्त्विह परत्र च ॥४८॥

स्वगृहं गच्छतं वीरौ भवतम्, गार्हस्थ्येन स्थातव्यम्, सर्वदा जय एव भवत्वित्यर्थः. **कीर्तिश्च** सर्वलोकपा**वनी** भवतु. आशीर्वादो वा वरो वा यथाधिकारं ज्ञातव्यः ॥४८॥

एतदपि गुरुवाक्यं कृतवन्ताविति वदन् प्रत्यापत्तिमाह **गुरुणैवमनुज्ञाताविति**.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

गुरुणैवमनुज्ञातौ रथेनानिलरंहसा ।
आयातां स्वपुरं तात पर्जन्यनिनदेव वै ॥४९॥

भगवदिच्छानुसारेणैव **गुरुणा** उक्तौ, क्षणमात्रेणैव **अनिलरंहसा रथेन स्वपुरं पुनरायाताम्** आगतौ वा. स्वपुरत्वेन प्रत्यापत्तित्वमुक्तम्. दूरादेव तापनाशकत्वाय **पर्जन्यवन्निनदो** यस्येत्युक्तम् ॥४९॥

भगवन्तं पूर्ववदुक्त्वा तत्सम्बन्धिनोऽपि पूर्ववदेव जाताः भगवति निरुद्धा वेत्याह **समानन्दन्निति**.

समानन्दन्प्रजाः सर्वा दृष्ट्वा रामजनार्दनौ ।
अपश्यन्त्यो बह्वहानि नष्टलब्धधना इव ॥५०॥

॥ इति श्रीभागवत-दशमस्कन्धे द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ॥

सर्वाः विद्यानधिकारिणोऽपि, विद्यया तेजोनुभावौ भगवता प्रकटिताविति. तदर्थमाह **दृष्ट्वा रामजनार्दनाविति**. सामान्यतोऽपि दर्शनाकाङ्क्षामाह **अपश्यन्त्य** इति, **बहू**न्येव दिनानि वर्षत्रयचतुष्टयात्मकानि **अपश्यन्त्यः** सत्यः **दृष्ट्वा** परमानन्दयुक्ता जाताः, पूर्वापेक्षया अधिकत्वमाशङ्क्य. तथा सति प्रमाणबलं भविष्यतीति तन्निराकरणार्थं दृष्टान्तमाह **नष्ट** अदृष्टः क्वचित् लीनः पुन**र्लब्धश्चे**द् **धनादिश्चे**त्तदा पूर्ववदेव जायमानमपि सुखं विशिष्टमिव भवतीति भगवत्यपि तथा जातमित्यर्थः ॥५०॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीवल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धपूर्वार्द्धे द्विचत्वारिंशाध्यायविवरणम् ॥

॥ इति द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ॥

॥ चतुर्थः स्कन्धादितः त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः ॥

त्रिचत्वारिंशकेऽध्याये स्वस्थित्यैव निरोधनात् ।
यशोदानन्दयोश्चैव ह्युक्तोऽपि विनिरूप्यते ॥(१)॥

श्रीहरिधनविरचिता भ्रमरगीतीयसुबोधिनीदीपिका

राजसप्रकरणीयप्रमेयप्रकरण-चतुर्थाध्यायार्थनिरूपणे **स्वस्थित्यैव निरोधनादित्यादि**. तत्रायमाशयः. ननु तामसभक्तानां तामसप्रकरणे निरोधस्योक्तत्वात् पुनरत्र तेषां तत्कथनं किमर्थमित्याशङ्क्याहुः **स्वस्थित्यैवे**ति. पूर्वं हि संयोगविप्रयोगोभयनिरूपणात्संयोगे लीलाभिर्निरोधनं वियोगे स्वरूपस्थित्यापि, साम्प्रतं तु केवलविप्रयोगदानात्स्वरूपस्थित्यैव तदिति पुनः कथनमित्यर्थः. ननु स्वरूपस्थितौ तदात्मकत्वसम्पत्तेः किं निरोधनमिति चेत्, न, तस्य रसात्मकत्वेनाधेयतया स्थितत्वात्. आधारस्तु स्वामिन्य एव. तथा च स्वस्थितस्वरूपमात्रासक्तकरणं बहिष्ठतन्नैरपेक्ष्येणात्र तदिति भावः. नन्वत्र विप्रयोगे किं कैवल्यं, सर्वत्रैव तस्य केवलत्वादिति चेत्, सत्यं, केवलत्वं हि स्वरूप-लीला-तत्सामग्र्यादीनामान्तरानुभवहेतुत्वेन विप्रयोगभावात्मकत्वमिति जानीहि. अत एवात्र बहिःसंवेदनेऽनुभूयमानानां लीलापदार्थानां स्मारकत्वमेवोक्तं "पुनः पुनः स्मारयन्ती"ति. अन्यथा अनुभावकत्वमेवोक्तं स्यादिति भावः. ननु गुणगानेऽपि तेषां पदार्थानां भावात्मकत्वेन

श्रीश्यामलात्मजश्रीव्रजराजकृता विवृतिः

। श्रीवल्लभो जयति भक्तहितैकबन्धुः ।
व्रजसीमन्तिनीनेत्रमीननीरनिधिः प्रभुः ।
करोतु शिशिरं मेऽन्तः स्वविलासतरङ्गितैः ॥१॥
स्वीयापराधतूलाग्निर्व्रजेशरतिदीपकः ।
स्वाचार्यचरणाम्भोजरेणुः स्वीयं करोतु माम् ॥२॥
श्रीविट्ठलपदाम्भोजपरागधनमोदतः ।
स्वाचार्यविवृतान्भावान् वर्णयामि यथामति ॥३॥
पुरुषोत्तमवाक्यानां भावो यद्यपि दुर्घटः ।
तथापि तत्कृपाधाष्टर्यं तरलीकुरुते मनः ॥४॥

ननु व्रजस्य नित्यत्वात्तत्र भगवल्लीलादीनां च नित्यत्वाद्भगवतोऽपि तत्र

विवृतिः

नित्यस्थितिरूपत्वादुद्धवप्रेषणमप्रयोजनकमिव आभातीत्याशंकानिराकरणमध्यायार्थोक्त्यैव कुर्वन्ति **त्रिचत्वारिंशकेऽध्याय** इति. अस्मिन्नध्याये **यशोदानन्दयोः स्वस्थित्यैव निरोधो निरूप्यत** इत्यर्थः. पूर्व**मुक्तोऽपीह विशेषेण निरूप्यत** इति भावः. यतः **स्वस्थित्यैव** तयो**र्निरोधनात्** निरोधस्य कृतत्वादित्यर्थः. विशेषेण **निरूपणं** तु **भगवतो** मथुरादिष्वगमनेनेति भावः. एतज्ज्ञापनार्थमेव श्रीमदुद्धवप्रेषणं च. पूर्णपुरुषोत्तमस्तु व्रजान्न निर्गत एव, मथुरादिलीला तु प्रद्युम्नांशेनैव. अत एव श्रीशुकैरुक्तं "ता निराशा निववृतुर्गोविन्दविनिवर्तने विशोका अहनी निन्युर्गायन्त्यः प्रियचेष्टितमि"ति. **ह्रीति** युक्तश्चायमर्थः; भगवदासक्तियुक्तानां भगवन्तं विना क्षणमपि स्थितिर्न भवति. भगवानत्राविर्भूय यथाक्रमं निरोधं कृतवांस्तथैव निरूप्यत इति पूर्वं **यशोदानन्दयो**र्निरोधो निरूप्यत इत्यर्थः (१).

लेखः

त्रिचत्वारिंशे. ननु तामसप्रकरणे एतेषां निरोध उक्त एवेति पुनस्तदुक्तिः किमर्थेत्याशङ्क्य विभेदकथनार्थमाहुः **स्वस्थित्यैवे**ति, बहिरिति शेषः. तदा स्वयं बहिःस्थित एव निरोधं कृतवान्; गुणगानादावन्तःस्थितावपि बहिःस्थितस्यैव व्यूहविशिष्टस्यान्तःप्रवेशः, पुरुषोत्तमस्य रसात्मकत्वेन साधारत्वनियमादाधारार्थं

हरिकृष्णपाहाडकृता भ्रमरगीतटीपिका

स्वमुखान्मूर्तिमुद्धृत्य स्वस्वरूपं निरूपितम् ।
मयि हीने प्रसीदन्तु तावुभौ पुरुषोत्तमौ ॥१॥
नत्वा श्रीवल्लभाचार्यान् प्रभून् श्रीविट्ठलेश्वरान् ।
तद्वंश्यान् बालकान् सर्वान् गुरून् श्रीगोकुलेश्वरान्[१] ॥२॥
श्रीमदाचार्यवाक्यानि दुर्बोधान्येव सर्वथा ।
तथापि तत्प्रसादेन चिन्तयामि यथामति ॥३॥

अथ श्रीभ्रमरगीतसुबोधिन्यादिषु क्वचित् क्वचिद् बोधसौकर्यार्थं प्रकीर्णटीपिका लिख्यते. तत्र त्रिचत्वारिंशाध्यायकारिकार्थव्याख्याने **विभेदकथनार्थमि**[लेख]ति, पूर्वं बहिः स्थित्वा निरोधं कृतवान्, अधुना अन्तः स्थित्वा निरोधं करोतीति विभेदकथनार्थमित्यर्थः. नन्वेवं तर्हि युगलगीतादौ अन्तःस्थित्वा निरोधं केन रूपेण कृतवान् इत्याकाङ्क्षायामाह **गुणगानादावित्यारभ्योक्त**[लेख] इत्यन्तेन.

१. गोकुलेश्वरानिति गोस्वामिश्रीमथुरानाथात्मज-गोस्वामिश्रीगोकुलनाथानित्यर्थः.

लेखः

व्यूहापेक्षणात्. अत एव[1] प्रकट उक्तः. अधुना तु व्यूहविशिष्टस्यात्रागतत्वेन केवलस्तत्र स्थितो भक्तहृदयमेव तदाधार इति ज्ञेयम्. अन्तःप्रकटो न तु बहिःस्थितोऽन्तःप्रविष्ट इति भेदः. अत एव "पुनः पुनः स्मारयन्ती"त्यादिना बहिःस्थितानां स्मारकत्वमेवोक्तं नत्वनुभावकत्वम्. **यशोदानन्दयोः चकाराद्गोपानाम्**, निरोध इति शेषः. एतेषामेव, न तु प्रसङ्गाद् व्रजे समागतानां कुन्त्यादीनामित्येवकारः. अत्यनुगृहीतत्वाद् व्रजीयभक्तहृदयस्यैव पुरुषोत्तमाधारत्वं युक्तमिति **हि**शब्दः (१).

टीपिका

एवकारउक्त[लेख] इति, पूर्वं गुणगाने बहिःस्थितव्यूहविशिष्ट एवान्तःस्थित्वा निरोधं कृतवानित्ये**व**कार उक्त इत्यर्थः. **अधुनेत्यारभ्य भेदे**[लेख] त्यन्तस्यैवमन्वयः कर्तव्यः. तत्र **केवल** इति, केवलो भक्तहृदयस्थितः अधुना अन्तःप्रकटो जात इति योज्यम्. **न तु बहिरि**ति, **बहिःस्थितो** वासुदेवव्यूहविशिष्टोऽधुना **अन्तःप्रविष्ट इति भेद** इत्यर्थः. **बहिःस्थितानामि**ति सरिच्छैलादीनामित्यर्थः. **नत्वनुभावकत्वमि**ति, सरितादीनां व्यूहविशिष्टस्य पूर्ववद् हृद्यनुभवकारयितृत्वं नेत्यर्थः. अत एवोक्तं **न तु बहिःस्थितोऽन्तः प्रविष्ट** इति. **कुन्त्यादीनामि**ति, तदुक्तं प्रथमस्कन्धसुबोधिन्यां "गोप्याददे"इत्यत्र "कदाचिदहं गता गोकुले त्वां द्रष्टुम्, तस्मिन् समये"इत्यादिना (१).

अथ दशमस्कन्धस्य त्रिचत्वारिंशाध्यायस्य सुबोधिन्यां गोस्वामिश्रीहरिरायैः कृतायां दीपिकायां **संयोग**[दीपि] इति बहिरिति शेषः. तदा स्वयं बहिःस्थित एव **लीलाभिर्निरोधनं** कृतवानित्यर्थः. **वियोगे स्वरूपस्थित्यापी**ति, गोचारणादिगमनेन वियोगे "रेमिरेऽहस्सु तच्चिता"इत्यादिना युगलगीतादौ आन्तर्लीलाभिः स्वरूपस्थित्यापि निरोधनमुक्तमिति योज्यम्. **स्वरूपस्थित्यैव तदि**ति, द्वितीयाध्याये "ज्ञात्वात्मानमधोक्षजमि"त्यत्रोक्तस्वरूपस्थित्यैव निरोध इत्यर्थः. **किं निरोधनमि**ति, निरोधस्तु पृथक् स्थित्या भवेदिति भावः. **स्वस्थित्ये**ति, स्वामिनीषु रसात्मकं स्वस्वरूपं स्थितम्, **तत्स्वरूपमात्रे** भगवता स्वामिनीना**मासक्तिकरणमि**त्यर्थः. **बहिष्ठे**ति, यन्मथुरायां स्थितं तस्मिन् निरपेक्षणकरणमित्यर्थः. **अत्रे**ति आन्तरनिरोधे इत्यर्थः. **तदिति** निरोध इति भावः. **अत्रे**ति अस्मिन् विप्रयोग इत्यर्थः. **किं कैवल्यमि**ति, केवलस्य भावः कैवल्यं, केवलत्वं किमित्यर्थः. **सर्वत्रे**ति, युगलगीतादिषु

१. अत "एवकारः" इति टीपिकापाठः

गोपिकानां ततो वाच्यस्तेनोक्तं च समर्थितम् ।
राजसत्वं च संसिद्धं गुणोत्कर्षश्च रूपितः ॥(२)॥

दीपिका

ततः प्रकृते न **वैलक्षण्यमिति** चेत्, न, भावात्मकत्वेऽपि सर्वान्ते तेषां "रेमिर"इति वाक्येन संयोगानुभावकत्वात्, प्रकृते तु स्वरूपस्यैतदात्मकत्वेनान्तरो **बाह्यश्च** विप्रयोगानुभव एवेत्यलमुक्त्या. **तेनेति**, **तेन** स्वस्थितिनिरोधेन परोक्षे विशेषेण भगवत्परतादर्शनात् "सर्वात्मभावोऽधिकृतो भवतीनामि"त्युद्धववाक्या**च्चोक्तं** तामसप्रकरणे लीलानिरुद्धत्वमपि **समर्थितं** जातमित्यर्थः. नन्वेषा कथा तामसप्रकरणे कुतो नोक्ता, तामसभक्तनिरोधकथात्वाद्, अत्र तन्निरूपणे किं तात्पर्यमिति चेत्तत्राहुः **राजसत्वं चेति**. स्वरूपस्थितिनिरोधेन स्वरूपस्यान्तरस्यैव रसात्मकस्य

टीपिका

वर्णितस्य विप्रयोगस्यापीत्यर्थः. अत्रत्यवियोगस्य केवलत्वं दर्शयति **स्वरूपे**[दीपि.]त्यादिना. तत्र **स्वरूपं** भगवत्स्वरूपम्, **लीला** रासादिः, **तत्सामग्री** वृन्दावनादिः. **आन्तरानुभवहेतुत्वेनेति**, तेषां स्वरूपादीनामान्तरैव स्मरणहेतुत्वेनेत्यर्थः. **विप्रयोगभावात्मकमिति**, अतोऽस्मिन् वियोगे स्वरूपादीनां केवलवियोग—भावात्मकत्वं, न तु "रेमिरेऽस्सु तच्चित्ता" इति युगलगीतादिवदान्तररमणहेतुत्वमिति भावः. **अत एवेति**, यत आन्तरस्मरणे(रमणे!) स्वरूपादीनां स्मारकत्वमुक्तमत एवेत्यर्थः. **लीलापदार्थानामिति** सरितादीनामित्यर्थः. **तेषां पदार्थानामिति** भगवत्स्वरूपादिपदार्थानामित्यर्थः. **भावात्मकत्वेन** इति स्मरणमात्रकत्वे इत्यर्थः. **तेषामिति** भगवत्स्वरूपादिपदार्थानाम्. **तदात्मकत्वेनेति** वियोगात्मकत्वेनेत्यर्थः. **विनिरूप्यत**[सुबो.]इत्यस्यायमर्थः— यद्यप्यत्र **स्वस्थित्यैव निरोधनादित्यस्यार्थः** स्वामिनीनां हृदि स्थित्वा भगवान् निरोधं कृतवान्नित्युक्तं, तथाप्यस्मिन्नध्याये **यशोदानन्दयोः चकाराद्गोपानां** च निरोधः पूर्वं बहिःस्थि**त्वोक्तोऽप्य**धुना **विनिरूप्यते** इति विशेषेण निरूप्यते इति योज्यम्. **गोपिकानां वाच्य** इति, अग्रिमाध्याये अन्तःस्थित्या गोपिकानां निरोधो विशेषेण वाच्य इति योज्यम्. तथा च नन्दादीनां धर्मविशिष्टेन निरोधः कृतो, गोपिकानां तु केवलधर्मिरूपेण निरोधः कृत इति विशेषः. **तेनोक्तं चेत्यत्र परोक्ष**[दीपि.]इति, गोपीनामधुना भगवति परोक्षेऽपीत्यर्थः. **लीलानिरुद्धत्वमपीति**, पूर्वं गोपिकानां तामसप्रकरणे संयोगवियोगलीलाभिर्निरुद्धत्वं यदुक्तं तदप्यधुना अन्तर्बाह्यवियोगानुभावनेन **समर्थितं** दृढं **जातमित्यर्थः**.

दीपिका

भावरूपस्य तादृक्संयोगवियोगरूपत्वेन बहिःसंवेदनासंवेदनाभ्यामन्तर्निष्ठया विरहेण च प्रतिक्षणमुभयानुभवादेतेषां विक्षेपवद्भावसम्पत्त्या **राजसत्वं च सम्यक्** स्थायिभावरूपेण **सिद्धमित्यर्थः**. एतदेवोक्तम् आचार्यैः संन्यासनिर्णये "विकलत्वं तथास्वास्थ्यं प्रकृतिरि"ति. **गुणोत्कर्षश्चे**ति, बहिःप्राकट्यनैरपेक्ष्येण परोक्षे गुणैरेव संयोगसमय इव सर्वप्रकारकभगवत्स्वरूपानुभवात् "तव कथामृतमि"त्यत्र स्वामिनीभिरेव निरूपितो **गुणानां** भगवत्समत्वलक्षणो य **उत्कर्षः** स एतत्कथया **निरूपितो** जात इत्यर्थः (१-२).

विवृतिः

पश्चाच्च गोपीनां निरोधो निरूप्यत इत्याहुः **गोपिकानामिति. ततो** यशोदानन्दनिरोधनिरूपणान्तरम् एतदध्यायसमाप्तिमारभ्याग्रिमाध्यायेन **गोपिकानां** निरोधो **वाच्य** इत्यर्थः. अनेन निरोधकथनेन **उक्तम्** "आयास्य इति दौत्यकैरि"त्यादि **समर्थितमि**ति भावः. ननु व्रजरत्नासु भगवतो दूतादिवाक्येनैतादृक्कथनमप्यनुचितमित्याशंक्याहुः **राजसत्वं चे**ति. राजसत्वं तत्प्रेषणेन सिद्धमित्यर्थः. अन्यथा प्रेमविरुद्धमेव प्रेषणं स्यात्. अत एव क्वचिदुक्तं "राजा मित्रं केन दृष्टं श्रुतं वे"त्यादि. यद्यपि भगवतो न तथा तथापि राजसप्रकरणत्वात्तथेति भावः. **तेन गुणोत्कर्षश्च रूप्यते** न तु भगवान् तथेति भावः. राजसगुणोत्कर्षख्यापनार्थं चोद्धवप्रेषणमत एव व्रजभूषणाभिरग्रिमाध्याये "पित्रोः प्रियचिकीर्षये"त्यनेन राजसगुणख्यापकमेव तदागमनं निरूपणीयम्. यद्वा **गुणोत्कर्षो** व्रजभाग्यसीमन्तिनीगुणोत्कर्ष इति भावः. अयमेवार्थश्चकारेण ज्ञाप्यते (२).

लेखः

अग्रिमाध्यायार्थमपि प्रसङ्गादाहुः **गोपिकानामि**ति. बाललीलायामेतयोरिव प्रौढलीलायां तासां मुख्यत्वादध्यायान्तरेण स्वतन्त्रतया कथनमिति भावः. **तेने**ति,

टीपिका

विक्षेपवद्भावसम्पत्त्ये[दीपि.]ति, विकलत्वास्वास्थ्यादिभावसम्पत्त्येत्यर्थः. **भगवत्समत्वे**ति, अमृतादिपदेन भगवत्समत्वमित्यर्थः. **एतत्कथये**ति, "यदनुचरितलीला" इत्यादिकथयेत्यर्थः (१-२).

नन्वध्यायान्तरे गोपिकानां स्वतन्त्रतया निरोधकथने कोऽभिप्राय इत्याशङ्कायामाहुः **बाललीलायामि**[लेख.]त्यादिना. **एतस्ये**ति, विकलत्वास्वास्थ्यादीनां

लेखः

सन्देशप्रेषणेन दौत्यकैरायास्ये इति भगवदुक्तमपि **समर्थितमित्यर्थः.** नन्वेतादृशनिरोधोऽपि तत्प्रकरणे एव कुतो नोक्तस्तत्राहुः **राजसत्वं चेति**, विकलत्वास्वास्थ्यादिभावरूपविक्षेपवत्त्वमधुना सिद्धमेतस्य तदङ्गत्वात्पूर्वं तदकथनमित्यर्थः. प्रयोजनान्तरमाहुर्**गुणे**ति. भगवान् लोकरीत्यायातोऽपि "बीजं भक्तिरि"ति कारिकोक्तगुणैर्निरोधं कृतवानिति **गुणोत्कर्षो निरूपितः**. उक्तसमर्थनं जातं गुणोत्कर्षश्च निरूपितो जात इति समुच्चयार्थमुभयत्र **च**कारः (२).

श्रीपुरुषोत्तमकृतो भ्रमरगीतप्रकाशः

गोपिकानां ततो वाच्य इति. नन्वेवं सति अस्य रजोलीलात्वं, लीलाविषयाणां तामसत्वेन राजसप्रकरणे तत्कथा च, न सङ्गच्छते इत्याकाङ्क्षायां तदर्थमाहुः **तेने**त्यादि. तथा च "ज्ञातीन् वो द्रष्टुमेष्याम"इति "आयास्य" इत्यादि-वाक्यस्य राजसस्वरूपेण**उक्त**त्वेन **तत्समर्थनाद्र**जोलीलात्वं, वचनोद्देश्यत्वेन च

टीपिका

निरोधाङ्गत्वादित्यर्थः. **पूर्वं तदकथनमि**[लेख]ति, तामसप्रकरणे राजसभावाभावादेतत्प्रकरणस्थ-निरोधाकथनमित्यर्थः (२).

तेनोक्तमि[सुबो]त्यस्याभासे **एवं सती**[प्रका]ति, अस्मिन् राजसप्रकरणे एतेषां विशेषेण निरोधनिरूपणे सतीत्यर्थः. **अस्ये**ति प्रकरणस्येत्यर्थः. **नन्वत्राध्यायद्वयेन** तामसानां निरोधकरणलीला प्रसिद्धा, अतः **कथमस्या** लीलाया राजसत्वमित्याशङ्कायामाह **राजसस्वरूपेण**त्यादिना. तथाच "गोपाये स्वात्मयोगेन सोऽयं मे व्रत आहित"इति वाक्ये पुष्टावङ्गीकृतानां स्वरूपेणैव मया रक्षा कार्या इति भगवता पूर्वमुक्तम्, अधुना तु तेषाम् "आयास्य इति दौत्यकैरि"ति **राजसस्वरूपेण** दूतद्वारा **उक्तत्वेन** राजसत्वमित्यर्थः. **तत्समर्थना**दिति, उद्धवप्रेषणादपि पूर्वोक्तराजसत्वसमर्थनादस्या लीलाया राजसत्वमित्यर्थः. **वचनोद्देश्यत्वेन चे**ति, उपदेशद्वारा हृदि अहमागमिष्ये न तु प्रत्यक्षतया इति **परोक्षतया** कथनं राजसत्वमित्यर्थः. मूले **सम्** इत्युपसर्गस्यार्थमाह **पूर्वधर्मानपायादि**[प्रका]ति. पूर्वं यथा दूतद्वारा "आयास्ये" इत्युक्तं तथाधुनाप्युद्धवद्वारा समागत इति पूर्वधर्मस्य अत्यागाद्राजसत्वं सम्यगेव सिद्धमित्यर्थः. एवमत्र राजसप्रकरणे तामसानां कथा न संगच्छते इति शङ्कायाः परिहार**स्तेनोक्तं च समर्थितं राजसत्वं च संसिद्धमि**[सुबो]त्यस्यार्थकथनेन उक्तः. अतः परं स्वरूपेण रक्षणीयानां दूतद्वारा राजसभावेन समाधानं

पूर्वाध्याये ''ज्ञातीन्वो द्रष्टुमेष्यामो''(इति!)नन्दं प्रति भगवता निरूपितं, तेषामेव च सम्बन्धः पुत्रत्वादिरूपः स्थापितः. तत्र मध्ये विद्याग्रहणेन विलम्बो जात इति स्वस्यापि गमनं कार्यस्यावश्यकत्वात् न सम्भवतीति विद्यातः समागत्य

दीपिका

तेषामेव चेति, ''ज्ञातीन्व'' इत्युक्त्या **तेषां** नन्दादीनां यः **सम्बन्धः पुत्रत्वादिरूपः** स एव **स्थापितः**. वसुदेवादिष्वपि सम्बन्धबुद्धावेतेष्वभिमानमात्रसत्त्वे समाधानाय ''वो द्रष्टुमेष्याम'' इत्येवोक्तं स्यात्. अतो वस्तुतः पुरुषोत्तमस्य लीलामात्रैककृते लीलार्थपुत्रत्वस्वीकारो नन्दगृह एवेति त एव सम्बन्धिनो, वसुदेवगृहे तु प्रद्युम्नांशेनावतारकार्यार्थं पुत्रत्वेनाविर्भाव इति न साक्षात्पुरुषोत्तमस्य

प्रकाशः

राजसत्वं पूर्वधर्मानपायात् **सम्यगेव सिद्धम्. गुणस्य** भगवदीयकृपायास्तदीय-प्रेम्णस्तेषां तामसत्वस्य [1]**चोत्कर्षोऽतिशयश्च निरूपित** इत्यर्थः (२).

वृष्णीनामित्यस्याभासे कार्यस्यावश्यकत्वादित्यादि, मथुरादिस्थिता-नामुद्धारस्य तथात्वात्. यदि स्वयं तत्र गच्छेत् तदा तदवस्थां पश्यन् तत्रैव तिष्ठेदिति अग्रिमकार्यं न स्यादिति भावः.

टीपिका

किमर्थमित्याशङ्कायाः परिहारस्तु **गुणोत्कर्षश्च रूपित**[सुबो.] इत्यनेनोक्तः. तत्र **गुणस्ये**[प्रका.]त्यादिना अर्थत्रयी उक्ता तत्र **भगवदीयकृपाया** इति, भगवत्कृपाया उत्कर्ष इत्यर्थः. उत्कर्षमेवाह **तदीयप्रेम्णः** इति— ''ता मन्मनस्का मत्प्राणा''इति भगवद्वाक्यात्तदीयप्राणा इत्यर्थः. तृतीयार्थः **तेषामित्यादिना. उत्कर्ष** इति, **तेषां** तामसानां राजसप्रकरणे द्वितीयदलदाने**नोत्कर्षोऽतिशयश्च निरूपित** इत्यर्थः. तथाच **यदोद्धवद्वारा** राजसभावेनैतासां समाधानं न कारयेत्, स्वयमेव कुर्यात्, तदैतासां पूर्वोक्तो गुणोत्कर्षो लोकप्रसिद्धो न भवेदित्यतो ''गोपाये स्वात्मयोगेन सोऽयं मे व्रत''इत्यादिना पूर्वोक्ता शङ्का परिहृता ज्ञेयेति (२).

वृष्णीनां प्रवर इत्यस्याभासे. **तेषामेव च सम्बन्धः पुत्रत्वादिरूपः स्थापित** इत्युक्तं तदर्थो **ज्ञातीन् व**[दीपि.]इत्यादिनोक्तः. तत्र **स्थापित** इति, पुत्रत्वादिरूपः सम्बन्धः भगवता स्थापित इत्यर्थः. तत्र **वसुदेवादिष्वि**-त्यादिना शङ्कामुद्भाव्य **समाधानायेत्या**दिना परिहृता. **जन्मप्रकरणटिप्पण्यामिति**,

---

१. उत्कर्षातिशयः, उत्कर्षेतिशयः.

दीपिका

पुत्रत्वादिसम्बन्ध इत्येतेषु ज्ञातित्वनिरूपणेन **बोधितमिति** भावः. एतदेवोक्तं प्रभुभिर्जन्मप्रकरणटिप्पण्याम्— "नन्दगृहे प्रादुर्भूतस्यैव पुरुषोत्तमस्य सर्वतः पाणिपादान्तत्वेन तदा कार्यमस्तीति वसुदेवगृहे प्रादुर्भाव इति ज्ञायते" इति. तथैवाचार्यचरणैरप्यभिहितं "पुरुषोत्तमस्तु नन्दगृह एव मायया सह जात"इति. **स्थापित** इत्युक्त्या पूर्वं वसुदेवसमानीतस्वरूपस्यात्र स्थित्या तत्सम्बन्ध एतत्सम्बन्धो वेति सन्देहः स्थितोऽधुना तेन रूपेण मथुरासमागमनोत्तरं "ज्ञातीनि"ति निरूपणेन सन्देहनिवृत्तिपूर्वकं नन्दादिसम्बन्ध एव भगवता स्थापित इति गम्यते. तथा च वस्तुतः साक्षात्सम्बन्धिनां तेषां सन्तोषसम्पादनमावश्यकमित्युद्धवप्रेषणमिति भावः. **कार्यस्यावश्यकत्वादि**ति, महारसत्वेन स्वदत्तस्वरूपानुभवहेतोर्ज्ञानोपदेश-लक्षणकार्यस्य जरासन्धादिवधरूपावतारकार्यस्य वेत्यर्थः. स्वगमने एतदुभया-सम्भवादिति भावः. **विद्यात** इति, एतावत्पर्यन्तं भगवान्विद्यायां स्थितः, अत एव व्रजस्थभक्त्यस्फुरणं तस्यास्तद्विरोधित्वादधुना भक्तौ प्रतिष्ठित इति बोधनार्थमेवं

विवृतिः

त्रिचत्वारिंशाध्यायार्थसन्दर्भे श्रीमदुद्धव-प्रेषणप्रयोजननिरूपणे **स्वस्यापि गमनमि**त्यादि. अत्रेदं प्रतिभाति[1]— **कार्यस्य** भक्तिमार्गपुरुषार्थात्मकविप्रयोगा-

टीपिका

"आविवेशांशभागेने"त्यत्र टिप्पण्यामित्यर्थः. **नन्दगृहे प्रादुर्भूतस्यैव पुरुषोत्तमस्य सर्वतः पाणिपादान्तत्वेन वसुदेवगृहे प्रादुर्भाव** उच्यत इति योज्यम्. ननु पुरुषोत्तमस्य लीलामात्रैककृते लीलार्थं पुत्रत्वस्वीकारो नन्दगृहे एवेति पूर्वमुक्तम्, तदा वसुदेवगृहे किमर्थमाविर्भाव इत्याशङ्कायामाह **तदा कार्यमस्तीति, तदा** वासुदेवादिव्यूहरूपेण मोक्षादिदानकार्यमस्तीत्यर्थः. तदपि टिप्पण्यां तत्रैवोक्तं द्रष्टव्यम्. अग्रे **स्थापित** इत्यादिना पुनरप्याशङ्कामुद्भाव्य परिहरति. तत्र **अत्र स्थित्ये**ति गोकुले स्थित्येत्यर्थः. **तत्सम्बन्ध** इति, वसुदेवानीतस्वरूपे पुत्रत्वेन नन्दादीनां सम्बन्ध इत्यर्थः. **एतत्सम्बन्धो वे**ति, साक्षात्पुरुषोत्तमे वा नन्दादीनां पुत्रत्वेन सम्बन्धो वेत्यर्थः. **तेन रूपेणे**ति, वसुदेवानीतप्रद्युम्नादिव्यूहविशिष्टरूपेणेत्यर्थः. **वृष्णीनामि**त्यस्याभासे **तत्र मध्ये विद्याग्रहणेने**[सुबो.]ति, गुरुसान्दीपनीतः विद्याग्रहणेनेति लोकप्रसिद्धोऽर्थः. अग्रे **विद्यातः** इत्यस्यार्थो[दीपि.] उक्तो ज्ञेयः.

१. प्रद्योत्यते इति मु. पा.

नन्दादीनां सान्त्वनार्थमुद्धवं प्रेषयतीति निरूप्यते. तत्र **सन्ति त्रिविधाः**— प्रकटसन्देशयोग्या यशोदानन्दप्रभृतयः, मित्रभूता गोपा अल्पगोप्याः, गोप्यस्त्वतिगोप्याः. अत एतादृशेऽर्थे निपुणेन दूतेन भाव्यमित्युद्धवं प्रेषणार्थं वर्णयति **वृष्णीनां प्रवर** इति.

दीपिका

कथनम्. अन्यथा "विद्याग्रहणादागत्ये"त्युक्तं स्यादिति भावः. **मित्रभूता गोपा अल्पगोप्या** इति, समतया प्रीतिविषया गोपा अन्तरङ्गलीलासम्बन्धित्वेन सन्देशकथने स्वामिनीभ्यो न गोप्या न गोपनीया इति नन्दादिभ्यो गोपनीया इत्यल्पगोप्या इत्यर्थः. ननु गोपसन्देशस्तु प्रेषणाज्ञायां नोक्त इति किमर्थमेतन्निरूपणं विवृताविति चेत्, सत्यम्, तथापि "इति सम्प्रार्थितो गोपैरि"त्यनेनान्ते तत्प्रार्थनाया उक्तत्वात्तत्सन्देशोऽपि वर्तत इत्यभिप्रेत्याचार्यैस्तथोक्तमिति ज्ञेयम्. स्वामिनीसम्बन्धित्वेनैव तदङ्गीकरणादाज्ञावसरे भिन्नतया न तदुक्तिस्तदाज्ञयैव तत्सम्भवादिति भावः. **गोप्यस्त्विति**, गोपेभ्योऽपि स्वामिन्यो गोप्या इत्यतिगोप्यत्वमित्यर्थः. गोपानां स्वामिनीसन्देशज्ञाने "मोहितास्तस्य मायये"त्यन्तरङ्गतमलीलाविषयकाज्ञानस्य पूर्वसम्पादितस्य निवृत्तिः स्यादिति तथेति भावः.

विवृतिः

नुभव**स्यावश्यकत्वादि**त्यर्थः. पुरुषोत्तमस्वरूपेण व्रजे नित्यस्थितिरेवोच्यते. लौकिकन्यायेनात्रागत-स्वरूपस्मृतिमात्रेण श्रीनन्दादीनां विप्रयोगानुभवो भवति, स चानेन स्वरूपेण तत्र गमने बाध्येतेति तस्य चावश्यकत्वात्तदभावे पूर्णरसदानाभावे नैतत्स्वरूपागमनमिति भावः. ततोऽग्रे क्षणमपि भगवद्विप्रयोगस्मरणेऽत्यार्त्या तापाधिक्येन स्वरूपान्यथाभावं विचिन्त्य त**त्सान्त्वनार्थं** प्रेषणमिति भावः. उद्धवस्वरूपनिरूपणाभासे **तत्र सन्ती**त्यादि. भगवत्सुखचरित्रकथनेन भगवत्स्मरणकथनेन यशोदानन्दादीनां **प्रकटसन्देशयोग्य**त्वम्. **मित्रभूतगोपादी**नां च वृन्दावने रसक्रीडौपयिकतल्पादिरचनं तत्र कृतक्रीडादिस्मारणेन भगवतस्तद्विप्रयोगजदुःखनिरूपणे**नाल्पगोप्य**त्वम्. व्रजसौभाग्यवतीनां तु भगवत्प्रेमस्थानरूपत्वा**दति-गोप्यत्वमेव**. तत्र च सन्देशबाहुल्याद्भावात्मकत्वाच्च लेखनाशक्यत्वं; तच्चरणमकरन्दमत्तानां श्रीमदाचार्यलिखनचन्द्रोदयावलोकात्[1] स्वत एव भावाब्धिरुत्तरलो भविष्यति.

---

१. तत्कृपातिशयेन इति ग. पाठे अधिकम्.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

वृष्णीनां प्रवरो मन्त्री कृष्णस्य दयितः सखा ।
शिष्यो बृहस्पतेः साक्षादुद्धवो बुद्धिसत्तमः ॥१॥

कुलीनः सर्वकर्मसु प्रशस्तः, तत्रापि स्वगोत्रजः, तत्रापि महानिति प्रेषणे स्वरूपयोग्यता निरूपिता. दौत्यार्थं सहकारियोग्यतामाह **मन्त्री**ति, स हि मन्त्रं न

लेखः

तेषामेव चेति, साक्षात्पुरुषोत्तमे पुत्रत्वसम्बन्धो नन्दादीनामेव, प्रद्युम्नव्यूहाभावात्स्वरूपे एव लीलार्थं पुत्रत्वस्थापनात्. वसुदेवगृहे व्यूहविशिष्टपुरुषोत्तमप्राकट्येऽपि वंशसम्बन्धः प्रद्युम्नांशेन, अत एव "पुरुषोत्तमस्तु नन्दगृह एवे"ति पूर्वमुक्तम्. अत्रायमभिसन्धिः— वासुदेवो नन्दगृहे आविर्भूतस्तस्मिन्नाधारे भक्तहृदयस्थितः पुरुषोत्तम आविर्भूतः. तत्र प्रद्युम्नाभावाद्वासुदेवस्य च तत्कार्यं न भवतीति स्वस्मिन्नेव तदीयपुत्रत्वादिसम्बन्धं स्वीकृतवान्. व्यूहत्रयविशिष्टः पुरुषोत्तमो वसुदेवगृहे प्रकटः, अत्र प्रद्युम्नांशेनैव पुत्रत्वादिसम्बन्धः. ततो गोकुलगमने उभयोरेकीभावेन स्थितिः. पुनर्मथुरागमने वासुदेवमपि गृहीत्वा चतुर्व्यूहविशिष्टः सन्वसुदेवगृहाविर्भूतो भगवान्पुरुषोत्तमो मथुरां गतः, नन्दगृहाविर्भूतस्तु पुरुषोत्तमः केवलो भक्तहृदयाधारे स्थितः. अत एव तदनन्तरं केवलपुरुषोत्तमकार्यं भक्तेषु नानाविधविलासं कृतवान्न तु व्यूहकार्यमिति. **स हि मन्त्रमि**ति, नित्ययोगे मत्वर्थीय

टीपिका

व्याख्याने **वृष्णीनामि**त्यत्र. ननु त्रिविधानां सन्देशकथनार्थप्रेषणे कथमुद्धवस्य स्वरूपयोग्यतेत्याशङ्कापरिहारार्थं **वृष्णीनां प्रवर** इति पदस्यार्थत्रय्युक्ता **कुलीनः स्वगोत्रजः महानि**[सुबो.]ति. तत्र **महानि**ति **प्रवर**पदस्यार्थो ज्ञेयः. तत्र **कुलीनः सर्वकर्मसु प्रशस्त** इति, ज्ञानोपदेश-सन्देशादिकथन-सर्वकर्मसु कुलीनः प्रशस्त इत्यर्थः. तत्र यथा यशोदानन्दयोः कुलीनत्वं तथोद्धवस्यापि वृष्णित्वात् कुलीनत्वम्, अतस्तयोरुपदेशार्थं तदग्रे **प्रेषणे** उद्धवस्य **स्वरूपयोग्यता** निरूपिता इति भावः. **स्वगोत्रज** इति, यथोद्धवो भगवद्गोत्रजस्तथा गोपा नन्दगोत्रियाः, अतो गोपा मित्रभूतास्तदग्रे गोप्यसन्देशकथने योग्यत्वमिति भावः. **महानि**ति, विरहव्यासानां व्रजवधूनां "मधुप कितव" इत्यादि वक्रोक्तिरूपाणां वाक्यानां श्रवणेनापि क्षोभाभावात् महानित्यर्थः. अत एवाग्रे "विरहेण महाभागा महान् मेऽनुग्रहः कृत" इति स्वयमेव वदिष्यतीति. अतो गोपिकानामग्रे सन्देशार्थकथने उद्धवस्य प्रेषणे योग्यता

प्रकाशयति. तर्ह्युचितमेव वदेन्नानुचितमिति भगवदुक्तमपि न वदेदतो गुह्यार्थे प्रेषणमयुक्तमित्याशङ्क्याह **कृष्णस्य दयित** इति, **दयितो**ऽत्यन्तं प्रियः, यद्यनभिप्रेतधर्मवान् भवेत् तर्ह्यत्यन्तं प्रीतिविषयो न स्यात्. गुर्वादिरप्येतादृशो भवतीति पितृव्यत्वाच्च तथात्वे गुह्यं न वक्तव्यमित्याशङ्क्याह **सखे**ति, भगवतः

विवृतिः

वृष्णीनां प्रवर इत्यत्र **कुलीन** इत्यादि निरूपणस्यायं भावः. मातृपित्रोर्निकटे कुलीनस्यैव प्रेषणमुचितं यतस्तस्यैव सर्वत्र प्राशस्त्यम्. [1]अन्यथा हीनसम्बन्धज्ञाने हीनत्वं स्याद् इति भावः.[1] **स्वगोत्रजत्वेन** मित्रगोपेषु प्रेमप्राशस्त्यमेव कथयेदन्यथा स्वस्यापि लज्जा स्यात्. महत्त्वेन प्रेमातिशयकलिलान्तःकरणवशाद् व्रजवरवधूनां वाक्यैः क्षोभाभाव इति भावः. तद्वाक्यभारवहत्वार्थं महत्त्वमपेक्ष्यतेऽन्यथा प्रेषणमननुरूपं स्यात्. महद्वाक्यस्य प्रामाण्यत्वाद्भगवानागमिष्यतीत्यादिवाक्यानां च तत्रत्यानां प्रामाण्यं स्यादिति भावः. **कृष्णस्य दयित** इत्यस्याभासे **तर्ह्युचितमेवे**त्यादि. रसमार्गस्वरूपाज्ञानवद्बुद्ध्यानुचितत्वम्, भगवतस्तु प्रेममार्ग-रूपत्वादुपालम्भोपढौकनाद्यनेकरसयुक्त-सन्देशकथनमेवोचितत्वमिति भावः. अत एव **गुह्यार्थ** इत्युक्तम्. **सखे**त्यत्र **भगवत** इत्यादि. अत्र समानशीलत्वेन प्रियविप्रयोगकातरत्वधर्मा एव विवक्षिता, न तु अन्येऽपि. तेन यथा भगवता स्वामिनीविप्रयोगासहिष्णुता तथोद्धवस्यापि भगवद्विप्रयोगासहिष्णुत्वं, तद्दुःखज्ञानादेव तत्र गमनमिति भावः. अप्राप्ततद्दुःखस्यान्यस्मिन् तद्दुःखभावाभावात्.

टीपिका

निरूपितेत्यर्थः. मन्त्रीपदस्यार्थः **स हि मन्त्रं न प्रकाशयती**[सुबो]त्युक्तः, तदर्थो **नित्ययोगे मत्वर्थीय**[लेख]इति. प्रत्ययस्यार्थो **नित्यं तेनैव सह मन्त्रस्य योग** इति ज्ञेयः. **बहिर्न प्रकाशयती**ति "मन्त्रि गुप्तपरिभाषणे" इति धात्वर्थो ज्ञेयः. **कृष्णस्य दयित** इत्यस्याभासार्थकथने **तर्ह्युचितमि**[सुबो]त्यादेरयमर्थः— विप्रयोगे यथा नायिका प्रलापदैन्यादिकं करोति तथा नायकोऽपि करोतीति रसमर्यादा. तथा भगवदुक्तसन्देशे उद्धवस्य तदज्ञानाद्भगवति तदनुचितं मत्वा यदि न वदेत् तदा गुह्यार्थे प्रेषणमयुक्तमित्याशङ्कायाः समाधानं त्वत्यन्तप्रीतिविषयत्वादुद्धवे नैष दोष इति ज्ञातव्यम्. एतदर्थः **सखे**ति पदस्यार्थकथने **समानशीले**त्यादिनोक्तः. तदर्थः[दीपि]उक्तो द्रष्टव्यः. **एतादृशो भवती**[सुबो]ति प्रीतिविषयो भवतीत्यर्थः. **तथात्वे** इति गुरुत्वे

१-१. इति ग पाठे अधिकः.

समानशीलव्यसनवान्. तथाप्यनीतिज्ञश्चेद् देशकालप्रकरणादि-निरपेक्षतया वदेत्, ततश्च यथार्थमपि भाषितं फलाय न भवेदित्यत आह **बृहस्पते**: देवगुरो: **शिष्य** इति, नीतिस्तत्रैव (प्रतिष्ठिता/) तिष्ठति. **साक्षादिति** न ग्रन्थद्वारा. **साक्षादुद्धवो** वा उत्सवात्मक:— दूरे गतस्य बन्धो: पुनरागमनख्यापक: परम्परयोत्सवहेतुर्भवति, अयं तु साक्षात्, एनं दृष्ट्वैव जानन्ति भगवद्दर्शनेनेव च सुखिता भवन्ति. तथापि

दीपिका

वृष्णीनामित्यत्र. समानशीलव्यसनवानिति, यादवान्तरवदवतारकार्यसम्बन्धित्वाभावेन निगूढलीलाकार्योपयोगि-भक्तत्वादिति भाव:. **स्वतोपिच्छायये**ति, "गोपीनां विनुदन् शुच" इत्यग्रिमवाक्यपर्यालोचनया तथोक्तमित्यर्थ:. **छायया** भगवद्वाक्यछाययेति बोध्यम् ॥१॥

विवृति:

अत एव नारदेनोक्तं "यथा कण्टकविद्धांग" इति. तत्रैव पुन: **साक्षादि**ति एतस्य विवरणे **एनं दृष्ट्वैव जानन्ती**त्यादेरयं भाव:— भगवत्सारूप्यत्वा(प्या!)देतद्दर्शनेन प्रियदर्शन इव सुखिता भवन्ति इत्यर्थ:. यथा चित्रप्रियाकृतिदर्शनेनानन्दोद्बोधो रसानुभवसिद्धस्तथा ताद्रूप्यस्वरूपेणापीति भाव:. तेनायं चित्रप्रतिकृतिवदापातत: सुखं करिष्यति, सर्वदानुवर्तमानस्तु विरह एवात एवाग्रे श्रीमदुद्धवैरेव क्लेशस्यानिवृत्तिदर्शन-सन्तुष्टैस्तत्पादरज:प्राप्तियोग्यं जन्म प्रार्थितमेतज्ज्ञापनायैव श्रीशुकैरपि "दृष्ट्वा कृष्णावेशात्मविक्लवमि"ति निरूपितम्. यद्वा विप्रयोगात्मकरसस्वरूपमिति भाव:. यद्वा **एनं दृष्ट्वा** रसात्मकभावदानात्मकस्वस्वरूपं **जानन्तीत्यर्थ**:. अत्रायं भाव:— भगवत: स्वभावदानार्थं श्रीमदुद्धव: प्रेषितस्तद्दर्शनेन तथा ज्ञानमभूत्स्वामिनीनां तज्ज्ञानानन्तरं चास्मत्कृपयैवायं रसो लभ्यो नान्यथेति

टीपिका

इत्यर्थ:. **तथापीत्यादेरयमर्थ**:— यथा वैदिकशास्त्रे नीतिज्ञश्चे**द्देशकालप्रकरणादिनिरपेक्षतया वदेत्त**दा **यथार्थमपि भाषितं फलाय न भवेत्**, तथात्रापि **अनीतिज्ञश्चे**दित्यादि योज्यम्. **परम्परये**ति, आनन्दहेतुस्तु बन्धोरागमनं भवति, तदागमनख्यापकोऽ**प्युत्सवहेतुर्भवती**त्युक्तम्. **अयं तु साक्षादि**ति, "मह उद्धव उत्सव" इतिकोशे नामनिरुक्त्या अयं तु साक्षादुत्सवात्मक इत्यर्थ:. **एनं दृष्ट्वैव जानन्तीति**, "नोद्धवोऽण्वपि मन्न्यून" इति भगवद्वाक्याद्भक्ता एनं दृष्ट्वैव

यावदुक्तार्थग्रहणसामर्थ्यं मृग्यत इति तादृशो वक्तव्य इत्यत आह **बुद्धिसत्तम** इति, बुद्ध्यात्यन्तं सन्. बुद्धिमत्त्वेऽपि कार्यसिद्धौ स्वतोऽपि छायया गोकुलवासिनां दुःखदूरीकरणसमर्थ इति तथोक्तम् ॥१॥

एवं दूतगुणानुक्त्वा तादृशे भगवन्नियोगमाह

तमाह भगवान् प्रेष्ठं भक्तमेकान्तिनं क्वचित् ।
गृहीत्वा पाणिना पाणिं प्रपन्नार्तिहरो हरिः ॥२॥

तमाहेति. तेन कार्यं सेत्स्यतीति. ज्ञानार्थमत्यनुरोध्येषु स्वागमनार्थं च **प्रेष्ठो**ऽत्यन्तं

विवृतिः

स्वस्मिन् रसात्मकत्वात्प्रभुकृपां जानन्तीति भावः. **बुद्धिसत्तम** इत्यत्र **स्वतोपी**त्यादि. स्वबुद्धिकौशलेन रसमार्गीयछायया सन्देशादिकथनेन भगवत्स्मरणादिकथनेन तत्रत्यानां **दुःखदूरीकरणसमर्थ इति बुद्धिसत्तम** उक्तः. तत्र गमनानन्तरं तत्कृपया पूर्णभावोदयानन्तरं बुद्धिर्न स्थिरतामाप्स्यति. न च तत्रत्यानां दुःखदुरीकरणसामर्थ्यं भविष्यति न वा दुःखनिवारणे कोऽपि पुरुषार्थः सिद्ध्यतीत्यादिरूपता भविष्यतीति श्रीशुकैस्तथोक्तमिति भावः. अत एवाग्रे "दृष्ट्वा कृष्णावेशात्मविक्लवमि"ति वैक्लव्यदर्शनानन्दभरेण नमस्कारं कृत्वा प्रार्थयिष्यतीति निरूपयिष्यते ॥१॥

लेखः

इति नित्यं तेनैव सह मन्त्रस्य योगो बहिर्न प्रकाश[1] इति भावः. **बुद्धिसत्तम** इति 'तमप्'प्रत्ययस्यार्थमाहुः **स्वतोऽपि छायये**ति, प्रतिच्छायया भगवत्सादृश्येनेत्यर्थः. अत एवाग्रिमाध्याये प्रलम्बबाहुत्वादिकं वक्ष्यते इति भावः ॥१॥

तमाहेत्यत्र **तेने**ति, **कार्यं तेन सेत्स्यतीति** हेतोस्तमाहेति शेषः. **प्रेष्ठ**पद-तात्पर्यमाहुः **ज्ञानार्थ**मिति, अन्तरङ्गज्ञानयोग्यतार्थम् **अत्यनुरोध्येषु** व्रजीयेषु स्वस्य भगवतोऽगमनेऽपि तेनैव कार्यसिद्ध्यर्थं च **प्रेष्ठ**पदमित्यर्थः ॥२॥

टीपिका

भगवद्रूपं जानन्तीत्यर्थः. **स्वतोपि छायये**[सुबो.]ति, अत्रायमर्थः— "यो यच्छ्रद्धः स एव स" इति वाक्यात् "नोद्धवोऽण्वपि मन्न्यून" इति विशेषवाक्याच्च **उद्धवे** भगवच्छायात्वं सिद्धम्, तेन तद्बुद्धेरपि भगवद्बुद्धिछायात्वमपि सिद्धम्. तथा गोकुलवासिनामग्रे "कृष्णलीलाकथा गायन् रमयामास गोकुलमि"त्यादिना स्वयमपि दुःखं दूरीकरिष्यति इति ज्ञेयम् ॥१॥

---

१. प्रकाशयति इति टीपिकापाठः.

प्रियः अतः **स्वसमान** इति प्रतिनिधित्वात्प्रेषणीयः. तथापि स्त्रीषु विक्रियां प्राप्स्यतीत्याशङ्क्याह **भक्तमिति**. स्त्रीकृतस्तथा भविष्यतीत्याशङ्क्याह **एकान्तिनमिति**, एकान्ते स्थातुं योग्यम्, उभयेषां विकारानालम्बनमिति. **क्वचिदे**कान्ते यत्र कोऽपि **न पश्यति** तत्र **पाणिना पाणिं गृहीत्वा आहे**ति सम्बन्धः. एवं निर्बन्धेन कथने को हेतुस्तत्राह **प्रपन्नार्तिहर** इति— शरणागता गोकुलवासिनः, तेषामार्तिर्हर्तव्येति सहज एव धर्मस्तस्य तादृश इति न तद्धर्मपरित्यागः ॥२॥

भगवद्वाक्यान्याह चतुर्भिः **गच्छोद्धवे**ति.

प्रमाणं च प्रमेयं च उपपत्तिश्च बाधकम् ।
चत्वारोऽत्रैव वक्तव्या अन्यथा प्रेषणं न हि ॥(३)॥

विवृतिः

तमाहेत्यस्य विवरणे. **तच्छब्द**व्यंजितनिरूपणे **तेन कार्यमि**त्यारभ्य **प्रेषणीय** इत्यन्तं निरूपणस्यायं भावः. **तच्छब्द**स्य पूर्वपरामर्शित्वात् पूर्वोक्तधर्मविशिष्टेनैव कार्यसिद्धिरिति भावः. व्रजवासिनश्चात्यन्तमनुरोध्याः निरोधाधिकारिणस्तेषां **स्वस्य अगमनार्थं** विप्रयोगानुभवसिद्ध्यर्थं चेति भावः. **चकारो**ऽत्र देहलीदीपन्यायमुभयत्रार्थप्रकाशकत्वेनानुहरति. उद्धवो**ऽप्यत्यन्तं प्रेष्ठः प्रियश्चा**तस्तद्दर्शनजातभावांकुरेण स्वरूपरसदानार्थं **प्रेषणीय** इति भावः.[1]प्रद्युम्नरूपत्वेऽपि प्रवेशात् शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववदिति न्यायेन कपिलादिवत् रूपान्तरेणोपदेशो न बाधक इति ज्ञेयम्. सर्वत्रात्र.[1] **प्रेष्ठ** इत्यस्यार्थनिरूपणे **अतः स्वसमान इति प्रतिनिधित्वा**दित्यादि. स्वस्वरूपं विना तेषां येनकेनापि सान्त्वनं न स्यादिति स्वान्तरंगप्रेषणमिति भावः. दूतदर्शनजविप्रयोग-स्मरणोद्भूत-तापनिवृत्तिरन्येन न भवतीति **स्वसमान इति प्रतिनिधित्वाद्** यत्किञ्चित्स्वास्थ्यार्थमिति भावः. **क्वचि**दित्यस्यार्थनिरूपणे **एकान्ते यत्र कोऽपि न पश्यतीति**. ''प्रत्यागमनसन्देशैरि''त्यग्रे वाच्यत्वात् तत्रत्याना-मेतच्छ्रवणे दुःखं स्यात्तत्रत्यनित्यस्थित्यज्ञानात् [2]तदर्थं सर्वादृश्यस्थाने कथनमिति भावः ॥२॥

प्रकाशः

तमाहेत्यत्र, **उभयेषा**मिति स्त्रीणामेकान्ते चेत्यर्थः ॥२॥

भगवद्वाक्यानां चतुर्भिर्निरूपणे हेतुमाहुः **प्रमाणमि**ति. **बाधकमि**ति अप्रेषण इति शेषः. **अन्यथा** एतच्चतुष्टयाभावे. **न ही**ति न युक्तमित्यर्थः. तथा च तदर्थं **चत्वारः** श्लोका इति भावः (३).

१-१,२. इति ग. पाठे अधिकम्.

गच्छोद्धव व्रजं सौम्य पित्रोर्नौ प्रीतिमावह ।
गोपीनां मद्वियोगाधिं मत्सन्देशैर्विमोचय ॥३॥

आदौ नियोगमाह हे **उद्धव व्रजं गच्छ. सौम्येति** सम्बोधनान्नान्यः प्रेषयितुमुचित इति सूचितम्. गत्वा कर्तव्यमाह **पित्रोः** यशोदानन्दयोः **नौ** आवयोः,

दीपिका

गच्छोद्धवेत्यत्र श्लोकचतुष्टयार्थं कारिकया संगृह्णन्ति **प्रमाणं चे**त्यादिना. **गच्छोद्धवेति** वाक्यं **प्रमाणम्,** उद्धवस्य गोकुलगमनप्रवृत्तिहेतुत्वात्. **प्रमेयं** "ता मन्मनस्का"इत्यनेनोक्तं स्वामिनीस्वरूपम्. **उपपत्तिः** स्वामिनीनामेवंविधस्वरूपं साम्प्रतमस्तीत्यत्र युक्ति "मयि ता" इति श्लोकोक्ता **मूर्च्छादैन्या**दिनिरूपणरूपा. **च**कारादुपपत्तावपि स्वरूपनिरूपणम्. **बाधकमु**द्धवाप्रेषणे "धारयन्ती"ति श्लोकोक्तं यथाकथंचित्तत्प्राणधारणसूचितस्थित्यभावरूपम्. एते **चत्वारोप्यर्था अत्रैवा**ज्ञावसर एवोद्धवस्य तत्स्वरूपाभिज्ञत्वसिद्धये **वक्तव्या, अन्यथा** तत्स्वरूपानभिज्ञस्य तत्र **प्रेषणे** कार्यं न सिध्येत्, प्रत्युत स्वरूपाज्ञानादन्यथाकथनेन **वैमनस्यमेव** सम्पादयेदिति भावः (३).

तदुपपादितमिति, "ज्ञातीन्वो द्रष्टुमेष्याम"इत्यनेनेत्यर्थः. **आधिग्रस्ता** इति, भगवद्विप्रयोगस्य स्वरूपात्मकत्वेन व्यापकत्ववत् तदाधेरपि तथात्वादिति भावः ॥३॥

विवृतिः

भगवदुक्तश्लोकचतुष्टयतात्पर्यमाहुः **प्रमाणं चे**ति. आद्यश्लोके **स्वयं** तत्र पितृत्वस्थापनेन व्रजमण्डनासु च स्वस्यैव वियोगाधित्वकथनेन तस्य च स्वसन्देशैरेव मोचने **प्रमाणत्वम्.** द्वितीये स्वस्वरूपात्मकत्व-स्वार्थदेहधर्मादित्यागोक्त्या **प्रमेयत्वं,** स्वस्य तत्प्राणधारणोक्त्या च. तृतीये स्वस्य प्रियत्वात् तत्संगाभावे स्मरणेन मूर्च्छया कातरत्वो**क्त्योपपत्ति**रूपत्वम्. चतुर्थेऽतिकृच्छ्रेण प्राणधारणोक्त्या तद्धारण-साधनेन स्वसन्देशोक्त्या **बाधक**त्वम्. एतच्चतुष्टयं विना **प्रेषणं न** स्यात्. **हि** युक्तश्चायमर्थो यदेतच्चतुष्टयं विना स्वांगीकृतान्तरंगप्रेषणं नोचितमिति भावः (३).

लेखः

गच्छोद्धवेत्यत्र चतुर्णां वाक्यानामर्थमाहुः **प्रमाणं चे**ति. **प्रमाणं** गच्छेति भगवतो नियोगः वेदरूप इत्यर्थः. **प्रमेयं** "ता मन्मनस्का" इत्यननेनोक्तं स्वामिनी-स्वरूपम्. प्रेषणे **उपपत्ति**"मयि ता"इति श्लोकोक्ता. अप्रेषणे **बाधकं** "धारयन्त्यति-कृच्छ्रेणे"त्यनेनोक्तम्. एतादृशैतच्चतुष्टयाभावे **प्रेषणं न** स्यादित्यर्थः (३).

उभाभ्यां तस्मिन्नेव पितृत्वं स्थापितमिति तदुपपादितम्. अतो यथैव प्रीतिर्भवति अस्मदागमनेनेव तथा **प्रीतिमावह.** अयं प्रकटः सन्देशः, गुप्तमाह **गोपीनां मद्वियोगाधिमिति**— मम वियोगेन य आधिः मनःपीडा तां **मत्सन्देशैः** मत्पत्रलिखितैः तत्र प्रकटीकृतैः **विमोचय** आधिग्रस्तास्ताः यथा तद्ग्रासो गच्छति तथोपायं कुरु ॥३॥

ननु तासु को विशेष इत्याशङ्क्य तासां स्वरूपमाह अस्मत्कथने प्रमेयबलत्वेन **ता मन्मनस्का** इति.

विवृतिः

मत्सन्देशैरित्यस्य विवरणे **मत्पत्रलिखितैस्तत्र प्रकटीकृतैरित्यादेरयं** भावः. एतेषां सन्देशानामतिगुप्तत्वाद्रसयोग्यत्वं विना वक्तुमयोग्यत्वात्पत्रमध्य एव लिखितास्त इति भावः. तत्र तासामवस्थासहितस्वरूपदर्शनेन तद्भावोदयानन्तरं योग्यता भविष्यतीति **तत्र प्रकटीकृतैरित्यनेन** ज्ञाप्यते. अत एवोद्धवैरपि तच्चरणरेणुप्राप्तियोग्यं जन्मापि प्रार्थनीयम्. यद्वा प्रेमरसस्वभावेन प्रियास्मरणे नैकान्ते सन्देशो लिखितुं पार्यते, तत्स्वरूपाभिनिवेशान्न तु कस्याप्यग्रे कथनसम्भवो यतस्तददर्शनेन दूतदर्शनेन च दुःखातिशयात् तस्य च प्रेमरसानुभवैकवेद्यत्वादिति भावः. नन्वानन्दमयस्य भगवतो दुःखाद्यसम्भव एव, कथं तत्कथनं? कथं वा तासां दुःखं स्वेच्छयैवेश्वरत्वान्न दूरीकृतवान्? सत्यं, भगवति तदसम्भावितं, परं रसमार्गस्थत्वेन भगवता रसमार्गमर्यादयैव एतासु रसदानस्य कृतत्वात् स्वयं च तन्मर्यादयैव रसभोगस्य कृतत्वात् तथात्वं युक्तमेवेति भावः. अत एव "आत्मारामोप्यरीरमदि"त्युक्तम् ॥३॥

ता मन्मनस्का इत्यत्र **अस्मत्कथन** इत्यादि. अत्रायं भावः— भगवान्सर्वेषु न मनोरूपेण तिष्ठति एतासु च तिष्ठतीत्यत्र भगवद्वाक्यमेव प्रमाणमिति भावः. एवं सत्यहमेव मनो यासामित्यर्थः सम्पत्स्यते. मन्मनोरूपाश्च ता इत्यत्र हेतुः

टीपिका

गच्छोद्धव इत्यत्र. **तदुपपादितमि**[सुबो]ति, "स पिता सा च जननी यौ पुष्णीतां स्वपुत्रवदि"ति पूर्वमुपपादितम्. अथवा पूर्वपीठिकायां **साक्षादि**[लेख]त्यादिनोक्तं द्रष्टव्यम्. **आत्मे**[लेख]ति, "ता मन्मनस्का"इत्यत्रास्मच्छब्दोक्तगोपिकानामात्मेत्यर्थः. **स्वरूपबलमिति**, मूले भगवतः प्रमेयबलत्वेन कथने तासां स्वरूपबलमेव विशेष इत्यर्थः ॥३॥

ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः ।
ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे तान्बिभर्म्यहम् ॥४॥

दीपिका

ननु नन्दादिषु प्रीतिप्रापणमेवोक्तं, स्वामिनीषु सन्देशस्तत्र चात्मत्वेन स्वनिरूपणं कुत इत्याशङ्क्याहुः. **ता मन्मनस्का** इत्यत्र **अस्मत्कथन** इति, अस्मच्छब्दवाच्य आत्मा, तत्कथने स्वामिनीषु स्वस्यात्मत्वेन कथने **प्रमेयबलत्वेन स्वामिनीस्वरूपमेव** विशेष इति तदेवाहेत्यर्थः. "यथा मद्धस्तस्थिते"त्यादिना भगवदङ्गीकारानुभाव उक्तः तथा च यत्र "नैषातिदुःसहे"ति वाक्याद्भगवद्गुणपरिगृहीतानां क्षुधादि-देहधर्मैर्बाधाभावस्तत्र साक्षात्स्वरूपपरिगृहीतेषु तदभावे का शङ्केति भावः ॥४॥

विवृतिः

प्रमेयबलत्वेनेति. अत्रायमर्थः— भगवन्मनोरूपतान्येषां न सम्भवति, तथा चेद्भगवान्करोति तत्प्रमेयबलेनैव, तच्च प्रमेयबलं प्रभुणात्र प्रकटीकृतम्. सर्वप्रमाणनिरासकत्वं प्रमेयबलस्य स्वतःसिद्धम्, अत एव श्रीदेवकीजलधिचन्द्रेण "मय्यावेश्य मन" इत्यारभ्य "ते मे युक्ततमा मता" इत्यन्तं निरूपितम्. एताः स्वसौन्दर्यप्रेमादि-धर्मैर्भगवन्मनोरूपा भूत्वा भगवति तिष्ठन्ति, तथा च सत्येतासां प्रमेयबलत्वं सिद्धम्. श्रीगोकुलजनप्राणनाथेनापि "मय्यावेश्ये" त्यारभ्य "मामवाप्स्यथ" इत्यन्तं बलात्कारेण मनोनिवेशनं निरूपणीयमग्रिमाध्याये.

लेखः

अस्मत्कथने इति, **अस्मच्छब्दवाच्य** आत्मा, भगवत आत्मत्वेन कथने तासां स्वरूपबलमेव विशेष इत्यर्थः.

प्रकाशः

ता इत्यत्र. **स्वरूपमाहे**ति नियोगात्मक-प्रमाणवाक्योपष्टम्भायाहेत्यर्थः. **अस्मत्कथने** इति अस्मच्छब्दप्रयोग इत्यर्थः. **सिद्धत्वादि**त्यादि, मदीयत्वस्य

टीपिका

ता मन्मनस्का इत्यत्र. **स्वरूपमाहे**[सुबो.]ति **नियोगात्मकप्रमाणवाक्योपष्टम्भाये**[प्रका.]ति, पूर्वश्लोके "गोपीनां मद्वियोगाधिं मत्सन्देशैर्विमोचये"ति भगवन्नियोगात्मकं प्रमाणं वाक्यं, तत्रोपष्टम्भाय **ता मन्मनस्का** इत्यादि भगवद्वाक्ये गोपिकानां स्वरूपमाहेत्यर्थः. **आत्मे**ति, **ता मन्मनस्का** इत्यादि भगवद्वाक्ये

प्राणिनामात्मा **मदीय** एव सर्वसाधारणः. स च सिद्धत्वाद् ज्ञातेऽपि तथा **नादरणीयः**. किन्तु देहेन्द्रियमनांस्यन्यपराण्येवोत्पत्तिशिष्टानि तानि चेन्मत्पराणि स्युस्तदा तत्सङ्गाता मदीया भवन्ति. तदाह **मय्येव मनो** यासां **मय्येव प्राणा** इन्द्रियाणि च मदर्थमेव जीवन्ति मय्येव सति जीवन्ति सर्वाणीन्द्रियाणि मद्विषयकमेव कुर्वन्ति. देहमपि मदर्थमेव कुर्वन्तीत्येतदर्थमाह **मदर्थे त्यक्तदैहिका** इति. **दैहिका** हि देहोपयोगिनस्तेषु विद्यमानेषु न भगवदर्थमेव देहो भवेद्, अतस्ते त्यक्तव्याः. ननु तेषां त्यागे देहनिर्वाहो न भवेत्, तत्राह **ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थ** इति— **त्यक्तः लोकधर्मो** वैदिकश्च यैः, **च**कारात्सर्वे लौकिकधर्माः वेदैश्च परिगृहीताः,

विवृतिः

प्राणिनामात्मेत्यारभ्य **तथा नादरणीये**त्यादि. सर्वेषामात्मा यथा मदीय इति त्वया ज्ञायते **तथा** तासु त्वया **नादरणीयः** सर्वसाधारणवदिति भावः. यतस्तेषु तासु च बह्वेव तारतम्यमाहुः **किन्त्वित्यादिना**. उत्पत्तिशिष्टत्वोक्त्यान्यपरत्वेन पूर्वं पित्रादीनां पश्चाच्च भर्त्रादीनां चेति ज्ञाप्यते, एतासां तु भगवत्सेवार्थमेव प्राकट्यान्न तथात्वम्. **मदर्थे त्यक्तदैहिका** इत्यत्र **दैहिका देहोपयोगिन** इत्यादेरयं भावः— देहोपयोगिनः पदार्थाः स्वसुखभोगार्थं त्यक्तव्याः, किन्तु भगवदर्थं देहोपयोगश्चेत्तदा तदुपयोगार्थं कर्तव्या एव. ततस्तेषां भगवदुपयोगित्वं न तु देहोपयोगित्वं, तस्मात्तथाविधास्तु त्यक्तव्या एव. **मदर्थे**ति कथनाद्भगवदाशयैव तत्त्याग इति भावः. अत एवैताभिरेवोक्तं "चिरात्त्वयि धृतासव" इत्यादि ॥४॥

प्रकाशः

सिद्धत्वाद् ज्ञातेऽपि तथात्वे मम नादरणीय इत्यर्थः. **मय्येव सति जीवन्ती**ति, एतेनाहमेव **प्राणो** यासां ता मत्**प्राणा** इत्यर्थोऽपि क्रोडीकृतः; प्राणस्य[१] राजसत्वमपि तेन संसिद्धं बोधितम्. **वेदैश्च परिगृहीता** इति, व्यापकत्वात्मारामत्वादय इत्यर्थः ॥४॥

टीपिका

गोपिकानां स्वरूपमाहेत्यर्थः. नन्वेवं यथैतासां त्वमात्मा तथा सर्वेषां त्वमात्मा, तदा सर्वेषामात्मत्वेऽपि किमर्थं तेषां सर्वेषामनादर इत्याशङ्क्याह **प्राणिनामि**[सुबो.]त्यादिना. तेषामनादरे हेतुमाह **किंत्वि**त्यादिना. **तदाहे**ति, तत्र दृष्टान्तार्थं गोपिकानां देहेन्द्रियाण्युत्पत्तिशिष्टानि भगवत्पराणि आहेत्यर्थः. **त्यक्तो लोकधर्मो वैदिकश्च**

---

१. प्राणश्च राजस इति पाठः.

एतादृशा**नहं बिभर्मि** यथा मद्धस्तस्थितपदार्थः केनापि नोपहन्यते तथा त इत्यर्थः. अतस्तेषां न कोऽप्युपद्रवः किन्तु मद्विरहः, स सन्देशैर्निराकर्तव्यः ॥४॥

ननु फलसाधकत्वाद् भक्तिमार्गे विरह एव पुरुषार्थ इति किमिति निराक्रियते तत्राह **मयि ता** इति.

मयि ताः प्रेयसां प्रेष्ठे दूरस्थे गोकुलस्त्रियः ।
स्मरन्त्योऽङ्ग विमुह्यन्ति विरहौत्कण्ठ्यकातराः ॥५॥

ता विमुह्यन्ति क्षणे क्षणे मूर्च्छां प्राप्नुवन्ति **कातरा** दीनाश्च भवन्ति; प्राणरक्षा, दैन्यं च दूरीकर्तव्यम्. ननु मूर्च्छायां को हेतुः ? ज्ञानस्य मानसव्यापारस्य वा घातकत्वाभावात्, प्राणघाते हि मूर्च्छा भवति, तत्राह **ता मयि दूरस्थे** सति **गोकुलस्त्रियः** विचारचातुर्यादिरहिताः **प्रेयसा**मतिप्रियाणां सर्वेषामेव मध्ये

दीपिका

फलसाधकत्वादिति, भक्तिमार्गफलं हि भावो व्यसनात्मकस्तत्साधकत्वादित्यर्थः.

मयि ता इत्यत्र. **ज्ञानस्ये**ति, भयादिहेतुभूतज्ञानस्येत्यर्थः. **मानसव्यापारस्ये**ति, उत्कटचिन्तादेरित्यर्थः. **स्मरणमात्रमेवे**ति, भगवतो दूरस्थित्या तत्स्मरणमात्र-

विवृतिः

मयि ता इत्यस्याभासे **फलसाधकत्वादि**त्यादि. भक्तिमार्गफलं साक्षात्सम्बन्धः, स च विप्रयोगानन्तरं जातो महारसरूपस्तत्साधक इति तथा. **विरहएवे**त्यादेरयं भावः— संयोगे त्वग्रिमरसप्राप्त्यर्थं यत्नादिकरणे मनो भवति, न तु पूर्वानुभूतलीलास्पर्शः कदाचिद् भवेत्. विरहे तु अन्तःप्रकटे प्रिये पूर्वानुभूतलीलासहिते महारस उत्पद्यते, स च पुरुषार्थरूप इति विरहस्य पुरुषार्थता. **गोकुलस्त्रिय** इत्यत्र **विचारचातुर्यादिरहिता** इत्यादि. स्वविप्रयोगस्य प्रत्यहं जायमानत्वात्प्रतिरात्रं

लेखः

ता मन्मनस्का इत्यत्र, **वेदैश्चे**ति, तथा च [1]लोक-[2]वैदिकधर्म-[3]लौकिकधर्म-[4]वेदानां त्याग उक्त इति भावः ॥४॥

टीपिका

यैरि[सुबो.]ति, त्यक्तो लौकिकपूर्वमीमांसारूपो वैदिकधर्मो यैश्चेति योज्यम्. **चकारात् सर्वे लौकिकधर्मा वेदाश्चे**ति, त्यक्ताः सर्वे केवललौकिकधर्मा अथ चोत्तरमीमांसारूपा वेदधर्माश्च यैरिति योज्यम्. तदेवोक्तं **तथा चे**[लेख.]त्यादिना ॥४॥

प्रेष्ठेऽतिप्रिये प्राणादप्यधिकप्रिये दूरे विद्यमाने सति **स्मरन्त्य** एव **विमुह्यन्ति** स्मरणमात्रमेव मूर्च्छाहेतुः. **अङ्गे**ति सम्बोधनं तासु स्नेहात् तदर्थं प्रेषणीयेऽपि स्नेहसूचकम्. मरणमनेनैव भवत्यनेन नेति किञ्चिदुपपन्नमस्ति. यथा महाभयात्प्राणोत्क्रमणम् अतिक्रूरदर्शनाच्च, यथा वा पुत्राद्यपगमश्रवणे तथा तासामपि प्राप्तिसम्भावनारहिते मयि सति मत्स्मरणमात्रेणापि. न हि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम, भगवत्प्राप्तिसम्भावनाभावसहिता भगवत्स्मृतिः महाप्रहार इव मूर्च्छाहेतुः. प्रेष्ठत्वात्स्मरणमावश्यकम्, अतोऽचिकित्स्यदोषात् निरन्तरं मूर्च्छैव. किञ्च पूर्वमनुभूतस्यार्थस्य साम्प्रतमभावो **विरहः** तेन तासामुत्कण्ठा महती अत **औत्कण्ठ्येन कातरा** दीनाश्च. मत्स्मरणे मूर्च्छा मद्धर्मस्मरणे तु कातरत्वमिति उभयं मत्सन्देशो निवारयिष्यति ॥५॥

दीपिका

स्यैवोत्कटचिन्तारूपत्वादित्यर्थः. मूर्च्छादैन्ये उभे अपि कथमुपपद्येते इत्याशङ्क्यान्तःसंवेदन-बहिःसंवेदनाभ्यां तदुभयोपपत्तिरित्याहुः **मत्स्मरण** इत्यादि. अन्तःसंवेदने भगवत्स्मृतिर्वियोगेन तथैव बहिःसंवेदने लीलास्मृतिरित्युभयमप्युपपद्यत इति भावः. **मत्सन्देश** इति सन्देशस्यानुभूयमानस्वरूपप्रापकत्वादिति भावः ॥५॥

विवृतिः

तदभावत्वाच्च तत्स्मरणाभावात्तथात्वमिति भावः, यद्वा भगवानस्मासु अत्यन्तं सुस्निग्ध इत्यस्माभिरपि तथा स्नेहो विधेय इति **विचारः** विना विप्रयोगदुःखं प्रियज्ञापनार्थं कृत्रिमदुःखज्ञापनं[1] **चातुर्यं तद्रहिता** इत्यर्थः. एतास्तु साहजिकतथाविधस्नेहवत्यो यत्स्मरणमात्रेणैव मूर्च्छिता भवन्तीति भावः. **स्मरन्त्य** इत्यस्य विवरणे **स्मरणमात्रमेव मूर्छाहेतुरि**त्यादेरयं भावः— मध्ये केनचिदुक्ते सति भगवानक्रूरसंगे गत इत्यादिस्मरणेनैव मूर्छा भवतीति भावः. **न हि दृष्टेऽनुपपन्नमि**ति,

टीपिका

मयि ता इत्यत्र. नन्वेवं विरहे सत्यप्यन्तर्गृहगतावत् कथं न मरणमित्याशङ्क्याह **अचिकित्स्यदोषादि**[सुबो]ति. तथा चैतासां भगवदिच्छया द्वितीयदलानुभवार्थमलौकिकसामर्थ्याच्च मरणमिति. एतत् सर्वम् ''अलब्धरासाः कल्याण्यो मापुर्मद्वीर्यचिन्तया'' इत्यत्र सुबोधिन्यां ''दुरितं दृष्ट एवोपक्षीणमि''त्युक्तम्. तदर्थो[लेखः]द्रष्टव्यः ॥५॥

१. ज्ञापनार्थम् इति मु. पा.

तर्ह्येवं मूर्च्छायां जीवने का प्रत्याशेत्याशङ्कायामाह **धारयन्त्यतिकृच्छ्रेणे**ति.

धारयन्त्यतिकृच्छ्रेण प्रायः प्राणान्कथञ्चन ।
प्रत्यागमनसन्देशैर्वल्लव्यो मे मदात्मिकाः ॥६॥

अतिकष्टेन प्राणान् धारयन्ति. बह्व्यो मृता इति **प्राय**ग्रहणम्. देहेन्द्रियान्तःकरणानि तु विकलान्येव, प्राणान् केवलं धारयन्ति. तत्र का उपपत्तिरित्या-

---

दीपिका

धारयन्त्यतिकृच्छ्रेणेत्यत्र. **बह्व्यो मृता** इति, भगवति लीलासहिते तासु प्रविष्टे प्रयोजनाभावात्पूर्वं तत्प्रविष्टरसात्मकस्वामिनीनां भगवति प्रवेशादिति भावः. अत्रायं निर्णयः— एताः श्रुतयोऽग्निपुत्राश्च, तास्ते च भगवता प्रकटिता रसात्मकस्वरूपदानायेति वरदानकथयावगम्यते. तथा च तदानीं भेदेन दर्शनं दत्तमिति तथैव प्रकटः स्वयं नन्दगृहे गोप्यः श्रुतिष्विति(?) सिद्धे कार्ये निरोधरूपे

विवृतिः

अन्तर्गृहगतानामित्यर्थः. **विरहौत्कण्ठ्यकातरा** इत्यस्य विवरणे **मत्स्मरणे मूर्च्छा मद्धर्मस्मरणे तु कातरत्वमि**त्यस्यायं भावः— भगवत्स्मरणं विप्रयोगे सति तस्य मूर्छाहेतुत्वं सिद्धमेव. भगवद्धर्माः स्वविप्रयोगासहिष्णुत्वादयस्तत्स्मरणे कातरत्वमिति भावः ॥५॥

प्राय इत्यस्यार्थनिरूपणे **बह्व्यो मृता** इति. तासां चेत्कुशलं स्यात्तदा ममैतादृक्क्लेशो न स्यादिति भगवतोक्तं, न तु तत्र काचिदन्या सम्भावनास्ति.

लेखः

मयि ता इत्यत्र, **किञ्चिदुपपन्नमस्ती**ति काकुना योज्यम्. **मत्स्मरणे** इति, बहिःसंवेदनाभावे अन्तःस्वरूपमात्रस्मरणे इत्यर्थः. **मद्धर्मे**ति, बहिःसंवेदने लीलास्मरणे इत्यर्थः ॥५॥

टीपिका

धारयन्तीत्यत्र. **बह्व्यो मृता**[सुबो.] इत्यस्यार्थो **भगवदि**[दीपि.]त्यादिनोक्तः. तत्र **तत्प्रविष्ट** इति रसात्मको भगवान् प्रविष्ट इत्यर्थः. **तदानीमि**ति वरदानसमये इत्यर्थः. **भेदेन दर्शनं दत्तमि**ति, "श्रुतयो यत्र शेरत" इतिवाक्यात् पूर्वं श्रुतयो भगवति अभेदेन शयनं कुर्वन्तीति, तदा तु वरदानार्थं भेदेन दर्शनं दत्तमित्यर्थः. **तथे**ति, **स्वयं नन्दगृहे भेदेन प्रकटो** जात इति योज्यम्. तथैव श्रुतयोऽपि गोपगृहेषु भेदेन प्रकटा जाता इति ज्ञेयम्. पश्चा**न्निरोधरूपे सिद्धे कार्ये** सति गोपीरूपा श्रुतयः

शङ्कायामाह **कथञ्चिदि**ति, न काप्युपपत्तिः प्रसिद्धा. वस्तुतस्तु मरणमेवोचितम्; जीवनमस्तीति किञ्चित्साधनं परिकल्प्यते, अप्रसिद्धत्वात्**कथञ्चिदि**त्युक्तम्. प्रमेयबलेनेति भगवदिच्छयेति जीवनमात्रम्. प्रमेयबलस्यापि दुःखदूरीकरणे न सामर्थ्यं

विवृतिः

कथंचिदित्यस्य विवरणे **न कापी**त्यारभ्य **धारयति** इत्यन्तम्. प्रियविप्रयोगे मरणमेव धर्मः, परं **जीवनमस्ति** **म**मेति शेषः. तेन मम जीवनेन किञ्चित्साधनं मद्दुःखज्ञानेन मदर्थं धारयन्तीत्यर्थः. भगवतस्तथाभावस्तु रसात्मकत्वाद्वेदादिषु लोकेषु वाऽप्रसिद्धस्तेन **कथंचने**त्युक्तम्. उद्धवस्यापीदानीं बोधनमनुचितं तासामनुग्रहेण च ज्ञानं भविष्यत्येवेति **कथंचने**ति गुप्ततयोक्तमिति भावः. अयमेवार्थः

टीपिका

आधिदैविक**श्रुतिषु**[दीपि.] प्रविष्टाः. **तासामि**ति, आधिदैविकश्रुतीनां **भगवति प्रवेश इत्यभिप्रेत्य** श्रीमदाचार्यवर्यैस्**तथोक्त**मिति **बह्व्यो मृता**[सुबो.]इत्युक्तमित्यर्थः. **कात्यायनीप्रवेशादिरूपा**[दीपि.]इति, अग्निकुमाराणां प्रथमं कात्यायनीप्रवेशस्तद्द्वारा भगवति प्रवेश इत्यर्थः. एवं श्रीहरिरायचरणैः श्रुतीनामग्निकुमाराणां च भगवति प्रवेश इति निर्णयः कृतः. तत्रायमाशयः— **कथञ्चन**[मूल.]पदस्यार्थकथने एतासां प्रमेयबलेन प्राणधारणमुक्तं, देहस्य तु गुणमयाभावाद् भगवति विद्यमाने च अन्यथात्वशङ्कैव नास्तीति न कापि शङ्का कार्येति भावः. तर्हि निरोधरूपे सिद्धे कार्ये भगवति प्रवेशः कथमुक्त इत्याशङ्कायाः परिहारस्तु— लीलास्थानां तु प्रतिक्षणं भगवति लयो भवति, ततो भजनानन्दं दातुं पुनरुद्धरणं भगवान् करोतीति. तदेवोक्तं युगलगीतसुबोधिन्यां "भगवान् यद् गोकुलं गोष्ठे समानयति तत् कृपया, अन्यथा एकस्यां लीलायां व्यापृता गावो मुच्येरन्. तथा गोपिकाः. परं कृपयैव भजनानन्दानुभवार्थं तथा करोति. अत्र हेतुः 'यदगध्र' इति, "यद्यस्मात् कारणाद् अगं पर्वतं धारयतीति. यदि भजनानन्दं न दद्यात् तदा गोवर्धनोद्धरणं न कुर्यादिति".

धारयन्तीत्यत्र **बह्व्यो मृता** इत्यत्र **मरणमेवोचितमि**[सुबो.]ति, मद्विरहे तासां मरणमेवोचितमित्यर्थः. तर्हि जीवने कोपपत्तिरित्याशङ्कायां **कथञ्चन**पदेन जीवने याऽप्रसिद्धोपपत्तिरुक्ता, तां पूर्वश्लोकेऽस्मच्छब्दोक्तप्रमेयबलत्वेन उक्ता, तामत्र पुनः श्रीमदाचार्यचरणा उद्घाटयन्ति **प्रमेयबलेने**त्यादिना. तदेवोक्तं पूर्वश्लोके सुबोधिन्यां "मय्येव सति जीवन्ती"ति. तदर्थस्तु[प्रका.]"एतेनाहमेव प्राणो यासामि"त्यादिनोक्तो द्रष्टव्यो नान्यप्रकारेण विचारणीय इति ॥६॥

किन्तु धारणात्मकं भूत्वा कथञ्चिद्धारयति. तर्हि सन्देशेन किं कर्तव्यं तत्राह **प्रत्यागमनसन्देशैरिति**— भगवान् प्रत्यागमिष्यतीति यो ममैव सन्देशः "आयास्य" इति तज्जीवने साधनं; तत् कालेन जीर्णं चेत् मरणमेवेति तदर्थमुपायान्तरं कर्तव्यम्. स उपायः पत्रे स्पष्टो भविष्यतीति भावः. ननु स्त्रीणां स्थाने तत्रापि गुह्यसन्देशे कथं पुरुषाः प्रेष्यन्ते तत्राह **वल्लव्यो म** इति, त्वयि न सन्देहः ताः पुनः **मे** मदीयाः; न हि मदीयानामन्यत्र मनो भवति, मत्सम्बन्धस्यैव तथा सामर्थ्यात्. **वल्लवी**पदेन चैतद् ज्ञापयति— वल्लवानां गोपानां स्त्रियः. अहोरात्रं च गोपाः स्त्रीणां वलयप्राया इति ता आवेष्ट्यैव तिष्ठन्तीत्यतिकामुकाः नित्यं स्त्रीसुखदातारस्तादृशानामपि स्त्रियो भूत्वा तान्परित्यज्य मत्पराश्चेदन्यस्मिन् शङ्केव नोदेति. ननु ममैव यदि तास्वन्यथाबुद्धिर्भवेत् तदा का गतिरित्याशङ्कायामाह **मदात्मिका** इति, अहमेवात्मा

दीपिका

तासां पुनर्भगवति प्रवेश इत्यभिप्रेत्य तथोक्तमाचार्यैः. अग्निकुमाराणां तु भिन्नैव व्यवस्था कात्यायनीप्रवेशादिरूपा. **तज्जीवन** इति, पूर्वोक्तम् "आयास्य इति दौत्यकैरि"ति वाक्यमेतावत्पर्यन्तं जीवने साधनमित्यर्थः ॥६॥

विवृतिः

प्रमेयबलेनेत्यादिना निर्णीतः. भगवदिच्छयास्मद्भाग्येन जीवनमिति ध्वनिः. रसात्मकभगवद्धर्मास्त्वेतादृशा एवेति नात्र शंका, अत एव गीतगोविन्दे "हरि हरि हतादरतये"त्यादि भगवद्वाक्यानि विलसन्ति. एतदेव "मय्येव सति जीवन्ती"त्यनेन निरूपितम्. **कथंचने**त्यस्य विवरणे **अप्रसिद्धत्वादि**ति. भगवता रसाधिक्यसमये तासु कानिचिद्वाक्यानि तथाविधानि प्रकटीकृतानि यैः कृत्वा यथाकथंचित्प्राणा रक्षणीया एव भवन्ति तासाम्. अत एवाग्निमाध्याये ताभिरेव निरूपणीयं "दुस्त्यजस्तत्कथार्थ" इति. प्राणरक्षार्थं कथावलम्बनमिति श्रीशुकैरपि "क्षणं युगशतमिवे"त्यनेन बहुकालजीवनमप्येतदाशयैवोक्तम्. **प्रत्यागमनसन्देशैरि**त्यत्र, **आयास्यति** इत्यारभ्य **पत्रे स्पष्टो भविष्यती**त्यादि. आगमनस्य जीवनसाधनत्वं त्वस्मदन्यथाभावानन्तरं भगवानागत्य दुःखितो भविष्यतीति भगवदागमनाकांक्षया ज्ञात्वा स्वदुःखसहनेनापि जीवरक्षयेति भावः. तदागमनं कालेनोक्तं समयेन चेज्जीर्णं स्यात्तदा तु पुनः तथैवेति किं मत्प्रेषणेनेत्युद्धवहार्दमभिप्रेत्योच्यते. तदर्थमुपायान्तरं कर्तव्यं, **स चोपायः पत्रे** "यत्त्वहमि"त्यारभ्य "अचिरान्मामवाप्स्यथे"त्यन्तं **स्पष्टो भविष्यति** ॥६॥

यासां, मत्स्वरूपास्ता अतस्तव तासु मद्बुद्धिरेव भविष्यतीति न काचिच्चिन्तेत्यर्थः ॥६॥

एवमुपपत्तिपूर्वकं [1]व्रजगमनार्थमाज्ञप्तस्तथा कृतवानित्याह **इत्युक्त** इति.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

इत्युक्त उद्धवो राजन्सन्देशं भर्तुरादृतः ।
आदाय रथमारुह्य प्रययौ नन्दगोकुलम् ॥७॥

राजन्निति ईश्वराज्ञा सेवकैरवश्यं कर्तव्येति ज्ञापनार्थम्. स हि उत्सवात्मकः यत्रैव गच्छति तत्रैवोत्सवः. भर्ता हि स्वामी, अनेन पातिव्रत्यं तस्योक्तम्. तेन निन्दास्तुतिः लोकातिक्रमः परलोकादिबाधो वा सर्वमविगणय्य **भर्तुः सन्देशमेवादाय**

दीपिका

इत्युक्त इत्यत्र. **स हीति**, अत एव भगवता तथोक्त इति भावः. **तेन निन्देत्यादि, निन्दा** साधारणकार्यकर्तृत्वेन लोकैः क्रियमाणा **स्तुतिरे**तदकरणे तैरेव क्रियमाणा **लोकातिक्रमो** लोकविरुद्धकरणरूपः **परलोकादिबाधः** स्वामिनीवचनानां

विवृतिः

इत्युक्तेत्यस्य विवरणे. **भर्तु**रित्यत्र **भर्ता हि स्वामी अनेन पातिव्रत्यमि**त्यादि. उद्धवस्य मध्यात्वभावस्तु सार्वदिक एव, परं तद्योग्यदेहाप्तिस्तु व्रजनितम्बिनीचरणरेणुकृपाभावेन भवति, तदर्थमेव च भगवतायं प्रेष्यत इति भावः. अत एव श्रीगोपीजनजीवनचरणरेणुप्रिया-निरूपितनामविवरणे ''गोपीमनोरथाक्रान्त'' इत्यत्रास्मद्भाग्योदयाचलसुधादीधिति-श्रीवल्लभनन्दनचरणैर्निरूपितम्

लेखः

इत्युक्त इत्यत्र **निन्देति**. **निन्दा** साधारणकार्यकर्तृत्वेनाज्ञैः क्रियमाणा, **अस्तुतिरिदं** कार्यं महतोऽप्रशस्तमिति, **लोकातिक्रमः** अयमेतादृश इति लोककृतोऽतिक्रमः, **परलोकबाधो** भगवति दोषारोपवाक्यश्रवणम्, **आदिपदेनाय**मेव भक्तिमार्गबाधोऽपि— इदं **सर्वं** भगवदाज्ञायामादराद**विगणय्येति भर्तृ**पदतात्पर्यमुक्तम् ॥७॥

प्रकाशः

इत्युक्त इत्यत्र **तत्रैवोत्सव** इति, **तेन**[2] तत आरभ्य गोकुले न कस्यापि विरहक्लेश इति ज्ञापितम् ॥७॥

१. गोकुलगमनार्थम् इति स. २. 'एतेन' इत्यपि पाठः.

नन्दस्य गोकुलं प्रययौ. तत्राप्यादरपूर्वकं परमपुरुषार्थं प्राप्त इव. भगवत्स्मरणेन मार्गे वैकल्ये गमनं बाधितं भविष्यतीति **रथेन** प्रययौ ॥७॥

गमनदिवसे सन्देशो वक्तुमशक्य इति आदौ नन्दश्च वक्तव्य इति स्मारकेण तासां विरहोऽधिको भविष्यतीति सन्ध्यायां गत इत्याह **प्राप्त** इति.

प्राप्तो नन्दव्रजं श्रीमान्निम्लोचति विभावसौ ।
छन्नयानः निविशतां पशूनां खुररेणुभिः ॥८॥

नन्दस्यैव व्रजं गतः, विशेषाकारेण कालस्य[1] तथात्वात्. अतिथिप्रकारेण

दीपिका

दोषारोपादिरूपाणां श्रवणेन **तत्सर्वमविगणय्ये**त्यर्थः. प्रशब्दार्थमाहुः **तत्रापीति** ॥७॥

प्राप्त इत्यत्र **गमनदिवस** इति, तथा च शीघ्रगमने सन्देशाकथनात्कालस्य व्यर्थगतिः स्यादिति भावः. **आदौ नन्दश्चे**ति, आज्ञायास्तथात्वादित्यर्थः. अन्यथा समयसत्त्वे गोपादिभ्योऽपि वदेदिति भावः. **स्मारकेणे**ति रथादिनेत्यर्थः.

विवृतिः

"अस्मद्व्यतिरिक्तभावस्य न तत्र प्रवेश" इति. एतद्भावदार्ढ्यमेवोक्तं **तत्राप्यादर-पूर्वकं परमपुरुषार्थं प्राप्त** इत्यादिना ॥७॥

प्राप्तो नन्दव्रजमित्यस्याभासे, **स्मारकेण तासामि**त्यादि. दिवसे यत्किञ्चिद्विरहस्य स्थितत्वादक्रूरसहगमनस्मारकत्वात्तस्य दर्शनादेव तदाधिक्यं[2] भविष्यतीति तासां भगवदागमनोत्साह-विस्मृतदेहगेहादिसमये गमनमिति भावः. अयमेवार्थो **निम्लोचति विभावसावि**त्यस्य विवरणे **सर्वेषां लौकिकवैदिककर्मणि वैयग्र्यात्स्वाज्ञानं सूचितमि**त्यनेन व्यक्तीकृतः. अस्य भावस्य गोप्यत्वात्सर्वेषां **लौकिकवैदिके**त्यादिकथनमिति भावः. **प्राप्तो नन्दव्रजमि**त्यस्य निरूपणे **विशेषाकारेणे**त्यादि, रात्रिसमय एव पितृचरणानां वियोगकालत्वात्तत्रैव गमनमिति भावः. स्वामिनीनां तु रात्रौ प्रभुसंगमकाल इति तत्र प्रातः[3] गमनम् ॥८॥

प्रकाशः

प्राप्त इत्यत्र **कालस्य तथात्वादि**ति, तत्र भगवदागमनकालः स इति तस्य विशेषाकारत्वादित्यर्थः ॥८॥

---

१. कालस्तु इति स. २. स्वप्नस्य दर्शनादेव तदाशंका भविष्यतीति ग. पाठः.
३. न गमनम् इति ग. पाठः.

गमनमाशङ्क्य निराकरोति **श्रीमानिति**, सर्वसम्पत्तियुक्तः. **विभावसौ** सूर्ये **निम्लोचति** अस्तं गच्छति सति. **विशेषेण भाः** कान्तिरेव धनं यस्येति योगप्राधान्यात् सूर्यवाचकोऽग्निवाचकश्च. अनेन सर्वेषां लौकिकवैदिककर्मणि वैयग्र्यात् **स्वाज्ञानं** सूचितम्. किञ्च **निविशतां पशूनां खुररेणुभिश्छन्नयानः** आछन्नरथः. प्रवेशे पशूनां वेगो भवति ॥८॥

भगवद्रहितत्वात् पञ्चधा वर्णयति गोकुलम्, ऐश्वर्यरहिता अन्ये गुणाः सन्ति. वीर्यं कामे प्रतिष्ठितमिति तत्र पशूनां कामलीलामाह **वासितार्थ** इति.

दीपिका

कालस्य तथात्वादिति, अतिथिसमागमकालत्वात्सन्ध्याकालस्येत्यर्थः. **अग्निवाचकश्चेति**, तथा चाग्नेरप्यग्निहोत्रीयस्यास्तमयसमयोऽत एव विहरणं तदेति बोधितम् ॥८॥

लेखः

प्राप्त इत्यत्र, **कालस्येति**. सन्ध्याकाले नन्दव्रजएव गमनम् उचितं न तु गोपिकागृहे, तासां मिलनासम्भवादित्यर्थः. **अनेनेति**, **विभावसु**पदे सूर्यवाचकत्वे तन्निम्लोचे लौकिकगृहादिकार्यवैयग्र्यम्, अग्निवाचकत्वे तन्निम्लोचे अग्निहोत्रिणां बहुकर्तव्यमापततीति वैदिककार्यवैयग्र्यम्. **किञ्चेति**, छन्नरथत्वादपि सर्वेषां तदज्ञानमित्यर्थः ॥८॥

भगवद्रहितत्वादिति, भगवतो भक्तहृदयस्थत्वेन गोकुले तदभावः. अत एव भक्तहृदये एव सर्वलीलाविष्करणमैश्वर्यं न तु गोकुले इतिभावः.

टीपिका

प्राप्त इत्यत्र. **विशेषाकारेण कालस्य तथात्वादि**[सुबो.]त्युक्तम्. तदर्थः **तत्र भगवदागमनकालः स**[प्रका.] इत्युक्तम्. ननु तदानीं भगवदागमनं केन प्रकारेणेत्याकाङ्क्षायामत्रायमर्थः— विद्वन्मण्डने नित्यलीलायां "छान्दोग्ये पठ्यते" इत्यारभ्य "अग्रे भगवतः पुरं लीलास्थानं श्रीगोकुलमथुराद्युच्यते"इत्युक्तम्. तदग्रे श्रीगोकुलस्थभक्तहृद(य!)कमलस्य दहरत्वमुक्तम्. तेन भक्तानां विशेषाकारेण हृद्येव भगवदागमनप्रकारो लक्ष्यते. तदेवोक्तं "वृष्णीनां प्रवरो मन्त्री"त्यस्य पूर्वपीठिकायां "अत्रायमभिसन्धिरि"[लेख.]त्यादिना. एतदेवात्रोक्तम् **अत एव**[लेख.] इत्यादिना. **प्राप्त** इत्यत्र **विहरणं तदे**[दीपि.]ति, तस्मिन् समये अग्निहोत्रिणामग्नेरस्त-समयाच्छादनकाल इत्यर्थः ॥८॥

वासितार्थेऽभियुद्ध्यद्भिर्नादितं शुष्मिभिर्वृषैः ।
धावन्तीभिश्च वास्राभिरूधोभारैः सवत्सकान् ॥९॥
इतस्ततो विलङ्घद्भिर्गोवत्सैर्मण्डितं सितैः ।
गोदोहशब्दाभिरवं वेणूनां निःस्वनेन च ॥१०॥

शुष्मिभिर्मत्तवृषैर्नादितम्, तेन पितरोऽपि तृप्यन्तीति प्रसिद्धिः. स च नादो जयपूर्वक इति वक्तुं युद्धमाह **युद्ध्यद्भिरिति. वासिता** भोगयोग्या गौः, यथा

दीपिका

भगवद्रहितत्वादिति, भगवतः स्वामिनीषु सत्त्वेन गोकुले तथात्वमित्यर्थः. एतेन तत्र भगवत्सत्त्वेनैश्वर्यं सकललीलाविष्करणरूपं तास्वेवास्तीति श्रीगोकुले तदभाव इति भावः.

वासितार्थ इत्यत्र. **तेन पितरोपीति**, एतेनात्रत्यकामस्य धर्माविरुद्धत्वमुक्तम्. तथा च "धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ"इति वाक्याद्भगवद्विभूतिरूपत्वमपीति भावः. **जयपूर्वक** इति, तथा चात्र कामकृतकार्पण्यदोषाभावोऽपीति भावः ॥९॥

विवृतिः

वासितार्थ इत्यादेराभासे **भगवद्रहितत्वादित्यादि**, सन्ध्याकाले पशूनग्रे कृत्वा तत्रैव पुन**रैश्वर्यरहिता अन्ये गुणाः सन्तीत्य**स्यायं भावः. गोकुलस्य भगवद्रूपत्वात्पञ्चधा वर्णनं कथमित्याशंक्याहु**रैश्वर्ये**त्यादि. ईश्वरत्वं हि प्रेमविरोधि, तस्मात्तं भगवानत्र त्यक्त्वैव प्रेमवशगः सन् रमते, तेन तद्रहितत्वमिति भावः. अन्यथा तस्मिन् सति गोचारणादिकं गोपेषु सख्यं, व्रजभाग्यभूमिकनकलतिकासु च गीतोक्तन्यायेन "घनमसृणवाणि करवाणि चरणद्वयं सरसगलदलक्तकसरागमि"त्यादिकं न सम्भवतीति तदभाव इति भावः. अत्र च भगवान्तृतीयपुरुषार्थलीलयैव रसदानं करोति, तदनुगुणपदार्थानेवात्र प्रकटयतीति ज्ञापनाय वीर्यनिरूपणे **पशूनाम**पि **कामलीलै**व निरूपिता. अयमेवार्थोऽस्मत्प्रभुचरणै"**वीर्यं कामे**"त्यादिना व्यक्तीकृतः ॥९॥

लेखः

वासितार्थ इत्यत्र **तेनेति**, वृषोत्सर्गप्रकरणे तथोक्तम्. एतस्य कामस्य धर्माविरोधित्वबोधनायेदमुक्तम्. तेन "धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मी"तिवाक्याद्विभूतिरूपत्वमेवेति भावः. कार्पण्याभावमप्याहुः **जयपूर्वक** इति ॥९॥

ऋतुकाले स्त्री. सा विरलैव भवतीति तदर्थं बहवो वृषा युद्धं कुर्वन्ति. वृषभाणामुक्त्वा गवामाह **धावन्तीभिरिति**, **वास्राः** सद्यःप्रसूता धेनवः, सवत्साः ताः पुनः **इतस्ततो** धावन्ति वत्सादर्शनात्. अथवा **वास्राभिर्धेनुभिश्च नादितम्, ऊधसो भारेण** धावनमशक्यमिति. तथापि धावनं प्रेमाधिक्यात्. तद्वीर्यमेव स्त्रीपुरुषैर्निरूपितम्. **सवत्सकानन्यान् स्थूलान्विलङ्घद्भिः गोवत्सैर्विशेषेण** लङ्घद्भिर्**मण्डितं** वत्सकान् प्रति धावद्भिर्धेनुभिर्मण्डितं, तानेव विलङ्घद्भिः गोवत्सैश्च मण्डितम्. **इतस्तत** इति श्रीवर्णनम्, श्वेतगोवत्सैः शोभातिशयो भवतीति. **गोदोहशब्देन अभितो रवो** यत्र, **वेणूनां निःस्वनेन च** मण्डितं, स्वरूपतः शोभा धनं श्रीकार्यं च. वीणादिवादनवद् वेणुवादनमपि श्रीकार्यमेव. **च**काराद्वीणादिवाद्यान्यपि ॥९-१०॥

गायन्तीभिश्च कर्माणि शुभानि बलकृष्णयोः ।

स्वलङ्कृताभिर्गोपीभिर्गोपैश्च सुविराजितम् ॥११॥

गायन्तीभिश्चेति. **बलकृष्णयोः शुभानि** कौतुकलीला**कर्माणि**, गोकुलवासिनामुत्सवनिरूपणार्थं कर्मणां शुभत्वं निरूपितम्. त्यक्त्वा गत इत्यपि कर्म भवति, तथापि स्वस्य हितकरं न भवति तद्व्यावृत्त्यर्थं वा. गानं च यशोरूपं स्त्रियश्चेद्गायन्ति, अन्यथा भगवद्गुणगानस्य विहितत्वाद् धर्मत्वमेव स्यात्. अतो

दीपिका

गायन्तीभिश्च इत्यत्र **उत्सवनिरूपणार्थमिति**, स्वामिनीगानेनैव सर्वेषां गोकुलवासिनां भगवद्वियोगेऽपि परमानन्दसिद्धेरिति भावः. **स्त्रियश्चेदिति**, पुंसां धर्मबुद्ध्यापि गानसम्भवादिति भावः. **गोपान् गोपीरिति**, येषामुत्सवो याभिश्च

लेखः

गायन्तीभिश्चेत्यत्र **उत्सवनिरूपणार्थमिति**, भगवद्वियोगेऽपि स्वामिनीगानेनैव परमानन्दसिद्धेरिति भावः. **स्त्रियश्चेदिति**, पुरुषाणां धर्मबुद्ध्यापि गानं सम्भवतीति भावः ॥११॥

टीपिका

गायन्तीभिश्चेत्यत्र. **शुभानी**[मूल]त्यस्यार्थकथने **त्यक्त्वा गत**[सुबो.]इति. भगवांस्त्यक्त्वा **गत इत्यपि कर्म भवती**ति वियोगावस्थायां तदपि गायन्ति. अत एव कविभिरपि गीतानि भवन्ति. **तथापि** तत्कर्मगानं **स्वस्य हितकरं न भवति. तद्व्यावृत्त्यर्थं वे**ति, तत्कर्मव्यावृत्त्यर्थं शुभानि कर्माणि बालचरित्रादीनि गायन्तीत्युक्तमिति वार्थः ॥११॥

गोपा(न्)[1] गोपीश्च वर्णयति— **स्वलङ्कृताभिः गोपीभिः गोपैश्च** स्वलङ्कृतैः **सुष्ठु विराजितमि**ति ॥११॥

ज्ञानार्थं धर्ममाह, प्रवृत्तिस्वभावमेव ज्ञानम् उपयोगीति, **अग्न्यर्कातिथी**ति.

दीपिका

गानेनोत्सवस्तदुभयवर्णनमित्यर्थः ॥११॥

अग्न्यर्कातिथीत्यत्र. **प्रवृत्तिस्वभावमि**ति, ज्ञाने निरूप्ये धर्मनिरूपणात्तदनुकूलमेव ज्ञानमत्रोपयुज्यत इति भावः ॥१२॥

विवृतिः

गायन्तीभिश्चेत्यत्र, **गानं च यशोरूपं स्त्रियश्चे**द्गायन्तीत्यस्यायं भावः— पुरुषाणां तु तद्विप्रयोगाननुभवेन गानं भवेत्परं स्त्रीणां सन्ध्यासमये प्रियवियोगानुसन्धानेन दुःखाधिक्याद्गानमसम्भावितं, ताश्च तदैव गानं कुर्युर्यदि तदागमनानन्दाविर्भावो हृदि स्यात्. तस्मादत्र तासां गानोक्त्या श्रीगोकुलाधीशागमनोत्सवामृतजलधिवीचित्वं गानस्य ज्ञाप्यत इति भावः. स्त्रीणामगानं चेत्स्यात्तदा तासां दुःखसम्भानं स्यात्तदा भगवतोऽसाधारणं यशो न स्याद्भगवतश्चेदमेव यशो यद् व्रजार्तिहरणम्. अत एवैताभिरेवोक्तं ''व्रजभयार्तिहन्वीर योषितामि''त्यादि. न हि गोपीपतिं विना 'योषितां वीरे'ति सम्बोधनमर्हत्यन्यः, तेन स्त्रीणामेव गानं भगवतो यशोरूपमिति भावः. अयमेवार्थः श्रीमदाचार्यैः **स्त्रियश्चे**दित्यनेन निर्णीतः ॥११॥

अग्न्यर्कातिथीत्यस्याभासे **प्रवृत्तिस्वभावमेव ज्ञानम् उपयोगी**ति, निवृत्तिस्वभावज्ञानस्य मोक्षसाधकत्वात् श्रीगोकुले तु नन्दगृहे प्रकटस्य पुरुषोत्तमस्यैव फलरूपत्वात्प्रवृत्तिस्वभावस्यैव उपयोग इति भावः. **अग्न्यर्कातिथी**त्यस्य विवरणे

प्रकाशः

अग्नीत्यस्याभासे **उपयोगी**ति भक्त्युपयोगीत्यर्थः.

टीपिका

अग्न्यर्कातिथीत्यस्याभासे **प्रवृत्तिस्वभावमि**[सुबो.]ति. अत्रायमर्थः— अग्न्यर्कातिथ्यादीनामर्चनं प्रवृत्तिस्वभावमेव ज्ञानम्; ''भक्तानां गृहमेव विशिष्यते'' इति वाक्यात् पुष्टिमार्गीयभक्तानां **प्रवृत्तिस्वभावमेव ज्ञानमुपयोगी**त्यर्थः. तदेवोक्तं **भक्त्युपयोगी**[प्रका.]त्यर्थः. **अग्न्यर्कातिथी**त्यत्र **धर्मप्रस्ताव**[सुबो.] इति, अग्न्यर्कातिथीनां

१. गोपाः इति स.

अग्न्यर्कातिथिगोविप्र-पितृदेवार्चनान्वितैः ।
धूपदीपैश्च माल्यैश्च गोपावासैर्मनोरमम् ॥१२॥

अग्नयः अग्निहोत्रादिना पूज्यन्ते, **अर्कः** सन्ध्यावन्दनादिभिः, **अतिथयः** पूज्यन्त एव, **गावो** व्रतादौ दाने च, तथा **विप्राः**. पितॄणां **देवतानां** च नैमित्तिके **अर्चनम्**. अनेन श्रौतः स्मार्तश्च धर्मस्तत्र वर्तत इति निरूपितम्— देवता हविर्मन्त्राश्च श्रौते निरूपिताः, पितरो देवा स्मार्ते श्राद्धे होमे च. तान्त्रिकधर्मोऽपि तत्र वर्तत इति ज्ञापयितुमाह **धूपदीपैश्च माल्यैश्चे**ति. **अर्चनायामन्वितै**र्धूपादिभिर्विराजितं मनोहरं वा, व्रजस्य गृहाः सुन्दरा न भविष्यन्तीति धर्मप्रस्तावे आधारत्वेन निरूपितम्. **गोपानामावासै**रुत्तमगृहैः **मनोरमं** सर्वेषामेव मनोरतिजनकम् ॥१२॥

वैराग्यं निरूपयन् गृहे उद्वेगे बहिर्निर्गतस्य महत्सौख्यं तत्रेति वदन् आह **सर्वतः पुष्पितवनमिति.**

सर्वतः पुष्पितवनं द्विजालिकुलनादितम् ।
हंसकारण्डवाकीर्णैः पद्मखण्डैश्च मण्डितम् ॥१३॥

सर्वतः पुष्पितानि वनानि यत्र. अत्र **वन**शब्देन उपवनप्रायाणि वनानि जलानि चोच्यन्ते. पुष्पाणामत्युत्कृष्टत्वाय तद्गन्धरसाभिज्ञान् निरूपयति **द्विजाना-मलीनां च कुलैर्नादितमिति**. जलस्थानामुत्कर्षं वक्तुं विशेषमाह **हंसैः कारण्डवैरा-कीर्णमिति**, मुख्यानि पद्मानीति **पद्मखण्डैः** पद्मसमूहैः **मण्डितमिति** ॥१३॥

एवं व्रजं वर्णयित्वा तादृशे गतस्य पूजादिकमाह **तमागतमिति.**

तमागतं समासाद्य कृष्णस्यानुचरं प्रियम् ।
नन्दः प्रीतः परिष्वज्य वासुदेवधियार्चयत् ॥१४॥

विवृतिः

अनेन श्रौत इत्यादि, भक्तेरेव मुख्यत्वादेतद्धर्मद्वयमपि वर्तते, परन्तु तस्य भगवति विनियोगात्तन्मध्यपातित्वमेव तयोर्नतु मुख्यत्वम् ॥१२॥

टीपिका

पूजनप्रस्तावे इत्यर्थः. **आधारत्वेन निरूपितमि**[सुबो.]ति, गृहाणां धर्माधारत्वेन सुन्दरता निरूपिता इत्यर्थः. तथा च "अधना अपि ते धन्याः साधवो गृहमेधिनः यद्गृहास्तीर्थवर्याम्बु-तृणभूमीश्वरावराः व्यालालयद्रुमा वै तेप्यरिक्ताखिलसम्पदः यद्गृहास्तीर्थपादीय-पादतीर्थविवर्जिता" इतिवाक्यात् व्रजस्य गृहा सुन्दरा इत्यर्थः ॥१२॥

सम्यगासाद्याग्रे गत्वा. तत्र हेतुद्वयं **कृष्णस्यानुचरं** पूर्वमपि **प्रियमि**ति. अतो **नन्दः** आगमनेनैव **प्रीतः**; अनेन स्वशेषत्वमुक्तं, **परिष्वज्ये**ति स्वसमानत्वम्.

दीपिका

तमागतमित्यत्र. **अनेने**ति, प्रियत्वनिरूपणेनेत्यर्थः. अन्यथा समानशीलत्वाभावेन प्रियत्वं न स्यादिति भावः ॥१४॥

विवृतिः

तमागतमित्यस्मिन्पद्ये **नन्दः** इत्यस्यार्थनिरूपणे **अत** इत्यादि. कृष्णसेवकत्वं तदैव पूर्णं भवति यदा व्रजे व्रजनाथदर्शनं भवति, तदर्थं भगवत्प्रेषिततथाभूतोद्धवागमनेनैव प्रीत इति भावः. अयमेवार्थोऽ**नेन स्वशेषत्व**मित्यनेनोक्तः. यद्वा **आगमनेनैव प्रीतः अतो नन्दः** निरोधमध्यपात्यानन्दरूप इति भावः. अन्यथा मथुरात आगतस्य दर्शनेन भगवान् तत्रास्ति तत्सन्देशहारकोऽयमित्यादिना दुःखमेव भवेन्न प्रसन्नता. प्रीतत्वेन चात्र नित्यस्थितिर्ज्ञापिता, तेन नन्दत्वमानन्दरूपतेति भावः. **नन्दः प्रीत** इत्यत्र **अनेन स्वशेषत्वमुक्त**मिति, श्रीनन्दस्य तदागमनेन प्रीतत्वादन्यथा रात्रौ भगवद्विप्रयोगे क्लेशेनाप्रीतत्वं तद्दर्शनेन भगवद्वार्तया रात्रिर्गमिष्यतीति जातप्रीतिरिति. अयमेवार्थः श्रीमदाचार्यै**रागमनेनैव प्रीत** इत्यनेनोक्तः ॥१४॥

लेखः

तमागतमित्यत्र **स्वशेषत्व**मिति. **प्रीत**इतिपदेन तद्विषयिणी प्रीतिरुक्ता. तेन "फलं च पुरुषार्थत्वादि"ति प्रतितन्त्रशेषाध्यायोक्तन्यायेनोद्धवस्य पुंप्रीतिसाधनत्वेन फलत्वान्नन्दशेषतोक्तेत्यर्थः. स्वमध्यपातित्वमिति वा.

प्रकाशः

तमित्यत्र **अनेने**त्यादि, आगमनमात्रेण प्रीत्युक्त्या[1], **स्वशेषत्वं,** स्वार्थं प्रेषितत्वेन स्वार्थत्वम्. यद्वा **स्वो** भगवान्, तदङ्गत्वमित्यर्थः. तथा च यथा भगवदङ्गस्य कस्यचिद्दर्शने भगवदागमननिश्चयेन सुखं भवति तथा जातमिति तथेति भावः ॥१४॥

टीपिका

तमागतमित्यत्र. **तेने**[लेख]ति प्रीतियुक्तेनेत्यर्थः. **उक्तन्यायेने**ति, **फलं च पुरुषार्थत्वादि**त्युक्तन्यायेनेत्यर्थः. **पुंप्रीतिरि**ति नन्दप्रीतिरित्यर्थः ॥१४॥

१. 'उक्ता' इत्यपि पाठः.

वासुदेवधिया भगवत्सेवके भगवद्बुद्धिः कर्तव्येति तद्बुद्ध्या अर्चयति, "यो यच्छ्रद्धः स एव सः" इति वाक्यात् ॥१४॥

भोजितं परमान्नेन संविष्टं कशिपौ सुखम् ।
गतश्रमं पर्यपृच्छत् पादसंवाहनादिभिः ॥१५॥

विजातीयत्वात् **परमान्नेन** पायसेन भोजनमिति केचित्, वस्तुतस्तूत्कृष्टेनान्नेन. ततः **कशिपौ** पल्यङ्के तूलिकायां **सुखमु**पविष्टमित्युपलक्षणतया राजोपचारा निरूपिताः. ततो **गतश्रमं** स्वयमन्येन वा **पादसंवाहनादिभिः** कुशलं **पर्यपृच्छत्.** तस्य तु कुशलं स्वामिकुशलेनैवेति भगवन्तं पृच्छन् आदौ स्वमित्रं वसुदेवं पृच्छति, **परि**शब्दार्थः ॥१५॥

तदेवाह **कच्चिदङ्गे**ति.

कच्चिदङ्ग महाभाग सखा नः शूरनन्दनः ।
आस्ते कुशल्यपत्याद्यैर्युक्तो मुक्तः सुहृद्वृतः ॥१६॥

हे **अङ्ग** परमस्निग्ध, भगवद्भक्तत्वात् **महाभाग, नः सखा शूरस्य नन्दनः** वसुदेव **अपत्याद्यैर्युक्तः** बन्धनान्मुक्तः **सुहृद्भिश्च वृतः कुशल्यास्त ?** इति. **अनेन** रोहिण्याद्यास्तत्रैव गता इति ज्ञापितम्. अन्यतोऽपि समागताः पुत्रादयश्चेत्यपि

दीपिका

कच्चिदङ्ग इत्यत्र. **परिशब्दार्थमि**ति, अन्यथा भगवत्प्रश्नस्य पश्चात्कृतस्य गौणत्वं स्यादिति भावः ॥१५॥

लेखः

वस्तुतस्त्विति, रात्रौ पायसभोजनस्य निषिद्धत्वादिति भावः ॥१४-१५॥

प्रकाशः

अग्रिमे **केचिदि**त्यत्रारुचिबीजं तु यत्र तद्भर्तैव सर्वेश्वरोऽपि तथा तत्रायं सेवकः कथं न तथा भवेदिति ज्ञेयम्. अग्रिमे **परिशब्दार्थमि**ति, **पर्यपृच्छदि**ति शुकवाक्ये यः **परि**शब्दस्तद्वाच्यमित्यर्थः. एतेन तत्रत्य**परि**शब्दव्याख्यापेक्षा न कर्तव्येति भावः ॥१५॥

टीपिका

कच्चिदङ्गेत्यत्र. **अनेने**[सुबो]ति, **अपत्याद्यैर्युक्त**[मूल] इतिकथनेनेत्यर्थः. **अन्यतोपि समागता पुत्रादयश्चे**ति. वसुदेवस्याष्टादश भार्यास्ताः सर्वा अपि देशान्तरात् समागताः; यथा रोहिण्यां गदो जातस्तथान्यतोपि समागताः

पृष्टम्. स्वस्य सखित्वेन पुत्रस्थापनकन्यानयनादिभिः वैमनस्यं परिहृतं, परमानन्दः प्रापित इति. **शूरनन्दन** इति पितृनाम्ना तस्य स्वतो महत्त्वमुक्तम्. **मुक्त** इत्यनुवादोऽपि सर्वचिन्ताव्यावृत्त्यर्थः ॥१६॥

अतः परं भगवत्कुशलं पृच्छन् आदौ प्रातीतिकं दोषं परिहरति **दिष्ट्या कंस** इति.

दिष्ट्या कंसो हतः पापः सानुगः स्वेन पाप्मना ।
साधूनां धर्मशीलानां यदूनां द्वेष्टि यः सदा ॥१७॥

दीपिका

वैमनस्यमिति, कंसद्विष्टपुत्रस्थापनादित्यर्थः. सख्युर्गुण एव भासते न दोष इत्येतदर्थमाहुः **परमानन्द** इति ॥१६॥

दिष्ट्येत्यत्र. आमयरूप इति, **कंस**शब्दस्य पादोपरिगतरोगवाचकत्वादिति भावः ॥१७॥

विवृतिः

सखेत्यस्य विवरणे **वैमनस्य**परिहारनिरूपणमुद्धवबुद्धिमनुसृत्य वसुदेव-हार्दस्थं स्वपुत्रकुशल-पूर्वकन्यामारणाभिप्रायेण लोकबुद्धिमनुसृत्येत्यर्थः ॥१६॥

प्रकाशः

ननु सखित्वेऽपि विरोधोत्पत्तिसामग्रीसत्त्वे कथं तदनुत्पत्तिस्तत्राहुः **परमानन्दः प्रापित** इति, प्रद्युम्नेन भगवता पुरुषोत्तमो नन्दपुत्रत्वेन ज्ञापयित्वा प्रापित इति तथेत्यर्थः. न च मायां हृत्वा भगवान् कियत्कालं दत्त इति **परमानन्दः प्रापित** इत्यस्य वाक्यस्यार्थ इति वक्तुं शक्यम्, उत्तरत्र भगवदपहरणेन पूर्वदत्तस्याप्यपहरणात् (न) सखित्वे तस्य हेतुत्वमुपपद्यते इति. बाललीला-सुखानुभावनेनेति वार्थः. ननु बन्धननिर्मोकः स्वयमेव दृष्ट इति किं तदनुवादेन इत्यत आहुः **मुक्त इतीति** ॥१६॥

टीपिका

पुत्रादयश्चेत्यपि **पृष्टमित्यर्थः**. एवं प्रश्नेन नन्दस्य शुद्धत्वमाह **स्वस्ये**[सुबो.]त्यादिना. **तस्ये**[प्रका.]ति विरोधस्येत्यर्थः. **इतीति, इति** सुबोधिन्युक्त**परमानन्द**पदस्य **वार्थः**, तेन विरोधस्य परिहारः. **इतीति**, इत्याशङ्क्याहेत्यर्थः. **बाललीलेति**, सुबोधिन्युक्त-**परमानन्दः प्रापित** इत्यस्यार्थो **बाललीलासुखानुभावेनेनेति वार्थ** इत्यर्थः. **तस्ये**[सुबो.]ति निरोधस्येत्यर्थः. **चिन्ते**[सुबो.]ति, वसुदेवस्य सर्वचिन्ताव्यावृत्त्यर्थः इत्यर्थः ॥१६॥

कंसो यो हतः सानुगो भ्रातृसहितः तद् **दिष्ट्या,** आमयरूपइति अशक्य इति च इन्द्रादीनामप्यशक्यइति मातुलो भगवता हतइति. तदर्थमाह **स्वेन पाप्मना हत** इति. भगवतापि मारणपक्षे दोषाभावाय **पाप** इति. तस्योत्कटं पापमाह **साधूनां धर्मशीलानां यदूनां द्वेष्टी**ति. षष्ठ्या तत्सम्बन्धि सर्वमेव द्वेष्टीति निरूपितम्. **साधूनामि**ति ज्ञानमार्गोत्कर्षः, **धर्मशीलानामि**ति कर्ममार्गे, **यदूनामि**ति भक्तौ, अतः सन्मार्गमात्रएव तस्य द्वेष्यइति उत्कटं पापं, तद्वधश्च युक्त एवेति निरूपितम्. कार्यवशात् कादाचित्को द्वेषः नात्यन्तं विगीत इति **सदे**ति ॥१७॥

एवं दोषं परिहृत्य भगवद्गुणान्नवभिर्वक्तुं तस्य भक्तरक्षा तद्गुणानामाधिक्यं पराक्रमाश्चोच्यन्ते. एवं सति दशभिर्गुणातीतेन सह कुशलमुक्तं भवति. तत्र प्रथमं अस्माभिर्निरन्तरं स्मर्यते तत्स्मारकाणां बहूनां विद्यमानत्वात् तथापि किं स स्मरति न वेति स्मारकाभावात् पृच्छति **अपी**ति.

विवृतिः

अपि स्मरतीति श्लोकदशकाभासे **तस्ये**त्यारभ्य **उक्तं भवती**त्यन्तम्. आद्यश्लोके कुशलमुक्तम्. स्वस्मरणप्रश्ने ततः कुशलं निरूपितं, यतः स्वयं कुशल्येवास्मत्स्मरणं कुर्यादिति भावः. द्वितीयश्लोकेन भक्तरक्षा निरूपिता, यतः स्वविप्रयोगेन क्लिष्टान्स्वयमागत्य रक्षां कुर्यात्तदैव रक्षा स्यान्नान्यथेति भावः. रक्षार्थमस्मासु स्वजनत्वस्थापनेनास्मदीक्षणार्थमागमिष्यतीति, अन्यथेश्वरः सर्वनिरपेक्षः कथमागच्छेत् ? तृतीयश्लोकेनैश्वर्यकथनम्. भगवतश्चायमेव धर्मो

लेखः

अपि स्मरतीत्यस्याभासे दशभिरिति, भक्तरक्षादित्रयं त्रिभिस्त्रिभिः, पूर्वोक्तेन

टीपिका

दिष्ट्येत्यत्र. आमयरूप इत्यशक्य इति च. इन्द्रादीनामप्यशक्य[सुबो.] इति **कंस**नामनिरुक्तेरर्थः कृतो ज्ञेयः. तदेवोक्तं "महामयस्तु कंसः स्यादि"ति विश्वकोशे. तदेवोक्तं **कंसशब्दस्ये**[दीपि.]त्यादिना. तत्र **पादोपरिगतरोग**स्तु महामय इत्यस्यार्थो ज्ञेयः. ततोऽस्य छेदनेनैव निवृत्तिः नत्वोषधीभिः, अतः कंसस्यापि भगवता छेदनं कृतं तद् **दिष्ट्या**[मूल.] भद्रं जातमित्यर्थः. अतोऽत्र भगवति प्रातीतिको दोषोऽपि परिहृत इति भावः. **तदर्थमाहे**[सुबो.]ति, प्रातीतिकदोषपरिहारार्थमाहेत्यर्थः ॥१७॥

अपि स्मरतीत्यस्याभासे पूर्वोक्तेने[लेख.]ति, "दिष्ट्या कंसो हत" इति पूर्वश्लोकोक्तदोषाभावरूपः स एव गुणातीतरूप इति दशभिरित्यर्थः.

अपि स्मरति नः कृष्णो मातरं सुहृदः सखीन् ।
गोपान्व्रजं चात्मनाथं गावो वृन्दावनं गिरिम् ॥१८॥

अपि: सम्भावनायां, **नः** अस्मान्. **कृष्णे**ति स्नेहेन नामग्रहणम्. स्मारकाभावात् कथं स्मरणमित्याशङ्क्य सम्बन्धानाह **मातरमि**त्यादिपदैः. चिन्तात्र संस्कारोद्बोधिका

विवृतिः

यद्भक्तदुःखनिवारकत्वम्. दावाग्निपानेनान्येभ्यश्च दुरत्ययेभ्योऽप्रतीकार्यमृत्युभ्यश्चानायासेन रक्षा नैश्वर्येण विना भवेदिति भावः. तुरीयेण वीर्यनिरूपणम्. वीर्यस्यायमेव स्वभावो यद्वीर्यस्मरणेन सर्वक्रियाशैथिल्यं भवति. पञ्चमेन ज्ञाननिरूपणम्. ज्ञानस्यायमेव स्वभावो येन भगवदात्मकत्वं भवति. भगवच्चरणचिह्नदर्शनेन च तदात्मकत्वं तद्रूपत्वमिति भावः. षष्ठश्लोकेन वैराग्यं निरूपितं; भगवतो वैराग्यं भक्तातिरिक्तेषु. तत्र च प्राकट्यं भक्तद्वेषिदैत्यनिराकरणार्थं, तच्च तद्रूपमेवेति भावः. सप्तमेन यशो निरूपितम्. भगवतश्चेदमेव यशो यद्दैत्यादिनिवारणमनायासेन लीलयैव भवति. अष्टमश्लोकेन श्रीनिरूपणम्. श्रियश्चायमेव धर्मो यत्सर्वतुच्छकरणम्. अत्र चेन्द्रमदहरणार्थं श्रीगोवर्धनोद्धरणं तद्रूपमिति भावः. नवमे पराक्रमता स्पष्टैव. दशमश्लोकेन निर्गुणवर्णनम्. गुणातीतस्वरूपलीलास्मरणेनैव प्रेमाधिक्यं भवतीत्यस्य निर्गुणतेति भावः.

लेखः

दोषाभाव —एवं दशभिरित्यर्थः. व्याख्याने **चिन्तात्रे**ति, सदृशस्य तत्राभावाददृष्टस्य च ब्रह्मण्यभावात् "सदृशादृष्टचिन्ताद्या" इत्यत्रोक्तेषु मध्येऽत्र चिन्तैवोद्बोधिकेत्यर्थः ॥१८॥

प्रकाशः

अपि स्मरतीत्यत्र. ननु सम्बन्धमात्रं न स्मारकं, सति सम्बन्धेऽपि बहूनामस्मरणस्यानुभवसिद्धत्वात्तत्राहुः **चिन्ते**ति, सम्बन्धस्य चिन्ताजननस्वभावत्वादिति भावः ॥१८॥

टीपिका

अपि स्मरतीत्यत्र. **चिन्तात्रे**[सुबो.]ति, **अत्र** मात्रादिसुहृदां स्मरण**संस्कारोद्बोधिका चिन्ता** हेतुरस्तीति **अपि स्मरती**ति सम्भावनया सापि **निरूपिता.** तदेवोक्तं **सम्बन्धस्ये**[प्रका.]त्यादिना. अतो युक्तमुक्तं **मातरमित्यादिपदैः सम्बन्धानाहे**[सुबो.]ति. **विशेषलीलाधारे**ति रहस्यलीलाधारेत्यर्थः ॥१८॥

निरूपिता. **मातरं** यशोदां, **नः** इति पूर्वं स्वात्मानमुक्तवान्, बहुवचनं तु सर्वापेक्षम्. **सुहृदः** अस्मानन्यांश्च उपनन्दादीन्, **सखीन्** मित्राणि गोपालान्, **व्रजं** स्थानम्. तस्य स्मरणे हेतुः **आत्मनाथमिति** आत्मैव नाथो यस्येति, पाल्यमानत्वाद्गावः गा इत्यर्थः. क्रीडास्थानं **वृन्दावनं**, विशेषलीलाधारो गोवर्द्धन इति **गिरिम्** —एवमष्टौ स्मरणहेतवः ॥१८॥

''स्मरती''त्युत्तरं प्राप्याह **अप्यायास्यतीति**.

अप्यायास्यति गोविन्दः स्वजनान्सकृदीक्षितुम् ।
तर्हि द्रक्ष्याम तद्वक्त्रं सुनसं सुस्मितेक्षणम् ॥१९॥

यो हि यत्स्मरति सर्वदा स तदभिलाषी सन् तत्र गच्छति, अतोऽत्रापि सम्भावना. नन्वत्र गुणभावः तत्र च राज्यमिति कथमागमनमिति चेत्तत्राह **गोविन्द** इति, देवादिभिः सर्वैरेवात्रेन्द्रत्वेन स्थापितः. किञ्च **स्वजनानिति**, स्वजना हि द्रष्टव्याः. यद्यपि बहुधैवागमनमुचितं **सकृदप्यायास्यतीति** परमोऽभिलाषो द्योतितः. ''आयास्यती''त्युत्तरे मनोरथमाह **तर्हि द्रक्ष्याम तद्वक्त्रमिति**. ईश्वरप्रेरणाभावाद्

विवृतिः

आत्मनाथमित्यत्र आत्मैवेति, स्वनाथत्वेन स्वस्यानन्दरूपत्वात्तत्र दुःखस्यानुचितत्वात् स्मरणे[1] तद्दुःखस्मरणं च स्यात्तेन शीघ्रमागच्छेदिति भावः. **गिरिमित्यस्य** विवरणे **विशेषलीलाधार** इति. **विशेषलीला** आसारपीडनजनित-सभयकातरावलोकि-स्वप्रियादर्शनजनित-रक्षणोत्साहसाधनत्वेन धारणं, तदनुप्रिय-बाहुस्थितशिखरिवर-भारावलोकनजनित-स्वहृदयखेदज्ञापक-कातरतरसजलदृष्टि-पातावलोकनासप्रेम-प्रमोदभरात्मिका तस्या **आधारः** स्थानमिति भावः ॥१८॥

गोविन्द इत्यस्य विवरणे, **देवादिभिरित्यादेरयमाशयः**. त्रैलोक्याधिपतेरपि सर्वज्ञैर्देवादिभिरत्रेन्द्रत्वस्थापनेन तद्राज्यादत्र महत्त्वं ज्ञायत इत्यत्रागमनमेवोचित-मिति भावः. **तर्हि द्रक्ष्याम** इत्यत्र **आगमनमेव हि निरोधज्ञापकमिति**. तत्र गमनेऽत्र

प्रकाशः

तर्हीत्यत्र. ननु गमनसामर्थ्यस्य विद्यमानत्वात् कथमेवं श्रीनन्दैर-सामर्थ्यमुद्भाव्यते तत्राहुः **ईश्वरेत्यादि**. ननु किमिति न प्रेरयति आज्ञां वा न

टीपिका

अप्यायास्यतीत्यत्र. गुणभाव[सुबो.] इति, यशोदादीनां लालनादिगुणभाव इत्यर्थः.

---

१. मरणे इति मु. पाठः

आज्ञाभावाच्च गमनमसम्भावितं, यतस्ते निरुद्धाः. आगमनमेव[1] हि निरोधज्ञापकम्. **सुनसमिति** सौन्दर्यं निरूपितम्. **सुस्मितसहितमीक्षणं** यत्रेति तस्य सर्वे कृपादिभावा निरूपिताः. नित्यं निरीक्षितमिति प्रेमाधिक्यात् कामितमिव जातम् ॥१९॥

दीपिका

अप्यायास्यतीत्यत्र. अगमनमेवेति, इतरस्फूर्ताविव गमनसम्भवादिति भावः. **नित्यं निरीक्षितमिति** भावेनेत्यर्थः. **प्रेमाधिक्यादिति**, भगवद्भक्तसङ्गेन भावोद्रेका-दित्यर्थः ॥१९॥

विवृतिः

भगवत्स्थित्यसम्भावना स्यात्सा च निरोधविरोधिनी. प्रेमवतां च तत्सम्बन्धं विना क्षणमपि स्थातुं न शक्यमतोऽत्रानागमने सति भगवतो निरन्तरं स्थितिरेव ज्ञाप्यत इति भावः. ननु निरन्तरं तत्र भगवत्स्थित्या आगमनसम्भवो न सम्भवतीति चेत्, सत्यं, तन्न सम्भवति, परं तत्सम्भावना तूद्धवदर्शनाद्भगवद्गमनादिस्मरणेन कादाचित्का तद्दर्शनपर्यन्तमेवोच्यत इति न कोऽपि विरोध इति भावः ॥१९॥

लेखः

अप्यायास्यतीत्यत्र अगमनमेवेति, निरुद्धैर्भगवदिच्छानुरूपमेव कर्तव्यमिति भावः. **नित्यं निरीक्षितमिति**, वक्त्रमध्ये निरीक्षितमपि प्राप्तमेवातो नित्यमिति भावः ॥१९॥

प्रकाशः

दत्तवांस्तत्राहुः **यत** इत्यादि. तत्र ज्ञापकमाहुः **आगमनमि**त्यादि. इदं "स्मरतां कृष्ण-वीर्याणी"त्यत्र स्फुटीभविष्यति ॥१९॥

टीपिका

सुस्मितेक्षणमित्यस्यार्थकथने **नित्यं निरीक्षितमिति**. ननु कृपादिसहितनिरीक्षणस्य नित्यत्वं कथमित्याकाङ्क्षायां **वक्त्रमध्ये**[लेख.] इत्यादेरयमर्थः— भगवद्वक्त्रस्य नित्यत्वान्निरीक्षणस्यापि नित्यत्वं ज्ञेयम्. **कामितमिवे**[सुबो.]ति, नन्दस्य **प्रेमाधिक्याद्भगवन्निरीक्षणं कामितमिव जातम्**, अत एव **तर्हि द्रक्ष्याम तद्वक्त्रमि**[मूल.]त्याद्युक्तमित्यर्थः ॥१९॥

---

१. इह विवृति-प्रकाशाभिमतः पाठः आगमनम् इति, दीपिकालेखाभिमतः पाठस्तु, प्रकाशमातृकान्तरपाठोऽपि, अगमनम् इति.

अस्माकं तु तत्स्मरणं सर्वदैव, स्मारकाणां बहुत्वादिति वक्तुं भगवत्कृतोपकारान्निर्दिशति **दावाग्नेरि**ति.

दावाग्नेर्वातवर्षाच्च वृषसर्पाच्च रक्षिताः ।
दुरत्ययेभ्यो मृत्युभ्यः कृष्णेन सुमहात्मना ॥२०॥

साक्षान्नन्देन यावद्दृष्टं तावद्गणयति विशेषतः. **दावाग्निः** कालियह्रदे. **वातवर्षाद्** गोवर्द्धनोद्धरणे. **वृषो**ऽरिष्टः **सर्पः** सुदर्शनः. **चकारात्** सर्वे श्रुता सङ्गृहीताः. द्वितीयचकारेण वरुणाद्युपद्रवात्. किम्बहुना, **दुरत्ययेभ्यो मृत्युभ्यः** ये मृत्यवोऽप्रतीकार्याः कंसादयो दावानलादय एव वा. **कृष्णेन सुमहात्मने**ति फलरूपेण साधनरूपेण च. **आत्म**त्वादुपकारानपेक्षत्वं **मह**त्वाद्बहूपकारत्वम्, एवमप्यप्रार्थितमपि सर्वमेव हितं करोतीति **सुष्ठु**त्वम् ॥२०॥

तर्हि कथं न गम्यत इत्याशङ्क्याह **स्मरतामि**ति.

स्मरतां कृष्णवीर्याणि लीलापाङ्गनिरीक्षितम् ।
हसितं भाषितं चाङ्ग सर्वा नः शिथिलाः क्रियाः ॥२१॥

कृष्णवीर्याणि स्मरतामप्यस्माकं **सर्वाः क्रियाः शिथिला** भवन्ति. भगवतः स्थाने गमनं प्रेम्णा भवति, अस्मदीयो भगवान् किमिति तत्र तिष्ठति? गत्वा समानेय इति. तत्र वीर्याणि स्मृत्वा एतावन्तमुपकारं भगवान् कृतवान् किमस्माभिः कृतं के वा वयं कथं चैतद् धाष्ट्र्यमिति शैथिल्यं भवति. सुखार्थं चेत् कृष्णत्वात् सदानन्द

विवृतिः

स्मरतां कृष्णवीर्याणि इत्यस्य विवरणे **भगवतः स्थाने गमन**मित्यारभ्य **शैथिल्यं भवती**त्यन्तनिरूपणस्यायं भावः. **भगवतः** षड्गुणैश्वर्ययुक्तस्य **स्थाने** प्रेमव्यतिरेकेण न प्रभवति यत ईश्वरस्यापेक्षाभावात्. यद्वा भगवत्प्रेम्णा गमनं सम्भवति, तत्तु न सम्भाव्यते. तत्र चेत्प्रेमोत्पत्तिः स्यात्तदा आगच्छेदेव. गमनं तु भगवदानयनार्थं, तच्च भावद्वयसाकाङ्क्षम्. भगवान्प्रेमभरेण तत्र दुःखितो माभूत्. तथा **चास्मदीयो भगवान् किमिति तत्र तिष्ठति** स्वीयत्वादाने य इत्यर्थः. वयं भगवदीया इति सर्वेषामेव स्फुरति, भगवानस्मदीय इति तु कृतपुण्यपुञ्जानां प्रेमवतामेव स्फुरतीति भावः. भगवता स्वस्य तदीयत्वं कृपया प्रदर्शितमि**त्युपकारं कृतवान्,** न त्वन्यथा. तस्मादेतादृशवीर्यवतो भगवतोऽ**स्माभिः किं** कार्यं येनास्मदीयत्वमंगीकृत्यागच्छेत्तेन धाष्ट्र्याभावाच्च **शैथिल्यं भवति.** अतो[1]

---

१. कान्तो इति मु. पाठः.

इति स्मृत एव सुखं प्रयच्छति. अत उभयथापि गमनं बाधितम्. अथेन्द्रियसुखार्थं भगवान् द्रष्टव्य इति चेत्तत्राह **लीलापाङ्गनिरीक्षितमि**ति, लीलया यदपाङ्गनिरीक्षणं तत् स्मरतामिति. भगवतो दृष्टिश्चेद्राव्यते तावतैव पश्यतीति बुद्ध्या चक्षुः शाम्यति. लीलापूर्वकं पश्यतीति लीलादर्शनेन प्राणास्तृप्यन्ति, अपाङ्गेन यत्पश्यति तेनैश्वर्यं प्रकटीभवद् धाष्ट्र्यं दूरीकरोति. **हसितेन** च **मोहयति, भाषितेन** श्रोत्रादिसुखं सम्पादयति, अतः सर्वार्थं प्रयत्नाद् दूरीकरोति, नास्माकं गमनसामर्थ्यमिति भावः. **च**कारात्सर्वं भगवच्चरित्रम्. **अङ्गे**त्यप्रतारणाय. **सर्वा** दैहिक्यो मानसिक्यो लौकिक्यो वैदिक्यश्च. तदर्थमुद्योगे तत्स्मरणमावश्यकम्, स्मरणे च गमनासम्भवः ॥२१॥

दीपिका

स्मरतामित्यत्र. स्मृत एवेति, सदानन्दत्वेन सर्वान्तरत्वादित्यर्थः ॥२१॥

विवृतिः

भगवान्स्वकृपयैवागमिष्यतीति तत्रागमनमिति भावः. **लीलापांगे**त्यस्य विवरणे **ऐश्वर्यं प्रकटीभवदि**त्यादेरयं भावः— ऐश्वर्ये सति प्रेम न सम्भवति, तस्मात्त**द्धाष्ट्यं** प्रेमकृतं **दूरीकरोती**ति भावः. यद्वा अत्र भगवानागमिष्यति न वेति सन्देहे नैतत्स्थानत्यागार्थं तत्र गमनार्थं च यथाकथंचिद्धाष्ट्र्यं क्रियते[1]. तच्च भगवान् स्वैश्वर्यं प्रकटीकृत्य पूर्वोक्तधर्मैः सहात्र रमन्नेव[2] दूरीकरोतीति भावः. अयमेवार्थो **नास्माकं गमनसामर्थ्यमि**त्यनेन व्यक्तीकृतः. **च**कारद्योतितार्थमाहुः **सर्वमि**ति. सर्वं यत्तत्र गतोऽस्ति तत्सत्यं, परमत्र तु भगवान्पूर्ववत्सुखं ददात्येतत्सर्वं भगवच्चरित्रमिति भावः. एतच्च प्रेमरूपनित्यलीलात्मकत्व-स्वानुभवेनोच्यते न ज्ञानमाश्रित्य. एतदर्थमे**वांगे**ति सम्बोधनमप्रतारणार्थमुद्धवस्यैतद्भावानवबोधादिति भावः ॥२१॥

लेखः

स्मरतामित्यत्र अपाङ्गेनेति, अस्मासु प्रकटीभवदित्यर्थः. भगवत्कटाक्षेणैव सर्वस्यैश्वर्यं सिद्ध्यतीति "तद्भ्रूविजृम्भः परमेष्ठिधिष्ण्यमि"त्यत्र निरूपितमिति भावः. **धाष्ट्र्यमि**ति मथुरागमनप्रागल्भ्यमित्यर्थः. ईश्वरस्येव स्वगृह एव लीलारसानुभवः इति भावः ॥२१॥

टीपिका

स्मरतामित्यत्र उभयथापि गमनमि[सुबो.]ति. प्रेम्णा गमनं स्वसुखार्थं वा गमनमत उभयथापि गमनं बाधितमित्यर्थः ॥२१॥

१. कृपयते इति ग. पाठः. २. सहास्मान्नेव इति मु. पाठः.

किञ्च क्षणे क्षणे वयं मुक्ताश्च भवाम इत्याह **सरिच्छैले**ति.

सरिच्छैलवनोद्देशान्मुकुन्दपदभूषितान् ।

आक्रीडानीक्षमाणानां मनो याति तदात्मताम् ॥२२॥

यत्र यत्र भगवता स्वानुभावः स्थापितः तद्दर्शनेनैव **मनस्तदात्मतां** भगवदावेशमेव प्राप्नोति, तेन सुतरामेव गमनाभावः. **सरि**द्यमुना **शैला** गोवर्द्धनादयः **वनोद्देशाः** वृन्दावनभूमयः. एतेषु भगवदनुभावार्थमाह **मुकुन्दस्य** मोक्षदातुः **पदैर्भूषि-तानि**ति. अनभिप्रेतेष्वपि कदाचित्पदानि भवन्तीति तेषु भगवतस्तात्पर्यार्थमाह **आक्रीडानि**ति, आसमन्तात् क्रीडास्थानभूतान्. **ईक्षमाणानामि**ति— नैकट्याद्दर्शन-मावश्यकम्, ईक्षणमेव च मनसस्तदात्मकत्वे हेतुः ॥२२॥

ननु कथमेवं सामर्थ्यमवगतं, विपरीतबुद्धेर्दृढत्वादित्याशङ्क्याह **मन्ये कृष्णं च रामं चे**ति.

मन्ये कृष्णं च रामं च प्राप्ताविह सुरोत्तमौ ।

सुराणां महदर्थाय गर्गस्य वचनं यथा ॥२३॥

महत्त्वाद्वस्तुसामर्थ्येनैव मनस्तदात्मकं भवतीति. श्रुतमपि कदाचिदसम्भावनया प्रतीतिं न गृह्णाति, मम त्वनुभवः प्रतीतिं गृह्णातीति **मन्य** इत्याह. **कृष्णं च रामं चे**ति चकारद्वयं सर्वदेवगणसमुच्चयार्थम्. ननु तादृशयोः सुरोत्तमयोर्ब्रह्मादेरप्य-धिकयोरिहागमने को हेतुरित्याशङ्क्याह **सुराणां महत्कार्यार्थमिह** स्वयमेव समागतौ

दीपिका

मन्ये कृष्णं चेत्यस्याभासे **विपरीतबुद्धेरि**ति पुत्रत्वबुद्धेरित्यर्थः ॥२३॥

विवृतिः

सरिच्छैलेत्यत्र **यत्र यत्र भगवता स्वानुभावः** स्थापित इति, **यत्र यत्र** रमणस्थलेषु **स्वस्यानु** पश्चात्स्थलमनुलक्षीकृत्य वा **भावः** क्रीडात्मकः **स्थापित** इति भावः. तेन स्वरूपसहितक्रीडाया नित्यत्वमेवेति भावः ॥२२॥

प्रकाशः

मन्ये इत्यत्र **महत्त्वादि**ति, स्वपुत्र इति विपरीतबुद्धेः प्रबलत्वात्, **प्रतीतिमि**ति सुरोत्तमत्वनिश्चयम् ॥२३॥

टीपिका

मन्ये कृष्णं च रामं चेत्यत्र **चकारद्वयमि**[सर्वो]ति, रामो मुकुन्दः सर्वदेव-गणसमुच्चयरूपोऽपीति ज्ञापनार्थे चकारद्वयमित्यर्थः ॥२३॥

नतूत्पत्तौ, येन विना तत्कार्यं न भवति. ननु तर्को न प्रमाणमिति कथं निर्णेतुं शक्यते तत्राह **गर्गस्य वचनं यथे**ति, गर्गस्य तथैव वचनम् अतः प्रमाणानुभवाभ्यां देवोत्तमत्वं सिद्धमिति माहात्म्यज्ञानं युक्तमेव ॥२३॥

सामर्थ्येनापि तन्निश्चीयत इत्याह **कंसमि**ति त्रिभिः; सात्त्विकी राजसी तामसी च लीला क्रमेण निरूपिता.

कंसं नागायुतप्राणं मल्लौ गजपतिं तथा ।
अवधिष्टां लीलयैव पशूनिव मृगाधिपः ॥२४॥

नागायुतस्य हस्तिनां दशसहस्रस्य यावद्बलं तावान् **प्राणो** बलं यस्य. **मल्लावपि तथा** चाणूरमुष्टिकौ **नागायुतप्राणौ. गजपतिः** कुवलयापीड**स्तथा.** वस्तुतोऽयमपि नागायुतप्राणः, **चाणूरस्तु स्वापेक्षया हीनत्वं युद्धार्थं** वदन् तथोक्तवान्. दशसहस्राणां वा द्विपानां सत्त्वं बिभर्तीति तत्र योजनीयम्, अन्यथात्र **तथे**ति वचनमसङ्गतं स्यात्. ततश्चतुर्णां बलं चत्वारिंशत्सहस्रगजपरिमितं भवति, एतादृशानपि **लीलयैवावधिष्टाम्.** तर्हि मन्त्रादिसामर्थ्येन हतवानित्याशङ्क्य दृष्टान्तमाह **पशूनिव मृगाधिप** इति— सिंहः स्वभावत एव पशून् हन्ति. गजो हि तस्य प्रतिपक्ष्यपि भवति न तु पशवो गवादयः, अतस्ततोऽनन्तगुणं सामर्थ्यं भगवतः सूचितम् ॥२४॥

राजसीं लीलामाह **तालत्रयमि**ति.

तालत्रयं महासारं धनुर्यष्टिमिवेभराट् ।
बभञ्जैकेन हस्तेन सप्ताहमदधाद्गिरिम् ॥२५॥

तालवृक्षस्य शतत्रयहस्तपरिमितस्य यावान् विस्तारः, **तालानां** त्रयं यत्रेति.

प्रकाशः

कंसमित्यत्र. ननु "सहस्रद्विपसत्त्वधृगि"ति पूर्ववाक्यानुरोधेन गजपतौ नागायुतप्राणत्वं न वक्तुं शक्यमिति कथमेवमुच्यत इत्यत आह **चाणूर** इत्यादि. **तत्र योजनीयमि**ति उक्तरीतिकविग्रहेण योजनीयमिति ॥२४॥

टीपिका

कंसं नागायुत इत्यत्र. **सात्त्विकी**[सुबो.]ति, वसुदेवादीनां रक्षानिरूपणरूपा सात्त्विकी लीला, सा **कंसम्** इति श्लोके निरूपिता. **राजसी**ति सहजधनुर्भङ्गेन सामर्थ्योद्बोधिका लीला, सा "तालत्रये"त्यत्र निरूपिता. **तामसी**ति, बाललीलादौ प्रतिबन्धकर्तॄणां प्रलम्बादीनां क्रोधेन बलदेवादिरूपेण मारणरूपा तामसी लीला, **सा क्रमेण निरूपिता** इति श्लोकत्रयेण निरूपिता इत्यर्थः ॥२४॥

महासारमिति अतिदृढम्. **धनुर्यष्टिमि**ति, धनुरेव यष्टिरूपमनम्रम्; अनम्रस्य भङ्गः सुतरामेवाशक्यः. अत्रापि प्रकारान्तरेण भङ्गाभावाय दृष्टान्तः **इवेभराडि**ति. **यष्टिमिव वा इभराडि**ति, यष्टिरपि इक्षुः "यथेक्षुदण्डं मदकरी"ति वाक्यैकवाक्यतया. तत्रापि **एकेनैव हस्तेन बभञ्ज. एकेनैव हस्तेने**त्यग्रेऽपि सम्बध्यते— **सप्ताहमदधाद्गिरिमि**ति ॥२५॥

तामसीमाह **प्रलम्ब** इति.

प्रलम्बो धेनुकोऽरिष्टस्तृणावर्तो बकादयः ।
दैत्याः सुराऽसुरजितो हता येनेह लीलया ॥२६॥

नात्र क्रमो विवक्षितः. **आदि**शब्देन वत्सादयः सर्व एव **दैत्याः** मानुषैरवध्या. किञ्च **सुरासुरजितः** सुरा असुराश्च जिता यैः ते सर्वे अस्मत्समक्षमेव **लीलयैव हताः**. अतः सामर्थ्येनापि देवोत्तमत्वमेवेति निर्द्धारः ॥२६॥

एवं स्निग्धस्य भगवद्गुणानुवर्णने यद्भाव्यं तज्जातमित्याह **इती**ति.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

इति संस्मृत्य संस्मृत्य नन्दः कृष्णानुरक्तधीः ।
अत्युत्कण्ठोऽभवत्तूष्णीं प्रेमप्रसरविह्वलः ॥२७॥

अयमर्थः— नोद्धवो बोधितः किन्तु पदार्थस्मरणाभिलाष एवेत्युत्तमाधिकारं बोधयितुं **संस्मृत्य संस्मृत्ये**त्युक्तम्, न तूक्त्वोक्त्वा. यत्रैव स्मरणानन्तरं वचने असामर्थ्यं बुद्धेरनुरागः मनस उत्कण्ठा तत्रैव तूष्णीं स्थित इति. स्मरणतूष्णींभावयोर्मध्ये भावद्वयमवान्तरव्यापाररूपमुत्पन्नमित्याह **कृष्णानुरक्तधीरत्युत्कण्ठ**

लेखः

इति संस्मृत्येत्यत्र **किन्तु पदार्थे**ति, **पदार्थो** भगवान्, तत्कृतं यत्स्मरणं तदभिलाष इत्यर्थः. भगवता स्मरणे कृते सति स्वस्य तत्र गमनेन भगवतो वात्रागमनेन दर्शनं भवेदिति भावः ॥२७॥

प्रकाशः

तालत्रयमित्यत्र. यष्टेरिक्षुत्वस्मारणेन भगवतस्तद्भञ्जने आयासलेशोऽपि नास्तीति व्यज्यते ॥२५॥

टीपिका

तालत्रयमित्यत्र **प्रकारान्तरेणे**[सुबो]ति, पूर्वोक्तमन्त्रादिसामर्थ्यप्रकाराभावेनेति भावः ॥२५॥

इति, चित्तस्य स्मरणं बुद्धेरनुरागः मनस उत्कण्ठा. मनश्च वाचः पूर्वरूपम्, तत्र अनुरक्तबुद्ध्या औत्कण्ठ्येन च ज्ञानक्रियारूपाभ्यां शब्दोत्पत्तिप्रतिबन्धा-**त्तूष्णीमभवत्.** तर्हि तयोः प्रतिबन्धकत्वेन न पुरुषार्थपर्यवसायित्वमित्याशङ्क्य तयोः स्वतन्त्रकार्यमाह **प्रेमप्रसरेण** प्रेमप्रचारेण **विह्वलो** जात इति ॥२७॥

एवं यशोदापि जातेत्याह **यशोदे**ति.

यशोदा वर्ण्यमानानि पुत्रस्य चरितानि च ।
शृण्वन्त्यश्रूण्यवस्राक्षीत्स्नेहस्नुतपयोधरा ॥२८॥

नन्देनैव **वर्ण्यमानानि** भगवतश्च**रितानि शृण्वन्ती च**कारात्स्मरन्ती च अन्तःप्रेमपूर्णा **अश्रूणि नेत्रयोरस्राक्षीत्** विरहव्याकुला जाता. अन्तर्भगवदावेशेन दृढप्रेम्णा **स्नुतपयोधरा** जाता. यथा नन्दे आवेशो विरहश्च एवमस्यामपि द्वयं वर्णितम् ॥२८॥

उभयेनापि अनुराग एव भगवति परमप्रेमात्मको निरूपितो भवति, परमयं लौकिकः. अयं च ज्ञानेनालौकिकः कर्तव्यः. तत्कर्तुं प्रेषित उद्धव इति तदुपयोगि सर्वमाहेत्याह **तयोरित्थ**मिति.

विवृतिः

यशोदेत्यत्र **नन्देनैवे**त्यारभ्य **स्नुतपयोधरा जाते**त्यन्तम्. नन्देनैव वर्ण्यमानानि, न तु स्वयं वर्णयति, यतस्तस्याः स्त्रीत्वात्साहजिकस्यानत्वात्प्रेम्णा न वर्णयितुं शक्यमतो **नन्देनैव वर्ण्यमानानि भगवतश्चरितान्यु**द्धवागमनेन तत्र गमनसहितानि **शृण्वन्ती**, स्वयमपि भगवांस्तत्र गत इत्यादि पूर्ववृत्तान्तं **स्मरन्ती, अन्तःप्रेमपूर्णा** तद्भावयुक्ता तत्स्मरन्ती सती **नेत्रयोरश्रूण्यस्राक्षीत्.** ज्ञानेन्द्रिययोस्तथात्वेनोद्धवो न दृश्यत इति भावः. स्मरणमात्रेणैव विरहव्याकुला जाता इति भावः. तेनोद्धवागमनजात-श्रीनन्दकृतभगवद्वर्णन-स्मरणाभावे नित्यं भगवतस्तत्रैव स्थितत्वाद्विरहाभाव एवेति भावः. उद्धवदर्शनेन उपरिभावादर्शनाद् **अन्तर्भगवदावेशेन दृढप्रेमा** जातस्तेन **स्नुतौ पयोधरौ** यस्यास्तादृशी **जाता.** तयोस्तु तत्त्वोक्त्या तत्प्रेमातिशयेन तदैव भगवान्प्रकटो जात इति ज्ञाप्यते, अन्यथा दर्शनं विना स्रावाभाव इति भावः ॥२८॥

तयोरित्थमित्यस्याभासे **परमयं लौकिक** इत्यादि. **लौकिकः** केवलं पुत्रात्मकज्ञानरूपः, स च पूर्णपुरुषोत्तमात्मकज्ञानरूपः **कर्तव्यस्त**दर्थमेवोद्धव-प्रेषणम्. तेन पुरुषोत्तमस्वरूप-ज्ञानोपयोगिभक्तत्वमाहेति भावः. **अयं चे**त्यनेन

तयोरित्थं भगवति कृष्णे नन्दयशोदयोः ।
वीक्ष्यानुरागं परमं नन्दमाहोद्धवो मुदा ॥२९॥

उभयोरपि, भक्तौ मुख्यत्वान्नन्दस्य प्रथमतो नन्दग्रहणम्. सहजः सम्बन्धो लौकिको नास्तीति न यशोदायां विशेषः. **नन्दयशोदयोः भगवति कृष्णे** आविर्भूते सदानन्दे **परममनुरागं** सर्वक्रियात्याजनपूर्वक-सर्वभावभगवद्ग्रहणात्मकं **वीक्ष्य, यशोदा** कदाचिल्लज्जिता भविष्यतीति **नन्दमाह.** यतः स **उद्धवः** उत्सवात्मकः.

दीपिका

तयोरित्थमित्यत्र. **सहजः सम्बन्धो** गर्भस्थितिरूप इत्यर्थः ॥२९॥

विवृतिः

माहात्म्यज्ञानानन्तरं "पुरुषोत्तम एवास्मत्पुत्र" इत्यादि रूपात्मकता[1] स्नेहस्य कर्तव्येति व्यज्यते. अत एवोक्तं "माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोधिकः स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्त"इति भक्तिलक्षणम्. **नन्दमाहे**त्यस्याभासे, **यशोदा कदाचिल्लज्जिता भविष्यती**ति. उद्धवस्यात्र भगवन्नित्यस्थित्यज्ञानेन भगवदागमनकथनपूर्वक-मथुरास्थितिकथनेन भगवद्विप्रयोगे क्षणमपि स्थित्यनौचित्या मातृचरणानां च स्थित्या लज्जितात्वमिति भावः. अयमेवार्थः श्रीमदुद्धवनामनिरुक्त्या निर्णीतोऽस्मत्प्राणनाथचरणैः. ननु **नन्दयशोदयो**रित्यनेनोभयोरपि प्रेमसमत्व-निरूपणान्नन्देऽपि तथात्वं स्यादेवेति कथं नन्दे तदभाव इति चेद्, उच्यते— यशोदायाः स्त्रीत्वादल्पधैर्यवत्त्वेन शास्त्रार्थाज्ञानान्नन्दस्य पुरुषत्वाद्गर्गोक्तादिशास्त्रार्थज्ञानवत्त्वेन

प्रकाशः

तयोरित्यत्र मुख्यत्वान्नन्दस्येति, वरयाचनस्य नन्दकृतत्वादिति भावः. उपसर्जनत्वेन '**यशोदा**'पदस्य पूर्वनिपातो यद्यप्यपेक्षित इत्यभ्यर्हितत्वबोधनाय तथोक्तम् ॥२९॥

टीपिका

तयोरित्थमित्यत्र. **उपसर्जनत्वेने**[प्रका]ति, यद्यपि 'राधामाधवयोरि'ति-वदुपसर्जनत्वेन '**यशोदा**'पदस्य पूर्वनिपातोऽपेक्षितोऽस्ति तथापि वरयाचनस्य नन्दकृतत्वाद् **अभ्यर्हितत्वबोधनाये**ति नन्दस्य पूज्यत्वबोधनायेत्यर्थः. **तथोक्तमि**ति, नन्दस्य मुख्यत्वात् पूर्वं 'नन्द'नामोक्तम्. ननु "माता पितृशताधिका" इति वाक्यात् कथं यशोदाया न विशेष इत्याशङ्क्याह **सहज**[सुबो]इत्यादिना ॥२९॥

१. ज्ञापकता इति मु. पाठः.

तस्मिन्नागते शोकांशेन न भाव्यमिति **मुदे**ति, भगवद्भक्तान् दृष्ट्वा सम्भाषणेनाहमपि कृतार्थो भविष्यामीति वा ॥२९॥

स्नेहमभिनन्द्य विषयस्यालौकिकत्वं बोधयति, येन माहात्म्यज्ञानपूर्वकः सर्वतोऽधिकः स्नेहो भवति. **युवामि**ति.

॥ उद्धव उवाच ॥

युवां श्लाघ्यतमौ नूनं देहिनामिह मानद ।
नारायणेऽखिलगुरौ यत्कृता मतिरीदृशी ॥३०॥

प्रथमतोऽभिनन्दनं— **देहिनां** मध्ये तत्रापी**ह** भूमौ **युवां** यशोदानन्दौ **श्लाघ्यतमौ.** सत्कर्मणा श्लाघ्या भवन्ति, ततोऽपि ज्ञानेन ततोऽपि भक्त्या. भक्तावपि परमप्रेम सर्वोत्कृष्टम्. प्रमाणात्तु प्रमेयबलमधिकं, तेन स्वतन्त्रभक्त्यपेक्षयापीयं प्रमेयभक्तिः रसाला, अत आह **नूनमि**ति. **मानदे**ति सम्बोधनं मह्यं मानं

दीपिका

युवामित्यत्र. स्वतन्त्रभक्तीति श्रवणादिरूपेत्यर्थः. **प्रमेयभक्तिरि**ति स्वरूपविषयिणीत्यर्थः. **'नारायण'शब्दोत्रे**ति, नारं जीवसमूहस्तदयनं यस्येति व्युत्पत्तेस्तथेत्यर्थः. **प्रमाणरूपोपी**ति, गुरुत्वात्तादृशवाक्यहेतुत्वेन तद्रूपेत्यर्थः ॥३०॥

विवृतिः

तदभाव इत्यर्थः. नन्दत्वाद्वा आनन्दरूपत्वात्तद्दर्शनादिनाप्यन्तर्भगवदावेशादन्तर्भगवत्संगतत्वेन विप्रयोगास्फूर्त्या तदभाव इति भावः. **मुदे**त्यस्य विवरणे **भगवद्भक्तान्दृष्ट्वा संभाषणेनाहमपि कृतार्थो भविष्यामी**त्यादेरयं भावः— एतादृग्भावात्मक-भगवद्भक्त**संभाषणेन** तद्धृदयस्थभावज्ञानेन [१]तदभिलाषेण[१] तत्सजातीयभावोदया**दहमपि कृतोः अर्थो** येन तादृशो **भविष्यामी**ति भावः ॥२९॥

युवामित्यस्य विवरणे **स्वतन्त्रभक्त्यपेक्षये**ति, नवधाभक्तिः [२]स्वतन्त्रोच्यते यतस्तत्करणेन भगवान्प्रसन्नो भूत्वा स्वीयत्वं मनुते. अस्याः प्रमेयत्वं तु भगवान्स्वेच्छया स्वयं तद्वशे भवति, तेनास्या रसालत्वमिति भावः.

लेखः

युवामित्यत्र ततोपीति, ज्ञानेन श्लाघ्यतरा भक्त्या श्लाघ्यतमा भवन्तीत्यर्थः ॥३०॥

१-१. अयं ग. पाठे अधिकः. २. इति ग. पाठः. मु. पाठस्तु अशुद्धः.

प्रयच्छसीति मद्वाक्यमपि सत्यतया स्वीकुर्वित्यर्थः. ननु पुत्रस्नेहोऽतिशयः कथं स्तूयते तत्राह **नारायण** इति, अयं हि **नारायणो** मूलपुरुषः; **'नारायण'**शब्दोऽत्र पुरुषोत्तमवाची. **अखिलगुराविति** प्रमाणरूपोऽपि, सर्ववेदवक्ता नारायणः पुरुषोत्तम एवेति. अतः सर्वशास्त्रार्थरूपे प्रमेयबलवति **यद्यस्मात्कारणाद्** एतादृशी **मतिः कृता.** देवोत्तमत्वं तु नन्देनोत्कटकोटिकसम्भावनया ज्ञातमेव, तस्मादसम्भावना न भविष्यतीति तत्र पुरुषोत्तमत्वं बोधितवान् ॥३०॥

अतः परं तस्मादधिको विषयो नास्ति भक्तेरप्यधिकं कर्तव्यं नास्तीति वक्तव्यम्. तत्र प्रथमं भगवतः सकाशादन्यो महान्नास्तीत्याह **एतौ** हीति द्वाभ्याम्, धर्म्युत्कर्षेण धर्मोत्कर्षेण च माहात्म्यं द्विविधमिति. तत्र प्रथमं स्वरूपोत्कर्षमाह.

एतौ हि विश्वस्य च बीजयोनी
रामो मुकुन्दः पुरुषः प्रधानम् ।
अन्वीय भूतेषु विलक्षणस्य
ज्ञानस्य चेशात इमौ पुराणौ ॥३१॥

विवृतिः

नारायणेऽखिलगुरावित्यत्र 'नारायण'शब्दोऽत्र पुरुषोत्तमवाचीति, अत्र व्रजीयभगवत्स्वरूपनिरूपणप्रस्ताव इत्यर्थः. **अन्यथा** देवोत्तमता तु श्रीनन्दज्ञातैवेति पुनः कथनमननुरूपं स्यात्. तथा चायमर्थः— नारं जीवसमूहस्तस्य अयनो मूलभूतस्तेनात्रत्यानां जीवादीनां पुरुषोत्तमात्मकत्वमेवेति भावः. अत एवोक्तं श्रीवराहेण "अन्यैव काचित्सा सृष्टिर्विधातुर्व्यतिरेकिणी"त्यादि. **अखिलगुरावित्यस्य** विवरणे **अत** इत्यादि, **सर्वशास्त्राणामर्थरूपे** पुरुषोत्तमे **प्रमेयबलवति** भक्तिमार्गीयपुत्रत्वादिभावयुक्ते **यस्मात्कारणा**द्भगवदिच्छानुरूपा**देतादृशी** बुद्धिर्भक्तिरूपा **कृते**ति भावः. भगवदिच्छा चैतादृग्भक्तिप्रकटन एव स्थिता अन्यथा स्वस्मिन्पुत्रत्वादिधर्मान्न ज्ञापयेत्. भक्तानां च भगवज्ज्ञापितभजनकरण एवोत्तमत्वमिति भावः ॥३०॥

एतौ हीत्यत्र **एक एवे**त्यादि. सदानन्दत्वेन भगवानेव ज्ञातो न तु रमणकारणरूपः संकर्षणोऽपि ज्ञातस्तदभावे च न पूर्णता अतस्तं पुरुषोत्तमावेशिनं रमणकारणात्मकं ज्ञापयितुमित्यर्थः. भगवत्तुल्यता च सम्बन्धे दूरीकार्या, यतस्तत्रा-वेशानन्तरभाविलीलयैव निरोधः सिध्यति नान्यथा. अत एव तामसप्रकरण-स्थद्वादशाऽध्याये भगवल्लीलौपयिकवृक्षाणां केवलभगवदनाविष्टबलदेवनमस्कारे

एक एव ताभ्यां ज्ञात इति आवेशिनमपि ज्ञापयितुं तुल्यतया सम्बन्धं च दूरीकर्तुं कृष्णरामौ निर्दिशति— **एतौ हि** निश्चयेन **विश्वस्य बीजयोनी** समवायिकारणं निमित्तकारणं **च**. बीजं हि समवायिकारणं, तत्र भगवत्सामर्थ्येन सजातीयत्वमा-

दीपिका

एतौ हीत्यत्र. **एक एवेति, ताभ्यां** नन्दयशोदाभ्यां ''मन्ये कृष्णं च रामं चे''ति वाक्यात्कृष्णो रामश्च प्रत्येकमेक **एव ज्ञातो** न तु कृष्ण एवाविष्टावेशिभेदेन द्वाविति तथा ज्ञापनाय द्वावुद्दिश्य जगत्कारणत्वरूप-मूलधर्मनिरूपणमित्यर्थः. **तुल्यतये**ति, गोपत्वेन तुल्यतया यो देहसम्बन्धस्तमित्यर्थः.

लेखः

एतौ हीत्यत्र एक एवेति ताभ्यां ज्ञातः उपकारित्वेनेति शेषः. पुत्रत्वप्रकारक-लौकिकस्नेहवत्त्वात् कृष्ण एवोपकारित्वेन ज्ञातः. अत एव ''दावाग्नेरि''ति श्लोके 'कृष्णेने'त्येवोक्तम्. तत्र लौकिकभावनिराकरणे रामोऽपि भगवदावेशाद्भगवानिव ज्ञातो भवत्यतोऽत्रोभयोरुक्तिरित्यर्थः. **तुल्यतये**ति, अलौकिकभावे कृष्ण-स्तदावेशी रामश्च तुल्य इति लौकिकसम्बन्धं दूरीकर्तुमित्यर्थः. **तत्रे**ति बीज इत्यर्थः.

प्रकाशः

एतावित्यत्र. ननु भगवत एव स्वरूपोत्कर्षस्य वक्तव्यत्वे द्वयोर्निर्देशो न सङ्गच्छत इत्यत आहुः **एक एवे**त्यादि. **ज्ञात** इति उत्कृष्टत्वेन ज्ञातः. **ज्ञापयितुमिति** तत्त्वेन ज्ञापयितुम्. **तुल्यतया सम्बन्धमि**ति लौकिकतुल्यतया पुत्रत्वादिसम्बन्धमित्यर्थः. ननु बीजस्य समवायित्वे कार्यस्य तदपेक्षया गुरुत्वपरिमाणाद्याधिक्यं न स्यादित्यत आहुः **तत्रे**त्यादि. **तत्र** बीजे, तथा चोक्तदोषा-

टीपिका

एतावित्यत्र मूले **एतौ हि विश्वस्य च बीजयोनी रामो मुकुन्द** इत्युक्तम्. तत्र बीजस्य समवायित्वे विप्रतिपत्तिः **नन्वि**[प्रका.]त्यादिनाशङ्क्य सुबोधिन्यां परिहृता. तत्र **बीजस्य समवायित्वे**[प्रका.]इति, बीजं तु सूक्ष्मं, तस्यैव समवायित्वे इत्यर्थः. **कार्यस्ये**ति, कार्यरूपवृक्षस्येत्यर्थः. **तदपेक्षये**ति बीजापेक्षयेत्यर्थः. **गुरुत्वे**त्यादि, वृक्षस्य गुरुत्वपरिमाणादाधिक्यं न स्यादित्याशङ्का, **तत्रे**[सुबो.]त्यादिना समाधानम्. **तत्रे**ति बीजे. **सजातीयत्वमि**ति, बीज**सजातीयत्वमापद्यमाना भूम्यवयवाः** बीजं **पुष्णन्ति** इत्यर्थः. **ततो वर्धते** इति भगवत्सामर्थ्येन वर्धते इत्यर्थः. **उक्तदोषाभावादि**[प्रका.]ति, आशङ्कोक्तदोषाभावादित्यर्थः. **तावन्मात्रस्ये**ति,

पद्यमानाः भूम्यवयवाः पुष्णन्ति, ततो वर्धते. सजातीयैव योनिरपि मृग्यते, विजातीयायां नोत्पद्यते, उत्पन्नमप्यन्यथा स्यात्. एतदुभयमेव दृष्टं कारणम्, अन्यत्तु जलान्नादिकं साधनपोषकत्वेन. तत्र यद्येकप्रकारेण भवेतां वृद्धिह्रासौ

प्रकाशः

भावान्न तावन्मात्रस्य समवायित्वक्षतिरित्यर्थः. नन्वेवं वृद्ध्या कार्यमहत्त्वादिसिद्धौ योनेर्निमित्तत्वं न स्यादित्यपेक्षायां भगवदिच्छायाः प्रकारं बोधयितुं दृष्टानुरोधेनोभयोः कारणत्वं समर्थयन्ति **सजातीये**त्यादि. **अन्यथा स्यादि**ति, योन्यभावे योनिवैजात्ये च कार्यं प्रत्युत विनाशि स्यात् योनिबीजविलक्षणं वा स्यात्. तथा च दर्शनानुरोधाद्भगवदिच्छयोभयोरपि कारणत्वे विप्रतिपत्तिर्न कार्येत्यर्थः. नन्वेवं सति जलाद्यवयवानामपि कारणत्वमस्त्विति शङ्कायां तेषामन्यथासिद्धत्वमाहुः **अन्यदि**-त्यादि. **साधनं** बीजयोन्यात्मकं, कार्योत्पत्त्यनन्तरमपि तैः कार्यपोषणस्य दृष्टत्वात् तत् तेन तथेति भावः. नन्वेवं दृष्टानुरोधे सशरीरस्य षाट्कोशिकत्वं[1] लोकानुरोधि शास्त्रे च दृष्टमित्युभयोः समवायित्वमेवाङ्गीकार्यमित्याशङ्कायामाहुः **तत्र यदी**त्यादि.

टीपिका

सूक्ष्ममात्रस्य बीजस्येत्यर्थः. एवं सति गुरुत्वपरिमाणाद्याधिक्यं न स्यादित्याशङ्कायां चोक्तदोषो भगवत्सामर्थ्येन परिहृतो ज्ञेयः, अतो **न समवायित्वक्षतिरि**[प्रका.]त्यर्थः. एवं बीजस्य समवायित्वे विप्रतिपत्तिः परिहृता. तथा योनेर्निमित्तत्वेऽपि विप्रतिपत्तिः **नन्वि**[प्रका.]त्यादिनाशङ्क्य **सजातीयैवे**[सुबो.]त्यादिना समाधानेन परिहरन्ति. **सिद्धावि**[प्रका.]ति, बीजस्य कार्यमहत्वादिसिद्धौ इत्यर्थः. **योनेर्निमित्तत्वमि**ति, उभयोर्बीजसमवायित्वे **योनेर्निमित्तत्वं** मूलोक्तं **न स्याद् इत्यपेक्षायां प्रकारं बोधयितुमि**ति, उभयोः प्रकारं बोधयितुमित्यर्थः. **दृष्टानुरोधेने**ति, **विजातीयायां नोत्पद्यते**[सुबो.]इत्यादिनोभयोर्निमित्तकारणत्वं समर्थयन्तीत्यर्थः. **सजातीयैवे**[सुबो.]ति, बीजसजातीया योनिरपि मृग्यत इत्यर्थः. **विजातीयायां नोत्पद्यते** इति, पश्वादिषु योनिषु विजातीयेन बीजेन सजातीयं फलं नोत्पद्यत इत्यर्थः. तदर्थः **विलक्षणं वा स्यादि**[प्रका.]ति, योनिबीजविलक्षणम् अश्वतरादि वा स्यादित्यर्थः. **(ए ।)तदि**[सुबो.]ति, तस्माद्बीजयोन्यात्मकमुभयमित्यर्थः. **दृष्टं कारणमि**ति लोकवेदप्रसिद्धकारणमित्यर्थः. **उभयोरपी**[प्रका.]ति, रामकृष्णयोर्बीजयोनित्वे **विप्रतिपत्तिर्न कार्ये**त्यर्थः. **तेन तथेती**ति, जलान्नादीनां न मुख्यं कारणत्वमित्यर्थः. **सशरीरस्ये**ति, बीजसहितशरीरस्येत्यर्थः.

१. पोषकत्वम् इति मु. पाठः टीपिकापाठश्च.

आविर्भावतिरोभावौ न सङ्गच्छेयाताम्, ततो भगवानुभयात्मको भवति. लोके तु उभयोः साधका अन्येऽपि मृग्यन्ते, अत्र भगवानेवेति तदेकप्रयोजनाय च तथा जात

विवृतिः

बाधकमुक्तम्. **बीजयोनी**त्यस्य विवरणे **अत्र भगवानेवे**त्यादि, **अत्र** लीलासृष्टौ **तदर्थैकप्रयोजनाय** लीलाकरणार्थमलौकिकरसभोगार्थं **तथा** बलदेवादिसर्वसामग्रीरूपो **जात** इत्यर्थः. **ब्रह्मवादे तु** भक्तिमार्गीयसृष्टिसिद्धान्ते **तदेव** लीलात्मकं

लेखः

बीजयोनिरूपस्य भगवत उभयरूपेणाविर्भावे हेतुमाहुः **तत्र यदी**ति, एकत्वेनैवाविर्भावे बीजशक्तेर्वृद्धौ योनिशक्तेरपि वृद्धिर्योनिशक्तेर्वृद्धौ बीजशक्तेरपि वृद्धिस्तत्तच्छक्तेर्ह्रासे तत्तच्छक्तेर्ह्रास इति वृद्धिह्रासौ एकप्रकारेण भवेताम्. तदा कदाचित्क्वचिद्बीजधर्मतिरोभावेन योनिधर्माविर्भावो योनिधर्मतिरोभावेन बीजधर्माविर्भाव इति वैचित्र्यं न स्यादित्यर्थः. **तदेकप्रयोजनायेति**, मोक्षाभ्युदयैक-प्रयोजनायोभयरूपेण जात इति सहकारिविरहेऽपि कार्यं साधयति, अन्यथा प्राकट्यं निःप्रयोजनकं स्यादिति

प्रकाशः

तत्रेति विश्वे. **उभयात्मक** इति बीजयोनिभूतसमवायिनिमित्तात्मकः. ननूक्तकार्यार्थं स्वरूपभेदो न युक्तः, लोकन्यायेन सहकार्यान्तरादपि वृद्ध्यादिसिद्धेरित्यत आहुः **लोके त्वि**त्यादि. **अत्रे**ति आदिसृष्टौ. तथा च तदानीमन्याभावाद्विश्वार्थमेव बीजयोनिभावतः प्राकट्येनासाधारणत्वाच्च नात्र लोकन्यायेन सहकार्यपेक्षा, लौकिकानां

टीपिका

पोषकत्वमि[प्रका.]ति, जलान्नादेः पोषकत्वमित्यर्थः. **उभयोरि**ति, रामकृष्णयोः समवायित्वमेवाङ्गीकार्यम्, न तु निमित्तत्वमङ्गीकार्यम् इत्याशङ्का. तत्समाधानं **तत्र यद्येकप्रकारेण भवेतामि**[सुबो.]ति, केवलसमवायित्वेन विश्वोत्पत्तिकारणं भवेतामित्यर्थः. **वृद्धिह्रासावि**त्यादेरयमर्थः— "स आत्मानमेवाकुरुत" इति "स एतावानास" इत्यादिश्रुत्युक्त्या ब्रह्मणि समवायित्वेन वृद्धिह्रासौ न सङ्गच्छेयाताम्. तथा जगतः सत्कार्यत्वादाविर्भावतिरोभावावपि न सङ्गच्छेयातामित्यर्थः. सिद्धार्थमाहुः **तत** इत्यादिना. पुनराशङ्कते **नन्वि**[प्रका.]त्यादिना. तत्र **उक्तकार्यार्थमि**ति विश्वोत्पत्त्यर्थमित्यर्थः. **रूपभेद** इति, समवायिनिमित्तात्मकरूपभेदो न युक्त इत्यर्थः. **कार्यान्तरादपी**ति जलान्नादेरपीत्यर्थः. **उभयोरि**[सुबो.]ति, योनिबीजयोः **साधका अन्येऽपि** जलान्नादयो **मृग्यन्ते** इत्यर्थः. **आदौ सहकार्यभावे मानाभावादि**[प्रका.]त्युक्तं,

इति न सहकार्यपेक्षा. अत एव ब्रह्म प्रथमं प्रकृतिपुरुषरूपेण भवति. एवं सति युक्तिर्ब्रह्मणि सङ्गच्छते. ब्रह्मवादे तु तदेव सर्वशक्तियुतं क्रमेणैवाभिव्यक्तो भविष्यामीति प्रथमसृष्टौ तादृशमुत्पाद्य क्षयवृद्ध्यनपेक्षं वा तादृशमेवोत्पाद्य पश्चाल्लोके

विवृतिः

ब्रह्म **सर्वशक्तियुतं** गोपीजनवेष्टितं **क्रमेणैवा**धिकारं सम्पाद्य रसदानक्रमेणैव प्रकटो **भविष्यामीति** विचार्य **प्रथमसृष्टौ** रसात्मकरमणेच्छारूपायां "स एकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छदि"त्यादिश्रुत्युक्तायां **तादृश**भक्तसमूह**मुत्पाद्य क्षयवृद्ध्यनपेक्षं**

लेखः

भावः. **अत एवे**ति, यतः सर्वेषामेकप्रकारेण वृद्धिह्रासवैचित्र्यं न भवति अत एवेत्यर्थः. **एवं सती**ति, विचित्ररूपेणाविभवि सतीत्यर्थः. तर्हि ब्रह्मवादे कथं वैचित्र्यमित्यत आहुः **ब्रह्मवादे त्विति. तादृशमि**ति, कारणस्यैकत्वेऽपि स्वत एव

प्रकाशः

साधारणत्वेनात्र तद्वैलक्षण्यादिति भावः. नन्वादौ सहकार्यभावे मानाभावा-द्योनि[1]पारार्थ्येनापि स्वरूपोत्कर्षस्य सिद्धेरुक्तं न साधीय इत्याकाङ्क्षायां तत्र मानं बोधयितुमाहुः **अत एवे**त्यादि, **अत एव** सहकार्यभावादेव. तथा च "तन्मायाफलरूपेण केवलं निर्विकल्पितं वाङ्मनोगोचरातीतं द्विधा समभवद् बृहद्" इति वाक्यान्नोक्तेऽर्थे विप्रतिपत्तव्यमिति भावः. नन्वेवं प्रकारेण प्रकृतिपुरुषभावेन सृष्टौ भवने किं प्रयोजनमत आहुः **एवं सती**ति, पुराणोक्तप्रकारेण प्रकृतिपुरुषभावेन सृष्टौ सत्कार्यवादोक्तयुक्तिर्ब्रह्मणि सङ्गता भवति, अन्यथा स वादो अप्रामाणिकः स्यादिति मन्वादिपरिगृहीततदनुग्रहाय[2] तथा भवनमित्यर्थः. ननु उत्तरकाण्डसिद्धाद् ब्रह्मवादादयं वादो विरुद्ध्यत इति कथमयमङ्गीकार्य इत्याकाङ्क्षायामाहुः **ब्रह्मवादे त्वित्यादि. क्रमेणे**ति आकाशादिक्रमेण. **तादृशमि**ति सर्वशक्तियुतं विश्वपुरुषम्.

टीपिका

तत्र हेतुमाह **योनिसामर्थ्येन**[प्रका.] इत्यादिना. तत्र **स्वरूपोत्कर्षस्य सिद्धेरुक्त**मिति, **रामो मुकुन्दः विश्वस्य योनी** इति मूले उक्तम्, अतो योनिसामर्थ्येनापि स्वरूपोत्कर्षस्य सिद्धिरुक्ता, अतो योनेः सहकार्यत्वमायातम्, अतः सहकार्यभावे मानाभावः सिद्ध इति भावः. **न साधीय** इति, **योनेः** स्वरूपोत्कर्षत्वं यत्पूर्वोक्तं तन्न

---

१. सामर्थ्येन इति मु. पा. टीपिकापाठश्च. २. अनुग्रहीतत्त्वे इति पाठः.

बहूपकारसिद्ध्यर्थमेवैकैकस्य बहुधोपयोगाय शक्तिसमूहं विभज्य, बीजयोन्यादिभावेन वस्तूनि परिकल्प्य स्थापितवानिति विशेषः. उभयथापि पश्चात् प्रकारद्वयं

विवृतिः

कालातीतं विकल्पेन **तादृशं** लौकिकादिरसभोगार्थं कालादिधर्मयुक्तं "जहुर्गुणमयं देहमि"त्यादिरूपं **पश्चाल्लोके** तदतिरिक्तं **बहूपकारसिद्ध्यर्थं** केषांचिद्भाग्यवतां स्वप्राप्त्यर्थ**मेकैकस्य** स्वामिनीरूपस्य जीवरूपस्य वा **बहुधोपयोगाय** बहुधा रमणार्थं स्वस्येति शेषः, **शक्तिसमूहं** व्रजदेवीनां समूहं सात्विकादिभावेन **विभज्य बीजयोन्यादिभावेन** स्वस्वरूपात्मकान्यपि **परिकल्प्य स्थापितवानिति** भावः. **उभयथा** लीलात्मकप्रकारेण भक्तिमार्गीयभक्तविचारितमार्गप्रकारेण **पश्चाद्भ**गवद्रमणेच्छानन्तरं **प्रकारद्वयं** स्वरसभोगार्थप्रकारो जीवरसदानप्रकारश्चैतद् द्वयमिति भावः.

लेखः

वृद्धिह्रासयुतमित्यर्थः. **क्षयेति**, वृद्धिह्रासावनपेक्ष्य स्वत एव विचित्रमित्यर्थः. "कदाचित्सर्वमात्मैव भवती"ति पक्षोऽयम्. **उभयथापीति**, भगवदीयसाङ्ख्ये प्रथमं प्रकृतिपुरुषत्वेन योनिबीजविभागस्ततः सृष्टिः, ब्रह्मवादे स्वत एव प्रथमसृष्टिस्ततो योनिबीजविभागस्ततः प्रवाहरूपा सृष्टिरित्यर्थः. **पश्चादिति**, "आसीज्ज्ञानमथो ह्यर्थ

प्रकाशः

क्षयवृद्ध्यनपेक्षमिति "एतस्माज्जायते प्राण" इति श्रुत्युक्तसाक्षात्सृष्टिप्रकारेण तदनपेक्षम्. **बीजयोन्यादिभावेने**ति "वडवेतराभवदश्ववृष इतर" इत्यादिश्रुतिबोधितेन. तथा चावान्तरविशेषो यथोत्तरकाण्डे न दोषावहस्तथायमपीति न विरोध इति भावः. ननु तत्र श्रुत्योः समानबलत्वाद्व्यवस्थायां न दोषः, प्रकृते तु दौर्बल्याद्विरोधो

टीपिका

साधीय इत्यर्थः. **तदनपेक्षमि**[प्रका.]ति, क्षयवृद्ध्यनपेक्षं वा विश्वपुरुषमुत्पाद्येत्यर्थः. **बहुधोपयोगाये**[सुबो.]ति, भोगमोक्षोपयोगायेत्यर्थः. **शक्तिसमूहमिति**, "बुद्धीन्द्रियमनःप्राणानि"त्यत्रोक्तशक्तिसमूहं विभज्येत्यर्थः. **तथायमपी**[प्रका.]ति, यथा कल्पान्तरे सृष्टिभेदेन "वडवेतराभवद्"इत्यादिश्रुतिषु पाठभेदो न दोषावहः तथा कल्पान्तरसृष्टिभेदेनात्रापि कदाचित् प्रकृतिपुरुषद्वारा सृष्टिर्भवति. कदाचिद् "एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत"इति श्रुत्युक्तप्रकारोऽपि न दोषावह इति भावः. **विशेष**[सुबो.]इति, वैदिकभगवदीयसाङ्ख्ये ब्रह्म प्रथमं प्रकृतिपुरुषरूपेण भवति, ब्रह्मवादे तु तदेव सर्वशक्तियुक्तम् आकाशादिक्रमेण भवतीति ब्रह्मवादे विशेष

सिद्धमिति मन्तव्यम्, अनुभवसिद्धत्वात्. तथात्रापि मोक्षसृष्ट्यादिचतुर्विधपुरुषार्थान्

प्रकाशः

वज्रलिप्तो दोषः इत्यत आहुः **उभयथे**त्यादि. **इति मन्तव्यमि**ति, अतो हेतोर्युक्तिभिरनुचिन्तनीयम्. तथा च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधस्य पश्चात् प्रकारद्वयस्य क्रमस्य चोभयत्र तौल्यं[1] स्मार्तानङ्गीकारे स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गाङ्गीकारे चानुभवानुग्रह इति सूक्ष्मेक्षिकया विभाव्यानुभवनेनैव विरोधः परिहरणीयः इति भावः. ननु भवत्वेवम्, तथाप्यत्रोत्कर्षमात्रस्य बोधनीयत्वात्तस्य मोक्षदातृत्वमात्रेणैव सिद्धेः सृष्टिबीजयोनित्वबोधनस्य किं प्रयोजनमत आहुः **तथे**त्यारभ्य **निरूपयती**त्यन्तम्. **मोक्षे**त्यादि, मोक्षश्च सृष्ट्यादिश्च मोक्षसृष्ट्यादी तयोः सम्बन्धिनस्तानित्यर्थः.

टीपिका

इत्यर्थः. युक्तिभिरनुचिन्तनमेवाह **तथाचे**[प्रका]·त्यादिना. तत्र **प्रतिज्ञादृष्टान्तानु-परोधस्ये**ति, **एतौ हि विश्वस्य च बीजयोनी**ति प्रतिज्ञा, पुरुषप्रधानेति दृष्टान्तं तदनुपरोधस्येत्यर्थः. **पश्चादि**ति, "आसीज्ज्ञानमथो ह्यर्थ" इत्यत्रोक्तस्वरूपैक्यात् पश्चादित्यर्थः. **प्रकारद्वयस्य क्रमस्य चे**ति, प्रकृतिपुरुषरूपेण सृष्टिक्रमेण साक्षात् स्वरूपतः सृष्टिक्रमेण चेत्यर्थः. **उभयत्र प्राप्तावि**ति, श्रौतस्मार्तप्राप्तौ इत्यर्थः. तत्र स्मार्तानङ्गीकारे स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गः स्यादित्यर्थः. **अङ्गीकारे चे**ति स्मृत्यङ्गीकारे चेत्यर्थः. **अनुभवानुग्रह** इति **अनुभवसिद्धत्वादि**ति सुबोधिन्युक्तस्यार्थो ज्ञेयः. **इति मन्तव्यमि**[सुबो]·त्युक्तम्, तत्र मानने मानमाह **अनुभवसिद्धत्वादि**ति, स्मृतिरूपेणापि मन्वादीनां वेदानुभवसिद्धत्वादित्यर्थः. अतः पुराणोक्तसृष्टिप्रकारे न दौर्बल्याद्विरोधो नापि वज्रलिप्तो दोषः शङ्कनीय इतिभावः. एवं विप्रतिपत्तिपरिहारपूर्वकं बीजयोनित्वमुक्त्वा अग्रे **रामो मुकुन्द** इति पदस्य रमयतीति रामः मोक्षं ददातीति मुकुन्द इति नामनिरुक्तेरर्थः **तथे**[सुबो]·त्यारभ्य **निरूपयती**त्यन्तेनोक्तो ज्ञेयः. नन्वत्र पूर्णपुरुषोत्तमस्य रामस्य मुकुन्दस्य च बीजयोनित्वोक्त्या प्रकृतिपुरुषत्वमुक्तं भवति, तदुक्तौ कोऽभिप्राय इत्याकाङ्क्षायाम् अत्रेदं प्रतिभाति— श्रीमद्भागवतस्य सारस्वतीयकथायां निर्विवादः. तत्सृष्टौ बहुधा उत्तमाधिकारिणो जीवाः, तेषां मोक्षाभ्युदयदानार्थम् अवतीर्णौ, अतो न शंकालेशोऽपीति भावः. **अत्रोत्कर्षमात्र-स्ये**[प्रका]·ति, अस्मिन् श्लोके स्वरूपोत्कर्षमात्रस्य बोधनीयत्वादित्यर्थः. **तथात्रापी**[सुबो]·ति, यथा ब्रह्मवादे एकैकस्य बहुधोपयोगाय सृष्टिरुक्ता तथात्रापि वैदिकसाङ्ख्यसिद्धान्ते

१. प्राप्तौ इति मु. पा.

साधयितुं सर्वस्यापि सर्वं मा भवत्विति स्वशक्तिं विभज्य मोक्षभक्त्योः स्वयं बीजं योनिश्च रामः, सृष्ट्यादौ तु विपरीतमिति, उभावपि योनिबीजभावेन सर्वलोकानां

विवृतिः

अनुभवसिद्धत्वाद् भक्तानामिति शेषः. **तथात्रापि** लौकिकसृष्टौ **मोक्षसृष्ट्यादिचतुर्विधपुरुषार्थान्**धर्मादिरूपान् **साधयितुं सर्वस्यापि** जीवसमूहस्य **सर्वं** मोक्षादिचतुष्कं भक्तिफलं वा **मा भवतु** इति **स्वशक्तीं** स्वामिनीरूपां **विभज्य** भिन्नां स्वरमणस्थले वृन्दावने स्थापयित्वा. **मोक्षभक्त्योः स्वयं बीजं योनिश्च रामः**, मोक्षो भगवद्दत्त एव भवति तत्साधनरूपं ज्ञानं च वेदात्मकबलदेवेन भवति, तेनोभयोस्तथात्वम्. भक्तौ च स्वयं बीजं रसार्थकस्वरूपसम्पादके रमणार्थस्वरूपसम्पादके रमणार्थकभावोत्पादकश्च राम इति भावः. **सृष्ट्यादौ** लीलासृष्टौ स्वयं योनिः कात्यायन्यात्मकस्वरूप इत्यर्थः. रामश्च तादृग्रमणात्मभावोत्पादकबीजरूपः, कोशलेन्द्रवत्. अतः कारणा**दुभावपि** पुरुषोत्तमावेशिनौ सर्वलोकहितार्थं **सर्वलोकानां हितार्थं** मुक्तिभक्तिरसदानार्थ**मवतीर्णौ**. यत उभावपि

लेखः

एकमेवाविकल्पितमि''त्यत्रोक्तात् स्वरूपैक्यात्पश्चादित्यर्थः. **मोक्षसृष्ट्यादीति**, **सृष्टिरभ्युदयः** काम इत्यर्थः. तद्गुणसंविज्ञानेन मोक्षकामादि-चतुर्विधपुरुषार्थानित्यर्थः. अत्र मोक्षस्य भगवदेकसाध्यत्वेनान्यानधीनत्वज्ञापनाय विपरीतः क्रम उक्तः. **मोक्षभक्त्योरिति**, मोक्षभक्त्योर्दातव्ययोः. ''सोऽश्नुते सर्वान्कामानि''ति सायुज्योपयोग्यलौकिकशरीराणां ''सर्वाभेदादन्यत्रेमे''इति न्यायेन पुरुषोत्तमात्मकत्वात् स्वयं बीजमुपादानकारणम्. तत्राक्षरज्ञानस्य स्वरूपयोग्यतासम्पादकत्वाद्रामोऽक्षरात्मको

टीपिका

श्रीभागवते **मोक्षसृष्ट्यादिचतुर्विधपुरुषार्थान् साधयितुमवतीर्णाविति** सम्बन्धः. **तानि**[प्रका.]ति चतुर्विधपुरुषार्थानित्यर्थः. **सृष्टीति**, सृष्टिरत्र त्रिवर्गः. इदमेवोक्तं **सृष्टिरभ्युदयः**[लेख.], अभ्युदयस्याप्यर्थस्त्रिवर्ग इत्यर्थः. **काम** इति, मोक्षादिसाधयितुकामो रामो मुकुन्दोऽवतीर्ण इति योज्यम्. नन्वत्र त्रिवर्गकथने **सृष्टिपददाने** कोऽभिप्राय इत्याशङ्कायाम्, अत्र **सृष्टिभवनानन्तरं** त्रिवर्गपुरुषार्था भवन्ति तस्मादत्र **सृष्टिपददानमुक्तम्**, अत एव मोक्षसृष्ट्याद्युक्तम्. नन्वेवं सति **सर्वेषां** सर्वे पुरुषार्था भविष्यन्तीत्याशङ्कायां **सर्वस्यापी**[सुबो.]त्यादि. **स्वशक्तिमिति** स्वसामर्थ्यमित्यर्थः. **विपरीत क्रम**[लेख.]इति, मूले **रामो मुकुन्दो बीजयोनी**त्युक्तम्, अत्र स्वयं बीजं

हितार्थमवतीर्णौ. अत एकस्यैव हितार्थत्वेन ग्रहणे न कोऽपि पुरुषार्थः सिद्ध्येत्. अत एव सर्वत्राभ्युदयफलेषु रामस्य प्राधान्यम्, भगवतः सहभावमात्रम्. क्वचिद्रामस्य प्राधान्यं प्रथमनिर्देशेन. साक्षान् महती शक्तिः कृष्ण एवेति न क्वापि सहभावो

विवृतिः

भक्तिरसदानार्थमवतीर्णावत **एकस्यैव हितार्थत्वेन** ग्रहणे कृते **कोऽपि पुरुषार्थो** भक्तिरसात्मको **न सिध्येत्.** यतः सङ्कर्षणस्तामसो रमणात्मकस्ततस्तामसगुणं विना विप्रयोगरसाभावे पूर्णरससिद्धिर्न भवेदिति भावः. **अत एव सर्वत्र** भक्तिमार्गे**ऽभ्युदयफलेषु** रसमार्गीय-रसात्मकभावोदयेषु **रामस्य प्राधान्यं**, रमणसामग्रीसम्पादकत्वात्. अत एव तामसप्रकरणस्थद्वादशाध्याये भगवद्रमणार्थं वृन्दावनीयवृक्षादीनां स्वरमणसिद्ध्यर्थं भगवता बलदेवनमस्कार एवोक्तः. **भगवतः सहभावमात्रं**, स्वावेशसिद्ध्यर्थमिति भावः. **क्वचि**ल्लौकिके **रामस्य प्राधान्यम्,** न भगवतः सहभावत्वमिति भावः. **प्रथमनिर्देशेन** स्वरमणेच्छारूप-शक्तिसृष्टिप्राकट्येन

लेखः

योनिर्निमित्तमात्रमित्यर्थः. **सृष्ट्यादाविति** कामादौ, दातव्ये तदुपयोगिशरीराणामक्षरात्मकत्वाद्राम उपादानकारणं भगवांस्तु दातृत्वेन निमित्तकारणमित्यर्थः.

प्रकाशः

अत्रावान्तरसन्दर्भः **सिध्येदि**त्यन्तः. तस्य शास्त्राभिप्रेतत्वे गमकमाहुः **अत एव सर्वत्रे**त्यादि. **अत एवे**ति, **यतः** सृष्ट्यादिसम्बन्धिपुरुषार्थेषु रामस्य बीजत्वादेवेत्यर्थः. अभ्युदयफले रामप्राधान्योदाहरणं तालवनप्रवेशे "बलः प्रविश्य बाहुभ्यामि"त्यादिनोक्तलीलायाम्. नन्वभ्युदयफलत्वावच्छेदेन यदि रामस्य प्राधान्यं तदा तादृशस्य स्थलमात्रे भगवतः सहभाव उच्येत, स तु क्वचिद्व्यभिचरतीत्यतो नैवमिति शङ्कायामाहुः **क्वचिदि**त्यादि. तद्दृष्टाहरणमपि[1] तत्रैव "राम राम महासत्त्व कृष्ण दुष्टनिबर्हण इतो विदूरे सुमहद्वनं तालालिसङ्कुलमि"ति श्रीदामादिवाक्ये. नन्वेवं सति [2]न्यायतौल्याद्भगवतोऽपि क्वचिदभ्युदयफले सहभाव उच्येत, स तु न दृश्यते अतो नैवं शास्त्राशय इत्यत आहुः **साक्षादि**त्यादि. तथा च निरूपणाभावेऽप्युन्नेय इति

टीपिका

योनिश्च इति विपरीतक्रम उक्त इत्यर्थः. **तस्ये**[प्रका]ति, हितार्थमवतीर्णस्य रामस्य शास्त्राभिप्रेतत्वे गमकमाहेत्यर्थः. **निरूपणाभावेपी**ति कृष्णे सहभावनिरूपणाभावेऽपि.

१. तदुदाहरणमपि इति मु. पा. २. शयनावतारादिति पाठः.

निरूपितः. निःश्रेयसे तु रामस्य सहभावः साधारण्ये द्वयोस्तुल्यतया निरूपणमिति सर्वत्रैव विमर्शः. अतो भगवतो जगत्कारणत्वं मोक्षदातृत्वं च निरूपयन् एवं निरूपयति. एषा युक्तिर्हिशब्देनोच्यते. **एतौ** कृष्णरामौ **विश्वस्य बीजयोनी** उभावपि. तौ गणयति **रामो मुकुन्द** इति, नाम्ना अभ्युदयनिःश्रेयसफलं ज्ञापितम्. **एताविति** भक्त्या प्रादुर्भूतौ प्रदर्शयन्निवाह. "द्रष्टुमेष्याव" इत्यनेन सत्यं निरूपितम्. द्विरूपता किमर्थेत्याशङ्क्य दृष्टान्तमिव वदन् स्वरूपद्वयं निर्दिशति **पुरुषः प्रधानमिति.**

विवृतिः

साक्षान्महती शक्तिः कात्यायनीरूपा भद्रकालीरूपा च **कृष्ण एवेति** कृष्णरूपैवेति **न क्वापि सहभावो निरूपितः** रामस्येति शेषः. **निःश्रेयसे तु रामस्य** भगवतः **सहभाव** इति भावः. **साधारण्ये द्वयोर्यत्र तुल्यतया निरूपणं** तत्र **सर्वत्रैव विमर्शो** विचारः कर्तव्य आवेशादिभावेनेत्यर्थः ॥३१॥

प्रकाशः

भावः. **निःश्रेयसे** त्विति, तदुदाहरणं त्वक्रूरप्रसङ्गे द्रष्टव्यम्. **निःश्रेयस**पदं भक्तेरप्युपलक्षणम्; तदुदाहरणं तु "सहरामो व्रजस्त्रीणां चिक्रीडे जनयन्मुदम्" इत्यादौ द्रष्टव्यम्. **साधारण्य** इति सामान्यतो निरूपणे. तदुदाहरणं च रिङ्गणलीलादौ. नन्वेवमेवात्र श्रीमदुद्धवाशय इत्यत्र किं गमकमत आहुः **एषे**त्यादि. **द्रष्टु**मित्यादि, इदं वाक्यम्. **अनेन** प्रादुर्भूतप्रदर्शनेनेत्यर्थः. **किमर्थे**ति, ननु 'एष्याम' इति बहुवचनस्य एकत्वविवक्षायामप्यनुशासन-सिद्धत्वेनैकस्यागमनेऽपि वाक्यसत्यत्वसिद्धेर्द्विरूपतात्र

टीपिका

उन्नेय[प्रका.] इति, साक्षान्महती शक्तिः कृष्ण एवेत्याचार्याणामुक्त्या कृष्णसहभावाभावः. **अक्रूरप्रसङ्ग** इति, "आयास्ये भवतो गेहमहमार्यसमन्वित" इत्यत्र रामस्य सहभावो द्रष्टव्य इत्यर्थः. **रिङ्गणलीलादाविति,** "तावङ्घ्रियुग्ममनुकृष्य सरीसृपन्तावि"त्यत्र कृष्णरामयोस्तुल्यतया निरूपणं द्रष्टव्यम्. **एष्याम** इति, "ज्ञातीन् वो द्रष्टुमेष्याम" इति बहुवचनस्येत्यर्थः. **एकत्वविवक्षायामिति,** तथा **रामो मुकुन्देति** द्विवचनविवक्षायामपि इत्यर्थः. **अनुशासनेने**ति, नन्दं प्रति भगवतोक्तबहुवचनानुशासन-सिद्धत्वेनेत्यर्थस्तथा. **एकस्ये**ति, रामस्य वा मुकुन्दस्य वा आगमनेऽपीत्यर्थः. **वाक्यसत्यत्वसिद्धेरिति,** भगवत एकरूपेणैव वाक्यसत्यत्वसिद्धेर्भक्त्या प्रादुर्भूते **द्विरूपता किमर्थे**त्यर्थः. **दृष्टान्तमिव वदन्नि**[सुबो.]ति, यथा पुरुषप्रधाने सृष्ट्यर्थं द्विरूपता तथा राममुकुन्दयोरपि मोक्षाभ्युदयफलदानाद् द्विरूपता

अनयोः प्रकृते विशेषमाह **अन्वीय** सर्वेषु **भूतेषु विलक्षणस्य** विः काल एव लक्षणं यस्य तस्याभ्युदयस्येशानौ. तथा **ज्ञानस्य** च मोक्षसाधकस्य विलक्षणत्वं प्रापञ्चिकाद्वैलक्षण्यं **च**काराद्भक्तेर**पीशाते** समर्थो भवतः. एतदर्थमेवैतौ [1]प्रादुर्भूतावित्यर्थः. एवं हि सति ब्रह्म भगवान् कार्यमिव एतत्प्रयोजनकावेतावाविर्भावितावििति शङ्का स्यात् तद्व्यावृत्त्यर्थमाह **इमौ पुराणा**विति, एतावेवंभूतौ पूर्वसिद्धावेवाऽनन्तमूर्तित्वाद्भगवतः ॥३१॥

दीपिका

प्रापञ्चिकादिति, लौकिकादभ्युदयफलाद्भगवद्दत्तस्याभ्युदयफलस्यापि विलक्षणत्वबोधाय विलक्षणपदेनाभ्युदयफलमुक्तमित्यर्थः. **ब्रह्म भगवा**निति, अक्षररूपेण पुरुषोत्तमरूपेण च लीलार्थमाविर्भूतं कार्यमिवानयोरप्यभ्युदयनिःश्रेयसफलदानायैवंरूपेण प्रादुर्भावात्कार्यरूपत्वमिति शङ्का स्यादिति भावः ॥३१॥

लेखः

प्रापञ्चिकादिति, प्रापञ्चिकादभ्युदयाद्भगवद्दत्ताभ्युदयस्य वैलक्षण्यं ज्ञापयितुं **विलक्षण**पदेन निर्देशः. **एवं ही**ति; ब्रह्म भगवान् भिन्नः कारणरूपः, एतौ कार्यमिव प्रपञ्चरूपमिवाविर्भूताविति शङ्केत्यर्थः ॥३१॥

प्रकाशः

किमर्थेत्यर्थः. **पुरुष** इत्यादि, तथा च यथा शक्तिविभागात् सृष्ट्यर्थं **द्विरूपता** तथात्र द्विविधफलदानार्थं सेत्यर्थः. तदेव विशदयन्ति **अनयो**रित्यदिना. विलक्षणपदेनाभ्युदयबोधस्य तात्पर्यमाहुः **विलक्षणत्वमित्यादि** ॥३१॥

टीपिका

निर्दिशतीत्यर्थः. तदेवोक्तं **तथा चे**[प्रका]त्यादिना. **द्विरूपता** इति पुरुषप्रधानरूपता इत्यर्थः. **द्विविधफलदानार्थ से**ति, मोक्षाभ्युदयफलदानार्थं द्विरूपता इत्यर्थः. अतो द्विरूपता युक्तैवोक्तेति भावः **तदेव विशदयन्ती**ति, द्विविधं फलं विशदयन्तीत्यर्थः. **अनयोरि**[सुबो]ति, रामकृष्णयोः मोक्षाभ्युदयफलदातृत्वेन पुरुषप्रधानाद्विशेषमाहेत्यर्थः. **एतत्प्रयोजनका**विति, बीजयोनित्वेन प्रपञ्चप्रयोजनकावेतावधुनाविर्भूताविति शङ्का स्यादित्यर्थः ॥३१॥

यस्मिन् जन इत्यत्र. **परःसहस्रं भगवद्धर्माः सन्ती**[सुबो]ति, यद्यपि श्रुत्यादिषु पूर्वसिद्धा भगवद्धर्मा सहस्रशः सन्तीत्यर्थः. ते चोक्ताश्चतुर्थे शिक्षापत्रे "प्रभोर्धर्माः श्रुतौ प्रोक्तास्तथा भागवतेऽपि च अप्राकृताः स्वरूपैकनिष्ठा भिन्ना न रूपत" इत्यादिना

---

१. आविर्भूतौ इति स.

एवं स्वरूपोत्कर्षमुक्त्वा धर्मोत्कर्षमाह **यस्मिञ्जन** इति.

यस्मिञ्जनः प्राणवियोगकाले
क्षणं समावेश्य मनो विशुद्धम् ।
निर्हृत्य कर्माशयमाशु याति
परां गतिं ब्रह्ममयोऽर्कवर्णः ॥३२॥

यद्यपि परःसहस्रं भगवद्धर्माः सन्ति, तेषां माहात्म्यं च भगवत एव, धर्मधर्मिणोरभेदाद् भगवानेव धर्मरूपेण भवतीति सिद्धान्तात्. सिद्धान् धर्मान् परित्यज्य प्रमाणबलेन भावकेन मनसा परिकल्पितं भगवद्रूपं सर्वेषां स्वाधीनं मत्वा तस्य माहात्म्यमाह— **यस्मिन्** मानसे रूपे **जनः** प्राणी **प्राणवियोगकाले क्षणं मनो विशुद्धं समावेश्य कर्माशयं निर्हृत्य परां गतिं याति**. साधनान्तरनिरपेक्षत्वज्ञापनाय **यस्मिन्** मानसे रूप इत्युक्तम्. **जन** इति सामान्यतः, न तु ब्राह्मण ऋषिर्वा. तत्रापि **प्राणवियोगकाले** सर्वेन्द्रियविकले अशुद्धावस्थायां **क्षणं** चित्तं **समावेश्य,** न तु बहुकालम्. नापि वाग्देहयोरनुवृत्तिः. तदपि रूपं सर्वफलसाधकमिति **विशुद्धमि**त्युक्तम्, अन्यथा कामनायां तदेव फलिष्यतीति. **विशेषेण शुद्धिः**

विवृतिः

यस्मिन्नित्यस्य निरूपणे **मानसे रूप** इत्युक्तं रूपं मानसरूपम् इत्यस्यायं भावः— मनसो दोषाधिक्येन यत्र कुत्रचित्तादात्म्यस्फूर्तिर्भवति तथा भगवद्रूपस्य कृपयाविर्भूतिरपि ब्रह्मप्राप्तिर्भवतीति भावः. अत एवाग्रेऽप्युद्धवावस्था-नत्याद्युक्तमाचार्यैः

लेखः

यस्मिन् जन इत्यत्र **तदपीति, सर्वफलसाधकं** भवतीति हेतोः कामना सम्भवति तद्व्यावृत्त्यर्थं मनसो विशुद्धत्वमुक्तमित्यर्थः. **अन्यथे**त्यस्यैवं विवरणं **कामनायामिति. तदेवेति**, कामितमेवेत्यर्थः. **बीजात्मकमिति** लिङ्गशरीरमित्यर्थः ॥३२॥

टीपिका

द्रष्टव्याः. ननु **क्षणं समावेश्य मन** इत्यस्यार्थकथने **मानसे रूप** इत्युक्तौ कोऽभिप्राय इत्याकाङ्क्षायामाह **साधनान्तरे**[सुबो.]त्यादिना. **तदपि रूपमिति**, भगवतः कृपयाविर्भूतं मानसरूपमित्यर्थः. **इतीति, इति** हेतोर्**विशुद्धमित्युक्तमि**त्यर्थः. **विशुद्धमि**त्यस्याभासे **कामना सम्भवती**[लेख]ति, मनसोऽशुद्धत्वे कामना सम्भवतीति शेष इत्यर्थः. ननु कामनायां को दोष इत्याशङ्कायामाह **कामनायामि**[सुबो.]त्यादिना. **ज्ञानेपि सिद्धे** इति,

कामनाभाव एव. ननु "यदा सर्वे प्रलीयन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुत" इति श्रुतेः कामनाभाव एव **पुरुषार्थसिद्धौ निष्कामं** सदात्मगात्म्येव भवतीति ज्ञानेऽपि सिद्धे किं भगवद्धर्ममाहात्म्यमिति चेत्, **सत्यम्**, नात्र निष्कामता साधनान्तरेण भवतीति निरूप्यते येनान्यथासिद्धं स्यात्, किन्तु क्षणं सम्यगावेशनेनैव मनो विशुद्धमपि भवति. ततः **कर्माशयं** कर्मण्याशरतेऽस्मिन्निति बीजात्मकं सङ्घातं च निवर्त्य स्वाभिमानपरित्यागेन मृतमिव तदिति ज्वालनमिव तं कारणभूतमपि सङ्घातं दग्ध्वा उत्तरत्र गमने साधनान्तरमप्यनपेक्ष्य परां गतिं

दीपिका

यस्मिन् जन इत्यत्र. **निष्काममिति, निष्कामं** हि मनः **आत्मगामि भवतीत्येवंज्ञानेऽपि** निष्कामत्वे **सिद्धे** सतीत्यर्थः ॥३२॥

विवृतिः

"सात्वतां पतिरि"त्यत्र. **निर्हत्य कर्माशयमि**त्यस्य विवरणे **बीजात्मकमि**त्यारभ्य **स्वरूपेणैव याती**त्यन्तम्. अस्य जीवस्य पुष्टिमार्गीयत्वात् केनचिदपराधेन मर्यादामार्गीयभक्त-देहजबीजजसंघातप्राप्तौ सति तन्निवर्तनेन तत्र पूर्वं स्वदेहाभिमानस्थित्या तत्परित्यागपूर्वकं **मृतमिव** तद्भवति, देहानामपि नित्यत्वा**दिवे**त्युक्तम्. ज्वलनोऽग्निर्यथा मृतकं प्रज्वाल्य स्वस्वरूपात्मक एव स्वयं भवति तथापराध**कारणभूतमपि संघातं** तदनुपभोगेनैव **दग्ध्वा उत्तरत्र गमने** साक्षात्स्वरूपसम्बन्धे **साधनान्तरं** पुनर्भावात्मकस्वरूप-भजनरूप**मप्यनपेक्ष्य** सर्वोत्कृष्टां **गतिं स्वरूपेणैव** गच्छतीति भावः. तद्योग्यत्वेनेति शेषः, अन्यथा पूर्वसंघातत्यागपूर्वकान्यस्वरूपकथनं प्राप्तौ नोक्तं स्यात्. **परां गतिमि**त्यस्य विवरणे, **तत्रापी**त्यादि, **सायुज्यार्थं** यथा जीवभावेन गमनानन्तरं तत्र तद्भावनाशपूर्वकं

टीपिका

मनसो निष्कामत्वे सति ज्ञानमार्गेऽपि परां गतिं यातीति फले सिद्धे इत्यर्थः. **येनान्यथासिद्धं स्यादि**ति, **येन** ज्ञानमार्गीयसाधनेन भगवद्धर्ममाहात्म्याभावः स्यादित्यर्थः. **निर्हत्ये**[मूल]ति लिङ्गशरीरं दग्ध्वा परां गतिं यातीति योज्यम्. लिङ्गशरीरस्य मरणमाह **स्वाभिमाने**[सुबो]त्यारभ्य **तदि**त्यन्तेन मरणमुक्तमित्यर्थः. तस्य ज्वालनमाह **ज्वालनमिवे**ति, यथा मृतस्य ज्वालनं करोति तथा मूले **निर्हत्ये**ति पदेन लिङ्गशरीरस्य ज्वालनमुक्तमित्यर्थः. **दग्ध्वे**ति, दग्ध्वा परां गतिं यातीति योज्यमित्यर्थः, साधनान्तरमित्यर्थः. **स्वरूपेणैव याती**ति, ब्रह्ममयस्वरूपेणैव

स्वरूपेणैव याति. तत्रापि न सायुज्यार्थं जीवभावेन गमनं किन्तु **ब्रह्ममयः** "ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येती"त्येषा गतिर्भवति. तत्रापि भगवद्धर्माणामपि सर्वेषां स्फूर्तिर्भवतीति ज्ञापयितुम् **अर्कवर्ण** इति. तस्माद्यावान् पुरुषार्थः सर्वैरेव ज्ञानादिभिर्भवति क्रमेणापि साध्यं सकृदेव च भवतीति भगवद्धर्माणां माहात्म्यमुक्तम् ॥३२॥

एतादृशे च भगवत्स्वरूपे यैः सर्वात्मना सर्वदा सर्वभावेन मनो विहितं तेषां फले किं वक्तव्यमित्याह **तस्मिन् भवन्ताविति.**

विवृतिः

सायुज्यं भवति तथा न भविष्यति **किन्तु ब्रह्ममयः** भगवद्रमणयोग्यभगवदात्मकभगवद्भावरूपो भूत्वा भक्तिमार्गानुसारेण प्राप्नोतीत्यर्थः. अयमेवार्थ**स्तत्रापि भगवद्धर्माणामपि सर्वेषां स्फूर्तिर्भवतीत्यर्कवर्ण** इत्यस्याभासेन निरूपितम्. **अर्कवर्ण** इत्यस्यार्थनिरूपणे **तस्मादि**त्यारभ्य **माहात्म्यमुक्तमि**त्यन्तम्. **यावान्पुरुषार्थ**स्तापात्मकत्वमिति यावत्, स **क्रमेण** यावज्**ज्ञानादिभिः** भगवत्स्वरूपात्मकादिभिरेकोनविंशाध्यायोक्त-गोपालाधिकरणरूपै**र्भवति,** तावत्तस्मिन्समये भगवत्स्वरूपावेशेन तत्सङ्गाभिलाषयास्मिन् जन्मनि पूर्वं तदभावजतापेन तथा भूत्वा प्राप्नोतीति भावः. अयमेव तापो**ऽर्कवर्ण**कथनेन निरूपितः, गोप्यत्वात् स्पष्टतया नोक्तः ॥३२॥

टीपिका

यातीत्यर्थः. तदेवोक्तं **तत्रापी**त्यादिना. **ब्रह्ममय** इत्यस्याभासार्थकथने **न सायुज्यार्थं जीवभावेन गमनमि**त्यस्यायमर्थः— यथा "वैश्वानरं याति विहायसा गत" इति द्वितीयस्कन्धे क्रममुक्तौ सायुज्यार्थं जीवभावेन गमनमुक्तं तथाऽत्र गतौ जीवभावेन गमनं नेत्यर्थः. नन्वेवं ब्रह्ममयत्वे भेदाभावाद्भगवत्स्वरूपस्यापि स्फूर्तिर्न भविष्यतीत्याशङ्कायामाह **तत्रापी**त्यादिना. **अर्कवर्ण** इति, यथा अर्कस्य ध्याने "ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती नारायणः सरसिजासनसन्निविष्टः केयूरवान् मकरकुण्डलवान् किरीटी, हारी हिरण्मयवपुर्धृतशङ्खचक्र"इति साकारत्वमुक्तं, "त्वं पर्यटनर्क इव त्रिलोकीमंतश्चरो वायुरिवात्मसाक्षी"इत्यादिना सर्वस्यापि स्फूर्तिरुक्ता, तथा अस्यापि भगवद्धर्माणां स्फूर्तिर्भविष्यतीत्यर्थः. एवं श्लोकार्थमुक्त्वा **ननु यदा** इत्यादिना पूर्वमाशङ्क्य भगवद्धर्माणामन्यथासिद्धिः यदुक्ता तत्परिहारमाह **तस्मादि**त्यादिना ॥३२॥

तस्मिन् भवन्तावखिलात्महेतौ
नारायणे कारणमर्त्यमूर्तौ ।
भावं विधत्तां नितरां महात्मन्
किं वावशिष्टं युवयोः सुकृत्यम् ॥३३॥

यादृशं हि उपास्यं चिन्त्यं ध्येयं वा तादृश एव भवतीति सर्वजनीनम्.

दीपिका

तस्मिन् भवन्तावित्यत्र. तादृश एवेति. "यो यच्छ्रद्धः स एव स" इति वाक्यादुपासक उपास्यरूपो भवतीति गम्यते. तथा च भवदुपास्यस्य सर्वफलरूपत्वेन भवतोपि सर्वफलरूपत्वमेव सम्पन्नमिति किमवशिष्टं फलेष्विति भावः.

प्रकाशः

तस्मिन्नित्यस्याभासे **सर्वात्मने**ति. सर्वैर्बाह्याभ्यन्तरसाधनैरित्यर्थः. **उपास्यमि**ति उपासीतेति विधिप्राप्तं; लौकिक्याः चिन्तायाः विषयं **चिन्त्यम्**, योगशास्त्रे तु ध्यानविषयत्वे बोधितमित्यवान्तरभेदः. **सर्वजनीनमि**ति पेशस्कारिणि

टीपिका

तस्मिन् भवन्तावित्यस्यार्थकथने **तस्मिन्** रूपे **भावं विधत्तां युवयोः किं कृत्यमवशिष्टमि**ति सम्बन्धः. अत्र यशोदानन्दयोः फलोत्कर्षः **अखिलात्महेतावि**त्यादिविशेषणैर्यदुक्तः स कैमुतिकन्यायेन **यादृशं हि उपास्यमि**[सुबो]त्यादिनोक्तः. **यादृश**मिति, यादृशं रूपम् उपास्यं चिन्त्यं ध्येयमिति. मूले **तस्मिन्नि**ति पदस्यार्थ आर्थिकः प्रतिभाति. तदर्थः **उपासीतेती**[प्रका]त्यादिनोक्तः. तत्र **विधिप्राप्तमि**त्युक्त्या उपास्यरूपस्य मर्यादामार्गीया भक्तिरुक्तेति लक्ष्यते. सा भक्तिरेकादशे सप्तविंशाध्याये "प्रतिष्ठया सार्वभौमं सद्मना भुवनत्रयम्, पूजादिना ब्रह्मलोकं त्रिभिर्मत्साम्यतामियादि" त्यत्रोक्ता. **लौकिक्याः चिन्तायाः विषयमि**त्युक्त्या चिन्त्यरूपस्य कर्ममार्गीयत्वमुक्तम्. तत्र यथा लौकिक्याः चिन्तायाः निवृत्त्यर्थम् अदित्यादिचिन्तनं कृतम्. तदुक्तम् अष्टमस्कन्धस्य सप्तदशाध्याये "चिन्तयन्त्येकया बुद्ध्या महापुरुषमीश्वरमि" ति. **योगशास्त्र** इत्युक्त्या योगमार्गीयध्यानविषयरूपमुक्तमिति लक्ष्यते. तदेवोक्तं कपिलवाक्ये "संचिन्तयेद्भगवतश्चरणारविन्दमि" त्यादिना. **तादृश एव भवती**[सुबो]ति, तदर्थः **यो यच्छ्रद्धः स एव स**[दीपि]इत्यादिनोक्तो द्रष्टव्यः. नन्वेवमुपासकादीनां फलप्राप्तिरुक्ता, तत्र यशोदानन्दयोः फलप्राप्तौ को विशेष इत्याशङ्कायामाह **अवान्तरभेदे**[प्रका]ति, यशोदानन्दयोः

भगवांश्च सर्वफलरूपः अतो नावशिष्यत इति वक्तुं सर्वहेतुत्वमाह **अखिलात्महेता-विति**, अखिलानामात्मा हेतुश्च."सर्वस्यात्मा भवति सर्वमस्यान्नं भवती"ति फलं

दीपिका

सर्वमस्यान्नमिति, आत्मा चासौ हेतुश्चेति समासेनाखिलानामात्मत्वं हेतुत्वं चोच्यते भगवति. तथा च कार्यस्य कारणे लयात्तस्य तदन्नत्ववत्सर्वस्यापि भगवति लयेन

विवृति

अखिलात्महेतावित्यस्य विवृतौ **अखिलानामित्यारभ्य सिध्यतीत्यन्तम्. सर्वेषामात्मा भवति** तेन सर्वेषां हितकर्तृत्वं स्वत एव सिद्धम्. **सर्वस्यान्नं भवतीति** सर्वेषां भोक्तेत्यर्थः. स्वभोगार्थमेव सर्वं सृष्टवान्, "क्रीडाभाण्डमिदं विश्वमि"त्याद्यत एव निरूपितं; तेन स्वभोगार्थमस्मान् सृष्टवानिति ज्ञात्वा यैर्मनो निहितं तेषां न किञ्चिदवशिष्यत इति भावः. **नारायण** इत्यस्याभासे **विकृतेपि हेतुरित्यादि**. ननु

लेखः

तस्मिन्नित्यत्र, सर्वमस्यान्नमिति, "यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चे"ति वाक्या-त्सर्वमुक्तिस्थानत्वेन फलरूपत्वं सिध्यतीत्यर्थः. तथा **चाखिलात्महेतावित्यत्र**

प्रकाशः

तथादर्शनात्तथेत्यर्थः. **इति फलमिति** एतच्छ्रुत्युक्तं फलमित्यर्थः. **विकृतेपीति**

टीपिका

साक्षात्पुरुषोत्तमात्मकताफलप्राप्तिरन्येषां तु विभूतिरूपताफलप्राप्तिरित्यवान्तरभेद इत्यर्थः. तदेवोक्तं **उपासके** [दीपि.]त्यादिना. **इति फलमि**[सुबो.]ति **भ(ग।)वांश्च सर्वफलरूप** इति सुबोधिन्युक्तस्यार्थो ज्ञेयः. **अत** इति, **अतः** सर्वस्य **नावशिष्यते इति वक्तुं हेतुत्वमाहेति** योज्यम्. तथा च उपासकादीनां भगवत्प्रत्युक्त्या नावशिष्यत इति वक्तुं सर्वस्य हितकर्तृत्वमाहेत्यर्थः. हितकर्तृत्वं तु **अखिलात्महे-तावित्यस्यार्थः**. अखिलानामात्मा हेतुश्चेति तत्पुरुषकर्मधारयसमासेनोक्तः तस्य सिद्धार्थमाह **सर्वस्यात्मा** इत्यादिना. एतत्सर्वस्याप्यर्थः **सर्वमस्यान्नमि**[दीपि.]त्यस्य व्याख्याने सिंहावलोकनेनोक्तो द्रष्टव्यः. **फलं सिध्यती**[सुबो.]ति, उपासकादीना-मुक्तरीत्या भगवत्प्राप्तिरूपं फलं सिध्यतीत्यर्थः. **विकृतेपीति**, अत्रायमर्थः— यथा उपासकादीनां भगवानात्मा हेतुश्चेति **अखिलात्महेतावि**ति पदस्य समासेनोक्तः तथात्रापि विराट्कारणरूपाणां ब्रह्मादीनां **हेतुरात्मे**ति पदव्यत्यासेनोक्त इति ज्ञेयः. **विकृते**(इति)पदस्यार्थः **फल(ले?)मि**[प्रका.]ति. **विकृते** इतिपदेनोक्तविराड्ब्रह्मा-

सिध्यति. किञ्च विकृतेऽपि हेतुरात्मेति च वक्तुं **नारायण** इत्याह, अयं पुरुषो नारायणः. किञ्च कारणार्थं सर्वेषामुद्धारार्थमेव कपटवेशमपि कृतवान्. अनेन

दीपिका

तदन्नत्वमिति ततोऽनायासेनापेक्षितसर्वसिद्धिरिति भावः. **विकृतेपीति**, विराड्रूपप्रपञ्च इत्यर्थः. एतेन ब्रह्मादीनां तत्र कारणत्वेन प्रसिद्धानां तद्विभूतित्वेन तत्स्वरूपत्वमेवेति भावः. **अयमिति**, पुरुषो नारायणो न तु पुरुषोत्तमो, विराड्रूपत्वहेतुत्वादित्यर्थः. पूर्वं **नारायण**शब्दवाच्ये श्रीनन्दादिपुष्टिमार्गीयभक्तभावविषयत्वेन पुरुषोत्तमत्वमुक्तमिति ज्ञेयम्. **कारणार्थमिति**, सेवादिकारणार्थमित्यर्थः. अन्यथा दुराराध्यत्वेन सेवाद्यसम्भवादुद्धारो न स्यादिति भावः. **अनेनेति**, स्वामिनः फलदानपरत्व-

विवृतिः

भगवानेव हेतुः स एव च सर्वेषामात्मा तदा विकृतप्रतीतौ को हेतुरित्याशङ्क्याहुः **नारायण** इति. **अयं पुरुषो नारायणः** अयमेव पुरुषः पुरुषोत्तमः स्वयं पुरुषरूप एव भोगार्थं नारायणः नराणां अयनरूपः. स्वक्रीडार्थमेव नरसमूहकर्तेत्यर्थः, **यथा** रासे. अत्र पुल्लिंगनिर्देशस्तु पुञ्जीवाभिप्रायेण. **कारणमर्त्यमूर्तावि**त्यत्र **किञ्चे**त्यादि. **उद्धारार्थं** साक्षात्सम्बन्धार्थं मर्यादामार्गीयमुक्तिमन्त्रोद्धारार्थं पञ्चविंशाध्यायोक्तन्यायेन **कपटवेशं** तद्रसदानार्थं तदनुकूलतज्जातीय-स्वस्वरूपप्राकट्यं **कृतवान्** "बर्हापीडे"ति श्लोकोक्तन्यायेन अन्यथास्यैश्वर्यसहित-स्वरूपरसदानेन भक्तेषु

लेखः

हेतुशब्देन फलमिति भावः. **विकृतेपीति**, **अखिल**पदेन व्यष्टिरूपः प्रपञ्च उक्तः, अत्र **विकृतपदेन** महदादिप्रसङ्गे तृतीयस्कन्धे 'विकुर्वन्'पदेन तेषु विकारकथनात्समष्टिरूपो विराडुच्यते. तत्रापि भगवानेव हेतुरात्मा चेत्यर्थः. **कारणार्थमिति**, मानुषभावस्वीकाराभावे सेवाद्यसम्भवेन सर्वोद्धारो न स्यादिति भावः. **अनेनेति**, स्वामिनः फलदानपरत्वसूचनेनेत्यर्थः. ननु सर्वोद्धारपरत्वेऽपि सर्वविलक्षणानामस्माकं किमित्यत

प्रकाशः

फले इत्यर्थः. **पुरुष** इति पूर्वोक्तो मोक्षभक्त्योर्बीजभूत इत्यर्थः. **कारणार्थ**मित्यस्यैव

टीपिका

दीनामात्मा हेतुश्चेति भगवान् फलमित्यर्थो ज्ञेयः. **तस्मिन् भवन्तावि**त्यत्र **पूर्वमि**[दीपि.]ति, "युवां श्लाघ्यतमावि"ति श्लोके 'नारायण'पदस्य पुरुषोत्तमत्वं पूर्वमुक्तमित्यर्थः.

फलावश्यकत्वं द्योतितं प्रायिकत्वशङ्काव्यावृत्त्यर्थं, यतः ''लोकस्य व्यसनापनोदनपरो दासस्य किं न क्षम'' इति सिद्धान्तो भवति. तत्रापि **नितरां भावं विधत्तां** रसत्वव्यावृत्त्यर्थं **भाव**पदं, पुत्रत्वेऽपि देवत्वप्रतीतेः. तथापि फले

दीपिका

सूचनेनेत्यर्थः. ननु सर्वेषामवतारेण फलसिद्धौ किमस्माकं सर्वभिन्नत्वादित्याशङ्क्याहुः **लोकस्ये**ति. **रसत्वे**ति, दर्शनादिना काव्यादिश्रवणेनेव तत्कालं जायमानो व्यभिचारिभावो रस इत्युच्यते तद्व्यावृत्त्यर्थमित्यर्थः. तथा च भवतां परोक्षेऽपि पूर्वस्थितभावाधिकभावदर्शनात्स्थायिभाव एवेति भावः. **पुत्रत्वेपी**ति. भावो हि

विवृतिः

रसोत्पत्तिर्न स्यात् तथाच स्वस्मिंस्तत्स्वरूपानुकूल-जीवात्मशरीरादिभावप्राकट्येन फलप्रकरणीयप्रथमाध्यायोक्त-पञ्चात्मकस्वरूपनिरूपक- ''यथेन्द्रियादिरूपत्वमि''-त्यादिश्लोकोक्तन्यायेन प्राकट्यकरणाज्जीवेषु **फलावश्यकत्वं द्योतित**मिति भावः.

लेखः

आहुः **लोकस्ये**ति. रसत्वेऽतिचर्वणायां जायमानायामास्वाद्यो रसः, सर्वदा तथाविधो भाव इति विभेदः. **देवत्वाप्रतीते**र्हेतोः केवलपुत्रत्वज्ञानेऽपि **भावपदं रसत्वव्यावृत्त्यर्थ**मुक्तम्. ''रतिर्देवादिविषया भाव'' इत्यत्र'आदि'शब्देन मुनिगुरुनृपपुत्रादि-

प्रकाशः

विवरणं **सर्वेषा**मित्यादि. **रसत्वव्यावृत्त्यर्थ**मिति, रसत्वस्य सम एव विषये सिद्धेः प्रकृते च देवत्वस्यासमत्वात्[१] प्रतीतत्वेन तदभावात्तद्व्यावृत्तिरिति भावः ॥२३॥

टीपिका

लोकस्ये[सुबो.]त्यस्याभासे **नन्वि**[दीपि.]त्यादेरयमर्थः— सर्वेषां भक्तानां फलसिद्धिर्भवतु नाम, तेनास्माकं का फलसिद्धिर्जाता ? ननु युष्माकं कथं न फलसिद्धिरित्याशङ्क्याह **भिन्नत्वादि**ति. अस्माकं तु भगवता त्यक्तत्वाद् भक्तिमार्गीयभक्ताद् भिन्नत्वादित्यर्थः. भक्तिमार्गीयभक्ताद्भिन्नत्वं तु विरहेण श्रीनन्देनाशङ्कितमिति ज्ञेयम्, तत्परिहारस्तु **लोकस्ये**[सुबो.]ति प्रमाणवाक्येन कृतः. तथा च यूयं तु दासानां मध्ये मुख्यदासाः, तदेवोक्तं **नितरां भावं विधत्ता**मिति, अतो न भिन्नत्वशङ्केति भावः. **लोकस्ये**-त्यस्याभासे **सर्वविलक्षणाना**मि[लेख.]ति. अत्रायमर्थः— सेवां कारयित्वा सर्वेषामुद्धारार्थमाविर्भूतो भगवान् अस्माकं त्वधुना त्यक्तत्वान्न सेवा भवतीति

१. आसमन्तात् इति अपि पाठः.

दीपिका

देवादिविषया रतिः, तथा च तत्र यथा मनुष्यत्वाप्रतीतिस्तथात्र केवलदेवत्व-

---

टीपिका

श्रीनन्देन विलक्षणत्वमाशङ्कितम्. वस्तुतस्तु भगवता विप्रयोगफलसिद्ध्यर्थं दूरे स्थितिः कृता, तेन नन्दस्य सर्वाधिक्यं ज्ञेयम्. **रसत्वव्यावृत्त्यर्थमि**[सुबो]त्यस्यार्थकथने **रसत्वस्य विषये समे एव सिद्धे**[प्रका]इति योज्यम्. तत्र **रसत्वस्ये**ति. "मन्ये कृष्णं च रामं च प्राप्ताविह सुरोत्तमावि"ति नन्दवाक्येन "ततो नो जायते शङ्का व्रजनाथ तवात्मजे"इति गोपवाक्येन च देवत्वभावलक्षण**रसत्वस्य विषये** भगवति गोपानां नन्दस्य च देवत्वबुद्धेः **समे एव सिद्धेः** इत्यर्थः. तत्र नन्दस्य विशेषमाह **प्रकृते** इत्यादिना. **देवत्वस्यासमत्वात् प्रतीतत्वेने**ति, नन्दस्य तु पुत्रभावसहितदेवत्वस्यासमत्वात् प्रतीतत्वेनेत्यर्थः. **तदभावे**ति, नन्दस्य तु भगवति केवलदेवत्वाभाव इत्यर्थः. **तद्व्यावृत्तिरि**ति, नन्दस्य रसत्वव्यावृत्तिरित्यर्थः. रसभावयोर्विभेदमाह **चर्वणायामि**[लेख]त्यादिना. **चर्वणायामि**ति अन्नादिचर्वणायामित्यर्थः. तथा च संयोगकाले गोवर्धनोद्धरणादिना नन्दादीनां माहात्म्यज्ञानं स तु आस्वाद्यो रसः, सर्वदा तथाविध इति; संयोगविप्रयोगकाले पुत्रत्वबुद्धिर्भाव इत्यर्थः. ननु पुत्रे 'भाव'पदस्य कथं संभव इत्याशङ्कायां प्रमाणमाह **रतिर्देवादी**त्यादिना. अत्र **आदि**शब्देन मुनिगुरुनृपपुत्रादयो गृहीताः. तत्र "ऋषयो मनवो देवा मनुपुत्रा महौजसः कलाः सर्वे हरेरेव सप्रजापतयस्तथा" इतिप्रथमस्कन्धतृतीयाध्यायवाक्ये एतेषां भगवत्कलात्वोक्त्या यथा तत्र मनुष्यत्वप्रतीतिर्न कर्तव्येत्युक्तम्, "एवं साक्षाद्भगवति ज्ञानदीपप्रदे गुरौ मर्त्यासद्धीः श्रुतं तस्य सर्वं कुञ्जरशौचवदि"ति वाक्याद्गुरुष्वपि मनुष्यबुद्धिर्न कर्तव्या. तथा पुन्नाम्नो नरकात् त्रायते इति निरुक्त्या नरकात् त्राणात् सत्पुत्रेऽपि सद्बुद्धिः कर्तव्येति भावः. तदा पुरुषोत्तमरूपे पुत्रे भावकर्त्रोर्युवयोः कृत्यं किं वावशिष्टमिति ज्ञेयम्. **इत्युक्तेरि**ति, मुन्यादिविषये रतिर्भाव इत्युक्तेरित्यर्थः. **नासम्भव** इति, अतः पुत्रे 'भाव'पदस्य नासम्भव इति भावः. **दर्शनादिने**[दीपि]ति स्त्र्यादीनां दर्शने रसो भवतीति दृष्टान्त उक्तः, तस्य दार्ष्टान्तस्तु गोपादीनां गोवर्धनोद्धरणादिचरित्रं दृष्ट्वा देवोत्तम इति व्यभिचारिभावलक्षणो रसो भवतीति भावः. **परोक्षेपी**ति, अधुना परोक्षेपीत्यर्थः. **पूर्वस्थिते**ति, संयोगावस्थायां स्थितभावादधुना तापात्मका**ऽधिकभावदर्शनात्स्थायिभाव एवे**ति भावः. **तथा च तत्रे**ति भगवतीत्यर्थः. **अनुमानाभ्यामि**ति, अनुमानं तु गोवर्धनोद्धरणा-

स्वरूपयोग्यताप्यपेक्ष्यत इति— यथा मर्यादायां ब्राह्मणानामेव मुक्तिः पुष्टौ वा वैकुण्ठेषु पक्ष्यादिरूपत्वम्— तद्व्यावृत्त्यर्थमाह **महात्मन्निति**. महात्मत्वं भगवदागमनान्निश्चीयते, अतः **युवयोः कृत्यं** नावशिष्यते. अनेनेयमेवावस्था पुरुषार्थ इति ज्ञापितम् ॥३३॥

एवं विषयं साधनं चाभिनन्द्य लौकिकभावेन खेदं वारयितुमाह **आगमिष्यती**ति.

आगमिष्यत्यदीर्घेण कालेन व्रजमच्युतः ।

प्रियं विधास्यते पित्रोर्भगवान् सात्वतां पतिः ॥३४॥

अदीर्घेणैव कालेन व्रजमागमिष्यतीति, यतः **अच्युतः** स्वरूपतो धर्मतश्च,

---

दीपिका

प्रतीतिर्गर्गवाक्यानुमानाभ्यां या, सा दूरे, यतः पुत्रत्वेऽपि पुत्रो देव इत्याकारिकापि न प्रतीतिः, किन्तु केवलपुत्रत्वप्रतीतिरित्ययं भावः स्थायिभाव एवान्यवाक्यैरचाल्यत्वेन दृढतमत्वादत एव वात्सल्यानुरूपैव भगवति कृतिरेतेषां नान्येत्यर्थः. **भगवदागमनादि**ति, अन्ये हि भगवतः स्थाने गच्छन्ति ब्रह्मादयः, स भवद्गृहे लीलार्थमागत इति भवत्सु तथात्वं **निश्चीयत** इत्यर्थः ॥३३॥

विवृतिः

स्वस्यापि तद्भोगजनितरसावाप्त्यर्थमिति भावः. **महात्मन्नित्यस्याभासे पुष्टौ वा वैकुण्ठेष्विति, वैकुण्ठेषु** रमणस्थलेषु **पक्ष्यादिरूपत्वं** स्वक्वणितेन रसोद्बोधः. तन्न्यायेन तस्य परम्परया रसोपयोगित्वम्, न तु साक्षात्, भवत्सु तु साक्षाद्योग्यतेति. **महात्मन्नित्यस्य** विवृतौ **अनेनेत्यादि**. **इयमेवावस्था** उद्धवस्य भगवद्दर्शनात् तत्र पितृचरणानां मातृचरणानां च नित्यस्वानुभूतभगवत्स्थित्यैव सुखितत्वाद् उद्धवोक्तज्ञानाप्रयोजकत्वं, तेन एतदवस्थाया एव **पुरुषार्थ**त्वमिति भावः. उद्धवस्तु तत्र नित्यस्थित्यज्ञानाद् भावरूपत्वमेव मन्यत इति तत्समयस्यावस्थात्वकथनमिति भावः ॥३३॥

लेखः

विषयेत्युक्तेर्नासम्भव इति भावः. **तद्व्यावृत्त्यर्थमि**ति, पक्ष्यादिरूपतापेक्षाव्यावृत्त्यर्थमित्यर्थः. इदमेव स्वरूपं योग्यं न तु रूपान्तरापेक्षेति भावः ॥३३॥

टीपिका

दिचरित्रदर्शनेनायं देवोत्तम इति नन्दस्य **या** बुद्धिः **सा दूरे** इत्यर्थः. **अन्यवाक्यैरि**ति गर्गादिवाक्यैरित्यर्थः. **नान्ये**ति, न देवादिज्ञानं रसरूपाकृतिरित्यर्थः ॥३३॥

अन्यथा वाक्यतश्च्युतः स्यात्. लौकिकभाषया **बोधनमिति** केचित्, शास्त्रार्थतः समागमिष्यतीत्यन्ये. भगवद्वाक्यानुरोधेन भगवदीयानां च "कुरून्मधून्वे"ति वाक्याच्च "पित्रोरि"ति विशेषवचनाच्च "गतांश्चिरायितानि"तिवाक्यविरोधाभावात् नन्दं द्रष्टुं

दीपिका

आगमिष्यतीत्यत्र. वाक्यविरोधाभावादिति, स्वामिनीः प्रति समाधानवाक्यं तदिति नन्ददर्शनार्थं गोपिकाभ्यो गुप्ततया समागमेऽपि "चिरायितानि"ति वाक्यं न विरुध्यत इत्यर्थः. **नन्दं द्रष्टुमिति**, अत्रायमाशयः. वियोगो द्विविधः— धर्मात्मको धर्म्यात्मकश्च, आनन्दस्य श्रुतावुभयरूपत्वेन निरूपणात् तद्रूपस्य रसस्यापि द्वैविध्यमिति. वियोगाख्यः स्वरूपात्मको रसः स्वामिनीभ्य एव दत्त इति नन्दादिषु धर्मरूपतद्दानमतस्तदर्थं पूर्वरूपेणागमनमावश्यकमेवान्यथा तेनान्यथाभाव एव स्यात्, वह्नितापेन वह्निभिन्नस्य दाहवत्. वह्न्यात्मकत्वे तु न दाहो, वह्नेरिव. अत एव स्वामिनीनामर्थे नागमनं, तद्देहादीनां तद्रसात्मकत्वात्. "प्रायः प्राणानि"त्यत्र

लेखः

आगमिष्यतीत्यत्र वाक्यविरोधाभावादिति, चिरायितानिति वाक्यं हि स्वामिनीः प्रति, अतो नन्दं द्रष्टुम् आगमनेऽपि तद्वाक्यं न विरुद्ध्यत इत्यर्थः.

प्रकाशः

आगमिष्यतीत्यत्र. **लौकिकभाषये**त्यादि, "द्रष्टुमेष्याम" इत्यस्य लौकिकभाषात्वाद्भगवतोक्त्या तयाच्युतत्वस्य न बाधनमित्यर्थः. **एवमिति**, यथा

टीपिका

आगमिष्यतीत्यत्र. लौकिकभाषात्वादि[प्रका.]ति, केषाञ्चिन्मते लौकिकभाषात्वादित्यर्थः. **शास्त्रार्थत**[सुबो.]इति, "अन्तर्हृदि स भूतानामि"त्यादि अग्रे वक्ष्यमाणशास्त्रार्थत इत्यर्थः. सिद्धान्तपक्षस्तु **भगवद्वाक्ये**त्यारभ्या**वगम्यत** इत्यन्तेन श्रीमदाचार्यचरणैरुक्तो ज्ञेयः. तत्र **भगवद्वाक्यानुरोधेने**ति, भगवद्वाक्यं तु "ज्ञातीन् वो द्रष्टुमेष्याम" इति, तदनुरोधेन भगवद्वाक्यानुरोधेन द्वारावतीस्थ**भगवदीयानां** "कुरून् मधून् वाथ सुहृद्दिदृक्षये"ति प्रथमस्कन्ध**वाक्याच्च. पित्रोरितीति**, "पित्रोर्नः प्रीतिमावहे"त्यत्रैवोद्धवं प्रति **विशेषवचनाच्चे**त्यर्थः. तथा च अहमपि नन्दस्य प्रीत्यर्थमागमिष्यामीति गूढाभिप्रायेणोक्तविशेषवचनं ज्ञेयम्. अत एव 'प्रीतिमावहे'त्यस्यार्थः पूर्वं "यथैव प्रीतिर्भवत्यस्मदागमनेनेव तथा प्रीतिमावहे"त्युक्तम्, अत एवात्रैवोक्तं **नन्दं द्रष्टुं समागत एव भगवानिति**. नन्वेवं नन्दं द्रष्टुं समागत

लेखः

नन्दं द्रष्टुमित्यत्र हरिधनाः— वियोगो द्विविधः धर्मधर्मिभेदेन. तत्र धर्मिरूपोऽग्रिमाध्याये स्वामिनीषु वक्ष्यते, धर्मरूपोऽत्रोच्यते. तत्र **स्वरूपरक्षार्थं** संयोगात्मकस्य धर्मिरूपस्यागमनमावश्यकमन्यथा वियोगेनैतद्देहादीनामन्यथाभावः स्याद्, वह्निसम्बन्धे वह्निभिन्नस्य दाहवत्. परन्तु स्वरूपत एव समागतो, न धर्मतः, अतो न दर्शनम्. स्वामिनीषु त्वलौकिकसामर्थ्यदानेन देहादीनां विप्रयोगात्मकत्वं सम्पादितम्, अयमेव धर्म्यात्मको वियोगः. तत्र वह्निना वह्नेरिव वियोगेनान्यथाभावो

टीपिका

एव तदा "गतांश्चिरायिताञ्छत्रुपक्षक्षपणचेतस"इति कुरुक्षेत्रप्रसङ्गे गोपिकाः प्रति भगवता यदुक्तं तद्वाक्यविरोधाभावः कथमित्याशङ्का, तत्परिहारस्तु **वाक्ये**[लेख.]त्यादिना कृतः. तत्र **स्वामिनीः प्रतीति**, स्वामिनीः प्रत्युक्तं, न तु नन्दं प्रति, अतो "गतांश्चिरायितानि"ति गोपिकाः प्रति यदुक्तं तद्वाक्यविरोधाभाव इत्यर्थः. नन्वेवं वाक्यविरोधाभावो भवतु नाम, परन्तु स्वामिनीनां दर्शनं कुतो न दत्तमित्याशङ्कायामाह **अत्र हरिधना** इत्यादिना. **हरिधना** इति गोस्वामिश्रीहरिराया इत्यर्थः. शङ्काविरोधपरिहारस्तु **वियोगो द्विविध** इत्यारभ्य **व्याख्यातवन्त** इत्यन्तः कृतो ज्ञेयः. **धर्मिरूप** इति, स्वामिनीनां सदा हृदिस्थो रसरूपभावात्मा पुरुषोत्तमात्मको धर्मिरूपः "ततस्ताः कृष्णसन्देशैरि"त्यत्र सुबोधिन्युक्तविस्मृतकण्ठचामीकर-न्यायरूपो वियोग इत्यर्थः. **धर्मरूप** इति, अत्र वासुदेवव्यूहविशिष्टसंयोगात्मक-पुरुषोत्तमस्य धर्मरूपवियोगो नन्दस्येत्यर्थः. **स्वरूपरक्षार्थमिति**, नन्दस्य स्वरूपरक्षार्थमित्यर्थः. **संयोगात्मकस्येति**, संयोगात्मको यः पूर्वं वासुदेवव्यूहविशिष्टो धर्मिरूपो नन्दगृहे आविर्भूतः तस्यैव**आगमनमावश्यकमि**त्यर्थः. नन्वेवं यदि नन्दस्याग्रे धर्मिरूपस्यागमनं तदा यथा गोपिकानां हृद्याविर्भविन दर्शनं जातं तथा नन्दस्यापि हृद्याविर्भविन धर्मिरूपस्य दर्शनं किमर्थं नेत्याशङ्कायामाह **अन्यथे**त्यादिना. तथा च नन्दस्य धर्मरूपो वियोगो दत्तः अतो हृद्याविर्भविनाधिकतापो भवेत्, न तु सुखमिति भावः. तर्हि केवलं धर्मत एवागत इति वक्तव्यमित्याह **स्वरूपत एव समागत** इति, धर्मिरूपत एव समागत इत्यर्थः. **अतो न दर्शनमिति**, नन्दस्य हृदि धर्मिरूपस्य न दर्शनमित्यर्थः. **अतः स्वामिनीप्रतीत्याऽनागमनमिति**, स्वामिनीप्रतीत्या व्रजे भगवतोऽनागमनमित्यर्थः. तदेवोक्तं न **गोपिकाप्रतीतिः.**[सुबो.] **उभयरूपत्वेने**[दीपि.]-ति. धर्मधर्म्यात्मकत्वेनेत्यर्थः. **तद्रूपस्येति** आनन्दरूपस्येत्यर्थः. **पूर्वरूपेणेति**,

समागत एव भगवान्, परं यथा न गोपिकाप्रतीतिस्तथेत्यर्थादवगम्यते, आर्थिकि विरोधाभावाद्. इममर्थमेव ज्ञापयितुमाह **प्रियं विधास्यते पित्रोरि**ति, यथैव प्रियं भवति येन प्रकारेणागते तथैव विधास्यति. एतादृशकरणे सामर्थ्यमाह **भगवानि**ति. एवं गुप्ततयागमने हेतुमाह **सात्वतां पतिरि**ति, यादवानां भगवद्भक्तानां च पतिः.

विवृतिः

सात्वतां पतिरित्यत्र **यादवानामि**त्यारभ्य **तथा समागमिष्यती**त्यादेरयं भावः— यादवानां पतित्वात्तत्र स्थित्वा रक्षणमावश्यकं, भगवद्भक्तानां चात्रत्यानां पतिर्भर्ता तेनात्रागमनमप्यावश्यकं, तस्मादप्यनुरोधात्तत्र येन स्वरूपेण स्थितिरुचिता तेन तत्र स्थित्वा तानज्ञाप्य[1] पुरुषोत्तमस्वरूपेण **मार्गानुरोधा**द्यत्किंचिद्विप्रयोगानुभवं

लेखः

देहादीनामशक्यः, अतः स्वामिनीप्रतीत्या नागमनम्. तत्र संयोगात्मकस्याऽऽगमने प्रत्युतान्यथाभावः स्यात्, तेषां विप्रयोगात्मकत्वसम्पादनात्. अत एव "पुनः सम्बन्धे सर्वदाह एव भवेदि"त्यग्रिमाध्याये वक्ष्यते. —इति पूर्वापरावलोकनेन व्याख्यातवन्तः. **मार्गानुरोधादि**ति भक्तिमार्गानुरोधादित्यर्थः; प्रकटतयानागमने

प्रकाशः

गोपिका न जानन्ति तथेत्यर्थः. **यादवानामि**त्यादि, एवमेतद्भावकथनेन तासु[2] कृपाभावशङ्का परिहृता. एवं श्रीनन्दाश्वासनस्य तात्पर्यमाहुः **प्रीतिमि**त्यादि.

टीपिका

वासुदेवव्यूहविशिष्टधर्मिरूप-नन्दगृहप्रकटितपूर्वरूपेणेत्यर्थः. **समागमनार्थिके**[दीपि.]ति, यादृशो नन्दस्य वियोगस्तादृशं दर्शनं दत्तवानित्यर्थः. **समीचीनैवे**ति, नन्दं द्रष्टुं समागत एव भगवान् परं स्वाधिकारानुसारेण दर्शनं दत्तवानित्यर्थापत्त्याचार्याणा-**मर्थोक्तिः समीचीनैवे**ति भावः. **आर्थिकि**[सुबो.]ति, **भगवद्वाक्यानुरोधेने**त्यादिनोक्त आर्थिक इत्यर्थः. **येन प्रकारेणे**ति, गुप्ततया गमनप्रकारेणेत्यर्थः. **यथा न जानन्ती**[प्रका.]प्रत्यक्षतया मथुरातः आगत इति न जानन्तीत्यर्थः. **तथे**ति, तथा गुप्ततया गमने हेतुमाहेत्यर्थः. **एतद्भावकथनेने**ति, गुप्ततया गमनभावकथनेनेत्यर्थः. **तेष्वि**ति नन्दयादवादिषु इत्यर्थः. **एवमागमने चे**[सुबो.]ति गुप्ततयागमने चेत्यर्थः. **तथे**ति, गुप्ततया समागमिष्यतीति भावः. **एवमुच्यते** इति, **आगमिष्यत्यदीर्घेण कालेने**त्युच्यते इत्यर्थः ॥३४॥

१. नानुज्ञाप्य इति मु. पाठः. २. 'तेषु' इति टीपिकापाठः.

यादवानुरोधान्मार्गानुरोधाच्च तथा समागमिष्यतीति भावः. "प्रीतिमावहे"ति वाक्यादेवमुच्यते, अन्यथा शास्त्रार्थमात्रमेव कथयेत् ॥३४॥

ननु भगवानेवमायास्यतीत्यत्रावश्यकत्वे च किं प्रमाणमिति चेत् तत्राह **हत्वे**ति.

हत्वा कंसं रङ्गमध्ये प्रतीपं सर्वसात्वताम् ।
यदाह वः समागत्य कृष्णः सत्यं करोति तत् ॥३५॥

कंसं हत्वा यदाह भगवान्, **वो** युष्माकं स्थाने **समागत्य, तत्सत्यमे**व **करो**तीति. कंसो व्याजेनैव मारणीय इति परोक्षवादेनापि तावत्पर्यन्तं वदति. अतो

दीपिका

प्राणधारणहेतुः प्रमेयबलमिदमेव ज्ञेयम्. तथा च नन्ददर्शनार्था समागमनार्थिकार्थोक्तिराचार्याणां समीचीनैवेति भावः. **मार्गानुरोधा**दिति भक्तिमार्गानुरोधादित्यर्थः. भक्तिमार्गे हि भगवता भक्ता रक्षणीया एवान्यथा मार्गेऽप्रवृत्त्या सर्वेषां तदुच्छेद एव स्यादिति. तदनुरोधात् श्रीनन्दरक्षार्थं संयोगात्मकरूपेणागमनं, तत्र वियोगस्य धर्मात्मकत्वेन संयोगात्मकेन स्वरूपेण रक्षासम्भवात्. यत्र तु स्वरूपात्मकः स तत्रागमने प्रत्युत स्वरूपविरोधान्नाश एव स्यादिति भावः. अत एवाग्रिमाध्यायविवृत्तावुपदेशवाक्येषूक्तमाचार्यै"रतः परं सम्बन्धे सर्वदाहो भवेदि"ति ॥३४॥

विवृतिः

विना रसानुभवाभावात्तथा गुप्ततया **आगमिष्यतीति** भावः. यद्वा **भक्तानां** व्रजवधूनां **पति**स्तस्मात्तन्मार्गानुरोधाद् गुप्ततयैवागमिष्यतीति भावः. अयमेवार्थोऽस्मत्प्रभुचरणै**रागमिष्यती**त्यस्य विवरणे **नन्दं द्रष्टुं समागत एव भगवान्परं यथा न गोपिकाप्रतीति**रित्यनेनोद्दीपितः ॥३४॥

लेखः

एवमागमने च क्रमेण हेतुद्वयमुक्तम्. सर्वथाऽनागमने भक्तरक्षासम्भवाद्भक्तिमार्गो न प्रवर्तेतेति भावः. **सात्वत**पदस्यार्थद्वयमभिप्रेत्येदं द्वयमुक्तम् ॥३४॥

प्रकाशः

शास्त्रार्थमात्रमिति "अन्तर्हृदी"त्यादिना वक्ष्यमाणमित्यर्थः ॥३४॥

टीपिका

हत्वेत्यत्र. **व्याजेनैवे**[सुबो.]ति. नन्वेवं भगवान् सत्यं करोतीति सत्यं तथापि कंसं व्याजेन कथं मारितवान्, कथं वा गोपिकासु "आयास्ये"इत्युक्त्वा

गोपिकाः प्रति समागमनकथा शास्त्रार्थत्वेनापि सङ्गच्छते. कंसमारणानन्तरं तु **प्रयोजनाभावान्न** परोक्षकथायां निमित्तमस्ति, कापट्ये हि शीघ्रं हतो भवति, अक्लिष्टकर्मा नान्यथेति. वधश्च शीघ्रमेव कर्तव्य इत्यत्र हेतुमाह **प्रतीपं सर्वसात्वतामिति, सात्वतां** भक्तानां सर्वथा **प्रतीपं** प्रतिकूलम्. पूर्वमन्यथाकरणे ज्ञापकमाह **रङ्गमध्य** इति, रङ्गस्थानं हि लीलायाः न तु वधस्य. तत्राप्यनुरोधात् युष्मानागत्य तत्रापि

लेखः

हत्वेत्यत्र. नान्यथेति हन्तीति शेषः, अक्लिष्टकर्मा प्रकारान्तरेण न हन्तीत्यर्थः. **अन्यथाकरण** इति प्रातिकूल्यकरणे इत्यर्थः. **अनेने**ति, **हेतुवादः** कापट्येन कथनं, निरपेक्षत्वात् प्ररोचनार्थं कापट्येन कथने प्रयोजनाभाव उक्त इत्यर्थः ॥३५॥

प्रकाशः

हत्वेत्यत्र. नान्यथेति, अन्यथा न स्यादित्यर्थः. **हेतुवाद** इति, किञ्चित् कार्यं हेतूकृत्य तथा कथन इत्यर्थः ॥३५॥

टीपिका

नागतवानित्याशङ्कापरिहाराय श्रीमदाचार्यचरणैः **कंसो व्याजेने**त्यारभ्य **नान्यथे**त्यन्तेनार्थिकोऽर्थ उक्तः. तत्र **व्याजेने**ति मञ्चात्पातनक्रीडया **मारणीयो,** न तु "मम पित्रोः पाशान्मोचनं कुरु नो चेत्त्वां मारयिष्यामी"ति पूर्वं ज्ञापयित्वा क्षात्रधर्मे स्थित्वा मारणीयः. ननु सामर्थ्ये विद्यमानेऽपि व्याजेन मारणे कोऽभिप्राय इत्याशङ्कापरिहारायोक्तं मूलश्लोके **प्रतीपं सर्वसात्वतामिति**. तथा ज्ञापने कृते वसुदेवादीन् पूर्वमेव हन्याद्, अतो युक्तमुक्तं **व्याजेनैव मारणीय** इति. ननु "आयास्य इति दौत्यकैरि"ति गोपिकाः प्रति परोक्षवादकथने कोऽभिप्राय इत्याशङ्क्याह **तावत्पर्यन्तं वद**तीत्यादि, कंसमारणपर्यन्तं वदतीत्यर्थः. **तथा** च गोपिकाः **प्रति** परोक्षकथाकथनाभावे गोपिकास्तु "निवारयामः समुपेत्य माधवं किन्नोऽकरिष्यन् कुलवृद्धबान्धवा"इति बन्धं कुर्युस्तदा कंसस्य शीघ्रं वधो न भविष्यतीति **परोक्षवादेन** कथनमुक्तमित्यर्थः. **समागमनकथे**ति, "आयास्य इति दौत्यकैरि"ति समागमनकथेत्यर्थः. **शास्त्रार्थत्वेने**ति, "भवतीनां वियोगो मे न ही"त्यादिशास्त्रार्थत्वेनेत्यर्थः. **न स्यादि**[प्रका.]ति, अक्लिष्टकर्मा न स्यादित्यर्थः. **प्रातिकूल्यकरणे**[लेख.]इति, भगवतः प्रातिकूल्यकरणे इत्यर्थः. एवं पूर्वमन्यथाकृतं तथा नाधुना कर्तव्यमित्यत्र ज्ञापकमाह **तत्रे**[सुबो.]त्यादिना. **तत्राप्यनुरोधाद् युष्मान् प्रत्यागत्य** यदाह भगवान् **तत्सत्यमेव**

कृष्णः फलरूपः सर्वनिरपेक्षः. अनेन हेतुवादे प्रयोजनाभाव उक्तः अत**स्तत्सत्यं करोत्येव**. वर्तमानप्रयोगेण साम्प्रतमपि तस्यागमनं सूचितम्. वर्तमानसमीपे वर्तमानप्रयोगः अत **आगमिष्यतीत्य**प्यविरुद्धम् ॥३५॥

दीपिका

हत्वेत्यत्र **अनेने**ति, निरपेक्षत्वेनैव भगवतो **हेतुवादे** प्रयोजनाभावाद्भगवान् प्रयोजनाभावयुक्त इत्यर्थः ॥३५॥

विवृतिः

कृष्ण इत्यस्य विवरणे **फलरूपः सर्वनिरपेक्ष** इति. फलरूपत्वात्तदपेक्षा सर्वेषां भवति, न तु तस्य काप्यपेक्षा यतः स्वयमेव सर्वफलरूपस्तथाभूतोऽपि यद्भवत्सु स्वस्याकाङ्क्षित्वं प्रकटीकृत्य भवतः प्रति निकट आगत्य तदा यदाह तत्सत्यमेव करोति, अन्यथा तदकरणे किमर्थमेतावत्कथनम्? तत्सुखार्थमन्यथोक्तमिति चेन्न, सर्वनिरपेक्षस्य तत्सुखे प्रयोजनाभावाद्, अयमेवार्थोऽस्मदाचार्यैरनेन **हेतुवादे प्रयोजनाभाव** इत्यनेन निर्णीतः. **सत्यं करोती**त्यस्य विवरणे **वर्तमानप्रयोगे**णेत्यादि. एतादृग्भक्तदर्शनेनोद्धवस्यापि मनो खिन्नमिव जातं यदेतादृग्भक्तार्तिं भगवान्कथं सहत इति. तदा भगवता स्वदर्शनं कारितं तेन तथेति भावः. उद्धवेन तु मथुरातो भगवदागमनमेव ज्ञायते, न तु व्रजनित्यस्थितिरित्यागमनकथनमिति भावः. ननु तदज्ञाने कथं दर्शनमिति चेद्, उच्यते— प्रमाणाद्यनुक्तं श्रीमन्नन्दादिप्रमेयभक्तिदर्शनेनैतादृगार्तावपि भगवदनागमनज्ञानोदित-स्वभक्त्याधिक्य-निराकरणार्थमेतदाधिक्यज्ञानार्थं च तथेति भावः. अत एवैतदाधिक्यज्ञानानन्तरं वदिष्यति "एताः परं तनुभृत" इत्येतस्मिन्पद्ये "वाञ्छन्ति यद् भवभियो मुनयो वयं चे"त्यनेन सर्वेषां स्वस्य च तदाकांक्षित्वमिति भावः ॥३५॥

टीपिका

करोतीति पूर्वेणैवान्वयः कर्तव्यः. **फलरूप**[सुबो.] इति, स्वयं फलरूपः सर्वेषां च फलरूप इत्यर्थः. **सर्वनिरपेक्ष** इति, गोपिकासु नन्दादिषु च निरपेक्ष इत्यर्थः. **अनेने**ति, सर्वनिरपेक्षत्वेनेत्यर्थः. ननु गोपिकासु पूर्वं हेतुवादकथने अत्राकथने च कोऽभिप्राय इत्याशङ्कायामाह **हेतुवाद** इत्यादिना. **हेतुवाद** इति, किञ्चित् कार्यं हेतूकृत्य तथाकथनं हेतुवादकथनमित्यर्थः. तथा च पूर्वं कापट्येन कंसवधलक्षणं कार्यं स्थितम्, अधुना हेतुवादे प्रयोजनाभाव इत्यर्थः. **उक्त** इति, सत्यं करोतीति उक्त इत्यर्थः ॥३५॥

ननु यथेदानीमागतो न दृश्यते तथाग्रेऽप्यागतो न द्रष्टव्य इति किमागमनेन सत्यवाक्येन वेत्याशङ्क्याह **मा खिद्यतमिति**.

मा खिद्यतं महाभागौ द्रक्ष्यथः कृष्णमन्तिके ।
अन्तर्हृदि स भूतानामास्ते ज्योतिरिवैधसि ॥३६॥
न ह्यस्यास्ति प्रियः कश्चिन्नाप्रियो वास्त्यमानिनः ।
नोत्तमो नाधमो नापि समानस्यासतोऽपि वा ॥३७॥

भगवद्दर्शनार्थं खेदं मा कुरुतम्, दर्शने स्वरूपयोग्यो हेतुर्युवयोरस्तीत्याह. **महाभागाविति** प्रतीत्या अनुमानेन च युवयोर्महद्भाग्यं प्रतीयते, तदवश्यं दर्शयिष्यतीति दर्शने न सन्देहः. योगज्ञानादिना दर्शनं वारयति **अन्तिक** इति. लौकिके भगवानेवापेक्ष्यते इति न रामग्रहणम्. तस्य प्रादुर्भावः सर्वत्रैव सुगम इति ज्ञापयितुम् अन्तर्निरूपयति **अन्तर्हृदीति**. अन्यो भविष्यतीत्याशङ्कां व्यावर्तयति **स** इति, यो भवद्भिरपेक्ष्यते स एव सर्वेषामन्तर्हृदये वर्तत इति. तत्र प्रमाणमाह

दीपिका

मा खिद्यतमित्यत्र लौकिक इति, **लौकिके** लोकरीत्या क्रियमाणे समाधाने श्रीनन्दादिभि**र्भगवानेवापेक्ष्यत इत्युद्धवैरपि न राम**नाम गृहीतमित्यर्थः.

विवृतिः

मा खिद्यतमित्यस्याभासे ननु यथेदानीमित्यादिकथनस्यायमाशयः— श्रीनन्दबुद्ध्या श्रीमदुद्धवानां दर्शनं न भवतीति तथोक्तमिति भावः ॥३६॥

टीपिका

मा खिद्यतमित्यस्याभासे. न दृश्यत[सुबो.]इति, नन्दस्य दर्शनं दत्वा तिरोहितो जात इति लक्ष्यते, अतो न दृश्यत इत्युक्तमित्यर्थः. **प्रतीत्या** इति, प्रत्यक्षदर्शनं जातमिति प्रतीत्या इत्यर्थः. **अनुमानेन चेति**, अन्ये हि भगवतः स्थाने दर्शनार्थं गच्छन्ति ब्रह्मादयः, स भगवान् भवद्गृहे लीलार्थमागत इति पूर्वयोर्दर्शने कः सन्देह इत्यनुमानेनेत्यर्थः. ननु "ज्ञातीन् वो द्रष्टुमेष्याम" इति पूर्वमुक्तम्, "एतौ ही"त्यत्र सुबोधिन्यां "भक्त्या प्रादुर्भूतावि"त्युक्तम्, अत्र "**द्रक्ष्यथः कृष्णमन्तिके**"इति एकवचनं कथमुक्तमित्याशङ्का. तत्परिहारस्तु **लौकिके**[दीपि.]त्यादिनोक्तो ज्ञेयः. तथा चात्रापि रामेण सहागत इति लक्ष्यते. एष्याम इति बहुवचनमपि उद्धवेन सहागमनेनोपपन्नं जातमिति ज्ञेयम्. **भूतानामि**[सुबो.]ति, **भूतानामन्तर्हृदये वर्तते** इति

भूतानामिति— अन्यथा ते कथं जाताः प्राणिनः, आधारव्यतिरेकेण अन्नादिक्रियाणां

दीपिका

अन्नादिक्रियाणामिति, आनन्दमयत्वेन सर्वाधारश्चेद् भगवान्न स्यात्तदा प्राणमनोविज्ञानादिसम्बन्धिनीनाम् उत्पत्तिस्थितिप्रलयरूपाणां क्रियाणामाधारव्यतिरेकेण स्थित्यसम्भव एव स्यादित्यर्थः ॥३६॥

लेखः

मा खिद्यतमित्यत्र **आधारे**ति. "अन्नाद्भूतानि जायन्ते" इति पक्षेऽप्यन्नादिकृतानां जननादिक्रियाणामाधारव्यतिरेकेण स्थितिर्न सम्भवति; अन्नाज्जननेऽपि जननस्य धर्मत्वाद्धर्मी ततः पूर्वं सिद्धो वक्तव्य इति यावत्. अतः कारणत्वेन सर्वत्र सर्वदा सिद्धो भगवानस्ति तदाधारा जननादिधर्मा इति भावः. **उभयोरिति** स्थलद्वयेऽपि वह्निजलयोरित्यर्थः ॥३६॥

प्रकाशः

मा खिद्यतमित्यत्र. ननु तत्स्थित्यभावे कथं प्राणित्वाभाव इत्यत आहुः **आधारे**त्यादि. "को ह्येवान्यात् कः प्राण्याद् यदेष आकाश आनन्दो न स्यादि"ति श्रुत्या हृद्याकाश आनन्दस्थित्यैव प्राणनमुक्तम्. तच्च "अन्नमयं हि सोम्य मन, आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागि"तीश्रुत्युक्तमनः-

टीपिका

पूर्वोक्तं योज्यम्. **अन्यथे**[सुबो.]ति, आनन्दरूपस्य भगवतः स्थित्यभावे **कथं ते प्राणिनो जाता** भवेयुरित्यर्थः. **आधारे**ति, आधारो हृदयाकाशानन्दरूपो भगवानित्यर्थः. **अन्नादी**ति, अन्नादयः पृथिव्यादयः इत्यर्थः. एतत्सर्वस्यार्थः **नन्वि**[प्रका.]त्यारभ्य **को ह्येवान्यादि**त्यादि**श्रुत्यर्थेन** प्रकाशितो भवतीत्यर्थः. तत्र **तदि**ति भगवानित्यर्थः. **प्राणित्वाभाव** इति, जीवनाभावः कथमित्यर्थः. **अन्यादि**ति, "अन् प्राणने"इति धातुपाठे, जीवयेदित्यर्थः. इदं जीवनं तु "तरवः किं न जीवन्ति" इतिवत् व्यर्थं जीवनमुक्तम्. अग्रे "कः प्राण्याद्" इति उपसर्गदानात् साधनेन जीवनं सफलं जीवनम् उक्तम् इति लक्ष्यते. **कः प्राण्याद्** इति को जीवयेद् इत्यर्थः. **आकाशानन्द** इति, हृदयाकाशानन्दरूपो भगवानित्यर्थः. **प्राणनमि**ति जीवनमित्यर्थः. **तच्चे**ति, तच्च **प्राणन**"मन्नमयं ही"त्यादिश्रुत्या पृथिव्यादीनां सम्भावितं, तत्परिहारस्तु **आनन्द** इत्यारभ्य **तथे**त्यन्तेन कृतः. तत्र तन्मध्ये **अन्नमयमि**ति पृथिवीमयमित्यर्थः. **आदि**[सुबो.]पदस्यार्थमाहुः **अन्नादि**[प्रका.]ना. **अन्नादिक्रियाधीनमि**ति

स्थित्यसम्भवात्. अतः सूत्रापेक्षयाप्याधारत्वेन सर्वत्रैव वर्तते. **अन्तर्हृदी**ति प्रतीत्यर्थं

प्रकाशः

प्राणवाक्पोषकान्नादिक्रियाधीनम् इत्यानन्दस्थित्यभावे तासां स्थित्यसम्भवात्तथेत्यर्थः. ननु सप्तान्नब्राह्मणे मुख्यप्राणमाहात्म्यस्यापि तथोक्तत्वात् कथं तदानन्दस्थित्यैव तदिति निश्चेतुं शक्यत इत्यत आहुः **अत** इत्यादि. **अत** इति उक्तश्रुतेः. तथा च श्रुत्यन्तरे "पञ्चदशाहानि माशीरि"ति परीक्षायामतिशिष्टस्य पोषणं मनसो निश्चितं तदतिदेशेनाद्भिः पोषणं मुख्यस्यापि निश्चीयते, अणोरपुष्टस्य कार्यासाधकत्वं च. तेन सव्यापारस्यैवासन्यस्य प्राणने निमित्तकता. व्यापारस्त्वानन्दस्थित्यैवेति तदपेक्षयाप्याधारत्वेनानन्दस्यैव निमित्तत्वमि[1]त्यर्थः. ननु सर्वत्राधारत्वेन स्थिति-व्याख्यानमयुक्तं, हृद्येव मूले स्थिति[2]कथनादित्यत आहुः **अन्तरि**त्यादि. नन्वत्र किं

टीपिका

पृथिव्यादिक्रियाधीनमित्यर्थः. पृथिव्यादयोऽत्र शरीरगता ज्ञेयाः. **तासामि**[प्रका.]ति अन्नादीनामित्यर्थः. **तथे**ति, हृद्याकाश आनन्दस्थित्यैव प्राणनं युक्तमित्यर्थः. **मुख्यप्राणे**ति, मुख्यप्राणः सूत्रात्मा इत्यर्थः. **तथोक्तत्वादिति**, मुख्यप्राणस्यापि मनआदीनां पोषकत्वस्योक्तत्वादित्यर्थः. **तदानन्दे**ति, भगवदानन्दस्थित्यैवेत्यर्थः. **तदि**ति, पोषकत्वं कथं निश्चेतुं शक्यत इत्यर्थः. **उक्तश्रुतेरि**ति, "को ह्येवान्यादि"ति उक्तश्रुतेरित्यर्थः. **सूत्रापेक्षयापी**[सुबो.]ति, मुख्यप्राणापेक्षयापीत्यर्थः. **वर्तत**इति, आनन्द आधारत्वेन सर्वत्रैव वर्तते इत्यर्थः. एवं सूत्रापेक्षया आनन्दस्य आधारत्वोक्त्या आशङ्कोक्तमुख्यप्राणस्याधारता परिहृता, सैवाधारता **तथा च श्रुत्यन्तर**[प्रका.]इत्यादिना युक्तिपूर्वकं परिहृता. तत्र मुख्यप्राणस्य कथं मुख्यताभाव इत्याशङ्कायामाह **अद्भिरि**त्यादिना. तदेव दर्शयति **अणोरि**त्यादिना. **अणोरपुष्टस्ये**ति, **अणोः** सूक्ष्मप्राण**स्याद्भिरपुष्टस्य कार्यासाधकत्वं** चेत्यर्थः. सिद्धार्थमाह **तेने**त्यादिना. **तेने**ति अद्भिः पोषणकथनेनेत्यर्थः. **सव्यापारस्ये**ति, अब्व्यापारसहितस्य मुख्यप्राणस्यैव जीवने निमित्तता कृतेत्यर्थः. तर्हि पोषकत्वादपां मुख्यव्यापारत्वमायास्यतीत्याशङ्कायामाह **व्यापारस्त्वि**त्यादिना. **तदपेक्षयापी**ति जलापेक्षयापीत्यर्थः. **प्रतीत्यर्थमि**[सुबो.]ति योगिनां हृदि प्रतीत्यर्थमित्यर्थः. तदेवोक्तं "केचित् स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे प्रादेशमात्रं पुरुषं वसन्तमि"ति. **विशेष** इति, मूले **अन्तर्हृदी**ति विशेष उक्त इत्यर्थः. **आसन्य** इति, आसन्यो मुख्यप्राण इत्यर्थः.

१. नित्यत्वम् इत्यपि पाठः २. मूलस्थिति इति मु. पा.

विशेष उक्तः. जीवासन्ययोर्व्यावृत्त्यर्थं दृष्टान्तमाह **ज्योतिरिवैधसी**ति. भूरुहत्वाविशेषेऽपि यथा घटादयो निमज्ज्यन्ते न ज्वलन्ति तथा न काष्ठादयः. उत्पत्तावपि भूम्यंशान् स्वसमानान् न गृह्णन्ति. अतो ज्ञायते स्वभावत एव ते वह्न्यात्मकाः, जलेन च पुष्टा भवन्ति. उभयोर्व्यवधायका मायेव सूक्ष्माः पृथिव्यवयवाः उभयोरप्यपगमे यावद्भस्म तावन्मात्राः. अतो भूयानंशस्तेजस एव. जलस्थानीयो ह्यासन्यः, पृथिव्यंशस्थानीयो जीव इति सर्वत्र भगवान् चेतनेषु उत्तम्भनचलनादिना वर्तत इत्यध्यवसीयते. अन्यथा मथनेनेव योगादिना न प्रादुर्भूतः स्यात् ॥३६-३७॥

एवं प्रादुर्भावे सुलभतामुक्त्वा तथापि दुर्लभ इति वक्तुं लौकिकप्रयोजकान् सर्वानेव सम्बन्धान् वारयति **न माते**ति.

प्रकाशः

प्रमाणमत आहुः **जीवे**त्यादि, तथाच दृष्टान्तबलेनोक्त एवार्थो निश्चेय इत्यर्थः. तद्व्याकुर्वन्ति **भूरुहे**त्यादिना. अतिदिशन्ति **जले**त्यादि. तत्र गमकमाहुः **अन्यथे**त्यादि ॥३६॥

टीपिका

नन्वेवं भूरुहाणां वह्न्यात्मकतोक्ता, तथा घटादयोऽपि भूरुहास्तत्र को विशेष इत्याशङ्कायामाह **भूरुहत्वे**त्यादिना. अन्यदपि विशेषमाह **उत्पत्तावपी**त्यादिना. **स्वसमानानि**ति, पृथ्वीसमानानंशान्न भूरुहा **गृह्णन्ती**त्यर्थः. ननु भूरुहे वह्निजलयोरेकत्र स्थितौ जलेन वह्नेः कथं न नाशस्तत्र किं व्यवधानमित्याशङ्कायाम् **उभयोरि**त्यादिना. **सूक्ष्मा** इति, वृक्षे पृथिव्यवयवाः सूक्ष्मा इत्यर्थः. तत्र किं मानमित्याशङ्कायामाह **उभयोरि**ति, वह्निजलयोरित्यर्थः. **यावद्भस्मे**ति, यावन्मात्रं भस्म **तावन्मात्राः** पृथ्व्यंशा भूरुहे इत्यर्थः. **भूयानंशस्तेजस एवे**ति, भूरुहे भूयानंशस्तेजस एवेत्यर्थः. एवं दृष्टान्ते पृथिव्यादीनां तारतम्येन स्थितिरुक्ता तथा दार्ष्टान्तेऽपि भूतानां देहे जलादीनां स्थितिमाह **जलस्थानीय** इत्यादिना. **जीवे**ति, जीवः सच्चिदात्मकः अतः **पृथिव्यंशस्थानीयो जीव** इत्युक्त इत्यर्थः. तत्र तेजआत्मकः तेजोरूपः भूयानंशो **भगवान्** किं करोतीत्याशङ्कायामाह **सर्वत्रे**त्यादिना. **चेतनेष्वि**ति जीवासन्यादिष्वित्यर्थः. **मा खिद्यत** इत्यत्र **उत्पत्तिस्थितिप्रलयरूपाणां क्रियाणामि**[दीपि.]ति. अन्नप्राणयोरुत्पत्तिक्रियावत्त्वम् एवं विज्ञानस्यापि प्रलयक्रियावत्त्वं, चतुर्विधप्रलयकथने "नित्यो नैमित्तिकश्चापि तथा प्राकृतिको लयः आत्यन्तिकश्चे"ति द्वादशस्कन्धे चोक्तो ज्ञेयः ॥३६॥

न माता न पिता तस्य न भार्या न सुतादयः ।
नात्मीयो न परश्चैव न देहो जन्म एव वा ॥३८॥

अनेनासूयापि निवार्यते, न हि भगवान् कस्यचिदुपालम्भ्यो भवतीति. **तस्य** सर्वान्तर्यामिणः कृष्णस्य यशोदाद्या मातृत्वेन प्रसिद्धा अपि ता **न मातरः**. तथा नन्दादयोऽपि **न पितरः, न** च सीताप्रभृतयो **भार्याः, न** वा कुशादयः **सुताः. आदि**शब्देन न भ्रातरः गदादयोऽपि. **आत्मीयः** स्वसत्तात्मकः, **परः** शत्रुः. परकीयोऽपि पर एवेति न सम्बन्धी निरूपितः. **चकारान्नोदासीनः**, अयमर्थो निर्द्धारित इत्ये**व**कारः. **नापि देहः** यदर्थमेतेऽपेक्ष्यन्ते, तस्य कारणं **जन्मापि** नास्ति. **एव**कारः पूर्ववत्. **वे**त्यनादरे. अनेन यत्किञ्चिदत्र सम्भावितं तदपि निषिद्धम् ॥३८॥

ननु कर्मसु विद्यमानेषु जन्मानुच्छेदात् कर्मणां च प्रसिद्धत्वात् कथं जन्माद्यभाव इत्याशङ्क्याह **न चास्येति.**

न चास्य कर्म वा लोके सदसन्मिश्रयोनिषु ।
क्रीडार्थः सोऽपि साधूनां परित्राणाय कल्पते ॥३९॥

नापि अस्यान्तर्यामिणो निर्लेपस्य अग्निवत्सर्वदाहकस्य **सदसन्मिश्रयोनिषु** उत्कृष्टापकृष्टमध्यभावेषु देवतिर्यङ्मनुष्यरूपेषु (जन्म!) अस्य **कर्मापि न.** तत्रापि **वे**त्यनादरे, जातेऽपि तेन न किञ्चित्कर्तव्यमिति. तर्हि किमर्थमेतावत्करोतीत्याशङ्क्याह **क्रीडार्थ** इति, अयं सर्वोऽपि भगवद्भावः क्रीडार्थः. **सोऽपि** क्रीडाभावः **साधूनां परित्राणाय,** तदपि नोद्देश्यं किन्तु **कल्पते** स्वयमेव समर्थो भवति. यथा सूर्ये समागते

प्रकाशः

न मातेत्यत्र. **सम्बन्धी**ति परसम्बन्धी, तथा च **पर**शब्देन परपरकीययोः सङ्ग्रहीतुं शक्यत्वात्तथेत्यर्थः ॥३८॥

न चास्येत्यत्र. **भगवद्भाव** इति भगवत एव धर्मः भवनं वा. **क्रीडाभाव** इति क्रीडारूपतेत्यर्थः ॥३९॥

टीपिका

न माते्त्यत्र. **तथा चे**[प्रका.]ति, परः परस्य सम्बन्धी च भगवतो नेत्यर्थः. **पूर्ववदि**[सुबो.]ति, यथा मायादयो भगवतो नेत्येवकारेण निर्धारितं तथा देहादयोऽपि **नेत्येव**कारेण पूर्ववत् निर्धारितमित्यर्थः ॥३८॥

न चास्येत्यत्र. धर्मे[प्रका.]ति, धर्मात्मकक्रीडेत्यर्थः. **भवनमि**ति, देवतिर्यगादिरूपेणभवनमित्यर्थः. **नोद्देश्यमि**[सुबो.]ति, क्रीडातिरिक्तं न किञ्चिदुद्देश्यमित्यर्थः.

स्वयमेवान्धकारो नश्यति न तु तदर्थं प्रयत्नोऽपि कर्तव्यः. यथा महाराजे क्रीडार्थमप्यागते चौरभयनिवृत्तिः ॥३९॥

एतदप्यङ्गीकृत्योच्यते, मतान्तरे तु तदपि नास्तीति वदन् पूर्वोक्ते चोपपत्तिमाह **सत्त्वं रजस्तम** इति.

सत्त्वं रजस्तम इति भजते निर्गुणो गुणान् ।
क्रीडन्नतीतोऽत्र गुणैः सृजत्यवति हन्त्यजः ॥४०॥

स्वयं **निर्गुण** एव मूलभूतानेतान् **क्रीडन् भजते.** तेषां विशेषप्रयोजनमाह **तैः**

लेखः

सत्त्वं रजस्तम इत्यस्याभासे, **मतान्तरे** **त्विति**. मुख्यमतेऽयं भावः पुत्रत्वादिरूपः क्रीडार्थं स्वीकृत इति न, **भगवतः** प्राकृतगुणनिषेधेनाविद्यमानधर्मस्वीकारासम्भवात् किन्तु भगवत्स्वरूपमिव पुत्रत्वादिभावास्तत्तल्लीलाश्च नित्या एव. तेषु लौकिकत्वनिराकरणाय **न माते**त्याद्युक्तमिति भावः.

प्रकाशः

सत्त्वमित्यस्याभासे **एतदपी**त्यादि, **एतदपि** समाधानं कर्माद्यङ्गीकृत्योच्यते, मतान्तरे कर्मापि नास्तीति वदन् जन्मादावप्युपपत्तिमाहेत्यर्थः. सा चोपपत्तिर्मूले **क्रीडन्नि**त्यनेन **सृजती**त्यादिनिदर्शनपूर्वकमुच्यते. यथा तादृशस्य सर्गादिलीला तथेयमप्यक्रियस्याजस्य गुणैरेवेयं लीलेति.

टीपिका

स्वयमेवेति, भगवतो क्रीडाभावः साधूनां परित्राणाय स्वयमेव समर्थो भवतीत्यर्थः. तत्र दृष्टान्तावाह **यथे**त्यादिना ॥३९॥

सत्त्वमित्यस्याभासे **समाधानमि**[प्रका.]ति, क्रीडार्थप्रादुर्भाव इति समाधानमित्यर्थः. **तादृशस्ये**ति, **अक्रियस्य अजस्य गुणैः सर्गादिलीले**त्यर्थः. **इयमपी**ति जन्मादिलीलेत्यर्थः. **तेषामि**[सुबो.]ति, गुणानां लीलार्थतोऽपि विशेषप्रयोजनमाहेत्यर्थः. **मतान्तरे त्वि** [लेख.] त्यारभ्य **नित्याएवे**त्यन्तस्य एवमन्वयः कर्तव्यः— **अविद्यमानधर्मस्वीकारासंभवाद्भगवति प्राकृतगुणनिषेधे** कृते सति **मुख्यमते** भगवति **क्रीडार्थं पुत्रत्वादिधर्मः स्वीकृत** इति तन्निषेधो **न** युक्त इति **किन्तु** इत्यारभ्य **नित्या एवे**त्यन्तोक्ता धर्मा मुख्यमते मन्तव्या इति योज्यम्, तर्हि "न माते"त्यादि किमर्थमुक्तमित्याशङ्क्याह **तेष्वि**त्यादिना. मूले **अज** इत्यस्यार्थकथने **यथे**[सुबो.] तिपदस्य **यथा स्वयमजः स्वरूपतो न जायते** तथा **तैः सृजत्यवति**

सृजत्यवति हन्तीति. यथा **स्वयमजः** स्वरूपतो **न** जायते, अन्यथा तु कार्यरूपेण जननमावश्यकम् ॥४०॥

एवमात्मसृष्ट्यभावे गुणैरेव सर्गे जीवानामपि औपाधिकभेदेनैव भेदसम्भवात् कुत्राप्यात्मनः कर्तृत्वं नास्तीति निरूपयन् अन्तःकरणाध्यासेनैव कर्तृत्वं न स्वत इति दृष्टान्तेनोपपादयन् कैमुतिकन्यायेन भगवति कर्तृत्वनिषेधमाह **यथा भ्रमरिके**ति.

यथा भ्रमरिकादृष्ट्या भ्राम्यतीव महीयते।
चित्ते कर्तरि तत्रात्मा कर्तेवाहंधिया स्मृतः ॥४१॥

यो हि वात्यावद् भ्रमति तस्य दृष्टिर्**भ्रमरिका** भवति; तथा **दृष्ट्या भ्राम्यतीव मही ईयते**. वस्तुतस्तु दृष्टिरेव भ्रमति, अन्यथा क्षणान्तरे अन्यैर्वा भ्रमणमुपलभ्येतेति. तथा **चित्ते कर्तरि** अहङ्कारे कर्तरि सति कर्तृत्वाभिमानस्यैव प्रयोजकत्वात् प्राप्ताप्राप्तविवेकेन अहङ्कार एव कर्ता भवति. **तत्राहंधिया** जीवोऽपि **कर्तेव स्मृतः** न तु वस्तुतः कर्ता ---एवं केचिद् दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभावेन एकवाक्यतया योजयन्ति.

लेखः

यथेति, **यथा न जायते एवं कर्तृत्वम**पि **नास्ती**त्यन्वयः. **अन्यथे**ति स्वरूपसृष्टावित्यर्थः. एतन्मते त्रिगुणात्मकमेव जगद् न ब्रह्मात्मकमिति **ज्ञेयम्. जीवानामि**ति, तथाच वस्तुतो जीवानां भगवदभेदाज्जीवकर्तृत्वनिषेधे भगवतोऽपि कर्तृत्वनिषेध इति भावः. **यथा स्वयमज** इत्यारभ्य **न तु वस्तुतः कर्ते**त्यन्तं मतान्तरम्. स्वमते तु "सत्त्वमि"तिश्लोके **प्राकृत**गुणनिषेधेन पुत्रत्वादिधर्माणां सच्चिदानन्दात्मकत्वमुक्तम्. **यथे**ति श्लोकेऽपि एते भावाः सच्चिदानन्दात्मका एव. तत्र स्वधर्मारोपात्प्राकृतत्वप्रतीतिर्भ्रान्तेति दृष्टान्तेन समर्थितम्. स्वमतीयार्थकथने

प्रकाशः

यथैतस्याभासे **एवमि**ति मतान्तरप्रकारेण विवृतौ. **उपपद्यमान** इति

टीपिका

हन्तीति पूर्वेणान्वयः कर्तव्यः. **स्वरूपतो न जायते**[सुबो.] इति, मतान्तरे शुद्धः स्वरूपः कार्यरूपेण न जायत इत्यर्थः. कार्यरूपेण जाते को दोष इत्याशङ्क्याह **अन्यथे**त्यादिना. **कार्यरूपेणे**ति प्रपञ्चकार्यरूपेणेत्यर्थः. **आवश्यकमि**ति, जननमावश्यकमित्यर्थः. ततो नाजत्वं स्यादिति भावः ॥४०॥

यथा भ्रमरिकेत्यस्याभासे **आत्मसृष्ट्यभाव**[सुबो.] इति, मतान्तरे शुद्धात्मसृष्ट्यभावे इत्यर्थः. **गुणैरेव सर्गे** इति, गुणैरेव सर्गे सतीत्यर्थः. तथाच

वस्तुतस्तु दृष्टान्तद्वयं अन्तर्बहिर्भेदेन, अन्यथा **इवे**त्यसङ्गतं स्यात्. दृष्टान्ते च विषये अन्यथाबुद्धिर्दार्ष्टान्तिके तु कर्तरीत्यसामञ्जस्यं च स्याद् अनुपयुक्तार्थश्च. न हि साक्षाद्भगवच्चरित्रे उपपद्यमाने प्रासङ्गिकत्वेन [1]योजनमुचितम्. तत्र भगवान् ब्रह्मरूपः स्वयं तादृश एवाभिव्यक्तः नित्यस्वरूपगुणक्रियारूपः, क्रमेण परं पुरुषाणां दृष्ट्या गृहीतः. तत्र ग्राहिका दृष्टिः स्वधर्मं च तत्र योजयति, ततो ब्रह्मरूपमेव प्राकृतसम्बन्ध्येव तत्र तत्र परिदृश्यमानं तथा तथा कल्पयति. तस्माद्भगवति नैते धर्मा युक्ताः,

लेखः

अन्तर्बहिर्भेदेनेति, पुत्रत्वादिधर्माः स्वरूपान्तर्गतास्तत्र पूर्वो दृष्टान्तः, स्वरूपं बहिःप्रकटं तत्र द्वितीयो दृष्टान्त इत्यर्थः. **नैते धर्मा युक्ता** इति, आरोपितदोषा धर्मा भगवति न युक्ता अतो नित्या एव ते इति भावः ॥४१॥

प्रकाशः

दार्ष्टान्तिकत्वेनोपपद्यमाने. एवं मतान्तरीयव्याख्याने अस्वरसं दर्शयित्वा सिद्धान्तरीत्या दृष्टान्तद्वयं भगवच्चरित्रे योजयन्ति **तत्रे**त्यादि. **तत्रे**ति आत्मसृष्ट्यभावपक्षे. **तादृश** इति, यादृग्रूपगुणक्रियाविशिष्टो दृश्यते तादृग्रूप[2] इत्यर्थः. एतस्यैव विवरणं **नित्ये**त्यादि. एतेन पूर्वश्लोकोक्त**निर्गुणोऽतीत** इति पदद्वयस्य गुणक्रियावैशिष्ट्यनिषेध एव पर्यवसन्नत्वान्न तादृग्रूपतानिषेधपर्यन्तत्वमिति तात्पर्यं बोधितम्. यद्येवं तर्हि बाल्यपौगण्डादिरूपं तत्तल्लीला च सर्वदैव भासतामिति शङ्कानिवृत्त्यर्थं प्रथमदृष्टान्तं योजयितुमाहुः **क्रमेणे**त्यादि. **स्वधर्ममि**ति देशकालपरिच्छेदरूपं क्रमम्. **प्राकृतसम्बन्ध्येवे**ति अस्मदृदृष्टिसम्बन्ध्येव. **तत्र तत्र** इति देशे काले च. **तथा तथे**ति तत्तद्देशकालविशिष्टरूपेण. तथा च यथा भ्रमरिकादृष्ट्या स्वधर्मो मह्यां योज्यते तथा लौकिकदृष्ट्या स्वधर्मः क्रमो भगवति योज्यते अतो न सर्वदा सर्वरूपलीलाभानमित्यर्थः. सिद्धमाहुः **तस्मादि**त्यादि. **एत** इति

टीपिका

भगवतः सर्गादिषु या लीला सा गुणैरेव लीला न स्वरूपत इत्यर्थः. **विषय**[सुबो.] इति, भ्रमणकर्तुः पुरुष**स्यान्यथाबुद्धिर्भ्राम्यतीव महीयत** इत्यर्थः. **कर्तरी**ति, अहङ्कारस्य भ्रम**स्तत्रात्मा कर्तैवाहंधिया स्मृत** इति जीवात्मनि भ्रमो यदुक्तः, तद् दार्ष्टान्ते **असामञ्जस्यं स्यादि**त्यर्थः. **प्रासङ्गिकत्वेने**ति, प्रसङ्गाज्जीवपरत्वेन व्याख्यानयोजनं तदसङ्गतमित्यर्थः. **मतान्तरीयव्याख्याने**[प्रका.] इति, प्रासङ्गिकत्वेन

१. प्रयोजनम् इति स. २. तादृशस्वरूप इति मुद्रितः पाठः.

स्वभ्रमादेव सच्चिदानन्दे प्राकृतत्वप्रतीतेः. किञ्च यथा स्मृतौ साङ्ख्यादिशास्त्रे चित्ते कर्तरि आत्मा कर्तेव दृष्टस्तदध्यासात्, तथा भगवति स्वसम्बन्धारोपात्तत्तद्भावः प्रतीयते; न तु वस्तुतो भगवांस्तथा भवति. ततः पूर्ण एव व्यापकः परिच्छिन्नदृष्ट्या

प्रकाशः

देशादिवैशिष्ट्यरूपाः. द्वितीयं दृष्टान्तं योजयन्ति **किञ्चेत्यादि. तत्तद्भाव** इति पुत्रादिरूपता. एवं दृष्टान्तद्वयं योजयित्वा प्रतीतं व्युत्पादयन्ति **तत** इत्यादि. तथा

टीपिका

जीवपरत्वमतान्तरीयव्याख्यानं तस्मिन् अस्वरसमित्यर्थः. **आत्मसृष्ट्यभावपक्षे**[प्रका.] इति, **यथा स्वयमज**[सुबो.] इत्यारभ्य **सर्गे** इत्यन्तेन मतान्तरे आत्मसृष्ट्यभावपक्षेण गुणैः सृष्ट्युक्त्या यद् भगवति जननदोषः परिहृतः तन्मतान्तरीयपक्षं सिद्धान्ते **भगवा**नित्यादिना परिहरन्तीत्यर्थः. **गुणक्रिये**[प्रका.]ति, प्राकृतगुणक्रियाविशिष्टनिषेध एवेत्यर्थः. **न तादृग्रूपते**ति, अप्राकृतनित्यस्वरूपगुणक्रियारूपताया निषेधो नेत्यर्थः. **यद्येवमि**ति, यदि नित्यस्वरूपगुणक्रियारूपोऽस्तीत्यर्थः. **क्रमेणे**[सुबो.]ति, बाल्यपौगण्ड-ादिलीलासहितः सर्वदैव वर्तते **परं** भगवदिच्छया देशकालपरिच्छेदेन **पुरुषाणां दृष्ट्या** क्रमेण **गृहीतो** भवतीत्यर्थः. ननु केषाञ्चिद् दृष्ट्या प्राकृतरूपो गृहीतो भवति केषाञ्चिदप्राकृतरूपो गृहीतो भवतीत्यत्र को हेतुरित्यत्राह **तत्रे**त्यादिना. **स्वधर्ममि**ति, स्वस्य प्राकृतधर्मं **तत्र** भगवति योजयतीत्यर्थः. **प्राकृते**ति, अस्मदादिदृष्टिः प्राकृतेति सर्वलीलासहितं रूपं न पश्यति, भगवदनुग्रहेण तु दिव्यचक्षुषा पश्यति. तदेवोक्तं भगवद्गीतायां "**दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरमि**"ति. **तत्र तत्रे**ति गोकुलमथुरादिदेश इत्यर्थः. **तथा तथे**ति, बाल्यपौगण्डादिरूपेण कल्पयतीत्यर्थः. **तत्तद्देशे**[प्रका.]ति, गोकुलादिदेशकालविशिष्टरूपेण कल्पयतीत्यर्थः. **स्वधर्मक्रम** इति, **स्वधर्मक्रमो** देशकालादिपरिच्छिन्न-जीवधर्मरूपप्राकृतक्रम इत्यर्थः. **देशादी**ति, अस्मिन् देशे भगवानस्ति अस्मिन् देशे नास्तीति **देशादिवैशिष्ट्यरूपा** धर्मा भगवति न युक्ता इत्यर्थः. द्वितीयदृष्टान्ते **चित्ते कर्तरी**[सुबो.]ति, चित्तस्य अहङ्कारप्रेरकत्वेन कर्तृत्वे सतीत्यर्थः. **आत्मे**ति, जीवात्मा कर्तृवद् दृष्ट इत्यर्थः. कथं कर्तृत्वं तत्राह **तदध्यासादि**ति, अहङ्काराध्यासादित्यर्थः. **स्वसम्बन्धारोपादि**ति, भगवति नन्दादिभावित-पुत्रत्वादिसम्बन्धारोपादित्यर्थः. तथा च दृष्टान्ते यथा अहङ्कारस्य कर्तृत्वं जीवात्मनि प्रतीयते तथा दार्ष्टान्ते नन्दादिभावितपुत्रादिभावा भगवति प्रतीयन्त इत्यर्थः. अतो "न माता न पिता तस्ये"त्यादि सुष्ठूक्तम्. **प्रतीतमि**[प्रका.]ति,

तत्तत्पदार्थेषु अभिव्यक्त्या सूर्यवत्सम्बद्धस्तथा दृश्यते, स्वधर्मारोपेण वा तथा मन्यते. वस्तुतो दृश्यतेऽपि न. अतः पूर्ण एव परमानन्दः परिच्छेदकदृष्ट्या तदिच्छया

प्रकाशः

च यथा सर्वत्र सम्बद्धः सूर्यो नानादेशस्थैस्तत्तद्वृक्षसमीपस्थः परिछिन्नदृष्ट्या प्रतीयते तथा भगवानपीति पूर्वदृष्टान्तेन प्रतीतिव्युत्पत्तिः, द्वितीयेन तु स्फुटैव. **तथे**ति पुत्रादिरूपेण. नन्वेवं व्यापके दृश्यमाने च भगवति कथं धर्मभ्रमो भवेदिति शङ्कायामाहुः **वस्तुत** इत्यादि. ''पराञ्चि खानि'', ''न चक्षुषा दृश्यते'' इत्यादिश्रुत्या तथेत्यर्थः. तर्हि सुतरां धर्मभ्रमायोगः पूर्वप्रतीतिविरोधश्च इति चेत्तत्राहुः **अत** इत्यादि. तथा च न भ्रमायोग इत्यर्थः ॥४१॥

टीपिका

वास्तवं स्वरूपं प्रतीतमित्यर्थः. **पूर्वदृष्टान्तेने**[प्रका.]ति, **भगवानि**[सुबो.]त्यादिना पूर्वदृष्टान्तेन प्रतीतिव्युत्पत्तिरुक्तेत्यर्थः. **द्वितीयेने**[प्रका.]ति, द्वितीयदृष्टान्तेन व्युत्पत्तिः स्फुटैवोक्तेत्यर्थः. **तत्तत्पदार्थेष्वि**[सुबो.]ति, नन्दादिष्वित्यर्थः. ननु पूर्णो व्यापकः परिच्छिन्नदृष्ट्या केन प्रकारेण परिच्छिन्नो दृश्यते इत्याकाङ्क्षायां दृष्टान्तमाह **सूर्यव**दित्यादिना. **सम्बद्ध** इति, यथा सूर्यः सर्वसम्बद्धः परं नानादेशस्थानां जनानां परिच्छिन्नदृष्ट्या समीपस्थवृक्षोपरि दृश्यते तथा नन्दादीनां पूर्णो व्यापको भगवान् परिच्छिन्नदृष्ट्या पुत्रादिरूपेण दृश्यते. **स्वधर्मारोपेणे**ति, स्वस्य प्राकृतधर्मारोपेणेत्यर्थः. **तथा मन्यते** इति, पूर्णव्यापके भगवति प्राकृतपुत्रत्वं मन्यते इत्यर्थः. **कथं धर्मभ्रमो भवेदि**[प्रका.]ति, नन्दादीनां स्वप्राकृतधर्मः भगवति कथं भवेदित्यर्थः. **तथे**तीति, वस्तुतो दृश्यतेऽपि नेत्यर्थः. **तर्ही**ति, यदि दृश्यतेऽपि न तर्हि यथा शुक्तिकाया दर्शनाभावे रजतदर्शनभ्रमाभावो भवति तथा ब्रह्मणि दृश्यत्वाभावे नन्दादीनां सुतरां धर्मभ्रमायोगो भविष्यतीत्यर्थः. **पूर्वप्रतीतिरि**ति, **तत्र तत्र परिदृश्यमानमि**[सुबो.]त्यादिना या पूर्वोक्ता प्रतीतिः तस्यापि विरोधो भविष्यतीत्यर्थः. **अत**[सुबो.]इति, अदृश्ये भ्रमाभाव इति या शङ्का तत्परिहारार्थहेतोरित्यर्थः. तर्हि दृश्यमानं स्वरूपं कीदृशमित्यत आह **पूर्ण एव परमानन्द** इति. तर्हि तादृशं स्वरूपं सर्वत्र कथं न प्रतीयते कथं वा प्राकृतं मन्यते इत्याशङ्कायामाह **परिच्छेदकदृष्ट्ये**ति. रूपं तु यादृशमुक्तं तादृशमेव वर्तते परं तदिच्छया क्वचिदुपलभ्यते क्वचिन्नेति. नन्वेवंविधेच्छा किमर्थं कृतेत्याशङ्का अन्यथा विचित्रा लीला न भवेदिति तेन परिहरणीया. यथा दामोदरलीलायां प्राकृतदृष्ट्या यशोदया बन्धनं कृतम्, परं पूर्णत्वान्न जातं; तदुक्तं तत्रैव ''न चान्तर्न बहिर्यस्य

क्वचिदुपलभ्यते क्वचिन्नेति, यथेदानीं भगवदिच्छया मथुरावासिभिर्दृश्यते न तु भवद्भिः, यथा वा अस्मदादिभिर्दृश्यमानमपि भवन्तो वदन्ति "नात्र भगवान् किन्तु मथुरायामि"ति. एवं भ्रमो भवदीयः, तस्मादिमं भ्रमं परित्यज्य सर्वत्रैव भगवान् ज्ञातव्य इत्यर्थः. साक्षात्कारस्तु तदिच्छया भविष्यति ॥४१॥

ननु अस्माभिरयं पुत्रत्वेन एतावत्कालं व्यवहृतः कथमिदानीमपुत्रत्वं स्वस्य वा भ्रान्तत्वं मन्यामह इत्याशङ्क्याह **युवयोरेवे**ति.

युवयोरेव नैवायमात्मजो भगवान्हरिः ।
सर्वेषामात्मजो ह्यात्मा पिता माता स ईश्वरः ॥४२॥

यद्भगवतो लीलया भगवान् पुत्रो जात इति तथैवाङ्गीक्रियत इति मतं तदा **युवयोरेवै**वंभूतो नान्येषामिति **नास्ति** किन्तु **सर्वेषामेवायमात्मजा**दिः, सर्वात्मा **ह्ययं**[1] तेषां पुत्रत्वाद्याकारेण यदि **न** भवेद् आधिदैविकप्रकारेण वा तदा संसारे

विवृतिः

यथा भ्रमरिकेति विवरणे **यथा वे**त्यारभ्य **इत्यर्थ** इत्यन्तम्. श्रीमदुद्धवस्य श्रीनन्दस्वास्थ्यदर्शनेन भक्तत्वान्यथाशङ्कमानस्य नाशो मा भूदिति भगवता पितृचरणसन्निधौ स्वदर्शनं कारितम्. तत्स्वरूपं पितृचरणैर्न ज्ञायते. भगवता प्रमेयबलेनैवैतद्रक्षणं क्रियत इति श्रीमदुद्धवैस्तथाऽगादि, आचार्यैरपि श्रीमदुद्धव-हार्दमभिप्रेत्य समाहितम्. अयमेवार्थः श्रीमदाचार्यै**स्तदिच्छया क्वचिदुपलभ्यते क्वचिन्ने**त्यनेन, तथा च **साक्षात्कारस्तु तदिच्छया भविष्य**तीत्यनेनापि निरूपितः ॥४१॥

लेखः

युवयोरेवेत्यत्र. हिशब्दसूचितां युक्तिमाहुः **तेषामि**ति. पुत्रादिभ्य आनन्द

टीपिका

न पूर्वं नापि चापरम्, पूर्वापरं बहिश्चान्तर्जगतो यो जगच्च यः, तं मत्वात्मजमव्यक्तं मर्त्यलिङ्गमधोक्षजं, गोपिकोलूखले दाम्ना बबन्ध प्राकृतं यथे"ति. इच्छाप्यत्र सर्वे मां पश्यन्तु इति श्रुत्युक्ता सामान्या ज्ञेया. तेन सर्वेषां यथाधिकारं दर्शनम्, अन्यथा सर्वेषां मुक्तिः स्यात्. अतो सुष्ठूक्तं **परिच्छेदकदृष्ट्या तदिच्छया क्वचिदुपलभ्यते क्वचिन्ने**ति. तदेवोक्तं **न भ्रमायोग**[प्रका॰]इति, नन्दादीनां न भ्रमाभाव इत्यर्थः. तदेव सुबोधिन्यां विवृतं **यथेदानीमि**त्यादिना ॥४१॥

---

१. 'स्वयम्' इति टीपिकापाठः.

प्राणिनामानन्दो न भवेदिति, "को ह्येवान्यात्कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यादि"ति श्रुतेः. यतोऽयं **हरिः** अकारणसर्वदुःखहर्ता, **भगवान्** समर्थः; यदि समर्थो भूत्वा न दुःखं दूरीकुर्यात् तदा अयुक्तं भवेदिति. अतो युक्तत्वादेव **सर्वेषामात्मजः**. **आत्मा** च सङ्घातरूपः, तथा **पिता** सङ्घातस्तु बीजं, **माता** योनिः, **स** च जीवः, **ईश्वरो** नियन्ता अन्तर्यामी च— एतावद्रूपो भगवान् सर्वेषां भवतीति किमाश्चर्यं भवतां पुत्रत्वेन स्वात्मानं ख्यापितवानिति ॥४२॥

लेखः

इत्यनुभवसिद्धम्, आनन्दस्तु भगवद्धर्मः, ततः पुत्रादिरूपो भगवांश्चेन्न स्यात्तदा पुत्रादिभ्य आनन्दो न स्यादित्यर्थः. **आधिदैविके**ति, सर्वाधिदैविकन्यायेन पुत्राद्याधिदैविकोऽपि भगवान्. तथा च तदाधिदैविकस्य भगवत्त्वात्तत आनन्द इत्यर्थः. **स ईश्वर** इत्यत्र **स** इत्यस्यार्थमाहुः **जीव** इति, **स** इति पदेन जीव उक्त इत्यर्थः ॥४२॥

प्रकाशः

युवयोरित्यत्र को हीत्यादि. ब्रह्मवादाधिदैविकवादसाधारणेयं श्रुतिः,"स आत्मानं स्वयमकुरुते"त्युपक्रमेण ब्रह्मवादस्य[1] "आकाश आनन्द" इत्यन्तःस्थितिश्रावणेन द्वितीयस्य च सङ्ग्रहात् ॥४२॥

टीपिका

युवयोरित्यत्र. ब्रह्मवादे[प्रका.]त्यस्यायमर्थः— उपनिषदि "स आत्मानं स्वयमकुरुते"त्युपक्रमेण यो ब्रह्मवाद उक्तः तदनुसारेण श्रीमदाचार्यचरणैः सुबोधिन्यां **सर्वात्मा स्वयम् आधिदैविकप्रकारेण वे**त्युक्तमिति ज्ञेयम्. **साधारणेयं श्रुतिरि**[प्रका.]ति, "को ह्येवान्यादि"ति श्रुतिः साधारणा ज्ञेया. नन्वेवं ब्रह्मवादनिरूपणेन सर्वेषां भगवान् पुत्रादिरूपो भवतु नाम, परं सुबोधिन्यां द्वितीयपक्षे पुत्रादीनामाधिदैविकरूपो भगवान् कथं ज्ञेय इत्याशङ्कायामाह **स्थितिरि**त्यादिना. श्रुत्युक्तानन्दस्य सर्वेषां हृदये **स्थितिश्रावणेन द्वितीयस्या**धिदैविकप्रकारस्यापि सङ्ग्रहो जात इति ज्ञेयः. ननु सर्वेषां पिता कथमित्याशङ्क्याह **सङ्घातस्तु बीजमि**[सुबो.]ति. सर्वेषां सङ्घातरूपो भगवानित्युक्तमतः पितृसङ्घातरूपेण बीजरूपतोक्ता, अतः सर्वेषां पितृरूपोऽपि भवतीत्यर्थः. **माता योनिरि**ति, तथा मातृसङ्घातरूपेण मातृरूपोऽपि भगवानित्यर्थः ॥४२॥

१. ब्रह्मवादस्यार्थ इति मु. पा.

ननु सर्वेषां तथात्वेऽपि न सर्वेषां तथा प्रतीतिः किन्त्वस्माकमेव; इदं च भगवता लीलयैव तथैव कृतम्, अतः पुत्रोऽस्माकमेव न सर्वेषामिति चेत्तत्राह **दृष्टं श्रुतमिति.**

दृष्टं श्रुतं भूतभवद्भविष्यत्
स्थास्नुश्चरिष्णुर्महदल्पकं च ।
विनाच्युताद्वस्त्वितरं न वाच्यं
स एव सर्वं परमार्थभूतः ॥४३॥

भगवान् सर्वेषामेव सर्वरूपो भूत्वा तथात्वं बोधयति. तथा सति यदि कोऽपि न मन्यते तदा तेषामभाग्यम्. भवद्भिरपि भ्रमान्न मन्तव्यं किन्तु सर्वत्वेन पुत्रत्वमपि मन्तव्यमिति, न तु पुत्रत्वमेव. परिच्छिन्नदृष्ट्या तावदेव गृहीतमिति तत्रान्यथाबुद्धिर्न वक्तव्येति. **दृष्टं** प्रत्यक्षतः ऐहिकं **श्रुतं** श्रुत्यादिना पारलौकिकं च; लौकिकमलौकिकं च भगवानेवेत्यर्थः. **भूतभवद्भविष्यदिति** त्रिविधकालपरिच्छेद्य उक्तः. अनेन कालपरिच्छिन्नमपि भगवानेवेत्युक्तम्. अनेन परिच्छेद्यापरिच्छेद्य-विरुद्धसर्वधर्माश्रय इत्युक्तम्. परिच्छिन्नेऽप्यवान्तरभेदवानयमेवेत्याह **स्थास्नुश्चरिष्णुरिति,** स्थावरं

प्रकाशः

दृष्टमित्यत्र. बोधयतीति वेदेन बोधयतीत्यर्थः. **प्रथमाधिकारित्वादिति,**

टीपिका

दृष्टं श्रुतमित्यत्र. तथात्वमि[सुबो.]ति आत्मजादित्वमित्यर्थः. **वेदेने**[प्रका.]ति, ''पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यमि''त्यादिवेदेन बोधयतीत्यर्थः. **न मन्तव्यमि**[सुबो.]ति, परिच्छिन्नपुत्रत्वं न मन्तव्यमित्यर्थः. **तावदेव गृहीतमिति, परिछिन्नदृष्ट्या** पुत्रत्वं पूर्वं **तावदेव गृहीतं** तन्न **मन्तव्यमिति** पूर्वेणान्वयः कर्तव्य इत्यर्थः. किन्तु मूले ''सर्वेषामात्मजो ह्यात्मे''त्यादिनोक्तं सर्वरूपत्वं मन्तव्यमिति भावः. **अन्यथा-बुद्धिरिति,** पुत्रोऽस्माकमेव न सर्वेषामिति पूर्वं **यान्यथाबुद्धिर्न वक्तव्येत्यर्थः. कालपरिच्छिन्नमिति,** भूतभविष्यद्वर्तमानकाले परिच्छिन्नं यद्वस्तु तद्भगवानेवेत्यर्थः. ननु तत्तत्काले भगवतः सम्भवे सति अस्मदादिवद्भगवत्यपि परिच्छिन्नदोषो भविष्यति इत्याशङ्कायामाहुः **अनेने**त्यादिना. **विरुद्धसर्वधर्माश्रय** इत्यपि गुडजिह्वा, वस्तुतस्तु भूतभविष्यद्वर्तमानकाले तद्गततद्वस्तुसहित सर्वदैव वर्तते इति विद्वन्मण्डने आविर्भावतिरोभावनिरूपणे श्रीमत्प्रभुचरणैर्विस्तृतोक्तं द्रष्टव्यम्. **परिच्छिन्नेऽपीति** कालपरिच्छिन्नेऽपीत्यर्थः. **भेदवानिति** स्थावरजङ्गमभेदवानित्यर्थः. **चतुर्थेति, दृष्टं**

जङ्गमं च. तत्रापि तृणमेरुभावौ सिकताब्रह्माण्डभावौ वा मशकब्रह्मभावौ च भगवानेवेत्याह **महदल्पकं चे**ति. एवं चतुर्द्धा भिन्नो भगवान् चतुर्मूर्तिः स्वयमेव यतः अच्युतः, अन्यथा केनाप्यंशेन परिच्छेदे च्युतत्वं स्यात्. अतो**ऽच्युताद्विना** अच्युतव्यतिरेकेण **इतरद्वस्तु न न वाच्यं** किन्तु **स एव** समच्युतमिति अच्युतविभक्तमपि न भवति अच्युतभिन्नमपि न भवति. नन्दस्य प्रथमाधिकारित्वाद् आधिदैविकप्रकारेण विश्वासार्थं भगवतः सर्वत्वमाह **परमार्थभूत** इति, **परमार्थो** भगवान्— **भूतः** आधिदैविकः, अपरमार्थः आध्यात्मिकः किन्त्वर्थो भवति,

---

प्रकाशः

उपदेशे तथात्वादित्यर्थः. **भूते**ति यद्यत्प्रकारेणेदानीं सर्वं जायते तत्तत्प्रकारेण पूर्वमेव स्वतः सिद्ध इत्यर्थः. स च देवेष्विन्द्रियाद्यधिष्ठातृषु नियामकतया (विद्यमानतया)

टीपिका

श्रुतमित्येकं **भूतभवद्भविष्य**दिति द्वितीयं **स्थास्नुश्चरिष्णु**रिति तृतीयं **महदल्पक**मिति चतुर्थम् एवं चतुर्धा इत्यर्थः. **चतुर्मूर्तिरि**[सुबो.]ति, **दृष्टं श्रुत**मित्यादिनोक्ता चतुर्मूर्तिः स्वयमेवेत्यर्थः. **केनाप्यंशेने**ति, दृष्टश्रुतादि केनाप्यंशेनेत्यर्थः. **विभक्तमपी**ति, ब्रह्मभावपक्षे अच्युतविभक्तमपि न भवतीत्यर्थः. **भिन्नमपी**ति, वक्ष्यमाणाधिदैविकप्रकारेणाच्युतभिन्नत्वेन प्रतीतमपि **न भिन्नं** भवतीत्यर्थः. ननु तह्यधिदैवादिप्रकारेण भवनत्वकथने कोऽभिप्राय इत्याशङ्कायामाह **नन्दस्ये**त्यादिना. **उपदेशे**[प्रका.]ति, प्रथमाधिकारत्वादुपदेशानन्तरं पश्चात् सर्वात्मत्वज्ञानं भविष्यतीति. उत्तमाधिकारिणां तु नोपदेशापेक्षा, तदुक्तम् एकादशस्कन्धे "सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः, भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तम" इति. सुबोधिन्यां **भूत आधिदैविक** इत्यस्यार्थः **भूते**[प्रका.]त्यादिना. तत्र **सर्व**मिति दृष्टश्रुतादिसर्वमित्यर्थः. **पूर्वमेवे**ति, सृष्टिभवनात्पूर्वं भगवदात्मकत्वेन स्वतःसिद्ध इत्यर्थः. आधिदैविकस्वरूपमाह **स च देवेष्वि**त्यादिना. **विद्यमानतया विद्यमानत्वादि**ति, सर्वदैव **विद्यमानत्वादधुनापि विद्यमानतया देवेषु नियामकतया** च यदक्षरं जातं **तदाधिदैविकमु**च्यते इति योज्यम्. **आधिदैविक** इति, अन्तर्यामिरूप आधिदैविक इत्यर्थः. नन्वेवं मूले **परमार्थभूत** इत्युक्तं तदर्थम् आधिदैविकमात्रो भवति. तत्राध्यात्मिकाधिभूतस्वरूपं "कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यत" इति. ब्रह्मवादस्यार्थकथनाकथने कोऽभिप्राय इत्याकाङ्क्षायामाहुः

भौतिकस्त्वनर्थः. अत एव ब्रह्मवादाद् आधिदैविकवादः पूर्वमीमांसासिद्धः

प्रकाशः

विद्यमानत्वादाधिदैविकः. एतस्य प्रकारस्यामुख्यत्वमितरापेक्षयोत्कृष्टत्वं च बोधयितुं प्रसङ्गात् प्रकारद्वयमन्यदप्याहुः **परमार्थ** इत्यादि. **अपरमार्थ** इति घृतद्रवत्ववदुत्पन्नः; स चात्मनि भगवति विद्यमानत्वा**दाध्यात्मिकः**. **भौतिक** इति भूतेषु जातः सत्वाध्यासिकत्वेनाङ्गीकारा**दनर्थः**. नन्वेषां श्रुत्यादिसिद्धत्वात् कथमपकर्ष इत्यपेक्षायामाहुः **अत एवे**त्यादि, यतस्तेषु प्रकारेषु सर्वस्य यथायथं परमार्थानर्थरूपत्वमङ्गीक्रियते, न तु ब्रह्मरूपत्वमत इत्यर्थः. अत्रेदं बोध्यं— यथा कस्या अपि श्रुतेरुपचरितार्थत्वं विरोधश्च न भवति तदर्थं व्यासचरणानां विचारसंरम्भः[1]. स च ब्रह्मवाद एव सफलो भवति, नेतरेषु. तत्राधिदैविकवादे सर्वाधिदैविकत्वेन भगवतः सर्वत्वाङ्गीकारादिदङ्कारमात्रविरोधेन ब्रह्मवादादपकर्षेऽपि सर्वस्य सत्यत्व-

---

टीपिका

एतस्ये[प्रका.]त्यादिना. **एतस्ये**ति आधिदैविकप्रकारस्येत्यर्थः. **इतरापेक्षये**ति, अध्यात्माधिभूतापेक्षयेत्यर्थः. नन्वेवं तर्ह्याध्यात्मिकरूपस्यार्थत्वमपि कथमित्याशङ्कायामाह **घृतद्रवत्ववदुत्पन्न** इति. यथा नवनीते घृतमुत्पद्यमानं प्रसृतं भवति तथाधिदैविके भगवत्युत्पद्यमानो जीवरूप आध्यात्मिकोऽर्थः प्रसृतो भवतीत्यर्थः. **आध्यात्मिक**[सुबो.]पदस्य निरुक्त्यार्थत्वमाह **स चात्मनी**[प्रका.]त्यादिना. तदुक्तं गीतायाम् "अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यत" इति. ननु भौतिकरूपोपि भगवान् भवतीति कथं तस्यानर्थत्वमित्याशङ्कायामाह **भूतेष्वि**त्यादिना. **आध्यासिकत्वेने**ति, देहस्य जीवात्मकत्वेनाङ्गीकारादनर्थः. **कस्या अपि श्रुतेरि**ति, "सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ती"ति श्रुत्या आधिदैविकादिनिरूपिकाणां सर्वासां श्रुतीना**मुपचरितार्थत्व** आधिभौतिकादिनिरूपिकाणां श्रुतीनां **विरोधश्च न भवती**त्यर्थः. **तदर्थ**मिति श्रुतीनां निर्णयार्थम्. **विचारारम्भ** इति, "अथातो ब्रह्मजिज्ञासे"त्यादिना विचारारम्भ इत्यर्थः. **नेतरेष्वि**ति, जैमिन्यादिविचारितेषु सफलो न भवतीत्यर्थः. तदेवाह **तत्रे**त्यादिना. **इदङ्कारे**ति, इन्द्रियाधिष्ठातृणां देवानामयमधिष्ठातेति इदङ्कारमात्रविरोधीत्यर्थः. **अपकर्षेपी**ति, "सर्वं खल्विदं ब्रह्मे"ति ब्रह्मवादात् परिच्छिन्नकथनेनाधिदैविकवादस्यापकर्षेपीत्यर्थः. ब्रह्मवादस्योत्कर्षमाह **सर्वस्ये**त्यारभ्य **उत्कर्ष** इत्यन्तेन. **सत्यत्वे**ति, "सत्यं चानृतं चे"ति श्रुतीनां

---

१. विचारारम्भः.

प्रकाशः

बोधिकानाम् आत्मत्वब्रह्मत्वबोधिकानां च "सत्यं चानृतं च तत्सत्यमभवत्" "यदिदं किञ्च तत्सत्यमित्याचक्षते" "इदं सर्वं यदयमात्मा" "सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानि"ति "पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यमि"त्यादीनां बहूनां विरोधाभावाद्वादान्तरेभ्य उत्कर्षः, सङ्कर्षणकाण्डे जैमिनिना विचारितत्वाच्च. भेदवादे च सत्तायां[1] वास्तव्याङ्गीकारेण सत्यश्रुत्यविरोधेऽप्यन्यासां विरोधादविचारितत्वाच्च ततोऽपकर्षः. भेदस्याध्यात्मसमुत्पन्नस्या[2]रोपाच्चाध्यात्मिकत्वम्. मायावादे तु प्रदर्शितानां सर्वासामेव विरोधात्ततोऽप्यपकर्ष इति. एतमेवापकर्षं मीमांसाद्वयविरोधबोधनाय स्फुटीकुर्वन्ति

टीपिका

सत्यत्वबोधिकानामित्यर्थः. **आत्मत्वे**[प्रका.]ति, "इदं सर्वमि"त्यादिः आत्मत्वं ब्रह्मत्वबोधिकानां श्रुतीनामित्यर्थः. **वादान्तरेभ्य** इति, आधिदैविकादिवादान्तरेभ्यः "सत्यं चानृतं चे"त्यादिश्रुतीनां विरोधादित्यर्थः. **उत्कर्ष** इति, ब्रह्मवादोत्कर्षस्य इत्यर्थः. **विचारितत्वाच्चे**ति, पूर्वमीमांसायां **सङ्कर्षणकाण्डे जैमिनिनो**पासनादिविचारे ब्रह्मवादोत्कर्षस्य **विचारितत्वाद्** ब्रह्मवादस्योत्कर्ष इति योज्यम्. एवमाधिदैविकवादस्य किंचिदपकृष्टत्वं पूर्वमुक्त्वा ततोऽप्याध्यात्मिकरूप-भेदवादस्यापकृष्टत्वं वक्तुमाह **भेदवादे चे**त्यादिना. **तासामि**ति आध्यात्मिकवादनिरूपिकाणां श्रुतीनामित्यर्थः. **वास्तव्याङ्गीकारेणे**ति, वस्तुरूपो भगवान् तस्य सम्बन्धिनो जीवा इत्यङ्गीकारेणेत्यर्थः. **सत्यश्रुती**ति, "सत्यं चानृतं चे"ति श्रुतेः जीवानां ब्रह्मात्मकत्वकथनेनाविरोधेपीत्यर्थः. **अन्यासामि**ति, "इदं सर्वमि"त्यादीनां विरोधादित्यर्थः. ननु भेदवादस्य कथमाध्यात्मिकत्वमित्याशङ्क्य भेदवाद एवाध्यात्मिकवाद इति 'अध्यात्म'पदस्य निरुक्त्या अध्यात्मस्वरूपमाह **भेदस्ये**त्यादिना. **आत्मनी**ति, परमात्मनि घृतद्रवत्ववदुत्पन्नस्य भेदरूपजीवस्याध्यात्मिकत्वमित्यर्थः. **आरोपाच्चे**ति, **आत्मनि** जीव**स्यारोपाच्चाध्यात्मिकत्वमि**ति योज्यम्. भौतिकवादस्यापकर्षमाह **माया-वादे**त्यादिना. **प्रदर्शितानामि**ति, "सत्यं चानृतं चे"त्यादिब्रह्मवादे **प्रदर्शितानां सर्वासामेव** श्रुतीनां **विरोधादि**त्यर्थः. **एतमेवापकर्षमि**ति, मायावादाख्य-भौतिकापकर्षमित्यर्थः. **आधिदैविको य** इति, पूर्वमीमांसासिद्धः प्रकृतिपुरुषात्मकः **सर्वमूलभूतो** य आधि**भौतिको** वादः **सो**ऽत्र मायावादे **आधिदैविकानर्थरूपवाद** इति योज्यम्. कथमस्य वादस्यानर्थरूपत्वमित्याशङ्क्याह **मायाधीनकर्तृत्वस्ये**ति.

१. 'तासाम्' इति टीपिकापाठः. २. भेदस्याप्यात्मन्युत्पन्नस्य इति मु. पा.

किञ्चिदपकृष्टः, ततोऽपि भेदवाद आध्यात्मिकरूपः, ततोऽपि मायावाद इति बोधने उत्तरोत्तरमपकृष्टप्रकाराः. तत्राधिदैविको भौतिकः मुक्तिश्च प्रमेयबलेनेति ॥४३॥

दीपिका

युवयोरेवेत्यत्र **तत्राधिदैविक** इति. भगवान् पुत्रोऽप्याधिदैविकपुत्रः, पूर्वोक्तरीत्या, परं भवतां स भौतिकः, गोपत्वेन स्वात्मप्रकटनात्. तथा चान्यथा-प्रतीत्यापि या **मुक्तिः** सा **प्रमेयबलेन** द्वेषिणामिवेति भावः ॥४३॥

प्रकाशः

तत्रेत्यादि. **तत्र** मायावादे **आधिदैविको** यः सर्वमूलभूतः स **भौतिको**ऽनर्थरूपो, मायाधीनकर्तृत्वस्य मायिकदेहादिमत्त्वस्य तदवच्छिन्नस्य चाङ्गीकारादभ्युपगत इति. तर्हि मुक्तेरभावात् कथं बोधनप्रकारत्वमत आहुः **मुक्तिरि**त्यादि ॥४३॥

लेखः

दृष्टं श्रुतमित्यस्यान्ते **तत्राधिदैविक** इति, भवद्भि**र्भौतिक**त्वेन ज्ञातोऽपि **आधिदैविक** एव न तु स्वरूपात्प्रच्युतः अतस्तस्य **प्रमेयबलेन मुक्ति**र्भवत्येवेत्यर्थः ॥४३॥

टीपिका

तदुक्तं तृतीयस्कन्धे कपिलोपाख्याने. **मायिकदेहादिमत्त्वस्ये**ति, विराड्देहस्य समष्टिरूपस्य मायिकदेहादिमत्त्वमित्यर्थः. **तदवच्छिन्नस्ये**ति, मायावच्छिन्नस्या-ङ्गीकारेणानुगत इति भौतिकानर्थरूप इति योज्यम्. तथा च यथा मूले **परमार्थभूत** इति पदस्यार्थकथनेन पूर्वमीमांसासिद्धवैदिकाधिदैविकवाद उक्तस्तस्यैवोत्कृष्टत्वं बोधयितुं प्रसङ्गादाध्यात्मिकाधिभौतिकवादावप्युक्तौ, तथात्रापि सुबोधिन्यु**क्ता-धिदैविक**इतिपदस्यार्थकथनेन साङ्ख्यीयमायावादस्याधिदैविकवाद उक्तः. स च पूर्वोक्तवादे य आधिभौतिको वाद उक्तः सोऽत्राधिदैविको ज्ञेयः. तथा च वैदिकाधिदैविकरूपः परमात्मा ज्ञेयः, आध्यात्मिको जीवरूप आधिभौतिकः प्रकृतिपुरुषरूपो ज्ञेयः. मायावादे तु स एवाधिदैविको ज्ञेयः. विराड्रूप आध्यात्मिकः अस्मदादिदेहरूपो भौतिकानर्थरूपो ज्ञेय इत्यर्थः. **तर्हि मुक्तेरभावा**दिति. यथा देहात्मवादिनामन्येषां न मुक्तिस्तथा नन्दस्यापि भगवति गोपत्वबुद्ध्या मुक्तिर्न भविष्यतीत्याशङ्क्याह **मुक्तिरि**[सर्वो]त्यादिना. ननु "भक्तिः स्यात् परमा लोके ययाञ्जो दुर्गतिं तरेदि"ति नन्दप्रार्थनया ब्रह्मणाऽस्त्वित्युक्त इति ब्रह्मणो वाक्यात् परमभक्तिमतो नन्दस्य कथं प्रथमाधिकार इत्याशङ्कायाः परिहारस्तु— नन्दस्य

एवं नन्दोपदेशः समासः, रजनी च ततः समासेत्याह **एवं निशे**ति.

एवं निशा सा ब्रुवतोर्व्यतीता नन्दस्य कृष्णानुचरस्य राजन् ।

गोप्यः समुत्थाय निरूप्य दीपान्वास्तून्समभ्यर्च्य दधीन्यमन्थन् ॥४४॥

सा निशा एवं ब्रुवतोरेव व्यतीता यस्या मुखे समागतः. ततः परं भार्यया सह भगवद्गुणालापेनापि रात्रिर्गच्छतीति तद्व्यावृत्त्यर्थं गणयति **नन्दस्य कृष्णानुचरस्ये**ति. **नन्दो** भगवद्भक्तः प्रसिद्ध एव. उद्धवः कदाचिदन्यदपि वदेदित्याशङ्क्य तन्निवृत्त्यर्थमाह **कृष्णानुचरस्येति**, सेवको हि स्वामिकार्यमेव कर्तुमागतः स्वामिकथामेव करोति. **राजन्निति** तदभिज्ञत्वात्सम्बोधनम्. निशा प्रतियातेत्यत्र निदर्शनमाह **गोप्यः समुत्थाये**ति, सम्यगुत्थाय, न तु रात्रावेव निमित्तवशादुत्थानम्. **निरूप्य दीपानिति** तासां सम्पत्तिरधिका निरूपिता. **दीपानिति** बहुवचनेन भगवतो मङ्गलारात्रिकमपि सूचितम्. **वास्तून् समभ्यर्च्ये**ति देहल्यादीनां

विवृतिः

गोप्यः समुत्थायेत्यत्र, **न तु रात्रावेव निमित्तवशादुत्थान**मित्यादेरयं भावः— उद्धवागमनज्ञानेन तथेति भावः. यद्वा भगवान् तासां निकटे नास्तीति निमित्तवशाद् दध्यादिनिमित्तवशाद्वा भगवद्रमणाज्ञानार्थमन्येषां वेति भावः. **निरूप्य दीपानित्यत्र तासां सम्पत्तिरधिके**ति, ''हरेर्निवासात्मगुणैरे''तत्प्रकारेण पूर्वं या निरूपिता सा अधिकेति भावः. तेन भगवतोऽत्र नित्यस्थितिर्ज्ञापिता, अन्यथा तदभावे तद्ध्रासः स्यान्नतु तदाधिक्यम्. तेन **बाहुल्येन सा अधिका निरूपितेति** भावः. **दीपबहुवचनवाच्यार्थनिरूपणे भगवत** इत्यादि, तेन भगवानप्येतासामुत्थानानन्तरमुत्थायाग्रे वनगमने प्रियाविप्रयोगजक्लेशभरेणामंगलता उभयत्रापि मा भवत्विति **मङ्गलारात्रिकं** कारयित्वा वनं गत इति भावः. अनेनापि

टीपिका

भगवद्विरहरूपः शोकोऽस्ति, तन्निवृत्तिस्तु **ज्ञानेन** भवति, तदर्थं नन्दस्य प्रथमाधिकारित्वं; भक्तिमार्गे तु नन्दस्य सर्वोत्तमत्वं लोकवेदप्रसिद्धमिति निगर्वः ॥४३॥

एवं निशेत्यत्र. **निमित्तवशादि**[सुबो.]ति, उद्धवागमननिमित्तं दधिमथनादिनिमित्तं वा; तदर्थं रात्रावेव उत्थानमित्यर्थः. **निरूप्य दीपानिति**, ''हरे र्निवासात्मगुणै रमाक्रीडमभून्नृपे''तिवाक्यात् **तासां सम्पत्तिरधिका निरूपिते**त्यर्थः. तेनात्र भगवतो नित्यस्थितिर्ज्ञापितेति भावः. **सूचितमिति, मङ्गलारात्रिक**मित्युपलक्षणम्,

सम्यगर्चनं कुलधर्मख्यापनार्थम्, भगवानत्रस्थित इति भक्त्या वा. **दधीनि** नानाविधानि प्रातःकृतानि मध्याह्नकृतानि सायंकृतानि च, **मथनं** तूषस्येव. लौकिको दोहस्त्रिवारं वैदिको द्विवारं; त्रिवारमित्येके. अनेन गोपिकानां सन्तोषार्थमयमागतः तासां सुखचरितेन तुष्यतीति नन्दातिथ्यवत् ताभिः कृतमातिथ्यं निरूपितम् ॥४४॥

दीपिका

एवं निशेत्यत्र त्रिवारमित्येक इति, प्रायश्चित्तपाते पुनर्दोहसम्भवाद् "अन्यां दुग्ध्वा पुनर्होतव्यमि"ति श्रुतेरित्यर्थः ॥४४॥

विवृतिः

नित्यस्थितिरेव निरूपितेति भावः. वास्त्वर्चनार्थनिरूपणे **भगवानत्रे**ति, भगवद्विप्रयोगस्यातितीक्ष्णत्वेन क्षणवियोगेऽपि तापाधिक्याद्भगवत्स्थितिस्थलपूजनं तापापनोदार्थं, प्रेमस्वरूपस्य तथात्वादिति भावः. **भक्त्या** प्रेम्णेति भावः, अत एव "स्नेहो भक्तिरि"ति निरूप्यते. विकल्पत्वकथनेन **भगवानत्र स्थित** इति पूजनं व्रजवरवधूनां कुलधर्म एव. काश्चिद्भक्त्या **वा** सत्यादिगुणवत्यः पूजयन्तीति भावः. **भगवानत्रे**ति पदमुभयत्रार्थप्रकाशकत्वेन देहलीदीपभावमनुहरति. दधिमथनव्यंजितार्थनिरूपणे **अनेनेत्यारभ्यातिथ्यं निरूपितमित्यन्तम्. अनेन**

लेखः

एवं निशेत्यत्र. दधीनीति बहुवचनस्यार्थमाहुः **दोहस्त्रिवारमि**ति. प्रातर्मध्याह्ने सायं च दुग्ध्वा आतश्चयन्तीति क्वचिद्देशे व्यवहारः. **त्रिवारमित्येके** इति, प्रायश्चित्तपाते पुनर्दोहसम्भवा"दन्या दुग्ध्वा पुनर्होतव्यमि"ति श्रुतेः ॥४४॥

टीपिका

मङ्गलभोगो भगवतः शृङ्गारग्वालभोग-राजभोगादिसर्वामपि सेवां नित्यमेव वैष्णवत्वाद् व्रजभक्ताः कुर्वन्तीति लक्ष्यते. अत एव तदनुसारेण श्रीमदाचार्यचरणा अपि सेवां कुर्वन्तीति लक्ष्यत इत्यर्थः. **ख्यापनार्थमि**ति, स्त्रीणां स्वधर्मख्यापनार्थमित्यर्थः. **स्थित** इति, **भगवानत्र स्थित इति भक्त्या वा** स्थानपूजनमित्यर्थः. **प्रायश्चित्तपाते**[लेख] इति, यज्ञादिकर्मणि **प्रायश्चित्तपाते अन्या दुग्ध्वा होतव्यमि**ति वैदिको दोहस्त्रिवारमित्यर्थः. **सुखचरितेने**ति, दधिमथनसर्वाङ्गसौष्ठवमाभरणानामुत्तमत्वं च गोपिकानां **सुखचरितेनोद्धवे तुष्यति** सति **ताभिः कृतमातिथ्यं निरूपितमि**त्यर्थः. यतः सुखमेवातिथ्यकरणं तज्जननेन तत्करणमिति भावः ॥४४॥

यद्यपि स्वरूपस्थित्यैव सन्तुष्टो भवति तथापि तासामुत्कर्षमप्याह **ता दीपदीप्तै**रिति.

ता दीपदीप्तैर्मणिभिर्विरेजू रज्जूर्विकर्षद्भुजकङ्कणस्रजः ।
चलन्नितम्बस्तनहारकुण्डल-त्विष्यत्कपोलारुणकुङ्कुमाननाः ॥४५॥

दीपैर्दीप्ता ये **मणयः** दीपप्रतिबिम्बग्राहिणस्तै**र्विशेषेण रेजुः**. स्वरूपापेक्षयापि अधिका कान्तिरिति भगवद्योग्यता निरूपिता भगवद्गुणगानयोग्यता वा. एवं स्वरूपं

विवृतिः

दधिमन्थनेन तासां विप्रयोगाभावो ज्ञापितोऽन्यथा भगवद्विप्रयोगस्यातितीक्ष्णत्वेन सर्वस्मृतिनिरासकत्वात्तदसम्भावना स्यात्तेन तासां दुःखज्ञानेनोद्धवस्य खेदः स्याद् यतस्तदागमनं तत्सुखार्थम्. तस्य च प्रभुवियोगदुःखेऽतिकठिनत्वात्सङ्गमातिरेकेण तदसम्भवाद्दधिमथनेन भगवन्नित्यस्थित्या सुखचारित्र्यज्ञानादातिथ्यं **निरूपितमि**ति भावः. यतः सुखार्थमेवातिथ्यकरणं तज्जननेन तत्कृतेरातिथ्यमिति भावः. अयमेवार्थोऽग्रिमश्लोकावतारिकायां **यद्यपी**त्यादिना श्रीमदाचार्यैर्व्यक्तीकृतः ॥४४॥

ता दीपदीप्तैरित्यत्र **स्वरूपापेक्षये**त्यादि. अत्रेदमुद्भाति— भगवद्विप्रयोगे स्वरूपकान्तेरभावान्मणीनां सा अधिका दृश्यते, तस्या अप्याधिक्यं भगवत्कण्ठस्थित-मणिमालात्वात्. यथा भगवान्गोचारणसमये तासां स्वरूपात्मिकां मणिमालां बिभर्ति तथा स्वविप्रयोगज-तापाधिक्यशान्त्यर्थं स्वमालां स्वरूपात्मिकां दत्वा गोचारणार्थं गच्छति, तद्वत्तद्धारणजनितकान्त्याधिक्याद् **भगवद्योग्यते**ति भावः. तद्दाने भगवतस्तदभिलाषो ज्ञाप्यते. अत एव भगवानपि तद्वियोगासहिष्णुः तत्स्व-रूपात्मिकां मणिमालां स्वयमपि बिभर्तीति श्रीमद्व्रजभाग्योदयभावा-भिद्वात्रिंशाध्याये "मणिधरः क्वचिदागणयन् गा" इत्यनेन पद्येन निरूपितम्. अत्रैव द्वितीयार्थनिरूपणे **भगवद्गुणगानयोग्यता वे**त्यस्यायं भावः— गुणगानस्य विप्रयोगे

टीपिका

ता दीपदीप्तैरित्यस्याभासे. **स्वरूपस्थित्यैवे**[सुबो]ति, "धारयन्त्यतिकृच्छ्रेण प्रायः प्राणान् कथञ्चने"ति भगवत उक्त्या **तासां** गोपिकानां **स्वरूपस्थित्यैव यद्यपि सन्तुष्टो भवत्युद्धव** इत्यर्थः. नन्वेवम् अप्राकृतस्वरूपवतीनां तैर्मणिभिः किमर्थमधिका शोभोक्ता इत्याकाङ्क्षायामाह **भगवद्योग्यते**त्यादि. "मणिधरः क्वचिदागणयन् गा"इति युगलगीतोक्तमत्रेदं तत्त्वम्— यथैतासां वियोगे तासां स्वरूपात्मिकां मणिमालां भगवान् बिभर्ति तथैता अपि वियोगे भगवद्दत्तां

वर्णयित्वा क्रियाभिनिवेशेऽपि शोभातिशयमाह **रज्जूनां विकर्षयुक्तौ यौ भुजौ** तत्र **कङ्कणानां स्रजो** यासु; स्थूलकङ्कणपरिधानं भगवद्विरहात् क्षामत्वं वा बोध्यते. **चलन्नितम्बः स्तनौ** च तत्र **हाराः कुण्डले** च यासाम्. **कुण्डलयोर्वा त्विट्**

विवृतिः

जीवनहेतुत्वाद् भगवदनाकाङ्क्षायां तत्करणानुचितत्वात्तथाभूतप्रेमवतीनां तेन स्वमणिमालादानेन स्वाकाङ्क्षा ज्ञाप्यते भगवता, तेन तद्दानयोग्यतेति भावः. कङ्कणानां स्रग्भावनिरूपणे **स्थूलेत्यादि**, भगवद्विप्रयोगसमये दिवसे सौन्दर्यं सूक्ष्मेषु यथा तथा न स्थूलेष्विति स्वस्यानागरीत्वज्ञापनार्थमिति भावः. भगवद्वनगमनोद्यमक्षण एव तथा **क्षामत्वं**, तेन तासां प्रेमाधिक्यमुत्तमत्वं च ज्ञापितमिति भावः. अत एव केनचिद्रसज्ञेनोक्तं ''यामीत्युक्ते''त्याद्येन ''भङ्गं समीयुरि''त्यन्तेन पद्येन[१] [२]तथात्वम् इतिभावः[२] ॥४५॥

लेखः

ता दीपेत्यत्र. रज्जूः विकर्षन्ताविति छान्दसः समासः. **चलन्नितम्बे**त्यत्र कुण्डलेत्यन्तादर्शाद्यच्. प्रथमपक्षे **यासामिति** मत्वर्थीयार्थकथनं न तु बहुव्रीहिः, एते

प्रकाशः

ता दीपदीसैरित्यत्र **क्षामत्वमिति**, कङ्कणानां स्रक्त्वकथनेनेत्यर्थः ॥४५॥

टीपिका

भगवदात्मिकां मणिमालां बिभ्रतीति तासां स्वरूपापेक्षयाप्यधिका कान्तिः, तेन भगवता सह संयोगे योग्यता निरूपितेत्यर्थः. **भगवद्गुणगान-योग्यते**[सुबो.]ति, भगवन्मालायाः कीर्तिमत्त्वात्तद्धारणेन गुणगानेऽपि वा योग्यता निरूपितेत्यर्थः. मूले **रज्जूविकर्षादि**त्यस्यार्थः **रज्जूनां विकर्षयुक्तौ यौ भुजावि**[सुबो.]ति समास उक्तः स व्याकरणे न भवतीति **छान्दस**[लेख.] इत्युक्तः. ननु कङ्कणानां स्रक्त्वं कथमित्याशङ्कायामाहुः **स्थूल**[सुबो.] इत्यादिना. तथा च आभीरनागरीणां स्थूलकङ्कणपरिधानं लोकप्रसिद्धमत-स्तानि स्रग्वच्छिथिलानि भवन्तीति भावः. द्वितीयेऽर्थे गोपिकानां भगवद्विरहात् क्षामत्वम् अतः कङ्कणानां स्रक्त्वं बोधितमित्यर्थः. एवं गोपिकानां क्षामत्वेऽपि

१. यामीत्युक्ते हृदयपतिना पङ्कशः पङ्कभूषाः ।
स्वैरं स्वैरं झटिति गलिता पाणिपंकेरुहाग्रात् ॥
नो यास्यामीत्यनुपदमिदं वाक्यमाकर्णयन्त्याः
शेषाः सर्वे चटचटचटेत्येव भंगं समीयुः ॥

२-२. इति ग. पाठे अधिकम्.

कान्तिस्तद्युक्तौ कपोलौ **त्विष्यत्कपोलौ** सामान्यतस्त्विड्युक्तौ वा कपोलौ, ताभ्यां कृत्वा **अरुणाः** कपोलयोर्वारुणाः अरुणकुङ्कुमयुक्तमुखा वा. सर्वाङ्गेषु सौष्ठवमाभरणान्युत्तमत्वं च निरूपितम् ॥४५॥

एवं रूपतो[1] भगवद्योग्यत्वेनातिथ्यमुक्त्वा भगवद्गुणपरत्वेनापि तथात्वमाह **उद्गायतीनामिति.**

उद्गायतीनामरविन्दलोचनं व्रजाङ्गनानां दिवमस्पृशद् ध्वनिः ।
दध्नश्च निर्मन्थनशब्दमिश्रितो निरस्यते येन दिशाममङ्गलम् ॥४६॥

धर्मबुद्ध्यापि गानं सम्भवतीति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह **अरविन्दलोचनमिति**, स हि कमलनयनः कोटिकन्दर्पसुन्दरः. ननु कथं ब्रह्मत्वादिगुणा नोक्तास्तत्राह **व्रजाङ्गनानामिति**, ता हि व्रजस्त्रियः सौन्दर्येणैव वशीकृताः, किं ब्रह्मत्वादिना?! प्रशस्तान्यङ्गानि यासामिति तावन्मात्रपरत्वे हेतुरप्युक्तः, अन्यथाङ्गप्राशस्त्यं व्यर्थं

लेखः

धर्मा यासां सन्तीत्यर्थः. चलन्नितम्बस्तनहाराः कुण्डले च तद्युक्ता इत्यर्थः प्रथमपक्षे; द्वितीये तु हारेत्यन्तादच्. **कुण्डलयोरित्यर्थ**कथनम्, विग्रहस्तु कुण्डलाभ्यां त्विष्यन्तौ कपोलाविति ॥४५॥

टीपिका

वस्तुसामर्थ्येन शोभातिशयानिवृत्तिश्**चलन्नितम्बे**त्यादिनोक्ता ज्ञेया. **प्रथमपक्षे**[लेख.] इति, **कुण्डले चे**[सुबो.]त्यन्ते प्रथमपक्षे इत्यर्थः. **मत्वर्थीयार्थकथनमि**[लेख.]ति, **एते धर्मा यासां सन्तीति मत्वर्थीयार्थकथनमि**त्यर्थः. **न तु बहुव्रीहिरिति**, एते धर्मा यासां ता इति कथनं नेत्यर्थः. तथा च **चलन्नितम्बे**त्यादिधर्मवत्यो गोपिका इत्यर्थः. सिद्धार्थमाह. **चलदित्यारभ्य प्रथमपक्षे** इत्यन्तोक्तस्यैव सिद्धार्थो ज्ञेयः. **द्वितीये त्विति**, द्वितीयपक्षे **हारे**त्यन्तं मत्वर्थीयो ज्ञेयः. **कुण्डलयोरित्यर्थकथनमिति**, कुण्डलयोः पृथगर्थकथनमित्यर्थः. तदेवाह **विग्रहस्त्वि**त्यादिना. तथा च **चलन्नितम्ब** इत्यारभ्य **यासामि**[सुबो.]त्यन्तं मत्वर्थीयः प्रथमपक्षे ज्ञेयः, द्वितीयपक्षे **हारा** इत्यन्तं मत्वर्थीयो ज्ञेयः. केवलकुण्डलयोरर्थमाह **कुण्डलयोर्वे**[सुबो.]त्यादिना. **सामान्यतस्त्विति**, **चलत्कुण्डले** इति पूर्वोक्तार्थकथने **चलत्कुण्डलयोर्या त्विद्** सा **कपोले** यासां इति वार्थः. **ताभ्यां कृत्वा अरुणा** इति, कुण्डलकान्त्या अरुणानना इत्यर्थः. **कपोलयोर्वा अरुणा** इति, कपोलयोर्या अरुणा कान्तिस्तयाऽरुणानना इत्यर्थः ॥४५॥

उद्गायतीनामित्यत्र. **प्रशस्तान्यङ्गानि यासामि**[सुबो.]ति **अङ्गना**पदस्य

---

१. स्वरूपतो इति मु. पा., स. पाठः गृहीतः.

स्यात्. तासां लौकिकवैदिकनिरपेक्षत्वाय गाने विशेषमाह **उद्गायतीनां ध्वनिर्दिवमस्पृशदिति**. कार्यकारणसहितं गानं निरूपितम्. कारणाधिक्याल्लोक-

दीपिका

उद्गायतीनामित्यत्र तावन्मात्रेति, भगवन्निष्ठसौन्दर्यादिमात्रपरत्व इत्यर्थः. **कार्यकारणसहितमिति**. गाने स्वामिनीनां लौकिकवैदिकनिरपेक्षत्वबोधनाय कार्यं द्युस्पर्श आत्मसुखानुभव आन्तरः, कारणं ध्वनिः, तत्सहितं गानमत्र निरूप्यते. तत्र **उदु**पसर्गेण गानस्योच्चत्वस्याप्युक्तत्वाल्लोकसंकोचपरित्यागेन गानमिति लोकनैरपेक्ष्यमुक्तम्. द्युस्पर्शेनात्मसुखस्य लोकान्तरगतानामिव भावेन भगवल्लीला-विष्टानामनुभवान्मुक्त्यादिवैदिकतन्नैरपेक्ष्यमप्युक्तम्. तथा चैतादृग्गानश्रवणेन सर्वथा भगवत्परत्वनिश्चयादुद्धवस्य तासु भगवद्योग्यत्वस्फूर्त्या सन्तोषस्तत्कृतातिथ्यरूपो

विवृतिः

उद्गायतीनामित्यत्र गानतात्पर्योक्तौ **कार्ये**त्यारभ्य **लोकपरित्याग** इत्यन्तम्. ऊर्ध्वगानोत्थध्वनिर्दिवं क्रीडाभावं भगवत्क्रीडास्थलं वनमस्पृशदिति कार्यं, विप्रयोगे भगवदाकांक्षाज्ञानाद्भगवदर्थकजीवनार्थं गुणगानं तत्कारणमिति भावः. कुलवधूनां लज्जात्यागेनोर्ध्वगानं लोकविद्विष्टमेवं सत्यपि यद् गानं तत् कारणाधिक्यात्.

लेखः

उद्गायतीनामित्यत्र विशेषमाहेति, गानस्योर्ध्वता ध्वनेर्द्युस्पर्शश्च विशेष इत्यर्थः. अत्र **दिव**शब्देन स्वर्गवाचकेन वाक्यशेषोक्तमात्मसुखमुच्यते. ध्वनिश्रवणेन सर्वेषामात्मनश्चात्मसुखमभिव्यक्तं भवतीत्यर्थः. **कार्यकारणे**ति; **कार्यं** ध्वनेर्द्युस्पर्शः, तत्र **कारणमुदि**त्युपसर्गोक्ता गानस्योर्ध्वता, **तत्सहितं गानमि**त्यर्थः. **कारणाधि-क्यादिति**, कारणमूर्ध्वता तस्या आधिक्यं शतृप्रत्ययसूचिता यावद्दधिमथनं प्रवृत्तिः. नागृहीतविशेषणन्यायेनोर्ध्वताविशिष्टगानस्य वर्तमानतां शतृप्रत्ययो बोधयतीति ऊर्ध्वताया अपि तावत्पर्यन्तं प्रवृत्तिः. तस्माल्लोकापेक्षापरित्याग उक्तः; तदपेक्षाया-

प्रकाशः

अग्रिमे **कार्यकारणसहितमिति**, कार्यं स्वर्गस्पर्शः, कारणं भगवति

टीपिका

निरुक्तिः. अनङ्गस्य अङ्गं नयन्ति प्रापयन्तीति अङ्गना इति तेन तासाम् अङ्गनां शोभातिशयस्य प्राशस्त्यमुक्तम्. ता यद्यरविन्दलोचनपरा न भवेयुस्तदैतासामङ्गनां प्राशस्त्यं व्यर्थं स्यादिति भावः. **शतृप्रत्यय**[लेख] इति, यद्यप्यत्र मूलश्लोके शतृप्रत्ययो

परित्यागः, तथा सति लोकविद्विष्टत्वाद् अस्वर्ग्यत्वमाशङ्क्य तस्यैव स्वर्गसम्बन्धः कः सन्देहस्तत्फलस्येति तेनैव चरितार्थत्वात् वैदिकनिरपेक्षता च, तासां भगवदीयत्वेनैव स्वर्गस्यानपेक्षितत्वात्. वाचनिककायिकयोरेव कर्मणोः

दीपिका

जात इति भावः. **अस्वर्ग्यत्वमि**ति, लोककृतापकीर्तिश्रवणेनात्मसुखरूपत्वं गानस्य भासेतेत्याशङ्क्येत्यर्थः. **तस्यैवे**ति ध्वनेरेवेत्यर्थः. एतेन स्वरग्रहणेनैव यत्र गाने परमानन्दसम्बन्धस्तत्रार्थरसादियुक्तगाने तत्सम्बन्ध इति किं वाच्यमिति सूचितम्. **तत्फलस्ये**ति ध्वनिफलस्य गानस्येत्यर्थः. **तेनैवे**ति गानेनैवेत्यर्थः. वेदे हि काण्डद्वये भुक्तिमुक्ती फलत्वेन प्रतिपाद्येते, ते उभे अपि गान एव स्वरूपानुभवात्तन्मात्रास्फूर्तेः सिद्धे इति तन्निरपेक्षता चेत्यर्थः. **भगवदीयत्वेने**ति. ता हि भगवदीयाः अतो न गानमानन्दसाधकतया कुर्वन्ति किन्तु भगवद्भावापन्नास्तथा चानन्दो ध्वनावेव प्रतिष्ठितोऽतोऽन्येषामपि कृतपुण्यपुञ्जानामेतद्गानद्वारैतदानन्दसिद्धिरिति

लेखः

मुच्चैरनवरतगानासम्भव इति भावः. **अस्वर्ग्यत्वमि**ति, लोकविद्विष्टमूर्ध्वगानमात्मसुखजनकं न स्यादित्यर्थः. **तस्यैवे**ति ध्वनेरेवेत्यर्थः. **तत्फलस्ये**ति ध्वनिफलस्य गानस्येत्यर्थः. ध्वनिः कारणभूतो नादः, गानं गुणवर्णनयुक्तं, तथाचारविन्दलोचनं गायतीनां गानकारणभूतो ध्वनिरपि आत्मसुखजनको जात इति मूलार्थः. **तेनैवे**ति, गानेन द्युस्पर्शो जात इत्यनुक्त्वा गायतीनां जातमिति कथनेन तासां गायतीनां सतीनां तत्स्वभावादेव ध्वनिर्दिवमस्पृशन्न तु द्युस्पर्शकामनया गानमतो वैदिकफलनिरपेक्षतोक्तेत्यर्थः. लौकिकनिरपेक्षता पूर्वमुक्ता अत्रेयमुक्तेति **च**कारः. **वाचनिके**ति, गानं वाचनिकं मथनं कायिकम्, तयोरेव कर्मणोरात्मसुखसम्बन्धः. मानसी सेवा तु भगवदानन्दजनिकेत्यर्थः. **भगवदीयानामि**ति, **भगवदीयगुणानां**

प्रकाशः

परमासक्तिस्ताभ्यां युक्तमित्यर्थः. **तत्फलस्ये**ति गानस्येत्यर्थः ॥४६॥

टीपिका

नास्ति तथापि **उद्गायतीति** [लेखः] **गृहीतविशेषणन्यायेन शतृप्रत्ययसूचिता यावद्दधिमथनप्रवृत्तिः** तावदूर्ध्वताविशिष्टगानस्य **वर्तमानतां शतृप्रत्ययो बोधयतीति ऊर्ध्वताया अपि तावत्पर्यन्तं प्रवृत्तिरिति** योज्यम्. **मानसीसेवा त्विति, मानसीसेवा तु** विप्रयोगे अन्तरेव भगवदानन्दानुभवजनिकेत्यर्थः. तदेवोक्तं

स्वर्गसम्बन्धप्रतिपादनार्थं **दध्नश्च निर्मन्थनशब्दमिश्रित** इत्युक्तम्. **च**कारात्कङ्कणानामपि रणत्कारेण मिश्रितः. भगवदीयानां गुणानां सम्बन्ध्यपि

दीपिका

भावः. एतेदेवोक्तं "यासां हरिकथोद्गीतमि"त्यनेन. भगवदीयत्वमेवोपपादयन्ति **वाचनिके**ति. मानसिककर्मणस्तु वियोगेन दुःखानुभवात्तत्सम्बन्ध इत्यर्थः. एतेन परोक्षे ये मनसि क्लिष्टा वचनेन गायन्ति क्रियाभिश्च लीला अभिनयन्ति, उभाभ्यां च किञ्चित्सुखमनुभवन्ति यतो विरहे जीवनं, ते भगवदीया इति निरूपितम्. एतद्ध्वनेरेव सर्वामङ्गलनिरसनहेतुत्वोक्तेर्यादृगेतद्रूपं तादृक्सर्वान् गुणगानकर्तॄन् ज्ञापयन्त एव तन्महत्वमाहुः **भगवदीयानां गुणानामि**त्यादिना. **भगवदीयानां गुणानां सम्बन्ध्यपि** ध्वनिरन्येषां **गोपिकानां** स्वामिनीनां **गवां च सम्बन्धी अपेक्ष्यते,** सर्वत्र गान इति. यथा भगवान् गोपीनां गवां चापेक्षकस्तथा भगवद्गुणा इत्यर्थः ॥४६॥

लेखः

सम्बन्धि गानं, कर्तृ**गोपिकानां सम्बन्धि** ध्वनिरूपं वस्तु कर्म **गवां सम्बन्धि** दधिमन्थनं **च** कर्म **अपेक्षते.** भगवद्गुणाः स्वामिनीध्वनि-दधिमथनसापेक्षाः, दधिमथनसमये ध्वनिना गीयमानत्वादिति भावः ॥४६॥

टीपिका

तत्सम्बन्धे[दीपि.]ति, वियोगे विप्रयोगात्मकस्वरूपस्यान्तरेव सम्बन्धानुभव इत्यर्थः. **क्रियाभिश्चे**ति, दधिमन्थनक्रियाभिश्चेत्यर्थः. **लीला अभिनयन्ती**ति, दधिमन्थनसमये अङ्गचालनक्रियाभिर्नृत्यलीलाभिनयं कुर्वन्तीत्यर्थः. **उभाभ्यामि**ति गान-दधिमन्थन-क्रियाभ्यामित्यर्थः. **यादृगेतद्रूपमि**ति, भगवद्गुणानामपि गोपिकानां गवां च सापेक्षता-रूपमित्यर्थः. **सर्वान् गुणगानकर्तॄनि**ति भगवदीयानित्यर्थः. **तन्महत्त्वमाहुरि**ति गोपिकानां गवां च महत्त्वमाहुरित्यर्थः. **ननु भगवानिव भगवद्गुणा अपि तत्सापेक्षा इति** गोपिकानां गवां च सापेक्षा इति **तासां महत्त्वं सूचितमि**त्युक्तं तत्किमित्याशङ्का-परिहारायोक्तं **भगवदीयानां गुणानामि**[दीपि.]त्यादिना. तत्र **भगवदीयानां गुणा-नामि**त्यारभ्य **सर्वत्र गाने** इत्यन्तस्यैवमन्वयः कर्तव्यः— तत्र **सर्वत्र गाने अन्येषां** गुणगानकर्तॄणामत्यनुगृहीतानां गोविन्ददासप्रभृतीनामित्यर्थः. **भगवदीयानां गुणानामि**ति भगवद्गुणानामित्यर्थः. **सम्बन्ध्यपि ध्वनिरि**ति, भगवद्गुणगान-**सम्बन्ध्यपि ध्वनि**रूपं यद्वस्तु त**द्गोपिकानामि**ति, **स्वामिनीनां सम्बन्धिध्वनि**रूपं यद्वस्तु कर्म तत्सापेक्षतेति योज्यम्. **गवां चे**ति, तथा **गवां सम्बन्धि** यद्दधिमन्थनरूपं

गोपिकानां गवां च सम्बन्ध्यपेक्षत इति भगवानिव भगवद्गुणा अपि तत्सापेक्षा इति तासां महत्त्वं सूचितम्. ननु सर्वधर्मपरित्यागे तासां पापं भवेदिति कथं तद्गुणनिनातिथ्यं माहात्म्यं चेत्याशङ्क्याह **येन ध्वनिना दिशामेवामङ्गलं निरस्यते** किमुत तत्सम्बन्धिनाम् ॥४६॥

एवं तासां जिज्ञासापर्यन्तं निलीयैव स्थित इति वक्तुं जिज्ञासाप्रकारमाह **भगवत्युदित** इति.

विवृतिः

भगवदर्थैकजीवनस्थापनार्थं लोकपरित्यागः कृत इति भावः. अग्रे **तथा सतीत्यादिकथनं** लोकमपेक्ष्येति भावः. गुणगानध्वनेर्दिवस्पर्शनतात्पर्यनिरूपणे **भगवद्गुणा अपीत्यादि. दिविधातोः** क्रीडावाचकत्वात् क्रीडामस्पृशत्. अत्रायं भावः— यत्र **भगवान्** वने क्रीडति तत्र प्राप्त इत्यर्थः. यद्वा दिवं क्रीडाभावमेवास्पृशन्न तु विप्रयोगादिभावमिति **भावः. भगवद्गुणगानं** तु सर्वैरेव क्रियते परमेतासां मुखं प्राप्य यथा क्रीडादिरूपत्वं गुणानां जातं न तथान्यत्रेत्यर्थः. अत्रायं भावः— एता भगवद्विप्रयोगसमये स्वकृतक्रीडादिरूपमेव गानं कुर्वन्ति, नत्वन्यगुणगानं, तेन तत्प्रकारकगुणगानं त्वेतासां मुखेनेति भावः. अत एवैता विप्रयोगे तथैव गायन्ति गोपिकागीतादिषु प्रेमामृते च "सुरतवर्धनं- कृष्ण कृष्णेन्दुरि"त्यादि च. एतदेव एतासां महत्वम्. ननु गुणास्तु भगवतएव, तासां किं महत्त्वम्? इति चेद् उच्यते— सत्यं, गुणास्तु भगवदीयाएव परम् एतत्स्थानं विना न कुत्रापि भगवतापि प्रकटिता इति तासां महत्त्वम् इति भावः. अत एव तासां महत्त्वज्ञानेनोद्धवोऽपि तत्पादरेणुयोग्यं जन्म स्यादित्यादिप्रार्थनां करिष्यति, अन्यथा भगवत्स्तुतस्य तस्य भगवद्दास्यं प्राप्तस्य कथं तत्प्रार्थनमिति भावः ॥४६॥

लेखः

निलीयैवेति, नन्दगृह एव रहसि स्थित इत्यर्थः.

टीपिका

च कर्म तदपि अन्येषां गानकर्तॄणामपेक्षत इत्यर्थः. तदेव **भगवदीयगुणानामि**[लेख]त्यादिनोक्तं द्रष्टव्यम् ॥४६॥

भगवत्युदिते सूर्ये इत्यस्याभासे. **एवमि**[सुबो]त्यादिग्रन्थस्यार्थोऽथवा एवं प्रतिभाति. तत्र **तासां जिज्ञासापर्यन्तमिति**, गोपिकानां हि उद्धवस्य रथं दृष्ट्वा किं करिष्यतीति जिज्ञासा उत्पन्ना तावत्पर्यन्तं नन्दगृहे भगवान्निलीय **स्थित** इत्यर्थः.

भगवत्युदिते सूर्ये नन्दद्वारि व्रजौकसः ।
दृष्ट्वा रथं शातकौम्भं कस्यायमिति चाब्रुवन् ॥४७॥

वाच्यार्थानुपयुक्ता कथा नोच्यत इति उद्धवस्य प्रातःकृत्यं नोक्तम्. तद्दिनसूर्यः भगवत्स्मारक इति गोपिकानामुद्धवस्य च परमपुरुषार्थदायीति सूर्यस्य **भगवत्त्वमुक्तम्**. नन्दस्य राजगृहवद्भिन्न एव व्रज इति तद् **द्वार्येव** रथः स्थापित इति मुख्यतया स्त्रियः, किम्बहुना सर्व एव वृत्तान्तानभिज्ञाः, नन्दादीनां तत्सम्बन्धिनां

दीपिका

भगवत्युदित इत्यस्याभासे **निलीय** इति, नन्दगृह एव वार्ता कुर्वन् रहसि स्थित इत्यर्थः. रथस्तु जिज्ञासाहेतुर्न रात्रौ दृष्ट इति भावः. **गोपिकानामिति**, एतासां परमपुरुषार्थो वियोगस्वरूपात्मकत्वस्फूर्तिरूप इत्यर्थः. उद्धवस्य तु स्पष्ट एव पुरुषार्थः ॥४७॥

विवृतिः

सूर्यस्य भगवत्त्वोक्तिनिरूपणे **तद्दिनसूर्य** इत्यारभ्य **परमपुरुषार्थदायी**-त्यन्तम्. तद्दिन एव गोपिकानामुद्धवदर्शनेन विप्रयोगस्फूर्त्या भगवत्स्मारकत्वात्तथेति भावः. तत्स्मारकत्वेन भगवत्त्वकथनस्यायं भावः— भगवानेव विप्रयोगानुभवार्थं सूर्ये तथात्वं प्रकटीकृतवानित्यर्थः. उद्धवस्य च परमपुरुषार्थात्मकं व्रजवरवल्लभानां दर्शनं कारितवानिति भावः, अत एव परमत्वमिति भावः. एतद्दर्शनस्य पुरुषार्थरूपत्वमग्रे श्रीमदुद्धवैः स्वप्रार्थनया निरूपणीयमत एव ॥४७॥

टीपिका

अन्यथा **भगवत्युदित**[मूल] इति नोक्तं स्यादित्यर्थः. नन्वत्र रात्रौ तासां जिज्ञासापर्यन्तं निलीय भगवान् स्थित इत्युक्तम्, तद्दिने सूर्यस्य भगवत्त्वं च उक्तम्, उद्धवस्य प्रातःकृत्यं वाच्यार्थं नोक्तं, तत्र कोऽभिप्राय इत्याकाङ्क्षायामाह **वाच्यार्थ** इत्यादिना. अत्र **वाच्यार्था कथाऽनुपयुक्ता**ऽतः सा **नोच्यत** इति योज्यम्. **प्रातःकृत्यमिति**, अतो वाच्यार्थरूपम् उद्धवस्य प्रातःकृत्यं नोक्तमित्यर्थः. एतासां तु विप्रयोगे भगवान् परोक्षभजनं करोतीति "मया परोक्षं भजता तिरोहितमि"त्यादिनोक्तं फलप्रकरणे द्रष्टव्यम्. **उद्धवस्य चेति**, उद्धवस्य तद्दिने व्रजरत्नानां दर्शनादिकं कारयिष्यतीति सूर्यस्य परमपुरुषार्थदायित्वं स्पष्टमित्यर्थः. नन्वत्र नन्दस्य द्वारि एवंविधा अनेकरथा आयान्ति, रथाग्रे रक्षका अपि बहवः सन्ति; तानपृष्ट्वा कथमेतावतीं जिज्ञासां कृतवत्य इत्याशङ्क्याह **मुख्यतया** इति. अत्र गोपानां गृहे स्त्रीणां प्राधान्यं लोकप्रसिद्धम्

चायं रथो न भवतीति **शातकौम्भत्वात्** सर्वतः सुवर्णेनालङ्कृतत्वात् **निश्चित्य, कस्यायं रथ इत्यब्रुवन्.** चकाराद्विचारितवन्तः पृष्टवन्तश्च ॥४७॥

ततः कस्यचित्पुरवासिनो राजकीयस्य सम्बन्धी रथ इति निश्चित्य, पूर्वमागतत्वाद् अक्रूर एव लब्धस्वादुः पुनरागतः इति सम्भावनां कृतवन्तः. तदाह **अक्रूर आगतः किं** वेति.

विवृतिः

व्रजस्त्रीव्रजगोपीश-विलासरसनित्यता ।
यथामति विनिर्णीता तेन तुष्यतु मत्प्रभुः ॥१॥
श्रीवल्लभपदाम्भोज-मिलिन्दालकवृन्दकः ।
प्रार्थयामि सदा मेऽस्तु त्वयि भावस्तथाविधः ॥२॥
श्रीविट्ठलपदाम्भोज-मिलिन्दायितचेतसाम् ।
कदा लुठिष्ये मुदिता सततं पादरेणुषु ॥३॥
यद्भावाद्गोपिकाधीशरतिः स्यात्प्रेमसंयुता ।
व्रजस्त्रीपादरेणुस्सः सदा मह्यं प्रसीदतु ॥४॥
इति श्रीगोपिकाधीश-वल्लभाचार्यगुंफिता ।
त्रिचत्वारिंशकाध्याय-विवृतिर्विवृता मया ॥५॥
उद्धवागमनोद्भूतो व्रजनित्यस्थितौ प्रभोः ।
अनेनैव प्रकारेण छेत्तव्यः संशयो बुधैः ॥६॥
आतृणस्तम्बपर्यन्तं श्रुत्युक्ता व्रजनित्यता ।
निर्णीतास्मत्प्राणनाथैर्निश्चिन्ताः स्मो वयं ततः ॥७॥
स्वरूपरसमाधुर्यैः शिशिरीकुरुतेऽनिशम् ।
सव्रजो गोकुलाधीशो मामकं हृदयाम्बुजम् ॥८॥
श्रीवल्लभनन्दनः प्राणेशः प्रभुः सदा जीयात् ।

इति श्रीश्यामलात्मजश्रीव्रजराजकृता भागवतदशमपूर्वार्धराजसप्रकरणान्तर्गत-त्रिचत्वारिंशाध्यायसुबोधिनीविवृतिः सम्पूर्णा ॥

टीपिका

अतः स्त्रीत्वात् कौतुकस्वभावेन रथस्य जिज्ञासां कृतवत्यः. अत एवोक्तं **किं बहुना, सर्वे वृत्तान्तानभिज्ञा**[सुबो.] इति. अन्यथा कुलाङ्गनानामेतावती जिज्ञासा किमर्थं कर्तव्येत्यर्थः. **पृष्टवत्यश्चेति**, गोपिकाः परस्परं पृष्टवत्य इत्यर्थः. एवं बहुविधा जिज्ञासाः कृता इति भावः ॥४७॥

अक्रूर आगतः किं वा यः कंसस्यार्थसाधकः ।
येन नीतो मधुपुरीं कृष्णः कमललोचनः ॥४८॥

प्रायेणाक्रूरेणैवेयं भूर्दृष्टेति **अक्रूर** एवागतः तथापि प्रयोजनाभावात्तस्यागमनं न सम्भवतीति बाधकज्ञानात् सम्भावना. ननु सर्वेषु विद्यमानेषु सुतरां वसुदेवादिषु किमित्यक्रूर एव सम्भाव्यत इत्यत आहुः **यः** पूर्वं **कंसस्य अर्थं** पुरुषार्थं साधितवान्. विपरीतोक्त्या वदन्ति, वस्तुतस्तु परमपुरुषार्थं मोक्षं साधितवानेव. ननु भवतां तस्मिन् कोऽयं दोष इत्याशङ्क्याहुः **येन नीतो मधुपुरीमिति. कृष्णः** फलात्मा **कमललोचनः** फलसाधनमैहिकफलरूपो वा ॥४८॥

तर्हि तादृशस्य कृतकार्यस्य क्लिष्टस्य च कथं पुनरागमनमिति चेत्तत्राह **किं साधयिष्यत** इति.

किं साधयिष्यत्यस्माभिर्भर्तुः प्रेतस्य निष्कृतिम् ।
इति स्त्रीणां वदन्तीनामुद्धवोऽगात्कृताह्निकः ॥४९॥

॥ इति श्रीभागवत-दशमस्कन्धे त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः॥

प्रायेणास्मान् गोपिकाः विशेषाकारेण नेतुमागतः, नीत्वा च **प्रेतस्य** कंसस्य **निष्कृतिं** करिष्यति. स हि स्वार्थं नीत्वा स्वपुरुषार्थमप्यसाध्य अस्मत्पुरुषार्थमपि नाशयित्वा जनैराक्रुष्टः तदपराधपरिहारार्थं कृष्णमत्र प्रेषयितुम् असमर्थः अस्मानेव तत्र नेष्यति. तावता निष्कृतिर्भवति, जनापवादः परिहृत इति. अन्ये तु— मृतस्य कंसस्य दैत्यत्वाद्रुधिरमांसप्रियस्य मांसं दातुं सुतरां नरमांसमस्मान्नयति. तथा च

टीपिका

अक्रूर आगत इत्यत्र. **बाधकज्ञानादि**[सुबो]ति, गोपिकानां बाधकज्ञानाद् वेति सम्भावना इत्यर्थः. ननु युष्माकं श्रीकृष्णः कथं फलात्मको जात इत्याशङ्क्याह **कमललोचन** इति, दीनानुकम्पीत्यर्थः. **फलसाधन** इति, अतः फलसाधनरूपः स्वयमेव जात इत्यर्थः. **ऐहिकफलरूपो वे**ति, कोटिकन्दर्पसुन्दर इति ऐहिकफलरूप इत्यर्थः ॥४८॥

किं साधयिष्यतीत्यत्र. स्वार्थमिति, कंसप्रसन्नतारूपं स्वार्थमित्यर्थः. **जनैराक्रुष्ट** इति, अरे यथा कंसो मृतस्तथा व्रजवासिनां दुःखदोऽयं भगवद्वियोग-कर्ताऽक्रूरः कदा मरिष्यतीति जनैराक्रुष्ट इत्यर्थः. **असमर्थ** इति, पूर्वं तु पितृव्योऽप्यधुना सेवकोऽतः कृष्णमत्र प्रेषयितुमसमर्थः. **निःकृतिरि**ति, तथा कंसस्यापि जना आक्रोशं कुर्वन्ति, तन्न करिष्यन्ति तदा कंसस्य निःकृतिर्भविष्यतीत्यर्थः. **अन्ये त्वि**ति, द्वितीयेऽर्थे केचित् टीकायाम् एवं वदन्ति. **मृतस्य** इत्यादि **भविष्यती**ति, पूर्वं कंसो

सति यथा पूर्वमनोरथो विपरीतो जातः एवमयमपि भविष्यति; ततो भगवान् एनमेव बलिं दास्यति, भ्रान्तोऽयं समागत इति **उपहासमुक्तवन्त —** इत्याहुः. तदेवाह **किं साधयिष्यति** न किञ्चिदिति. इदं **विशेषाकारेण** वचनं स्त्रीणामेवेति वदन् पूर्वभावमुपसंहरति **इति स्त्रीणामिति. वदन्तीनां** सतीनां, क्षणं विलम्बे शापमपि दद्युः. भयादागत इति पक्षं **व्यावर्तयति** **कृताह्निक** इति. प्रातःकाल एव सर्वमाह्निकं कृतवानग्रे महती व्यावृत्तिरिति.

दीपिका

किं साधयिष्यतीत्यत्र **भयादागत** इति, उद्धवत्वादुत्सवरूपत्वेन स्वज्ञापने स्वामिन्यो नान्यथा कथयेयुरिति **निर्भयः कृताह्निकः** समागतः, अन्यथा विलम्बक्षोभदर्शने तासां नोचिते[1] इति भावः ॥४९॥

इति श्रीमन्निजाचार्यतत्सूनुकरुणाबलात् ।

हरिरायेण लिखिता सुखदा दीपिका शुभा ॥

॥ इति श्रीहरिरायविरचिता भ्रमरगीतप्रथमाध्यायसुबोधिन्या दीपिका समाप्ता ॥

लेखः

इति स्त्रीणामित्यत्र **भयादागत** इति, शापभयं प्राप्यैव बिभ्यदेवेत्यर्थः. तथा

टीपिका

मृतः अधुना स्वयं मरिष्यतीत्यर्थः. नन्वेवं को मारयिष्यतीत्याकाङ्क्षायामाह **भगवानि**[सुबो.]त्यादिना. तथा च भगवांस्तु अस्मत्पक्षपातीयः यदाऽस्य पूर्वोक्तमभिप्रायं ज्ञास्यति तदाऽस्मद्रक्षणार्थम् **एनं** मारयित्वा कंसस्य **बलिं दास्यती**त्यर्थः. **भ्रान्तोऽयमिति**, अतो मरणनैकट्यात् सन्निपातो जातः अत एवं विचार्यात्रागत **इत्युपहासमुक्तवत्य इत्याहु**रित्यर्थः. **स्त्रीणामेवे**ति, मुख्यतया पूर्वोक्तानां **स्त्रीणामेव** हर्षाकारे**णेदं वचनमिति** योज्यम्. **पूर्वभाव** इति, **पूर्वभावो** दोषारोप इत्यर्थः. **वदन्तीनां सतीना**मिति, भाषणकाले एवोद्धवः समागत इत्यर्थः. **शापमपि दद्यु**रिति, अस्मद्दुःखदानार्थं यद्यागतो भविष्यति तदाऽस्य भद्रं न भविष्यतीति क्षणं विलम्बे शापमपि दद्युरित्यर्थः. **कृताह्निक** इति, भये सति आह्निकमपि न कुर्यादिति भावः. तर्हि प्रातःकाल एव सर्वमाह्निकं किमर्थं कृतवान्, मध्याह्ने माध्याह्निकं कर्म कुतो न कृतवानित्याशङ्क्याह **अग्रे महती**ति, **अग्रे** गोपिकानां वचनश्रवण-ज्ञानोपदेशरूपा **महती व्यावृत्तिरिति** पश्चान्नावकाश इति भावः. नन्वेवं तर्हि **क्षणं विलम्बे शापमपि दद्युरिति** किमर्थमुक्तमित्याशङ्कायामाह **उद्धवत्वादेव**

१. "अन्यथा विलम्बः क्षोभदर्शने तासां न उचितः" इति टीपिकापाठः.

उद्धवत्वादेव न भयम्. द्वितीयो भगवत्सन्देशः "गोपीनां मद्वियोगाधिमि"ति, सोऽग्रे प्रारम्भणीय इति पूर्वसमाप्तिः ॥४९॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीवल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धपूर्वार्द्धे त्रिचत्वारिंशाध्यायविवरणम् ॥

लेखः

सत्याह्निकमसमाप्यैव समागच्छेदिति भावः. भयाभावे हेतुः **उद्धवत्वा**दिति, उत्सवत्वात्तद्दर्शने प्रसाद एव भवेत् न तु शाप इति भावः ॥४९॥

टीपिका

न भयमित्यादिना. तदेव **उत्सवरूपत्वेने**[दीपि.]त्यादिना **क्षणविलम्बे**ति शङ्काऽभिप्राय उक्तः. तत्र **अन्यथे**ति, **तासां क्षोभदर्शने अन्यथा** कार्यार्थं **विलम्ब** उद्धवस्य **नोचित** इति योज्यम् ॥४९॥

॥ इति श्रीभ्रमरगीतप्रथमाध्यायप्रकीर्णटीपिका समाप्ता ॥

॥ इति त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः ॥

॥ पञ्चमो स्कन्धादितः चतुश्चात्वारिंशोऽध्यायः ॥

चतुश्चत्वारिंशेऽध्याये गोपीनां ज्ञानदेशतः ।
निरोधं सम्यगेवाह पूर्वस्माच्च विशेषतः ॥(१)॥

श्रीमद्विठ्ठलेश्वरप्रकटिता भ्रमरगीताध्यायटिप्पणी

। श्रीकृष्णः शरणं मम ।

विविधापराधकूटक्षमाक्षमांस्तातचरणयुगरेणून् ।
नत्वा तत्तात्पर्यं प्रकटीकुर्मो यथाशक्ति ॥१॥
तत्पादरजसागत्य यादृग्भावः कृतो मम ।
तादृशेनैव तद्भावं वर्णयाम्यवशः क्वचित् ॥२॥

ननु व्रजसीमन्तिनीनां "ता मन्मनस्का"इत्यादिवाक्यैः प्रभुणा स्तुतानां ज्ञानोपदेशो निरोधविरोधी, तयोः सहानवस्थाननियमात्. एवं सत्यस्याध्यायस्यैतत्स्कन्धाप्रवेशश्च स्यात्. "तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिहे"ति भगवद्वाक्यादत्युच्चावस्थां प्रापितानां नीचावस्थाप्रापणमयुक्तं चेत्याशङ्कानिरासमध्यायार्थोक्त्यैव कुर्वन्ति **चतुश्चत्वारिंशेध्याय** इति. अस्मि**न्नध्याये निरोधमेवाहे**ति सम्बन्धः. उद्देश्यत्वेन ज्ञानोक्तिव्यवच्छेदा**यैव**कारः. "तं वीक्ष्ये" त्युपक्रमेण "भक्त्युद्रेकं व्रजौकसामि"त्युपसंहारेण च स्नेहस्यैवोक्तिः **सम्यक्त्वम्**. पूर्वमहर्निशं पूर्णो भगवद्भावो निरूपितः, अधुना तु यथा प्रियेण समं स्वसम्बन्धव्यवच्छेदकोपस्थितावात्यतिशयोऽनिर्वचनीयो भवति लौकिकानामपि तथा तादृग्ज्ञानोपदेशश्रवणेनातितप्ततैलपतित-जलबिन्दुसदृशेनात्युत्कटभावो वर्ण्यत इति पूर्वस्माद्विशेषः (१).

टीपिका

अथ श्रीभ्रमरगीतसुबोधिन्यादिषु क्वचित् क्वचिद् बोधसौकर्यार्थं प्रकीर्णटीपिका लिख्यते. तत्र टिप्पण्यां कारिकायां **तत्पादरजसागत्ये**ति, तस्य चरणरेणुना आगत्येत्यर्थः. अत्र **रजसे**ति कर्तरि तृतीया ज्ञेया. सुबोधिनीकारिकार्थलिखने टिप्पण्याम् **उद्देश्यत्वेने**ति ग्रामं गच्छंस्तृणं स्पृशन्निति न्यायस्यार्थः. **यथा** ग्रामे गमनमुद्देश्यत्वेन मुख्यं कार्यं तथा तृणस्पर्शनं नोद्देश्यत्वेन मुख्यं कार्यं किन्त्ववान्तरकार्यमित्यर्थः. **गोपीनां ज्ञानदेशत**[सुबो] **इत्युद्देश्यत्वेन** निरोधसिद्ध्यर्थं गोपीनां या **ज्ञानो**पदेशो**क्तिस्तद्व्यवच्छेदार्थम् एवकार** इत्यर्थः. तर्हि आचार्यै**श्चतुश्च**-

याते कृष्णे लोकरीत्या नैकट्याभावतः स्फुटम् ।
न निरुद्धा इति प्रायः सर्वेषां च भवेन्मतिः ॥(२)॥
सेवकेनोपदेशेन प्रीत्या चैव निरोधतः ।
ज्ञानेनापि निरुद्धास्ता आत्मत्वेनैव सर्वथा ॥(३)॥

टिप्पणी

ननूपदेशस्य न भावजनकत्वं किन्तु स्थितस्यैव प्राकट्ये हेतुत्वम्; एवं सत्येतदुक्तिर्व्यर्थेत्यत आहुः **याते कृष्ण** इति, अन्यथेति शेषः. हृदि सर्वदा प्राकट्यान्नैकट्याभावो बाधित इत्यत उक्तं **लोकरीत्ये**ति. देहलीदीपवल्**लोकरीत्ये**त्युभयत्र सम्बध्यते. तथा सति **लोकरीत्यैव याते**, वस्तुतस्तु व्रज एव सदा प्रकट इत्यर्थः. लोकवन्नैकट्याभावः पूर्वमपीति **स्फुटमि**त्युक्तम्. यद्येतत्कथनं न स्यात्तदा बहिः प्राकट्याभावेऽपि कालक्षेपदर्शनात् **सर्वेषां** भक्तानां तथा मतिः स्यात्, तदभावार्थमेतत्कथनमावश्यकमित्यर्थः (२).

ननु ज्ञानोपदेशश्रवणेनापि सा मतिर्भविष्यत्येवेत्यत आहुः **सेवकेने**ति. **ता** उक्तप्रकारैर्**निरुद्धा** एव, तत्र हेतवः **सेवकेने**त्यादिनोच्यन्ते. यदि ज्ञानमार्गे प्रवेशयेद्, ज्ञान-

टीपिका

त्वारिंशेति कारिकायामुक्ता या ज्ञानोपदेशोक्तिः सा ज्ञानमार्गीया तद्भिन्ना वेत्याशङ्कायां तद्भिन्नैवेति "भवतीनां वियोगो मे"इत्यत्र टिप्पण्याम् "**अत्रेदं** प्रतिभाती"त्यादिना विशदीकृता द्रष्टव्या. वस्तुतस्तु प्रत्यक्षदर्शनाभिकाङ्क्षिणीनामेतासां सापि ज्ञानोक्तिर्नाभिप्रेता. एतत्सर्व"मेवं प्रियतमादिष्टमि"ति श्लोकस्य टिप्पण्या "मेतासां त्वधुनैवे"त्यादिना विवृतम्. **तादृग्ज्ञानोपदेशे**[टिप्प.]ति "भवतीनां वियोगो मे न ह्री"त्यादिश्लोकोक्तज्ञानोपदेश इत्यर्थः. **एतदुक्तिरि**ति ज्ञानोपदेशोक्तिः (१).

याते कृष्ण[सुबो.]इत्यत्र. **अन्यथे**[टिप्प.]ति, ज्ञानोपदेशं विना न निरुद्धा इति प्रायः सर्वेषां मतिर्भवेदिति योज्यम्. **पूर्वमपी**ति, **पूर्वं** गोचारणादिगमनेष्वपि **लोकवन्नैकट्याभावो** न तु वस्तुत इति युगलगीते 'रेमिरेऽहस्सु तच्चित्ता'इत्यत्र **स्फुटमुक्तमिति. एतदि**ति वियोगाभावकथनम्. **तथा मतिरि**ति, न निरुद्धा इति मतिः स्यात्. **एतत्कथनमि**ति ज्ञानोपदेशकथनम् (२).

सा मतिरिति, एता न निरुद्धा इति मतिर्भक्तानां भविष्यत्येवेति. **सेवकेने**[सुबो.]त्यत्र. **ज्ञानमार्गीयेणे**[टिप्प.]ति, सनकाद्यादिभिरित्यर्थः.

वस्तुनो निश्चयः पूर्वमुपालम्भस्तथैव च ।
व्याजोक्त्या दोषगणना निर्दोषो वर्ण्यते पुरा ॥(४)॥
अन्यथा ज्ञानसन्देशो व्यर्थः स्यादिति निश्चयः ।

टिप्पणी

मार्गीयेणैवोपदेशं कारयेत्; **सेवकेन** कृत्वोपदेशं यत्कारितवांस्तेन भक्तिमार्ग एव प्रवेशोऽभिमतो, नेतरस्मिन्नित्यर्थः. किञ्च एताः पूर्वं प्रयोजनवशान्न निरुद्धाः, तथा सति प्रयोजने जाते निरोधो गच्छेत्, किन्तु "शुद्धभावप्रसादितः प्रीतः प्रोवाच सस्मितम्", "माऽसूयितुं नार्हथ तत्प्रियं प्रियाः", "न पारयेहमि"त्यादिवाक्यैः भगवतो व्रजसीमन्तिनीविषयिणी या **प्रीतिस्तयैव ता निरुद्धाः**, अतः कथमन्यथा कुर्यात्? अतो **ज्ञानेन** उपदेशजनितज्ञानेनापीत्यर्थः. तत्र प्रकारमाहुः **आत्मत्वेने**ति. नहि स्वात्मनः स्वेन समं वियोगः स्वविस्मृतिः स्वाहिताचरणं वा संभवत्यतस्तथाभूतासु किं समाधेयमस्तीति स्वस्मिन्नसाधारणनिरुपधिस्नेहं प्रियस्य ज्ञातवत्य **इति** पूर्वस्मादतिविलक्षणः स्नेहभाव उत्पन्नः. अत एव मूले 'प्रियतम'पदमुक्त"**मेवं** प्रियतमादिष्टमि"ति. अथवा **सेवकेने**त्यादिना भगवतः कायवाङ्मनोभिरेतन्निरोध उच्यते. सेवकः कायरूपः, उपदेशो वाग्रूपः, प्रीतिर्मानसी, अत **उपदेशजेनात्मत्वेन ज्ञानेनापि** प्रियस्वरूपपरत्वमेवासाम्, न तु ज्ञानिनामिव स्वास्थ्यम्, अन्यथा "कृष्णावेशात्मविक्लवमि"ति न वदेत्. तथा चैतावत्पर्यन्तं स्वसत्ताज्ञानमपि स्थितम्, अतः परं तु **तामपि न** ज्ञास्यन्तीति पूर्वस्मादधिको निरोधः सेत्स्यतीत्यर्थः. अत एव **सर्वथे**तिपदम् (३).

एवं भक्तिमार्गविरोधं परिहृत्य ज्ञानोपदेशस्यावश्यकतामाहुः **वस्तुन** इति. "विज्ञाय संदेशहरमि"तिवाक्यात् स्वार्थमेवागत इति निश्चयेन मानोत्पत्तिरिति निश्चयस्यापि दोषत्वम्, भगवदीयत्वनिश्चयाभाव उपालम्भासंभवादिति **भावः**.

चतुश्चत्वारिंशाध्यायविवरणे स्वामिनीभावेषु **दोष**शब्दप्रयोगस्यायमाशयः. लोके ह्यन्त्यावस्थाहेतुर्दोषो भवति, विरहभावस्य च तथात्वं प्रसिद्धमेव. यथातिप्रचुरे

टीपिका

कथमन्यथे[टिप्प.]ति, यद्भक्तानां प्रीतिविरोधिज्ञानोपदेशकथनमन्यथाकरणं तत्कथं कुर्यात् कारयेद्वा ? **उपदेशे**ति, "भवतीनां वियोगो मे न ही"ति ज्ञानोपदेशजनित इत्यर्थः. **तत्रे**ति ज्ञानोपदेशे. **तथाभूतास्विति** ममात्मभूतासु. **ज्ञातवत्य** इति एवं ज्ञानोपदेशेन ज्ञातवत्यः. **आत्मत्वेन ज्ञानेनेति,** स्वस्मिन्भगवदात्मस्वरूपज्ञानेनेत्यर्थः (३).

टिप्पणी

दोषे तीक्ष्णौषधदानं विषमाशीविषदंशश्च कार्यते मर्मस्थानेषु, तेन बहिःसंवेदनं तत्कालीनमरणनिवृत्तिश्च, ततो विविधरसैः शनैः शनैः सर्वात्मना दोषापगमे स्वाभाविकजीवनहेत्वन्नदानम्, तेन च सर्वात्मना स्वास्थ्यम्, तथात्राप्यत्यन्तप्राण-बाधायां हि प्रिये दोषारोपः, स चाचिरादेवान्त्यावस्थाज्ञापको भवति, अतस्तं दृष्ट्वा तन्निवृत्त्यर्थमेवोक्तरूपसदृशोपदेशं दत्वा स्वयं प्रियभिषजा प्रेषित इत्युद्धवस्तादृशं तं दत्तवान्. तदा बाह्यानुसन्धानमभूत्. अत एव "तत्संदेशागतस्मृतीरि"तिवचनं "ततस्ताः कृष्णसंदेशैर्व्यपेतविरहज्वरा"इति 'ज्वर'पदप्रयोगश्च. भगवतोऽत्रैव तात्पर्यमित्येतदेव फलत्वेनानूद्यते, न तु ज्ञानमार्गीयं ज्ञानम्, अन्यथान्ते "कृष्णावेशा-त्मविक्लवमि"ति न वदेत्. तर्हि ज्ञानोपदेशस्य क्वोपयोग इति चेद्, उच्यते— यथा योगिनो वपुर्योगसंस्कारसंस्कृतं सन्नग्न्याद्युपहतं भवति तथा "भगवानात्मे"ति महापुरुषोपदेशेन ज्ञानाख्यसंस्कारे संपन्ने विरहेऽन्त्यावस्था भवितुं न शक्नोतीति तत्रैवोपयोग इति. अत्रागतस्मृतित्वे विरहज्वरराहित्ये च हेतुः संदेशे प्रियसम्बन्धित्व-ज्ञानमेव, न तु शास्त्रार्थोऽयमिति ज्ञानम्, अन्य'थोपदेश'पदमेव वदेदुभयत्र न तु 'संदेश'पदम्. किञ्च ज्ञानोपदेशलक्षणसंदेशो ह्युक्तरूप एव. तत्रोपक्रमे "श्रूयतां प्रियसंदेश" इति संदेश एकत्वमेवोक्तम्, "कृष्णसंदेशैरि"ति बहुत्वं पश्चादुच्यते. एवं च सति ज्ञानोपदेशस्य स्मृतावुपयोगो विविधान्तरङ्गवार्तानां तज्ज्वरापगम इति

टीपिका

वस्तुन[सुबो.]इत्यत्र. **तथात्वमि**[टिप्प.]ति अन्त्यावस्थात्वम्. **दंशश्चे**ति, तदुक्तं "दंशनं वृश्चिकैः सर्पैः सन्निपाते सुदारुणे"इति. **तेनातितीक्ष्णौषधदानं विषमाशीविषदंशश्च** "भवतीनां वियोगो मे" इत्यादिना ज्ञानोपदेशेन **बहिःसंवेदनमि**ति. **ततो विविधरसै**रिति, "ततस्ताः कृष्णसन्देशैरि"ति विविधसन्देशैर्विविधरसैः. **अन्नदानमि**ति, अग्रे "कृष्णलीलाकथा गायन्ति"ति कृष्णलीलाकथागानरूपस्वा-भाविकमन्नदानमिति. **तमि**ति, पूर्वमेव तं दोषं दृष्ट्वा इत्यर्थः. **उक्तरूपे**ति, अतितीक्ष्णौषधादिरूप इत्यर्थः. **अत्रैवे**ति ज्वरनिवृत्त्यर्थम्. **अनूद्यत** इति, "व्यपेतविरहज्वरा" इत्यनूद्यते. **महापुरुषे**ति उद्धव इत्यर्थः. **उभयत्रे**ति, "श्रूयतां प्रियसन्देश" इति "तत्सन्देशागतस्मृतीरि"ति चोभयत्र. **उक्तरूप** इति, आगत-स्मृतिरूप एव. **ज्ञानोपदेशे**ति, "भवतीनां वियोग"इत्युपदेशलक्षणसन्देशेन. **तत्रोपक्रमे** इति, "श्रूयतां प्रियसन्देश" इत्युपक्रम्य "भवतीनां सुखावह"इत्युक्त्वा

टिप्पणी

मन्तव्यम्. अत एव भगवतापि "मत्संदेशैरि"ति बहुत्वमुक्तं संदेशेषु. विप्रयोगे प्रियसंदेशस्यापि तत्तुल्यत्वभानेन तदा स्वास्थ्यस्य रसशास्त्रसिद्धत्वादपि. अपरञ्च स्मृतिर्हि पूर्वानुभूतस्य, पूर्वमनुभवश्च निर्दोषपूर्णगुणस्य भगवतः; मध्ये विरह-स्वाभाव्याद्दोषारोपक्षणे व्यभिचारिभावे जाते यथा पैत्तिकादिज्वरभरेण दोषवशात् प्रलापे सत्यञ्जनादिना प्रकृत्यनुसंधानेन प्रलापनिवृत्तिः, न तु ज्वरस्यापि, तथोपदेश-संदेशेन विरहभरनिवृत्त्या पूर्वोक्तव्यभिचारिभावनिवृत्तिः, न तु विरहस्यापीति. अत्र वयं त्वेवं मन्महे— पूर्वमुपक्रमे दुःखमेवोक्तम्, तत उपदेशः. तदनन्तरमपि "हे नाथे"त्यन्तेन ग्रन्थेन क्लेशो निरूपितः. ततो विविधसंदेशैर्विरहतापनिवृत्तिर्भगवत्या-त्मत्वेन ज्ञानं चोक्तम्. ततोऽन्ते "दृष्ट्वा स्त्रीणां भगवति कृष्णावेशात्मविक्लवमि"ति सर्वदानुवर्तमानः क्लेश उक्तः. एवं सत्युपक्रमोपसंहाराभ्यां विरहभाव एव दृढो निरूपितो भवति. मध्ये यद् "ज्ञात्वात्मानमधोक्षजमि"त्युक्तं, तत्तु "असावहं","कृष्णोऽहं पश्यत गतिमि"तिवत्कादाचित्क एव भाव उक्त इत्युपसंहारानुरोधान्मन्तव्यम्.

नन्वेवं सत्युद्धवप्रेषणं किंप्रयोजनकम्, उक्तभावस्य सार्वदिकत्वादिति चेद्, अत्राप्युच्यते— उद्धवे हि प्रभोः परमा कृपा, अतः पूर्णो भगवद्भावो यादृशोऽस्ति तादृशोऽत्र देयः. स च व्रजसुन्दरीष्वेव सिद्धः पुंव्यक्तावसंभावितश्च, अतो मद्भाव एतादृश इत्युद्धवाय प्रदर्शनमेकं प्रयोजनम्. ततस्तद्दर्शनेन सततं तद्भावनया प्रियसंदेशहारकत्वेन तासामत्यनुग्रहेण चोद्धवेऽपि तज्जातीयभावोत्पत्त्यर्थमिति द्वितीयं प्रयोजनम्. विप्रयोगे प्रियसंदेशागमनेन यः कश्चन संतोषः स नान्यदा नान्यथा चेति तृतीयम्. "मद्वियोगाधिमि"ति वचनान्मध्ये मध्ये यदैव प्रियेणैवमेवं संदेशः प्रेषित आसीदिति स्मरिष्यन्ति तदा च पूर्वविलक्षणो भावो भविष्यतीति तुरीयम्. ज्ञानाद्भक्तिरधिका यतस्तदुपदेशेऽपि भक्त्यैव तदुपमर्दो, न तु तेन भक्तेरिति निदर्शनार्थमपीति पञ्चमम्. अत एवैकादशे भगवद्वचनं "न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिहे"ति. पित्रोः प्रीतिजननमुक्तमेव. भगवतः स्वामिनीनां चान्योन्यसंदेशैरन्योन्यं ये भावा जायन्ते तेऽनन्ता एवेत्यनन्तान्येव प्रयोजनानीति दिक् (४ $\frac{१}{२}$).

टीपिका

तत्पूर्वं दुःखमनुक्तसिद्धमेवेति ज्ञेयम्. **अत एवे**ति, ज्ञानाद्भक्तेरधिकत्वादेव. **उक्तमेवे**ति, प्रयोजनमुक्तमेव (४ $\frac{१}{२}$).

बीजं भक्तिस्ततः स्तोत्रमुपदेशस्तथैव च ॥(५)॥
ततो दोषनिवृत्त्या च पूर्वस्नेहो निरूप्यते ।
ज्ञानस्य च फलं चैव कृतार्थत्वं ततस्तथा ॥(६)॥
सप्तधा विनिरुद्धास्ता गुणैर्भगवतापि च ॥

तत्र प्रथममुपालम्भ्यत्वेन उद्धव इति निर्द्धारं कृतवत्य इत्याह **तं वीक्ष्येति** त्रिभिः—

आकृतिर्निश्चयश्चैव चेष्टया तु विशेषतः ।
स्वार्थमेव ततो ज्ञात्वा मानाद्दोषद्वयं ततः ॥(७)॥

टिप्पणी

प्रकरणार्थानाहुः **बीजमिति**. वक्ष्यमाणस्तोत्रादौ **बीजं** स्नेहः, स पूर्वं निरूप्यते. स्तोत्रोपदेशयोरनन्तरं दोषस्य प्रिये दोषारोपस्य मानस्य च निवृत्तिः, तया **च पूर्वस्नेहोक्तिः**. ततो **ज्ञानस्य फलं** प्रिये निर्दोषपूर्णगुणत्वज्ञानं स्वस्मिन्नल्पत्वज्ञानं च, तत उद्धववाक्यैः **कृतार्थत्वम्** (५-६).

मानाद्दोषद्वयमिति, उपालम्भो भ्रमरव्याजोक्त्या दोषोक्तिश्चेति द्वयम् (७).

लेखः

चतुश्चत्वारिंशे कारिकासु **बीजं भक्तिरिति**. त्रिदोषकथनानन्तरम् अग्रिमस्तोत्रादिभावे **बीजरूपः स्नेहः** "अथोद्धवो निशम्यैवमि"ति श्लोकेनैकेन निरूपितः. **ततः स्तोत्रं** षड्भिः, **उपदेशो** दशभिः, **दोषनिवृत्तिरेकेन**, **पूर्वस्नेह**श्चतुर्दशभिः, ततो **ज्ञानफलमेकेन**, **कृतार्थत्वं** शिष्टैरिति विभागः (५-६).

टीपिका

बीजमित्यत्र. शिष्टैरिती[लेख]ति, तत उद्धववाक्यैः कृतार्थत्वमुक्तम्. तदुद्धववाक्यानि यद्यपि "एताः परम्" इत्यादिषट्श्लोकप्रसिद्धानि तथापि तदुद्धववाक्यात्पूर्व-"मुवासे"त्यादिश्लोकचतुष्टये शुकवाक्येऽपि "कृष्णलीलाकथा गायन्" "कृष्णस्य वार्तये"त्युक्त्या उद्धववाक्यैरेव कृतार्थत्वं ज्ञेयम्. अग्रेऽपि "अथ गोपीरनुज्ञाप्ये"त्यारभ्य "कृष्णाय प्रणिपत्याहे"त्यन्तमपि शुकवाक्ये व्रजवासिनां सर्वेषामुद्धववाक्यैः कृतार्थत्वमुक्तमिति प्रतिभाति. अतोऽत्रापि **शिष्टैरित्युक्तम्** (५-६).

॥ श्रीशुक उवाच ॥

तं वीक्ष्य कृष्णानुचरं व्रजस्त्रियः
प्रलम्बबाहुं नवकञ्जलोचनम् ॥
पीताम्बरं पुष्करमालिनं लसन्-
मुखारविन्दं मणिमृष्टकुण्डलम् ॥१॥

तत्र प्रथमं मानार्थं भगवत्सारूप्यमुद्धवे गोपिकाभिर्दृष्टं वर्णयति. **तमुद्धवम्** आकृत्या **कृष्णानुचरो**ऽयमिति **वीक्ष्य.** अथवा "नहि महतां चेतोऽधर्मे पतती"तिवत् तस्य दर्शने शङ्कां वारयितुं **कृष्णानुचरमि**त्युक्तम्. वस्तुत एव भगवत अनुचरः तथापि महान्तं भूषितं दृष्ट्वा लज्जिता भवन्ति स्त्रियः; कथमयं दृष्ट इत्याशङ्क्याह **व्रजस्त्रिय** इति. [1](नागरीणामयं स्वभावो नान्यासाम्. वस्तुतस्तु "तस्मान्मच्छरणमि"तिवाक्यात्केवलभगवदीयो व्रजस्तत्स्त्रीत्वेनैतास्तादृश्यः; अयं निर्दोषानन्दरूपस्य तस्यैवानुचरस्तेन मिथो दर्शनमावश्यकं निर्दोषतमं चेति भावः). भगवत्सारूप्यत्वाय वर्णयति **प्रलम्बबाहुमि**त्यादिषड्भिः पदैः भगवत्त्वाय. स्त्रीणां हि कामप्राधान्यात्तदुपयोगिषड्गुणा वक्तव्याः. **प्रकर्षेण लम्बौ बाहू** यस्य; स्मारकत्वेनास्यावयवा उपयुज्यन्ते, क्रियाशक्तिः परिरम्भोपयोगश्च सूचितः.

टीपिका

तं वीक्ष्य कृष्णानुचरमित्यत्र. **कृष्णानुचरमि**त्यस्यार्थान्तरमाहुः **अथवा न ही**[सुबो.]त्यादीना. यथा **महतां चेतः अधर्मे न पततीतिवद्** गोपिकानां चेतः अधर्मे न पततीत्यर्थः. **तस्ये**ति, उद्धवस्य गोपिकाकर्तृक**दर्शने** शङ्कां वारयितुं **कृष्णानुचरमित्युक्त**मित्यर्थः. **तादृश्य** इति भगवदीयाः. **निर्दोषानन्दरूपस्ये**ति **कृष्ण**पदस्यार्थो ज्ञेयः. **षड्भिरि**ति, एवं प्रथमपदे भगवदीयोऽयमिति ज्ञात्वा तस्मिन् भगवत्सारूप्यं दृष्ट्वा तद्वर्णयितुं पदत्रयस्याभासमवतारयन्ति **भगवत्त्वाये**त्यारभ्य **वक्तव्या** इत्यन्तेन. तत्रैवमन्वयः कर्तव्यः— **भगवत्त्वाये**ति उद्धवस्य भगवत्त्वायेत्यर्थः. **स्त्रीणां हि कामप्राधान्यात्तदुपयोगिनः षड्गुणा वक्तव्या** इति **प्रलम्बबाहुमित्यादिषड्भिः पदैः भगवत्सारूप्याय** उद्धवं **वर्णय**तीति योज्यम्. ननूद्धवस्य स्वरूपवर्णने गोपिकानां क उपयोग इत्याशङ्क्याह **स्मारकत्वेने**ति, भगवत्स्वरूपस्मारकत्वेन तस्यावयवा उपयुज्यन्ते इत्यर्थः. **क्रियाशक्तिरि**ति, प्रलम्बबाहुत्वोक्त्या वीर्यरूपगुणातिशयः **सूचित** इत्यर्थः. **परिरम्भोपयोगश्चे**ति,

---

१. () एतच्चिह्नान्तर्गतं श्रीमत्प्रभूणाम्.

नवकमल**वल्लोचने** यस्येति सर्वतापहारिका ज्ञानशक्तिः कामोद्बोधिका च **निरूपिता.** एवं क्रियाज्ञानशक्ती निरूप्य मायाशक्तिं निरूपयति, अनावृतो रसो न भवतीति, **पीतमम्बरं** यस्य. स वर्णो नीले अधिकां शोभामुत्पादयतीति सर्वत्रैव तद्वर्णनम्. **पुष्करमालिनं** कमलमालायुक्तम्; कीर्तिमत्त्वमुक्तम्. **लसन्मुखारविन्दं** यस्य, श्रीर्निरूपिता. **मणिभिर्मृष्टे** उज्ज्वले **कुण्डले** यस्येति वैराग्यमिव शास्त्रीयकान्तिः सर्वाभरणीकृता निरूपिता ॥१॥

लेखः

प्रलम्बबाहुमित्यादि विशेषणैस्त्वैश्वर्यज्ञानवीर्ययशःश्रीवैराग्यानीति क्रमः; मायासामर्थ्यं वीर्यमिति भावः ॥१॥

प्रकाशः

चतुश्चत्वारिंशाध्याये **तं वीक्ष्ये**त्यत्र. ननु प्रलम्बबाह्वादिमानन्योऽपि भवति, पीताम्बरस्तु भगवानेव इति कथमत्र तथा निरूपणमत्राहुः **स वर्ण** इत्यादि. न तु भगवदीयमिदमिति भावः ॥१॥

टीपिका

स्त्रीणां हि कामप्राधान्यात्तदुपयोगिनो गुणा अपि सूचिता इत्यर्थः. **सर्वतापहारिका ज्ञानशक्ती**ति, ज्ञानिनां सर्वतापहारको द्वितीयो ज्ञानगुणो निरूपितः, **स्त्रीणां** सर्वतापहारिका ज्ञानशक्तिः कामोद्बोधिका च **नवकञ्जलोचने**त्युक्त्या निरूपिता इत्यर्थः. **एवं क्रियाज्ञानशक्ती निरूप्ये**ति भगवतो वीर्यज्ञानगुणौ निरूप्येत्यर्थः. **मायाशक्तिमि**ति ऐश्वर्यगुणं निरूपयतीत्यर्थः. भगवतो मायाशक्तिरेव ऐश्वर्यं, तत्पीताम्बरे प्रसिद्धमित्यर्थः. तत्र स्त्रीणां कामोद्बोधकं गुणमाह **अनावृते**त्यादिना. तत्र "गुप्तो हि रसो रसतामापद्यते" इति प्रमाणं चेत्यर्थः. **सर्वत्रैवे**ति, अन्यत्रापि यत्र नीलवर्णस्तत्र पीताम्बरेण शोभावर्णनमतो न केवले भगवत्येव पीताम्बरवर्णने नियमोऽस्ति. द्वितीयश्लोके **कुतश्चे**त्यस्यार्थकथने उद्धवस्य भगवदाकृतिस्वभावोक्त्या नीलवर्णो ज्ञायते अतः पीताम्बरत्वोक्त्यापि न शङ्केति ज्ञेयम्. **कीर्तिमत्त्वमुक्तमि**ति. ननु कीर्तेः स्त्रीणां कामोपयोगित्वं कथमित्याशङ्कापरिहाराय युगलगीते "मदविघूर्णित"इत्यत्र 'वनमाली'ति पदस्यार्थकथने टिप्पण्यां "यद्यपी"त्यारभ्य "इत्याशयेनोक्तमि"त्यन्तेनोक्तं द्रष्टव्यम्. तेन भगवतः कीर्तिमत्त्वं स्त्रीणां कामोपयोगित्वमित्यर्थः. **श्रीर्निरूपिता** इति, "वीक्ष्यालकावृतमुखमि"त्यत्र "मुखश्रीर्वीक्ष्य दास्यो भवाम" इत्यत्रोक्ता स्त्रीणां कामोपयोगिनी द्रष्टव्या. एवं कीर्तिः

एवं स्वरूपं वर्णयित्वा भगवत्सेवकोऽयमिति ज्ञातवत्य इत्याह **शुचिस्मित** इति.

शुचिस्मितः कोऽयमपीच्यदर्शनः
कुतश्च कस्याच्युतवेशभूषणः ।
इति स्म सर्वाः परिवव्रुरुत्सुका-
स्तमुत्तमश्लोकपदाम्बुजाश्रयम् ॥२॥

शुद्धं व्याजलोभाद्यनुपहतं[1] **स्मितं** यस्य; नैतादृशो गोकुले दृष्टो अक्रूरो वा अतः **कोऽयमि**ति जिज्ञासा. स्वमध्य एव कश्चिदुत्प्रेक्षकश्चेत् महान् भवेत् वदत्विति कथयन्त्य इवाहुः. किञ्च विरुद्धोऽस्मिन् धर्मो दृश्यते— स्वरूपतोऽयं निष्कामः एतस्य च **दर्शनमपीच्यं** स्त्रीणां प्रियम्. अतो विरुद्धधर्माश्रयत्वाद् भगवदीयो भवितुमर्हति. किञ्च न केवलमाकृतिस्वभावावेव भगवतः किन्तु **वेशः** पीताम्बरादिः **भूषणानि** च भगवत एव, न तु भगवत इव. **कुतश्चे**ति; उपमायां तु नाश्चर्यं, स्वाभरणानि परिधाप्य किं भगवान् प्रेषितवान् आहोस्वित् तद्रसाभिनयार्थं नटवत् समागतः आहोस्विद्भगवानेव रूपान्तरं कृत्वा समागत इति बहूनां हेतूनां विद्यमानत्वात् **कुत** इति विशेषजिज्ञासा युक्ता. किञ्च **कस्यायं** पुत्रः पौत्रो वा? सम्बन्धज्ञाने हि सविशेषा प्रीतिर्भवतीति जिज्ञासार्थमेव. **स्मे**ति प्रसिद्धे, **सर्वा** एव **परिवव्रुः**. ननु तासां किं प्रयोजनं तत्राह **उत्सुका** इति, औत्सुक्यस्वभावादेव कृष्णस्मारक इति कृष्णौत्सुक्याच्च तं परितो वेष्टयामासुः. ननु भगवति[2] स्त्रियस्ता रक्षिताः, रक्षकाश्च

टीपिका

श्रीर्गुणावुक्त्वा भगवतो वैराग्यगुणमुद्धवे आह **वैराग्यमिवे**ति. यथा वैराग्ये सति शास्त्रीयकान्तिरुज्ज्वला सर्वाङ्गे भवति तथा **कुण्डले** इत्युपलक्षणेन मणिभिर्मृष्टा सर्वाभरणकृता कान्तिरुद्धवे वैराग्यमिव निरूपिता. एवं "मदन्यं ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपी"ति वाक्याद् यथा भक्तानां भगवदतिरिक्तेषु वैराग्यमुक्तं तथा भगवतोऽपि भक्तातिरिक्तेषु वैराग्यमुक्तम्. तेन भगवतो वैराग्योक्त्या गोपिकानां कामोपयोगी गुणो भगवति सूचित इति भावः ॥१॥

शुचिस्मित इत्यत्र. **व्याजलोभाद्यनुपहतमि**[सुबो]ति— अन्तर्लोभो बहिर्भगवदानन्दाविर्भावमिषेण स्मितम् अशुचिस्मितं, तद्रहितं शुचिस्मितमित्यर्थः. **रक्षकाश्चे**ति, भगवदीयानां मनांसि कस्मिन्नपि काले नान्यत्र गच्छन्तीति कालादीनां

---

१. अनुपहितम् इति स. २. भगवत्स्त्रियः इति पाठः.

कालादयः, ततो रक्षकेषु विद्यमानेषु कथं गता इत्याशङ्क्याह **उत्तमश्लोकस्य पदाम्बुजमेवाश्रित्य** तिष्ठतीति, भगवच्चरणसेवकः भक्तिमार्गानुसारी तत्रापि शास्त्रीय इत्यर्थः ॥२॥

एवं निष्प्रत्यूहं सन्दिग्धा एव तं वेष्टितवत्यः. ततो विशेषज्ञानं जातमित्याह **तं प्रश्रयेणेति.**

तं प्रश्रयेणावनताः सुसत्कृतं
सव्रीडहासेक्षणसूनृतादिभिः ।
रहस्यपृच्छन्नुपविष्टमासने
विज्ञाय सन्देशहरं रमापतेः ॥३॥

टीपिका

रक्षकत्वमिति. **कथं गता** इति, उद्धवस्याग्रे गत्वा कथं वेष्टनं कृतवत्यः? **भगवच्चरणसेवकः भक्तिमार्गानुसारी**ति. **ननूत्तमश्लोकपदाम्बुजाश्रयमे**-तस्यार्थकथने **भगवच्चरणसेवक** इतिकथनेन चारितार्थ्येऽपि पुनरपि **भक्तिमार्गानुसारी तत्रापि शास्त्रीय** इति पदद्वयकथने कोऽभिप्राय इत्याकाङ्क्षायाम् उद्धवसमीपं गत्वा कथं वेष्टनं कृतवत्य इत्याशङ्का नापैति इति तदर्थं पदद्वयमिति ज्ञेयम्. तत्र **भक्तिमार्गानुसारी**ति **पदाम्बुजाश्रयमे**तस्यार्थो ज्ञेयः. **तत्रापि शास्त्रीय** इति **उत्तमश्लोक** इत्यस्यार्थः. अत्रायमाशयः— पूर्वं **भगवच्चरणसेवक** इत्युक्तम्. तत्र कपिलदेवस्य वाक्ये ''भक्तियोगो बहुविधो मार्गैर्भामिनि भाव्यते, स्वभावगुणमार्गेण पुंसां भावो विभिद्यत'' इत्यारभ्य ''अभिसन्धाय यद् हिंसामि''त्यादिषु स्वभावगुणमार्गेण भक्तानां तामसादिभावभेदा उक्ताः. अयमपि तादृशो भविष्यतीति शङ्कापरिहाराय **भक्तिमार्गानुसारी**त्युक्तम्. तदपि तत्रैवोक्तं ''मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधावि''ति. तत्रापि ''यत्पादपङ्कजपरागनिषेवतृप्ता योगप्रभावविधुताखिलकर्मबन्धाः स्वैरं चरन्ति मुनयोपि न नह्यमानास्तस्येच्छयात्तवपुषः कुत एव बन्ध'' इति भक्तिमार्गानुसारिष्वपि स्वैराचरणमाशङ्क्य परिहरन्ति **तत्रापि शास्त्रीय इति. तत्रापी**ति भक्तिमार्गानुसारिष्वपीत्यर्थः. अत्रायमर्थः— यथा भगवा**नुत्तमश्लोक**स्तथा ''यो यच्छ्रद्धः स एव स''इति वाक्यादयमपि तादृशः. तदेवोक्तं तृतीयस्कन्धे चतुर्थाध्याये ''नोद्धवोऽण्वपि मन्न्यूनो यद्गुणैर्नार्दितः प्रभुः अतो मद्वयुनं लोकं ग्राहयन्निह तिष्ठतु'' इति. अतस्तत्परिवेष्टने न कापि शङ्केति भावः ॥२॥

तमुद्धवं महान्तं दृष्ट्वा **प्रश्रयेणावनता** नम्रा जाताः. ततः **सुष्ठु** आसनादिना **सत्कारमपि** कृतवत्यः, पूर्वमेव वा वस्त्राभरणादिभिः **सुसत्कृतः.** ततो भर्तृसम्बन्धि-सेवकोऽयमिति ज्ञात्वा **व्रीडा** काम एवोद्देश्य इति ज्ञापयितुं **हासः** सत्कारे. अन्या दृष्टिः क्रूरा रूक्षा वा भवतीति हास्यपूर्वकं निरूपितम्. **सूनृतानि** उत्तमवचनानि कुशलप्रश्नरूपाणि, **आदिशब्देन** आसनपुष्पाद्युपचाराः. तत एकान्ते यत्र नन्दादीनां न दृष्टिः, रसार्थमेतत्. व्रीडादिभिः सहिता वा. **आसने उपविष्टमव्याकुलम्.** तत्सत्कृतिग्रहणेन ज्ञातवत्यः अयमस्मदर्थमेव समागतो, अन्यथा नास्माकमुपचारं गृह्णीयात् नापि सह तिष्ठेत्. निष्कामश्चायम्, अतो भगवत एवायं **सन्देशहारकः.** तर्ह्याकारणार्थं समागत इति **रमापतिवचनम्.** साम्प्रतं रमया सह तिष्ठतीत्यस्मदुपेक्षा इति वयमप्रयोजिका इति केवलं मनोऽनुरञ्जनार्थं प्रेषितवानिति[१] तासां मानमुत्पादयति. अनेनैको दोषो निरूपितः ॥३॥

तेन द्वितीयोत्पत्तिमाह **जानीम** इति सप्तभिः. स गोपिकार्थमागतोऽहमिति मन्यत इति बुद्ध्वा तदन्यथाकर्तुमन्यार्थागमनं निरूपयन्ति, अन्यथोपकारस्वीकारे उपालम्भो न घटेतेति. बीजमेतत्. तस्य च समर्थनमन्यनिषेधपूर्वकम्, स्वसम्बन्धस्य

लेखः

इति रमावचनमिति. तर्हीत्याद्याशङ्क्योक्तं शुकेन **रमापतिवचनम्.** तथा च सन्देशदायके भगवति रमापतित्वं ताभिर्ज्ञातमिति भावः. तेन सिद्धमाहुः **साम्प्रतमिति.** रमापतिसम्बन्धित्वेन ज्ञातः सन्देशः इतिप्रकारेण मानमुत्पादयतीत्यर्थः. **अनेनेति,** श्लोकत्रयेण वस्तुनिश्चयरूपो दोषो निरूपित इत्यर्थः ॥३॥

जानीम इत्यत्र **बीजमेतदिति,** स्वार्थमागमनस्यान्यथाकरणमुपालम्भे

टीपिका

तं प्रश्रयेणेत्यत्र. पूर्वमेवे[सुबो.]ति, गोपिकाभिर्भगवता वा सुसत्कृतः. **काम एवेति,** कामोद्देशो भगवद्भावे न तूद्धवे इति ज्ञेयम्. **अन्या दृष्टिरिति, अन्या दृष्टि-रित्यस्यार्थः क्रूरा रूक्षा वेति** ज्ञातव्यः. **रसार्थमिति,** रसभावोऽपि भगवत्येव न तु उद्धव इति ज्ञेयम्. **तासामिति,** उद्धवागमनं तासां मानमुत्पादयति. **अनेनेति,** वस्तुनो निश्चयान्मानोत्पत्तिरूप एको दोष इत्यर्थः ॥३॥

जानीम इत्यत्र. **द्वितीय**[सुबो.]इति उपालम्भरूपः; द्वितीयदोषोत्पत्तिमाहेत्यर्थः. **अन्यार्थेति,** पित्रर्थागमनमित्यर्थो न त्वस्मदर्थमिति भावः. **उपकारेति,** उद्धवस्यागमनेन स्वोपकारस्वीकारे इत्यर्थः. **बीजमेतदिति, जानीम**इति वाक्यार्थे

१. प्रापितवान् इति स.

पूर्वसिद्धस्य औपाधिकत्वेन स्वार्थपरत्वसाधनम्, अन्यथोभयोरपि समानत्वात्को वा उपालभ्यः स्यात् ! ततो दृष्टान्तैः कृतघ्नतासमर्थनम्. एवं पञ्चभिर्दोषं समर्थयित्वा तस्य साध्यत्वज्ञापनाय तासां देहादिस्मरणाभावमुपपादयति. ततोऽपि सुसाध्यत्वाय भगवदासक्तिम्. एवं साध्यो रोगः प्रतिष्ठितो भवति. ततोऽग्रिमारम्भः, स महादोष इति कस्याश्चिदेव तामसतामस्या वर्णितः.

टिप्पणी

जानीमस्त्वामित्यादिवाक्यप्रतिपाद्यार्थोक्त्यनन्तरं **कस्याश्चिदेव तामस-तामस्या** इति. अत्युत्कटभक्तिमार्गीयभाववत्त्वेन ज्ञानमार्गीयज्ञानोदय-संभावनारहिताया इत्यर्थः. सत्त्वरजस्तमांसि प्राकृतेभ्यो भिन्नानि भगवद्धर्म-रूपाणि सन्तीति पूर्वमेव बहुधोक्तम्. **समित्युपसर्गसूचितमर्थमाहुः तत्रापीति.**

लेखः

बीजमित्यर्थः. **साध्यो रोग** इति, अन्त्यावस्थाहेतुत्वाद्रोगपदम् ॥४॥

टीपिका

अन्यार्थागमनकथनमुपालम्भे बीजमिति. **तस्ये**[टिप्प.]ति बीजस्येत्यर्थः. **अन्यनिषेधे**ति, "अन्यथा गोव्रजे" इति द्वितीयश्लोके "स्मरणीयं न चक्ष्महे"इति अन्यनिषेधपूर्वक-बीजसमर्थनमित्यर्थः. **औपाधिकत्वेने**ति, भगवत औपाधिकत्वेन **स्वार्थपरत्व-साधनम्** "अन्येष्वर्थकृते"ति तृतीयश्लोके निरूपितम्. **उभयोरिति** श्रीकृष्णगोपिकयोः, वियोगस्य समानत्वात्. **दृष्टान्तैरि**ति, "पुम्भिः स्त्रीष्वि"त्या-दिदशदृष्टान्तैरित्यर्थः. **तस्ये**ति रोगरूपदोषस्येत्यर्थः. **साध्यत्वे**ति, ननु सर्वत्रैव देहादिस्मरणाभावो रोगे असाध्यत्वज्ञापक इति कथमत्र देहादिस्मरणाभावेऽपि रोगे साध्यत्वमित्याकाङ्क्षायां बाह्यतो देहादिस्मरणाभावेऽपि "इति गोप्यो हि गोविन्दे गतवाक्कायमानसा"इति षष्ठे श्लोके मूलोक्त्या गोविन्दस्य भावानुभावो रोगे साध्यत्वमुपपादयतीति भावः. **ततोपि सुसाध्यत्वाये**ति. "इति गोप्य" इति श्लोकार्थकथने "इतीति समाप्तौ प्रकारे चे"त्युक्तम्. तत्र प्रकारार्थकथने पूर्वोक्तदोषस्य तदासक्तिः फलं नतु नाश इति वक्तुं 'गतवाक्कायमानसा' इत्युक्तम्. यद्येवं दोषकथनेऽपि साध्यत्वं तदाग्रे "गायन्त्यः प्रियकर्माणी"त्यत्र निर्दोषभावेन स्मरण-पूर्वकबाल-कैशोरचरित्रगाने सुसाध्यत्वे का नाम शङ्का इति भावः. **प्रतिष्ठितो भवतीति** दीर्घकालिको भवतीति. **ततोऽग्रिमारम्भ** इति, "मधुप कितवे"त्यादिना "व्याजोक्त्या दोषगणने"तिकारिकोक्तस्तृतीयदोषारम्भः. टिप्पण्याम् **एवमिति,**

जानीमस्त्वां यदुपतेः पार्षदं समुपागतम् ।
भर्त्रेह प्रेषितः पित्रोर्भवान्प्रियचिकीर्षया ॥४॥

आदौ तस्यागमनमन्यथा कथयन्ति. तत्र ज्ञात्वाऽन्यथाकरणं युक्तमिति ज्ञानमाह **त्वां यदुपतेः पार्षदं जानीम** इति. पूर्वं गोपिकापतिरधुना **यदुपतिरि**ति नास्मदुपकारं करिष्यतीति भावः. तस्य च **पार्षदः** सभापतिरतिचतुरः, अनेन त्वद्वाक्यमपि नादरणीयमिति सूचितम्. **समुपागतमि**ति, सम्यगुपसमीपे समागतम्, तत्रापि सर्वतः कुशलं तवापि, अन्यथा उपेक्षा दोषायापि न भवेत्. एवं भगवन्तमन्यथा कल्पयित्वा स्वयमेव ताः कदाचिन्नष्टा जाता इति शङ्का स्यात् तद्व्यावृत्त्यर्थं **भर्त्रे**त्याहुः. प्रसङ्गादागतत्वं न वदन्ति, सर्वथा मिथ्या भविष्यतीति. **इहैव** गोकुले

टिप्पणी

भूषणादिसर्वसंपद्युक्त आगत इति भर्तरि **अपि कुशलं** ज्ञायते **तवापि** तथेत्यर्थः. एवं कथने गूढाभिसन्धिमुद्धाटयन्ति **अन्यथे**ति स्वयमापद्ग्रस्तोऽन्यानुपेक्षेत चेत् न दोषः स्यात्, सर्वतः कुशली स्वयमन्यान् दुःखितांश्चेदुपेक्षेत तदा सा दोषायैव स्यात्. प्रकृते स्वोपेक्षाकरणात्तथात्वामिति भावः. दुःखिता अपि तदीयत्वममन्यमानाश्चेत् तदा तदुपेक्षा न दोषाय स्यात्, न तु तद्विपरीतानामपीत्याशयेन स्वस्य केवलतदीयत्वमाहुः **भर्त्रे**तिपदेन. विवाहितो हि भर्ता भवति, अत्र तदभावेऽपि स्वस्य केवलतदीयत्वं वक्तुं तथोक्तम्. किञ्च न पतित्वमात्रं किन्तु भरणकर्तृत्वमपि, एतादृशश्चेदुपेक्षते तदा तासां जीवनमेव न भवतीति भावः ॥४॥

टीपिका

समित्युपसर्गसूचितस्यार्थकथने वक्रोक्तिरूपां **गूढाभिसन्धिमुद्घाटयन्ति** इत्यर्थः. तत्र **अन्यथे**[सुबो.]त्यादिना स्वामिन्या गूढाभिप्राय उद्धाटितस्तदर्थष्टिप्पण्यां **स्वयमित्यारभ्य भाव** इत्यन्तेन विवृतः. पश्चाद् **एवं भगवन्तमि**[सुबो.]त्यारभ्य **भर्त्रेत्याहुरि**त्यन्तस्य टिप्पण्यां **दुःखिता अपी**त्यारभ्य **भाव** इत्यन्तेन विवृतो ज्ञेयः. **भर्त्रे**तिपदतात्पर्यकथने **एवमि**[सुबो.]ति पूर्वपरामर्शे. पूर्वपरामर्शस्तु **यदुपते**रित्यस्यार्थकथने **पूर्वं गोपिकापतिरधुना यदुपतिरिति नास्मदुपकारं करिष्यतीति**. स्वपतित्वाभावकथनेन **एवं भगवन्तमन्यथा स्वयमेव कल्पयित्वा स्वयमेवै**ता **नष्टा** जाता इति एवं **स्वयमेवे**ति पदमावृत्त्या योजनीयमिति. **कदाचिच्छङ्का स्यादि**ति, एवं **कदाचि**त्पदस्यापीतिपदेन सह सम्बन्धः कर्तव्यः. शङ्काव्यावृत्तिस्तु **भर्त्रे**तिपदेनोक्ता. तेनैतासां भर्तृभावः सदैव वर्तते, अन्यथा

प्रेषितः. प्रयोजनमाहुः **पित्रोः प्रियचिकीर्षयेति**, ये हि सत्तामात्रेण सुखिता भवन्ति ऐश्वर्याद्युत्कर्षेण च. अतः कुशलमैश्वर्यं च ज्ञापयितुं **भवान् प्रेषितः**. अनलङ्कृते साधारणे प्रेषिते ऐश्वर्ये सन्देहः स्याद्, अस्माकं तु न तावता **सुखमिति** त्वदागमनमसाधनमिति अस्मदर्थं न प्रेषितवानेव ॥४॥

ननु भवतीनामपि सुखं कर्तव्यं, स्नेहरूपस्य सम्बन्धस्य तुल्यत्वात्, [1]कथमप्रेषणमिति चेत्तत्राहुः **अन्यथेति**.

अन्यथा गोव्रजे तस्य स्मरणीयं न चक्ष्महे ।
स्नेहानुबन्धो बन्धूनां मुनेरपि सुदुस्त्यजः ॥५॥

यद्यपि अन्ये स्मर्तव्याः अस्मदादयोऽपि, परं नन्दशेषत्वेन, नन्दव्रजे तिष्ठन्तीति नन्दमाहात्म्यार्थम्. इममुपाधिं परित्यज्य **अन्यथा** प्रकारान्तरेण भोगप्रकारेण **गोव्रजे** पशुयोग्ये स्थाने **तस्य** सर्वेश्वरस्य सर्वसमृद्धियुक्तस्य **स्मरणीयं न चक्ष्महे**; अपेक्षितं हि स्मरन्ति लोकाः. नन्वेवं सति नन्दस्याप्यस्मरणं स्याद् ईश्वरस्यापेक्षा-भावात्, तत्राहुः **स्नेहानुबन्ध** इति, यथा अपेक्षा स्मारिका एवं स्नेहोऽपि. तत्र भवतीष्वपि तुल्य इति चेत्तत्र विशेषमाहुः **बन्धूनामेव स्नेहानुबन्धः**, पूर्वमुत्पन्नः स्नेहेनानुबन्धो यस्येति न स्नेहमात्रमुभयेषां स्नेहस्य ग्रन्थिरिति यावत्. स तु **दुस्त्यजो** भवति, स्नेहकारणसम्बन्धस्य सहजत्वाद्, आकाङ्क्षायाश्च कृत्रिमत्वाद्

लेखः

अन्यथा गोव्रजे इत्यत्र. स्नेहेनानुबन्धो बन्धनं यस्य, स्नेहग्रन्थिरित्यर्थः ॥५॥

टीपिका

भर्त्रेतिपदोक्तिं न कुर्युः. ततो नैता नष्टाः परं भगवतोपेक्षिता इति. **प्रसङ्गादिति इहे**त्यस्यार्थकथनम्. ननु यथा एता भगवतोपेक्षिता इति कल्पनेन ममाप्यागमनं प्रसङ्गाद्वदन्तीत्याशङ्कमानमुद्धवं प्रति प्रसङ्गादागतत्वं न वदन्तीति— कार्यार्थमन्यत्र गच्छतो मध्यग्रामे गमनं प्रसङ्गादागतत्वं, तथा न वदन्ति व्रजरत्नाः— तथाकथने को दोष इत्याशङ्क्याहुः **सर्वथा मिथ्या भविष्यती**ति. तथाकथने चागमनं सर्वथा मिथ्या भविष्यतीति तदभावायोक्त**मिहैव गोकुले प्रेषित** इति. **प्रयोजनमाहुरिति** आगमनप्रयोजनमाहुरित्यर्थः. **सत्तामात्रेणे**ति, पुत्रस्य स्वस्थाने स्थितिमात्रश्रवणेनापीत्यर्थः ॥४॥

अन्यथेत्यत्र. **तत्रे**[सुबो.]ति कुब्जादिभक्तेषु. **यथे**ति, तथा **आकाङ्क्षापरि-**

---

१. अप्रेरणम् इति स.

यथा देहपरित्यागे दैहिकेषु **स्नेहो गच्छति** एवमाकाङ्क्षापरित्यागेऽपि. यावद्देहसम्बन्धः तावन्न ज्ञानादिनापि स्नेहो निवर्तयितुं शक्यते, किं वक्तव्यं विषयैः! तदाह **मुनेरपि सुदुस्त्यज** इति. लौकिकाद्वैदिकं बलिष्ठमिति ज्ञापनार्थ**मपि**शब्दः. **सु**शब्दो नित्यविवेकस्मरणेऽप्यशक्यत्वाय ॥५॥

तत्र तादृशविषयान्तरसम्भवे आकाङ्क्षा निवर्तत इति औपाधिकः सम्बन्ध इत्याह **अन्येष्वर्थकृते**ति.

अन्येष्वर्थकृता मैत्री यावदर्थविडम्बनम् ।
पुम्भिः स्त्रीषु कृता यद्वत्सुमनस्स्विव षट्पदैः ॥६॥

अन्येषु देहसम्बन्धरहितेषु **अर्थकृता** प्रयोजनकृता. प्रयोजनं देहधर्मो धर्मिणो दुर्बलः, औपाधिकोऽपि न चिरस्थायी, यथा माञ्जिष्ठादिरागाः यावत्कालमपि

प्रकाशः

अन्येष्वित्यत्र. बन्धुव्यतिरिक्तेषु स्नेहो अर्थकृतो, यावदर्थभावित्वाद्, अर्थान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वादित्यर्थः, पुंसः स्त्रीस्नेहवद् भ्रमरपुष्पस्नेहवदित्यनुमानं फलति ॥६॥

टीपिका

त्यागेऽप्याकाङ्क्ष्यपदार्थे **स्नेहो गच्छती**ति योज्यम्. **एवमि**[सुबो]ति. **ननु** "मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपी"ति वाक्यात्कथं भगवतो भक्तानामाकाङ्क्षापरित्याग इत्यत आहुः **एवमाकाङ्क्षे**त्यादि. **किमिति**, अन्यविषयप्राप्तावपि बन्धूनां स्नेहो न निवर्तत इति किं वाच्यमित्यर्थः. **वैदिकं बलिष्ठमि**ति, "स्वैरं चरन्ति मुनयोऽपी"ति वाक्याद्यद्यपि मुनीनां स्वैराचरणेपि न दोषोक्तिस्तथापि "मातरं पितरं वृद्धं भार्यां साध्वीं सुतं शिशुं गुरुं विप्रं प्रपन्नं च कल्पोऽबिभ्रच्छ्वसन्मृतः" इत्यादिषु दोषकथनाद् **वैदिकं बलिष्ठमि**त्युक्तम्. अत एव मूले **सुदुस्त्यज** इत्युक्तम्. **नित्यविवेके**ति, बन्धूनां स्नेहानुबन्धस्त्यक्तव्य इति नित्यविवेकस्मरणेऽपीत्यर्थः ॥५॥

अन्येष्वर्थेत्यत्र. **प्रयोजनमि**[सुबो]ति. ननु नन्दादीनां देहसम्बन्धेन कथं स्नेहो दुस्त्याज्यो, अन्येषु देहसम्बन्धरहितेषु मैत्री प्रयोजनकृता कथं दुर्बलेत्याकाङ्क्षायामाहुः **प्रयोजनं देहधर्म** इति. तेन देहे धर्मित्वं प्रयोजने धर्मत्वमुक्तम्. तेन नन्दादीनां देहसम्बन्धेन धर्मिणो बलिष्ठत्वमस्माकं देहसम्बन्धाभावाद्धर्मिणः सकाशाद् धर्मस्य दुर्बलतेति भावः. **औपाधिक** इति, **यथा माञ्जिष्ठादिरागा**

तिष्ठन्ति. तत्रापि **विडम्बनमेवा**नुकरणमेव **नटवत्**. अतोऽस्मासु भगवत्स्नेहः कदापि न स्थितः, अनुकरणमात्रं स्थितमिति विडम्बनमात्रत्वान्न स्मरति. अर्थकृतत्वं प्रतिपादयितुम् औपाधिकं धर्ममाह **पुम्भिः स्त्रीष्वि**ति. पुरुषाः स्वतन्त्राः सर्वसमर्थाः, तद्विपरीताश्च स्त्रियः, तासु स्नेहं न कुर्युरिव यदि कामो न भवेत्. कामाच्च स्नेहमेव कुर्वन्ति, अन्यथा सिद्धे गते वा कामे निवर्तते. शास्त्रमपि विरागे त्यागं विधत्ते "यदहरेव विरजेदि"ति. ननु तत्र धर्मोऽप्यस्ति, पुत्रादिद्वारा च स्नेहो भवति, ततश्चागन्तुकमपि सहजमिवेति भवतीष्वपि तथा भगवत इत्याशङ्क्य तत्परिहारार्थं दृष्टान्तान्तरमाहुः **सुमनःसु षट्पदैरिवे**ति. गमनक्रियाबाहुल्यार्थं **षट्पद**शब्दप्रयोगः. तेषां मकरन्दग्रहणानन्तरं पुष्पनाशे न कापि क्षतिः. अयमस्माकं युक्तो दृष्टान्तः ॥६॥

ननु सर्वत्रैव दृष्टान्तः सुलभः, न तु तावता कार्यं सिद्ध्यति. ततः पुष्पाणामाशुतरविनाशयुक्तानां भ्रमराणां च बहूनां साधारणत्वाद् भगवत

टिप्पणी

पुंभिः स्त्रीषु कृतेत्यत्र विवाहिताः पुमांसः स्त्रियश्च ज्ञेयाः. अत एव विरागे श्रुत्युक्तत्यागोक्तिः. **स्नेहमेव कुर्वन्ती**ति, न त्वपराधेऽपि क्रोधानुवृत्तिमिति भावः. अथवा **कुर्वन्त्येवे**ति सम्बन्धो ज्ञेयः ॥६॥

लेखः

निःस्वमित्यस्याभासे **ततः पुष्पाणामि**ति. पुष्पाणि भ्रमराश्चोभयत्रापि बहुत्वं साधारणत्वं च दृष्टान्ते, दार्ष्टान्तिके तु स्वामिनीषु बहुत्वं भगवति साधारणत्वम्. पुष्पेषु साधारणत्वं भ्रमरमात्रोपभोग्यत्वम्, भ्रमरेषु साधारणत्वं पुष्पमात्रोपभोक्तृत्वम्. भगवति साधारणत्वमखिलस्वामिनीभोक्तृत्वं; तादृशं

टीपिका

वस्त्रादिष्वौपाधिका अपि सुबो. **यावत्कालमपि तिष्ठन्ति** तथा भगवत्स्नेह **औपाधिकोऽपि न चिरस्थायी**ति **तत्रापि विडम्बनमेव अनुकरणमेव नटव**दित्युक्तम्. **अन्यथे**ति, अविवाहितेनापि **कामे सिद्धे** वैराग्यादिना वा **कामे गते**ऽपि विवाहितेषु स्नेहो **निवर्तते**. **शास्त्रमपी**ति. ननु "यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयादि"ति श्रुत्युक्तस्यान्यथा-नुपपत्त्या कथं विवाहितायास्त्यागं शास्त्रं विधत्ते? तथा सत्यग्निहोत्रं न स्यादित्याशङ्क्याह **शास्त्रमपी**त्यादि. तथा च "यावज्जीवमग्निहोत्रमि"ति वाक्यं वैराग्यादर्वाक् कर्माधिकारे, "यदहरेव विरजेदि"ति वैराग्याधिकारे सिद्धे चेति न कापि शङ्का ॥६॥

एकत्वाद्भवतीनामसाधारणत्वाच्च न युक्तो दृष्टान्त इत्याशङ्क्य औपाधिकानामेषैव व्यवस्थेति वक्तुं दृष्टान्ताष्टकमाहुः **निःस्वमिति** द्वाभ्याम्.

निःस्वं त्यजन्ति गणिका अकल्पं नृपतिं प्रजाः ।
अधीतविद्या आचार्यमृत्विजो दत्तदक्षिणम् ॥७॥

यद्यपि सर्वत्र बहुत्वं साधारणत्वं चोपाधिरस्त्येव, तथापि बहुधा दर्शनात्

लेखः

साधारणत्वं स्वामिनीषु किञ्चिन्नास्ति अतोऽयुक्तो दृष्टान्त इत्याशङ्क्य दृष्टान्ताष्टककथनम्. **यद्यपीति**, यद्यपि बहुत्वसाधारणत्वे एतेष्वपि स्तः तथापि बहुधा दर्शने एतयोरुपाधित्वं सम्भाव्येत अतो बहुदृष्टान्तकथनमित्यर्थः. **सर्वत्रेति**, निःस्वादिषु साधारणत्वं गणिकादिषु बहुत्वमिति विभागः. निःस्वे साधारणत्वं यावद्गणिकाभोक्तृत्वं, नृपतौ साधारणत्वं यावत्प्रजाधिपतित्वम्; एवमग्रेऽपि.

प्रकाशः

निःस्वमित्यस्याभासे पुष्पाणामित्यस्य साधारणत्वादित्यनेनान्वयः. बहूनामिति हेतुगर्भं विशेषणम्. **निःस्वमित्यत्र** वयं भगवतः अप्रियाः, पश्चात्त्यक्तत्वात्, यत्रैवं तत्रैवं, गणिकादित्यक्तनिःस्ववदित्यनुमानं फलति. **सर्वत्रेति** दृष्टान्तदशकेऽष्टके वा. **साधारणत्वमिति**. तत्तदुपाधिक-तत्तत्सर्वोपयोगियोग्यत्वम्. **निराकरण** इति

टीपिका

निःस्वमित्यस्याभासे. सर्वत्रे[सुबो.]ति. यथा युक्तत्वे दृष्टान्तः सुलभस्तथाऽयुक्तत्वेऽपि सुलभ इत्यर्थः. तदेव दर्शयन्ति **पुष्पाणामि**त्यारभ्य **न युक्तो दृष्टान्त** इत्यन्तेन. **औपाधिकानामिति**, यत्र यत्रौपाधिकः सम्बन्धोऽस्ति तत्र तत्र स्वार्थाभावे त्यागावस्थैवेति **वक्तुं दृष्टान्ताष्टकमाहुः**. व्याख्याने. ननु सुमनःषट्पदेषु यथा बहुत्वं साधारणत्वं चोपाधिरस्त्येव, तथा निःस्वादिदृष्टान्तेष्वपि बहुत्वं साधारणत्वं चोपाधिरस्त्येव, तदा बहुदृष्टान्तेन किं साधितमित्याशङ्क्याह **यद्यपी**त्यादिना. तथा च दृष्टान्ते दूषणाभावकथने नास्मदभिप्रायोऽस्ति किन्तु सन्दिग्धोपाधित्वं साधयितुं दृष्टान्तानां कथनमिति. तत्र हेतुमाह **तथापि बहुधा दर्शनादिति. बहुधा**शब्दोऽत्र 'प्रायशः'शब्दपर्याय इति ज्ञेयम्. तथा च काश्चिद्गणिका निःस्वं त्यजन्ति काश्चिन्न त्यजन्ति, एवं काश्चित्प्रजा नृपतिं त्यजन्ति काश्चिन्न त्यजन्ति इति लोके प्रसिद्धम्. एवं ब्रह्मचारिणोऽपि केचिद् आचार्यं त्यजन्ति "गुरवे विन्यसेद्देहं स्वाध्यायार्थं बृहद्व्रतः" इति वाक्यान्नैष्ठिका भूत्वा केचिद् न त्यजन्ति इति शास्त्रं प्रसिद्धम्. एवमग्रे

सन्दिग्धोपाधित्वं साधयितुं दृष्टान्तानां कथनम्. सर्वथा निराकरणे अचिकित्स्य एव दोषः स्यात्. यथा मित्रातनयत्वं सन्दिग्धोपाधिकं, दशमोऽपि चेच्छ्याम एव स्यात्, तदोपाधिः शाकपाकजत्वं न भवेदेव, अन्यथा तु भविष्यतीति. एवं बहुत्वसाधारणत्वेऽपि भगवांस्त्यक्ष्यत्येव चेत्, तदास्मास्वभावान्नोपाधिर्भविष्यतीति

लेखः

दृष्टान्ते त्याज्येषु साधारणत्वं त्याजकेषु बहुत्वम्, दार्ष्टान्तिके त्याज्यासु बहुत्वं त्याजके भगवति साधारणत्वम् —एवं विषमदृष्टान्तकथने हेतुमाहुः **सर्वथेति. भगवांस्त्यक्ष्यत्येवे**ति. स्वामिन्यस्त्यागविषयाः सप्रयोजनकस्नेहविषयत्वात् सुमनोवदित्यनुमानं सन्दिग्धोपाधिकत्वात्सन्दिग्धम्. तत्र त्यक्ष्यत्येव चेत्तदा स्वामिनीषु त्यागविषयत्वं सम्पन्नं, साधारणत्वं तु नास्ति. तथा च साध्याव्यापकत्वात्साधारणत्व**मुपाधिर्न भविष्यति**. तथा च त्यागविषयत्वहेतुता सप्रयोजनकस्नेहविषयत्वस्यैव सिद्धा, मित्रातनयत्वस्येव श्यामत्वहेतुतेति भावः. तत्र मित्रातनयत्वपक्षवृत्तित्वं निश्चितमेव, हेतुतामात्रे उपाधिना सन्देहः.

प्रकाशः

उपाधिनिराकरणे. **न भवेदि**ति, साधनाव्यापकत्वाभावादित्यर्थः. **बहुत्वसाधारणत्वे** इति, सन्दिग्धोपाधी इत्यर्थः. **अस्मास्वभावादि**ति, प्रियत्वस्याभावादित्यर्थः.

टीपिका

ऋत्विजादिष्वपि द्रष्टव्यम्. एवं वयमपि रासक्रीडादिषु पूर्वं भगवता मदमानाद्यस्मद्दोषेण बहुधा त्यक्ताः पुनर्गृहीताश्च, अधुनास्मद्दोषाभावेऽपि त्यक्ता न पुनर्गृह्णातीति सन्दिग्धोपाधिकत्वं लक्ष्यते. ननु किमनेन दोषवार्ताकथनेन, एतद्वार्ता सर्वथा निराकरणीयेति चेत्तत्राहुः **सर्वथेती**[सबो]ति; एतद्वार्तानिर्णयाभावे **दोषो** भगवति **अचिकित्सित एव स्यादि**ति योज्यम्. दोषस्य निर्णयार्थं न्यायोक्तमुदाहरणमाहुः **यथा मित्रातनय**इत्यादिना. तथा च **यथा मित्राया** नवसङ्ख्याकान्पुत्रान्श्यामान् दृष्ट्वा पूर्वं सन्दिग्धोपाधिकत्वं जातम्— "अहो एते मित्राया दोषेण श्यामा अथवा शाकपाकेन श्यामाः" तन्निर्णयार्थं **दशमोपि चेच्छ्याम एव स्यात्तदोपाधिः शाकपाकजत्वं न भवेदेव, अन्यथा तु भविष्यत्येवे**ति. एवं दार्ष्टान्तेऽपि. **एवं बहुत्वसाधारणत्वेऽपि** यदि अन्ततो **भगवांस्त्यक्ष्यत्येव तदा** मित्राया दोषवद्भगवति दोषो भविष्यत्येव. **तदास्मासु अभावादि**ति, **तदास्मासु** शाकपाकजोपाधिव**न्नोपाधिर्भविष्यतीति** भावः. **धर्मार्थिमपी**ति, धर्मार्थि भजनं तु पाद्मे

भावः. तत्र प्रथमं स्त्रियः स्वभावतोऽदुष्टाः पुरुषो दुष्ट इतीर्ष्यावशाद् भगवान् दूष्यत इतीमं पक्षं व्यावर्तयितुं स्त्रीणामेव प्रथमं स्वार्थाभावे पुरुषपरित्यागमाहुः **निःस्वं त्यजन्तीति**. ता हि प्रथमतः सर्वभावेन भजन्ते, नह्येवं कश्चिदात्मानं परस्मै निवेदयति. तत्रापि यस्मै कस्मैचिद्, अनेन **धर्मार्थमपि भजनं निषिद्धम्**, लोकेऽपि निन्दिताः. एवं लोके वेदे विरुद्धा अपि सर्वानपि परित्यज्य यं कश्चित् सर्वभावेन भजन्ते ताः सर्वोत्तमा भवितुमर्हन्ति, यद्यर्थं न [1]कामयेरन्. अर्थश्च केवलं न निर्वाहकः किन्त्वधिकोऽपि तस्मात्तासां तावद्व्यर्थमेव, निमित्ताभावे तादृशस्यापि त्यागात्. यस्तु तथाभूतानां विदित्वा सर्वस्वं निवेदयति तादृशमपि धनरहितं स्वशब्देनोपार्जनेऽप्यसमर्थं गणिका वेश्यास्त्यजन्ति. न हि तादृशः स्नेहोऽन्यत्र भवितुमर्हति. ननु तथाप्येताः समभावेन भजनं कृतवत्यः नतूत्कर्षभावेन, ये पुनः उत्कर्षभावेन सेवन्ते तेषु त्यागो न भविष्यतीत्याशङ्क्याहुः **अकल्पमसमर्थं नृपं** राजानमपि **प्रजास्त्यजन्ति**. पूर्वं सर्वभावेन पाल्यमानाः प्रजाः, स्वयमपि सर्वभावेन भजनयुक्ताः, तथापि पश्चात्पालनासामर्थ्ये तं परित्यज्य तच्छत्रोर्भवन्ति. ताश्चेन्न

लेखः

अत्र तु हेतोः पक्षवृत्तित्वमपि सन्दिग्धम्, अतः प्रत्यक्षेण साध्यनिश्चये पुनरनुमानं कार्येण कारणस्य, तेन पक्षवृत्तितानिश्चय इति विशेषः. बहुत्वस्योपाधित्वपक्षे भगवांस्त्यागकर्ता सप्रयोजनकस्नेहवत्त्वाद् भ्रमरवदित्यनुमानम्. तत्र बहुत्वं सन्दिग्धोपाधिः. त्यक्ष्यत्येवेति चेत्तदा साध्याव्यापकत्वाद्बहुत्वस्य

प्रकाशः

तथाभूतानामिति स्वरूपमिति शेषः ॥७॥

टीपिका

वैशाखमाहात्म्यप्रथमाध्यायोक्तं बोध्यम्. तत्र हि वैश्यजातीयया वेश्याभूतया विचित्रैः सुरतोपचारैरदृष्टबुद्ध्या संसेवितोऽतिथिस्तीर्थान्यटमानो वासुदेवनामा रेवायां वैशाखस्नानोपदेशं विधाय तया सार्धं तत्र स्नानं कुर्वन् कारयन् दयया तदवरोधे वसंस्तां स्वात्मानं चोद्धृत्य स्वयं पाण्ड्यदेशाधिपो वीरसेनाख्यो जन्मान्तरे जातः, सा च काशीपतेर्वैष्णवतमस्य दिवोदासस्य सुता दिव्यादेवीनाम्नी जातेत्युक्तम्. अत्र तु यस्मैकस्मैचिद् भजनेन सुबो॰**धर्मार्थमपि भजनं निषिद्धम्. तासां तावदिति**, आत्मनिवेदनादिपूर्वकं सर्वभावेन भजनादिकं **व्यर्थमेवेत्यर्थः. विदित्वेति**, अर्थाभावे त्यक्ष्यतीति विदित्वापीत्यर्थः ॥७॥

---

१. कामयेयुः इति स.

मन्येरन्, न कोऽपि भवेद्राजा, तथापि कः प्रयासं करिष्यतीति अल्पेनापि निमित्तेन परम्परागतमपि राजानं त्यजन्ति. अनेन ज्ञायते देहसम्बन्धिव्यतिरिक्तेषु कथमपि लौकिकं भजनं यावदर्थमेव, न कदाचिदपि क्षणमात्रमप्यनुपयोगे भजन्त इति. ननु लौकिके तथास्तु, वैदिके वाक्यप्रामाण्यात्तथा भविष्यतीत्याशङ्क्य परिहरन्ति **अधीतविद्या** इति पादद्वयेन शब्दानुष्ठानभेदेन. आदौ विद्या सर्वा यतो गृहीता यतः सर्वोऽपि पुरुषार्थो भवति. तादृशीमपि प्राप्य ग्रहणपर्यन्तमेव **आचार्यं** सेवन्ते, नत्वग्रे. "उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः सरहस्यं तदङ्गं च तमाचार्यं प्रचक्षते"इति —एतादृशमपि स्वकार्ये सम्पन्ने **त्यजन्ती**ति सर्वथा **अन्येष्वर्थकृतैव मैत्री.** किञ्च यत्र वैदिकः सम्बन्धः सूतकव्यवहारः अधीतस्यार्थोपयोगे जीविका च स्वस्य भवति तादृशमपि दत्ता दक्षिणा येन, दक्षिणामेव प्राप्य शिष्टमर्थं यजमानं च त्यजन्ति. कदाचिद्वा **अदत्तदक्षिणम्.** तस्मादन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रयोजनकृतैव मैत्री ॥७॥

एवमेकेन श्लोकेन धर्मार्थापेक्षयैवेतरभजनं न स्वाभाविकं दैहिकवदित्युक्तम्. अधुना कामार्थं लौकिक-वैदिक-प्राकृत-निषिद्ध-भेदेनापि प्रवृत्ताः तत्तत्फलमनुभूय पश्चात् त्यजन्तीत्याह **खगा वीतफल**मिति.

खगा वीतफलं वृक्षं भुक्त्वा चातिथयो गृहम् ।
दग्धं मृगास्तथारण्यं जारो भुक्त्वा रतां स्त्रियम् ॥८॥

कामो हि द्विविधः उपर्यधश्चेन्द्रियभोगभेदेन. तत्र **खगा** पक्षिणः क्षुत्पीडिताः फलवन्तं वृक्षमाश्रयन्ति, यदैव **वीतफलो** भवति तदैव च **त्यजन्ति.** उपलक्षणमेतत्; छायार्थिनो गतच्छायं, तत्तदर्थिनस्तत्तदर्थापगमे. तथा**ऽतिथयो**ऽसम्बन्धिनो ब्राह्मणाः क्षुत्पीडिता **भुक्त्वा च**कारादन्यमपि सत्कारं प्राप्य तद्**गृहे** अनिष्टेऽपि जाते निरीक्षणरहिता गच्छन्ति. कदाचिदेक एवं कुर्यादिति सन्देहव्यावृत्त्यर्थं सर्व एव तथाविधा इति ज्ञापयितुं सर्वत्र बहुवचनम्. यस्मिन्नरण्ये **मृगा** उत्पन्नाः वृद्धिं च गताः तादृशस्य जातायामापदि, अग्रे सम्पत्तिसम्भावनायामपि अल्पानुपयोग-मप्याशङ्क्य त्यजन्ति मृगाः. सर्वत्र साधारणं मत्वाऽसाधारण्येन तस्या नाशमपि

लेखः

नोपाधित्वमित्यादिपूर्ववत्. **ऋत्विज** इत्यत्र **अदत्तदक्षिणमि**ति पदच्छेदमभिप्रेत्याहुः **कदाचिद्वे**ति, कदाचिदपि दक्षिणां न ददाति चेत्ततः स्वार्थासिद्धिं निश्चित्य त्यजन्तीत्यर्थः ॥७॥

कृत्वा गच्छतीत्याह **जारो भुक्त्वेति**. सा हि परस्त्री भोग्या (क्ता!) स्वयं जारः तदेकस्वभावस्तदुपजीवी वा, तादृशोऽपि भोगानन्तरं तां चेत्कश्चिद् हन्यात् तदाप्यनपेक्ष्यमाणस्त्यजत्येव, तथैतज्ज्ञातमित्यभिप्रायः. अथवा एता दशविधादशदृष्टान्तानाहुः; तत्र सात्त्विकादिभावेषु तथा तथा वचनम्. **जारो भुक्त्वेत्यन्ते** राजसतामस्याः. अथवा दृष्टान्ताष्टकमेवैतदवधि. तामसतामस्यास्तु सर्वभावापन्नायाः भ्रमरकथायां स्वरूपं वक्तव्यम्, अत एव "काचिदि"त्येकां निरूपयिष्यति ॥८॥

टिप्पणी

तत्र सात्त्विकादिभावेष्विति. आद्यो दृष्टान्तो राजससात्त्विकः, ततो राजसराजसः, ततस्तामसतामसः, ततस्तामसराजसः, ततो निर्गुणः, ततः सात्त्विकराजसः, ततस्तामससात्त्विकः, ततः सात्त्विकसात्त्विकः, ततः सात्त्विकतामसः ततो राजसतामस इति दश ॥८॥

लेखः

जारो भुक्त्वेत्यत्र. अत्र दृष्टान्ते साधारणत्वाभावाद्विद्यमानेऽपि बहुत्वे **जार** इत्येकत्वकथनात्साध्यसिद्धिं मानयन्तीत्याशयेनाहुः **तथैतज्ज्ञातमिति**. दृष्टान्ताष्टकनिरूपणान्ते **सर्वभावापन्नाया** इति. "मधुपे"ति दशश्लोकेषु तामसतामस्येव दशविधभावापन्ना सती वक्त्री, अत एवोपक्रमे "काचिदि"त्येकवचनं निरूपितम्. एकत्वं भावैक्येन. तथा च भ्रमरकथावक्त्रीणां तामसतामसभावः स्थायी, अन्ये व्यभिचारिभावा इति भावः ॥८॥

प्रकाशः

एतदग्रे **अथवा दृष्टान्ताष्टकमेवेत्य**स्मिन्पक्षे राजसराजसो "निःस्वमि"ति दृष्टान्तो ज्ञेयः. राजससात्त्विकभावस्तु "पुम्भिरि"त्यर्धेन निरूपित एवेति भावः ॥८॥

टीपिका

जारो भुक्त्वेत्यत्र. अथवे [सुबो.] ति. ननु सुबोधिन्यां **सात्त्विकादिभावेषु तथा तथा वचनमिति** दशविधानां भावाः पूर्वं प्रतिज्ञाय जारो **भुक्त्वेत्यन्तेन राजसतामस्या** वचनमित्येकस्या भावो दर्शितः, अवशिष्टानां नवानां भावाः टिप्पण्यां श्रीमद्गोस्वामिचरणैर्विशदीकृताः, पश्चाद्**दृष्टान्ताष्टकमेवैतदवधी**त्युक्तम्. तत्र दशविधानां का व्यवस्थेत्याकाङ्क्षायामत्रैवं व्यवस्था कार्या. अत्रापि **निःस्वमिति**

नन्वेवमसूयायां दुष्टा एव जाताः, किं ज्ञानेन पुनः सज्जीक्रियन्त इत्याशङ्क्य तासां क्लेशवशादेवायं स्वभावो जातः, वस्तुतस्तूत्तमा इत्याह द्वाभ्याम् **इति गोप्य** इति.

इति गोप्यो हि गोविन्दे गतवाक्कायमानसाः ।
कृष्णदूते व्रजं याते उद्धवे त्यक्तलौकिकाः ॥९॥
गायन्त्यः प्रियकर्माणि रुदन्त्यश्च गतह्रियः ।
तस्य संस्मृत्य संस्मृत्य यानि कैशोरबाल्ययोः ॥१०॥

इतीति समासौ प्रकारे च. पूर्वोक्तदोषस्य तदासक्तिः फलं न तु नाश इति वक्तुं **गतवाक्कायमानसा** इत्युक्तम्. ननु कथमेवं कल्प्यते, दुष्टा एव कथं न भवेयुरित्याशङ्क्याह **गोप्य** इति— ता मुग्धा न कापट्यं विवेकं च जानन्ति, अतः खेदवशाद् यथैव मनोवृत्तिर्भवति तथैव वदन्तीति न दुष्टाः. **हि** युक्तश्चायमर्थः— महता कष्टेन हि सर्वपरित्यागेन सर्वभावेन पूर्वं भगवन्तं प्रपन्नाः. किञ्च **गोविन्दो**

टीपिका

दृष्टान्ते या तामसतामस्युक्ता तस्यास्**तामसतामस्यास्तु सर्वभावापन्नायाः भ्रमरकथायां स्वरूपं वक्तव्यमित्युक्तम्.** तदा **निःस्वमिति** दृष्टान्ते पूर्वं **सुमनःषट्पद**दृष्टान्ते राजसराजसभावो य उक्तः स भावो निरूपित इति. तदेवोक्तं **राजसराजसो निःस्वमिति दृष्टान्तो ज्ञेयः**[प्रका.] इत्यनेन. तथा **पुम्भिः स्त्रीष्विति सुमनःषट्पदस्ये**ति दृष्टान्तद्वयं तदेकीकृत्य राजससात्त्विकभाव उक्तः. तदेवोक्तं **राजससात्त्विकभावस्तु पुम्भिरित्यर्धेन निरूपित एवेति भाव**[प्रका.]इति दृष्टान्ताष्टकेऽपि सर्वं समञ्जसमिति ॥८॥

इति गोप्य इत्यस्याभासे **किं ज्ञानेने**[सुबो.]ति. पूर्वं चतुश्चत्वारिंशाध्यायार्थकथने सुबोधिन्याः कारिकार्थटिप्पण्यां विवृतोऽस्ति— "तथा तादृग्ज्ञानोपदेशश्रवणेनातितप्त-तैलपतित-जलबिन्दुसदृशेनात्युत्कटभावो वर्ण्यत इति पूर्वस्माद्विशेष" इत्युक्तम्. **पुनरपि** भगवांस्तत्र **तादृशीनां** तादृग्ज्ञानोपदेशेन स्वोपालम्भार्थं **किमर्थं सज्जी**करोतीति केषांचिद् भ्रान्तानामाशङ्कां श्रीशुक आशङ्क्य **तासां क्लेशवशादि**त्यादिना परिहरतीत्यर्थः. **इति गोप्योहीत्यत्र. पूर्वोक्तदोषस्येति** पूर्वोक्तोपालम्भरूपदोषस्येत्यर्थः. **इतीति** पूर्वोक्तप्रतिज्ञातप्रकारार्थं इति ज्ञेयः. तथा च उपालम्भरूपदोषकथनप्रकारेण **गोविन्दे गतवाक्कायमानसा** इत्युक्तमिति.

भगवान् तासामेवेन्द्रः सर्वैर्देवैः कृतः, अन्यथा तेषां करणं व्यर्थं स्याद्, दुष्टस्वामित्वं वा भवेत्. अत एतैर्वचनैर्गतवाक्कायमानसा एव ता इति ज्ञायते. अथवा पूर्वमेव **गोविन्दे** स्वत एव **गतानि कायवाङ्मनांसि** यासाम्. अत एतान्यपि वचनानि चेद् दोषजनकानि भवेयुः तदा भगवच्छास्त्र एव दोषः स्याद्, भगवदीयत्वात्तेषाम्. तासां सर्वपरित्यागे निदर्शनमाह **कृष्णदूत** इति— साक्षाद्भगवति समागते को वेद किं वा कुर्युः, **कृष्णस्य** स्वामिनः दूतेऽपि **उद्धवे व्रज** आगते **त्यक्तलौकिका** जाताः, सर्वापेक्षां परित्यज्य प्रकटा भूत्वा तेन सह यत उपविष्टाः. किञ्च तस्याप्यग्रे **प्रियस्यैव कर्माणि गायन्त्यो** जाताः. अनेन भगवत्येव निवेदिता वाक् नान्यतः सङ्कोचं लभत इत्युक्तम्. **रुदन्त्यश्च** जाताः. एवमुपवेशनेन कायं गानेन वाचं रोदनेनान्तःकरणमिति साधारण्येन त्रयमपि निवेदितमुक्तम्. असाधारणस्वभावमपि त्यक्तवत्य इत्याह **गतह्रिय** इति, स्त्रीणां स्वाभाविको धर्मो लज्जा, ता मपि चेत्त्यक्तवत्यः किमवशिष्यते तासु !

लेखः

इति गोप्यो ह्रीत्यत्र. भगवदीयत्वात्तेषामिति, गोविन्दे गतवाक्कायमानसानां वचनान्यपि भगवदीयान्येवेति भावः ॥९॥

गायन्त्य इत्यत्र **कायमिति, कायं वाचम् अन्तःकरणं** च निवेदितवत्य इति शेषः **इति** हेतोः **त्रयमपि निवेदितमुक्तमि**त्यर्थः ॥१०॥

प्रकाशः

इतीत्यत्र. अन्यथेति एतासां दुष्टत्वे इत्यर्थः. **व्यर्थं स्यादि**त्यादि, भगवतो दुष्टरक्षकत्वाभावादिति भावः ॥९॥

टीपिका

भगवच्छास्त्र[सुबो.] इति, तासां वाक्यानि भगवच्छास्त्ररूपाणि, तानि चेद्दोषजनकानि स्युस्तदा **भगवच्छास्त्रे दोषः स्यादि**त्यर्थः. अथवा ''सांकेत्यमि''त्यादि, ''द्विषन्नपी''त्यादि, ''हेलनमेव वे''त्यादि,''भगवान् किं करिष्यती''त्यादिहेलन-कर्तृणामपि ''अशेषाघहरमि''त्युक्तिरूपे ''द्विषन्नपी''ति कथनेऽपि शिशुपालादीनां द्वेषकर्तृणामपि सिद्धिकथनरूपेऽपि तत्र ''किमुताधोक्षजप्रिया''इत्यत्र कैमुतिकन्यायेऽपि दोषः स्यादित्यर्थः ॥९॥

गायन्त्य इत्यत्र. **किमवशिष्यते तासु**[सुबो.]इति, त्यागे किमवशिष्यत इत्यर्थः. **पूर्वोक्तविधा** इति, गतवाक्कायमानसा जाता इत्यर्थः ॥१०॥

नन्वेतत्सर्वं कादाचित्कमित्याशङ्क्य तत्परिहारार्थं विशेषमाह **तस्य संस्मृत्येति.** **तस्य** भगवतः **कैशोरबाल्ययोः** अवस्थाद्वयसम्बन्धीनि यानि तानि **संस्मृत्य संस्मृत्य** पुनः पुनरादरेण स्मृत्वा ताः पूर्वोक्तविधा जाता इति सम्बन्धः ॥९-१०॥

एवमिममपि दोषं महान्तं मत्वा महता प्रबन्धेन साध्यत्वं निरूपितम्. ततोऽप्यधिकं दोषं निरूपयन् प्रस्तावनामाह **काचिदिति.**

काचिन्मधुकरं दृष्ट्वा ध्यायन्ती कृष्णसङ्गमम् ।
प्रियप्रस्थापितं दूतं कल्पयित्वेदमब्रवीत् ॥११॥

तस्य च साध्यत्वमग्रे वक्ष्यति, तत उपदेशः. अर्थसङ्गतिस्तु पूर्वमुपालम्भनमुक्त्वा स्वासक्तिख्यापनार्थं स्वगतान् भावान् रससङ्गोपनार्थं काचिदाह. तत्रापि व्याजेनान्यापदेशन्यायेन, अन्यथा रसः पुष्टो न भवेत्. भगवान्वा गोपिकानां स्वरूपमुद्धवाय प्रदर्शयितुं भ्रमरमपि प्रेषितवान्. तदा तं

प्रकाशः

काचिदित्यत्र. नन्वेतावदुपालम्भे को हेतुस्तत्राहुः **स्वासक्तीति**, भगवत इति भावः. **रससङ्गोपनार्थमिति** ध्यातरससङ्गोपनार्थम्. तथा च तथा यदि न वदेत् तदा स रसस्तां स्वाधीनक्रियावतीं कुर्यात्. तथाभावश्च सर्वसमक्षमनुचित इति तदर्थं तथेति भावः. **तत्रापीति**, गोपनार्थत्वेऽपीति. अन्यापदेशस्य दर्शनं विनापि दर्शनादेतन्न्याये भ्रमरदर्शनं नातीव युज्यत इत्यत आहुः **भगवान्वेत्यादि.** ननु

टीपिका

काचिदित्यस्याभासे. महता प्रबन्धेने[सुबो.]ति, ''इति गोप्यो ही''त्यादिश्लोकद्वयार्थकथनेन **महता प्रबन्धेन साध्यत्वं** श्रीशुकेन **निरूपितमित्यर्थः.** व्याख्याने **अग्र** इति, ''मृगयुरि''त्यत्र गुणपक्षे''ऽयुक्तो ही''त्यादिनोक्तं साध्यत्वं वक्ष्यतीत्यर्थः. **काचिन्मधुकरमित्यत्र. भगवत** [प्रका.] इति, पुनरपि भ्रमररूपदूतप्रस्थापनात् स्वस्मिन्भगवत आसक्तिरिति भावः. **ध्यातरसेति, पूर्वं हि सा कृष्णसङ्गमं ध्यायन्ती**[सुबो.]त्यनुपदोक्तः ध्यातरस इत्यर्थः. **तथे**[प्रका.]ति, गोपनेन **यदि न वदेदिति. स रस** इति, एषा रसगोपनं न जानातीति **स** ध्यातो **रसस्तां स्वाधीनक्रियावतीं** रसाधीनक्रियावतीं **कुर्यात्. तथेति** ध्यातरसगोपनमित्यर्थः. **अन्यापदेशस्येति**, यथा कश्चित् सिंहापदेशेन कस्यचित् क्रूरतां कथयति— अयं सिंहसदृशः क्रूर इति. **एतन्न्याय** इति विनापि दर्शनन्न्याय

दृष्ट्वा आर्षज्ञानेन भगवदीयत्वं मत्वा काचिदाह, यथोद्धवस्य मयोपकारः कृत इति गर्वो न भवेत्. अन्यापदेशन्याये तु पदान्युद्धवेऽपि योजनीयानि. तदा दोषसम्भावनापि भवति, द्वितीये त्वर्थे न कापि सम्भावना स्यात्. **मधुकरो** भ्रमरः. वस्तुतोऽयं विपरीतनामा— मधु भक्षयति न तु करोति, अतो वसन्तो मधुकरः; अयं

लेखः

काचिदित्यत्र. द्वितीये त्वर्थे इति, कालपक्षे प्रार्थनैव जाता न तु दोषारोप इति भावः ॥११॥

प्रकाशः

संस्कारोद्बोधनेन तदुपयोगात् पक्षान्तरकल्पनमयुक्तमित्यत आहुः **अन्ये**त्यादि. अतो द्वितीय एव पक्षो ज्यायानिति कल्पना युक्तैवेत्यर्थः. **दोषो** मधुपादिपदोक्तो ज्ञेयः. किञ्चोक्तन्याये दूते मधुपकल्पना स्यात्, तथा च मधुकरे दूतकल्पना मूलोक्ता विरुध्येतेत्यतोऽपि तथा. ननूद्धवदर्शनेन तथाभावोद्गमो युक्तः, भ्रमरदर्शने तु कुत इत्यत्राहुः **मधुकर** इत्यादि. तथा च भगवत्सम्बन्धप्राप्त-मधुभक्षणार्थमाकारसङ्गोपनेन पश्यतोऽहरवदागत इति

टीपिका

इत्यर्थः. **संस्कारे**[प्रका.]ति, सर्वेषां संस्कारस्योद्बोधकत्वादेतासामपि संस्कारोद्बोधनेन **तदुपयोगाद्** दोषारोपोपयोगात्. **पक्षान्तरे**ति, एतदर्थं भगवान् भ्रमरमपि प्रेषितवान् इति पक्षान्तरकल्पनमयुक्तमित्यत आह **अन्ये**त्यादिना. तथा च साधारणे भ्रमरे दूतत्वाभावे 'मधुपे'ति पदानि उद्धवे कल्पयितुं शक्यानीति **भगवान् वा गोपिकानां स्वरूपमुद्धवाय प्रदर्शयितुं भ्रमरमपि प्रेषितवानि**[सुबो.]ति युक्तमुक्तम्. तेन पक्षान्तरकल्पनेऽपि दोषाभाव इति भावः. **द्वितीयपक्ष**[प्रका.]इति, केवलभ्रमरपक्षाद्भगवत्प्रेषितद्वितीयभ्रमर**पक्षो ज्यायानिति** अतः पक्षान्तर**कल्पना युक्तैवे**त्यर्थः. **दोषे**ति, सुबोधिन्युक्तदोषसम्भावना मधुपादिपदोक्ता उद्धवेऽपि भवतीति ज्ञेयम्. **उक्तन्याय** इति केवलभ्रमरदर्शनन्याये. **दूते** इति उद्धवे. **मूलोक्ते**ति, **प्रियप्रस्थापितं दूत**मित्यत्र भगवत्प्रेषितभ्रमरपक्षे **मूलोक्ता** दूतोक्ति**र्विरुद्ध्येते**त्यर्थः. **तथे**ति, द्वितीय एव पक्षो ज्यायानित्यर्थः. **तथाभाव** इति मधुपादिपदोक्तो दोषभाव उद्धवे युक्त इत्यर्थः. **कुत** इति, **भ्रमरदर्शने तु** भ्रमरे दूतोक्तो दोषारोपभावः **कुत** इत्यर्थः. **भगवत्सम्बन्धे**ति, युगलगीते स्वतन्त्रलेखे ''दिव्यगन्धतुलसीमधुमत्तैरि''त्यत्र भगवत्सम्बन्धप्राप्तमधु अस्मासु अस्ति तद्भक्षणार्थमित्यर्थः. **आकारसङ्गोपनेने**ति,

मधुपोऽपि **मधुकरत्वेनोच्यते**. अन्यथा पुष्पाणि तदभिमानिन्यो वा देवता एनं न प्रवेशयेयुः. पूर्वं हि सा **कृष्णसङ्गमं ध्यायन्ती** स्थिता प्रथमतो भगवता सह मनसा सम्बन्धं प्राप्य पश्चान्मानवती जाता. तदा भगवान् अन्यां गृहीतवानिति परिकल्प्य

प्रकाशः

[१]तज्ज्ञाने भवत्येव क्लेश इति बोधनायैव शुकेन **मधुकर**पदमुक्तमतस्तथेति भावः. अन्यापदेशप्रस्तावपक्षे तु यथा पुष्परसं सङ्गृह्णन्नपि तत्स्वरूपोत्कर्षप्रतिपादनेन सार्थकत्वं रूपं मधु प्रयच्छति एवं दुःखदानेन पूर्वतरन्नाशयन्नपि प्रियसन्देशहारकत्वेन सुखद इति तथेति भावः ॥११॥

टीपिका

यथा कूटरसायनीवेशान्तरकल्पनेन कस्यचिच्चक्षुर्वञ्चयित्वा धनं हरति तथैवेयं गोपिकाप्येनं भ्रमरं मधुहारकं ज्ञास्यतीति. **तज्ज्ञाने**[प्रका.]ति, अयं मधुप इति ज्ञान इत्यर्थः. **क्लेश** इति, स्वामिनीनां क्लेशो भवत्येवेति स मा भवतु इति बोधायेत्यर्थः. [२](पूर्वं भगवता मधुपो बोधितस्त्वां ता यदि पृच्छेयुः "त्वं किंनामा"इति तदा "अहं मधुकरनामा" इति वक्तव्यं, न तु "मधुप" इति. तत्सर्वं ज्ञानबलेन शुको बुद्ध्वा अन्येषां बोधनायैव **मधुकर**पदमुक्तवानिति.) **तथेती**ति, विपरीतमधुकरनामेति भावः. **अन्यापदेशप्रस्तावपक्ष** इति लौकिकभ्रमरपक्ष इत्यर्थः. **सार्थकत्वरूपमिति,** पुष्पस्य सार्थकत्वरूपं मधु प्रयच्छतीत्यर्थः. **एवमिति,** एवमेतस्या भगवत्सम्बन्धप्राप्तं मधु गृह्णन्नपि तप्ततैलपतित-जलबिन्दुसदृशेन ज्ञानोपदेशेन मानादि **पूर्वतरं नाशयन्नपी**त्यर्थः. **तथेती**ति, अतो मधुपत्वे मधुकरत्वं युक्तमेवेति भावः. **अन्यापदेशे**त्यारभ्य **भाव** इत्यन्तस्यायं भावः— तथा च नन्वेवं यदाऽयं विपरीतनामा तदा श्रीशुकेन मधुपे मधुकरत्वं किमर्थमुच्यते इत्याशङ्कापरिहाराय दृष्टान्तार्थं साधारणमधुपेऽपि मधुकरगुणमाह. तथा च यथा दृष्टान्ते मधुपः पुष्पस्य रसं संगृह्णन्नपि अहो पुष्पाणि सर्वोत्कृष्टानि यतः सारग्राही मधुपः सेवते इति स्वसम्बन्धेन सार्थकत्वरूपं मधु प्रयच्छति, तथा दार्ष्टान्ते गन्धकीर्तेः समानत्वाद् "आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यामि"त्यादिनोत्कर्षप्रतिपादनेन व्रजरत्नानां पादपद्मानां सार्थकरूपमधु उद्धवः प्रयच्छति अतो मधुकरत्वं ज्ञेयम्. एतत्सर्वं "मा स्पृशाङ्घ्रिमि"ति पदव्याख्याने स्पष्टं भविष्यतीति. **पुष्पाणी**[सुबो.]ति, स्वामिनीपाद-पद्मानि **तदभिमानिन्यः** पादपद्माभिमानिन्यः स्वामिन्यो **देवता** इत्यर्थः ॥११॥

---

१. तद्ध्यान इति पाठः. २. इदं कुत्रचिदधिकम्.

सा **न** समीचीनेति च पुनर्भगवान् मामेव प्रार्थयितुं भ्रमरं प्रस्थापितवानिति ज्ञातवती. तदाह **प्रियप्रस्थापितं दूतं कल्पयित्वे**ति. **इदं** वक्ष्यमाण**मब्रवीदि**ति ॥११॥

आदौ हि मानवत्याः क्रोधेन पारुष्यं भवतीति ततः प्रथमं तामसतामसी, तद्भावयुक्ता वा, दूषणमाह **मधुपे**ति.

टिप्पणी

मधुप कितवेत्यस्याभासे. **प्रथमं तामसतामसी**ति. अत्रेदमाकूतम्. विप्रयोगे प्रलापदैन्यादिवद्दोषारोपोऽपि व्यभिचारिभाव एव. तथा सति रसात्मकत्वाविशेषेऽप्यत्युग्रभावोत्पत्तौ भगवद्धर्मरूपो रसात्मकः प्रमाणादि-सर्वबलनिरासकोऽत्युग्रस्तामसत्वेनोपचर्यमाणो यः स एव हेतुरिति वाच्यम्. भावानां मिथ उपमर्द्योपमर्दकभावस्तु "रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत रजः सत्त्वं तमश्चैव तमःसत्त्वं रजस्तथे"तीति प्रभुवाक्यात्सत्त्वादीनां यथा तथैवेति तत्त्वमुपचारेणोच्यते. एवं सति रसात्मकप्रभुधर्म एवाविर्भवतीत्यारोपो दोषस्यायमिति न वक्तुं शक्यम्,

लेखः

अस्यास्तामसतामसीत्वे उपपत्तिमाहुः **आदौ** हीति.

प्रकाशः

मधुप कितवेत्यत्र टिप्पण्यामाभासे. **अत्युग्र** इति हेतुगर्भं विशेषणं धर्मस्य तामसत्वेनोपचारे बीजम्, भावान्तरविलायकत्वेनात्युग्रत्वादित्यर्थः. **हेतुरि**ति दोषारोपे हेतुः. **आविर्भवती**ति, ध्याने स्वामिनीहृद्याविर्भवतीत्यर्थः.

टीपिका

मधुप कितवेत्यत्र. टिप्पण्यामाभासे **धर्मस्ये**[प्रका.]ति. ननु **मधुप कितवे**ति श्लोकवक्त्र्यास्तामसतामसत्वे को हेतुरित्याशङ्क्याह यथा भगवद्गीतायां "तमः सत्त्वं रजस्तथे"ति तमसः सत्त्वरजसोर्भावान्तरविलायकत्वमुक्तं तथात्रापि एतस्या अपि तामसतामसीत्वेऽपि तमसः सत्त्वरजसोर्भावान्तरविलायकत्वेनात्युग्रत्वाद्दोषारोप-निरूपणेन स्वामिनी**धर्मस्य तामसत्वेनोपचारे बीजं** हेतुरिति योज्यम्. **मधुप कितवे**त्यस्याभासे **अविशेषेपी**[टिप्प.]ति, यथा संयोगे गुणगानरूपो रसात्मकः शान्तभाव उत्पद्यते तथा विप्रयोगे दोषारोपलक्षणोऽत्युग्ररसात्मकभाव उत्पद्यते, अतोऽविशेषेऽपि उग्रत्वात्तामसत्वेनोपचर्यते इति योज्यम्. **तत्त्वमि**ति, स्वामिनीष्वपि सत्त्वादीनां परस्परोपमर्दकत्वमित्यर्थः. **तस्ये**ति रसात्मकप्रभुस्वरूप-स्येत्यर्थः. **स**

टिप्पणी

भगवदितरास्मरणात्. स्मर्यमाणस्य तस्य स न वक्तुं शक्यः, इत एव नानुभूयमानस्य, प्रभुस्वरूपे **तद्धर्मेषु वा** दोषत्वाभावात्. ज्ञानवत आत्मस्फूर्तिश्चावश्यकी. एवं सति तदा तदभावाद्दोषत्वेनैव प्रभुधर्मेषु ज्ञानादुच्यमानधर्मात्मकत्वमेव स्वामिन्यास्तदा संपन्नमिति **तामसतामसी**त्युक्तम्. श्रीमदुद्धवानामपि स्वामिन्या एतादृगवस्थादर्शनेन प्रभुरेतादृशीरेताः कथं न मिलतीति भावो दोषारोप इव जात इत्यपि ज्ञापनायैतत्स्वरूपत्वमेवोक्तम्. एतादृश्याः स्वामिन्या हृद्यागमनेनैतद्भावोदयाद् उपचारोऽयमित्यरुच्या पक्षान्तरमाहुः **तद्भावयुक्ता वे**ति.

प्रकाशः

इत इति, धारावाहिकस्मरणवृत्तेरनुभवप्रतिबन्धकत्वादित्यर्थः. ननु स्वरूपस्मरणादेवारोपोऽस्त्वित्यत आहुः **प्रभुस्वरूपे**त्यादि. तर्हि 'तादृशभगवद्धर्मयुक्ते'त्येव वाच्यमित्यत आहुः **ज्ञानवत** इत्यादि. **ज्ञानवतः** स्वामिन्यात्मनः. **तदा तदभावादि**ति, आत्मस्फूर्तिकाले भगवद्धर्मयाथात्म्यस्फूर्त्यभावात्. **उच्यमानधर्मात्मकत्वमि**ति दोषत्वेन भातं तदात्मकत्वम्. **एतत्स्वरूपमि**ति **काचित्**पदोक्तस्वामिनीस्वरूपम्. सुबोधिन्याम्. नन्वियं कथा समाधिभाषाविरुद्धा, भगवति दोषप्रसञ्जकत्वेन भक्त्युत्पादकसंहिताविरुद्धत्वादित्याकाङ्क्षायामाहुः **मतान्तरे**त्यादि.

टीपिका

इति दोषारोप इत्यर्थः. **धारावाहिके**[प्रका.]ति, एतस्या दोषारोपनिरूपणेऽपि **धारावाहिकस्मरणवृत्ते** रसात्मकप्रभ्वनुभवाप्रतिबन्धकत्वादित्यर्थः. **नानुभूयमानस्ये**[टिप्प.]ति, अनुभूयमाने भगवति आरोपो दोषस्यायमिति न वक्तुं शक्यमित्यर्थः. **स्मरणादि**[प्रका.]ति, अनुभूयमान**स्वरूपस्मरणादेव दोषारोपोऽस्त्वि**त्यर्थः. **तादृश** इति, **भगवति** दोषारोप**धर्मः** सर्वेषां **युक्त इत्येव वाच्यमि**त्यर्थः. **ज्ञानवते**ति, तथा च **ज्ञानवतः स्वामिन्यात्मनो** भगवति दोषारोपस्फूर्तिर्विप्रयोगे आवश्यकी अतः तासां तादृशो रसात्मको भगवद्धर्मो युक्तो न सर्वेषामिति भावः. **आत्मस्फूर्तिकाले** इति भगवति दोषात्मस्फूर्तिकाले. **काचिदि**ति, "काचिन्मधुकरे"तिपद्योक्तसुबोधिन्यां "पूर्वं हि सा कृष्णसङ्गमं ध्यायन्ती"त्यादिनोक्तं **स्वामिनीस्वरूप**मित्यर्थः. **हृद्यागमनेने**[टिप्प.]ति, रसात्मकप्रभुधर्मस्य **हृद्यागमनेन** तामसतामस**भावोदयादि**त्यर्थः. **उपचारोयमि**ति, न तु सहज इत्युपचारोऽयमित्यरुच्या पक्षान्तरमाहुरित्यर्थः. **तद्भावयुक्ता वे**ति तामसभावयुक्ता वेत्यर्थः. **मधुपे**त्यस्याभासे **यथा अज्ञातपीडे**[सुबो.]ति, कयाचिन्ना-

॥ गोप्युवाच ॥

मधुप कितवबन्धो मा स्पृशांघ्रिं सपत्न्याः
कुचविलुलितमालाकुङ्कुमश्मश्रुभिर्नः ॥
वहतु मधुपतिस्तन्मानिनीनां प्रसादं
यदुसदसि विडम्ब्यं यस्य दूतस्त्वमीदृक् ॥१२॥

सर्वत्र हि रसे विप्रलम्भे दूतो नायकश्च दूष्यते, यथा 'अज्ञातपीडागमा' 'अधमस्ये'त्युभयोर्दूषणम्. तथात्राप्याह **मधुप कितवबन्धो** इति. मतान्तरभाषेयमिति कामशास्त्रानुरोधिनी निरूपितेति न समाधिभाषायां भक्तिमार्गे वा विरोधः. यद्यपि

टिप्पणी

मधुप कितवेत्यत्र **मतान्तरभाषेयमि**त्यादि. अत्रायमाशयः— शुद्धपुष्टिमार्गीयभक्तानां ज्ञानमार्गबोधनं भक्तिमार्गविरुद्धतमम्, अतो न समाधिभाषायामस्य प्रवेशो वक्तुं शक्यः. वर्ण्यते चात्युत्कटो रसात्मकः स्नेहभावः. स एव हि परमपुरुषार्थरूपः; तद्विघातकश्च सः. यद्यपि ज्ञानस्य स्वातन्त्र्येणात्रानुद्देश्यत्वम्, किन्तु प्रिये दोषारोपमात्रनिवर्तकत्वेन, तथापि तदारोपस्यापि रसात्मकत्वाद् व्यभिचारिभावत्वेनास्थिरत्वाच्च न सर्वथा ज्ञानस्योपयोगः.

प्रकाशः

तत्र 'केचिदि'त्यादिकथनरूप-मतान्तरलिङ्गस्याभावात् कथं मतान्तरभाषात्वमस्या इत्याकाङ्क्षायां टिप्पण्यां तथात्वमुपपादयन्ति **अत्रायमाशय** इत्यादिना. **स** इति ज्ञानोपदेशः. ननु समाधिभाषापोषणाय अन्यभाषाद्वयस्य कथनदर्शनादस्या

टीपिका

यिकया दूतं प्रति वाक्यमुक्तं **यथा अज्ञातपीडागमा अधमस्येती**ति. **यथाऽधमस्य** तव **स्वामिनो मम पीडाया आगमा अज्ञाताः** सन्ति तथा. **अधमस्येति** सम्बन्धषष्ठ्युक्त्या तत्सम्बन्धित्वमपि तादृगित्यु**भयोर्दूषणम्. तथात्रापि मधुपेति** दूतदूषणं **कितवेति** भगवद्दूषणमेवमुभयदूषणमित्यर्थः. **मधुपे**त्यत्र **मतान्तरे**त्यारभ्य **वा विरोध** इत्यन्तस्यार्थष्टिप्पण्याम् **अत्रायमि**त्यारभ्य **इत्यर्थ** इत्यन्तो विस्तरत उक्तः. तत्रापि **मतान्तरभाषेयमिति कामशास्त्रानुरोधिनी निरूपितेति**[सुबो] एतस्यार्थः प्रकारद्वयेनोक्तः. तत्र प्रथमप्रकारो ज्ञानमार्गाद् भक्तिमार्गो मतान्तरमिति स च **शुद्धपुष्टिमार्गीयभक्तानामि**[टिप्प]त्यारभ्य **ज्ञाप्यते** इत्यन्तं उक्तः. तन्मध्ये ज्ञानोपदेशस्य कामशास्त्रानुरोधित्वं रसरीत्या भक्तिमार्गानुसारेण भगवति

टिप्पणी

न ह्येतावत्पर्यन्तं साधिते निरोधे काचिन्न्यूनतास्ति येन ज्ञानमुपयुज्येत. तस्मात् सूष्ठूक्तं **मतान्तरे**त्यादि. कथने तूपपत्तिरियमेव यत्संगमस्तदार्तिर्वा पुरुषार्थ इतिशास्त्रार्थः. एवं सति विप्रलम्भे प्रिये दोषस्फूर्तौ स्वदुःखदत्वज्ञानं हेतुः. तथा सति स्वसुखदत्वेनोत्तमत्वं प्रियत्वं च सिध्यति, न तु स्वरूपतः. तथा सति स्नेहस्य निरुपधित्वं भज्येतेति तत्समाधानायात्मत्वेन बोधनम्. तथा सति भगवत्येतासामेतासु

प्रकाशः

अनुपयुक्तत्वे एतत्कथनमसङ्गतं स्यादित्यत आहुः **कथने त्वि**त्यादि इय**द्बोधन-मित्यन्तेन** वक्ष्यमाणा. तस्याश्च तात्पर्यात्प्रामाण्यमिति तत्सूचितं प्रमेयमाहुः **तथा सती**त्यादिना प्रकारद्वयेन. ननु पूर्वोक्तमसङ्गतम्, **काचिदिति** पद्योत्तरमाचार्यैः

टीपिका

निरुपधिस्नेहभावभङ्गलक्षणं; स तु **कथने तूपपत्तिरि**टिप्प.त्यादिनोक्त इति ज्ञातव्यः. द्वितीयप्रकारो मर्यादामार्गात्पुष्टिमार्गो मतान्तरमिति, स च **समाधिभाषाया-मि**त्यादिनोक्तः. समाधिभाषात्वं तु व्यासपादानुभवेनैव. स तु प्रथमस्कन्धे ''अनर्थोपशमं साक्षाद्भक्तियोगमधोक्षजे''इति वाक्ये द्विविधो भक्तिमार्गो दृष्टः, अतो न समाधिभाषायां भक्तिमार्गे वा विरोध इति. कामशास्त्रानुरोधित्वं तु **एतादृशेषु** इत्यादिना उक्तमिति ज्ञातव्यमिति. **केचिदि**प्रका.ति,''केचिद्वदन्ति मुनयो विस्मृत्य प्रागुदाहृतमि''त्यादिकथनरूप-मतान्तरभाषात्वमस्या भ्रमरकथाया भविष्यति न वेत्याकाङ्क्षायां **तथात्वमिति** यादृशं मतान्तरभाषात्वं तादृशत्वम् **अत्रायमाशय** इत्यादिना टिप्पण्या**मुपपादयन्ती**त्यर्थः. **अन्यभाषाद्वयस्ये**प्रका.ति, मतान्तरभाषाया लौकिकभाषायाश्च निबन्धादिषु **कथनदर्शना**दित्यर्थः. **अस्या** इति ज्ञानोपदेशार्थकथाया इत्यर्थः. **एतदि**ति ज्ञानोपदेशकथनदर्शनादित्यर्थः. **इयद् बोधनमि**ति, टिप्पण्यां **कथने तूपपत्तिरियमेवे**ति इयद् बोधनमित्यर्थः. **वक्ष्यमाणे**प्रका.ति, टिप्पण्यां **यत्सङ्गमे**त्यारभ्या**त्मत्वेन बोधनमि**त्यन्ता वक्ष्यमाणेत्यर्थः. **तस्याश्च तात्पर्यात्प्रामाण्यमि**प्रका.ति, ज्ञानोपदेशकथाया निरुपधिस्नेहस्य भञ्जकत्वाभावरूपतात्पर्यात्प्रामाण्यमित्यर्थः. **प्रकारद्वयेने**ति, टिप्पण्युक्तेनाग्रे **भगवती**त्यादिना प्रकारद्वयेनेत्यर्थः. **सिध्यती**टिप्प.ति प्रिये **सिध्यती**त्यर्थः. **न तु स्वरूपत** इति, प्रिये स्वरूपतः सहजोत्तमत्त्वं प्रियत्वं च न

टिप्पणी

च भगवतः सहजः **स्नेहः** सूचितो भवति, दुःखदत्वासंभवश्च. यथा स्वाधिष्ठितं देहं पीडयितुं जीवात्मा नोत्सहते तथा स्वाधिष्ठितं जीवात्मानं भगवानित्युक्तं भवति. अत एव श्रुतिराह ''यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वामि''ति. तथा च विप्रयोगेऽन्तर्लाभः संयोगे बहिरिति तदा तदा तत्तद्धर्माः स्नेहवशादाविर्भवन्ति. तावपि स्नेहजनितावेव, अन्यथा सर्वेषां तौ स्याताम्. तथा च स्नेहस्यैव दोषस्फूर्तिहेतुत्वं पर्यवस्यतीति निर्दोषत्वं प्रिये भाति. इदं तु मर्यादारीत्योच्यते, वस्तुतस्त्वत्युत्कटस्नेहेनैव दोषः स्फुरति, सोऽपि भगवद्भाव एवेति न भ्रमरूपो न वा दोषरूपः; रसात्मकभगवत्स्वरूपमेतादृशमेवेति नाधिकं विचारणीयमत्रास्ति. अन्यथा रसाभाव (रसाभासः) एव सिध्यतीति नः प्रतिभाति. ज्ञानाद् भक्तेराधिक्यमप्यनेन ज्ञाप्यते.

समाधिभाषायामिति. तत्र हि माहात्म्यज्ञानस्नेहौ क्वचिद्व्यस्तौ क्वचित्समस्तौ च निरूप्येते. प्रकृते तु ''काचिन्मधुकरमि''त्यादिना प्रस्तुता कथा न तादृशीत्यस्याः

प्रकाशः

कथनेन तदप्रस्तावात्. अस्तु वा तथा तथापि द्वितीयो हेतुरस्याः कथाया ''लौकिकभाषाऽग्रे च मतान्तरभाषेत्यतो नोभयविरोध'' इत्येवमुक्तं स्यात्. न त्वेवम् अतो न स पन्थाः किन्त्वन्य इत्याशयेनाहुः **समाधीत्यादि**. **तद्विरुद्धार्थ**-

टीपिका

सिद्ध्यतीत्यर्थः. **सर्वेषामिति** गोपिकाव्यतिरिक्तानां सर्वेषामित्यर्थः. **भातीति**, ज्ञानोपदेशे सति प्रिये निर्दोषत्वं भातीत्यर्थः. **इदमिति**, दोषारोपादिकं **रसमर्यादारीत्योच्यत** इत्यर्थः. **सिध्यतीति**, केवलदोषारोपे सति रसाभाव एव सिध्यतीत्यर्थः. **आधिक्यमिति**, ज्ञानोपदेशे सत्यपि रसात्मिका तप्ततैलपतितजलबिन्दुसदृशी भक्तिर्जाता न तु स्वास्थ्यमतो ज्ञानाद्भक्तेराधिक्यं ज्ञाप्यत इत्यर्थः. **पूर्वोक्तमि**[प्रका.]ति, **अत्रायमाशय**[टिप्प.] इत्यादिना ज्ञानाद्भक्तेर्मतान्तरादिकं यदुक्तं **तदसङ्गतमि**त्यर्थः. **तदप्रस्तावादि**[प्रका.]ति, अग्रे वक्ष्यमाणा या ज्ञानोपदेशकथा तस्या अत्राप्रस्तावादित्यर्थः. **अस्तु वेति**, अग्रे ज्ञानोपदेशकथाया वक्ष्यमाणत्वाद् अस्तु वा सङ्गतत्वमित्यर्थः. **अस्याः कथाया** इति, भ्रमरकथायाः **लौकिकभाषा अग्रे मतान्तरभाषे**ति हेतुद्वयमस्तीत्यर्थः. **नोभयविरोध** इति, समाधिभाषायां भक्तिमार्गे वा **न विरोध इत्येवमुक्तं स्यादि**ति योज्यम्. **न त्वेवमिति**, पोषकत्वेन पूर्वोक्तप्रकारकं त्वदुक्तलौकिकभाषात्वं मतान्तरभाषात्वं च समाधिभाषायां

टिप्पणी

कथायाः समाधिभाषात्वं तद्विरुद्धार्थकत्वं च विरुद्धमिति कस्यचिद्भाति, **विहितस्नेहाभावेन भक्तिमार्गविरोधश्च तथा; स बोध्यते** विरोधोऽत्र नास्तीति. तत्र मतान्तरभाषात्वं कामशास्त्रानुरोधित्वं चेति हेतुद्वयम्. अत्रेदं ज्ञेयम्— **मर्यादा**-मार्गीयमतात् पुष्टिमार्गीयं तत् **मतान्तरमित्युच्यते.** समाधौ तु व्यासैर्द्विविधोऽपि

प्रकाशः

कत्वमिति, तथा च लौकिकभाषात्वाङ्गीकारेऽपि विरोधस्यापरिहारेण प्रकृतानुपयोगादसङ्गतत्वमित्यर्थः. **तत्रे**ति तादृशस्य बोधने, न तु पूर्वाशङ्कोक्तेः. तर्हि क्वास्य निवेश इत्यत आहुः **अत्रेदमित्या**दिना. सुबोधिन्याम्. **मधुपे**त्यत्र.

टीपिका

भक्तिमार्गे वा न विरोधकरमित्यर्थः. **समाधिभाषात्वमि**[टिप्प.]ति, **समाधिभाषात्वं विरुद्धमिति** योज्यम्. **तद्विरुद्धार्थकत्वं चे**ति, समाधिभाषायां तु माहात्म्यज्ञानपूर्वकस्नेहनिरूपणं कृतमत्र तु प्रत्युत दोषारोपनिरूपणमिति **विरुद्धार्थकत्वं विरुद्धं** चेत्यर्थः. **तथे**ति, **विहित** इत्यादिनोक्तं तृतीयविरोधमित्यर्थः. एवमाशङ्क्य **स बोध्यत** इत्यारभ्य **इत्यर्थः** इत्यन्तेन विरोधः परिहृतः. तन्मध्ये **तत्रे**त्यारभ्य **हेतुद्वय**मित्यन्तेन **तथा चे**[प्रका.]त्यादि पूर्वोक्तं परिहृतं ज्ञेयम्. **लौकिक-भाषात्वाङ्गीकारेपी**[प्रका.]ति भ्रमरकथाया लौकिकभाषात्वाङ्गीकारेऽपि. **विरोधस्ये**ति, माहात्म्यज्ञानस्य स्नेहस्य चाभावेन **विरोधस्यापरिहारेण असङ्गतत्वमि**त्यग्रिमेण योज्यम्. माहात्म्यज्ञानस्य प्रकृतानुपयोगाच्चासङ्गतत्वमित्यर्थः. **तादृशस्य बोधने** इति, भ्रमरकथाया लौकिकभाषा-मतान्तरभाषेति हेतुद्वयस्योच्यमानस्य **बोधने** टिप्पण्युक्तं **मतान्तरभाषात्वं कामशास्त्रानुरोधित्वं च हेतुद्वय**मिति योजनीयम्. न तु त्वदुक्तरीत्या पोषकत्वमिति भावः. **न तु पूर्वाशङ्कोक्तेरि**[प्रका.]ति, माहात्म्यज्ञानपूर्वकः स्नेहः समाधिभाषेति पूर्वाशङ्कानिवृत्त्यर्थं टिप्पण्युक्तहेतुद्वयं नेत्यर्थः. **अत्रेदमि**[टिप्प.]ति. तथा च विरोधत्रयमस्यां कथायां— समाधिभाषात्वं तद्विरुद्धार्थकत्वं च विहितस्नेहाभावेन भक्तिमार्गविरोधश्चेति तत्परिहारो**ऽत्रेदमि-त्यारभ्येत्यर्थ** इत्यन्तेन कृतस्तत्र तद्विरुद्धार्थकत्वं माहात्म्य-ज्ञानराहित्यं यदुक्तं तन्मर्यादामार्गे माहात्म्यज्ञानस्यावश्यकत्वं न तु पुष्टाविति, अतो नास्याः कथायाः समाधिभाषायां विरोध इति शङ्कनीयं, तदेवोक्तं **मर्यादे**त्यादिना. एवमेकं विरोधं परिहृत्य द्वितीयं परिहरति. ननु कथमस्याः कथायाः पुष्टिमार्गीय-

भ्रमरो मधुपो भवति तथाप्यन्यार्थेऽपि शक्त इति तत्सूचकत्वेन निन्दापि भवति. अन्यापदेशे तु यादवाः सर्वे पानरता इति लोकप्रसिद्ध्या निन्दा भवति. यद्यपि

टिप्पणी

भक्तिमार्गो दृष्टः, "अनर्थोपशमं साक्षाद्भक्तियोगमि"ति वाक्यात्. तदर्थस्तु 'अनर्थोपशमं भक्तियोगमि'ति पदेन साधनरूप उच्यते, 'साक्षाद्भक्तियोगमि'ति पदेन फलरूपः. "अजानतो लोकस्य" आद्यः "समाधौ दृष्ट्वा स्वयं विद्वानि"ति द्वितीयमपि तमुक्तवान् व्रजसीमन्तिनीषु. अयं पुष्टिमार्गीय इति मतान्तररूपः, एतादृशेषु ज्ञानोक्तिरपि तथा. कामशास्त्रानुसारेणैव पूर्वं स्वरूपानन्दं दत्तवानित्यधुनापि तथैवोच्यत इति न कोऽपि विरोधः. तथा चेयं समाधिभाषैव. तथा चात्र समाधिभाषायां सत्यां भक्तिमार्गे च सत्युक्तरीत्या न विरोध इत्यर्थः.

प्रकाशः

नन्वत्र दूतदूषणं सर्वैः पदैः कर्तव्यं; तत्र मधुपभ्रमरपक्षे न दूषकमिति सङ्गतिरिति परमुद्धवपक्षे कथं सङ्गतिरित्यत आहुः **यद्यपी**त्यादि. **शक्त** इति मधुशब्द इति शेषः. ननु विद्यमानदोषकथनं युक्तं "निःशेषच्युते"त्यादिवत्, न त्वविद्यमानस्य; प्रकृते च भगवतो भक्तानां च तथात्वाभावादयुक्तमिदमिति चेत्तत्राहुः **यद्यपी**त्यादि.

टीपिका

समाधिभाषात्वमित्याशङ्कापरिहारस्तु व्यासपादैः समाधौ यः साक्षात्फलरूपो भक्तियोगो दृष्टस्तं व्रजसीमन्तिनीषूक्तवानिति तेनेयं पुष्टिमार्गीयसमाधिभाषेति न कोऽपि विरोधः. एतत्सर्वं **समाधावि**[टिप्प.]त्यादिनोक्तम्. **तथे**ति, **एतादृशेषु** भक्तेषु **ज्ञानोक्तिरपि** पुष्टिमार्गीयसमाधिभाषारूपेत्यर्थः. तृतीयविरोधो **विहितस्नेहाभावेन भक्तिमार्गविरोधश्चे**ति तत्परिहारस्तु **सुबोधिन्यामियं** समाधिभाषा **कामशास्त्रानुरोधिनी**त्युक्तं तेन कर्तव्यः. तदेवोक्तं टिप्पण्यां **कामशास्त्रानुसारेणैव पूर्वं** पञ्चाध्याय्यां **स्वरूपानन्दं दत्तवानित्यधुनापि** विप्रयोगावस्थायामपि **तथैवोच्यत इति न कोपि विरोध** इत्यन्तम्. **मधुपे**त्यत्र. **मधुपे**[प्रका.]ति 'मधुप'शब्द इत्यर्थः. **दूषकमि**ति भ्रमरदूषकमित्यर्थः. **'निःशेषच्युते'त्यादिवदि**ति, विद्यमानदोषं प्रति केनचिदुक्तं 'निःशेषच्युते'त्यादि[1] इति तद्युक्तमेवेत्यर्थः. **तथोक्तिरि**ति

१. निःशेषच्युतचन्दनं स्तनतटं निर्मृष्ट रागोधरो नेत्रे दूरमनञ्जने पुलकिता तन्वी तवेयं तनुः मिथ्यावादिनि दूति बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे वापीं स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम् —अमरुशतकम्.

भगवद्भक्ता भगवांश्च **न भवति**. **अनुकरणं साधारणाविगीतधर्माणामेव न तु सर्वेषां**, तथापि साधारण्येन प्राप्तो धर्मः श्रुतोऽत्यन्तं खेदाय भवति. वस्तुतस्तु सरस्वती अन्यार्थमप्याह. भगवान् स्वामी कालश्च दूतः स्वयं च श्रुतय इति कालद्वारा हि भगवान् वक्तव्यो ज्ञातव्यो वा भवति. अत्र संवत्सरात्मकः कालः आदौ **मधु** वसन्तः **पात्येव**, ततः **कितवस्य** ग्रीष्मस्य वञ्चयित्वा सर्वरसहारकस्य **बन्धुर**पि भवति. स चेद्भगवत्सम्बन्धिनं वृन्दावनादिभूप्रदेशं भगवच्चरणं वा तत्रत्यं स्पृशेत्तदा क्लेशो महानेव भवेदिति पादस्पर्शं निषेधयति **मा स्पृशांघ्रिमिति**. पूर्वं तु भगवति विद्यमाने "निदाघवन्ह्यर्कभवो भुवो रसं" न गृहीतवानित्युक्तम्;

टिप्पणी

कालस्य दूतत्वमुपपादयन्ति **कालद्वारा ही**त्यादिना. तत्तत्काले तथा तथा भगवत्पूजा-ध्यान-स्तोत्रादेर्विहितत्वेन स स काल एव भगवत्प्रापकः, तदभावे तदकरणादिति भावः ॥१२॥

प्रकाशः

न भवतीति मधुप इत्यर्थात्. तत्र हेतुः **अनुकरण**मित्यादि. **साधारण्ये**ति यादवसाधारण्येन. तथा च विगीतत्वाभावेन सम्भावना. **अत्यन्तं खेद**स्तु पूर्वं तदभावाद् ज्ञेयः. यद्यपि न विशिष्य श्रुतस्तथाप्यभूतपूर्वयैतावदुपेक्षया सोदेतीति तथोक्तिः. **सरस्वती**ति, स्वस्य श्रुतित्वात् स्वाधिभौतिकी(क!)वाणीरूपेण

टीपिका

दोषारोपोक्तिरित्यर्थः. **अनुकरणमि**[सुबो.]ति जात्यनुकरणमित्यर्थः. **साधारणाविगीतधर्माणामेवे**ति, ब्राह्मणादिषु साधारणाविगीतानिन्दितधर्माणामेवाऽनुकरणमित्यर्थः. **न तु सर्वेषामि**ति, सर्वेषां विगीतधर्माणामनुकरणं नेत्यर्थः. तथा च यथा ब्राह्मणजातिरुत्तमा तेनोत्तमजातिमत्त्वात्सर्वे ब्राह्मणा उत्तमा एव; तन्मध्ये एकस्मिन् निन्दिते जाते सर्वेऽपि न निन्दिता भवेयुः, तथा यादवेषु पानरतेष्वपि भगवति भक्तेषु च न दूषणमित्यर्थः. तर्हि गोपिका दोषारोपोक्तिं किमर्थं करोतीत्याशङ्कायामाहुः **साधारण्येती**[प्रका.]त्यादिना. **सम्भावने**ति, गोपिकानां दोषारोपसम्भावनामात्रमेवेत्यर्थः. **पूर्वं तदभावादि**ति, भगवति भक्तेषु च पूर्वं दोषाभावादत्यन्तखेद उदेतीति भावः. **न विशिष्य श्रुत** इति, भगवति भक्तेषु च न दोषविशेषः श्रुत इत्यर्थः. **सोदेतीति**, दोषारोपसम्भावनोदेतीत्यर्थः. अतो नायं वास्तवोऽर्थः. वास्तवोऽर्थस्तु कालपक्ष एव, तदेवोक्तं **वस्तुतस्त्वि**[सुबो.]त्यादिना. **पूर्वोक्तादि**[प्रका.]ति **यद्यपि भ्रमर**[सुबो.] इत्यादि-

अधुना दूरे भगवानिति मत्वा कदाचित् स्पृशेदिति निषेधः. अतो नमस्कारार्थमागतं भ्रमरमुद्धवं वा निषेधति. ननु नमस्कारे को दोष इत्याशङ्क्य मधुपत्वात् चरणकमलमकरन्दमपि पास्यतीति निषेधति. तदा चरणौ गतसारौ भगवदुपयोगाय न भवेयाताम्. मधु मादकं च यः पिबति स न स्पृश्यो भवति. ननु दूतोऽहं भगवता आकारणार्थं प्रेषितः, न तु कश्चिद् अहमुदासीनः, स्त्रीणां च भोगार्थिनां तादृश्यवस्थोचितेत्याशङ्क्य स हि वञ्चनार्थमेव त्वां प्रेषितवानित्याह **कितवबन्धो** इति. **कितवो**ऽयं वञ्चकः तत्रापि धूर्तः अतः फलस्याभावात् मानापनोदनादिसाधनं व्यर्थमिति **अंघ्रिं मा स्पृशे**ति निषेधो युक्तः. अनेनोद्धवस्यापि सम्माननार्थं निषेध एव. इममर्थमभिप्रेत्यैव निषेधः. किञ्च **सपत्न्याः कुचविलुलितमालाकुङ्कुम-**

लेखः

मधुपेत्यत्र. **अतो नमस्कारार्थ**मिति, अतः परमित्यर्थः **तदा चरणा**विति, चरणमधुपाने तत्सौष्ठवानुभवे स स्वभोगं मन्येत तदाऽस्माकमनन्यताभङ्ग इति भावः. **ननु दूतोह**मिति, आकारणार्थं दूतकृतपादस्पर्शे नानन्यताभङ्गः. **मधु मादक**मिति पक्षमाश्रित्याहुः **स्त्रीणां चे**ति. स्वयमेव तथा कर्तुमुचितं चेत्तत्पानकर्तुः स्पर्शे किं बाधकमित्यर्थः. **वञ्चनार्थ**मिति, आकारयितुं नागतः किन्तु वञ्चनेनोपहसितुम् अत आकारणे तात्पर्याभावात् त्वत्स्पर्शेऽनन्यताभङ्गो भवेदेव. भोगाभावात्तादृश्यवस्था च नोचितेत्यर्थः. ननूद्धवस्याधुना नमस्काराभावादुद्धवपक्षे अप्राप्तनिषेधः कथं कृत इत्यत्राहुः **अनेने**ति, सम्भावनया निषेध इति भावः. **इममर्थ**मिति

प्रकाशः

प्रकटितेत्यर्थः. भ्रमरादिपक्षे **अत** इति पूर्वोक्तात् खेदजनकाद्धेतोः. **न भवेयाता**मिति, भू व्याप्तौ, न व्याप्तौ भवेतामित्यर्थः. [१]**सम्भोगार्थिना**मित्यादि, प्रभुकर्तृकसम्भोग-वाञ्छतामन्तरङ्गदूतीप्रायाणां सम्बन्धिनी चरणस्पर्शावस्थेत्यर्थः. **अनेने**ति, साधनवैयर्थ्यसूचनस्य भगवदेकतानतापर्यवसितत्वेनेत्यर्थः. **सपत्नी द्यौ**रिति,

टीपिका

पूर्वोक्तादित्यर्थः. **न व्याप्तौ**[प्रका.] इति, अस्मच्चरणौ भगवति सर्वांगेषूपयोगाय न व्याप्तौ भवेतामित्यर्थः. **फलस्याभावादि**[सुबो.]ति भगवत्प्राप्तिरूप-फलस्याभावादि-त्यर्थः. **साधने**[प्रका.]ति, सन्माननार्थमङ्घ्रिस्पर्शादि-साधनवैयर्थ्यसूचनस्येत्यर्थः. **भगवदेकताने**ति, भगवान्यथा कितवो वञ्चकस्तथा त्वमपि, अतः सुबोधिन्यामिममर्थमभिप्रेत्यैव उद्धवस्यापि सन्माननार्थं निषेधो युक्त इति भावः.

१. भोगार्थिनामिति सुबो. पाठः, संभोगार्थिनामिति प्रकाशपाठः.

श्मश्रुभिरुपलक्षितः. **सपत्नी** द्यौः तस्याः मेघाः पयोधरत्वेन **कुच**स्थानीयाः, तत्र **विलुलिता माला** विद्युतः, तत्र **कुङ्कुम**सदृश्यो दीप्तयः, तत्सहिताः **श्मश्रु**स्थानीया धाराः, तैरपि सहितो **मा स्पृश.** शरदेव परमस्माकं हितकारिणीति वर्षापर्यन्तं निषेधः. न केवलं ममैव किन्तु सर्वासामेवेत्युक्तं **न** इति. यो हि सम्माननार्थमायाति स हि द्विष्टं पदार्थं दूरीकृत्य समायाति, न तु तत्प्रदर्शयन्. भ्रमरस्य श्मश्रुस्थानीयानि रोमाणि मकरन्दसम्बन्धात् पीतानि भवन्ति. तद्भगवदीयस्य नान्यपुष्पेषु मकरन्दार्थं गमनं मृग्यत इति भगवत एव मालास्थपुष्पाणां मकरन्दसम्बन्धः. तत्र ग्रथितानां मकरन्देऽन्तःप्रवेशाभावाच्छ्मश्रुसम्बन्धो बहिरेव. तथा पीतत्वं कुङ्कुमसम्बन्धादेव नान्यथा घटते. तथोद्धवस्यापि भगवदुपभुक्त-मालाप्रासावाघ्राणेन कुङ्कुमसम्बन्धः सम्भवति. तस्यापि श्मश्रूणि. तादृशान्येव प्रायेणेति लक्ष्यते. निरन्तरमालाघ्राणाद् रञ्जितान्येव श्मश्रूणि. आघ्राणं च मकरन्दपानं वा बहिःप्रदेश एवेति न भगवदङ्गरागेण पीतत्वम्. **विलुलित**पदेन च सम्भोगो लक्ष्यते नत्वालिङ्गनमात्रम्; तथा सत्यनुरोधेनापि तथाकरणं सम्भवति. तदा नात्यन्तं द्वेष्यः. श्रमश्च तस्याः सूच्यते, तेन महासौरतं द्योतितम्. तस्मान्मानवृद्धिजनकत्वाद् अर्थत्रयेऽप्यंह्रिस्पर्शनिषेधो युक्तः. ननु भवत्यो हि भगवदीयाः, भगवांश्चेत्तथा मन्यते कथं भवतीनामस्वीकार इत्याशङ्क्याह

लेखः

सम्भवमभिप्रेत्येत्यर्थः. **सपत्नी**ति, अङ्घ्रिरूपवृन्दावनभूप्रदेशस्य सपत्नीत्यर्थः.

प्रकाशः

स्वहितकारिशरत्सपत्नीभूत-वर्षोपलक्षिता द्यौरित्यर्थः. श्मश्रुमात्रसम्बन्धोक्तिध्वनितमर्थमाहुः **आघ्राणमि**त्यादि. **वसन्तसम्बन्धी**ति. अस्याङ्घ्रिं **वहत्वि**ति

टीपिका

मालाकुङ्कुमश्मश्रुभिर्न इत्यस्यार्थकथने **आघ्राणं मकरन्दपानं वे**[सुबो.]ति. ननु मालायां यथा तासां कुङ्कुमसम्बन्धस्तथा भगवदङ्गरागस्यापि सम्बन्धस्तत्र तासां कुङ्कुमेन श्मश्रूणां पीतत्वे किं मानमित्याशङ्क्याहुः **आघ्राणं मकरन्दपानं वे**ति. उद्धवपक्षे आघ्राणं भ्रमरपक्षे आघ्राणं मकरन्दपानं चेति द्वयमपि. **बहिःप्रदेश एवे**ति मालायामुपरिभागे एव. भगवदङ्गरागस्तु मालायास्तलभागे हृद्येव, अतो न भगवदङ्गरागेण श्मश्रूणां पीतत्वमिति भावः. **श्रमश्चे**ति, कुङ्कुमस्य आर्द्रताभावे मालासम्बन्धाभावात् तस्याः सुरतश्रमजलेन कुङ्कुमे आर्द्रता तेन श्रमश्च **तस्याः** सूच्यते इत्यर्थः. **नन्वि**त्याशङ्कायाः समाधानं तु अग्रे **सपत्नीभिर्ही**त्यारभ्य

वहतु मधुपतिरिति. कालपक्षे ऋतुद्वयस्यैव निषेधः. आद्यसङ्ग्रहार्थ माह **मधुपतिरि**ति. वसन्तसम्बन्धी संवत्सरः तत्रत्यानां मानिनीनां प्रसादं वहतु. ता हि मानं परित्यज्य प्राप्तसन्तोषाः कालाय प्रसादं कुर्वन्ति यतो वर्णनायां तत्सम्बन्धेन महत्त्वमापद्यते. अस्माकं तु न तत्रापि प्रसादः; शरद्येव भगवत्प्रसादस्य जातत्वाद् ऋतुद्वये निषेधः, वसन्ते शरदि च तस्य प्रशंसा तथापि वसन्ते भगवत्कृतः कालोत्कर्षः शरदि तु सर्वथेति. वसन्ते हि यज्ञा अग्नयः संस्काराश्चेति. सपत्नीभिर्हि

लेखः

कालोत्कर्ष इति कालसापेक्ष उत्कर्ष इत्यर्थः, कर्मणां कालसापेक्षत्वादिति भावः. तन्मानिनीष्वाद्यस्य स्वीकारः, तापाधिक्येन विशेषतो रसानुपयोगित्वादृतुद्वयस्य निषेधः. तथा च शिष्टानां त्रयाणामभ्यनुज्ञा सिद्धैव; स्वस्मिंस्तु ऋतुत्रयनिषेधः; शरदि प्रसादो जात इति तदादीनां त्रयाणां स्वीकारः.

टीपिका

प्रसादग्रहणमित्यन्तेन कृतमिति ज्ञेयम्. **तथा मन्यत**[सुबो.] इति, तस्याः कुङ्कुमस्वीकारं मन्यत इत्यर्थः. **ऋतुद्वयस्यैवे**ति, ग्रीष्मवर्षानिषेध इत्यर्थः. **आद्ये**ति वसन्तसङ्ग्रहार्थमित्यर्थः. **कालपक्षे वहतु मधुपतिरि**त्यस्यार्थकथने इत्यर्थः. तत्रापि **वसन्ते भगवत्कृतकालोत्कर्ष** इति. एतदर्थो **कालसापेक्षे**[लेख]ति, **कालस्य** यज्ञादिना भगवत्कृत**सापेक्ष उत्कर्ष** इत्यर्थः उक्तः. अग्रे तदेवोक्तं **वसन्ते ही**[सुबो.]त्यादिना. **कर्मणां कालसापेक्षत्वात्**[लेख.]परस्परं सापेक्षतोक्ता ज्ञेया. **तापाधिक्येने**[लेख.]ति, ग्रीष्मे वर्षायां च तापाधिक्यादित्यर्थः. **शरदि तु सर्वथे**[सुबो.]ति, सुबोधिन्यां रासारम्भे नित्यलीलास्थत्वादीनां प्राकट्यकरणाद् भगवता कालस्योत्कर्षः सर्वथा कृत इति तदेवोक्तमाचार्यचरणैः "भगवानपि ता रात्रीरि"त्यस्य सुबोधिन्यां "ऋतुमपि शरदमेव कृत्वे"त्यादिना. ननु मूले **अङ्घ्रिमि**त्यत्र **मध्ये** वसन्तस्य प्रसादवाहकत्वं वक्तव्यं, तत्र **मधुपतिरि**ति कथने कोऽभिप्राय इत्याशङ्कापरिहारार्थम् **अस्याङ्घ्रिं वहतु**[प्रका.]इत्युक्तम्. प्रथमार्थे द्वितीया ज्ञेया. तथा च **अस्य** संवत्सरस्य वसन्तरूपोऽङ्घ्रिः स **मानिनीनां प्रसादं वह**त्वित्यर्थः. **पूर्वेणैवे**ति, **आद्यसङ्ग्रहार्थमि**[सुबो.]ति पूर्वं यदुक्तं तत् संसिद्धमित्येवं पूर्वेणैव सम्बन्धो ज्ञेयः. वसन्तस्य संवत्सराङ्घ्रित्वं कथमित्याशङ्कापरिहारस्तु "किमिह"त्यत्र "कालपक्षेऽपि ऋतुभिः षडङ्घ्रिर्भवति संवत्सर"[सुबो.] इत्युक्तं तेन कर्तव्य इत्यर्थः. यद्वा मधुश्चासौ पतिश्च मधुपतिर्वसन्तः तथा सति सम्पूर्णसंवत्सरस्य तासां प्रसादवाहकत्वं

प्रसादतया भगवते कुचकुङ्कुमं दत्तम्. यो हीश्वरः स चेद्दासीनां प्रसादं लभते तदा यदुसभायां वाच्यता भवत्येव. अन्योपभुक्तस्यान्येन ग्रहणं देवव्यतिरिक्ते वाच्यापादकम्, महतः सुतराम्. तर्हि भगवता कथं स्वीकृत इत्याशङ्क्याह **मधुपतिः**— मधुदेशस्य मधुरायाः पतिः, ईर्ष्यया वा यथेष्टमधुपानकर्ता, अतो देशस्वाभाव्याद्वस्तुस्वाभाव्याद्वा प्रसादग्रहणम्. तादृशस्याप्ययं प्रसादं गृह्णातीत्ययमपि नादरणीयः. अनेनैवं सूचयति— अत्रैवागत्य एकान्ते परं भोगः कर्तव्यः न तु मथुरायाम्, यादवा उपहसिष्यन्ति. तत्र चावश्यं यादवत्वाद् यदुसभायां गन्तव्यं, सजातीयवाच्यता च दुःसहा, अथापीतरसम्बन्धात् स एव **तत्प्रसादं वहतु** न तु वयम्. अस्मासु तु गतास्वपि तथैव करिष्यति— प्रसादत्वेन परं कुङ्कुमं दास्यति. एतच्च नापेक्षितमिति स्वार्थं निषेधः, प्रशस्ता एव धर्मा भगवदीया ग्राह्या

लेखः

वसन्तस्य संवत्सरादित्वात्तमारभ्यैव गणनेति भावः. **अनेनेति**, **यदु-सदसि विडम्ब्यमिति** विशेषणेनेत्यर्थः. **अथापीति**, यथा यादवा न जानन्ति

प्रकाशः

पूर्वेणैव सम्बन्धो ज्ञेयः. एवं योग्यतामापाद्यते तथापि स्वानुपयोगाय विशेषमाहुः **तत्रत्ये**त्यादि. **ऋतुद्वये निषेध** इति यद्यपीति शेषः पूर्वं ज्ञेयः. **सर्वथे**ति, तथाच ततः शरदुत्कृष्टेत्यर्थः. किं तावतेत्याकाङ्क्षायां वसन्तानादरे बीजं वक्तुमाहुः **सपत्नीभिरि**त्यादि. **देवव्यतिरिक्त** इति, देवप्रसादव्यतिरिक्त इत्यर्थः. **अयमपी**ति, वसन्तोऽपीत्यर्थः. **अनेने**ति, एवंप्रकारकानादरणेनेत्यर्थः. **अथापी**ति

टीपिका

नाभिमतमिति भाति, सुबो.**तन्मानिनीनां प्रसादं वहत्वि**त्यर्थोऽपि लक्ष्यते. **एवं योग्यते**प्रका.ति, तासां प्रसादवहने वसन्तस्य एवं योग्यतामापाद्यत इत्यर्थः. **स्वानुपयोगाये**ति, वसन्तस्य स्वानुपयोगायेत्यर्थः. तेन वस्तुतस्तु संयोगे सर्वेऽपि ऋतवः सुखदा इतिभावः. प्रसादवहनमाह **यत**सुबो.इत्यादिना. **तत्सम्बन्धेनेति**, पुरस्त्रीसम्बन्धेन भगवता विहारः कृतस्तेन अहो वसन्तो धन्यो यस्मिन्भगवान् विहरतीति **महत्त्वमापद्यत** इत्यर्थः. **तस्ये**ति कालस्येत्यर्थः. **सपत्नीभिरि**ति, वसन्तसमये रमणेषु कुब्जादिभिः प्रसादतया भगवते कुङ्कुमं दत्तमित्यर्थः. **वस्तुस्वाभाव्यादि**ति यथेष्टमधुपानादित्यर्थः. **अयमिती**ति वसन्त इत्यर्थः. तथा च सेवायां भगवत्प्रसादितकुङ्कुमादिभिर्वसन्तस्य पूजा प्रसिद्धेति **गृह्णाती**त्युक्तम्. ननु वसन्तरूपकालस्य कुङ्कुमश्मश्रुत्वं कथमित्याकाङ्क्षायां **कुङ्कुमपरागधूसरो वायुरेव**

इति. अप्राशस्त्यार्थं **विडम्बनमि**त्युक्तम्. ननु भवतीभ्योऽप्येतदेव दास्यतीत्यत्र किं प्रमाणम्, वस्तुतस्तु तास्त्यक्ष्यतीत्याशङ्क्याह **यस्य दूतस्त्वमीदृगि**ति. तत्सम्बन्धी **भवां**स्तस्यातिप्रियः, तुभ्यं चेद्ददाति अस्मभ्यमपि दास्यति. अन्यथा दौत्येन प्रेषयन् त्वां पीतश्मश्रुं न प्रेषयेद्, अतो ज्ञापनार्थमेव तथाविधं प्रेषितवान्. अनेन तयैवं ज्ञातमिति प्रतिभाति— गाढसुरते व्यजनाद्यपेक्षणात् पुरे सर्वतो निरोधेन सहजवाय्वभावात् पुरुषस्य च यादृशस्यापि तत्र स्थातुमयुक्तत्वात् पूर्वोपभुक्ता अस्मान् तस्या दासीकर्तुं व्यजनार्थमाकारयतीति. एतच्च सर्वथाऽशक्यमिति[1] भ्रमरोद्धवपक्षे निषेधो युक्तः. वसन्तकृतश्चोत्सवः धर्मरूपः यादवसभायां विडम्ब्य एवानुकार्यः, ते हि लौकिकप्रधाना अनुकरणमात्रेण धर्मं करिष्यन्तीति. कालकृतो धर्मः भगवदीयकृताद्धीन इति वा. किं प्रमाणमित्याकाङ्क्षायां

लेखः

तथाऽस्मन्नयनेऽपीत्यर्थः. **कालकृत** इति, तथा चात्र पक्षे **विडम्ब्य**पदं विडम्बनार्थकमेवेति भावः. **प्रमाणमिति** किमिति शेषः ॥१२॥

प्रकाशः

वसन्तस्योत्कृष्टत्वेऽपि. **भवानिति**, एतेनायं वसन्तसमय इति ज्ञाप्यते, **दूतस्त्वमीदृगिति** प्रत्यक्षनिर्देशस्य कालपक्षे तुल्यत्वात्. एवं चात्र कुङ्कुमपरागधूसरो वायुरेव श्मश्रुस्थानीयः, अत एवाग्रे वायुप्रस्तावनापि युज्यत इति. कालपक्षे वसन्तानङ्गीकारे बीजं वक्तुमाहुः **वसन्तकृदिति**. **भगवदीयकृतादिति**

टीपिका

श्मश्रुस्थानीय[प्रका.]इत्युक्तम्. **वायुप्रस्तावने**ति, वायुप्रस्तावना तु **अनेन तयैवं ज्ञातमि**[सुबो.]त्यादिनाऽनुपदोक्ता ज्ञेया. **अथापी**[सुबो.]ति. ननु उद्धवभ्रमरपक्षे भगवान् भक्तवश्यतया सर्वं करोत्यतो न कोऽपि निषेधति, अत एवाहमपि भवतीनां नयनार्थमागतोऽस्मि तस्माद्युष्माभिरपि अनुमोदनेन हितोपदेश एव कर्तव्यो न तु निषेधोऽपीत्यत्राहुः **अथापीतरसम्बन्धात्स एव तत्प्रसादं वहतु इति. अथापीत्य**-स्यार्थो **यथा यादवा न जानन्ति तथे**[लेख.]ति. तथा वहतु नामैको हितोपदेशः, द्वितीयं हितोपदेशमाहुः **न तु वयमि**[सुबो.]ति. एतदर्थो **अस्मन्नयनेऽपी**[लेख.]ति. तत्रागतास्वस्मा-स्वपि प्रथमतः प्रसादत्वे कुङ्कुमं चेद्दास्यति तदा न वयं वहाम इति त्वयापि हितोपदेशः कर्तव्य इति भावः. **धर्मरूपे**[सुबो.]ति, **वसन्तकृतश्चोत्सवो** भगवदीयानां सेवाधर्मरूप इत्यर्थः. ननु **यादवासभायां** कथं **विडम्ब्य एवानुकार्य** इत्याशङ्क्याह **ते हि**

१. सर्वथावश्यकम् इति स.

यस्य मुख्यकालस्य भगवतो वा सम्बन्धी **दूतः** कलिस्वरूप**स्त्वमीदृक्** श्यामः, न हि धर्मे उत्कृष्टे तदाधारः श्यामो भवति. अतोऽस्मान्प्रति ऋतुत्रयनिषेध एव युक्तः, पुष्टिमार्गे हि दक्षिणायनस्यैव प्राशस्त्यात्. तत्र हि रात्रयः स्थूलाः दिवसाश्च सूक्ष्मा इत्यनङ्गीकारे मुख्यो हेतुः ॥१२॥

ननु कथमेवं धाष्टर्येन भगवति दोषा आरोप्यन्ते अस्मास्वपि चेत्याशङ्क्याह **सकृदधरसुधामिति.**

सकृदधरसुधां स्वां मोहिनीं पाययित्वा
सुमनस इव सद्यस्तत्यजेऽस्मान्भवादृक् ।
परिचरति कथं तत्पादपद्मं नु पद्मा
अपि बत हृतचेता उत्तमश्लोकजल्पैः ॥१३॥

प्रकाशः

भगवत्सङ्गिनीभिः पुरस्त्रीभिः कृतात्. **अप्रमाणमिति,** प्रसादवाहित्वमप्रमाणम्. **नहि धर्मे** इत्यादि, अयमर्थः— वसन्तोत्सवो भविष्योत्तरे युधिष्ठिरं प्रति नारदेनोक्त्वा प्रवर्तित इति कलावेव तत्प्रवृत्तिः. पिशाचक्रीडाकथनाच्च धर्मानुत्कर्ष आधारश्यामत्वं स्फोरयतीत्यतो नादरणीय इति. ननु वासन्त्यां क्रीडायां भगवता सुखस्य दत्तत्वादन्येष्वपि तथात्वादयं न युक्तो हेतुरित्यरुच्या आहुः **पुष्टिमार्ग** इत्यादि ॥१२॥

टीपिका

लौकिकप्रधाना[सुबो.] इति. **अनुकरणे**ति, भविष्योत्तरोक्त-पिशाचक्रीडामात्रेण धर्मं करिष्यन्तीति भावः. **भगवदीयकृतादिति,** सेवारूपधर्मोऽस्मदादिभगवदीय-कृतादित्यर्थः. ननु वसन्तकालकृतो लौकिकधर्मो भगवदीयकृताद्धीन इति वाऽप्रमाणमित्यत्र किं मानमित्याकाङ्क्षायां मानमाह **यस्ये**त्यादिना. **कलिरूप**[१] इति, भविष्योत्तरे कलावेव तत्प्रवृत्तिकथनात् कलेर्दूतत्वं पिशाचक्रीडाकथनाच्छ्यामत्वं चेत्यर्थः. **न हि धर्मे उत्कृष्टे तदाधारः श्यामो भवतीति,** वसन्तधर्मे उत्कृष्टे तदाधारः कलिः श्यामो नहि भवतीत्यतो वसन्तो नादरणीय इति भावः. **सुखस्य दत्तत्वादि**[प्रका.]ति, व्रजसीमन्तिनीषु सुखस्य दत्तत्वात्. **अन्येष्वपी**ति, अन्येषां साधारणानामपि वसन्तस्य सुखदत्वादित्यर्थः. **अयमिति** पिशाचक्रीडारूपो हेतुरिति ॥१२॥

---

१. कलिस्वरूप इति सुबो. पाठः.

यो हि यं वञ्चयति स तस्याक्रोशं करोति, भगवांश्च सर्वथास्मान्वञ्चितवान्. वञ्चनामेवाह **अधरसुधां पाययित्वा तत्यज** इति **अस्मान्** त्यक्त्वा गतः. **अधरे**त्यनेनोच्छिष्टतया लोके जातिभ्रंशो निरूपितः. मोहिका च सा, सुधात्वात् पीता. ननु तर्ह्युपकार एव कृतो, यो हि जलमपि पाययित्वा गच्छति सोऽप्याक्रोशं नार्हति किं पुनः सुधां, सुतरां लोभात्मके स्थापितां, तत्राह **मोहिनीमि**ति, मोहिका हि सा, नहि मोहकानां लड्डुकादिकं दानफलम् उपकारं वा जनयति. नन्वन्येन तर्हि तदुत्तारणं क्रियतां, किमाक्रोशेनेत्यत आह **स्वामित्यसाधारणीम्**; न ह्युपायसहस्रेणापि तत्कृतो मोहो निवर्तयितुं शक्यते. ननु मोहनस्य न फलं किञ्चिज्जातं रसश्चोत्तमः पीत इत्याशङ्क्याह **सकृदिति सुमनस इवे**ति. बहुवारं चेत्पाययेत् तच्चाप्यन्ततः सुखं भवेत् किन्तु सकृदेव, अन्यथा सकृदेवाधरसुधा प्राप्ता सुखं जनयेत्. पुष्पाणि च यथा मृदितानि सर्वकार्यानुपयुक्तानि भवन्ति तथा भगवता वयं धैर्यविवेकादिभिर्हीनाः कृताः. अतोऽस्माकं सर्वनाशं कृत्वा यदर्थमस्माभिः सर्वं त्यक्तं तमपि हत्वा इतो गतवान्. तर्हि कथं न धृत इत्याशङ्क्याह **सद्यस्तत्यज** इति. **भवादृगिति** भ्रमरतुल्यः; स हि पीत्वा निःसारान् कृत्वा गच्छति, तथा भगवानपि. **पाययित्वे**ति विशेषो अग्रेऽपि रसानुत्पादनार्थः, अन्यथा कमलादिवत् पुना रसः स्यात्. अतः पाययित्वा भगवान् गतः पीत्वा च भ्रमर इति वैषम्यात् समाधानं परिहृतम्. सुधापानेनासक्तिर्जनिता, अधरसम्बन्धेन लोकस्त्याजितः, मोहेन विवेकाद्यभावाद् ज्ञानभक्ती निवारिते, परित्यागादाश्रयोऽपि निराकृतः;

लेखः

सकृदित्यत्र. तदुत्तारणमिति, मोहोत्तारणमित्यर्थः. **अन्यथे**ति पानाभावे इत्यर्थः. **लोकस्त्याजित** इति, एतेन कर्ममार्गत्याग उक्तः, लोकानां कर्मफलत्वात्, "नारायणपरा लोका" इत्यत्र तथोक्तेः. **आश्रयोपीति**, भगवानाश्रय इत्यर्थः.

प्रकाशः

सकृदित्यत्र. अन्यथेति अत्यागे. **प्राप्ते**ति, प्रकर्षेणाप्ता हितैव स्यादित्यर्थः.

टीपिका

सकृदधरसुधामित्यत्र. बहुवारमि[सुबो]ति, सकृदपि प्रतिदिनमित्यर्थः. **तच्चापीति** सकृदपीत्यर्थः. **सुखं भवेदिति** सुखरूपं भवेदित्यर्थः. **किन्तु सकृदेवे**ति **एवकारो** बहुवारं निषेधति. **अन्यथे**ति पदस्यार्थो **अन्यथेति पानाभावे इत्यर्थ** [लेख]उक्तः. **प्राप्तौ**[सुबो]इति विविधरसभावोदये प्राप्ता इत्यर्थः. **प्रत्यासत्तिरि**ति

अतोऽस्माकं न पूर्वसिद्धा इमे लोका नापि भगवानित्युभयतो भ्रष्टा वयं जाता इति युक्त एवोपालम्भः. ननु भवत्य एव भगवतो जाताः, भगवदीयत्वमेव परमपुरुषार्थः, अतः कथं शोक इति चेदुच्यते— न हि भगवदीयान् भगवांस्त्यजति; त्यक्ताश्च न भगवदीयाः. प्रत्यासत्तिश्च न भवति, मोहेन तत्र दृष्टेर्गतत्वात्. ननु भगवान् मोहं किमिति सम्पादयति? नापि स्वार्थं, त्यक्तत्वात्. नापि तासामर्थे, दोषनिवृत्तावपि

लेखः

तथा च कर्मज्ञानभक्त्याश्रयाख्य-मार्गचतुष्टयत्याग उक्तः. **त्यक्ताश्चे**ति **च**कारोऽर्थविशेषे हेत्वर्थे, भगवदीयान्न त्यजतीति नियमाद्धेतोरित्यर्थः. भगवदीयत्वाभावं शब्दपर्यालोचनयाप्याहुः **प्रत्यासत्तिश्चे**ति, **प्रत्यासत्तिः** सम्बन्धः. भगवदीयत्वं हि भगवत्सम्बन्धित्वं, सम्बन्धश्च न भवति. तत्र हेतुः **मोहेनेति.** दृष्टिसम्बन्धद्वारा हि सम्बन्धः, दृष्टिस्तु मोहेन तत्र गता न पुनः स्वस्थानमागता अतो दृष्टेस्तत्रैव स्थितत्वात्सम्बन्धस्य च भेदसहिष्णुत्वात्प्रत्यासत्तिर्न भवतीत्यर्थः. **दृष्टिपदं** सर्वेन्द्रियाणामुपलक्षणम्. **दोषनिवृत्तावपी**ति संसारनिवृत्तावपीत्यर्थः.

प्रकाशः

प्रत्यासत्तिरिति, ज्ञानलक्षणा सेत्यर्थः. **गुणो** मिलनम्. **दोष** इति. पूर्वोक्ते

टीपिका

ज्ञानमस्माकं न भवतीत्यर्थः. तथा च पूर्व**मोहेन**[सुबो.] **विवेकाद्यभावाद् ज्ञानभक्ती निवारिते** इत्युक्तम्. तत्र **न हि भगवदीयान् भगवांस्त्यजती**ति भक्तिर्निवारिता, **प्रत्यासत्तिश्चे**त्यादिना ज्ञानं निवारयति. तत्र ज्ञानमधुना कथं नेत्याशङ्कायां हेतुमाह **मोहेने**त्यादिना. एवं सति मोहज्ञानयोः सहानवस्थानात् तत्र **दृष्टिपदं** सर्वेन्द्रियाणा-मुपलक्षणं, तेनास्मदिन्द्रियाणि सर्वाण्यपि भगवति स्थितानि. अत एव पूर्वाध्याये भगवताप्युक्तं "ता मन्मनस्का" इत्यादिना. अतः **प्रत्यासत्तिश्च न भवती**ति सुष्ठूक्तम्. एतदर्थं लक्षीकृत्योक्तं **ज्ञानलक्षणा से**[प्रका.]त्यर्थः. ननु यथा कमलादीनां भ्रमरेण रसपाने कृतेऽपि पुना रससम्पत्तिः स्यात्तथा भवतीष्वपि पुना रससम्पत्तियो-ग्यतेति समाधाने सिद्धे कथमाक्रोश इत्याशङ्क्याह **पाययित्वे**[मूल.]ति. तथा च यः पिबति स जातिभ्रष्टो भवति, न तु पाता. तदेवोक्तम् **उच्छिष्टतये**[सुबो.]त्यादिना. अतो **युक्त उपालम्भ** आक्रोशश्चेति भावः. **ननु भगवानि**त्यारभ्य तत्र मोहे हेतुद्वयमुद्भाव्य परिहरति; तत्र तासां त्यागाद् भगवति न स्वार्थः, तासां संसारासक्तिलक्षणदोषनिवृत्तावपि भगवत्सम्बन्धलक्षणगुणाभावात्तासामर्थे मोहसम्पादनमयुक्तमित्याशङ्का.

गुणाभावात्. दोषाभावे चावश्यकदु:खनिवृत्ति:, तदभावाद्दोषश्च. तस्मादयुक्तं मोहनमिति चेत्, सत्यम्, भवेदेतदेवं यदि तासां मनसो भगवत्यनुवृत्तिर्न स्यात्. अतो मोहाभावे स्वस्थानगमनात्कृतोऽपि निरोधो व्यर्थ: स्यात्, तात्पर्याज्ञानादयं मोह: एतत्कृतो वा दोषो अग्रे स्मरणेन च परिहर्तव्य इति. तदर्थमेव वायमुद्योग:. ननु भगवानेतादृश एव, न हि सर्वोऽप्येकविधो भवति, तस्मान्नोपालभ्य इति चेत्तत्राह **परिचरतीति**— स्त्रीणां मध्ये मूलभूता चतुरा लक्ष्मी:, सा **कथं** भगवन्तमेतादृशं ज्ञात्वा सेवितवती! अथ साप्येवं वञ्चिता तथापि केनचिदुपायेन सा पुन: सेवते, तथोपायश्चेज्ज्ञात: स्यात् तदास्माभिरपि सेव्येतेति प्रश्नार्थो वा

लेख:

एतदेवमिति, मोहनस्यायुक्तत्वं भवेदित्यर्थ:. **मोहाभावे** इति, आसक्तिसम्पादनाभावे **स्वस्थानमेव** गच्छेयु: प्रपञ्चनिष्ठा एव भवेयुस्तदा **कृतोऽपि निरोधो व्यर्थ: स्यादतस्तद्वैयर्थ्याय प्रपञ्चनिवृत्त्यर्थं** मोहनमित्यर्थ:. दु:खानिवृत्तेर्दोष: स्थित एवेत्यस्य समाधानमाहु: **तात्पर्येति**. अयं मोहो नवमावस्थारूप इत्यर्थ:, ''मुर्छा मोहसमुच्छ्राययोरि''ति धातुपाठादित्यर्थ:. **अयमुद्योग** इति, दोषस्य बहिर्नि:सरणमित्यर्थ:. **पदि चरणे मातीति** बाहुलकादधिकरणेऽप्युपपदे क:. **अत**

प्रकाश:

अचिकित्स्यदोषे. **स्वस्थानगमनादिति** मुक्तिसम्पत्तेरित्यर्थ:. नन्वेवमस्य साफल्यमस्तु तथापि दोषजनकत्वादनुचित इत्यत आहु: **तात्पर्याज्ञानादित्यादि. अग्रे** इति तात्पर्यज्ञाने. **अयमिति** मोहत्वाज्ञापनरूप:. **सम्बन्ध** इति लयात्मक इत्यर्थ: ॥१३॥

टीपिका

तामेव दृढयति **दोष**[सुबो.] इत्यादिना. **दोषाभावे** इति, दोषाभावे अवश्यमेव दु:खनिवृत्ति:. **तदभावादिति**, दु:खनिवृत्त्यभावाद् **दोष:** स्थित एवेत्यर्थ:. **सकृदित्यत्र. पूर्वोक्त**[प्रका.] इति, ''काचिन्मधुकरमि''त्यस्याभासे ततोप्यधिको**ऽचिकित्स्य**स्तृतीयो **दोषो** ज्ञेय:. **तात्पर्यज्ञाने** इति, अग्रे ''यत्त्वमि''त्यस्याभासोक्तवियोगस्य चतुर्विध-पुरुषार्थसाधकत्वमिति तात्पर्यज्ञान इत्यर्थ:. **स्मरणेने**[सुबो.]ति, ''मय्यावेश्ये''त्यत्र दशापि वृत्तयो भ्रमरवाक्येषु निरूपिता:, तत्त्यागपूर्वक**स्मरणेन** गोपिकानां **दोष: परिहर्तव्य** इत्यर्थ:. **मोहत्वाज्ञापनरूप**[प्रका.] इति, अग्रे स्मरणेन दोष: परिहर्तव्यो न तु मोह:. तदर्थमेव **सत्यमि**[सुबो.]त्यारभ्य **दोष** इत्यन्तेन ग्रन्थेन मोहत्वाज्ञापनरूप

कथंशब्दः. **पद्मे**त्युत्तरं वा— सा हि पदि चरणे माति, अत एव चरणस्य कमलत्वम्, सापि कमला; चरणात्मकतां प्राप्य सा तिष्ठतीति न तस्याः कापि क्षतिः. गोपिकानामपि भूमौ निरन्तरं चरणे वा सम्बन्धे जाते घटते नान्यथेति. अपि च. "पुनश्च पद्मा सम्भूते"ति वाक्याद् रूपान्तरेषु सौम्येष्वप्यादित्योऽत्यन्तं कठिनो भ्रमणस्वभावश्च, तत्र **कथं** सेवां कृतवतीति प्रश्नः उपालम्भो वा. तादृश एवायमवतारः प्रतिभातीति भावः, एकत्र स्थैर्याभावात्. ननु लक्ष्म्या अवतारो न जात इति शङ्कां वारयितुमाह **नु** इति वितर्के, सा हि भगवन्तं विना क्षणमपि स्थातुमशक्तेति. **पद्मे**ति प्रमाणं चोक्तम्. **परिचरती**ति वर्तमानप्रयोगादिदानीमपि

लेखः

एवेति, लक्ष्मीस्थितेरेवेत्यर्थः. सा हि कमलालया अतस्तत्स्थानस्य कमलत्वमित्यर्थः. **सापी**ति, कमलालयापि सती कमला चरणात्मकतां प्राप्य चरणे तिष्ठति— एवं सेवते अतो न क्षतिर्न त्याग इत्यर्थः. **गोपिकानामपी**ति, वृन्दावनभूमौ सततस्थित्या तद्वद्देवकीसुतपदाम्बुज-लक्ष्मीत्वे सम्पन्ने, अतिविगाढभावनया चरणात्मकत्वे वा सम्पन्ने इत्यर्थः. **सम्बन्धे** तादात्म्यरूपे इत्यर्थः. विजिगीषोः कथा जल्प इति

टीपिका

उद्योगः[सुबो.] कृत इत्यर्थः. **अपि चे**त्यारभ्य **निर्विवादमि**त्यन्तो ग्रन्थः **पद्मे**ति पदस्य सूचितार्थः प्रतिभाति. तत्रैवं योजना कर्तव्या— "**तस्मान्नन्दात्मजोऽयं ते नारायणसमो** गुणैरि"ति गर्गवाक्यस्य सुबोधिन्यां यज्ञादिषण्णां नारायणानां ये गुणास्ते श्रीकृष्णे चोक्ताः. तन्मध्ये आदित्योऽपि गणितः. **रूपान्तरेषु सौम्येष्वप्यादित्योऽत्यन्तं कठिन** इति, तस्य रूपान्तराणि जलशायिनारायणादिस्वरूपाणि, सौम्येष्वप्यादित्य-स्तापात्मकत्वेनात्यन्तकठिन इति. **तत्र कथं सेवां कृतवती**ति, तादृशस्यादित्यस्य सेवां लक्ष्मीः कथं कृतवतीति प्रश्नः. **उपालम्भो वे**ति, तादृशस्य सेवां लक्ष्मीः किमर्थं कृतवतीति उपालम्भो वेत्यर्थः. ननु लक्ष्मीः आदित्यस्य सेवां कृतवतीत्यत्र किं मानमित्याशङ्क्य मानमाहुः. "**पुनश्च पद्मा सम्भूते**"ति **वाक्यात्** सा तु पद्मा स तु पद्मबन्धुरिति वाक्यात् पूर्वमपि परस्परसम्बन्धो लक्ष्यते इति मानम्. **तादृश एवायमवतार** इति, "नारायणसमो गुणैरि"ति वाक्यात्तद्गुणाः श्रीकृष्णेऽपि सन्तीति भावः. **पद्मेति** "पुनश्च पद्मा सम्भूते"ति **प्रमाणं चोक्तम्.** अथवा सा हि पदि चरणे मातीति पूर्वं प्रमाणं चोक्तम्. **सेवा लक्ष्यत** इति, "श्रयत इन्दिरा"इति "श्री-निकेतनमि"ति "श्रीर्वधूः साकमास्ते"इत्यादिवाक्येषु वर्तमानप्रयोगेण इदानीमपि

सेवा लक्ष्यते. भगवांस्तूदासीन इति तु निर्विवादम्. तर्हि का उपपत्तिरिति चेत्तत्राह **अपीति**. प्रमाणमत्र बाधितं परं किञ्चित्सम्भाव्यते **उत्तमश्लोकजल्पैः हृतचेताः** प्रायेण तथा सति **बत** खेदे, **उत्तमश्लोकाः** कीर्तिमन्तो ये भक्ताः नारदादयः तेषां **जल्पाः** स्वपक्षस्थापनपूर्वक-परपक्षनिराकरणरूपाः कथाः, तेन वादिन्यायेन प्रायेण सा परिगृहीता; यथानभिप्रेतमपि युक्त्या साधितमर्थं प्रतिवादी मन्यते. तर्हि लक्ष्मीपक्षेऽपि कथं न युक्तिरिति चेत्तत्राह **उत्तमश्लोके**ति— तेषां तु कीर्तिरुत्तमा लक्ष्म्यपेक्षयापि, अतो लोके प्रतिष्ठितत्वाद् भक्तानामेव जयः न लक्ष्म्याः. प्रायेणैवं भविष्यतीत्यर्थः ॥१३॥

एवं भ्रमरगतिं पादस्पर्शत्वेन निषिध्य तदागमनं च परिहृत्य तद्गतं शब्दं निषेधति **किमिह बहु षडंह्र** इति.

किमिह बहु षडंह्रे गायसि त्वं यदूना-
मधिपतिमगृहाणामग्रतो नः पुराणम् ॥
विजयसखसखीनां गीयतां तत्प्रसङ्गः
क्षपितकुचरुजस्ते कल्पयन्तीष्टमिष्टाः ॥१४॥

उद्धवस्याग्रे वाक्यमप्यनेन निषिध्यते, कालगतानि सर्वाण्येव प्रमाणानि

लेखः

लक्षणमभिप्रेत्य **जल्प**पदार्थमाहुः **स्वपक्षस्थापने**ति ॥१३॥

किमिहेत्यस्याभासे **पादस्पर्शत्वेने**ति, पादौ स्पृशतीति स्पर्शजनकत्वेनेत्यर्थः. पादस्पर्शजनिकां गतिं मा कुरु, अन्यत्र सुखेन परिभ्रमेति भावः.

प्रकाशः

किमिहेत्यत्र. **उद्धवस्याग्रे वाक्यमि**ति उद्धवेन वक्ष्यमाणं वाक्यम्.

टीपिका

सेवा लक्ष्यत इति. **भगवांस्तूदासीन**[सुबो.] इति, "उदासीना वयं शश्वत् न स्त्र्यपत्यार्थकामुकाः आत्मलाभेन पूर्णार्थौ गेहयोर्ज्योतिरक्रियाः" इति श्रीरुक्मिणीं प्रति भगवद्वाक्याद् भगवान् उदासीन इति निर्विवादमित्यर्थः ॥१३॥

किमिहेत्यत्र. **उद्धवस्याग्रे वाक्यमि**[सुबो.]ति, वाक्यं ज्ञानोपदेशलक्षणम्. **अनेन निषिध्यते** इति, **किमिह बहु षडङ्घ्रे गायसी**ति गाननिषेधेन निषिध्यत इत्यर्थः. कालपक्षे निषेधमाह **कालगतानि सर्वाण्येव प्रमाणानि चे**ति. "मधुप कितवे"त्यत्र कालपक्षे वसन्ते हि यज्ञा अग्नयः संस्काराश्चेति पूर्वोक्तानि

च. न हि तैः प्रमाणैः भगवद्गता धर्माः दोषाः परिहर्तुं गुणा वा वक्तुं शक्याः, अतो व्यर्थमिति त्रिष्वपि साधारणम्. हे **षडंह्र, इह** अस्मत्समीपे **किमिति गायसि**? नन्वन्यत्र गन्तुमशक्त इति चेत्तत्राह **षडंह्र** इति— द्विपादपि गच्छति बहुदूरं, त्वं तु षडंह्रिः. ननु गानस्वभावोऽहं सर्वदैव **गानं** करोमीति चेत्तत्राह **बहु किमिति गायसीति**, स्थानान्तरे न गानं नापि कदाचिद्गानशङ्का यतो बहु गायसि[१]. ननु भवतीनां स्वामी कृष्ण इति भवत्समीपे गानं युक्तमिति चेत्तत्राह **यदूनामधिपतिमिति**— यादवानामधिपतिर्नत्वस्माकं साम्प्रतम्, अतो यादवानामेवाग्रे गानमुचितं नत्वन्येषाम्. ननु सर्वेश्वरो भगवान् यादवत्वेऽपि न दुष्यति, अतः सर्वेषामुपकारार्थं स्वार्थं च सर्वत्रैव गानमुचितमिति चेत्तत्राह **अगृहाणामिति** गृहरहितानाम्. वयं त्यक्तगृहा मार्गे उपविष्टाः, नाप्यस्माकं स्वगृहं नापि भगवद्गृहमिति तादृशीना**मग्रे गानेन** किं फलं भवेत्? गृहस्था एव हि किञ्चिद् दातुं शक्ताः. ननु त्वमेका **न** चेत्प्रयच्छसि अन्या दास्यन्तीत्याशङ्क्याह **न** इति, सर्वा एव वयं तादृश्यः. मम धनाद्युपकाराभावेऽपि धर्मो भविष्यतीति भवतीनां चापूर्वार्थप्रदर्शनेन सन्तोषे आशीर्वादेन वा कृतार्थता भविष्यतीति कथं गानं निषिध्यत इत्याशङ्क्याह

लेखः

किमिहेत्यत्र. **धर्मो भविष्यती**ति, **अपूर्वार्थप्रदर्शनेन** भवतीनां **सन्तोषे**

टीपिका

वसन्त**कालगतानि**[सुबो] **सर्वाण्येव** ''वसन्तेन त्वर्तुना हविषा दीक्षयामी''त्यादिश्रुत्युक्त**प्रमाणवाक्यान्यप्यनेन निषिध्यन्ते** इत्यर्थः. ननु प्रमाणवाक्यनिषेधे कोपपत्तिरित्याशङ्क्य अत्रोपपत्तिमाह **न हि तैः प्रमाणैर्भगवद्गता धर्मा दोषाः परिहर्तुं गुणा वा वक्तुं शक्या** इति. प्रभोर्विरुद्धधर्माधारत्वात् कितवादिदोषा अपि भगवद्गता धर्मा एव, अतस्तैः प्रमाणैर्भगवति गुणाधायकवसन्तकालगतप्रमाणवाक्यैर्न हि दोषाः परिहर्तुं शक्याः, गुणा वा वक्तुं शक्याः. अतो युक्त एव कालपक्षेऽपि गाननिषेध इति भावः. **अतो व्यर्थमि**ति, तव गानं व्यर्थमित्यर्थः. **त्रिष्वपी**ति, कालोद्भवभ्रमरपक्षेषु गाननिषेधकरणं **साधारणं** समानमित्यर्थः. **ननु** भगवद्गुणगाने न कुत्रापि शङ्का अतो न निषेधो युक्त इत्याशयेनाशङ्कते **ननु गान** इत्यादिना. **किमिह** गायसि एतद्भावार्थकथने **स्थानान्तरे गानं न** करोषि अतः **शङ्का, गानं** करोषि यदि **स्थानान्तरे** तदा **न शङ्के**ति योजनीयम्. **बहु किमिति गायसी**त्यस्यार्थः **नापि कदाचिद्गानशङ्के**त्यर्थः स्पष्ट एव. **यतो बहु गायसि** अतो

१. गायामि इति स.

पुराणमिति, नायमपूर्वो वादः[१] किन्तु बहुधैव श्रुतो भगवान्. ननु भगवद्गुणान् श्रुत्वा न कोऽपि विरज्यते, कथमेता विरक्ता इति चेत् सत्यम्, पूर्वं श्रवणेन हि वयमेवं जाताः, इतोऽधिकं च फलं न पश्यामः, पुनश्चेच्छ्रोष्यामः स्वरूपेणापि निवृत्ता भविष्याम इति वरमेतदपेक्षयाऽश्रवणमेव. स्थिते स्वरूपे तु भगवान् कदाचित् प्राप्येतापि, संसारपतनभयं चेत् सम्भाव्येत तदा पुरातनत्वादेव सुलभत्वात् तदैव गानं भवत्विति साम्प्रतं नोपयोग इति भावः. ननु वयं गायका एव, भगवान् स्त्रीप्रियः, पुरुषास्तथाः न रसिकाः, स्त्रीणां चाग्रे गानमावश्यकम्, अतोऽनन्यगत्या गानं क्रियत इति चेत्तत्राह **विजयसखसखीना**मिति. सन्ति स्त्रियः सुखिताः **विजयसखस्य** भगवतः **सख्यः** भगवता तुल्यभावं प्रापिताः परमानन्दयुक्ताः,यदर्थमर्जुनवदलक्ष्यादि-मत्स्यादिवेधमपि कृत्वा यथेष्टं लक्ष्मणा-प्रभृतीनां विवाहं करोति. विविधश्च जयस्तस्येति लुण्टने बह्व्य एव स्त्रियः प्राप्यन्ते, अर्जुनेनापि दीयन्ते. सखित्वात् स्वयमपि तादृशः, अर्जुनसखित्वेन कालरूपतया सर्वमारकत्वं चोक्तम्. ततश्च तत्स्त्रीणां विलापे दुःखसम्मार्जनं कुर्वन् सखेव भवति. ता गतभर्तृका भोगनिरपेक्षाः कथायां मुख्याधिकारिण्यः, न तु वयं भोगसापेक्षा इति भावः. वक्रोक्त्या वा द्योतिताः तास्त्वां मारयिष्यन्तीति, यथास्तिप्रभृतयः. **विजय** एव प्रकृष्टजयः **सखा** यस्य तस्य **सखीनाम्**— यो हि

लेखः

अस्माकं **धर्मो भविष्यति, आशीर्वादेन कृतार्थता वा भविष्यती**त्युभयत्रापि सन्तोषो हेतुः. पुराणत्वेनापूर्वार्थत्वाभावात् सन्तोष एव नेत्युत्तरम्. **स्त्रीप्रिय** इति स्त्रियः प्रिया यस्य तादृशः. तत्र हेतुः **पुरुषा न रसिका** इति. **स्त्रीणां चे**ति **चकारो** हेत्वर्थे, भगवत्प्रियात्वात् तदग्रे गानमावश्यकमित्यर्थः. तुल्यत्वं विवृण्वन्ति **परमानन्दयुक्ता** इति. **यदर्थ**मिति परमानन्ददानार्थमित्यर्थः. तादृशपरमानन्द-युक्ता इति परमानन्दस्वरूपमुक्तम्. लक्ष्मणाविवाहादिकं वृषमयात्मजादिवद्

प्रकाशः

इतोऽधिकमिति पुनर्मिलनरूपमित्यर्थः. **स्त्रीप्रिय** इति षष्ठीसमासः.

टीपिका

निषेधो युक्त इत्यर्थः. **इतोधिकमि**[सुबो.]ति, अधुना तु वियोगमनुभवाम; **इतोऽधिकं** संयोगजं **फलं न पश्याम**स्तदेवोक्तं **पुनर्मिलनरूपमि**[प्रका.]त्यर्थः. **विवाहं करोती**[सुबो.]ति वर्तमानप्रयोगो नित्यलीलाभिप्रायेणोक्तो ज्ञेयः. **तस्य सखी**ति, सखी

१. नायमपूर्वोक्तवादः इति स.

सर्वत्र जयं प्राप्नोति तमेव मन्यन्ते नान्यान्, वयं त्वेकनिष्ठा इति प्ररोचनार्थमपि गानं नापेक्ष्यत इति. अतस्ताः सर्वा एव **क्षपितकुचरुजः** सत्यः युद्धे कठिनभावं प्रासेन हस्तेन मर्दितरुजः भारक्लेशनाशेन सुखिताः ते **इष्टाः** सत्यः **इष्टं कल्पयिष्यन्ति** यदेवेष्टं तव. नह्यप्राप्तपुरुषार्थः कश्चिदन्येष्टं सम्पादयति. अत उद्धवं प्रत्यपि तास्वेव दौत्यं कर्तव्यं भगवद्गुणवर्णनेन नास्मासु, अनुभूतेऽर्थे वचनस्य दुर्बलत्वात्. कालपक्षेऽपि ऋतुभिः षडंघ्रिर्भवति संवत्सरः. स हि ऋतुभेदेन कोकिलादिशब्दैर्वेदैश्च भगवन्तं स्मारयति. ते च शब्दाः भगवत्सहितानां ज्ञानिनां धर्मपराणां वा उदासीनानां भक्तानां वा भगवति मिलितानां सुखदा

लेखः

भूतभविष्यद्विषयकपदार्थ-ज्ञाननिर्बन्धाभावादुक्तमिति ज्ञेयम्. **कालपदार्थकथने वेदैश्चेति**, शिशिरे उपाकर्मानन्तरम् अध्ययनप्रवृत्तेर्वेदैरपि ऋतुभेदेनैव भगवन्तं बोधयति संवत्सर इत्यर्थः. उद्धवपक्षे षडङ्घ्रिपदेऽङ्घ्रिपदं कर्मेन्द्रियाणामुपलक्षणम्, तथा च मनसा सह षट्कर्मेन्द्रियाणि यस्येत्यर्थः ॥१४॥

टीपिका

कुब्जाप्रभृतिः. **अनुभूतेर्थे**[सुबो.] इति. नन्वननुभूतार्थश्रवणेन भगवत्यपूर्वस्नेहो भविष्यतीति कथं गुणवर्णनं निषिध्यतेऽतो ममापि वचनं मन्तव्यमित्याशङ्क्याह— अस्माभिर**नुभूतेऽर्थे** तव **वचनस्य दुर्बल**तेत्यतो युक्तमुक्तं **भगवद्गुणवर्णनेन तास्वेव दौत्यं कर्तव्यमि**ति. तथा च ननु तासां दौत्यं मया न कृतमिति न वक्तव्यं, यतः त्वया भगवता सह कुब्जादीनां गृहे गमनेन दौत्यं कर्तव्यमिति द्योतितमिति भावः. **किमिहे**त्यत्र. **कोकिलादिशब्दैर्वेदैश्चे**ति. तत्र कोकिलादिषण्णां शब्दा वेदशब्दाश्च षट्सु ऋतुषु सुबोधिन्युक्तभगवत्सहितादीनां सुखदा भवन्तीत्युक्तम्.[प्रका.] तत्रेयं व्यवस्था प्रतिभाति— तत्र **कोकिलानां** शब्दा **भगवत्सहितानां** भक्तानां वसन्ते सुखदा भवन्तीति प्रसिद्धम्. एवमग्रे ग्रीष्मे **कुरर**शब्दा **ज्ञानिनां** भगवन्तं स्मारयन्ति. तत्रायं प्रकारः— यथा कुरराः स्वनीडेऽण्डानि स्थापयित्वा देशान्तरगमनेऽपि स्मरणमात्रेण स्वबालवृद्धिं कुर्वन्ति तथा ज्ञानिनामपि तद्वद्भगवत्स्मरणं सुखदं भवतीति ज्ञेयम्. एवं वर्षायां "भारद्वाजमयूराणां चाषस्य नकुलस्य च एतेषां दर्शनं पुण्यं वामभागे विशेषत"इति वाक्यान्म**यूर**शब्दा **धर्मपराणां** सुखदा भवन्तीति ज्ञेयम्. एवं शरदि **क्रौञ्च**शब्दा **उदासीनानां** सुखदा भवन्तीति प्रसिद्धम्. तत्रायं प्रकारः— रामायणे वाल्मीकीये "यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधीः

भवन्ति, नत्वस्मत्सदृशीनां सर्वत्रासक्तिरहितानां धर्मिणमेवापेक्षमाणानां कालादिनिरपेक्षाणां तैः शब्दैः सुखं भवति. पूर्वावस्थाप्राप्तौ तु तादृशशब्दानां सुलभत्वात् नेदानीमेव सर्वथा श्रवणे किञ्चित्प्रयोजनमित्यर्थः ॥१४॥

प्रकाशः

कोकिलादीत्यादिपदेन कुररमयूरक्रौञ्चहंसचक्रवाकाः. **ज्ञानिनां धर्मपराणां** च यथायथमुत्तरपूर्वकाण्डस्थाः शेषाणामार्तवा ज्ञेयाः. **पूर्वावस्था**श्च धर्मिज्ञानिसंयुक्तावस्थाः ॥१४॥

टीपिका

काममोहितमि''ति वाक्यात् काममोहितानां नाशं स्मृत्वोदासीना वीतरागत्वेन सुखिनो भवन्ति. एवं हेमन्ते **हंसानां** शब्दा **भक्तानां** सुखदा भवन्ति. तत्रायं प्रकारः— हंसास्तु क्षीरनीरविवेचनचतुराः दृष्टान्तेन क्षीररूपान् भगवद्धर्मान् गृह्णन्ति, नीररूपविषयत्यागेन भक्ताः सुखिनो भवन्ति. एवं शिशिरे **चक्रवाकाणां** शब्दा **भगवति मिलितानां** सुखदा भवन्तीति. तत्रायं प्रकारः— यथा चक्रवाकाणां मिथुनानि दिवा सहचरन्ति, रात्रौ वियोगे पृथग्भावेनापि वियोगानुभवं कुर्वन्ति, तद्दृष्टान्तेन भगवति मिलिता दिवा भगवत्सेवां कुर्वन्ति, रात्रावपि वियोगानुभवं कुर्वन्ति, तेन सुखिनो भवन्तीति. एवं कोकिलादीनां शब्दा भगवत्सहितादीनां वसन्तादिषड्ऋतुषु सुखदा भवन्तीत्युक्तम्. वेदानां शब्दा अपि तेषां सुखदा भवन्तीति तदुक्तं **ज्ञानिनामि**[प्रका]त्यादिना. तत्र ग्रीष्मे उत्तरकाण्डस्था उपनिषद्रूपा ब्रह्मनिरूपका वेदशब्दा ज्ञानिनां सुखदा भवन्ति. एवं पूर्वकाण्डस्थवेदशब्दा "यज्ञाद्भवति पर्जन्य"इत्यादिरूपा धर्मपराणां वर्षायां सुखदा भवन्तीति. **शेषाणाम् आर्तवा ज्ञेया** इति. अवशिष्टानाम् उदासीनादीनां चतुर्णां ऋतुधर्मप्रतिपादका वेदशब्दा भगवत्स्मारकत्वेन सुखदा भवन्ति. तत्र शरदि "आश्लिष्य समशीतोष्णं प्रसूनवनमारुतं जनास्तापं जहुर्गोप्यो न कृष्णहृतचेतस"इति वाक्यात् पूर्वम् उदासीनानां गोपिकानां शोक आसीत्. पश्चात् "स चर्षणीनामुदगाच्छुचो मृजन्"इति वाक्याद्भगवदात्मकं चन्द्रं दृष्ट्वा शोकनिवृत्तिरासीत्. तदनन्तरं वेदात्मका वेणुशब्दाः सुखदा जातास्तदेवोक्तं मन्त्रे "शारदेन ऋतुने"ति. तदर्थस्तु श्रुत्यर्थानन्दसन्दोहे गोस्वामिश्रीव्रजाभरणानां लेखे "शारदेन ऋतुना सह विराजमानमि"त्यादिनोक्तः. एवं हेमन्तेऽपि भक्ताना मग्निकुमाराणां "हेमन्ते प्रथमे मासी"ति वाक्याद् व्रतकरणानन्तरं

प्रार्थनां वारयितुं तस्य भगवतः स्त्रीसौलभ्यमाह **दिवी**ति.

दिवि भुवि च रसायां काः स्त्रियस्तद्दुरापाः
कपटरुचिरहासभ्रूविजृम्भस्य याः स्युः ।
चरणरज उपास्ते यस्य भूतिर्वयं का
अपि च कृपणपक्षे ह्युत्तमश्लोकशब्दः ॥१५॥

लोकत्रये याः स्त्रियः तासां भगवान् दुरापः न तु भगवतस्ताः. **स्त्रियो हि** त्रिविधास्तत्तल्लोके, तास्तु भगवतः सुलभा एव, तत्र हेतुं वक्ष्यति. **चकाराद्** ब्रह्माण्डाद्बहिः स्थिता अपि. स्त्रीणां हि रमणमपेक्ष्यते. नानाविलासैर्हि रमणं

लेखः

दिवीत्यत्र. **ब्रह्माण्डाद्बहिःस्थिता अपी**ति, वैकुण्ठस्थिताः "विद्योतमानः-

---

टीपिका

"मयेमा रंस्यथ क्षपा" इति फलदातुर्भगवतो वेदात्मकाः शब्दाः सुखदा जाताः. तदेवोक्तं मन्त्रे "हेमन्तेन ऋतुने"ति. तदर्थस्तु "हेमन्तेन ऋतुना सह विराजमानं भगवन्तमि"त्यादिनोक्तः. एवं शिशिरे भगवति मिलितानां रहसि वेदात्मकाः "त्वमसि मम जीवनमि"त्यादिगीतगोविन्दोक्ताः भगवच्छब्दाः सुखदा भवन्तीति. तदेवोक्तं मन्त्रे "शैशिरेण ऋतुना देवा" इत्यादिना. तदर्थस्तु "शैशिरेण ऋतुना सह विराजमानमि"त्यादिनोक्तः. एवं वसन्ते भगवत्सहितानां दोलाद्यारोहणेन सन्तुष्ट्या वेदात्मका भगवच्छब्दाः सुखदा भवन्ति. तदेवोक्तं मन्त्रे "वसन्तेन ऋतुना देवा वसवस्त्रिवृता स्तुतं रथन्तरेण तेजसा हविरिन्द्रे वयो दधुरि"ति. तदर्थस्तु वसन्तेन ऋतुना सह क्रीडन्तं भगवन्तं दृष्ट्वा देवा भक्ताः, दीव्यन्तीति देवाः त्रिवृता स्तोमेन तेजसा ब्रह्मवर्चस्विनां मुखारविन्दसम्बन्धिना सह वर्तमाने हविः अधरसुधात्मकम् इन्द्रे परमैश्वर्यरूपे वयश्च षोडशवर्षात्मकं दधुः श्रीमद्गोवर्धनाधीशे स्वात्मानं निवेदितवन्त इत्यर्थः. गानतात्पर्यमाहुः "गायन्तं स्त्रियः कामयन्त" इत्यादि. विशेषजिज्ञासायां तत्रैव द्रष्टव्यं, विस्तरभयान्नो लिखितम्. **संयुक्तावस्था**[प्रका.] इति, अन्तर्हृदये स्मरणात्मिका धर्मिज्ञानिसंयुक्तावस्था "ज्ञात्वात्मानमधोक्षजमि"त्यत्र सुबोधिन्युक्ता ज्ञेया ॥१४॥

दिवि भुवि च रसायामित्यत्र. **हेतुं वक्ष्यती**[सुबो.]ति, कपटरुचिरहासादीन् हेतून् वक्ष्यतीत्यर्थः. **नानाविलासैर्ही**ति, **देवस्त्रीणां नानाविलासै**रालिङ्गनादि-स्वेच्छाचाररूपप्रकटविलासादिभी **रमणं** तदत्र प्रथमं "कुचविलुलितमाले"त्यत्र

देवस्त्रीणां, प्रत्येकनियततया रमणं भूस्त्रीणाम्. विलासतया च रमणं क्वचिद् भूस्त्रीणां परं निरोधस्तुल्यः. अतिगुप्ततया रमणं रसास्त्रीणाम्. भगवति तु पूर्वश्लोकैरुक्तप्रकारेण त्रिविधत्वमप्यस्ति— प्राकट्यविलासरूपः प्रथमं निरूपितः, विरुद्धतया द्वितीये, अतिप्रयासेन अतिगुप्ततया सुभद्राहरणवत् विजयसखित्वेन रमणनिरूपणाद् गुप्ततयापि रमणमुक्तम्. किञ्च सुतरां स्त्रियः येन धर्मेण वशे भवन्ति स धर्मो भगवति वर्तत इत्याह **कपटे**ति. **कपटपूर्वकं यो रुचिरो हासः** तेन **भ्रूविजृम्भः** स्थलादिसर्वसूचनपूर्वकं रत्यर्थमाकारणरूपः स यस्य वर्तते. धर्मस्यैव वा **याः** स्त्रियो भवेयुः तदधीनास्ताः. यदि कश्चित् यथा न प्रकटीभवति तथा गोप्यं विधाय तथा समर्थः यथैव तासां मनःप्रीतिर्भवति तथा रमणं कुर्वन् सर्वसामग्रीं सम्पाद्य समाकारयति चेत्, न कापि स्त्री दुर्लभा भवति. अत एव क्वचिच्छ्लोकः "स्थानं नास्ति क्षणो नास्ति नास्ति प्रार्थयिता नरः तेन नारद नारीणां सतीत्वमुपजायत" इति. अत एतावत्यर्थे कृते प्रार्थना व्यर्था अकृतेऽपि व्यर्थेति उभयथापि प्रार्थना न कर्तव्येति भावः. किञ्च एतदस्माभिर्दृष्टोपायत्वेन निरूपितम्, अलौकिकोपाये तु किमपि न कर्तव्यमित्याह **चरणरज उपास्त** इति. सर्वैरिवार्थार्थिभिः सेव्यमाना **विभूतिर्लक्ष्मीः यस्य** स्वतःसामर्थ्याद् वस्तुमाहात्म्याद्वा **चरणरज उपास्ते** अत्यादरेण दासीत्वं प्रार्थयते तत्रैवंविधेऽर्थे च **वयं** **कास्तस्याः**

लेखः

प्रमदोत्तमाद्युभिरि"त्यत्रोक्ता इत्यर्थः. **प्रथमं निरूपित** इति "मधुपे"ति श्लोक इत्यर्थः. **द्वितीय** इति "सकृदि"ति श्लोक इत्यर्थः. **अतिप्रयासेने**ति, "किमिहे"ति

टीपिका

कुब्जादिषु प्रकटविलासनिरूपितमिति योज्यम्. **भूस्त्रीणामि**[सुबो.]ति, **भूस्त्रीणां रमणं प्रत्येकनियततया**, तदुक्तं "परिचरति कथं तत्पादपद्मं नु पद्मे"त्यादिना. **विलासतया** चेति, **विलासतया च रमणं क्वचिद्भूस्त्रीणाम्**, तदुक्तं "सकृदधरसुधे"त्यादिना. **परं निरोधस्तुल्य** इति, निरोधस्तु सर्वासां तुल्य इत्यर्थः. **रसास्त्रीणां रमणमतिगुप्ततये**ति योज्यम्. तदुक्तं तृतीयश्लोके 'विजयसखे'तिपदसूचितार्थकथने. **अतिप्रयासेन अतिगुप्ततये**ति **सुभद्राहरणवदिति** योज्यम्. कपटरुचिरहासो वर्तते यस्य तस्य भगवतः काः स्त्रियो दुरापाः! **धर्मस्यैव वे**ति, **कपटा**दीनां धर्माणामपि काः **स्त्रियः** इति योजनीयम्. **इतीति** नारदं प्रति द्रौपद्या वाक्यमित्यर्थः. **एतावत्यर्थे कृते** इति, रमणार्थसर्वसामग्रीसम्पादने कृते इत्यर्थः. **अकृतेपीति**, **एतावत्यर्थेऽकृतेऽपि प्रार्थना व्यर्थे**ति योज्यम्. **एतावत्कर्तव्यमि**ति, प्रार्थनादिकं न कर्तव्यमित्यर्थः.

कोट्यंशभूता:! तस्मादस्मान् प्रति न किञ्चिदेतावत्कर्तव्यम्. किञ्च एतदप्यस्माभिर्विचारेणोच्यते, वस्तुतस्तु भगवति विचारोऽपि न कर्तव्य इत्याह **अपि चे**ति. **उत्तमश्लोकशब्दः कृपणपक्षे** सति भवति, नान्यथा. भगवांश्च सर्वप्रसिद्धः उत्तमश्लोक इति वयं च दीनाः, अस्मत्पक्षपातं करिष्यत्येव, अन्यथा कथमुत्तमश्लोकशब्दो भवेत्. (हि!) युक्तश्चायमर्थः तस्मात्प्रमाणबलेन प्रमेयबलेन लोकप्रसिद्ध्या भगवान् दीनानुकम्पीति यथैवास्माकं युक्तं तथैव करिष्यति; न दूतोऽपेक्ष्यते नापि वचनानीति निर्गुणगोपिकाया वचनं, तद्भावापन्नाया वा. एवं तामसप्रकारेण तमोरजःसत्त्वानि गुणातीतश्च प्रकारो निरूपितः. अतः परं राजसप्रकारेण ततोऽग्रे सात्त्विकप्रकारेण चोभयत्र त्रैविध्यं निरूपयिष्यति. रजस्तमःसत्त्वानां तमोरजःसत्त्वानां च क्रमः श्लोकानां ज्ञातव्यः ॥१५॥

ननु नास्माभिर्ज्ञाता भवत्यः क्रुद्धा इति उदासीना इति वा, तथा सति दौत्येन नागच्छेम. अधुना तु समागतैः किञ्चित्कर्तव्यमिति प्रार्थनया भगवता सह सन्धिः कर्तव्य इति साष्टाङ्गप्रणामं भ्रमर उद्धवो वा करोतीत्यभिप्रेत्याह **विसृजे**ति.

विसृज शिरसि पादं वेद्म्यहं चाटुकारै-
रनुनयविदुषस्तेऽभ्येत्य दौत्यैर्मुकुन्दात् ॥
स्वकृत इह विसृष्टापत्यपत्यन्यलोका
व्यसृजदकृतचेताः किं नु संधेयमस्मिन् ॥१६॥

शिरसि बलात् स्थापितं **पादं विसृज** त्यज. नह्येतावता उपपत्त्यभावादस्माभिरङ्गीकर्तुं शक्यते, अतो वृथैव पादग्रहणनिर्बन्धः. ननु यथैव

लेखः

श्लोके निरूपितमिदम्. **कपटे**त्यादिपदे अर्शआद्यच्. **कृपणपक्षे सतीति**, कृपणानां पक्षपातं चेत्कुर्यात्तदेत्यर्थः ॥१५॥

टीपिका

प्रमाणबलेने[सुबो.]ति, **दिवि भुवी**त्यारभ्य **भ्रूविजृम्भस्ये**त्यन्तं प्रमाणबलमुक्तं, **चरणरज** इत्यारभ्य **वयं का** इत्यन्तेन प्रमेयबलमुक्तम्, **अपि चे**त्यादिना **लोकप्रसिद्ध्या भगवान्दीनानुकम्पी**त्युक्तं प्रतिभाति. **तद्भावापन्नाया वे**ति, "तामसतामस्यास्तु सर्वभावापन्नाया भ्रमरकथायां स्वरूपं वक्तव्यमि"ति यत्पूर्वं [सुबो.८] प्रतिज्ञातं तदत्र **निर्गुणगोपिकाया वचनं** तामसतामस्या अपि वचनमित्यर्थः ॥१५॥

भवतीभिर्वक्तव्यं तथैव करिष्याम इति कथं निषेध इति चेत्तत्राह **वेद्म्यहमिति.** **इममर्थं** करिष्यति भगवान् न वेतीममर्थमहं **वेद्मि.** सन्दिग्धे हि वचनेन बोधनम्, अस्माकं तु विपरीतनिश्चय एव. ननु कश्चित्स्वापमानं न करोति अनभिप्रेत्य कार्यं, तस्मात् न निराकरणं कर्तव्यमित्याशङ्क्याह **चाटुकारैरनुनयविदुष** इति. अयं प्रकारस्तु त्वयैव स्वकपोलकल्पितो न तु भगवताप्युक्तः. यतः स **मुकुन्दो** **मोक्षदाता मारयिष्यत्येवेति** भावः, न तु जीवन्तीनामस्माकं सुखं करिष्यति. ततश्च त्वमागतोऽस्मदभिप्रेतं करिष्यामीति कथं वदस्यतः स्वामिविरुद्धवाक्यत्वाद्दूतस्त्वं वञ्चक एव. ननु तदकथने मया कुतः शिक्षितमिति चेत्तत्राह **अनुनयविदुष** इति— अनुनयं कर्तुमत्यन्तमभिज्ञस्त्वमतस्ते विद्यां जानामि. न केवलं वृथानुनय एव किन्तु **चाटुकारैः** सहितोऽपि. अतः उत्पत्त्या उपपत्त्या च तव मनो न शुद्धम्, कायेन वाचा च वञ्चनार्थमनुनयाभिनयं करोषीति भावः. ननु कथमेवं निषिध्यते, अन्तःकरणस्याप्रत्यक्षत्वात् कायवाग्भिरेव तदभिज्ञानादतः क्रोधवशादेवान्यथा स्फुरति नत्वस्मासु दोषोऽस्तीति चेत्तत्राह **स्वकृत इह विसृष्टेति.** न हि

लेखः

विसृजेत्यत्र. अनभिप्रेत्य कार्यमिति, स्वाम्युक्तं कार्यमनभिप्रेत्येत्यर्थः.

टीपिका

विसृज शिरसि पादमित्यत्र. मूलेऽ**भ्येत्य दौत्यैर्मुकुन्दादिति,** दूतकर्मभिर्मुकुन्द**मभ्येत्य** प्राप्येति योजनीयम्. व्याख्याने **मुकुन्दपदस्यार्थः स मुकुन्दो मोक्षदाता मारयिष्यत्येवे**[सुबो]ति **न तु जीवन्तीनामस्माकं सुखं करिष्यतीत्युक्तम्.** अत एवोक्त**मस्माकं तु विपरीतनिश्चय एवेति.** अतस्त्वमपि तादृगेवेति भावः. **स्वापमानमिति,** यदि स्वाम्युक्त**मनभिप्रेत्य कार्यं** कुर्युस्तदा **स्वापमानं** भवति तत् **न कश्चित्करोतीति** योज्यम्. **अत उत्पत्त्योपपत्त्या च तव मनो न शुद्धमिति.** मनसः शुद्धिरशुद्धिश्च प्रकारद्वयेन ज्ञाता भवति— शरीरचेष्टया वाक्यैश्च. तत्रो**त्पत्त्या** उत्पत्तिमत्कायचेष्टया वृथा प्रणत्या तथा **उपपत्त्या** उपपत्तिमतो वाक्यस्य वृथानुनयेन मनो न शुद्धम्. तदेव दर्शयति **कायेनेत्यादिना.** एवं कृतेऽपि निषेधे तेनैव प्रकारेण स्वमनसो शुद्धत्वं साधयन्नाशङ्कते **नन्वित्यादिना.** अन्तःकरणं कथं ज्ञातं भवति इत्याशङ्क्याह **कायवाग्भिरेव तदभिज्ञानादिति,** तस्य अन्तःकरणस्याभिज्ञानादित्यर्थः. अतः प्रणत्यानुनयेन ममापि मनः शुद्धमिति मन्तव्यमिति **न त्वस्मासु दोषोऽस्तीति.**

युक्तिबाधितं वेदोऽपि बोधयति. भगवानीश्वरो वयं गोपिका:, यावत्कर्तव्यमस्माभिः

लेखः

नहि युक्तिबाधितम्इति, घटस्य पटत्वं न बोधयति. ब्रह्मत्वादिकं त्वस्मदादियुक्ति-बाधितमपि शुकादियुक्तिसिद्धमेव. "**अहं मनुरभवमि**"त्यादौ ब्रह्मभावे सर्वभावाद् ब्रह्मत्वेन मनुत्वमपि, न तु मनुत्वेनेति भावः. **दूरे गत्वे**ति, आश्रमान्तरं गृहीत्वेत्यर्थः.

टीपिका

एवं मद्द्वारा भगवानपि प्रणत्यानुनयं करोतीति न भगवत्यपि दोषोऽस्ती**त्यस्म**च्छब्देन बोधितम्. एवमाशङ्कायां शुद्धत्वे बोधितेऽपि प्रमाणबलेन स्वानुभवेन चाशङ्कां परिहरति **स्वकृते**[सुबो]त्यादिना. तत्र प्रमाणबलमाह **न हि युक्तिबाधितं वेदोपि बोधयती**ति. एतदर्थो उदाहरणेनोक्तः **घटस्य पटत्वं न बोधयती**[लेख]ति. ननु वेदार्थेऽपि कुत्रचिद् कस्यचिद् युक्तिबाधो दृश्यत इत्याशङ्क्य महदनुभवेन परिहरति **ब्रह्मत्वादिकं त्वस्मदादियुक्तिबाधितमपी**त्यादिना. **ब्रह्मत्वादिक**मिति, "**सर्वं खल्विदं ब्रह्मे**"ति श्रुत्युक्तं सर्वं ब्रह्मत्वादिकं ब्रह्मस्वरूपं भविष्यति. **आदिपदेन** महदादिकं चेति. विचारे "आनन्दं ब्रह्मणो रूपम्"इति श्रुत्या इदं दृश्यमानं जडमलिनरूपं सर्वं कथं ब्रह्मरूपं भविष्यतीति **अस्मदादियुक्तिबाधितमपि शुकादियुक्तिसिद्धमेवे**ति सर्वत्रानन्दमात्रकरपादमुखोदरादिमत्त्वं सिद्धमेवेत्यर्थः. तदुक्तं प्रथमस्कन्ध-चतुर्थाध्याये "दृष्ट्वानुयान्तमृषिमात्मजमप्यनग्नं देव्यो ह्रिया परिदधुर्न सुतस्य चित्रं तद्वीक्ष्य पृच्छति मुनौ जगदुस्तवास्ति स्त्रीपुंभिदा न तु सुतस्य विविक्तदृष्टेरि"ति. एवं पुनरपि **न हि युक्तिबाधितं वेदोपि बोधयति**[सुबो]इत्यत्र प्रकारान्तरेण वाक्यं विचारयति **अहं मनुरभवमित्यादावि**[लेख]ति, श्रुत्यादावित्यर्थः. वेदे वामदेवज्ञानिनोक्तम् "अहं मनुर्जात" इति तच्छ्रुत्वा अहो अर्वाचीनोऽयं जनः कथं प्राक्कालीनो मनुरूपो भवतीति साधारणानां शङ्का अस्तु नाम, न तु ज्ञानिनामपीति अन्वयव्यतिरेकेणाहुः **ब्रह्मभावे सर्वभावादि**ति. "अहं ब्रह्मास्मी"ति यस्य ब्रह्मभावः स सर्वरूपोऽपि भवति. एवं **ब्रह्मत्वेन मनुत्वमपी**ति, "अहं मनुरभवमि"त्यत्र ब्रह्मत्वेन मनुत्वमपि सिद्धं, तेन **न हि युक्तिबाधितं वेदोपि बोधयती**त्यपि सिद्धमिति भावः. व्यतिरेके तदभावमाहुः **न तु मनुत्वेने**[लेख]ति, केवलमनुत्वे तु ब्रह्मभावाभावात् न स सर्वरूपोऽपि भवत्यतो वेदे युक्त्यबाधाभावाभावोऽपीति भावः. एवं **ब्रह्मत्वादिकं** त्वित्यादिना युक्तिबाधाभावकथनेन वयमपि श्रुतिरूपा न युक्तिबाधितं बोधयाम इति प्रमाणबलमुक्त्वा स्वानुभवबलमाहुः **व्याख्याने भगवानीश्वर**[सुबो]इत्यादिना ॥१६॥

तावत्कृतं, स सर्वसमर्थोऽपि न किञ्चित्कृतवान्. एवमर्थे पूर्वजाते पुनरधुना किं कर्तव्यं तदाहुः **स्वकृत इहैव विसृष्टाः अपत्यानि पतिश्च अन्ये च लोकाः** स्वर्गादयोऽपि भर्त्राद्या ज्ञातिक्रमात् त्यक्ताः याभिः. लोको हि दूरे गत्वा परित्यजति, न तु तत्रैव त्यक्तुं शक्तः. त्यागोऽपि भगवदर्थ एव. अत्यागे भगवानस्मान् न ग्रहीष्यति, परसम्बन्धात्. तादृशीश्च **व्यसृजत्.** ननु लोको हि कार्यार्थं गच्छति, सर्वत्रैव विलम्बश्च भवति, नैतावता त्यागो भवतीति चेत्तत्राह **अकृतचेता** इति, न कृतं चित्तं येन. यो हि गच्छति सोऽन्तःकरणे तानत्यक्त्वैव गच्छति, तास्वन्तःकरणं कृत्वैव गच्छति, भगवांस्तु तद्विपरीतः. अत एतादृशे भगवति **किं सन्धेयम्** ! **नु** इति वितर्के, येन सन्धितो भवति तं हेतुं न पश्यामीति. बहिःस्थिता अस्माभिरेव त्यक्ता अस्मदीया, अन्तःस्थिताश्च तेनैव त्यक्ताः ॥१६॥

नन्वेकमस्ति सन्धेयं सख्यमिति. पूर्वं हि प्रपन्ना अपि भवत्यो भगवता त्यक्ताः, अधुना प्रार्थनया तं दोषं परिहृत्य तेन सह सख्यं कर्तव्यमिति चेत्तत्राहुः **मृगयुरि**ति.

मृगयुरिव कपीन्द्रं विव्यधेऽलुब्धधर्मा
स्त्रियमकृत विरूपां स्त्रीजितः कामयानाम् ।
बलिमपि बलिमत्त्वाऽवेष्टयद्ध्वाङ्क्षवद्य-
स्तदलमसितसख्यैर्दुस्त्यजस्तत्कथार्थः ॥१७॥

"न वै स्त्रैणानि सख्यानी"ति वयं सख्येऽनधिकृता एव. ईश्वरोऽपि सख्ये नाधिकृतः "राजा मित्रं केन दृष्टं श्रुतं वे"ति. सुतरां भगवता सह सख्यं न भवति,

---

लेखः

बहिःस्थिता इति, **बहिःस्थिता अस्मदीयाः** पत्यादयोऽस्माभिरेव **त्यक्ताः. अन्तःस्थिताः** स्नेहादिभावा भगवतैव **त्यक्ताः**. तथा च पत्यादयोऽपि त्यक्ता यदर्थं तेन भगवतापि स्नेहस्त्यक्तः अत उभयभ्रंश इति भावः ॥१६॥

प्रकाशः

मृगयुरित्यत्र. न वै स्त्रैणानीति श्रुतिप्रतीकम्. **स्वस्मादि**ति स्वत[1] एवेत्यर्थः.

टीपिका

मृगयुरिव कपीन्द्रेति. स्थलत्रये[सुबो] इति वालि-शूर्पणखा-बलिष्वित्यर्थः.

---

१. स्वस्मादिवेत्यर्थ इति पाठः.

स्थलत्रयेऽनिष्टदर्शनात्. आर्षज्ञानेन भगवत्स्वरूपं ज्ञात्वा स्वस्मात् पूर्वावस्थां भावयन्ति. तत्र भगवान् रामः पूर्वतनः, तेन सह सख्यं पुरुषेण स्त्रिया च कृतम्, तयोर्मरणं जीवन्मृतत्वं च जातमिति. सुग्रीवेण सहाग्निसाक्षिकं मैत्री कृता, तस्यैव भ्राता वाली भगवता हतः, तद्भ्रात्रा सह सख्ये तेनापि सह सख्यं कृतमेव. **कपीनां च स इन्द्रः**, अनेन कार्यार्थतापि निवारिता, **तेन** ततोऽपि अधिकं कार्यं भवतीति. न हि कश्चित्कपिभिः सह सख्यं करोति. अनेन सख्यशास्त्रानभिज्ञता च सूचिता. तत्रापि सर्वसमर्थः युद्धेन न हतवान् किन्तु हरिणान्तरं योजयित्वा यथाऽऽरण्यं हरिणं मारयति लुब्धकः तद्वत्सुग्रीवं योजयित्वा तेन सह युद्ध्यमानमविध्यत्. ननु हरिणादयः सर्वत्रैवमेव हन्यन्ते, को दोष इति चेत्तत्राह **अलुब्धधर्मे**ति— लुब्धकस्येव नास्मिन् धर्मः, तन्मांसस्याभक्ष्यत्वाद् ईश्वरत्वेन तदपकाराभावाच्च. किञ्च **स्त्रियं** शूर्पणखां काममोहितां सर्वथा सम्माननीयां **विरूपां** छिन्ननासिका**मकृत.** ननु युक्तमेवोर्ध्वरेतसः स्त्र्यतिक्रमे तथात्वमिति चेत्तत्राह **स्त्रीजित** इति, सीतया वशीकृतः, अन्यथा तदुक्तं न कुर्यात्. सापि न प्रतिबन्धिका ताटकेव किन्तु **कामयाना**, काम एव यानं यस्या इति वा. तत्र दूषणद्वयं दृष्ट्वा ततोऽपि पूर्वजन्मनि दोषं विचारयन्ती परशुरामे अलभमाना वामने दृष्ट्वा तदाह **बलिमपी**ति. बलिर्ह्यत्यन्तं बलिरूप एव पूजात्मकः, अतः श्रद्धया तथा पूजां कृतवान्. ब्राह्मणक्षत्रिययोः तुल्यता सख्यं च भवति, तत्रा[1]प्यन्योन्यकार्यसाधकयोः. व्याजेन लोकत्रयग्रहणं

लेखः

मृगयुरिवेत्यत्र. **तेन ततोपी**ति, वालिना कपीन्द्रत्वात् सुग्रीवादप्यधिकं कार्यं भवतीत्यर्थः. **तन्मांसस्ये**ति, "पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या"इत्यत्र कपेर्गणनाभावादित्यर्थः. **तत्रापी**ति, सृष्ट्यारम्भेऽपीत्यर्थः. **अन्योन्ये**ति, "ब्रह्मासृजत्स्वमुखत"-

प्रकाशः

ननु बलिना सह मैत्र्यभावात्तदनिष्टकरणे कथं दोषत्वमुद्भाव्यत इत्यत आहुः **ब्राह्मणे**त्यादि. **अन्योन्यकार्यसाधकत्वं** च यज्ञेन राज्यस्थैर्याद्रक्षया

टीपिका

पूर्वावस्थामि[सुबो.]ति श्रीकृष्णस्य पूर्वावतारावस्थामित्यर्थः. ननु वाली बलवत्तरो मया च सुग्रीवसख्यं कृतं तत्स्मृत्वा ममाप्यपकारं करिष्यतीति भयान्मारितवान् इति चेत्तत्राह **ईश्वरत्वेने**ति. **तदुक्तमि**ति, सीतोक्तमायामृगानयनार्थं न गच्छेदित्यर्थः. **काम एव यानमि**ति, काम एव विमानं यस्याः यतस्तदधीनगतिका अतः सर्वथा

---

१. तत्रापि इति स. पाठानुसारेण,तथापि इति मु. पा.

न दोषाय, यथाकथञ्चित् स्वकीयं ग्राह्यमेवेति, किन्त्वन्यदस्तीति पूर्वमनुवदति. **बलिमत्त्वा** जग्ध्वा. नात्र धात्वादेशः, "बहुलं छन्दसी"त्यग्रे वक्ष्यमाणत्वात्. **आवेष्टयद्** गर्तविशेषे बद्ध्वा स्थापितवान्. **ध्वाङ्क्षवद्** द्वितीयार्थे वतिः. अयुक्तो हि काकः पायसादिभक्षण इति तथा कृतवन्तं धृष्टं बध्नाति प्रभुः. तथा कपिरपि इन्द्रवद् व्यवह्रियमाणो हन्तव्यः. मृगत्वाद् व्याजेनैव मारणीयः, ब्रह्मणा तथैव तेषां मृत्युर्निर्मित इति. मत्स्यानां तु बुद्ध्यैव. **स्त्रीजित** इत्यनेनैव स्त्रियैव स्त्री विकृता न तु भगवता, अत एव ताः सजातीयातिक्रमं न कुर्वन्ति. तथा वयमपि न

लेखः

इत्यत्र तयोक्तेरित्यर्थः. **पूर्वमनुवदतीति**. लोकत्रयग्रहणस्यानुवादमात्रम्, आवेष्टनस्यैव मुख्यक्रियात्वाद्दोषत्वमिति भावः. दोषस्य साध्यत्वाय गुणपक्षमप्याहुः **अयुक्तो हीति**. **बुद्ध्यैवेति**, बडिशादिकं सम्पाद्येत्यर्थः. सर्वत्र दृष्टान्तार्थमिदमुक्तम्. **अत एवेति**, विरूपत्वभयादेवेत्यर्थः. **शक्येत्यर्थपदमिति**, **अर्थपदेन** स्वातन्त्र्यमुक्तम्,

प्रकाशः

धर्मस्थैर्याद् ज्ञेयम्. तर्हि को वाऽपकार[1] इत्यपेक्षायां तं वक्तुं लोकत्रयग्रहणस्य तथात्वं निषेधन्ति **व्याजेने**त्यादि. **पूर्वमिति**, पूजाग्रहणं दोषस्यारोपणायानुवदतीत्यर्थः. **अग्र** इति आदेशसूत्रोत्तरम्, तथा च ततो बाहुलकार्षाद्रूपसिद्धिरित्यर्थः. सरस्वत्युक्तमर्थं वक्तुमाहुः **ध्वाङ्क्षे**त्यादि. **तथे**ति अस्य तात्पर्यान्तरमुच्यत इत्यर्थः. **अर्थपदमिति**, शब्दार्थयोर्नित्यसम्बन्धात् "वेदैश्च

टीपिका

निरपराधा इत्यर्थः. **न दोषाये**[सुबो]ति, अत एव मूलश्लोकेऽपि लोकत्रयग्रहणं नोक्तम्. **पूजे**[प्रका]ति अर्घ्यपाद्यादिग्रहणरूपेत्यर्थः. **नात्र धात्वादेश**[सुबो] इति. **अग्र**[प्रका] इति, "अदोजग्धिरि" **त्यादेशसूत्रोत्तरं** "बहुलं छन्दसी"तिसूत्रेणाऽत्त्वेत्यस्य सिद्धिरित्यर्थः. **द्वितीयार्थे वतिरि**[सुबो]ति, वत्प्रत्ययार्थो द्वितीयार्थे, तथा च **ध्वाङ्क्षं बलिं यः** प्रभुः **आवेष्टयतीति** योजनीयम्. तदेव दर्शयति **अयुक्तो हीत्यादिना**. **अयुक्तो हीत्यस्याभासे दोषस्ये**[लेख]ति तृतीयदोषस्येत्यर्थः. **गुणपक्षमिति** भगवद्गुणगानपक्षमित्यर्थः. **अस्ये**[प्रका]ति, **बलेर्ध्वाङ्क्षे**ति विशेषणकरणे **अयुक्तो ही**[सुबो]ति प्रथमं तात्पर्यमुक्तं, तथा कृतवन्तं धृष्टं बध्नाति प्रभुरिति, **अस्य** बन्धनस्य **तात्पर्यान्तरमुच्यत** इत्यर्थः. **पूर्वत्रे**[लेख]ति[2], यथा बलेर्निग्रहकरणे भगवति न दोषोऽस्तीति

१. कोऽस्यापकार इति पाठः. २. सर्वत्र इति लेखपाठः.

करिष्यामः. कृते त्वनिष्टं स्वधर्मत्यागादेव, तथा हीना वयं नोत्तमभावं प्राप्स्यामः "अयोग्यमिच्छन् पुरुषः पतत्येव न संशय"इति वाक्यात्. मर्यादोल्लङ्घने तद्रक्षकैर्दण्ड्यत इत्यविवादम्. स्त्रियो जिता अनेनेति न हि रामः स्त्रीवश्यः. जितानां वशीकृतानां च हितं कर्तव्यमिति. तथा नगरे अस्मदनुपभोग्यो भगवान्. यथा बलेस्तन्मन्वन्तरकालः. अतो हीनत्वात्[^]स्वायोग्यं स्त्रीत्वात् स्त्र्यतिक्रमम् अन्यावसरत्वात् च कालमर्यादोल्लङ्घनं च न कर्तव्यमिति प्रार्थनया सख्यं न कारणीयम्. तदाह **तदलमिति, तत्तस्मादसितसख्यैरशुद्धसख्यैरलम्.** कपटसख्यानि न कर्तव्यानि यतो विपरीतफलानि, तामसभावाद्वा कृष्णवर्णपरोऽ**सित**शब्दः. ननु सर्वं परित्यज्य भगवदवलम्बनं कृत्वा भगवन्तमपि परित्यज्य क्व यास्यथेत्याशङ्क्याह **दुस्त्यज** इति, **तस्य कथा**रूपो**ऽर्थो दुस्त्यजः,** कथामवलम्ब्य तिष्ठामः. सोऽपि त्यक्तव्य इत्यस्ति मनः, प्राणबाधात्. तथापि त्यक्तुमेवाशक्य इति **दुस्त्यजः.** सापि भगवानिव चेत्स्वयं त्यक्ष्यति तदा त्यजतु नाम, नत्वस्माभिस्त्यक्तुं शक्येत्य**र्थ**पदम्. कालेनापि भगवद्धर्मा बोध्यन्ते श्रवणादयो

लेखः

तेन तस्या अपि त्यागसामर्थ्यं सूचितमिति भावः. **दिवि भुवी**ति श्लोकार्थस्तु पक्षत्रयेऽपि तुल्य एव. **विसृजे**ति श्लोकस्य कालपक्षेऽर्थमाहुः **कालेनापी**ति.

टीपिका

सुबोधिन्याम**युक्तो ही**त्यादिनोक्तं, तथा गुणे पक्षे वालिहननेऽपि न दोषोऽस्तीति **मृगयुरिव कपीन्द्रे**ति **पूर्वत्र दृष्टान्तार्थं तथा कपिरि**[सुबो]त्यारभ्य **बुद्ध्यैवे**त्यन्तं **इदमुक्त**मित्यर्थः. **अत एवे**[सुबो]ति, यतः शूर्पणखया सीताया अतिक्रमे कृतेऽनिष्टं जातम् **अत एव ता** इत्यादि. **ता** मधुपुरीस्थाः **सजातीयानामस्माकमतिक्रमं न कुर्वन्ति** इत्यर्थः. **तथा नगर** इति, **यथा बलेस्तन्मन्वन्तरकालोऽनुपभोग्यस्तथा नगरेऽस्मदनुपभोग्यो भगवानि**त्यन्वयः कर्तव्यः. तृतीयदृष्टान्ते ननु शूर्पणखया कः स्त्र्यतिक्रमः कृत इत्याशङ्क्य तस्या अतिक्रमानाह **अत** इत्यादिना. **स्वायोग्यस्त्रीत्वादि**ति[1], श्रीरामस्याऽयोग्यस्त्रीत्वादित्यर्थः. **अन्यावसरत्वादि**ति सीताया अवसरत्वादित्यर्थः. तन्मध्ये तस्या आगमनं **स्त्र्यतिक्रम** इति योजनीयम्. **स्वातन्त्र्यमि**[लेख]ति, "अर्थस्य पुरुषो दासो दासो ह्यर्थो न कस्यचिद् इति सत्यं महाराज बद्धश्चार्थेन कौरवैरि"ति युधिष्ठिरं प्रति भीष्मवाक्येनार्थस्य स्वातन्त्र्यमुक्तम्.

---

१. स्वायोग्यस्त्रीत्वाद् इति अयं अशुद्धइव भाति. - सम्पा.

धर्मत्वेन, तत्रापि सख्यमात्मनिवेदनं च बोध्यते, यथा "सुपर्णावितौ" "ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येती"ति. वेदा यज्ञाश्चन कालात्मका इति शिर उपनिषदो भवन्त्येव. तत्र

लेखः

यज्ञाश्चनेत्यत्र चनेत्यव्ययं न तु नकारः, 'किंचने'तिवत्. वेदाः कालाधीनत्वात्कालात्मका अतस्तच्छिरसामुपनिषदां कालशिरस्त्वमित्यर्थः. **भगवन्निरूपणमि**ति भगवद्भक्तिनिरूपणमित्यर्थः. कालं सम्बोध्योच्यते "त्वच्छिरसि उपनिषदि बोधितं पादं भक्तिरूपं सख्यमात्मनिवेदनं च विसृज. तत्रैतन्निरूपणं मास्तु

प्रकाशः

सर्वैरहमेव वेद्यः," "सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ती"त्यादिभ्यः कथायाः एवार्थत्वाच्च तथेत्यर्थः. **विसृज शिरसीति** श्लोकस्य कालपक्षो न व्याख्यात इति तमिदानीं व्याकुर्वन्ति **कालेनापीत्यादिना. एतावि**ति, "सयुजौ सखायावि"त्यग्रे सख्योक्तिदर्शनात्. **न कालात्मका** इति, दूतत्वेन विवक्षितो यः कालस्तदात्मका न, पूर्वकाण्डस्य तदर्थस्य च प्रवृत्त्यर्थकत्वेन साक्षाद् भगवत्प्रापकत्वाभावादित्यर्थः. **भवन्त्येवे**त्यादि, "अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यत"इति श्रुतेः शिरःश्रुतेश्च भगवद्रूपकत्वमुख्यत्वयोः सिद्धत्वात् ता विवक्षिततदात्मका[1] भवन्त्येव. तत्रोपनिषद्रूपे शिरसि पादं तुरीयं त्यज. एतदेवाहुः **तत्रे**त्यादि. निरूपणे को दोष इति चेत्, तत्राहुः·

टीपिका

तस्या अपी[लेख]ति कथाया अपीत्यर्थः. **तथे**[प्रका]ति भगवद्रूपत्वमित्यर्थः. तदेवात्र पूर्वमुक्तं **शब्दार्थयो**रित्यादिना. तदेवोक्तं **सापी**त्यादिना. **दिविभुविश्लोकार्थस्तु**[लेख] निर्गुणगोपिकाया वचनमित्यर्थः. **पक्षत्रयेपी**ति, "मधुपे"त्यादिनवश्लोकेषु तामसादिपक्षत्रयेऽपीत्यर्थः. **तुल्य एवे**ति तुल्यार्थ एवेत्यर्थः. तथा च वस्तुतस्तु सर्वा अपि गोपिका निर्गुणा इति भावः. **चनेत्यव्ययमि**ति, किञ्चनेति अव्ययमित्यर्थः. न तु कारक इति **नकारो** निषेधवाची **ने**ति योज्यम्. "विसृज शिरसी"ति श्लोकस्य कालपक्षो न व्याख्यातस्तमिदानीं व्याकुर्वन्ति **कालेनापी**[सुबो]त्यादिना. **कालेनापी**ति वेदेनापीत्यर्थः. **श्रवणादय** इति, "आत्मा वा अरे श्रोतव्यो मन्तव्य"इत्यादिश्रुत्युक्तश्रवणादय इत्यर्थः. **सख्यमि**ति, यथा "सुपर्णावितौ सदृशौ सखायावि"ति सख्यं बोध्यते. **आत्मनिवेदनमि**ति, "ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येती"त्यात्मनिवेदनं च बोध्यते. **वेदा यज्ञाश्चे**त्यस्यार्थस्तु मूलानुसारेण लेखे स्पष्ट एवोक्तः. ननूपनिषत्सु

---

१. तदात्मिका इति टीपिकापाठः.

भगवन्निरूपणं न कर्तव्यमिति पुष्टिश्रुतीनामभिप्रायः, इतरथान्यथासिद्धिः स्यात्. ननु भक्तिमार्ग इव तत्रापि भगवदुत्कर्षः प्रतिपाद्यत इति कथं निषेध[1] इत्याशङ्क्याह **वेदम्यहमिति**. स हि भवदभिमतः परमात्मा मोक्षप्रद एव, तस्य दूतेनात्यन्तनिपुणेनापि मोक्ष एव फलति. प्ररोचनार्थमेव भक्तिमिव प्रेमेव वदति "न वारे पुत्राणां

लेखः

प्ररोचनार्थत्वादिति मूलार्थः. **इतरथे**ति, तदोपनिषदैव कार्यसिद्ध्या भगवदवतार**स्यान्यथासिद्धिः स्याद**तो न कर्तव्यमित्यर्थः. अनभिप्रेतत्वादपि न

प्रकाशः

इतरथेति, भक्तिफलदातृत्वेन तस्य मोक्षं प्रत्यकारणत्वं स्यादित्यर्थः. उत्तरार्द्धं

टीपिका

भगवद्भक्तिनिरूपणं न कर्तव्यमिति पुष्टिश्रुतीनां किमर्थमभिप्राय इत्याशङ्क्याहुः **इतरथा**[सुबो.] **अन्यथासिद्धिः स्यादिति**. एतदर्थस्तु **तदोपनिषदैव कार्यसिद्ध्या भगवदवतारस्यान्यथासिद्धिः स्यादि**[लेख.]ति. उपनिषदुक्तसख्यात्मनिवेदनेन भक्तिमार्गीयफलसिद्धि**स्तदा** "तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनां भक्तियोगवितानार्थं कथं पश्येमहि स्त्रिय"इति कुन्तीस्तुतावुक्तभक्तियोगवितानार्थं भगवदवतारप्रयोजनाभावः **स्यादि**त्यर्थः. अत्रायमाशयः— उपनिषत्सूक्तसख्यात्मनिवेदनं ज्ञानमार्गपर्यवसायि मोक्षप्रदं, भक्त्यर्थमवतीर्णस्य भगवतः सख्यात्मनिवेदनं तु स्वरूपसम्बन्धप्रदमतो महानेव विशेषः. तत्र भजनीयोऽपि मोक्षप्रदः परमात्मैवेति वक्तुमाशङ्कामुद्भावयन्ति **नन्वि**[सुबो.]त्यादिना. समाधाने यथा पुष्टिश्रुतीनामभिप्रायस्तथैव भगवतोऽप्यभिप्राय इति ज्ञापयितुं **भवदभिमतः परमात्मे**त्युक्तम्. **मोक्षप्रद** इति मूले **मुकुन्द**पदस्यार्थः. **प्ररोचनार्थमेव भक्तिमिव प्रेमेव वदती**ति. तत्रैव वाक्यद्वय-माहुः "न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति किंत्वात्मनः कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ती"ति आत्मकामनां **भक्तिमिव वदति** श्रुतिः. **तथा** "यमेवैष वृणुते तेन लभ्य"इति श्रुत्युक्तवरणमपि "अहं भवान्न चान्यस्त्वं त्वमेवाहं विचक्ष्व भो न नौ पश्यन्ति कवयश्छिद्रं जातु मनागपी"ति पुरञ्जनोपाख्यानोक्तपरमात्मन एवेति तस्य **प्रेमैव वदती**त्यर्थः. **किञ्चे**त्यारभ्याग्रिमग्रन्थस्यायमभिप्रायः —यथा "आत्मकामः सर्वं परित्यजेदि"त्यादिवाक्यैःसर्वपरित्यागेनात्मानुसन्धानं ज्ञानमार्गीयसाधनमात्मस्फूर्तिश्च फलं, तदभावे उपनिषद्दुर्वादीनां प्रयोजनाभावो यस्मात्तस्मात्सख्यादिकमनभिप्रेतमेवेत्यर्थः. ननु तर्हि भक्तिमार्गीयसख्यादिष्वपि

१. निरोध इति स.

कामाये''त्यादिभिः, ''यमेवैष वृणुत'' इति च. किञ्च शास्त्राणां सर्वपरित्याजनपरत्वं, यथा ''आत्मकामः सर्वं परित्यजेत्.'' तादृशविरक्तस्यापि नित्यमात्मानुसन्धानयुक्तस्य यदि नात्मस्फूर्तिः किं तस्योपनिषदा गुरुभिर्वा भविष्यति? तस्मात् सख्यादिकमनभिप्रेतमेव, तथापि वैदिकत्वेन भाव्यमन्यथा पाषण्डित्वं स्यात्. एवं सर्वत्र योजनीयम् ॥१७॥

लेखः

कर्तव्यमित्याहुः. **किञ्चेति, मृगयुरिवेति** श्लोकस्यार्थोऽयम्. **असितसख्यैर**नभिप्रेतसख्यैरित्यर्थः. **तस्मादिति**, यतः पूर्वोक्तहेतुना आत्मस्फूर्तिरावश्यकी, तस्यां च सत्यां सख्यादिकं न सम्भवति अतो ज्ञायतेऽनभिप्रेतमित्यर्थः ॥१७॥

प्रकाशः

व्याकुर्वन्ति **किञ्चेत्यादि. नात्मस्फूर्तिरिति**, ''विवृणुते तनुं स्वामि''त्युक्तो **विवरणाभावः**, स च त्यक्तत्वादेवावसितस्तर्ह्यग्रे किमित्यर्थः. इमं श्लोकं कालपक्षे व्याख्याय **मृगयुरिवे**त्यत्राप्यतिदिशन्ति **एवं सर्वत्रे**त्यादि. तथाच ''द्वा सुपर्णा''श्रुतौ यद्यपि सख्यमुक्तं तथापि रामतापनीयोक्ते ''विष्णोर्नुकमि''त्यत्रोक्ते च स्वरूपे तद्विपरीतदर्शनेनानाश्वसनीयं यद्यपि, तथापि नित्यसम्बन्धात् कथा

टीपिका

प्रमाणाभावो भविष्यतीत्याशङ्क्याहुः [सुबो] **तथापि वैदिकत्वेन भाव्यमिति**, प्रमाणार्थं ''यमेवैष वृणुत''इति श्रुत्युक्त-सख्यादिकं भाव्यमित्यर्थः. **एवं सर्वत्र योजनीयमिति**, एवं यत्र यत्र भक्तिमार्गीयश्रवणादिष्वपि प्रमाणाभावाशङ्का तत्र तत्र सर्वत्र ''आत्मा वा अरे''इत्यादि प्रमाणं योजनीयमित्यर्थः. **मृगयुरिवे**त्यत्र कालपक्षे **शिरःश्रुतेरि**[प्रका]ति, ''ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येती''त्यादिशिरःश्रुतेरित्यर्थः. **विवक्षिततदात्मिका** इति, दूतत्वेन विवक्षितो यः कालस्तदात्मिका शिरःश्रुतिः साक्षाद्भगवत्प्रापिका भवत्येवेत्यर्थः. **तुरीयमिति**, तुरीयपुरुषार्थरूपं मोक्षं **तत्र त्यजे**त्यर्थः. ननु मोक्षः सर्वेषां पुरुषार्थरूपः, कथं तत्त्याग इत्याशङ्क्याहुः **एतदेवे**त्यादि. **एतदेवे**ति, मोक्षे पुरुषोत्तमपर्यवसायित्वाभावाद् अस्मान्प्रत्यकारणत्वं स्यादिति. **त्यक्तत्वादिति**, भगवता त्यक्तत्वादित्यर्थः. **अग्रे किमिति**, अग्रे किमनुसन्धेयमस्तीत्यर्थः. **उक्ते च स्वरूपे** इति वामनस्वरूपे. **तद्विपरीतदर्शनेने**ति, पश्चात् त्रिविक्रमस्वरूपदर्शनेन स्वरंहसा **पूर्वं** त्रिसाम्य-सदनमुरुकम्पयानं त्रिपृष्ठं पश्चाच्चस्कम्भ, अवष्टब्धवान् धृतवानिति **विपरीतदर्शनेनानाश्वसनीयमिति** विश्वासरहितसख्यमित्यर्थः. अत एवोक्तं **तदलमसितसख्यैरिति. नित्यसम्बन्धादिति**, शब्दार्थयोर्नित्यसम्बन्धाद् भगवानिव

ननु तर्हि कथामेव कुर्वन्तु, किमिति भगवतो दोषा उच्यन्ते? न हि भगवद्गुणतत्परा भगवद्दोषान् कथयन्ति न वा तेषामन्यथा स्फुरतीति चेत्तत्राह **यदनुचरिते**ति.

यदनुचरितलीलाकर्णपीयूषविप्रुद्-
सकृददनविधूतद्वन्द्वधर्मा विनष्टाः ।
सपदि गृहकुटुम्बं दीनमुत्सृज्य दीना
बहव इह विहङ्गा भिक्षुचर्यां चरन्ति ॥१८॥

प्रकाशः

दुस्त्यजेति गले पादुकान्यायेन युक्तानामस्फुरणेऽनभिप्रेतमप्यङ्गीक्रियत इत्येवं योजनीयमिति भावः ॥१७॥

टीपिका

कथापि [प्रका]**दुस्त्यजे**त्यर्थः. ननु कथाया अनभिप्रेतत्वेऽपि कथं गले पादुकान्यायेन धारणीया इति चेत्तत्राहुः **युक्तानामि**त्यादि. **युक्तानामस्फुरणे** इति,''तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य चे''ति वाक्याद् **युक्तानां** श्रोतव्यस्य श्रुतस्य चा**ऽस्फुरणेऽनभिप्रेतमपि** युक्तैः शुकादिभिः **गले पादुकान्यायेनाङ्गीक्रियते** तथास्माभिरपि अनभिप्रेतमप्यङ्गीक्रियत इति भावः. ननु पूर्वश्लोकोक्तकालपक्षोऽस्मिन् श्लोके किमर्थमुक्त इत्याशङ्कापरिहारस्तु— पूर्वं ''किं नु सन्धेयमस्मिन्नि''त्यनेन भगवति सन्धिर्न कर्तव्य इत्युक्तम्, अस्मिन् श्लोके **तदलमसितसख्यै**रिति अनेनास्मिन् सख्यं न कर्तव्यमिति द्वयोः श्लोकयोरेकार्थज्ञापनाय तथोक्तम्. अथवा ''मधुप कितवे''ति दशश्लोका गुणभेदेनोक्ताः. तत्र प्रथमे तामसतामसी वक्त्री, तत्र कालनिषेध उक्तः. द्वितीये तामससात्त्विकी, तत्र न कालपक्षः. तृतीये तामसराजसी, तत्रापि कालनिषेधोक्तिः. चतुर्थे गुणातीता, तत्र न कालनिषेधः. पञ्चमे राजसराजसी षष्ठे राजसतामसीति द्वयोरेकार्थत्वेऽप्यत्र तामसभावात् कालनिषेध उक्तः. एवं यत्र यत्र तामसभावस्तत्र तत्र कालनिषेधः. तत्र तामसत्वेऽपि यत्र सत्त्वमिश्रत्वं तत्रापि नेत्यर्थः. सात्त्विकास्तु स्वयं प्रमाणभूता अतो न निषेधोक्तिः. तर्हि तामसानां जघन्यत्वं भविष्यतीत्याशङ्कापरिहारस्तु ''पुष्टौ तामसा एव मुख्या'' इतिवाक्यान्न जघन्यत्वमिति ज्ञातव्यम्. सप्तमे राजससात्त्विकी, तत्र कालपक्षोऽनुगुणोऽननुगुणश्चोक्तः. अष्टमे सात्त्विकतामसी, तत्र कालपक्षो नोक्तः. नवमे सात्त्विकराजसी, तत्र कालपक्षस्त्वनुगुणत्वेनोक्तः. दशमे सात्त्विकसात्त्विकी, तत्रापि न कालपक्ष इति व्यवस्था प्रतिभाति ॥१७॥

यथा भगवान् तथैव तत्कथापि, ततोऽप्यधिकापि. वयं हि स्त्रियः नात्यन्तं विवेकवत्यः भगवता बहुकालं स्थित्वा कथञ्चिद्व्यामोहिताः. तत्रापि न भिक्षां प्रार्थयामः नापि भ्रान्ता इव जातिभ्रष्टा जाताः नापि त्यक्तस्थानाः; कथा त्वल्पीयस्यपि महान्तमनर्थं सम्पादयति. तदाह **यस्य** भगवतः **अनुचरितं**, भगवता तु पूर्वं चरितं, तत्पुनः व्यासादिभिरुपनिबद्धमनुचरितं जातम्. अनेन शब्दव्यवहितमपि तथा कार्यं सम्पादयतीत्युक्तं, यथा निदाघे वस्त्रादिव्यवहितो-

---

लेखः

यदनुचरितेत्यत्र **ततोधिकापी**ति, अधिकानर्थसम्पादकत्वादित्यर्थः. आधिक्यं साधयितुं स्वामिनीषु भगवत्कृतं कार्यमाहुः **वयं ही**त्यारभ्य **त्यक्तस्थाना** इत्यन्तम्. कथायामाधिक्यमाहुः **कथा त्विति. महान्तमि**ति, भिक्षाप्रार्थनं जातिभ्रंशं स्थानत्यागं च सम्पादयतीत्यर्थः ॥१८॥

प्रकाशः

यदनुचरितेत्यत्र **शब्दव्यवहितमि**ति, शब्दार्थयोर्नित्यसम्बन्धेऽपि ''अन्यथैवाग्निसंयोगाद्दाहं दग्धोऽभिमन्यते अन्यथा दाहशब्देन दाहोऽर्थः सम्प्रतीयत'' इति सम्बन्धमर्यादा. सा प्रकृते नास्ति, साक्षाच्चरितस्यैवात्रापि फलदर्शनात् वैदिक्याः सृष्टेः शब्दाधारत्वस्य निर्णीतत्वात् तत्र तत्सत्त्वेन व्यवधानमात्रपरम्.

टीपिका

यदनुचरितेत्यत्र. **शब्दव्यवहितमि**[सुबो.]ति,व्यासादिभिरुपनिबद्धमनुचरितं **शब्दव्यवहितमपि तथाकार्यं** सर्वेषां **सम्पादयतीत्युक्तम्.** तत्र दृष्टान्तो **वस्त्रादिव्यवहितोऽपि भानुः** सर्वान् तापयत्येवेत्युक्तम्. तत्र **अपि**शब्देनव्रज-सीमन्तिनीषु चरितं तु दृष्टत्वात्साक्षाद्भानुरिव तापं सम्पादयतीत्युक्तं भवति. एतत्सर्वं **शब्दव्यवहिते**[प्रका.]त्यादिना विस्तृतोक्तम्. तत्र **शब्दार्थयोर्नित्य-सम्बन्धेऽपी**ति पदम् **अन्यथैवे**ति कारिकोत्तरं **सम्बन्धमर्यादा प्रकृते नास्ती**त्यत्र योजनीयम्. ननु व्रजरत्नासु कथं सम्बन्धमर्यादा नास्तीत्याशङ्कायां हेतुमाहुः **साक्षादि**त्यादिना. ननु सर्वेषां च व्यवधाने को हेतुरित्याशङ्कायां हेतुमाहुः **वैदिक्याः सृष्टेरि**त्यादिना. ननु तथापि व्रजसीमन्तिनीषु कथं तापाधिक्यं, कथं वा सर्वेषां नेत्याशङ्क्य कारिकायामग्निदृष्टान्तेन तापाधिक्यमाहुः तत्र **अन्यथैवे**ति. **अग्निसंयो-गाद्दग्धः** पुरुषो **दाहम् अन्यथैवाभिमन्यते** तीव्रवेदनां वैलक्षण्येन मन्यते, **अन्यथा** अग्निसंयोगं विना **दाहशब्देन दाहोऽर्थः** दाहरूपोऽर्थः **सम्प्रतीयेत** सम्प्रतीतमात्रः

ऽपि भानुः सन्तापयत्येव. तत्रापि ग्रहणसौकर्यार्थमाह **लीले**ति, दुर्जरत्वं ज्ञात्वा अभक्षयन्नपि रसव्यामोहितो भक्षयति. तत्रापि न प्रयत्नसाध्यता कापीत्याह **कर्णपीयूषे**ति— निमीलिताक्षेणापि कर्णामृतं पातुं शक्यम्, बहुपाने तु को वेद किं वा भवेत्! किन्तु तस्यामृतस्य **विप्रुद्** बिन्दुमात्रं, तस्यापि **सकृददनं** सादरं मनसा ग्रहणं, तेनैव **विधूता द्वन्द्वधर्मा** रागादयो येषां, यैर्बद्धस्तिष्ठति. अतस्तदभावाद् **विनष्टा** भवन्ति. "णश अदर्शने", यथा सर्वप्रतीत्या अगृहीता भवन्ति तथा गच्छन्तीत्यर्थः, लौकिकवैदिकमार्गादपि पुष्टिमार्ग एवाभिनिवेशात्. अन्यानुरोधेनापि तेषां स्थितिं निवारयति **सपदी**ति. ज्ञानिनोऽपि विरक्ताः, कर्मिणोऽपि स्वार्थमपेक्षाभावेऽपि परार्थमपेक्षन्ते; एतेषां तदपि नास्ति यतः **सपद्येव गृह**स्थितमपि **कुटुम्बं गृहं कुटुम्बं वा दीनमप्युत्सृज्य** त्यक्त्वा स्वयमपि **दीनाः** सन्तः **बहव** एव **विहङ्गा** जाताः इहास्मिन् जन्मन्येव, हंसाः परमहंसा वा. **विहङ्ग**पदं साधारणप्रतिपादनार्थम्, इतो गताः काका गृध्रा हंसा वा भवन्तु परं गच्छन्त्येवेति ज्ञापनार्थम्, तेषां तु आकाशगतिरिव सर्वविलक्षणा भवतीति. ननु तादृशाः कथमुपलभ्यन्ते तत्राह **भिक्षुचर्यां चरन्तीति— भिक्षु**श्चतुर्थाश्रमवान्, तस्य **चर्या**माचारं गृह्णन्ति. तदनधिकारिणोऽपि तत्फलानभिलाषिणोऽपि तन्मार्गरहिता अपि तदाचारं गृह्णन्तीत्यर्थः. एवं स्वधर्मं परित्यज्य परधर्मं ग्राहयति, दुःखितांश्च करोति तान् तत्सम्बन्धिनश्च, स्वसुखमपि बहु नानुभावयति. अतः कथापि त्यक्तव्यैव,

---

प्रकाशः

तत्रापि चेदियं व्यवस्था तदाऽव्यवधाने किं वाच्यमिति भावः. **ग्रहणसौकर्यार्थ**मिति, उत्तमश्लोकलीलया गृहीतचेतस्त्वस्य तादृशैः स्वयमेवोक्तत्वादिति भावः. **तदभावादिति** बन्धकाभावात्. **विहङ्ग**पदस्य तात्पर्यान्तरमाहुः **तेषा**मित्यादि, परित्यज्येत्यन्तर्भावितण्यर्थम्. कालपक्षीयं तात्पर्यमाहुः **पुष्टी**त्यादि. तथा चास्माकं

टीपिका

स्यादिति. **यथा सर्वप्रतीत्ये**[सुबो]ति, एते कस्मिन्वर्णे कस्मिन्नाश्रमे वर्तन्त इति सर्वेषां प्रतीता न भवन्ति तथा गच्छन्तीत्यर्थः. तत्र हेतुः **लौकिकवैदिक** इत्यादिना. तदेवोक्तम् एकादशे "आश्रमादाश्रमं गच्छेन्नान्यथा मत्परश्चरेदि"ति. तदर्थस्तु— मत्परो भक्तः आश्रमादाश्रमं न गच्छेत् किन्तु अन्यथा चरेदिति. **स्वसुख**मिति, **भिक्षुचर्यां चरन्ती**त्युक्त्या एकत्र स्थित्यभावात्कथापि **स्वसुखं बहु नानुभावयती**त्यर्थः. **पुष्टी**त्यादिना कालपक्षोऽनुगुणोऽननुगुणश्चोक्तस्तदर्थः

परमशक्यत्वान्न त्यज्यत इति भावः. पुष्टिमार्गश्रुतीनामपि भगवन्मर्यादाश्रुतयोऽपि नात्यन्तं द्वेष्याः किन्तु ग्राह्या एव, परं नाभिप्रेता इति ॥१८॥

तृतीयपर्याये प्रथमं तामस्या **वयमृतमि**ति.

वयमृतमिव जिह्मव्याहृतं श्रद्दधानाः
कुलिकरुतमिवाज्ञाः कृष्णवध्वो हरिण्यः ।
ददृशुरसकृदेतत्तन्नखस्पर्शतीव्र-
स्मररुज उपमन्त्रिन्भण्यतामन्यवार्ता ॥१९॥

ननु यावन्ति दूषणान्युच्यन्ते तानि सर्वाण्येवासङ्गतानि, प्रमाणविरोधात्. तत्राह वयमपि पूर्वं प्रमाणपरा एव जाताः. पश्चादसाधारणवाक्यत्वाद् अनधिकारेणा-

---

लेखः

वयमृतमित्यत्र **प्रमाणपरा** इति, **न मयोदिते**ति जिह्मवाक्ये **ऋतमि**ति **श्रद्दधाना** इत्यर्थः. पश्चादेवं दृष्ट्वा ततो भगवद्वाक्य एवं न सम्भवतीति विचार

प्रकाशः

विवेकराहित्यादेव स्थितिः, अन्यथा तु तदुदरंभरीणामस्माकं देह एव न तिष्ठेदिति भावः ॥१८॥

टीपिका

तथाचे[प्रका.]त्यादिना. तत्र **विवेकराहित्यादिति, भिक्षुचर्यां चरन्तीति** मर्यादामार्गीयत्यागरूपविवेकराहित्यादेव गृहे स्थितिरित्यर्थः. नन्वेवं पूर्वोक्तमर्यादा-मार्गीयत्यागरूपविवेके सत्यपि किमर्थं गृहे स्थितिरित्याशङ्क्याहुः **अन्यथे**त्यादि. **अन्यथे**ति गृहे स्थित्यभावे इत्यर्थः. ननु गृहे स्थित्या कथं देहस्थितिः भिक्षुचर्याचरणे च कथं न इत्याशङ्कायाम् अत्रेदं तत्त्वम्— एताः पुष्टिमार्गीयाः अतो गृहे स्थित्या कालान्तरेण पुनरपि भगवत्प्राप्त्याशास्ति, तेन देहस्थितिः. यदा भगवान्नागमिष्यत्येवेति निश्चयस्तदा उदरभरणार्थं गृहे किमर्थं स्थातव्यमतो भिक्षुचर्यां चरिष्याम इति निश्चयमात्रेण विरहानलेनैतासां देहा एव न तिष्ठेयुरिति. तथा च **पुष्टिमार्गश्रुतीनामि**[सुबो.]त्यादेरर्थोऽप्येवं कर्तव्यः. तत्र **पुष्टिश्रुतयो** गोपिकास्तासां **भगवन्मर्यादाश्रुतयो यदनुचरिते**त्यादिभगवत्कथामहिमप्रतिपादिका भिक्षुच-र्याचरणादिरूपा अपि विरहदशायां **नात्यन्तं द्वेष्याः किन्तु ग्राह्या एव, परं नाभिप्रेता इति** साक्षात्सम्बन्धविघातकत्वेन नाभिप्रेता इति दिक् ॥१८॥

वयमृतमित्यत्र. **पश्चादि**[सुबो.]त्यादिना. **अनधिकारेण साधने फलव्यभिचारं**

न्यथासिद्ध्यभावं निश्चित्य साधने फलव्यभिचारं दृष्ट्वा क्वचिद्वाक्ये बाधितार्थत्वमपि ज्ञात्वा निवृत्ता जाताः. भगवता हि पूर्वमुक्तं "न मयोदितपूर्वं वा अनृतमि"ति ततः "न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजामि"ति. साधनकाले फलकाले च वाक्यद्वयं जिह्मव्याहृतं कपटेनोक्तमन्यथोक्तमन्यथाप्रतीतिं जनयति. भगवता तूक्तं "पूर्वं मया नानृतमुक्तं भवदर्थे वक्ष्यामी"ति, "भवता साधुकृत्यं न पारये" इति न

लेखः

एवं प्रकारेण तदभावं निश्चित्य निवृत्ता जाताः. **पश्चादि**त्यस्य **दृष्ट्वे**त्यनेनान्वयः. **साधनं** "न मयोदिते"ति वाक्यम्, **फलम**त्यागस्तस्य व्यभिचारे नियतत्वाभावात्साधनस्य नियतावश्यक-पूर्वव्यतिरिक्तस्यान्यथासिद्धत्वाद-न्यथासिद्धिः स्यात्. तदभावार्थमाहुः **असाधारणे**ति. "न मयोदिते"ति वाक्यं न साधारण्येन प्रवृत्तं किन्तु पूर्वं नानृतमुक्तमिति कालविशेषाभिप्रायेण. तथा चास्माकमाधुनिकत्वात्तद्वाक्यविषयत्वेनाधिकार इति तद्वाक्यस्यास्मान् प्रति

टीपिका

दृष्ट्वा[सुबो.] **क्वचिद्वाक्ये** इति "आयास्ये इति दौत्यकैरि"ति वाक्ये **बाधितार्थ(त्वा)-मपि ज्ञात्वा** वयं भगवद्वाक्ये अन्यथासिद्धिं निश्चितवत्यः इति शेषः. **पश्चादसाधारण-वाक्यत्वादन्यथासिद्ध्यभावं निश्चित्य निवृत्ता जाता** इति दोषारोपान्निवृत्ता जाता इति योज्यम्. भगवद्वाक्ये असाधारणत्वं विवृण्वन्ति **भगवता ही**त्यादिना. तदर्थस्तु **पश्चादि**[लेख.]त्यादिनोक्तः. तन्मध्ये **तस्य व्यभिचारेऽन्यथासिद्धिः स्यादि**ति सम्बन्धो ज्ञेयः. व्यभिचारे हेतुमाहुः **नियतत्वाभावादि**ति, भगवतो वाक्ये नियतत्वा-भावादित्यर्थः. भगवत्यन्यथासिद्ध्यभावकथनार्थं न्यायशास्त्रोक्तमन्यथासिद्धेर्लक्षण-माहुः **साधनस्ये**त्यादिना. तत्र घटादिकरणे यथा नियतावश्यकपूर्वभावी यो दण्ड-स्तदतिरिक्तस्य साधनस्य दण्डे नीलपीतादिवर्ण-साधनस्यान्यथा सिद्धत्वादन्यथा-सिद्धिः स्यात्तथा भगवतो वाक्ये नान्यथासिद्धिरिति. तदेवाहुः **तदभावार्थमाहुरि**ति, भगवत्यन्यथासिद्ध्यभावार्थमाहुरित्यर्थः. भगवत्यन्यथासि-द्ध्यभावमग्रे विवृण्वन्ति **असाधारणे**त्यादिना. **भवदर्थे वक्ष्यामी**[सुबो.]ति. नन्वेतासां कोऽर्थो सिद्धो भगवति किञ्चानृतमित्याकाङ्क्षायामत्रायमाशयः— वस्त्रदानद्वारा पुम्भावप्राप्त्या रमणयो-ग्योऽर्थः सिद्धः. भगवत्यनृतं तु वस्त्रदानकथनं पुम्भावदानरूपं ज्ञेयं, न त्वन्यत्. अतो युक्तमुक्तं **भवदर्थे वक्ष्यामी**ति. एतत्सर्वं व्रतचर्याध्याये "भग-वांस्तदभिप्रत्ये"ति श्लोकस्य सुबोधिन्याम् "एते हि बालका" इत्यादिना विवृतं

करिष्यामीति. परं परिज्ञाने अस्माकमेवान्यथाबुद्धिर्जाता— अयमस्मान् प्रति अनृतं न वक्ष्यति, ऋणित्ववचनात् कदाप्युदासीनो न भविष्यतीति. अत एव **वयं जिह्मव्याहृतमपि ऋतमिति** सत्यमिति **श्रद्दधाना** जाताः. नन्विदानीं विचारचतुराः पूर्वं कथं भ्रान्ता जाता इत्याशङ्क्याह **कुलिकरुतमिवेति**. वयमप्यारण्याः, हरिण्योऽपि. हरिणवेषं कृत्वा मृगयुर्गायति तदा हरिण्यो मुग्धाः पूर्वहरिणादेनं विशिष्टं मत्वा हरिणोऽयं हरिणकार्यमपि करिष्यति गानादिकमधिकं चेति भ्रमात् पूर्वहरिणं परित्यज्य तत्स्थाने गताः. तदाह **अज्ञाः कृष्णवध्व** इति, भ्रमादेव द्वितीयकृष्णसारस्य वध्वो जाताः यथा वयं कृष्णपत्न्यः. ननु को दोषो जात इति चेत्तत्राह **हरिण्य** इति, हरिणस्य हि ता भार्याः नत्वाकृतिसाम्यादन्यस्य. यथा वयं गोपभार्याः, नापीश्वरस्य नापि क्षत्रियस्य नापि यादवस्य. परं स एव गोपत्वेन स्थित इति **गोप** एवायमस्मद्धितं करिष्यतीति प्रवृत्ताः. पश्चात्स **ईश्वर** एवेश्वरो जातः, **गोपिकाः** परं नष्टा इति भावः. ननु किमिति नाशो भाव्यते, हरिण्यस्तु तेन विद्धा न तु भवत्य इति चेत्तत्र तुल्यार्थतामाह **ददृशुरिति**. **एतद् ददृशुः** स्वावस्थामभिनयेन प्रदर्शयन्त्यः हरिणीनां तामवस्थामाहुः हरिण्योऽप्युभयतो भ्रष्टा जाताः. स्वयमेव हरिणीनां बोधने दृष्टान्तभूता इति पूर्वं हरिण्युपक्रमेण निरूप्यमाणमप्यर्थं पश्चात्स्वप्राधान्येन निरूपयन्ति **तन्नखस्पर्शेति**. नखकामयोः स्वस्मिन्नेव प्रसिद्धिरिति बाणवेदने उपलक्ष्येते. तस्य भगवतः **नखानां** यः **स्पर्शः** तेन **तीव्रा** या **स्मररुक्**

लेखः

साधनत्वमेव नास्तीति नान्यथासिद्धिसम्भावनेत्यर्थः. **अस्मद्धितमिति**, अत्रैव स्थास्यतीत्यर्थः. **वयं तन्नखस्पर्शतीव्रस्मररुजो** जाताः **एतत्**सर्वेऽपि **ददृशुरि**त्यन्वयः. अन्योन्यमुपमेयोपमानभावकथनेन सर्वथा सादृश्यं बोधितं

टीपिका

द्रष्टव्यम्. एवमग्रेऽपि **न पारये इति न करिष्यामी**[सुबो]ति यदुक्तं तदप्युत्तरदलदानार्थमनृतोक्तिर्ज्ञेया. एतदपि पञ्चाध्यायीचतुर्थाध्याये "नाहं तु सख्य" इत्यत्र "तदा भजनमेव नाशयामी"[सुबो]त्यादिनोक्तं द्रष्टव्यम्. ननु हरिणीनां बाणेन नाशावस्था सर्वैर्दृष्टचरा एव, न भवतीनाम्, अतः कथं तुल्यार्थतेत्याशङ्कायामाहुः **एतद्ददृशुरिति**, एतदस्मदङ्गे नखक्षतावस्थां सर्वेऽपि जना ददृशुरित्यर्थः. **प्रदर्शयन्त्य** इति, उद्धवस्याग्रे स्वावस्थामभिनयेन प्रदर्शयन्त्य इत्यर्थः. **तामवस्थामिति**, स्वनाशेन हरिणीनां नाशावस्थां स्वदृष्टान्तेनाहुरित्यर्थः ॥१९॥

सा यासाम्. कटाक्षादयो विस्मृता अपि भवन्ति, न नखादय:. अन्या वेदना तु औषधेनापि शाम्यति, स्मरस्तु स्मरणेनैव तथा भवति इति स्वस्योपमानत्वम्. **उपमन्त्रिन्निति** सामीप्येन नीतिज्ञत्वेन च सम्बोधनमाहु:. एतन्न प्रकटीकर्तव्यं, ज्ञायते च भगवत्स्वरूपमिति. अतो भगवद्वार्तया क्लेश एव भवतीति **अन्यवार्ता भण्यताम्** अन्यार्थमागत: कश्चिदहमन्य इति ज्ञाप्यतामित्यर्थ:. तदैवमुपालम्भनं न करिष्याम: ॥१९॥

एवमुक्त्वा सम्बन्धं विनिवार्य मूर्च्छितेव जाता पुन: सात्त्विकराजसभावेनाह **प्रियसखे**ति.

प्रियसख पुनरागा: प्रेयसा प्रेषित: किं
वरय किमनुरुन्धे माननीयोऽसि मेऽङ्ग ।
नयसि कथमिहास्मान्दुस्त्यजद्वन्द्वपार्श्वं
सततमुरसि सौम्य श्रीर्वधू: साकमास्ते ॥२०॥

बहव एव दोषा निवृत्ता: सत्त्वप्राधान्याद्गुणकथनाद्वा, अतस्तं दृष्ट्वा प्रथमपर्यायाद् अन्यथाबुद्धिजनकत्वेन प्रकारान्तरेणागमनं सम्भावयति. भ्रमरमपि

टिप्पणी

प्रियसखेत्यत्र **प्रथमपर्यायादि**त्यादि. ''काचिन्मधुकरं दृष्ट्वे''त्यादिनोक्त: प्रथम: पर्याय:, तदैतद्दर्शनेन यादृशी बुद्धिर्जनिता तस्या: सकाशा**दन्यथा** प्रकारान्तरेण **बुद्धिमधुना** जनयतीत्या**गमनम**पि तथैव **सम्भावयती**त्यर्थ:. कालपक्षे

लेख:

भवतीति भाव:. **कटाक्षादय** इति, ऐन्द्रियकापेक्षया कायिकस्य प्रबलत्वादिति भाव: ॥१९॥

प्रियसखेत्यत्र. **सत्त्वप्राधान्यादि**ति गुणात्मकत्वपक्षे **गुणकथनाद्वे**ति तद्भावमापन्ना वेति पक्षे उक्तमिति ज्ञेयम् ॥२०॥

टीपिका

प्रियसख इत्यत्र. **प्रथमपर्यायाद्**[टिप्प.] इति तामसप्रकाराद् इत्यर्थ:. **तदैतद्दर्शनेने**ति, तस्मिन्समये तामसभावेन मधुकरदर्शनेन **यादृशी बुद्धिर्जनिते**ति ''मधुप कितवे''त्यादिनोक्तप्रकारेण दोषारोपा बुद्धिर्जनिता. **तस्या: सकाशादि**ति तस्या: बुद्धे: सकाशादित्यर्थ:. **अधुने**ति अस्मिन्सात्त्विकपर्याये. **प्रकारान्तरेणे**ति, सात्त्विकप्रकारेण यद्दर्शनं तद् **अन्यथाबुद्धिं जनयती**ति दोषाभावरूपां बुद्धिं

पुनरागतमिव, भगवतो दोषान्वा श्रुत्वा तत उत्थाय मूर्च्छितायामुद्धवः पुनरागत इति वा. इदानीमपि **किं प्रेयसैव प्रेषितः?** तदा आकाङ्क्षाधिक्यादस्मत्कार्यं भविष्यतीति भावः. हेमन्ते तासां साधनोपक्रम इति पुनर्नवम्युक्तौ व्याप्रियत इति नवमश्लोके. हेमन्तेऽपि प्रथमो मासो नवमो भवति. पुनर्दण्डकलितवदावृत्तिर्भविष्यतीति मत्वा फलदात्रा भगवता **प्रेयसा प्रेषित** इति. तथेत्यङ्गीकृते आह **वरयेति**, वरं ब्रूहि, साधनेन नेदं कार्यं सेत्स्यति. अयुक्तमपि वरेण सिध्यति. सात्त्विकः कालः

टिप्पणी

अर्थसंगतिमाहुः **हेमन्ते तासामित्यादिना**. पूर्वं वसन्ततोरागमनमुक्तम्, तथा च **पुनरागा** इति पदात्तस्यैवाधुनाप्यागमनं वक्तुमुचितम्, न तु हेमन्तस्येति शङ्कां निरस्यन्ति **तासां साधनोपक्रम** इत्यादिना. अत्रेदमाकूतम्— पूर्वोक्तस्तु नेष्टसाधकत्वेन प्रतीतः, अधुना प्रतीयमानस्त्विष्टसाधकत्वेन प्रतीयते, तादृशश्च हेमन्त एव. व्रते कालस्याप्यङ्गत्वात्तेन तत्त्वमुच्यते. तथा च व्रततत्फलदानसमये पूर्वमागत आसीः, अधुना **किं पुनरागा** इष्टं साधयितुमित्यर्थः पर्यवस्यति. किञ्च चैत्रादिकस्य संवत्सरस्य नवमो मासो, हेमन्तस्य प्रथमो मासो मार्गशीर्षो भवति उक्तिश्चेयं नवमीति स एव तद्व्यापारविषयीक्रियते. गतस्य तस्यैवावृत्तिरसंभावितेतिशङ्काभावायाहुः **पुनर्दण्डकलितवदिति**. यथा गतोऽपि पुरुषः पुरुषान्तरेण दण्डेन प्रेरितः पुनरावर्तते, कुलालचक्रप्राग्देशो वा, तथा पुनरस्मदिष्टं सिषाधयिषुस्त्वां प्रेषितवानित्यर्थः. कालो हि सर्वनियामकः, तस्यान्यशेषत्वेनागमनमसंभावितमित्यत आहुः **सात्त्विक** इति. दोषाभावज्ञापनपूर्वकप्रियत्वादिज्ञानानुगुणत्वेन तथा, भक्त्यनुगुणत्वेन गुणातीतो वेत्यर्थः.

टीपिका

जनयतीत्यर्थः. ननु ''जानीमस्त्वां यदुपतेः पार्षदं समुपागतं, भर्त्रेह प्रेषितः पित्रोर्भवान्प्रियचिकीर्षये''त्यादिषु पूर्वमागमने दोषसम्भावना कृता, **प्रियसख पुनरागा** इत्यत्र कथमधुना प्रकारान्तरेणागमनं सम्भावयति इत्याशङ्कायामाहुः **आगमनमपि तथैवे**[टिप्प.]ति. ''काचिन्मधुकरं दृष्ट्वे''त्यादिषु पूर्वं दर्शने यथा दोषसम्भावना कृता तथा **अधुना** दर्शने गुणान् सम्भावयति, आगमनमपि तथैव सम्भावयतीत्यर्थः. ननु व्रतस्य इष्टसाधकत्वे वक्तव्ये तत्र कालस्य कथमिष्टसाधकतेत्याकाङ्क्षायामाहुः **व्रते** इत्यादिना. **तत्त्वमिति** कालस्य इष्टसाधकतेत्यर्थः, **दोषाभावेति**, व्रजरत्नानां **दोषाभावज्ञापनपूर्वकं** भगवति **प्रियत्वादिज्ञानानुगुणत्वेन तथेति** कालस्य सात्त्विकत्वमित्यर्थः. **इदानीमपि किं प्रेयसैव प्रेषित**[सुबो.] इति प्रश्ने कृते तदा **तथेत्यङ्गीकृते**

भक्त्यनुगुणो वा तदीयप्रमाणान्युररीकृत्य भागवतादिकमिव प्रदर्शयन् पुनरागमनमाह. तत्रापि **मन्त्रदेवतावरेणैव** तत्तत्कार्यं भवति **नान्यथेति** ज्ञापयितुं **वरये**त्युक्तम्. उद्धवेऽप्याशीर्वादो देय:, भ्रमरस्याप्यामोदोपभोग: कारणीय इति **किमहमनुरुन्धे** तुभ्यं दास्यामि तत्कथयेत्यर्थ:. ननु कोऽयं निर्बन्ध इति चेत्तत्राह **माननीयोसी**ति. **अङ्गे**ति स्नेहसम्बोधनं मित्रत्वात्. उपकारं हि कुर्वन् माननीयो भवति. ननु तथापि यथास्माभिर्न दीयते तथा त्वयापि न देयमित्याशङ्क्याह **नयसी**ति, त्वं तु **नयनार्थमागत:**, अयमेवोपकार:. परं नयने साधनापरिज्ञानादस्माकं सन्देहोऽस्ति तत्कथयेत्याहु: **कथमिहास्माने**ति. वयं बह्व्य: स्त्रिय:, गोकुलं च निरोधस्थानम्, त्वं चैक:. किञ्च **दुस्त्यजो द्वन्द्वो** यस्य, भगवान् हि नित्यभार्य:, **विभज्यैव** शक्तिं कृष्णो भगवानवतीर्ण इत्यवोचाम. ननु न साम्प्रतं कापि तिष्ठतीति चेत्तत्राह **सततमुरसी**ति. **सौम्ये**ति सम्बोधनं साधुत्वाय. **श्रीरेव वधू:**, न तूरसि लक्षणमात्रम्. लोकप्रदर्शनार्थं लक्षणत्वमापन्ना, वस्तुतस्तु **साकमास्ते** सहैव तिष्ठति. सौम्यत्वात् सम्मतिर्दर्शने निरूपिता ॥२०॥

टिप्पणी

प्रेषितो हि प्रेषकवाक्यमंगीकृत्यागत्य तदुक्तं वचनं निवेदयति. प्रकृते कालस्तादृश इति तस्मिंस्तद्धर्मानाहु**स्तदीये**त्यादिना. कालपक्षे स्वस्य श्रुतिरूपत्वान्मन्त्र-देवतारूपत्वम्. तत्तत्काले कृतं पूजनादिकं मन्त्राधिष्ठातृदेवतावरेणैव फलितं भवतीति **वरये**त्युक्तमित्यर्थ:. **विभज्यैवे**ति, शक्तीनां भगवद्धर्मत्वेन तत्स्वरूपाश्रितत्वेऽपि पृथक्कार्यकरणार्थं तथेत्यर्थ: ॥२०॥

दीपिका

इति यदुक्तं तस्यैवानुवादो [टिप्प.] **तदीये**त्यारभ्य **आह** इत्यन्तेन कृत: प्रतिभाति. तत्र **स्वस्ये**[टिप्प.]ति, पूर्वं व्रतवरदानसमये **सात्त्विक: काल: भक्त्यनुगुणो वा**[सुबो.] योऽहम् आगत: सोऽहं **तदीयप्रमाणानि उररीकृत्य** पुनरागत इति स्वस्य **पुनरागमनमाहे**त्यर्थ:. तत्र दृष्टान्तं दर्शयन्ति **तदीये**त्यादिना. यथा सात्त्विकं भक्त्यनुगुणं श्रीभागवतं शास्त्रं भगवदीयानि प्रमाणान्युररीकृत्य भगवत्प्राप्त्यर्थं दूतत्वेनागतमिव, **आदिपदेन** श्रीभगवद्गीतापि तथा ज्ञेया, तथाहमपि आगतोऽतो मम निषेधो न कर्तव्य इति भाव:. एवमुक्ते आह **वरये**त्यादीति योज्यम्. **पृथक्कार्यकरणार्थमि**[टिप्प.]ति, पृथक् श्रीवधूरूप: सन् रमणकार्यकरणार्थम्. **तथेति**, विभज्यैव शक्तिं कृष्णो भगवानवतीर्ण इति योज्यम् ॥२०॥

सुखेन नेष्यामीति स्वीकृतवन्तमित्याह **अपि बतेति.**

अपि बत मधुपुर्यामार्यपुत्रोऽधुनास्ते
स्मरति स पितृगेहान्सौम्य बन्धूंश्च गोपान् ।
क्वचिदपि स कथां नः किङ्करीणां गृणीते
भुजमगरुसुगन्धं मूर्ध्न्यधास्यत्कदा नु ॥२१॥

अपीति सम्भावनायाम्, **बतेति** हर्षे. भगवान् उपनीतो विद्यार्थं गत इति श्रुतम्, ततः समागत्य **मधुपुर्यां** पुष्टिपुर्या**मार्यस्य** नन्दस्य वसुदेवस्य वा **पुत्रः**, भर्तृत्वेन नामाग्रहणम्. सत्कुले प्रादुर्भूतः नास्मांस्त्यक्ष्यतीति भावः. **अधुना किमास्ते**? अथवा नीत्वा यावदागमनं स्थापयिष्यतीति सन्देहात्प्रश्नः. विद्यमानोऽप्यन्याभिनिविष्टश्चेत् न कार्यं सेत्स्यतीत्यभिप्रायेणाह **स्मरति स पितृगेहानिति.** तदा गोकुलस्मरणादस्मत्परत्वम्. बहुवचनेन स्वच्छन्दरमणमपि सूचितम्. एवं वचनं पुरुषान्तरेऽयुक्तमित्याशङ्क्याह **सौम्येति** सम्बोधनम्. व्याजेन पृष्ट्वा विशेषतोऽपि पृच्छन्ती आह **बन्धूंश्च गोपानिति**, नन्दगोत्रिणो बान्धवाः अन्ये च गोपाः, **च**काराद् गोकुलस्थाः सर्वे, तदाभिनिवेशो ज्ञायत इति. एवं पृष्ट्वा पुनः स्थातुमशक्ताः स्ववार्तामपि पृच्छन्ति **क्वचिदपीति**, रसाभासकथायां लौकिककथायां वा **स** पूर्वस्वामी **नो**ऽस्माकं सर्वासां **कथाम**पि स्मरति? स्मरणे हेतुः **किङ्करीणामिति.** नन्वन्तःकरणवार्ता कथं ज्ञायत इत्याह **गृणीते क्वचिदिति.** तथोत्तरं दत्तमिति ज्ञात्वा पूर्वमपि परमसन्तापानन्तरं प्रादुर्भूतमिव कथं द्रक्ष्यामीति मनोरथाभिलाषमाह **भुजमगरुसुगन्धमिति— कदा** वा **अगरुसुगन्धं**

लेखः

अपि बतेत्यत्र. सम्भावनायामिति, स्थितेर्निश्चयेऽप्यन्यत्र गमनसम्भावनया प्रश्न इत्यर्थः. **अथवेति**, अत्र पक्षे **यत्रार्यपुत्रोऽधुनास्ते** तादृश**मधुपुर्यां** नेष्यसीति शेषो ज्ञेयः. भगवत्स्थितिकथनस्य प्रयोजनमाहुः **नीत्वेति**, यावद्भगवानत्रायास्यति तावदस्मांस्तत्र स्थापयिष्यति न वेत्यर्थः **मनोरथाभिलाषमिति** मनोरथ-सिद्ध्यभिलाषमित्यर्थः. क्रियाविशेषणमिदम्; दर्शनमनोरथसिद्ध्यभिलाषो यथा स्यात्तथाह भुजाधानमिति शेषः ॥२१॥

टीपिका

अपि बतेत्यत्र. अन्यत्रे[लेख]ति, युद्धाद्यर्थमन्यत्र गमनसम्भावनया प्रश्न इत्यर्थः ॥२१॥

भुजमगर्वपेक्षया वाऽगरुणा वा कदा **वा पुनर्मूर्ध्न्यधास्य**द्धास्यति ? ॥२१॥

एवं सर्वभावेन सर्वावस्थासु उत्कृष्टापकृष्टास्वपि भगवत्परत्वं बोधितम्, प्रातीतिको दोषोऽप्युक्तः. ततो दोषनिर्हरणार्थमुपदेशात्पूर्वमुद्धवोऽभिनन्दनं कृतवानित्याह **अथोद्धव** इति.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

अथोद्धवो निशम्यैवं कृष्णदर्शनलालसाः ।
सान्त्वयन्प्रियसन्देशैर्गोपीरिदमभाषत ॥२२॥

स हि उत्सवात्मकः ताभिः दोषगुणमिश्रतया निरूपितानपि भगवद्धर्मान् गुणत्वेनैव स्वीकृतवान्. अतो (**अथ**!) भिन्नप्रक्रमेणैव **निशम्य** दोषाभावात् तात्पर्यतः **एवं कृष्णदर्शनलालसाः** विदित्वा, यथा सभायामपि भुजमगरुसुगन्धमिति मनोरथाभिलाषः, एतादृश्योऽवश्यं सान्त्वनीया इति ताः **सान्त्वयन्.** तत्रापि **प्रियसन्देशेनैव** न तु स्वतः, यतो **गोप्यः** भगवदीयाः, आज्ञा च भगवतस्तथैवेति.

टिप्पणी

सान्त्वयन् प्रियसंदेशैरित्यत्र. **तत्रापि प्रियसंदेशेनैव, न तु स्वत** इति. अत्रायमाशयः— एतादृशीनां सान्त्वनं प्रभुप्रादुर्भावं विना तद्वाक्यानामप्यशक्यम्, किं पुनर्मम?! तच्चावश्यकम्. तत्र स्नेहस्यैवायं सहजो धर्मो यत्तत्सम्बन्धिन्यपि तत्त्वेनैव भानम्. तेन शब्दार्थस्यानभिप्रेतत्वेऽपि प्रियसम्बन्धित्वेन शब्दज्ञानेनैव तच्छ्रवणेनापाततः सान्त्वनं भविष्यतीति ज्ञात्वा श्रीमदुद्धवैर्विवक्षितमुक्तमिति ज्ञापनाय **प्रिय**पदमुक्तमिति. अत एवोपक्रमोपसंहारयोरपि "श्रूयतां प्रियसंदेश" इति "तत्संदेशागतस्मृतीरि"त्येवोक्तम्, न 'तूपदेश' पदम्. वस्तुतस्तु संदेशोऽप्येतादृशीषु न वक्तुं शक्यः, तथापि प्रभोराज्ञा तथेति तत्पालनार्थमुक्तमित्याहु**राज्ञा चे**त्यादि. स्वरूपातिरिक्तस्य सान्त्वनहेतोः स्वस्याज्ञानेऽप्याज्ञानुभावेनैव सान्त्वनं भविष्यति, नो चेत्प्रभुः कथं वदेदिति हृदिकृत्वा वदन्तीति भावः. एतदवस्थादर्शने तादृग्वाक्य-

लेखः

उत्कृष्टेति, सत्त्वावस्थासु तमोवस्थासु चेत्यर्थः.

टीपिका

अथोद्धवेत्यस्याभासे. **प्रातीतिको दोष**[सुबो.] इति, "कितवे"त्याद्युक्तिरूपो वस्तुतस्तु गुणो गानरूप इत्यर्थः. **सान्त्वयन्नि**त्यत्र **भगवदीया** इति, अतः सान्त्वनीया इत्यर्थः. **एतदवस्थे**[टिप्प.]ति तामसतामसावस्था. **तादृग्वाक्ये**ति,

इदं स्तोत्ररूपं वक्ष्यमाण**मभाषत** ॥२२॥

तासां स्वाभाविको दोषोऽपि भगवत्कृत इति भगवद्गुणैः गुणा एव त इति ज्ञापयितुं षड्भिः स्तोत्रमाह **अहो** इति. तासामभिनन्दनं हि भक्तत्वाद्, भक्तेश्च, तासु भक्तिस्थापनं च.

तत्राप्यनन्यता तासां सर्वभावेन च स्थितिः ।
अतः कृपा हरेर्युक्ता सफलत्वाय सोच्यते ॥(८)॥

॥ उद्धव उवाच ॥

अहो यूयं स्म पूर्णार्था भवत्यो लोकपूजिताः ।
वासुदेवे भगवति यासामित्यर्पितं मनः ॥२३॥

अहो इत्याश्चर्ये, अयमस्मदादीनाम् अपि दुर्लभो भावः एतास्विति. स च भावः सर्वप्रसिद्धः, कादाचित्को हि न तथा. सामान्यतो भक्तस्तोत्रव्यावृत्त्यर्थं **यूयमिति. पूर्णो अर्थो** यासाम्, भक्तिः स्वतन्त्रफलेति. ततश्च यथा भगवान् स्वतन्त्रः तथा भवत्योऽपि जाता इत्याह **भवत्यो लोकपूजिता** इति. भवच्छब्द-

---

टिप्पणी

श्रवणेऽपि यदेतेषां वाक्प्रसवः स तु "मत्संदेशैर्विमोचये"त्याज्ञानुभावेन, न तु स्वसामर्थ्येनेति ज्ञेयम्. वस्तुतस्त्ववश्यंभाव्यसामर्थ्ये प्रेषणवैयर्थ्यं ज्ञात्वा स्वसामर्थ्यमिव वरमिव दत्तवान् "मत्संदेशैर्विमोचये"ति वचनेनेति प्रतिजानीमः ॥२२॥

अहो यूयमित्यादेराभासे **तासां स्वाभाविक** इत्यादि षड्भिः स्तोत्रकरणे तात्पर्यमुच्यते. स्त्रीत्वादिस्तत्स्वभावश्च भगवद्गुणकृत एवेति, "ता मन्मनस्का"इति भगवद्वाक्याच्च तद्धर्मा भगवद्धर्मा एवेति, निर्दोषगुणरूपा एवेति ज्ञापयितुमैश्वर्यादिगुणसङ्ख्या-समानसङ्ख्याकैः श्लोकैः स्तवनमित्यर्थः. भगवद्गुणैः अन्तःस्थितभगवत्स्वरूपा इति तद्धर्मा एव वागादिरूपेणाविर्भवन्तीति तथेत्यर्थः.

लेखः

अहो इत्यत्र. षण्णां श्लोकानां वाक्यार्थानाहुः **तासामिति. भक्तेश्चे**ति **अभिनन्दनमि**ति पूर्वेणैवान्वयः.

टीपिका

"किमिह गायसी"ति "भण्यतामन्यवार्ते"तिवाक्यश्रवणेऽपीत्यर्थः. **वाक्प्रसव**[टिप्प.] इति, श्रीमदुद्धवानां वाक्प्रसव इत्यर्थः ॥२२॥

लोकशब्दौ सर्वसाधारण्यार्थौ. तेषां भ्रमात् प्रवृत्तिं वारयति **वासुदेवे भगवती**ति. **यासां** भवतीनां प्रसिद्धानाम् **इति** पूर्वोक्तप्रकारेण सर्वभावेन **भगवति मनः अर्पित**मिति ॥२३॥

नन्वयं भावः सुलभः कामाच्च जात इति तत्राह **दानव्रते**ति.

दानव्रततपोहोम-जपस्वाध्यायसंयमैः ।
श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यते ॥२४॥

दानादिभिः सर्वैः **कृष्णे** स्नेह एव **साध्यते;** स चेत् कामेनैव जातः किं दानादिना ! स्नेहे वैलक्षण्याभावात्. फले वैलक्षण्याभावे साधनवैजात्यमप्रयोजकम्. ''तदघं हित्वे''ति विशेषस्तूक्तः. **दानं** तुलापुरुषादि. **व्रत**मेकादश्यादि. **तपः** कृच्छ्रादि. **होमः** काम्यः, अग्निहोत्रादिरपि. **जपो** मन्त्रादिः. **स्वाध्यायो** वेदाध्ययनम्, वेद एव वा सर्वविधोऽपि. **संयमो** योगादिः. **अन्यानि श्रेयांसि** कूपारामादीनि;

टिप्पणी

साधारण्यार्थाविति, कतिपयानामेव न पूर्णार्थत्वं किन्तु सर्वासाम्; लोका अपि **न** तथा किन्तु सर्व इत्यर्थः. **तेषामि**ति लोकानामित्यर्थः ॥२३॥

प्रकाशः

दानव्रतेत्यत्र. ननु वैजात्यस्य कथमप्रयोजकत्वं; ''जन्मान्तरसहस्रेषु तपोध्यानसमाधिभिः नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिर्हि जायते'' इत्यादिषु पापनिवर्तकत्वं तेषामुक्तमिति तेषामपि सहकारित्वस्यावश्यकत्वादित्यत आहुः **तदघं हित्वेति विशेषस्तूक्तः.** तथा च ये उक्ताधिकारिणो मार्यादिकास्तान्प्रति, न तु पुष्टान् प्रति, इत्यप्रयोजकत्वं सूपपन्नमेवेत्यर्थः. एतदेव न्यायेनोपष्टम्भन्तः

टीपिका

दानव्रतेत्यत्र. स्नेहे वैलक्षण्याभावादि[सुबो.]ति, दानादिभिः कामादिभिश्च स्नेहस्य तुल्यत्वादित्यर्थः. **फल** इति, कृष्णे भक्तिरिति फल इत्यर्थः. **तदघं हित्वेति विशेषस्तूक्त** इति, तथा च यथा तपोदानसमाधिभिः कृष्णे भक्तिर्हि जायते तथा ''कामाद् द्वेषाद् भयात्स्नेहाद्यथा भक्त्येश्वरे मनः आवेश्य तदघं हित्वा बहवस्तद्गतिं गता''इत्यत्र कामादिनापि तदघं हित्वेति विशेषस्तूक्त इत्यर्थः. तत्र **तान्प्रती**[प्रका.]ति, उक्ताधिकारिणो मार्यादिकान्प्रति दानादेः प्रयोजकत्वम् अतो वैजात्यस्य दानादे**रप्रयोजकत्वं** सुबोधिन्युक्तं **सूपपन्नमेवे**ति योज्यम्. **अन्यानि श्रेयांसी**[सुबो.]ति मूले **श्रेयोभिर्विविधै**रितिमात्रस्यार्थो ज्ञेयः. ननु तथापि मूले दानादिभिः कृष्णे

सर्वेषामेषाम् ''एकस्य तूभयत्वे संयोगपृथक्त्वमि''तिन्यायेन तत्तत्फलसाधकत्वं भक्तिसाधकत्वं च. **अन्यै**रित्यविहितैरपि. **कृष्णे** सदानन्दे, तस्यैव फलत्वमिति एतदर्थमेवाविर्भूत इति वा. ''भक्तियोगवितानार्थमि''ति वाक्यं **हि**शब्देनोच्यते. **साध्यत** इत्यनेन आत्मत्वेन नित्यस्नेहो निवारितः ॥२४॥

तर्ह्यस्मद्भक्तिरन्यादृशीति चेत्तत्राह **भगवतीति**.

भगवत्युत्तमश्लोके भवतीभिरनुत्तमा ।

भक्तिः प्रवर्तिता दिष्ट्या मुनीनामपि दुर्लभा ॥२५॥

सत्यं भिन्ना, परं सर्वोत्तमा. **उत्तमैरपि श्लोक्यत** इति तेषामपि वाक्यमेव **भगवति,** नत्वेवंभूतं मनः. **भवतीभि**रिति बहुत्वं सामर्थ्यं च द्योतितम्. **न उत्तमा** यस्याः भवदीयायाः अन्या भक्तिरस्ति, अतो ब्रह्मकल्पमारभ्याद्यप्रभृति भक्तिवृद्ध्याऽद्य पर्यवसिता, यतो भवतीभिरेवेयं दर्शिता. एतदस्मदादीनां भाग्येन, एतादृश्यपि

लेखः

भगवतीत्यत्र **सामर्थ्यं चे**ति, साधनं विनापि भक्तिप्रवर्तनसामर्थ्यमित्यर्थः. ''भातेर्डवतुरि''ति सूत्राद् भातीति दीप्तिकथनेनेदं सामर्थ्यं सूचितमिति भावः.

प्रकाशः

शङ्कान्तरमप्यपनुदन्ति **सर्वेषामि**त्यादि. तथा च भक्तिसाधकत्व अधिकारिविशेषपरत्वे च न सन्देह इत्यर्थः ॥२४॥

टीपिका

भक्तिर्हि साध्यते इत्युक्तं तदाचार्यैस्तु कथमप्रयोजकत्वमुक्तमिति सन्देहो नापैतीत्याशङ्कायामाहुः **तथा चे**[प्रका.]त्यादिना. तत्र **अधिकारिविशेष** इति, मायीदिकाधिकारिविशेषे भक्तिसाधकत्वमिति **न सन्देह** इति. **अन्यैरित्यविहितैः**[सुबो.] दीनादिषु अन्नादिदानादिभिरित्यर्थः. **साध्यत** इति, ''आत्मनः कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति''इति श्रुत्युक्ता स्वात्मनि सर्वेषां सहजा या प्रीतिः सा दानव्रतादिनापि भविष्यतीत्याशङ्का **कृष्णे भक्तिर्हि साध्यते** इति पदेन निवारितेत्यर्थः ॥२४॥

भगवत्युत्तमश्लोके इत्यत्र. **बहुत्वमि**[सुबो.]ति, भवतीभिः बह्वीभिः प्रवर्तितायाः भक्तेर्बहुत्वमित्यर्थः. सा सेवा पुष्टिमार्गे अद्यापि दृश्यते इति भावः. **सामर्थ्यं चे**ति, **भवती**पदस्य धात्वर्थो ''भातेर्डवतुरि''ति सूत्राद् भातीति दीप्तिकथनेन साधनं विनापि पुष्टिभक्तिप्रवर्तनरूपमिदं सामर्थ्यं सूचितमित्यर्थः. **न उत्तमा** इति, **यस्याः भवदीयायाः** भक्तेः सकाशाद् **अन्या भक्तिर्न उत्तमा अस्तीति** योज्यम्.

भक्तिरस्तीति. एतेन शास्त्रलोकप्रसिद्धायां भक्तौ दानादिसाधनानि श्रूयन्ते, अस्यां तु प्रसिद्ध्यभावात्साधनमपि न पश्याम इति भावः सूचितः. ननु बहिर्मुखेष्वेवैता उत्तमा इति चेत्तत्राह **मुनीनामपि दुर्लभे**ति. अन्यथेदं परित्यज्य मननार्थं कथं प्रवृत्ता भवेयुः? ॥२५॥

न केवलं स्नेहोत्कर्षेणैव भवतीनामुत्कर्षः किन्तु प्रपत्तिरप्युत्कृष्टेत्याह **दिष्ट्ये**ति.

दिष्ट्या पुत्रान्पतीन्देहान्स्वजनान्भवनानि च ।
हित्वा वृणीत यूयं यत्कृष्णाख्यं पुरुषं परम् ॥२६॥

प्रपत्तिबाधका एते पुत्रादयः, पुत्रादीनामासक्तिजनकत्वात्. अनासक्तो हि प्रपद्यते. स्त्रीणां सुतरामेवैते प्रतिबन्धका इति गणयति. **देहाः** स्वस्यैव अवस्थाभेदेन

लेखः

मुनीनामन्तर्मुखत्वं साधयति **अन्यथे**ति, अन्तर्मुखत्वाभावे दानादिसाधनं परित्यज्य मनने कथं प्रवृत्ता भवेयुरतोऽन्तर्मुखास्तेषामपीयं भक्तिः प्रार्थ्येत्यर्थः ॥२५॥

प्रकाशः

भगवत्युत्तमश्लोके इत्यत्र **अन्यथे**त्यादि. यद्यपि एतत्त्यागेन मननग्रहणे एतस्या उत्कृष्टत्वं नायाति, त्यागस्य निकृष्टविषयकत्वात्, तथापि स्वस्य मुनित्वेन मननरसाभिज्ञत्वात् तदपेक्षया अस्यामुत्कृष्टत्वं प्रतिभातमिति यथा वयं तदभिलाषं न कुर्मः एवमन्येऽपि चेज्जानीयुस्तदेमां परित्यज्य मननं कुर्युरिति ज्ञानाभावादेव तेषां तत्र प्रवृत्तेरियमुत्कृष्टेति भावः ॥२५॥

दिष्ट्येत्यत्र. **प्रपत्ति**स्तदेकतानत्वम्, इदमेव चानन्यत्वम्. **भगवदाकाङ्क्षामिति**

टीपिका

एतत्त्यागेने[प्रका]ति दानव्रतत्यागेनेत्यर्थः. **एतस्या** इति भक्तेरित्यर्थः. **त्यागस्येति** दानव्रतत्यागस्येत्यर्थः. **तदपेक्षया** इति मननापेक्षया इत्यर्थः. **अस्यामिति**, **अस्यां** भक्तौ मनने **उत्कृष्टत्वं प्रतिभात**मित्यर्थः. तदेव दर्शयन्ति **यथा वय**मित्यादिना. नन्विमामुत्तमां भक्तिं परित्यज्य कथं मनने सर्वेषां प्रवृत्तिर्भविष्यतीत्याशङ्कायामाहुः **ज्ञानाभावा**दित्यादिना. **तत्रे**ति मनने प्रवृत्तिः. **इय**मिति, अत **इयं** भक्तिरु**त्कृष्टे**ति भावः. तथा च शुकादीनां तादृग्भक्तिकरणाधिकाराभावेऽपि मनने अस्या उत्कृष्टत्वं ज्ञात्वा "नित्यं विष्णुजनप्रिय" इति वाक्यात् तदर्थं वर्णिता इति भावः ॥२५॥

दिष्ट्येत्यत्र. अवस्थाभेदेने[सुबो]ति, बाल्ययुवाद्यवस्थाभेदेन भिन्ना देहा

भिन्नाः नानाविधोपयोगा इति तदपेक्षाभावाय बहुवचनम्. स्वार्थं विनियोगाभावात्त्यागः, अन्यथा भगवतः स्थाने गच्छेयुः. किन्तु भगवदाकाङ्क्षामेव भावयमानास्तिष्ठन्तीति पुत्रादिवद् देहत्यागोऽपि. तथा भिन्नानां स्वजनानां गोपिकानां परस्परमपि प्रासङ्गिकः समाजः, गृहाणामाधारभूतानामपि परित्यागः पूर्वमुपपादितः. चकारात् लोकानामपि. वृथा परित्यागं वारयति **वृणी**तेति. पुरुषपरित्यागो दोषायेति तदर्थमाह **परमि**ति. व्यभिचारिण्योऽपि यदि पतिं भजन्ति तदापि पूर्वदोषं परित्यज्य कृतार्था भवन्ति.

प्रकाशः

भगवत्कृतां स्वाकाङ्क्षाम्. **भिन्नानामिति** भगवद्वार्तोपयोगिभिन्नानाम्. **व्यभिचारिण्य** इत्यादि. मूले **परमि**त्यनेन "तथा पुरुषशब्दोऽयं वासुदेवे प्रतिष्ठितः स्त्रीप्रायमितरत् सर्वं जगद् ब्रह्मपुरःसरमि"ति "भगवानिति शब्दोऽयं तथा पुरुष इत्यपि निरुपाधी च वर्तेते वासुदेवे सनातन"इत्यादिवाक्यैः पुरुषत्वं भगवत्येव सत्यमन्यत्र तु गौणं, "ते सर्वे पुरुषांशत्वादुच्यन्ते पुरुषा इति" इतिवाक्येन पुरुषांशत्वाच्च. "स वै पतिः स्यादकुतोभयः स्वयं, समन्ततः पाति भयातुरञ्जनमि"तिवाक्यात्पतित्वमपि तत्रैव मुख्यम्. तेन विवाहित इवात्र वाचनिकत्वस्य तौल्येऽप्युक्तविशेषत्वसत्त्वादे[१]तद्भजनमेव मुख्यमिति सूचितम्. एवं सति "व्यभिचारादृतौ शुद्धिरि"त्यादिवाक्याल्लौकिके

टीपिका

इत्यर्थः. **नानाविधोपयोगा**[सुबो.] इति, मात्राद्युपयोगादित्यर्थः. **तदपेक्षा** इति क्रीडनाद्यपेक्षा इत्यर्थः. **स्वार्थमिति** भगवद्व्यतिरिक्तस्वार्थमित्यर्थः. **भगवतः स्थाने**ति मोक्षस्थाने इत्यर्थः. **पुत्रादिवदि**ति, यथा पुत्रादिष्वनासक्तिस्तथा देहेष्वनासक्तिरित्यर्थः. **प्रासङ्गिकः समाज** इति, भगवद्गुणगानातिरिक्तः **गोपिकानां परस्परमपि** लौकिकः **प्रासङ्गिकः समाज** इत्यर्थः. **पूर्वमि**ति "संत्यज्य सर्वविषयानि"त्यत्र पूर्वमुपपादितमित्यर्थः. **पुरुष** इति पतिरित्यर्थः. **परमिति** उत्कृष्टं भगवन्तमित्यर्थः. **ब्रह्मपुरःसरमि**[प्रका.]ति "ब्रह्मानन्दमयी लक्ष्मीरि"ति वाक्यात्. तथा च स्त्रीणां जगतश्च ब्रह्मांशत्वात् **स्त्रीप्रायमि**त्याद्युक्तम्. **विवाहिते**ति, "स वै पतिः स्यादि"ति वाक्याद् विवाहितो भगवान्पतिरित्यर्थः. **वाचनिके**ति लौकिकपतिरित्यर्थः. **उक्तविशेषत्वादि**ति, "अकुतोभयः स्वयमि"त्याद्युक्तविशेषाद्भगवद्भजनमेव **मुख्यमिति सूचितमि**त्यर्थः. व्यभिचारादृतौ शुद्धिः आपदि व्यभिचारे जातेऽपि "रजसा शुद्ध्यति नारी"ति वाक्यादृतौ जाते नारी पश्चात्पतिव्रता स्वपतिभजनेन

---

१. उक्तविशेषत्वाद् इति टीपिकापाठः.

जगति प्रायेण चर्षणीरूपाः व्यभिचारिण्य एव, परं दिनवज्जन्मव्यवस्था. अतः परः पुरुषः सेव्य एव. ननु पूर्वमपि स्थिताः यथा दोषात्ततोऽपगता एवमग्रेऽपि भविष्यन्तीति

लेखः

दिष्ट्येत्यस्य व्याख्यानान्ते पुरुषपरित्यागे दोषाभावमुपपादयितुमाहुः **जगती**ति. प्रत्युत पुरुषभजने व्यभिचार इत्यर्थः. तदुपपादयन्ति **दिनवदि**ति, पूर्वदिनसिद्धस्वपतित्यागे इव जन्मान्तरसिद्धस्वपतित्यागेऽपि व्यभिचार इत्यर्थः. **पूर्वमपी**ति, श्रुतित्वदशायामपीत्यर्थः. प्रलये वेदानां भगवद्धृदयस्थत्वोक्तेरिति भावः. **दोषादि**ति, प्रवृत्तिनिवृत्तिबोधनाधिकार-लक्षणदोषादित्यर्थः. **इदानीं ही**ति,

प्रकाशः

गौणेऽपि यत्रैवं भजनव्यवस्था तत्रैवं मुख्यभजने कः सन्देह इति भावः. नन्वेवं गौणपतिभजनस्यापि कृतार्थताहेतुत्वे[1] तत्त्यागेन भगवद्भजनस्य कथमुत्कृष्टत्वमित्यत आहुः **जगतीत्यादि. चर्षणीरूपा** जन्मभिः परिभ्रमणशीलाः. तत्र जन्मभेदान्न दोष इति चेत्तत्राहु **परमि**ति. "वासांसि जीर्णानि" इतिवाक्यात् स्थूलशरीरस्याप्रयोजकत्वात् प्रतिक्षणं भेदेनापि तथात्वाल्लिङ्गशरीरस्य च तस्यैव जन्मान्तरेऽपि सत्त्वादेकस्थूलशरीरे यथा तत्परिच्छेदकस्य दिनरूपकालस्य न व्यभिचाराभावसाधकत्वम् एवं सूक्ष्मतत्परिच्छेदस्य जन्माद्युपलक्षितकालस्यापि न तथात्वमतो याः प्रभोरभक्तास्ताः पतिव्रता अपि तत्प्राया एवेत्यर्थः. सिद्धमाहुः **अत** इत्यादि. तथा च या न त्यजन्ति तासामप्येतदावश्यकमिति किं वाच्यमेतस्योत्कर्ष इत्यर्थः. **स्थिता**

टीपिका

शुद्ध्यतीत्यर्थ. **एवं भजनव्यवस्थे**[प्रका.]ति, गौणपतिभजनेऽपि शुद्धिरित्यर्थः. **मुख्ये**ति भगवतीत्यर्थः. **परिभ्रमणशीला** इति, तथा च अनेकजन्मभिः परिभ्रमणशीला "चर्षणीशब्दवाच्यास्ते रुचिस्तेषां न कुत्रचिदि"ति वाक्यात्तासां लक्षणान्युक्तानि. तथाविधा अपि भगवति मुख्यभावेन चेद्भजमानास्तदा उत्कृष्टा इत्यर्थः. **तथात्वादि**ति, **स्थूलशरीरस्य प्रतिक्षणं भेदेनापि अप्रयोजकत्वादि**ति योज्यम्. तथा च स्थूलशरीरं वस्त्रप्रायं तद्दिनेदिने नूतनेऽपि द्वितीयदिने यथा अन्यपतौ क्रियमाणे व्यभिचारो भवति तथा लिङ्गशरीरस्य सत्त्वाद् जन्मान्तरेऽपि अन्यपतौ क्रियमाणे व्यभिचारो भवत्येवेति. एतदेवोक्तं **प्रभो**रित्यादिना. एतत्सर्वं "क्वेमाः स्त्रियो वनचरीरि"त्यत्र विशदीकृतम्. **भजनं कुर्वन्त्यः स्थिता** इति, गोपानां गृहे गोपानां भजनं कुर्वन्त्यः स्थिता इत्यर्थः.

१. हेतुत्वेन अग्रे इति पाठः.

किं परमपुरुषप्रपत्त्येत्याशङ्क्याह **वृणीते**ति; इदानीं हि वरप्राप्तो भगवान् पूर्वमिच्छयेति विशेषः. किञ्च **कृष्णाख्यमि**ति. स हि तदर्थमेवावतीर्णः, प्रमेयबलेनापि न त्यक्ष्यति. पुरुषत्वेन फलान्तराभावेन न काचित् क्षतिः ॥२६॥

एवं भक्तिप्रपत्ती निरूप्य सर्वात्मभावं निरूपयति **सर्वात्मभाव** इति.

सर्वात्मभावोऽधिकृतो भवतीनामधोक्षजे ।

विरहेण महाभागा महान्मेऽनुग्रहः कृतः ॥२७॥

तदुपपादितं दशधा. तत्रापि विशेषमाह **विरहेणे**ति; संयोगे भवेदपि तादृशी

लेखः

गोपीत्वदशायामित्यर्थः. अत एव "गोप्यो भूत्वा हरिं गता" इति वाक्यम्. यद्यपि स्त्र्यर्थमेव प्रादुर्भूतत्वात् प्रमेयबलेन न त्यक्ष्यति तथापि फलं मोक्षादिकमेव दास्यति, तथा सति स्वतन्त्रभक्तिहानिरित्यत आहुः **पुरुषत्वेने**ति. नायकत्वेन नायिकासु रसरीत्यैव स्वानन्दं दास्यति न तु मोक्षादिकमतो न स्वतन्त्रभक्तिहानिरित्यर्थः ॥२६॥

प्रकाशः

इति भजनं कुर्वन्त्यः स्थिताः. **दोषादि**ति, भगवता तथात्वेन विचारिताद्; गोपसम्बन्धत्वेन दोषविचारितादित्यर्थः. **पुरुषत्वेने**ति, "पुरुषान्न परं किञ्चित्, सा काष्ठा सा परा गतिरि"ति श्रुतेरित्यर्थः ॥२६॥

टीपिका

भगवता[प्रका.] **तथात्वेन विचारितादि**ति, गोपसम्बन्धत्वेन दोषविचारितादित्यर्थः. भगवद्विचारस्तु "क्वेमाः स्त्रिय" इत्यत्र "व्यभिचारदुष्टा"इत्यस्य व्याख्याने "प्रकृतेऽपी"त्यारभ्य "भजनादि"त्यन्तोक्तोऽग्रे द्रष्टव्यः. **एवमग्रेपी**[सुबो.]ति, यथा पूर्वम् आभिमानिकगोपसम्बन्धदोषान्निवृत्ता रासक्रीडायां भगवन्तमुपगता एवमग्रेऽपि पतिसम्बन्धिदोषान्निवृत्ता भविष्यन्तीत्यर्थः. किमर्थमुक्तं **पतीन् हित्वे**त्याशङ्क्याहुः **इदानीं वरप्राप्तो भगवानि**ति, **इदानीं** रासक्रीडायां **वर**त्वेन साक्षात्सम्बन्धं **प्राप्तो** अतः सर्वत्यागेन परमपुरुषप्रपत्तिः कार्येति भावः. **पूर्वमि**ति रासक्रीडायामात्मनिवेदनात्पूर्वम्. **इच्छये**ति, इच्छामात्रेण स्वप्नादिषु प्राप्तो भगवानिति. इदमेवोक्तं पञ्चाध्यायीप्रथमाध्याये "त्वयाभिरमिता"इत्यस्य व्याख्याने "सर्वदैव स्वप्ने त्वत्सम्बन्धं प्राप्नुम"इति. **विशेषे**ति, अतः सर्वत्यागेन भवतीनां प्रपत्तिरुत्कृष्टेति युक्तमुक्तमिति ॥२६॥

मतिः. **सर्वोऽप्यात्मनो भावः** भगवत्येवा**धिकृतः** उत्तरोत्तरवृद्धिमारब्ध इव. विषयस्याप्यलौकिकत्वमाह **अधोक्षज** इति— अधो अक्षजं यस्मादिति कोऽपि भावः तत्र कर्तुमशक्यः. तादृशे सर्वात्मभावो दुर्लभः. तत्रापि बह्वीनां, तत्रापि साधनरहितानां **भवतीनाम्.** तर्हि साधनाभावे दृश्यमानं कार्यं भ्रमप्रपन्नं भविष्यतीत्याशङ्क्याह हे **महाभागा** इति— भवतीनामुत्पत्तिशिष्टमेव तादृशं भाग्यं साधनमिति न साधनाभावः. ननु स्तुतिरेवैषा क्रियते न वस्तुत इत्याशङ्क्याह **महान्मेऽनुग्रहः कृत** इति— न हि कोऽपि परस्तोत्रं कुर्वन् आत्मनो गुणभावमङ्गीकरोति, अतः स्वाभिप्रायप्रदर्शनेन त्वयाप्येवं कर्तव्यमिति **उपदेशेन** महानेवानुग्रहः कृतः ॥२७॥

अतोऽनुगृहीतेन **धाष्ट्यात्** किञ्चिद्विज्ञाप्यत इत्याह **श्रूयता**मिति.

श्रूयतां प्रियसन्देशो भवतीनां सुखावहः ।
यमादायागतो भद्रा अहं भर्तृरहस्करः ॥२८॥

स्तोत्रवदेतदप्यनभिप्रेतं ज्ञास्यन्तीत्याह **प्रियसन्देश** इति. भगवतोऽयं **सन्देशः प्रियत्वात्** प्रीतिजनक एव भविष्यति. **सन्देश**पदेन चैतद् ज्ञापयति— तदुक्तं भवतीभिरवश्यं कर्तव्यमिति अन्यथा "तदुपदेशं शृणुते"त्येव वदेत्. प्रियेणोपदिष्टत्वाद् असाध्यता दुःखसाध्यता च निवृत्तैव, कदाचिदन्यार्थमुपकारवद्वदेत्,

---

लेखः

सर्वात्मभाव इत्यत्र **दशधे**ति. भगवता सह संलापादिदशप्रकारैः सदा तद्भावनमिन्द्रियवतां फलमिति पूर्वमुपपादितमित्यर्थः. **सर्वोपी**ति, दशप्रकारकोऽपीत्यर्थः. **आत्मनः** अन्तःकरणस्येत्यर्थः. **उत्तरोत्तरवृद्धि**मिति प्रापयितुमिति शेषः. वृद्धिं प्रापयितुमेताभिरारब्ध इत्यर्थः ॥२७॥

श्रूयतामित्यत्र. **अन्यथे**ति, **उपदेश** आज्ञा, सा तु "स्वागतमि"त्यादिवाक्यवदकृतापि भवेदित्यर्थः ॥२८॥

टीपिका

श्रूयतामित्यस्याभासे. **धाष्ट्र्यादि**[सुबो.]ति, यो यदनुगृहीतः स तस्योपदेशं करोति तदा धाष्ट्र्यं भवति, तदभावाय **विज्ञाप्यत** इत्युक्तमित्यर्थः. **स्तोत्रवदिति,** यथा स्वस्य स्तुतिश्रवणं शिष्टानामनभिप्रेतं भवति **तथैतत्**सन्देशकथाया **अपि** श्रवण**मनभिप्रेतं ज्ञास्यन्ती**त्याशङ्क्याहेत्यर्थः. **अन्यार्थमुपकारवदिति,** यथा

तद्व्यावृत्त्यर्थमाह **भवतीनां सुखावह** इति. दृष्टफलापेक्षा भवत्यः सुखं चावहतीति तत एव सुखं, न तु भवतीनां पुनः साधनान्तरापेक्षापि. नन्वेतादृशत्वे किं प्रमाणं तत्राह **यमादायागत** इति. मया हि प्रथमतः सोऽर्थो ज्ञातः, ज्ञायते च भवतीनामधिकारः. एवमपि सति यत्पुनः तमेव सन्देशमादायाहमागतः. किञ्च **भर्तृरहस्करः.** भर्ता हि स भवतीनां ममापि; स तमुपायं न वक्ष्यत्येव येन वयमभृताः भवामः. नापि प्रायिकोऽर्थः यतोऽहमेकान्त एवाभिप्रेतं करोमि, एकान्तं वा करोमि. गूढकर्ता न प्रतार्यते, भर्ता च न प्रतारकः. अतः सन्देशो यथोक्तफलकः ॥२८॥

तमेवाह दशभिः **भवतीनामिति**.

षड्भिः स्वरूपकथनं पुरुषार्थास्ततः परैः ।
जीवब्रह्मविभेदेन द्वेधा रूपं निरूप्यते ॥(९)॥
दोषाणां मूलभूतस्य विरहस्य निवारणे ।
बन्धमोक्षव्यवस्थायां जीवो द्वेधा निरूप्यते ॥(१०)॥

लेखः

भवतीनामित्यत्र. विरहस्य निवारणे इति, निमित्तसप्तमीयं, निवारणार्थं जीवब्रह्मस्वरूपं निरूप्यते इत्यर्थः. विरह एव नास्ति, उभयस्वरूपविचारेण

टीपिका

गीतायामर्जुनस्योपकारार्थं ज्ञानमुक्तं तेन अन्येषामप्युपकारो जातस्तद्वदित्यर्थः. **सुखावह** इत्यस्यार्थकथने **दृष्टफले**[सुबो.]ति, अत एतत्सन्देशश्रवणेन भवतीनां दृष्टफलं भविष्यतीति भावः. **सुखं चावहतीति**, एतच्छ्रवणमेव सुखं वहिष्यति न तु फलार्थे साधनापेक्षेति. तदेवोक्तं **तत एव सुखमित्यादिना**. एतत्सर्वं "ज्ञात्वात्मानमधोक्षजम्"इत्यत्र व्याख्याने विशदीकृतं भविष्यतीति. **एतादृशत्वे** इति श्रवणे फलरूपत्वे इत्यर्थः. **मया हीति**, "भवतीनां वियोगो मे न हि"इत्यादे**रर्थः प्रथमतो** भगवन्मुखाद् **ज्ञातः. ज्ञायते चेति**, **भवतीनां** फलानुभवे **अधिकार**श्चाधुना **ज्ञायते** इत्यर्थः. तथा च **ज्ञायते** चेत्यादि मूले **भद्रा** इति सम्बोधनस्यार्थो ज्ञेयः. सिद्धार्थमाहुः **एवमित्यादिना. एवमपि सतीति**, सन्देशे सुखावहत्वे सतीत्यर्थः. **तमेवेति**, सुखावहसन्देशमित्यर्थः. अतः अहमेव प्रमाणमित्यर्थः. **अभृता** इति अपूर्णा इत्यर्थः. **नापीति**, एतदर्थो भविष्यति, न भविष्यतीति नेत्यर्थः. **एकान्तेति** रहसीत्यर्थः. **एकान्तं वेति**, अव्यभिचारं यथा स्यात् तथा **अभिप्रेतं करोमीत्यर्थः. यथोक्तेति, भवतीनां सुखावह** इत्युक्तफलक इत्यर्थः ॥२८॥

आश्रयत्वाच्च कर्तृत्वाद् द्वेधा ब्रह्मापि रूप्यते ।
दोषाभावप्रतिज्ञाद्ये हेतुभिर्विनिरूप्यते ॥(११)॥
फलं जीवेऽपि येनैषा बुद्धिर्नश्यति सर्वथा ।
गुणा विभाजका यस्मात्त्रिभिस्त्रिभिरुदीर्यते ॥(१२)॥

तत्र प्रथमं वियोगाभावाय मूलहेतुं वदन् प्रतिजानीते **भवतीनामिति.**

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

भवतीनां वियोगो मे न हि सर्वात्मना क्वचित् ।
[1]आत्मत्वाद्भक्तवश्यत्वात् सत्यवाक्त्वात्स्वभावतः ॥२९॥

लेखः

भेदाभावादित्यर्थः. **बन्धेति**, क्रमोऽत्र न विवक्षितः किन्तु प्रथमं ब्रह्मस्वरूपनिरूपणं पश्चाज्जीवस्वरूपनिरूपणम् (१०).

फलमिति. समाम्नायादीनां **फलं** मनोनिरोधनं **जीवे**, **अपि**शब्दात्तेन ब्रह्मण्यपि दोषारोपाभावलक्षणं फलं सिद्धम्. तद्विशदयन्ति **येनैषेति**, **येन** मनोनिरोधेन **एषा** दोषारोपलक्षणा **बुद्धिर्नश्यति** तत्फलं ब्रह्मण्यपि सिद्धमित्यर्थः. **गुणा** इति, उभयस्वरूपनिरूपणेऽपि **गुणा** एव **विभाजका** अतो द्वयमपि **त्रिभिस्त्रिभिरुदीर्यते** प्रतिज्ञामादाय ब्रह्मस्वरूपनिरूपणं त्रिधा फलमादाय जीवस्वरूपनिरूपणं च त्रिधेत्यर्थः (१२).

प्रकाशः

भवतीनामित्यत्र. षट्सु मध्यमानां चतुर्णामर्थमुक्त्वा आद्यन्तयोराहुः **दोषे**त्यादि. **फलं** भगवत्प्राप्तिरूपम् "एतदन्त" इति श्लोके निरूप्यत इत्यर्थः. **एषेति** त्यागावगाहिनी. नन्वस्त्वेवं तथापि त्रिभिस्त्रिभिर्ब्रह्मजीवयोः स्वरूपकथनस्य किं तात्पर्यमत आहुः **गुणा** इत्यादि. **विभाजकाः** जीवब्रह्मभेदभ्रमजनकाः तस्मादिति शेषः (११-१२).

वियोगः संयोगाख्यस्पर्शाभावो न तु विभागात्मा, स जीवानां भगवता सह

टीपिका

भवतीनामित्यत्र. मूलहेतून् वदन्नि[सुबो.]ति, **आत्मत्वाद्भक्तवश्यत्वादि**त्यादि उत्तरार्धोक्तमूलहेतून् वदन्नित्यर्थः. **संयोगाख्य**[प्रका.]इति, वियोगोऽत्र भगवता सह बाह्यतः संयोगाख्यस्पर्शाभाव इत्यर्थः. **न तु विभागात्मा** इति, भगवता सह

[1]. अत्रान्तरितोऽर्धश्लोकः श्रीवल्लभाचार्यैः प्रकटीकृतः.

वियोगः स्वाभाविकः औपाधिकः अज्ञानतश्चेति त्रेधा भवति. आत्मनां जीवानामेकत्वात् परस्परं भेदाभावेऽपि औपाधिको भेदोऽस्ति. तत्रोपाधयः उद्गमो वा, माया वा, भगवदिच्छा वा, अज्ञानं वेति वादान्तरम्. जीवब्रह्मणोस्तु भेदे

प्रकाशः

न वास्तवो नाप्यागन्तुकः किन्त्वज्ञानकृत इति विशेषतो वक्तुं तस्य सामान्यतो हेतुभेदात् त्रैविध्यमाहुः **स्वाभाविक** इत्यादि. तत्र सिद्धान्ते ब्रह्मवादाच्चित्त्वेन सजातीयत्वाच्चाद्यो जीवेष्वपि नास्तीत्याहुः **आत्मनामि**त्यादि. मर्यादाप्रवाहपुष्टिभेदेनोपाधीन्वक्तुमाहुः **तत्रे**त्यादि. **उद्गमः** "यथा प्रदीप्तात् पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपा"इति मुण्डकोक्तः. **माया** "जीवेशावाभासेन करोति माया चाविद्या च स्वयमेव भवती"ति तापनीयोक्ता. श्रुत्यन्तरे जलचन्द्रदृष्टान्तेनांशानुप्रवेशान्नालीकत्वम्. **भगवदिच्छा** "बहुस्यां प्रजायेये"ति तैतिरीयोक्ता. **अज्ञानम्** अविद्या उपाधिर्मायावादे , तदपि वाक्याभासेषु "इन्द्रो मायाभिरि"त्यादिषु सिद्धम्. एवं सृष्टिभेदेन जीवानामितरेतरभेदस्यानेकविधत्वे ब्रह्मणः सर्वत्रैकत्वादुपाधित्रयस्याभेदकत्वेन वियोगे तुरीय एव हेतुरित्याहुः **जीवे**त्यादि. तेन सिद्धमाहुः

टीपिका

स्वरूपतः पृथक्स्थितिर्नेत्यर्थः. अत्रायमुपदेशः केवलं गोपिकानामेव, न तु साधारणानां सर्वेषामिति टिप्पण्यभिप्रायेण ज्ञायते. अत एव मूलेऽपि **भवतीनामि**त्युक्तम्, अन्यथा "जीवात्मनामि"ति वदेत्. **वियोगस्त्रेधा भवती**[सुबो.]त्युक्तम्. तत्र **स्वाभाविको** वियोगस्तु "सर्वं खल्विदं ब्रह्मे"त्यादिश्रुत्यैव निराकृतः, सोऽत्र न विचार्यते. द्वितीय **औपाधिको** वियोगस्तन्निषेधार्थं विचार्यते **आत्मनामि**त्यादिना. **आत्मनां जीवानामि**ति 'सर्वात्म'पदस्य सूचितार्थो ज्ञेयः. **औपाधिको भेदोऽस्ती**ति, देहोपाधिको भेदोऽस्तीत्यर्थः. **उद्गमो वा** इति, "यथाऽग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिंगा व्युच्चरन्ती"ति श्रुत्युक्तव्युच्चरणमुद्गमः. **वादान्तर**मिति, मायावादे अज्ञानोपाधिरित्यर्थः. तदुक्तम् **अज्ञानमि**[प्रका.]त्यादिना. एवं गोपिकानां परस्परवियोगे हेतुरुक्तः. भगवता सह वियोगे हेतुमाहुः **जीवब्रह्मणो भेदेऽज्ञानमेव हेतुरि**[सुबो.]ति. **जीवास्त्व**त्र व्रजीया एव ज्ञातव्याः, **ब्रह्मशब्दो**ऽपि पुरुषोत्तमपर एव. एतासामज्ञानमपि द्वितीयदलदानार्थं भगवानेव करोतीति **सुतरां वियोग** इत्युक्तम्. इदमेवोक्तम् **अत्रेदमि**[टिप्प.]त्यादिना. तत्र **न तु पूर्व...**मिति, विभूतिरूपब्रह्मात्मक-प्रपञ्चमध्यपातित्वं नेत्यर्थः. **एवं सती**ति, श्रुत्युक्तप्रकारेण सर्वस्यापि लीलापदार्थस्य पुरुषोत्तमात्मकत्वे

टिप्पणी

भवतीनां वियोग इत्यत्र **जीवब्रह्मणोस्तु भेदेऽज्ञानमेव हेतुरित्यादि.** अत्रेदं प्रतिभाति. "एतावानस्य महिमा अतो ज्यायांश्च पूरुष" इत्यादिश्रुतिभ्यो "यस्मात्क्षरमतीतोऽहमि" त्यादिवाक्यैश्च प्रपञ्चातीतत्वं पुरुषोत्तमस्य निर्विवादम्. "एतावानस्य महिमा" "सर्वं खल्विदं ब्रह्मे" त्यादिश्रुतिभ्यः प्रपञ्चस्य विभूतिरूप-ब्रह्मात्मकत्वं पुरुषोत्तमस्य तदतीतत्वं चोपपद्यते. एवं पुरुषोत्तमलीलापदार्थानां पुरुषोत्तमात्मकत्वमेव, न तु पूर्वमध्यपातित्वमिति मन्तव्यम्, अन्यथा "ते ते धामान्युश्मसी" त्याद्यृक्षु "विष्णोः परमं पदमि" ति न वदेत्, "विष्णोः कर्माणि पश्यत" "तद्विष्णोः परमं पदमि" त्यादि च. एवं सति सर्वस्यापि लीलापदार्थस्यात्मरूपेण सह भवतीनां वियोगो न संभवति; न हि स्वेन साकं वियोगः संभवति. एतदेव मूले **सर्वात्मने**ति पदेनोक्तम्; **सर्वात्मना** सर्वथेत्यर्थः. तथा च तत्तद्देशकालज्ञानक्रियातत्करणादेरातृणस्तम्बस्य नित्यत्वेन श्रीरासोत्सवस्वनृत्य-प्रभुबाहुगृहीतकण्ठानि स्वस्वरूपाणि पूर्वमनुभूतान्यधुनापि वर्तमानैस्तैः साकमेतदवस्थापन्नानामपि स्वानामभेदज्ञापने पूर्वोक्तानामनिर्वचनीय-निरवध्यानन्दात्मकत्वात्तथात्वमेवाधुनापि स्वस्मिन्भातं भवतीति स्वास्थ्यं भवति. यद्यप्यस्य कादाचित्कत्वेन तस्य च सर्वोपमर्दि-

टीपिका

सतीत्यर्थः. **आत्मरूपेण सहे**[टिप्प.]ति, **लीलापदार्थस्य** पुरुषोत्त**मात्मरूपेण सह** यथा वियोगो न भवति तथा **भवतीना**मपि लीलामध्यपातित्वात् मया सह **वियोगो न सम्भवती**ति सुष्ठूक्तम्. नन्वेतासां दृष्टफलाभिकाङ्क्षिणीनाम् "अहं सर्वात्मे" ति पदकथनमात्रेण कथं स्वास्थ्यमित्याकाङ्क्षायां **तथा चे**त्यारभ्य **स्वास्थ्यमि**त्यन्तेन सिद्धार्थमाहुः. त**त्रातृणस्तम्बस्ये**ति तत्तद्देशादेर्नित्यस्येति योज्यम्. तेन सिद्धमाहुः **श्रीरासोत्सव** इत्यादिना. **पूर्वमनुभूतानी**ति संयोगावस्थायामनुभूतानीत्यर्थः. **अधुनापि वर्तमानैरि**ति विप्रयोगावस्थायामपि वर्तमानैरित्यर्थः. **तैः साकमेतदवस्थापन्नानामपी**ति, संयोगावस्थासाकं विप्रयोगावस्थापन्नानामपीत्यर्थः. **स्वानामभेदज्ञापने** इति, **स्वानां** देहादीनां भगवता **भवतीनां वियोगो मे न** ह्रीत्यभेदज्ञापने इत्यर्थः. **पूर्वोक्तानामि**ति श्रीरासोत्सवादीनामित्यर्थः. **तथात्वमि**ति निरवध्यानन्दत्वमित्यर्थः. पुनरपि स्वास्थ्याभावमाशङ्क्य परिहरन्ति **यद्यपी**त्यादिना.

अज्ञानमेव हेतुः, सुतरां वियोगे. ब्रह्मणस्तु तदुभयाभावात् न जीवैः सह कथञ्चिद् भेदः.

टिप्पणी

त्वेन न सर्वात्मना स्वास्थ्यसंभावना तथाप्यस्य प्रियसङ्गमरूपत्वेन निरवध्यानन्दरूपत्वेन भवतितरां तथात्वम्, येन तत्सामयिकोत्कटदुःखनिवृत्त्या किञ्चित्कालं सस्मितस्वामिनीमुखाब्जदर्शनेन स्वागमनसार्थकत्वज्ञानेन स्वस्यापि दुःखनिवृत्तिः. एवं सति भवतीनां मे वियोगो मम च भवतीनां वियोगः सर्वात्मना सर्वात्मरूपेण वर्तमानस्य मम न संभवतीत्यर्थः संपद्यते ॥२९॥

लेखः

तदुभयाभावादिति, उपाधेरज्ञानस्य चाभावाद् ब्रह्मणो न भेदः किन्तु जीवोऽज्ञानाद् भेदं मन्येत. तदज्ञानं निवारणीयम्, दुःखदत्वादित्यर्थः. स्वाभाविको

प्रकाशः

ब्रह्मण इत्यादि. **तदुभयाभावादिति** भेदाज्ञानयोरभावात्. तावता भगवति

टीपिका

अस्य[टिप्प.] **कादाचित्कत्वेने**ति, भगवतोपदिष्टवियोगाभावस्य कादाचित्कत्वेनेत्यर्थः. **तस्य सर्वोपमर्दित्वेने**ति, विप्रयोगस्य सर्वोपमर्दित्वेनेत्यर्थः. **अस्ये**ति उत्कटविरहस्येत्यर्थः. **तथात्वमिति** स्वास्थ्यमित्यर्थः. नन्वेवं भगवदुपदेशेनैतासां श्रीरासोत्सवस्वनृत्यप्रभुबाहुगृहीतकण्ठानि स्वस्वरूपाणि स्वहृद्याविर्भवन्ति तेन निरवध्यानन्दो भवतीति सत्यमुक्तम्, परमग्रे "हा नाथे"त्यत्र पुनरपि वैक्लव्यं भविष्यतीति किमुपदेशेन फलं सिद्धमित्याकाङ्क्षायामाहुर्**येने**त्यादिना. तत्र **किञ्चित्कालमिति, किञ्चित्कालं स्वास्थ्यं भवतीति** पूर्वोक्तं योज्यम्. किं च **मम च वियोगो भवतीनां नास्तीति** सुबोधिन्यां यदुक्तं तद्विशदीकुर्वन्ति **सस्मिते**त्यादिना. **स्वागमनसार्थकत्वज्ञानेने**ति, भगवतः स्वामिनीनां विप्रयोगे हृदि गमनेन सार्थकत्वज्ञानेनेत्यर्थः. **स्वस्यापीति** भगवतोपीत्यर्थः. **दुःखनिवृत्तिरिति**, स्वास्थ्यं भवतीत्यर्थः. नन्वेवं विप्रयोगे यदि अन्तर्लाभः, संयोगे बहिरिति विशेषाभावात् सन्निकर्ष एव कुतो न साध्यते, दुःखहेतुर्विप्रकर्षः किमर्थं साध्यते इत्याशङ्कायाम् "आन्तरं तु परं फलमि"ति वाक्यात् परमफलप्राप्त्यर्थं सन्निकर्षो न साध्यत इति. एतत्सर्वं "यथा दूरचरे प्रेष्ठे"इत्यत्र टिप्पण्यां विस्तृतोक्तं विचारणीयम्. नन्वेतासां यथाऽज्ञानेन भ्रमः तथा समानयोगक्षेमत्वाद् भगवतोऽपि कथं न भ्रम इत्याशङ्क्याहुः **ब्रह्मणस्तु तदुभयाभावादि**[सुबो.]ति. उपाधेरज्ञानस्य चाभावान्न **जीवैः सह कथंचिद्**

भगवांस्त्यक्त्वा गत इति हीर्ष्यादौ हेतुः. स नापि त्यजति, नापि त्यागं मन्यते. जीवास्तु "भगवन्तं त्यक्ष्याम" इति वदन्तः भ्रान्ता एव. अतोऽयमर्थो निरूपणीयः. तत्र द्वेधापि प्रतिजानीते— **भवतीनां वियोगो मम नास्ति, मम च वियोगो भवतीनां नास्ति.** एकत्र कृतघ्नता अपरत्र दुःखं च फलति. वस्तुस्वरूपेण वियोगाभावेऽपि एकदेशेन वृक्षकपिवियोगवत् कालभेदेन च स्त्रीपुरुषवच्च वियोगः सम्भवति, तदुभयं निषेधति **नहि सर्वात्मने**ति. **क्वचिदि**ति काले, **सर्वात्मना**

लेखः

भेदस्तु श्रुत्यैव निराकृत इति नात्र पृथङ्निराक्रियते इति भावः. **एकत्रे**ति, भगवति कृतघ्नता स्वामिनीषु दुःखं चेत्यर्थः. **वस्तुस्वरूपेणे**ति समुदायरूपेणेत्यर्थः. **स्त्रीपुरुषवच्चे**ति, "अर्धो वा एष आत्मनो यत्पत्नी"ति श्रुतेः स्त्रीपुंसयोरैक्येऽपि कालभेदेन जन्मान्तरे वियोगो जायते एव तथेत्यर्थः. **एवं चतुर्धे**ति, गोपिकानुयोगिको

प्रकाशः

त्यक्तत्वबुद्ध्यापादितो दोषोऽपि नास्तीत्याहुः **भगवानि**त्यादि. एतन्निरूपणप्रयोजनमाहुः **जीवा** इत्यादि. **अत** इति, वियोगविनिवारणायैव सन्देशस्य प्रेषितत्वात्. एतावत्कथनप्रयोजनमाहुः **तत्रे**त्यादि. **तत्रे**ति स्वस्मिन् भक्तेषु च, उभयत्रापि

टीपिका

भेदभ्रम इति भावः. नन्वेवं यदि वियोगाभावस्तदा ईर्ष्यादौ को हेतुरित्याशङ्क्याहुः **भगवानि**[सुबो.]त्यादिना. **आदिपदेन** दोषारोपेऽपि स एव हेतुः. सोऽपि भ्रमादित्याहुः **स** इत्यादिना. **त्यक्ष्याम इति वदन्त** इति, "किं नु सन्धेयमस्मिन्", "तदलमसितसख्यैरि"ति वदन्त इत्यर्थः. **अयमर्थो निरूपणीय** इति, भ्रमाभावरूपोऽर्थो निरूपणीय इत्यर्थः. **दुःखं च फलती**ति, अतो भगवानपि वियोगं करोतीति भावः. एवं वियोगाभावं प्रतिज्ञाय पुनरपि देशकालभेदेन वियोगाशङ्कामुद्भाव्य परिहरन्ति **वस्तुस्वरूपेणे**त्यादिना. **समुदायरूपेणे**[लेख.]ति, सर्वरूपो भगवान् तेनेत्यर्थः. **एकदेशेन वृक्षकपिवियोगवदि**[सुबो.]ति, वृक्षकप्योः संयोगेऽपि एकदेशित्वमस्त्येव, तेन कदाचिद्देशान्तरगमनेन यथा वियोगः सम्भवति तद्वद्भगवतोऽपि देशान्तरगमने वियोगो भविष्यतीत्येका शङ्का. द्वितीयामाह **कालभेदेने**त्यादिना. **जन्मान्तरे वियोग**[लेख.]इति, जन्मान्तरे स्त्रीपुरुषयोः सामीप्येऽपि वियोगः सम्भवति. तद्वद् भगवतोऽपि वियोगो भविष्यतीति शङ्कां परिहरन्ति **तदुभयं निषेधती**[सुबो.]त्यादिना. **काल इती**ति, कालभेदेन जन्मान्तरेऽपि भगवति न वियोगोऽस्तीत्यर्थः. **देश** इति,

केनाप्यंशेनेति देशे. एवं चतुर्धा भवति. अत्र प्रायेण साधनचतुष्टयप्रतिपादकं अर्धमन्तरितमिति प्रतिभाति **आत्मत्वाद् भक्तवश्यत्वात् सत्यवाक्त्वात्स्वभावत** इत्येवं रूपम्. गोपिकावियोगो भगवतो नास्ति, भगवानात्मेति. भगवद्वियोगश्च न गोपिकानाम्, **भक्तवश्यत्वात्**. कालभेदेनापि न वियोगः, (**सत्यवाक्त्वाद्**) "न पारयेहमि"ति न ह्येतावदुक्त्वा एतावत्यर्थे तासामिच्छां किं न पूरयेत्! भगवतश्चायं **स्वभावो** यत् स्त्रीषु कृपावान्, अतः केनाप्यंशेन ता न परित्यजति. विशेषहेतव एते चेद्भवन्ति ॥२९॥

लेखः

भगवत्प्रतियोगिकः भगवदनुयोगिको गोपिकाप्रतियोगिकः कालिकः दैशिकश्च— एवं चतुर्धा वियोगो भवतीत्यर्थः. **विशेषहेतव** इति, इमान् धर्मांश्चेद् भगवान्प्रकटीकुर्यादित्यर्थः ॥२९॥

प्रकाशः

दोषाभावबोधनस्यावश्यकत्वादिति भावः. **चतुर्धे**ति, भगवत्कृत-भक्तकृत-काल-कृत-देशकृतभेदेन तथेत्यर्थः. **चेद्भवन्ती**ति, तदा पूर्वोक्तो वियोग**श्चतुर्धा भवती**त्येवं पूर्वग्रन्थेनान्वयः ॥२९॥

टीपिका

देशभेदेनापि भगवति केनाप्यंशेन नहि वियोगोऽस्तीत्यर्थः. **एवं चतुर्धे**[सुबो.]ति, भवतीनां मे मम च भवतीनां देशकालभेदेन चेति चतुर्धा वियोगो न भवतीत्यर्थः. **विशेषहेतव एते इति, आत्मत्वादि**त्यादिविशेषहेतव इत्यर्थः. **चेद्भवन्ती**ति, यथा वेदाः प्रमाणं स्युरितिवदसन्देहेऽपि पूर्वोक्तो वियोगश्चतुर्धा न भवत्येवं पूर्वग्रन्थेनान्वयः कर्तव्य इत्यर्थः. नन्वेवं वियोगाभावोऽस्तीति सत्यम्, तर्ह्यधुना संयोगाविर्भावोऽपि कथं नेत्याशङ्क्यात्रायमाशयः— एतासां संयोगवियोगावुभावपि युगपदाविर्भूतौ स्तः, परं भगवान् क्रमेणाविर्भावयति, उभावपि युगपदाविर्भावयति. तदुक्तं भगवता दशमस्कन्धे कात्यायन्यर्चनव्रतवरदानसमये "मयेमा रंस्यथ क्षपाः"इत्यत्र. तदर्थस्तु विद्वन्मण्डने नित्यलीलावादे "अत्र 'इमाः क्षपाः' इति 'इदं'शब्देन ताभ्यः सर्वाः क्षपाः पुरःस्थिताः कृत्वा प्रदर्शितवानिति. तेनैवं ज्ञायते तत्र तासां स्वरूपाण्यपि प्रदर्शितवानिति. तथा चैतासां विप्रयोगावसरेऽपि रूपान्तरेण सर्वदासङ्गमोऽप्या विर्भूतोऽस्तीति सूचितमन्यथैतासां स्वरूपस्थितिरपि न स्यात्. **भवतीनां वियोगो मे न** हीति भगवतो वाक्येऽप्यनासत्वं स्यात्. अतस्तासां

सामान्यहेतूनाह **यथा भूतानीति** द्वाभ्याम्.

यथा भूतानि भूतेषु खं वाय्वग्निर्जलं मही ।

तथाहं च मनःप्राणबुद्धीन्द्रियगुणाश्रयः ॥३०॥

भगवानाश्रय इति ता विहाय क्व यास्यति, अन्यथा आधाराभावे तासां स्वरूपमेव न तिष्ठेत्. अथ देहभावेन आत्मा गौण इति देहेन सह वियोग आविर्भूतस्योच्येत. तदपि न घटते, समवायिकारणत्वेन तेषु वर्तत इति, अन्यथा देहा

लेखः

यथा भूतानीत्यत्र. भगवानाश्रय इति, अत आद्यो गोपिकानिरूपितो **वियोगो न सम्भवति.** आश्रयत्वात्ता विहाय न यास्यति अतस्ताभिस्त्यक्तो न भवतीत्यर्थः. अग्रिमश्लोकार्थमाहुः **अथे**त्यारभ्य **प्रलयकर्ते**त्यन्तेन. **प्रलयकर्तेति,**

टीपिका

संयोगवियोगावुभावप्याविर्भूतौ इति फलितम्''. वस्तुतस्तु सर्वा अपि लीलाः क्रमेण कृता अपि युगपदाविर्भूताः सन्तीति ''जयति जननिवास''इतिवाक्यं पुरस्कृत्य बहुधाशङ्क्य श्रीमत्प्रभुचरणैर्बहुधोक्तं विशेषजिज्ञासायां तत्रैव द्रष्टव्यम्, विस्तरभयान्नात्र लिख्यते इति दिक्. एवमत्रापि वियोगाभावविचारः श्रीमदाचार्यचरणै-**र्जीवब्रह्मणोस्तु भेदे अज्ञानमेव हेतुरि**त्यादिना गूढाभिप्रायेणोक्तः. तत्रायं ज्ञानमार्गीयं ज्ञानम् उपदिशतीति केषांचिद् भ्रान्तिर्भविष्यतीति तदभावाय तदर्थः श्रीमत्प्रभुचरणैः टिप्पण्यां विस्तरत उक्तः स सर्वोऽपि विज्ञैर्विचारणीयः तेनैव सर्वं रमणीयम् ॥२९॥

यथा भूतानीत्यत्र. भगवानाश्रय[सुबो.] इत्यारभ्य **प्रलयकर्ते**त्यन्तेन श्लोकद्वयस्य भावार्थ उक्तः. तत्र प्रथमश्लोकस्योत्तरार्धस्यार्थो **न तिष्ठे**दित्यन्तेनोक्तः. स चैवं योजनीयः— यथा सर्वेषां मनआदिपञ्चानामक्षराश्रयस्तथा भवतीनां मनआदिपञ्चानामहमाश्रय इति. अतो **वियोगो नास्तीति** सिद्धम्. तर्हि पूर्वार्धस्य प्रयोजनाभावो भविष्यतीति तदभावाय आशङ्कामुद्भावयन्ति **अथे**त्यादिना. **देहभावेनात्मा गौण** इति. एतासाम् आश्रयत्वेन देहरूपोऽपि भगवानात्मेत्युक्तम्, स च **देहभावेन** सदंशेन **गौण** इति एतासां गौण आत्मसम्बन्धो भविष्यतीति. अवतारदशायाम् **आविर्भूत**स्तु मुख्यात्मा, तस्यैतासां **देहेन सह वियोग उच्येते**त्याशङ्क्य परिहरन्ति **तदपि न घटते** इत्यादिना. कथं न घटते इत्याकाङ्क्षायामाहुः **समवायिकारणत्वेन तेषु वर्तत** इति. यथा महाभूतानि भूतेषु समवायिकारणत्वेन पटेषु तन्तव इव वर्तन्ते तथा तासां देहेषु भगवानपि

निःस्वभावाः स्युः. आविर्भूतेन वियोगस्तु हितकारी, अन्यथा स्वरूपनाश एव स्याद्

टिप्पणी

अयमेवार्थोऽग्रे व्यक्तीकृतो **यथा भूतानी**त्यादिना. आश्रय-करण-कर्मणामभेदश्चोक्तः **आत्मन्येवे**त्यादिना. सृष्टिः स्वरूपस्थितिहेतुः, सोऽत्र प्रभुसंगम एव. हननं वियोगकरणम्, सर्वतिरोधायकत्वात्. तदपि रसार्थमिवे**त्यनु** पश्चात्पा**लये**

प्रकाशः

यथा भूतानीत्यत्र. समवायित्वेन भगवत्स्थितौ गमकमाहुः **अन्यथे**त्यादि. **निःस्वभावाः स्युरि**ति भगवत्स्वभावरहिताः स्युः. इदं भाति— "रसो वै स" इति श्रुत्या भगवान् रसात्मकः, तदुपादेयत्वेनैतद्देहानामपि तथात्वम्. तदेव भगवतोक्तं "मदात्मिका"इति. "मत्स्वरूपा" इति व्याख्यातं च. तथा च समवायित्वेन भगवत्स्थित्यभावे एतद्देहानां रसस्वभावतैव न स्याद् इतरदेहवदिति. नन्वेवं सति वियोगस्य किं प्रयोजनमत आहुः **आविर्भूतेने**त्यादि. **अग्निकाष्ठयोरि**ति,

---

टीपिका

समवायिकारणत्वेन वर्तत इति. अतो **देहभावेन आत्मा गौण**[सुबो.] इत्यादि न शङ्क्यमित्यर्थः. ननु सर्वेषां देहानां महाभूतानि समवायिकारणानि, कथमेतासां देहानां भगवानेव समवायिकारणमित्याशङ्क्याहुः **अन्यथा देहा निःस्वभावाः स्युरि**ति. अत्रायमर्थः— एतास्तु नित्यलीलास्था, एतासां देहा अपि पुरुषोत्तमात्मकाः, अतस्तत्समवाय्यभावे देहा मृदभावे घट इव सत्तारहिताः स्युरित्यर्थः. द्वितीयश्लोकस्य भावार्थः श्रीमदाचार्यचरणै**राविर्भूतेने**त्यादिना गूढाभिप्रायेणोक्तः. तदर्थष्टिप्पण्यां श्रीमत्प्रभुचरणैर्मूलार्थव्याख्याने प्रकटीकृतः, पूर्वं तदर्थं विचार्य पश्चाद्भावार्थो विचारणीय इति. "आत्मन्येवात्मनात्मानम्" इत्यस्यार्थो वक्ष्यमाणाभिप्रायेणैवं योजनीयः. **आश्रय**[टिप्प.]इत्यादिना, तत्र **आत्मनि** स्वात्मरूपे व्रजे इति **आश्रय**स्यार्थः, **आत्मना** स्वयमिति **करणा**र्थः, स्वात्मरूपगोपिकाना**मात्मान**मिति **कर्मा**र्थः. **अभेदश्चोक्त** इति, भगवता सहाभेद उक्त इति. **सृजे हन्म्यनुपालये** इति. ननु पूर्वस्थितानामेतासां कथं सृष्ट्यादिकरणमित्याशङ्क्य भगवानेतासां त्रेधा रसदानं करोति तच्चैतासां सृष्टिरित्याद्युपचर्यते तदाहुः **सृष्टिरि**त्यादिना. **सर्वतिरोधायकत्वादि**ति, सर्वेषां देहेन्द्रियादीनां तिरोधायकत्वादित्यर्थः. **तदपि रसार्थमिति** द्वितीयरसार्थमित्यर्थः. नन्वत्र सर्वेषां सृष्ट्यादिकं प्रभुः करोतीति

यथाग्निकाष्ठयोः. पूर्वसम्बन्धेनैवैता अर्धदग्धाः, पुनः सम्बन्धेन सर्वदाह एव स्यात्.

टिप्पणी

स्वरूपानन्ददानेन. अत एवान्ते पालनमुक्तम्. अत्र हेतून् क्रमेणाह **आत्मे**त्यादिना. **आत्मानुभावेन सृजे**, तदपि **माया** योगमायान्तरङ्गा लीलोपयोगिनी तदनुभावेन माने सति **हन्मि**, तेन सर्वतिरोधाने भूतेन्द्रियगुणस्वरूपेण पुनराविर्भू**यानु, पालये** ॥३०-३१॥

प्रकाशः

सम्बन्धबाहुल्य इति शेषः. तत्रापि गमकमाहुः **पूर्वसम्बन्धेने**त्यादि. **अर्धदग्धा** इति, देहांशेऽर्धस्फुरितभगवत्स्वरूपा इति पुनः सम्बन्धे स्वस्वरूपस्फूर्तिरहिता एव

टीपिका

प्रसिद्धार्थं विहाय उक्तरीत्या कथने किं मानमित्याशङ्क्य मानमाहुः **अत एव अन्ते**[टिप्प.] **पालनमि**ति. तथा च पूर्वाध्याये **उद्धववाक्ये** "सृजत्यवति हन्ति च"इति अन्ते हननमुक्तं, **तथान्यत्रापि** च तथा **कथनमत्र** तूक्ताभिप्रायज्ञापना**यान्ते पालनमुक्तमि**ति मूलाभिप्रायो मानमित्यर्थः. **आत्ममायानुभावेन भूतेन्द्रियगुणात्मनेत्यस्याभासार्थकथने हेतूनि**ति, आत्मानुभावेन आत्ममायानुभावेन भूतेन्द्रियगुणात्मनेति सृष्ट्यादिकरणे त्रिधा हेतूनित्यर्थः. एवं त्रेधा रसदानमुक्तम्. तत्र प्रथमं प्रभुसङ्गमरूपं रसदानफलं, तच्च फलप्रकरणादिषु बहुधोक्तमतोऽत्र न विचारितम्. द्वितीयं वियोगकरणं, तदधुना प्रभुः करोतीति तदाहुः **सुबोधिन्यामाविर्भूतेने**त्यादिना. नन्वस्तु आविर्भावेन वियोगो हितकारी, परं **पूर्वसम्बन्धेनैवैता अर्धदग्धाः, पुनःसम्बन्धेन सर्वदाह एव स्याद्** इत्युक्तौ कोऽभिप्राय इत्याशङ्कायाम्, अयमाशयः— प्रादुर्भावात्पूर्वं सर्वदा सुखदो भावात्मा भगवानेतासां सर्वदा हृद्यवस्थित आसीत्. स एव पुनः प्रादुर्भावसमये व्रजे समागते वसुदेवनन्दने प्रविष्टस्तदारभ्यैतासां बहिःसम्बन्धे जाते सति कदाचिद्दुःखानुभवोऽपि भवति. तदुक्तं "गोप्यः कृष्णे वनं याते तमनुद्रुतचेतसः कृष्णलीला प्रगायन्त्यो निन्युर्दुःखेन वासरान्"इति. तदनन्तरं सुखानुभवोऽपि भवति. तदुक्तं "रेमिरेहस्सु तच्चित्तास्तन्मनस्का महोदया"इति. एवं सुखदुःखयोर्मिश्रभावेन **पूर्वसम्बन्धेनैवैता अर्धदग्धा** इत्युक्तम्. दृष्टान्ते तु मथनेनाविर्भूतोऽग्निः काष्ठम् अर्धज्वलितं करोतीति प्रसिद्धम्. स एवाग्निः पुनर्बहिःसम्बन्धं करोति तदा सर्वदाहो भवतीति प्रसिद्धम्. दार्ष्टान्ते तु स यदा पुनर्मथुरां गतः तदा भावात्मा भगवानेतासां पुनर्हृद्येव स्थित आसीत्. पुनरपि

सुखानुभवस्तु स्वान्तःस्थिताग्न्यभिव्यक्तिवत् स्वान्तःस्थितभगवदभिव्यक्त्या. सर्वथाभिव्यक्तौ काष्ठांशो ज्वलिष्यतीति न सम्बध्यते, यतो भगवान् प्रलयकर्ता. स्थितिहेतुत्वात् नैकदेशेनापि वियोगः सम्भवति. तदाह दृष्टान्तेन **यथा भूतानि** महाभूतानि अन्येषां भूतानामाधारभूतानि सन्ति तेभ्यो न वियुक्तानि भवन्ति. तथा

प्रकाशः

भवेयुरित्यर्थः. **काष्ठांश** इति, कार्यत्वेनाभिध्यातः स्वात्मांशः. **प्रकरणेनैव**

टीपिका

बहिःसम्बन्धेकृते स्वस्य तु द्वारकागमनमवश्यं भावि, तदा महद्दुःखं भविष्यतीत्याशयेन **पुनः सम्बन्धेन सर्वदाह एव स्यादि**[सुबो.]त्युक्तम्. नन्वेतासामलौकिकदेहवतीनां कथं नाशोक्तिरित्याशङ्कापरिहारस्तु ''नोचेद्वयं विरहजाग्न्युपभुक्तदेहा ध्यानेन याम पदयोः पदवीं सखे ते''इतिवत् नाशशङ्कायां नाशोक्तिर्न तु नाशशङ्का. अथवा नाशेऽपि न क्षतिस्तदुक्तमत्रैव टिप्पण्यां **भूतेन्द्रियगुणस्वरूपेण पुनराविर्भूयानुपालये** इति. नन्वधुना भगवतः किमर्थोऽयमाग्रहो यद्बहिःसम्बन्धो न कर्तव्य इत्याशङ्कायाम् अधुनैतासां तृतीयरसदानं कर्तव्यं, तच्चान्तर्दृष्ट्यानुभूतं भवति, तदर्थं भगवानपि तथैव निर्बन्धेनोपदिशति इत्याशयेनाहुः **सुखानुभवस्त्वि**[सुबो.]त्यादिना. स च सुखानुभवः ''ततस्ताः कृष्णसन्देशैर्व्यपेतविरहज्वराः उद्धवं पूजयाञ्चक्रुर्ज्ञात्वात्मानमधोक्षजमि''ति पुनरुपदेशानन्तरं भविष्यति. तत्र 'अधोक्षज'पदस्यार्थो [दीपि.]बहुधा दृष्टान्तेनोक्त इति दिक्. नन्वग्निवद्यदि भगवानेतासु स्वान्तःस्थितोऽस्ति तदा कदाचिद्बहिरपि कथं नाभिव्यक्तो भवेदित्याशङ्कायां दृष्टान्तेनाहुः **सर्वथे**त्यादिना. यथा काष्ठस्थितो वह्निराविर्भूतो भवेद्बहिः तदा काष्ठस्य सर्वांशो वह्निरूपो भवेदिति ॥१॥ तथैवेतासु भावात्मा स्थितो व्यक्तो भवेद्बहिः तदैव तासां देहांशा ब्रह्मरूपा भवन्ति हि ॥२॥ तथा तासां पृथक्स्थित्या भजनानन्दानुभवोऽपि नानुभूतो भवेदतो भगवानपि सर्वथा नाभिव्यक्तो भवेद्बहिरिति भावः. **न सम्बध्यत** इति, अग्निदृष्टान्तेन नाशशङ्कया भगवानपि बहिर्न सम्बन्धं करोतीत्यर्थः. नन्वेवं तर्ह्येतावत्पर्यन्तं सम्बन्धसद्भावेऽपि कथं न नष्टा जाताः, कथमधुना तथोच्यते इत्याशङ्कायामाहुः **यत** इत्यादिना. अधुना प्रलयकर्ता वियोगकर्ता, टिप्पण्युक्तरीत्या पूर्वं तु सृष्टिकर्ता, अतस्तदा न नाशोक्तिरिति भावः. एवं श्लोकद्वयस्य भावार्थमुक्त्वा प्रथमस्य वाक्यार्थं वक्तुम् आभासमवतारयन्ति **स्थितिहेतुत्वान्नैकदेशेनापि वियोगः सम्भवतीति**. एतासां देहांशेन स्थितिहेतुत्वादेकदेशेन वृक्षकपिवियोगवत् न भगवतो वियोगः

भगवानपि देहांशेन न वियुक्त इति दृष्टान्तेनैव साधितम्. प्रकरणेनैव तल्लभ्यमिति अनन्यलभ्यो हि शब्दार्थः, साधारणदृष्टान्तेन च. चकारात् पुनरुक्तेन दृष्टान्तान्तरमाह

लेखः

प्रलयकर्तृत्वात्तत्सम्बन्धे सर्वदाहो भवेद् अतो न सम्बध्यते इत्यर्थः. एतेन श्लोकेन द्वितीयवियोगाभाव उक्तः, कालिकवियोगाभावोऽपि. **यथे**ति श्लोके दृष्टान्तद्वयं व्याख्यातं, तत्राद्येन दैशिकवियोगाभाव उक्तः द्वितीयेन दृष्टान्तेनोत्तरार्धेन चाद्यवियोगाभाव उक्तः. **पुनरुक्ते**ति, पूर्वार्धे निराकाङ्क्षता जाता इममेव पूर्वार्धे पुनः पठित्वा उत्तरार्धेन योज्यमिति भावः. अत्र व्याख्याने त्रयो गुणाः दशेन्द्रियाणि मनःप्राणबुद्धयश्चेति षोडश. प्रकृत्यहङ्कारयोर्गुणेष्वन्तर्भावः, एवमष्टादश. बुद्धौ चित्तस्य, एवमेकोनविंशतिः. पुनरुक्ते पूर्वार्द्धे खमादिपञ्चकम् —एवं चतुर्विंशतितत्त्वान्युक्तानि.

प्रकाशः

तल्लभ्यमिति, वियोगाभावसाधक-प्रसिद्धपूर्वार्धसम्बन्धेनैव **तद्** आश्रयत्वं उभयाकाङ्क्षाविशिष्टवाक्यस्यैव प्रकरणत्वादिति. **साधारणदृष्टान्तेन चे**ति समवायित्वबोधकेन. तथा च भवद्देहनिरूपितो वियोगो मम नास्ति, आश्रयत्वात्समवायित्वाच्च, भूताश्रयसमवायि-महाभूतवदिति फलति. **देहव्यतिरिक्तानी-**

टीपिका

सम्भवतीत्यर्थः. **अन्येषामिति** तदतिरिक्तानामन्येषाम्, अन्यथा 'सर्वेषामि'ति वदेत्. एतासां तु आधारभूतोऽपि भगवान् इति **देहांशेन न वियुक्त**[सुबो.] इत्युक्तम्. **दृष्टान्तेन साधितमित्यत्र**. ननु यथा दृष्टान्ते महाभूतानि अन्येषां भूतानामाधारभूतानि सन्तीति प्रत्यक्षतयोपलभ्यते **तथा भगवानपि देहांशेन न वियुक्त** इत्युक्तं, स च प्रत्यक्षतया नोपलभ्यते अतो दृष्टान्तेन दार्ष्टान्तः कथम् इत्याशङ्कां परिहरन्ति **प्रकरणेनैव तल्लभ्यमि**ति. **प्रकरणेन** दृष्टान्तप्रकरणेन भगवान् दार्ष्टान्तरूपोऽपि लभ्य इत्यर्थः. ननु युक्तिविरोधादलाभेऽपि लाभमानने किं मानमित्याशङ्क्य **मानमाहुः अनन्यलभ्यो हि शब्दार्थ** इति. श्रुतिशब्दार्थो यथा श्रुतिर्वदति तथैव मन्तव्यो न युक्त्याद्यपेक्षत इत्यर्थः. तदुक्तं "लौकिकेषु च ये भावास्तांस्तु तर्केण योजयेद् अलौकिकास्तु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्". एवं भगवानपि दृष्टान्तेन यथा वदति दार्ष्टान्तेऽपि तथैव मन्तव्यमित्याहुः **साधारणदृष्टान्तेन चे**ति. यथा भूतानि साधारणदृष्टान्तेन देहांशेन न वियुक्तानीति साधितं तथा असाधारणे दार्ष्टान्ते साधितमिति चकारार्थः. **चकारात् पुनरुक्तेन दृष्टान्तान्तरमाहे**ति. अत्र पुनरुक्तिः पुनर्दृष्टान्तमात्र इति ज्ञापनाय. **तथाहं चे**ति मूलस्थचकारोक्तः न तु पूर्वार्थकथनरूप-

तथाहमिति[1], देहव्यतिरिक्तानि च **मनःप्राणबुद्धीन्द्रियगुणा**त्मकानि, **तेषामप्यहमाश्रयः**. समसङ्ख्यार्थं पञ्च गणिताः. **सत्त्वादिगुणेषु** प्रकृतेरन्तर्भावः,

---

लेखः

अष्टाविंशतिपक्षो ब्रह्मवादसिद्धस्तस्यात्र विशेषतो नोपयोग इति भावः. पञ्चभूतानां

प्रकाशः

त्यादि. एवं च भवन्मनःप्राणबुद्धीन्द्रियगुण-निरूपितवियोगाभाववानहं, तत्तदाश्रयत्वाद्, भूताश्रयमहाभूतवदित्यत्र फलति. देहस्थितानां शेषाणां वियुक्तत्ववारणायात्रैवान्तर्भावमुपपादयन्ति **सत्त्वादी**त्यादि. नन्वाश्रयत्वेन दैशिको वियोगो

टीपिका

पुनरुक्तिरिति ज्ञापनाय व्याख्याने **देहव्यतिरिक्तानि चे**[सुबो.]त्युक्तम्. ननु यथा पूर्वदृष्टान्ते **यथे**त्यारभ्य न **वियुक्तानि भवन्ती**त्यन्तेनान्येषां देहाः पाञ्चभौतिका इत्युक्तं— तेनैव दृष्टान्तेन **तथे**त्यारभ्य **साधित**मित्यन्तेनैतासां देहाः पुरुषोत्तमात्मका इति दार्ष्टान्तार्थोऽर्थापत्त्या साधितः अन्यथा दृष्टान्तकथनं निरर्थं स्यात् —तथा द्वितीयदृष्टान्तेन कोऽर्थः साधित इत्याकाङ्क्षायामाहुः **देहव्यतिरिक्तानी**त्यादिना. मनःप्राणबुद्धीन्द्रियगुणात्मकानि भवन्तीति. अन्येषामपीति पूर्वोक्तवत्पुनरुक्त्या योज्यं **तेषामप्यहमाश्रय** इति, मनआदीनामक्षररूपेणाहमाश्रय इति **अपि**शब्देन सूचितम्. तेनैव दृष्टान्तेनैतासां मनःप्राणबुद्धीन्द्रियगुणाः पुरुषोत्तमात्मका इति दार्ष्टान्तार्थोऽर्थापत्त्या साधितोऽन्यथात्रापि द्वितीयदृष्टान्तार्थकथनं निरर्थं स्यादिति भाति. एवं वाक्यार्थमुक्त्वा प्रकारान्तरेण पुनरुक्तिमाहुः **समसङ्ख्यार्थं पञ्च गणिता** इति. पूर्वदृष्टान्ते यथा खमादिपञ्च गणितास्तथात्र समसङ्ख्यातात्पर्यार्थं पुनरुक्तिज्ञापनाय मनआदिपञ्च गणिता इत्यर्थः. अष्टाविंशतितत्त्वानि पञ्चगुणितानि भवन्त्यपि तदाहुः **सत्त्वादिगुणेष्वि**त्यादिना. प्रकृत्यहङ्कारचित्तानां गुणादिष्वन्तर्भाव उक्तोऽतः पृथग्गणना न कृता. दशप्राणाः दशेन्द्रियाणि च मनोबुद्धिगुणाश्चेति त्रयोविंशतिर्भवन्ति. पृथिव्यादिपञ्चानां मनआदिषु सन्निवेशः श्रुत्युक्तः **क्रमे चे**त्यादिना. अथवा सन्निविष्टानां पृथग्गणनाया- मरुचिं मत्वा पुनः पुनरुक्तिज्ञापनाय पूर्वार्धोक्तखमादिपञ्च गणिताः **खमि**त्यादिना. **अष्टाविंशतिपक्षो ब्रह्मवादसिद्धस्तस्यात्र विशेषतो नोपयोग**[लेख.]इत्युक्तं तत्रायमाशयः— यथा चतुश्चत्वारिंशाध्यायकारिकार्थकथने टिप्पण्याम् ''उद्देश्यत्वेन

---

१. तथाहं च इति टीपिकापाठः.

अहङ्कारस्य च, त्रिगुणात्मकत्वाद् **बुद्धौ** चित्तस्य. **प्राणाः दशेन्द्रियाणि** च, सङ्कल्पादिसर्वधर्मसहितं च **मनः**. क्रमे च ''अन्नमयं हि सौम्य मनः, आपोमयः प्राणः, तेजोमयी वागि''ति सा हि बुद्ध्यात्मिका ज्ञानप्रधाना, यथा रूपं क्रियाप्रधानम्. इन्द्रियाणि प्राणेन वायुना पुष्टानि, गुणाश्चाकाशे. अत एवाभ्रतमः प्रकाशा आकाशे भवन्ति न भवन्तीति च. **खं वाय्वग्निर्जलं मही**त्युत्पत्तिप्रकारेणाधारत्वेन वा गणना. अन्नं महीति पर्यायः. एतेषु जीवस्थितेषु कारणभूतान्येतानि सन्तीति वक्तव्येऽपि प्रसिद्ध्यभावात् नोक्तम् ॥३०॥

लेखः

मनआदिषु सन्निवेशोऽपि भवतीत्याहुः **क्रमे चे**ति. मनःप्राणबुद्धीनामन्नजलतेजोरूपत्वं श्रुतिसिद्धम्. **इन्द्रियाणि** वायुपुष्टत्वाद्वायुरूपाणि **गुणाश्चाकाशे** भवन्तीत्याकाशरूपाणीत्यर्थः ॥३०॥

प्रकाशः

मास्तु, वास्तवस्तु कथं वारणीय इत्याकाङ्क्षायां समवायित्वमत्रापि वक्तुमाहुः **क्रमे चे**त्यादि. **से**ति वाक्. **अभ्रतमः प्रकाशा** इति, तदुपलक्षितानि रजस्तमःसत्त्वानि, तथा च न तेन स इत्यर्थः. नन्वेवमेतत्स्फुटमेव कुतो नोक्तमित्यत आहुः **एतेष्वित्यादि** ॥३०॥

आत्मन्येवेत्यत्र. एतावता भगवता स्वस्य त्यागापादितदोषाभावे साधितेऽपि न स्वामिनीक्लेशनिवृत्तिरिति तदर्थमाहेत्याहुः **एतेष्वि**त्यादि. **समवाय** इति

टीपिका

ज्ञानोक्तिव्यवच्छेदायैवकार'' इत्युक्तं तेनात्र ज्ञानमार्गीयज्ञानस्य नोपयोगो युक्तः, तथात्र ज्ञानमार्गीयतत्त्वस्यापि नोपयोग इति प्रतिभाति. तर्हि चतुर्विंशतिगणने कोऽभिप्राय इत्याशङ्कायामत्रेदमुक्तं भवति— छान्दोग्ये पठ्यते तत्र आकाशादितत्त्वान्युक्तानि तत्र ''यच्चेहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन्समाहितमि''त्युक्तम्. तेन नित्यलीलायां चतुर्विंशतिपक्षः प्रतिभाति. तदनुसारेण गीतायां श्रीपुरुषोत्तमेनापि चतुर्विंशतिपक्षो ''महाभूतान्यहङ्कारे''त्यादिः स्वीकृतोऽस्ति ॥३०॥

आत्मन्येवेति श्लोकस्यार्थः श्रीमदाचार्यचरणैः सुबोधिन्यां प्रकारद्वयेन निरूपितोऽस्ति. तत्र प्रथमप्रकारः केवलगोपिकानां सृष्ट्यादिकरणरूपो गूढाभिप्रायेणोक्तः. स तु सर्वेषां ज्ञानगोचरो न भविष्यतीति ज्ञात्वा श्रीमत्प्रभुचरणैः

अतः परं कारणभूतत्वात् कार्यस्य न कारणव्यतिरेक इति भगवद्भिरहो गोपिकानां नास्तीति वक्तुमाह **आत्मन्येवेति.**

आत्मन्येवात्मनात्मानं सृजे हन्म्यनुपालये ।
आत्ममायानुभावेन भूतेन्द्रियगुणात्मना ॥३१॥

कर्ता भगवान्, "यतो वा इमानि भूतानि जायन्त" इति श्रुतेः. समवायश्च भगवान्, "तस्माद्वा एतस्मादि"ति श्रुतेः. "स आत्मानं स्वयमकुरुते"ति श्रुतेश्च कार्यमपि स्वयमेव. जीवपरत्वेऽपि सुतरामत्र न सन्देहः. आधारे सन्देह इति

लेखः

आत्मन्येवेत्यत्र. जीवपरत्वेपीति, जीवभोगार्थं जगन्निर्माणपक्षेऽपीत्यर्थः.

प्रकाशः

तादात्म्यापरपर्यायः, उक्तश्रुतेरुपादानबोधकत्वादिति भावः. **कार्यमिति, आत्मानमिति** द्वितीयया तत्परामर्शादिति भावः. ननु श्रुतावात्मपदेन जीवस्य तथात्वमुच्यते न तु देहादेरित्याशङ्कायां कैमुतिकेनाहुः **जीवेत्यादि.** एवं च भवत्यः मन्निरूपितवियोगाभाववत्यः मदाश्रितत्वान्मत्समवेतत्वाच्चेति शब्देन बोधितम् ॥३१॥

टीपिका

टिप्पण्यां स्वतन्त्रतया निरूपितोऽस्ति. द्वितीयोऽर्थः सर्वेषामस्मदादीनां सृष्ट्यादिकरणरूपः साधारणरूपः साधारणरीत्या निरूपितः. तत्र साधारणरीत्या **आत्मन्येवात्मनात्मानम्** इति पदत्रयस्यार्थो भगवता वेदोक्तसृष्टिरीत्या निरूपितोऽस्तीति ज्ञापनाय दृष्टान्तार्थं पूर्वं कर्ता भगवानिति श्रुतिसम्मत्या निरूपितः **कर्ता भगवानि**[सुबो]त्यादिना. **कर्ता भगवानिति**, सृष्ट्यादिकर्ता भगवानित्यर्थो "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते"इति श्रुत्या निरूपितः. **समवायश्च भगवानिति**, समवायिकारणरूपोऽपि भगवानिति "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत"इति श्रुत्या निरूपितः. "स आत्मानं स्वयमकुरुत"इति श्रुत्या **कार्यमपि स्वयमेवेति** निरूपितम्. एवं कर्ता समवायी कार्यरूपोऽपि भगवानिति दृष्टान्तार्थं श्रुत्युक्तं निरूपितम्. अतः परं **आत्मन्येवेति** पद्यस्यार्थं वक्तुम् आभासमवतारयन्ति **जीव** इत्यादिना. अत्रैवमाशङ्क्यते **जीवपरत्वेऽपि सुतरामत्र न सन्देहः आधारे सन्देह** इति. **अपीति** सम्भावनायां, जीवाः भगवतो चिदंशाः अतो भगवान् जीवानां सृष्ट्यादि करोतीति. जीवपरत्वे व्याख्याने "यथा प्रदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिंगा सहस्रशः प्रभवन्ति सरूपा" इति मुण्डकोक्तश्रुतिसंमत्या सुतरामत्र न सन्देहः. परं

समवाय्यतिरिक्ताधारं[1] निरूपयन्नाह **आत्मन्येवे**ति, यथा कुलालश्चक्रे घटं करोति, आत्मानात्मसङ्करप्रतिषेधाय **एव**कारः. करणस्य भिन्नत्वमाशङ्क्याह **आत्मने**ति. वैषम्यनैर्घृण्यादिदोषाभावाय कार्यस्याप्यन्यत्वं निवारयति **आत्मानमि**ति. कदाचिदानीय कश्चिद् घटादिकमपि स्वस्मिन् स्थापयति, स्वपादं च स्वजघने स्फोटयति च. स्वस्मिन् तन्निषेधाय[2] उत्पत्त्यादीनाह **सृजे हन्मि** नाशयाम्य**नुपालये**

लेखः

सुतरामत्रेति लीलासृष्टावित्यर्थः. **तन्निषेधार्थमि**ति; अन्यसृष्टान् घटादीन् स्वस्मिन् स्थापयति, न तथा भगवति किन्तु भगवान्स्वयमेव सृष्टेत्यर्थः ॥३१॥

टीपिका

जडरूपपृथिव्याद्याधाररूपोऽपि भगवान् कथं भविष्यतीति आधारपरत्वे व्याख्याने सन्देह इत्याशङ्का, तत्परिहारमाहुः **समवाय्यनतिरिक्ताधारं निरूपयन्नाहे**[सुबो.]ति. अत्र पृथिव्याद्याधारानपि समवायिभगवदनतिरिक्तान्निरूपयन्नाहेत्यर्थः. **आत्मन्ये-वे**ति, आधारभूते स्वात्मनि अहं सृष्ट्यादि करोमीत्यर्थः. अतोऽत्र पृथिव्याद्याधारेषु ब्रह्मणः सदंशत्वात् न जडत्वसन्देह इति भावः. लौकिकाधारे सन्देह इति ज्ञापना-योदाहरन्ति **यथा कुलालश्चक्रे घटं करो**तीति. **यथा** चक्रे जडत्वसन्देहः तथा नात्रेति भावः. **आत्मानात्मसङ्कर-प्रतिषेधायैवकार** इति, अत्र पृथिव्याद्याधारे अनात्मत्व-सन्देहव्यवच्छेदाय मूले **एव**कार इत्यर्थः. **करणस्य भिन्नत्वमाशङ्क्याहे**ति, कर्ता भिन्नो भविष्यतीत्याशङ्क्याहेत्यर्थः. **वैषम्यनैर्घृण्यादिदोषाभावाय कार्यस्याप्यन्यत्वं निवारयति** इति. ननु यदि भगवानेव सृष्ट्यादिकर्ता तदोच्चावचसृष्टिकरणे वैषम्यं भविष्यतीति जीवानां दुःखदानेन नैर्घृण्यं च भविष्यति, **आदिपदेन** जीवेऽपि कृतनाशोऽकृताभ्यागमो भविष्यतीति तद्दोषाभावाय कार्यरूपोऽपि स्वयमेवेत्याहुः **आत्मानमि**ति, स्वात्मानमेव सृज इति द्वितीयाभावेन न वैषम्यादिदोष इति भावः. अत्राप्युदाहरणद्वयमाहुः **कश्चिद्घटादिकमपि कदाचिदानीय स्वस्मिन् स्थापयती**ति. कदाचित्कश्चिद् अन्यकृतं घटादिककार्यमानीय स्वस्मिन्कर्तृत्वं स्थापयति तदा वैषम्यं भवतीति शेषः. द्वितीयमुदाहरणमाहुः **स्वपादं स्वजघने स्फोटयति चे**ति. कश्चित्स्वपादं स्वजघने स्फोटयति तस्य न नैर्घृण्यं भवतीति प्रसिद्धम्. **स्वस्मिन् तन्निषेधाय उत्पत्त्यादीनाहे**ति. स्वस्मिन् वैषम्यनैर्घृण्यादिदोषाभावाय स्वोत्पत्त्यादीनाह **सृज** इत्यादिना. एवं सर्वेषां सृष्ट्यादिकरणे आधारादिरूपोऽपि

१. समवाय्यनतिरिक्ताधारम् इति टीपिकापाठः. २. तन्निषेधार्थम् इति लेखपाठः.

पालयामि. पालनस्य पश्चाद्वचनं देशवियोगाभावे हेतुत्वज्ञापकम्. ननु "एतस्माज्जायत प्राण" इति श्रुतौ पुराणे च साक्षात् परम्परया वा तत्त्वेष्वेव भगवत्कारणता प्रतीयते, न भौतिकेषु, अत एव "भूतैर्यदा पञ्चभिरि"त्यादिवाक्यानि, तत्राह **आत्ममायानुभावेने**ति, अहमेव तत्रापि करोमि, परं मन्मायानुभावेन लोकोऽन्यथा मन्यते,

---

टीपिका

स्वयं भगवानित्यर्थः प्रतीयते. टिप्पण्यां तु केवलगोपिकानां सृष्ट्यादिकरणे आधारादिरूपोऽपि स्वयं भगवानिति मूलाभिप्रायेणोक्तं; तदेवाचार्याभिप्रायश्चेति ज्ञापनाय मूलाभिप्रायश्चाहुः **पालनस्य पश्चाद्वचनं देशवियोगाभावे हेतुत्वज्ञापकमि**[सुबो.]ति. अत्रायमर्थः— सर्वत्र पूर्वं भगवान्सृजति पश्चात्पालयति हन्ति च. तत्र सृष्टिसमये देश इत्युपलक्षणम्. पालहननसमये यौ देशकालौ तयोर्वियोगो भवति, तदनन्तरं पालनं करोति तदा तस्मिन् समये सृष्टिहननसमये यौ देशकालौ तयोः वियोगो भवति. एवं हननेऽपि ज्ञेयम्. अत्र तु **सृजे** इत्यादिव्यपदेशेन संयोगविप्रयोगभेदेन गोपिकासु भगवान् त्रिविधा लीलाः करोति इति निरूपितम्. **सृजे हन्म्यनुपालये** इति वर्तमानप्रयोगेण युगपदाविर्भावोऽस्तीति न देशकालवियोग इति ज्ञापनाय **पालनस्य पश्चाद्वचनं देशवियोगाभावे हेतुत्वज्ञापकम्** इत्युक्तम्. एवं पालनस्य पश्चाद्वचनेन सृष्ट्यादीनां देशवियोगाभावरूपो मूलाभिप्रायो दीपिकायां निरूपितः. तथा च सर्वदा रासादिदेशेषु एतासां स्वरूपस्थितिहेतुभूतः प्रभुसङ्गम एवेति सृष्ट्यर्थो निरूपितः. तथा मथुरादिदेशेषु सर्वदा स्थित्वा एतासां विप्रयोगकरणं हननमिति द्वितीयं रसदानार्थं निरूपितं तस्मिन्नेव समये आन्तर्हृदयदेशे एतासु स्थित्वा पालयतीति पालनार्थ उक्तः. **नन्वि**[सुबो.]त्यारभ्य **तत्राहे**त्यन्ता शङ्का तदर्थ एवं योजनीयः— तत्र **पुराणे चे**ति, "भूतैर्यदा पञ्चभिरात्मसृष्टैरि"त्यादिपुराणवाक्यैः पृथिव्यादि**तत्त्वेष्वेव साक्षाद्भगवत्कारणता प्रतीयते,** प्रकृत्यहङ्कारादिद्वारा **परम्परया वा भगवत्कारणता प्रतीयते. न भौतिकेष्वि**ति, पृथिव्यादिभूतपरिणतभौतिकेषु पुत्रादिदेहेषु भगवत्कारणता न प्रतीयते, तत्र तु पित्रादीनां कारणता प्रतीयते इति भावः. **अत एवे**ति, यतस्तत्त्वेष्वेव भगवत्कारणता प्रतीयते अत एवेत्यर्थः. "भूतैर्यदा पञ्चभिरात्मसृष्टैः पुरं विराजं विरचय्य तस्मिन् स्वांशेन विष्टः पुरुषाभिधानमवाप नारायण आदिदेव" इति एकादशस्कन्धस्य चतुर्थाध्यायवाक्यम्. **तत्रापी**ति, भौतिकसृष्टिष्वपि पुत्रादिदेहा**नहमेव करोमी**त्यर्थो योजनीयः. **अन्यथा मन्यते** इति, पित्रादीनां केवलकारणतां मन्यते इत्यर्थः. अन्यथा मानने हेतुद्वयमाहुः **मायया**

मायया व्यवहितः मायां पुरस्कृत्य वा करणात्. ननु वाक्यानुभवाभ्यां पृथिव्यादेरेव कारणत्वं प्रतीयते, तत्कथमत्र व्यामोह इति चेत्तत्राह **भूतानि इन्द्रियाणि गुणाश्च** आधिभौतिकादिभिन्नास्त्रिविधाः, **तदात्मभूता माया तेषु प्रविष्टा.** सा हि यत्र प्रविशति तत्रान्यदेव भासयति, अकरणेषु करणत्वम् ॥३१॥

एवं ब्रह्मधर्मनिरूपणेन वियोगाभावं निरूप्य जीवधर्मनिरूपणेनापि तदभावं निरूपयन्नाह **आत्मेति.**

आत्मा ज्ञानमयः शुद्धो व्यतिरिक्तोऽगुणाश्रयः ।
सुषुप्तिस्वप्नजाग्रद्भि-र्मायावृत्तिभिरीयते ॥३२॥

आत्मा जीवः, यं गोपिकाः अहमिति मन्यन्ते. स देह एवेति प्रतीतिसिद्धत्वात् तद्व्यतिरेकार्थमाह **ज्ञानमय** इति. **मयट्** प्राचुर्ये, सच्चिदानन्दरूपत्वाद् ज्ञानप्रचुरोऽयमात्मेत्यर्थः. तर्हि वैषयिकज्ञानमयो भविष्यतीत्याशङ्क्याह **शुद्ध** इति. ननु शुद्धमात्मानं न पश्यामः, अतः प्रमाणाभावात्प्रतीतस्य चाशुद्धत्वाद् बाधितार्थ इति चेत्तत्राह **व्यतिरिक्त** इति, अस्माद्देहादिसङ्घाताद्व्यतिरिक्तः, यथा तप्तवालुकातः सूर्यो व्यतिरिच्यते. नन्वत्र व्यतिरेके का उपपत्तिरिति चेत्तत्राह **अगुणाश्रय** इति—

प्रकाशः

आत्मा ज्ञानमय इत्यत्र. **बाधितार्थ** इति **शुद्ध**शब्द इति शेषः. **अलौकिक-**

टीपिका

व्यवहित[सुबो.] इति, पित्रादिरूपेण मायया व्यवहितोऽहं करोमीत्यर्थः. **मायां पुरस्कृत्य करणा**दिति च. एवं भौतिकसृष्टिकरणेऽपि भगवत्कारणता निरूपिता. पुनरपि प्रकारान्तरेण कारणान्तरमाशङ्कन्ते **नन्वि**त्यादिना. तत्र **वाक्यानुभवाभ्यामि**ति, "भूतानि भूमौ स्थिरजङ्गमानि"इति चतुर्थस्कन्धे प्रचेतसां वाक्यं, मृदः घटादीनां सम्भव इति सर्वेषामनुभव इत्यर्थः. **पृथिव्यादेरेव कारणत्वं प्रतीयत इति,** भौतिकसृष्टिषु पृथिव्यादीनां कारणत्वं प्रतीयत इत्यर्थः. **आदि**पदेन पित्रादीनां कारणतापि सूचिता. **तत्कथमत्र व्यामोह** इति, मायया अन्यथा प्रतीयत इति पूर्वोक्तप्रकारेण कथमत्र व्यामोह इत्यर्थः. **तत्राहे**ति, **भूतेन्द्रियगुणात्मना** इति मूलोक्तेनाहेत्यर्थः. **तदात्मभूता माया तेषु प्रविष्टा** इति, भूतेन्द्रियगुणात्मरूपा **माया तेषु** पृथिव्यादिषु **प्रविष्टा** इत्यर्थः. ननु माया प्रविश्य तत्र किं करोतीत्याशङ्क्याहुः **सा हि यत्र प्रविशति तत्र अन्यदेव भासयतीति,** पृथिव्यादीनां कारणतां भासयतीत्यर्थः. **अकरणेषु करणत्वमि**ति, पित्रादीनां च करणत्वं भासयतीत्यर्थः ॥३१॥

स हि गुणानाश्रित्य न तिष्ठति; गुणाश्रया अन्ये, स तद्व्यतिरिक्तः. सर्वत्र तत्रानुभवं प्रमाणयति **सुषुप्तीति. मायायाः** गुणमय्यः तिस्रो **वृत्तयः** जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिभेदाः. तिसृष्वप्यलौकिकसामर्थ्यात् मायाग्रहणम्, अन्यथा सुषुप्तौ परमानन्दस्फूर्तिः स्वप्ने नानाविधपदार्थानां जागरणदशायां च चतुर्विधपुरुषार्थसिद्धिर्न स्यात्. अत्र सर्वत्र

टिप्पणी

ननु देहाद्यध्यासवानात्मा प्रतीयत इति कथं भगवदात्मकत्वमिति चेत्तत्राह **आत्मा ज्ञानमय** इति, ज्ञानप्रचुर इत्यर्थः. लीलासम्बन्धिदेहानामपि तदात्मकत्वात्तत्राहमिति ज्ञानं वास्तवमेव, न त्वविद्याकृतम्, यतः **शुद्धो**ऽविद्यासम्बन्धरहितः. अत्र हेतु**र्व्यतिरिक्तः** प्रापञ्चिकेभ्यो जीवेभ्य इति शेषः. तत्र हेतु**र्गुणाश्रय** इति; पुरुषोत्तमगुणाश्रयत्वात्तथा. न हि प्राकृतेषु लीलां स्वयं करोतीति भावः.

प्रकाशः

सामर्थ्यान्मायाग्रहणमिति ल्यब्लोपे पञ्चमी. स्वस्यालौकिकसामर्थ्यमभिप्रेत्य **माया**पदग्रहणमात्रं भगवता कृतं न तु प्रकृतिमभिप्रेत्येत्यर्थः. गमकमाहुः **अन्यथे**त्यादि.

टीपिका

आत्मा ज्ञानमय इत्यत्र. **गुणाश्रया अन्ये**[सुबो]इति, सुषुप्त्यादिगुणाश्रया **अन्ये** बुद्ध्यादय इत्यर्थः. तदुक्तं "बुद्धेर्जागरणं स्वप्नः सुषुप्तिरिति वृत्तय"इति. **गुणमय्यस्तिस्रो वृत्तय** इति. वृत्तिभेदा एकादशस्कन्धे उक्ताः "सत्त्वाद् जागरणं विद्याद्रजसा स्वप्नमादिशेत् प्रस्वापं तमसा जन्तोस्तुरीयं त्रिषु सन्ततमि"ति. ननु यदि सुषुप्त्यादिगुणवृत्त्या आत्मा ईयते इति वक्तव्यं, तदा मूले "गुणवृत्तिभिरीयते" इति कथं नोक्तं? तत्र **मायावृत्तिभिरीयते** इति कथने च कोऽभिप्राय इति चेत्, तत्राहुः **तिसृष्वपी**त्यादिना. सुषुप्त्यादित्रिसृष्वपि वक्ष्यमाणरीत्या परमानन्दस्फूर्त्यादि अलौकिकसामर्थ्यं मायाया एव इति ज्ञापनाय मायाग्रहणम्. मायाप्यत्र लीलोपयोगिनी ज्ञेया. अतः सुषुप्तौ आन्तररमणेन परमानन्दस्फूर्तिं गोपिकानामेव सा करोतीति ज्ञायते. **स्वप्ने** इति, तथा **स्वप्ने** लीलोपयोगि-**नानाविधपदार्थानां** स्फूर्तिमपि तासामेव करोति. **चतुर्विधपुरुषार्थसिद्धि**रिति, तथा **जागरणदशायां चतुर्विधपुरुषार्थसिद्धिः** वृत्रचतुःश्लोकीव्याख्याने कारिकासु श्रीमदाचार्यचरणैः पुष्टिमार्गीया उक्ता "पुष्टिमार्गे हरेर्दास्यं धर्मोऽर्थो हरिरेव हि कामो हरेर्दिदृक्षैव मोक्षः कृष्णस्य चेद् ध्रुवमि"ति. तानपि माया करोतीति तत्रैव "त्वन्माययात्मात्मजदारगेहेष्वासक्तचित्तस्ये"त्युक्तम्. एतत्सर्वं हृदिकृत्य टिप्पण्यां श्रीमत्प्रभुचरणैः

आत्मनो अन्वयो दृश्यते एकस्यां वृत्तौ, द्वितीयवृत्तिव्यतिरेकश्च, तद्धर्माणां च. अतो ज्ञायते यदा मूलभूतगुणाद्व्यतिरिच्यते अयमात्मा तदा सङ्घातव्यतिरेकेऽपि किं वक्तव्यमिति. अतो वस्तुतः आत्मा सङ्घाताद् व्यतिरिक्त इति आत्मनैव अहं प्राप्तव्यः न तु देहसहितेन. नह्युत्तमः पदार्थः स्वोपभोग्योऽधमैः सह भोगमर्हति, अतोऽस्मात् सङ्घातादादौ निवृत्ता भवत पश्चात् मदुपभोगं कुरुतेति तात्पर्यम् ॥३२॥

टिप्पणी

स्वापाद्यवस्थावत्त्वेनापि प्राकृतत्वं न शङ्कनीयं यतः **सुषुप्त्याद**यो लीलोपयोगिन्या **मायया** संपादिता या **वृत्तय**स्ताभिः स सम्बध्यते. "लोकवत्तु लीलाकैवल्यमि"तिन्यायेन लोकमध्ये क्रियमाणा लोकसमानाकारा चेन्न भवेत् तदा लीलारसो न भवेत्. अत एव व्यासैरपि लोकसमानाकारत्वं न तु लोकमध्य पातित्वमिति ज्ञापनाय "लोकवद्" इत्युक्तम् ॥३२॥

ननु लीलाविषयिणी कस्यापि नैवं प्रतीतिर्दृश्यत इत्याशङ्क्य प्रतिबन्धक-

लेखः

आत्मा ज्ञानमय इत्यस्य व्याख्यानान्ते **निवृत्ता भवते**ति, सङ्घातस्य सर्वस्य द्वितीयदलात्मकत्वे सिद्धे दुःखं न भविष्यतीति भावः ॥३२॥

प्रकाशः

अत्रेति मत्सामर्थ्यकृतासु वृत्तिष्वित्यर्थः. **मूलभूतगुणा**दिति, "निर्गुणस्य गुणास्त्रय"इति द्वितीयस्कन्धसिद्धाद्भगवद्गुणात्. "गुणानां चाधमत्वं सच्चिदानन्दमूलरूपत्वात्, मायिकत्वेन व्यवहारश्च मायया गृहीतत्वादि"ति तत्रैवोक्तम्. **अस्मादि**ति मत्कार्यभूतात्सङ्घातात्. **पश्चादि**ति "ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः","द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोत"इति सूत्रद्वयोक्तरूपदेहावरणभूतैतद्देहनिवृत्त्यनन्तरम्. तथा च तस्य देहस्य केवलानन्दमयत्वेन कार्यांशराहित्यादितोऽप्यधिकमेकावस्थं स्वानन्दमनुभावयितुमयमुपायो मया कृत इति तात्पर्यहृदयं ज्ञेयम् ॥३२॥

टीपिका

स्वापाद्यवस्थावत्त्वेनापीत्यादिनोक्तम्. एवं सुबोधिन्यां मायाया वृत्तिभेदा उक्ताः. मूले **ईयते** इति पदस्यार्थमन्वयव्यतिरेकेणाहुः **अत्रे**[सुबो]त्यादिना. **सर्वत्रे**ति सुषुप्त्यादिषु सर्वत्रेत्यर्थः. आत्मनो व्यतिरेकस्तु सुषुप्त्यादिवृत्तीनां परस्परव्यतिरेककथनेन सूचयन्ति **एकस्यामि**त्यादिना. **तद्धर्माणां चे**ति, आनन्दादिधर्माणां चेत्यर्थः ॥३२॥

साधनाकाङ्क्षायां तदुपदिशति **येनेन्द्रियार्थान् ध्यायेते**ति.

येनेन्द्रियार्थान्ध्यायेत मृषा स्वप्नवदुत्थितः ।
तन्निरुन्ध्यादिन्द्रियाणि विनिद्रः प्रतिपद्यते ॥३३॥

येन मनसा **इन्द्रियार्थान्** रूपादिविषयान् **मृषा** अविद्यमानान् असम्भावितांश्च **ध्यायेत** पुरुषः, यस्मिन् विद्यमाने ध्यानमावश्यकमिति. नन्वयमपि पुरुषार्थ इति चेत्तत्राह **स्वप्नव**दिति, जन्मान्तरोत्पत्त्यर्थमेव तस्य ध्यानम्. यथा स्वप्नः सूचकः तथा ध्यायमानं मनोऽपि जन्मान्तरं सूचयति, न तु स्वरूपतः किञ्चित्पुरुषार्थसाधकम्. अतोऽनर्थसूचकं **तन्मनो निरुन्ध्यात्.** तस्यापि निरोधे इन्द्रियनिरोधकरणमिति इन्द्रियाणि च निरुन्ध्यादित्याह **इन्द्रियाणी**ति. उभयनिरोधे किं स्यादित्याशङ्क्याह **विनिद्रः प्रतिपद्यत** इति. अवस्थाद्वयं समीचीनम्, आनन्दोऽभिव्यज्यते पुरुषार्थाश्चान्यत्रेति. अतः स्वप्न एव व्यर्थः इति सूचयितुं वैयर्थ्यापगमाय **विनिद्रः**

टिप्पणी

वशान्नैवं प्रतीतिर्लोकस्य, तदपगमे सा भवतीत्याशयेनाह **येने**ति. सर्वतो मनसो निवृत्तौ केवलभगवत्परत्वे तथैव **प्रतिपद्यते** जानातीत्यर्थः ॥३३॥

टीपिका

येनेन्द्रियार्थानित्यस्याभासे. **साधनाकाङ्क्षायामि**[सुबो.]ति लोकस्य साधनाकाङ्क्षायाम्. तदेवोक्तं **लोकस्य तदपगमे**[टिप्प.] इत्यादि. **येनेन्द्रियार्था**नित्यत्र. **यस्मिन् विद्यमाने ध्यानमावश्यकमि**[सुबो.]ति, मनसि विद्यमाने विषयध्यानमावश्यकमित्यर्थः. **विनिद्रः प्रतिपद्यते** इत्यत्र **अवस्थाद्वयं समीचीनम् आनन्दोऽभिव्यज्यत** इति, सुषुप्तिस्वप्नरू**पावस्थाद्वयं** यदा उभयनिरोधेन **समीचीनं** भवति तदा **आनन्दोऽभिव्यज्यते** इत्यर्थः. तथा च उभयनिग्रहकर्तॄणां जीवानां गोपिकानां लीलाविषयिणी प्रतीतिर्यदा जायते तदा आनन्दोऽभिव्यज्यते इत्युक्तं भवति. तेन **नन्वि**[टिप्प.]त्याद्याशङ्का परिहृता ज्ञेया. **पुरुषार्थाश्चान्यत्रे**[सुबो.]ति, जागरणदशायां पुष्टिमार्गीयचतुर्विधपुरुषार्थाः पूर्वश्लोके वृत्रोक्ता मुख्याधिकारिसमानां न सर्वेषां भवन्तीत्यर्थः. नन्वेवं तर्हि **स्वप्न एव व्यर्थ** इति कथने कोऽभिप्राय इत्याशङ्क्य **स्वप्न एवे**ति **एव**कारकथनेन लौकिकस्वप्न एव व्यर्थ **इति सूचयितुम्** अलौकिकस्वप्न**वैयर्थ्यापगमाय** उभयनिरोधे **विनिद्रः सन्** इति निद्रादिदोषरहितः सन् **व्यतिरिक्तमात्मानमयमस्मीति प्रतिपद्यत** इत्यन्वयः कर्तव्यः. **व्यतिरिक्तमात्मानमि**ति प्रापञ्चिकेभ्यो जीवेभ्यो व्यतिरिक्तानां गोपिकानामात्मानम्. **अयमस्मीति**

सन् आत्मानमयमस्मीति **प्रतिपद्यते** [1]सङ्घातव्यतिरिक्तम् ॥३३॥

नन्‍नु शास्त्रेषु वेदादिषु बहून्येवात्मज्ञानार्थं साधनान्युक्तानि तत्कथं मनोनिरोधमात्रमुच्यत इत्याशङ्क्याह **एतदन्तः समाम्नाय** इति.

एतदन्तः समाम्नायो योगः साङ्ख्यं मनीषिणाम् ।
त्यागस्तपो दमः सत्यं समुद्रान्ता इवापगाः ॥३४॥

वेदो हि साधनान्युपदिशति, तस्यापि मनोनिग्रह एव अन्तःपर्यवसितं साधनम्; **एतदेवान्तो** यस्य तादृशः **समाम्नायो** वेदः, "सर्वे मनोनिग्रहलक्षणान्ता" इति शास्त्रात्. **योगस्य** त्वेतदेव प्रयोजनम्. **साङ्ख्यमप्य**ध्यासं निवर्तयन् मूलकारणं मन एव व्यावर्तयति. ननु लोका नैवं व्याचक्षते तत्राह **मनीषिणामि**ति, विवेकिनामेतद्व्याख्यानम्. मनस ईषिणो मनीषिणः, आत्मसम्बन्धः साक्षान्मनस्यैवेति

टिप्पणी

नन्वेवं सति शास्त्रानेकत्वं कथमित्याशङ्क्य साधनप्रकारभेदत एव तद्भेदः, न तु तत्र फलभेदोऽप्यस्तीत्याह **एतदन्त** इति ॥३४॥

टीपिका

प्रतिपद्यते[सुबो.] इति, एतासु गोपिकासु अयं भगवानेवेति जानातीत्यर्थो टिप्पण्यभिप्रायेण ज्ञायते. अत्र **संघात** इति पाठस्तु केनचिद् विचारकेण निक्षिप्त इति प्राचीनपुस्तकविचारेण प्रतीयते ॥३३॥

एतदन्त इत्यत्र. **शास्त्रादि**[सुबो.]ति, "एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीतमि"ति वाक्याद्भगवच्छास्त्रमेकादशस्कन्धस्तत्र भिक्षुगीतायां "दानं स्वधर्मो नियमो यमश्च श्रुतानि कर्माणि च सद्व्रतानि सर्वे मनोनिग्रहलक्षणान्ता परो हि योगो मनसः समाधिरि"ति शास्त्रात्साधनानां मनसः समाधिरन्तः उक्त इत्यर्थः. **प्रयोजनमिति,** "यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरं ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेद्"इति गीतासु भगवद्वाक्याद्**योगस्य तु** मनोनिग्रह **एव प्रयोजनमुक्त**मित्यर्थः. **अध्यासं निवर्तयन्नि**ति, आत्मानात्मविचारेण देहादीना**मध्यासं निवर्तयन्** प्रथमं देहाध्यासे **मूलकारणं मन एव व्यावर्तयती**ति संघातात्पृथक्करोतीत्यर्थः. **मनीषिणामिति** पदस्य सूचितार्थस्तु **मनस ईषिणो मनीषिण** इत्युक्तः. ननु आत्मज्ञानार्थिनां कथं मनस ईषणा इच्छा इत्याशङ्क्याहुः **आत्मसम्बन्धः साक्षान्मनस्येवे**ति. तदुक्तं गीतायां "बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियमि"ति. अतो मनसः प्राप्त्या आत्मप्राप्तिरावश्यकीति भावः. **हेतुरप्युक्त** इति, एवं **मनीषि**पदस्यात्मप्राप्तेर्हेतुरप्युक्त इत्यर्थः. **इन्द्रियसंयमो**

१. संघात इति स. पाठे नास्ति.

हेतुरप्युक्तः. ननु स्वतन्त्राणि मोक्षफलानि साधनानि श्रूयन्ते— यथा सन्न्यासः, **यथा तपो** वनस्थस्य, यथा वा **दम** इन्द्रियसंयमो गृहस्थस्य, **सत्यं** ब्रह्मचारिणो वेदाध्ययनरूपम्. एतेषामाश्रमधर्माणामपि मनोनिग्रहपर्यवसायित्वमेव. तत्र हेतुं वदन् दृष्टान्तमाह **समुद्रान्ता इवापगा** इति— वहन्त्य आपः भूमौ न पर्यवसिताः, तथा सति स्थावरा इवात्रैव तिष्ठेयुः, अतो भूम्यन्ताय प्रसर्पन्ति, तत्रावधिः समुद्र एव. तथा सङ्घातेऽपि प्रविष्टाः लौकिकवत्तत्रास्थिराः तदपगमाकाङ्क्षिणः सन्मार्गे प्रवृत्ताः न्यासाधिकारिणो मध्ये स्थितिमलभमानाः साक्षान्मनसि सम्बद्धमात्मानं मोचयन्तः तन्निग्रह एव विश्रान्ता भवन्ति ॥३४॥

एवं वियोगाभावं वियोगस्योत्तमत्वं च परमार्थतो निरूप्य लौकिकप्रतीतौ तद्व्यधिकरणमिति मत्वा दूरे स्थितिलक्षणस्य वियोगस्य चतुर्विधपुरुषार्थसाधकत्वमाह **यत्त्वहमिति** चतुर्भिः.

लेखः

एतदन्त इत्यत्र. **सङ्घातेपि प्रविष्टा** इति प्रमाणोक्ता धर्मा इति शेषः ॥३४॥

वियोगाभावमिति भेदाभावमित्यर्थः. **वियोगस्ये**ति दूरे स्थितिलक्षणस्येति शेषः. **तद्व्यधिकरणमिति, तद्** उत्तमत्वं **व्यधिकरणं;** लोकप्रतीतौ वियोगस्यानुत्तमत्वम् अत्र चोत्तमत्वमुच्यते, अतो विरुद्धं विरोधयुक्तमधिकरणं यस्य तादृशमित्याशङ्क्य **वियोगस्य चतुर्विधपुरुषार्थसाधक**त्वादुत्तमत्वमेवे**त्याहे**त्यर्थः.

टीपिका

गृहस्थस्ये[सुबो.]ति, तदुक्तं कश्यपेन दितिं प्रति "यामाश्रित्येन्द्रियारातीन् दुर्जयानितराश्रमैः वयं जयेम हेलाभिर्दस्यून् दुर्गपतिर्यथे"ति. **हेतुं वदन्नि**ति, मनोनिग्रह एव विश्रान्ता भवन्तीति हेतुं वदन्नित्यर्थः. **सङ्घातेपी**ति, वेदे प्रविष्टाः प्रमाणोक्ता धर्मा इत्यर्थः. **लौकिकवत्तत्रास्थिरा** इति, यथा लौकिकाः लौकिकफलार्थमनेकानि साधनानि कुर्वन्ति तत्रास्थिरा भवन्ति तथात्रापि मनोनिग्रहार्थमनेकानि साधनानि कुर्वन्तोऽप्यस्थिरा भवन्ति. **तदपगमाकाङ्क्षिण** इति अस्थिरापगमाकाङ्क्षिणः. **सन्मार्गप्रवृत्ता** इति निवृत्तिनिष्ठा भवन्ति. **मध्ये स्थितिमलभमाना** इति, त्यागेऽपि साधनसमाप्तिमलभमानाः. **आत्मानमि**ति, जीवात्मानं मोचयन्तः. **तन्निग्रहे** मनोनिग्रहे **एव विश्रान्ता भवन्ति** इति, यथा नद्यः समुद्रे विश्रान्ता भवन्तीत्यर्थः ॥३४॥

यत्त्वहं भवतीनां वै दूरे वर्ते प्रियो दृशाम् ।
मनसः सन्निकर्षार्थं मदनुध्यानकाम्यया ॥३५॥

गोपिकानां धर्मादयो भगवानेव, परं प्रकारविशेषमापन्नः. तत्र धर्ममाह. **तु**शब्दः तत्त्वनिरूपणं व्यावर्तयति. **अहं भवतीनां यद् दूरे वर्ते** तन्**मनसः सन्निकर्षार्थम्,** दृशो दूरे स्थितो मनसि सन्निकृष्टो भवति. तत्र हेतुमाह **प्रिय** इति. अयमर्थः— बहिर्भगवति गोपिका दृष्टिं प्रक्षिपन्ती स्वधर्मान् दृष्टिधर्मान्वा योजयति, न तु स्वयं भगवद्धर्मान् गृह्णाति. मनसि तु भगवति समागते मनो भगवद्धर्मान् गृह्णाति. एतत्तु हिताचरणं प्रियस्य कार्यम्. अनेन योगाद्यपेक्षयापीयमवस्था समीचीनेति ज्ञापितम्— योगे हि चक्षुर्वत् मनोपि स्वधर्मानेव भगवत्यारोपयति, परं स्वयं निर्माणार्थं शास्त्रतः तद्धर्मान् गृह्णातीति विशेषः. विरहेण स्मरणे तु बलादागत इति भगवानेव स्वधर्मान् स्थापयति, मनोधर्माणां दुर्बलत्वाद् विपरीतत्वाच्च भगवतः. यतोऽहं **प्रियः** अतो **दूरे वर्ते**. मनसा ह्यात्मा सम्बद्ध इति च. तथा सत्यात्मगामि

लेखः

यत्त्वहमित्यत्र. चतुर्विधपुरुषार्थरूपत्वमेकस्य कथमित्यत आहुः **प्रकारविशेषमि**ति. स्मृतिविषयत्वं, गुप्ततया संरक्ष्यत्वं, सर्वकामनाविषयत्वं, सायुज्यदातृत्वं चेति प्रकारचतुष्टयं, तत्र तत्तत्प्रकारमापन्नस्तत्तत्पुरुषार्थरूप इत्यर्थः. **तत्त्वनिरूपणमि**ति, षड्भिः श्लोकैस्तत्त्वं स्वरूपं निरूपितम् अधुना पुरुषार्था निरूप्यन्ते इति पूर्वव्यावृत्तिरित्यर्थः. **स्वधर्मानि**ति कामादीनित्यर्थः. **दृष्टिधर्मान्** कटाक्षादीनित्यर्थः. **स्वधर्मानेवे**ति, स्वयं भाव्यमानानित्यर्थः. **स्वयं निर्माणार्थमि**ति, मानस्या मूर्तेः कल्पनार्थं प्रादेशमात्रत्वादिधर्मान् गृह्णाति, तदपि **शास्त्रत** एव न तु साक्षादनुभव इति भावः. **दुर्बलत्वादि**ति, विरहेण क्षामत्वादिति भावः. **विपरीतत्वादि**ति प्रबलत्वादित्यर्थः. **इति चे**ति, दूरस्थित्या मनसः सन्निकर्ष इति

प्रकाशः

यत्त्वित्यत्र. प्रकारविशेषमिति वक्ष्यमाणरीतिक-स्मरणादिरूपत्वम्. **स्वधर्मान् दृष्टिधर्मान्वे**ति देशकालपरिच्छेदरूपान्. नित्ये परिच्छिन्ने समागमस्यैवाविर्भावत्वेन भक्तानां ब्राह्मदेहस्य कालपरिच्छेदाभावात्पक्षान्तरमुक्तम्.

टीपिका

यत्त्वहमित्यत्र. **दृष्टिं प्रक्षिपन्ती**ति स्वधर्मान् भगवति स्थापयितुं, न तु भगवद्धर्मान् ग्रहीतुमित्यर्थः. तदेवोक्तं **स्वधर्मानि**त्यादिना. **स्वरूपत**[लेख] इति,

भवति, विषयेषु तु तेषामभावाद् जन्मान्तरसाधकत्वेनानर्थहेतुत्वमेव. किञ्च न केवलं सन्निकर्षमात्रं फलं किन्त्वन्यदप्यस्तीत्याह **मदनुध्यानकाम्ययेति**, ममानुध्यानमेव ममाभिप्रेतम्. गोपिकाश्चेन्मदभिध्यानं कुर्वन्ति तदाहं तासु रतिं करोमि नत्वन्यथा, अक्लिष्टकर्मत्वाद्, अतः स्वार्थमप्येवं करोमीत्यर्थः. कामेन हि सम्बन्ध उभयोः, स च मनसि प्रतिष्ठितः, मनसो दूरभावे मानादिना सम्बन्धाभावादहमपि निवृत्तो भवामि ॥३५॥

ननु किमेतदुच्यते, अस्माकं तु सर्वदैव त्वयि मन इति चेत्तत्राह **यथा दूरचर** इति.

लेखः

आत्ममनसोः सम्बन्ध **इति च** हेतोस्**तथा सति** बलाद्भगवति मनस्यागते सति भगवत्स्वरूपं **आत्मगामि भवती**त्यर्थः. **विषयेषु त्विति**, मनसि भगवांस्तद्धर्माश्च स्थिताः, विषयेषु तु भगवत्तद्धर्माणामभावात्तत्रात्मसम्बन्धेऽनर्थ एवेत्यर्थः. मूले मनःसन्निकर्षस्य फलत्वमुक्तं तत्स्वरूपतो न सम्भवति, आत्मनो भगवत्सम्बन्धस्याभीष्टत्वाद्, अतस्तत्साधकत्वेन फलत्वं विवृतौ विवृतमिति भावः. **सन्निकर्षमात्रं फलमिति**, फलं मत्सम्बन्धसम्पादकत्वादिति शेषः. **अन्यदपीति**, मदनुध्यानमपि मद्रतिसम्पादकत्वात्फलमित्यर्थः. **अक्लिष्टकर्मत्वादिति**. अनुध्यानाभावे सङ्घातस्य रसात्मकत्वाभावेन तत्र रमणे क्लेशः स्यादित्यर्थः ॥३५॥

प्रकाशः

ननूपदेशोक्तसिद्धान्ते ब्रह्मवादाद्विषयाणामपि तदात्मकत्वेनात्मगामिताऽनावश्यकीत्यत आहुः **विषयेष्वित्यादि**. **तेषामिति** भगवद्धर्माणाम्. तथा च तदात्मकत्वाविशेषेऽपि धर्माभावान्न तथा सामर्थ्यमतः सा आवश्यकीत्यर्थः. **किञ्चेत्यादि**, एतेन सन्दर्भेण सर्वात्मभावेन सदास्यलास्यमस्यानिशमिति फलार्थं तथाकरणमित्युक्तम् ॥३५॥

टीपिका

गोपिकानां स्वतः स्वरूपतो न सम्भवतीत्यर्थः. **सम्बन्धस्येति** बहिःस्थितस्येत्यर्थः. **तत्साधकत्वेनेति**, मनसः सन्निकर्षत्वेन **फलत्वं** तद्भगवता कर्तुं शक्यम्. **विवृताविति** सुबोधिन्या**मेतत्त्वित्यारभ्य स्थापयतीत्यन्तेन विवृतमित्यर्थः**. **फलमिति**, मयि दूरे स्थिते दृष्टेरसम्बन्धसम्पादकत्वात् मनसः सन्निकर्षमात्रं फलं नेत्यर्थः. **रतीति** आन्तरेव "ज्ञात्वात्मानमधोक्षजमि"त्यत्रोक्ता ज्ञेया ॥३५॥

यथा दूरचरे प्रेष्ठे मन आविश्य वर्तते ।
स्त्रीणां च न तथा चेतः सन्निकृष्टेऽक्षिगोचरे ॥३६॥

अयमेव च गोपिकानां धर्मः यथा सर्वदा मां स्मरन्ति, ममाप्ययं धर्मः यथा ताभ्यः आनन्दं प्रयच्छामि— एतदुभयं तदैव घटते नान्यथेति धर्मो निरूपितः. अर्थोऽपि भगवानेव परं गुप्ततया संरक्ष्यः. तमेव हि गोपायति यत्र निरन्तरं मनस्तिष्ठति, अन्यथा क्षणमपि प्रमादे अर्थो गच्छेत्. अतः पाक्षिकः कादाचित्कोऽपि दोषः परिहरणीय इति सन्निकर्षापेक्षया विप्रकर्षे मनसः स्थैर्यमाह. **दूरचरे**

टिप्पणी

नन्वेवं सति विशेषाभावात्संनिकर्ष एव कुतो न साध्यते, दुःखहेतुर्विप्रकर्षः किमर्थ इत्याशङ्कायां तत्तात्पर्यमाह **यथे**त्यादिना. अत्रेदमाकूतम्— पूर्वमनुभावितो यो भजनानन्दः स तु ब्रह्मानन्दतः शास्त्रीयभक्त्यानन्दतश्च कोटिगुणाधिकोऽनिर्वचनीयश्च भवति. तथा च सन्निकर्षे त्वग्रिमाग्रिमनूतन-नूतनरसाकाङ्क्षा तदनुकूलो यत्नश्च भवति, न तु पूर्वानुभूतलीलास्वरूपतलस्पर्शः कदापि. विप्रकर्षे तु मनआदीनां बहिःस्वविषयालाभेऽन्तर्विद्यमानमेव तं गृह्णन्ति. तदा यथा बहिः प्रकटात्प्रियाद्रसानुभवः पूर्वमासीत्तथान्तःप्रकटात्प्रियात् पूर्वस्मादपि विलक्षणो रसोऽनुभूतो भवति यः सङ्गमेऽपि दुरापः. अतो महारसदानार्थमेवैवंकरणम्. एतदेवोक्तं **मदनुध्यानकाम्यये**तिपदेन, **यथे**त्यादिना च. सङ्गमे मदुपयोगित्वेन देहादिस्फूर्तिरप्यस्ति, द्वितीये तु सापि नास्तीत्यपि रसाधिक्यम् ॥३५-३६॥

लेखः

यथा दूरचरे इत्यत्र **एतदुभयमि**ति, स्वामिनीकर्तृकं स्मरणं भगवत्कर्तृकं चानन्ददानं दूरस्थितावेव घटते इत्यर्थः ॥३६॥

प्रकाशः

यथा दूरचरेत्यत्र. **दोष** इति विस्मरणात्मकप्रमादरूपः. **अयमि**ति पुत्रादिसम्बन्धः.

टीपिका

यथा दूरचरे इत्यत्र. **एवं सती**[टिप्प.]ति, **यथा भूतानी**त्यत्र दृष्टान्तद्वयेनैतासां देहेन्द्रियाणां भगवदात्मत्वेन वियोगाभावे साधिते सति. **विशेषाभावादि**ति, यथा पूर्वोक्तप्रकारेण देहेन्द्रियाणां भगवदात्मकत्वे सति वियोगाभाव उक्तः तथा बहिःप्र-कटस्वरूपस्यापि वियोगाभावः, एवं यदा उभयत्रापि विशेषाभावस्तदा बहिःप्रकटित-स्वरूपेण **सन्निकर्ष एव कुतो न साध्यते ? यथा दूरचरे** इत्यत्र **अस्थिरे**[सुबो.]

दूरेऽप्यस्थिरे,अन्यथा स्वयं गच्छेत् निराशो वा भवेत्. अतो **दूरचरे** आवश्यके **प्रेष्ठे** यथा **मनो वर्तते** निश्चलं सर्वदा. तत्रापि **स्त्रीणां,** निकटे हि शीघ्रमेव मानादिदोषोत्पत्तिसम्भवात्. **चकारा**दन्येष्वपि सम्बन्धेषु पुत्रादिषु यथा पुत्रं माता स्मरति पिता वा, एवमन्यत्रापि. **तथा सन्निकृष्टे चेतो** न स्मरति. अयं हि बहिः पूर्वस्त्वान्तरः. किञ्च **अयमक्षिगोचरः,** नह्यन्यविषये अन्यदिन्द्रियं स्वतन्त्रतया प्रवर्तते, अत एवाक्षिगोचरे न चेतः प्रवर्तते. बलिष्ठं च चेतः, अन्यथा प्रत्यक्षे विषये अन्यचित्तता न स्यात् ॥३६॥

नन्वस्माभिः त्वत्प्राप्त्यर्थं चिन्ता क्रियते, तथा सति किं मनःस्थापनेन किं निरन्तरसम्बन्धेन वा ? कामार्थं हि प्रयत्नो लोके च यादृशो व्यवहारसिद्धः, तत्र क्षणं मनश्चाञ्चल्यमावश्यकत्वात् न विगीतमित्याशङ्क्याह **मय्यावेश्ये**ति.

मय्यावेश्य मनः कृत्स्नं विमुक्ताशेषवृत्ति यत् ।
अनुस्मरन्त्यो मां नित्यमचिरान्मामवाप्स्यथ ॥३७॥

टिप्पणी

एतदेवोक्तं **विमुक्ताशेषवृत्ती**ति विशेषणेन. एतेन रसानुभवे नैरन्तर्यमुक्तं भवति. बहिरनुसन्धाने तु तदेव बहिःसाक्षात्सम्बन्धात्मकं फलं शीघ्रमेव साधयति अतस्तथैव भविष्यतीत्याह **अचिरादि**त्यादिना ॥३७॥

प्रकाशः

पूर्वो भगवदीयः. नन्विन्द्रियत्वस्य तुल्यत्वात्किं मनोनिवेशाग्रहेणेत्यत आहुः **बलिष्ठ**मित्यादि. तथा चातो निर्बन्ध इत्यर्थः. एवं चात्र निरन्तरमनोविषयत्वेन रूपेण भगवानेवार्थ इत्युक्तम् ॥३६॥

दीपिका

इति मूले **चरे** इत्यस्यार्थो ज्ञेयः. **अन्यथे**[सुबो]ति, प्रिये दूरे वास्थिरे सतीत्यर्थः. **स्वयं गच्छेदि**ति, अदूरे सति प्रेष्ठस्याग्रे स्वयं गच्छेदित्यर्थः. **निराशो वा भवेदि**ति, प्रेष्ठस्य स्थिरत्वज्ञाने सति नागमिष्यत इति निराशो भवेदित्यर्थः ॥३६॥

मय्यावेश्येत्यत्र. **बहिरनुसन्धाने त्वि**[टिप्प]ति संयोगे. **तदेवे**ति, पूर्वोक्त-ममानुध्यान एव यथा **शीघ्रमेव फलं साधयति तथैवे**ति अधुना विप्रयोगेऽपि ममानुध्यानेनान्तरेव शीघ्रमेव फलं **भविष्यतीत्याहे**त्यर्थः. **तथे**ति ता ऊचुरुद्धवं प्रतीत्यर्थः ॥३७॥

अहं हि कृत्स्नः प्रसादेनापि प्राप्तः कृत्स्नेनैव साधनेन प्राप्तुं योग्यः. सा च कृत्स्नता अस्यामेवावस्थायां भवति नान्यथा. **कृत्स्न**तायां हेतुं वदन् अवस्थान्तरे तदभावमाह **विमुक्ताशेषवृत्ती**ति, **विमुक्ताः** सर्वेभ्यो विषयेभ्यो**ऽशेषा** दशापि **वृत्तयो** यस्य. एकादश द्वादश वा. सहजाश्चेद् गुणकृतास्तु दशैव, ताः भ्रमरवाक्येषु निरूपिताः. "एकादशा सन् मनसो हि वृत्तय" इत्यत्र स्वाभाविका अपि निरूपिताः. ननु सर्ववृत्त्यभावे स्वरूपनाश एव स्यादित्याशङ्क्याह **यदि**ति, प्रसिद्धं तन्मनः. **इदानीं** त्वहमाविष्टः,अतः परं भवतीभि**र्मय्यावेश्य** बलान्मयि मनोनिवेशनं कृत्वा पश्चाच्छीघ्रमेवाहं प्राप्तव्यः. ननु वस्तुविचारे मनस्त्वन्यदेव, तस्मिन्निविष्टे कथं भगवत्प्राप्तिरिति चेत्तत्राह **अनुस्मरन्त्य** इति, मनोद्वारा आत्मापि स्मरति. यद्यपि स्मरणं चेतसो धर्मस्तथाप्यनुस्मरणमात्मन एव. अनेनोभयविधोऽपि सम्बन्धो निरूपितः— मनोद्वारा स्वयं भगवति प्रविष्टाः स्मरणद्वारा च भगवांस्तासु प्रविष्ट इति. एवं स**त्यचिरादेव मामवाप्स्यथ**. परम्परया नित्यसम्बन्धे सङ्घर्षादन्तरास्थितं गच्छति, तथा मनोविलये चित्तस्यापि विलयादचिरादेव प्राप्तिः. आत्मगाम्येव कामेन

लेखः

मय्यावेश्येत्यत्र. **प्रसादेनापी**ति **अपि**शब्दोऽग्रिमेण सम्बध्यते, अनुग्रहेण प्राप्तोऽपीत्यर्थः. **कृत्स्नते**ति साधनानामिति शेषः. **अवस्थान्तर** इति, विरह-व्यतिरिक्तावस्थायामित्यर्थः. **तदभाव**मिति, वृत्तिविमोकाभावमित्यर्थः. **स्वरूपनाश** इति, सूर्यस्य किरणात्मकत्वात्तन्नाशे तन्नाश इवेत्यर्थः. **प्रसिद्ध**मिति, अन्नमयत्वादिनेति शेषः, न तु वृत्त्यात्मकत्वेन प्रसिद्धमित्यर्थः. **उभयविधोपी**ति, एतन्निरूपितो भगवन्निरूपितश्चेत्यर्थः. एवं स्वप्राप्तौ युक्तिमाहुः **परम्परये**ति, जीवभगवतो**रन्तरा-स्थितं** मन उभय**सङ्घर्षा**दिव **गच्छति** लीनं भवति. एवं **मनोविलये** सति **तथा** तेनैव प्रकारेण **चित्तस्यापि विलयो** भवति. तदा क्रियाज्ञानशक्त्योरुभयोरप्यन्तरास्थितयो-

प्रकाशः

मयीत्यत्र. **प्रसादेने**ति श्रुतीनामग्निकुमाराणां च पूर्वं दत्तवरात्मकेन. **तदि**ति, "शुद्धं कामविवर्जितमि"ति श्रुतावशेषवृत्तिरहितत्वेन वृत्त्यभावेऽपि स्वरूपतः सिद्धमित्यर्थः. अनाशे हेत्वन्तरमप्याहुः **इदानीमि**त्यादि. **आत्मन एवे**ति, "प्राणानां विज्ञाने विज्ञानमादाये"तिश्रुतावात्मधर्मत्वेन कथनादित्यर्थः. **अनू**पसर्गेणेत्यर्थः. काममोक्षयोः स्वरूपमाहुः **आत्मगामी**त्यादि. तथा च कामेनात्मगामी भगवान् कामः, पूर्ववत्सर्वसम्बन्धो ब्राह्मदेहेन यदा तदा मोक्षरूप इत्यर्थः ॥३७॥

फलरूपोऽहं मुख्य इति तात्पर्यम् ॥३७॥

एतस्य निदर्शनं वदन् मोक्षप्रकारमाह **या मयेति**.

या मया क्रीडता रात्र्यां वनेऽस्मिन्व्रज आस्थिताः ।
अलब्धरासाः कल्याण्यो मापुर्मद्वीर्यचिन्तया ॥३८॥

भवत्यः समागताः, अन्तर्गृहगताः गृह एव स्थिताः. तास्तदैव सर्वप्रकारेण मां प्राप्तवत्यः, न तु भवत्यः. अनेनैव निदर्शनेन भवतीभिरप्यहं प्राप्तव्यः. तस्मान्मदर्थं जीवनस्थापनमिति पक्षो निरर्थकः, अन्यथा समागतानां भवतीनां पुनः क्लेशो न भवेत्. अनुभवसिद्धश्च क्लेशः. ननु ताः, प्रतिबन्धेन तथाभूताः, कथं स्तुत्या(त्याः?) इत्याशङ्क्याह **कल्याण्य** इति. तासां महद्भाग्यमस्तीति अवश्यप्रतिबन्धरूपं दुरितं

लेखः

विलयान्मत्प्राप्तिर्भवति. मनः कर्मप्रधानं चित्तं ज्ञानप्रधानम्. **आत्मेति**, **फलरूपोऽहं कामेनाप्यात्मगामी मुख्यः**, इन्द्रियादिगामी तु गौण इत्यर्थः ॥३७॥

एतस्येति, मुख्यगौणभावस्येत्यर्थः. सकामत्वेऽपि अन्तर्गृहगतासु सङ्घाताभावात् ममात्मगामित्वेन तदैव सङ्घातस्य पूर्वदलात्मकत्वापत्त्या तदधिकारानुसारेण पूर्णं फलं तदैव सिद्धम्. भवतीषु तु मुख्यफलदित्सया दलद्वयमनुभावयितुं तदा केवलमात्मगामित्वाभावेन मनोघर्षणान्तप्रकारैरुत्तरदलात्मकत्वं सेत्स्यति. तदा मुख्यफलमलौकिकसामर्थ्यं सर्वात्मना दत्तं भविष्यति. तासां तदैव तदधिकारानुसारेण पूर्वफलप्राप्तिर्भवतीनां विलम्ब इत्येतावद्धर्ममादाय तत्प्राप्यस्य मुख्यत्वमेतत्प्राप्यस्य गौणत्वं चोक्तम्. वस्तुतस्तु दलद्वयानुभवादेतत्प्राप्यस्यैव मुख्यत्वमिति भावः.

या मयेत्यत्र. मां प्राप्तवत्य इति, मां पूर्वदलात्मकमित्यर्थः. **न तु भवत्य** इति, पूर्णफलस्य दलद्वयानुभवस्य दित्सितत्वादिति भावः. **निदर्शनेनेति**, यथा तासां मम केवलमात्मगामित्वे पूर्वदलात्मकत्वं सिद्धं तथा भवतीनामपि मम केवलमात्मगामित्वे सङ्घाते स्वसत्ताऽस्फूर्त्या उत्तरदलात्मकत्वं सेत्स्यतीत्यर्थः. **तस्मादिति**, इन्द्रियादिगामित्वे सर्वात्मना मत्प्राप्त्यभावादित्यर्थः. **जीवनस्थापनं** सङ्घाते स्वसत्ताज्ञानं, स्थापनस्य बुद्धिपूर्वकत्वादिति भावः. **निरर्थक** इति, मुख्यफलयुक्तो न भवतीत्यर्थः. साधनरूपसेवार्थमेव देहादिभावस्य स्थाप्यत्वं शास्त्रसिद्धमिति भावः. **अन्यथेति**, देहादिभावेऽपि मुख्यफलप्राप्तावित्यर्थः. **दुरितमिति**, फलप्रतिबन्धिका भगवदिच्छेत्यर्थः. **भवतीनां त्विति**, मुख्यफलस्य दित्सितत्वात्सायुज्ये प्रतिबन्धिका

दुष्ट एवोपक्षीणमिति कण्टकेन कण्टकोद्धारवद्देहनिराकरण एवोपक्षीणम्. भवतीनां तु तद् दुरितं पश्चादिमामवस्थां प्रापितवत्. अतो मदुक्तप्रकारेण दोषं परित्यज्य तामवस्थां प्राप्य मां प्राप्स्यथेति भावः. **रात्र्यां क्रीडता मया सहालब्धरासाः,** क्रीडा स्वतःसिद्धेति निरूपणार्थं तथोक्तम्. प्रतिबन्धाभावाय **रात्र्यामिति, वन** इति साधनसम्पत्तिः. **मयैव क्रीडा** क्रियत इति न तासां प्रयासः. **अस्मिन्नेव वन** इति भगवानपि तत्रैव स्थित्वा वदतीति ज्ञापितम्. **अस्मिन्निति** व्रजसम्बन्ध्यपि. **अस्मिन्नेव व्रजे** ता **आस्थिता** इति भवतीनामपि निर्बन्धेनैवात्र स्थापनम्. **अलब्धरासा** इति तासां भाग्यमुपभोगे नोपक्षीणमिति ज्ञापितम्, अत एव पूर्णभाग्याः. ननु तासां किं

लेखः

भगवदि**च्छेमां** मुख्या**मवस्थामु**त्तरदलानुभवक्षमां प्रापितवतीत्यर्थः. **अत** इति, एतावत्पर्यन्तावस्थायाः प्राप्तत्वादित्यर्थः. **तामवस्था**मिति, यस्यामवस्थाया-महमात्मगामी भवामि तादृशीमवस्थामित्यर्थः. **रात्र्या**मित्यादि, एतादृश्यां क्रीडायां सत्यां कृपया द्वितीयदलमप्यनुभावयेत्, तादृशक्रीडाभावात्सायुज्यमेव दत्तमिति भावः. **व्रजसम्बन्ध्य**पीति, एतासां भागरूपो भगवान् व्रजसम्बन्धी न तु मथुरादिसम्बन्धी अतोऽ**प्यस्मिन्नि**तिपदमुक्तमित्यर्थः. **अत्रैव स्थापन**मिति, अत्रैव स्थानस्य तादृशफलाधिकरणत्वादित्यर्थः. **तासां भाग्य**मिति, अविलम्बेन प्राप्तिहेतुर्भगवदिच्छेत्यर्थः. भवतीनां तूपभोगेन परमकृपयोत्तरदलमनुभावयितुं तादृशं भाग्य**मुपक्षीणं** तादृशफलदाने असमर्थं कृतवानिति भावः. काल-कर्म-भगवदिच्छानामन्यतरद् 'दैव'शब्दवाच्यमित्युक्तत्वाद् दैवपर्यायौ 'दुरित-भाग्य'शब्दाविच्छापरत्वेन व्याख्याताविति ज्ञेयम् ॥३८॥

प्रकाशः

या मयेत्यत्र. **अन्यथे**ति सर्वप्रकारे समागमने. **तथोक्त**मिति, मया **क्रीडते**-ति समभिव्याहारेणोक्तमित्यर्थः. **निर्बन्धेने**ति, एतेन क्रीडास्थापनस्यापि नित्यत्वं

टीपिका

या मया क्रीडतेत्यत्र. ननु **अवश्यप्रतिबन्धरूप-दुरितमुपक्षीणमि**[सुबो.]त्युक्तं तत्केन प्रकारेणोपक्षीणमित्याकाङ्क्षायामाहुः **दुष्टे एव देहनिराकरणे एवोपक्षीणमिति** योज्यम्. प्रतिबन्धरूपदेहक्षये दृष्टान्तमाहुः **कण्टकेने**त्यादिना. **कण्टकेन** उक्त-प्रतिबन्धकप्रतिरूपकण्टकेन सायुज्यप्रतिबन्धकदेहरूपकण्टकोद्धरणवदित्यर्थः. **मदुक्तप्रकारेणे**ति, "मय्यावेश्य मनः कृत्स्नमि"त्यत्र मनसः कृत्स्नतापूर्वकस्मरण-प्रकारेणेत्यर्थः ॥३८॥

साधनमित्याकाङ्क्षायामाह **मद्वीर्यचिन्तयेति**— ता हि गमनार्थं प्रवृत्ताः भर्त्रादिभिः **प्रतिबद्धाः** तत्प्रतिबन्धाभावाय भगवत्पराक्रमं स्मृतवत्यः. ततो भगवद्धर्मा अप्यक्लिष्टा इति स एव पराक्रमः तदीयं तेभ्यो दत्वा स्वबालकमिव दोषान्निवार्य भगवन्तं गमयामास. अतो मत्पराक्रमस्यैव चिन्तोचिता न तु दोषपुरःसरं ममेति भावः.

[१](यद्वा ननु "अचिरान्मामवाप्स्यथे"त्यनेन व्रजे समागतस्य भगवतः पूर्ववन्मिलनलक्षणा प्राप्तिरुच्यत उतान्तर्गतगोपभार्याणामिव सोच्यते? आद्या चेदोमिति ब्रूमः. अन्त्या चेदनिष्टत्वान्नेदं समाधानमित्यत आह **या मयेति**. **या गोप्यो** व्रजस्थिता एव **वने स्थितं मामापुः**, आक्षेपलभ्यत्वादमङ्गलत्वाच्च तद्देहत्यागः स्पष्टतया नोक्तः. देहत्यागपूर्वकं तासां स्वप्राप्तौ हेतुभूतं विशेषणमाह **रात्र्यां क्रीडता मया सह पूर्वमलब्धरासास्ता**, यतो **व्रजस्थिता** एव सत्यो **वने स्थितं मामापुरित्यर्थः**. भवतीनां लब्धरासत्वान्न तथा भविष्यतीति भावः. अत एव **कल्याण्य** इति सम्बोधनम्. अत्रायं भावः— रासे हि पूर्णः स्वरूपानन्द एतासु स्थापितः, स च भगवत्स्वरूपात्मक इति तदनुभावेन विरहेऽपि जीवनमेव सम्पद्यते, न वैपरीत्यं भवितुं शक्नोति. यद्यप्ययं भावोऽतिकठिनोऽत एव प्रियेणा"प्यतिकृच्छ्रेण प्रायः कथञ्चने"ति पदत्रयमुक्तम्, अग्रे च "प्रत्यागमनसन्देशैरि"ति प्राणधारणे हेतुरुक्तः, तथापि सन्देशानुसन्धानमप्युक्तधर्मकार्यमेवेति ज्ञेयम्. अन्यथैतस्य सर्वतिरोधायकत्वेनातितीक्ष्णत्वेन क्षणमात्रेणैवान्यथा भवेत्. अतः सुष्ठूक्तं देहत्यागे तासामलब्धरासत्वं हेतुरिति. तथा च तासु विरहसामयिकजीवनहेतूक्तरूपधर्माभावात्तथा प्राप्तिरभूद्भवतीनां तु तद्वत्त्वाद्यथापूर्वमिव मिलनं भविष्यतीति. अत एव जन्मोत्सवेऽ"प्यात्मानं भूषयाञ्चक्रुरि"त्यत्र 'शरीर'पदं त्यक्त्वात्मपदं तद्वाचकमुक्तमविकृतत्वज्ञापनाय. अन्यथा स्वक्रीडातदलब्धरासत्वोक्तिप्रयोजनं न पश्याम इति) ॥३८॥

प्रकाशः

सूचितम्. एतस्य स्वतन्त्रलिखने टिप्पण्यां च निर्गुणदेहावरणभूत-कार्यदेहस्यानङ्गीकार इति विशेषः. सिद्धान्तस्तूभयत्रापि सुबोधिनीस्थ एव, समवायित्वस्यैव समाधायकत्वादिति न विरोधलेशोऽपि शङ्कनीयः. एवं च देहांशेऽपि चतुर्व्यूहन्यायेन पूर्वं सगुणस्य ब्राह्मेऽन्तर्भाव इदानीं च तस्मिन्नस्येति सर्वं सुस्थमिति तदीयैर्विभावनीयम्. ॥३८॥

---

१. () चिह्नान्तर्गतं श्रीप्रभूणाम्.

एवमुपदेशेन तासां दोषो निवृत्त इत्याह **एवमिति** पञ्चदशभिः. विद्यारूपास्ता इति तासां चतुर्दशवाक्यान्युपक्रमश्चापरः. तथा सति सर्वा एव भगवत्कलास्तासु सिद्धा इति निरूपितं भवति.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

एवं प्रियतमादिष्टमाकर्ण्य व्रजयोषितः ।
ता ऊचुरुद्धवं प्रीतास्तत्सन्देशागतस्मृतीः ॥३९॥

प्रतारणशङ्काभावायाह **प्रियतमेनादिष्टमिति**, आज्ञापूर्वकमुक्तम्. अमानने दण्डोऽपि सूचितः. **व्रजयोषित** इति शुद्धाः कापट्यरहिताः, **ताश्च** भगवतानुगृहीताः. उक्तार्थफलं स्वस्मिन् जातमिव ज्ञापयितुमिव उत्सवरूपम्, उत्सवे प्रियस्मरणं दृढं भवतीति. उपदेशेनैव **प्रीताः** पूर्वासूयादिक्लेशान् त्यक्तवत्यः. ननु कथं पूर्वमाक्रोशः, कथमिदानीं प्रीतिः, विरहस्य तुल्यत्वादित्याशङ्क्याह **तत्सन्देशेन** तादृशसन्देशेन. **पूर्वं** ज्ञात एवार्थः मध्ये कालादिदोषाद्विस्मृतः भावान्तरमुत्पादितवान्, स पुनरिदानीं स्मृतोऽस्मरणकार्यं च दूरे चकार ॥३९॥

टिप्पणी

एतासां त्वधुनैव बहिःसंगमोऽभिलषितः, तदभावादस्मदनभिप्रेतामप्यस्मद-

प्रकाशः

एवं प्रियतमेत्यत्र. श्लोकसङ्ख्यातात्पर्यमाहुः **तथा सति सर्वा** इति, उपदेशे सति पञ्चदशेत्यर्थः. भगवतो मानसीनत्वान्मनसः षोडशकलत्वादेकस्या अतिशिष्टायाः पोषिकाः शेषाः सिद्धा इति भावः. **दण्डो**ऽत्र वियोगबाहुल्यरूप इति प्रतिभाति. **पूर्वं ज्ञात** इति, "मया परोक्षं भजते"त्यनेन वचनेन ज्ञात इत्यर्थः ॥३९॥

टीपिका

उपदेशे सती[प्रका.]ति, "ततस्ताःकृष्णसन्देशैरि"ति उपदेशे सति पञ्चदशकला इत्यर्थः. **मानसीनत्वादिति**, "ता मन्मनस्का"इति गोपिकानां भगवतो मानसीनत्वमित्यर्थः. **षोडशकलत्वादिति**, चन्द्रस्य षोडशकलत्वं तदभेदान्मनसोऽपि तथात्वमित्यर्थः. **एकस्या अतिशिष्टाया** इति, अमायां कला चैका सदैव तिष्ठति तस्या **अतिशिष्टा** पञ्चदश **पोषिका** इति योज्यम्. **शेषा सिद्धा** इति, एवं "दिष्ट्ये"त्यारभ्य "ततस्ता" इत्यन्तं पञ्चदशश्लोकैः पञ्चदश सिद्धाः. यथा चन्द्रे एका सदैव तिष्ठति तथैवैतासां धर्मिरूपे मनसि भगवद्वशीकरणलक्षणा कला सदैव तिष्ठतीति एवं षोडश सिद्धाः.

टिप्पणी

धिकारविरुद्धामपि ज्ञात्वेश्वरभावेनाज्ञापितवान्. अनभिप्रेतमपि बलाद् ग्राहयितुमित्य-नाकर्णनीयमिदं भवति यद्यपि, तथापि प्रियतम-सम्बन्धीत्याकर्णनमावश्यकमिति तथा. एताभिः प्रियसम्बन्धित्वेनैव श्रुतत्वात्तथैव फलिष्यति, न तूपदेशत्वेनेतिज्ञापनायाग्रे **संदेश**पदम्. एतेनैव "ननु वयमिव भगवानपि पूर्वमस्मदयोगासहिष्णुरनुभूतः, अधुना तं कथं सहत" इत्याशङ्का निरस्ता. भगवदुक्तिष्वाज्ञात्वमेव प्रतीतम्, न तु प्रीतिवचनत्वम्; सा त्वीश्वरभावेनैव भवतीत्यैश्वर्यमेवाधुना स्वस्मिन् जानाति, ईशितव्यतामेवास्मासु जानातीति युक्तमनागमनम्. न चैवं भक्तिमार्गविरोध इति वाच्यम्, "स्वागतं व" इत्यादिवचनवत्पूर्वतिरोधानवदस्यापि रसविशेषानुभावकत्वात्. एवमेव प्रभावपि ज्ञेयमिति दिक्. **मतान्तरभाषेयमि**त्याचार्यवर्यैः पूर्वमिवोक्तमिति नाधिकं शङ्कनीयं समाधेयं वाऽस्त्यत्र. परन्तु "यन्मायया दुर्जयया मुह्यन्ति ज्ञानकाशये"तिवाक्याज्ज्ञानस्य मोहरूपत्वाद्धर्मिमात्रपराणामन्येन मोहासंभवात् तस्य फलत्वेन मोहकत्वासंभवान्न भगवद्भावच्युतिः कदापि भविष्यतीति सर्वं सुस्थम्. अत एव "ज्ञानिनामपि वाक्येन न भक्तं मोहयिष्यती"त्याचार्यवचनम् (स. नि. २०) अस्मत्सर्वस्वपालकमस्तीत्यतिनिश्चिन्ता वयम् ॥३९॥

ईश्वरस्य कृतौ वाचि पूर्वपक्षसमाहिती ।
ब्रह्मादीनामप्यशक्ये तथापि स्वस्य सर्वथा ॥१॥
तदीयत्ववशाद्धार्ष्ट्याद्यत्किञ्चित्कथयामि तत् ।
क्षमन्तां तातचरणास्तेनैवाशेषमुत्तमम् ॥२॥
यो बीजावापमारभ्य फलपाकावधि स्वयम् ।
पोषितस्तं व्रजतरुं नाथो नापि जिहासति ॥३॥

॥ इति श्रीमद्विठ्ठलेश्वरविरचितभ्रमरगीताध्यायटिप्पणी ॥

टीपिका

सन्देशपदमि[टिप्प.]ति, "तत्सन्देशागतस्मृतीरि"ति **सन्देश**पदमित्यर्थः. **एतेनैवे**ति, ईश्वरभावेनैव वियोगं सहन्त इत्यर्थः. **एवं प्रियतमादिष्टमित्यत्र. एतेनैवे**[टिप्प.]ति ईश्वरभावत्वेनेत्यर्थः. तथा च ईश्वरत्वात्कामादिभावसहने सामर्थ्यं सूचितम्. तदेवोक्तं "कच्चिद्गदाग्रज" इत्यत्र 'अर्चित'पदस्य सूचितार्थकथने "ऽस्माभिरि"ति आरभ्य "कामाभावः सूचित" इत्यन्तेन. ईश्वरत्वाद् भगवति विरहसहने

भगवद्वीर्यस्मरणमावश्यकमिति कृतमभिनन्द्य भाविवीर्यस्मरणार्थं कुशलं पृच्छन्ति **दिष्टये**ति.

॥ गोप्य ऊचुः ॥

दिष्ट्याहितो हतः कंसो यदूनां सानुगोऽघकृत् ।
दिष्ट्याप्तैर्लब्धसर्वार्थैः कुशल्यास्तेऽच्युतोऽधुना ॥४०॥

दोषरहितास्त एव भावाः पुरुषार्थसाधका इति सिद्धानेव कीर्तयन्ति. **दिष्ट्या** अस्मदादिभाग्येन **कंसो हतः**. अदृष्टस्य कारणत्वं मातुलवधदोषाभावाय. पूर्वं हि ताः "अक्रूर आगतः किं वे"ति वाक्ये तं दोषं गृहीतवत्यः, तस्य प्रतिप्रसवोऽत्र

प्रकाशः

दिष्टयेत्यत्र. अस्मिन् श्लोके पूर्वसिद्धोऽत्र को वा भाव इत्यतस्तं विशदयन्ति **अक्रूर** इत्यादि. **तमि**ति कंसहननात्मकं गुणम् ॥४०॥

टीपिका

सामर्थ्यं सूचितमिति भावः. **एवमेवे**ति, यथास्मान् वियोगरसानुभवं कारयति तथा प्रभुः स्वयमप्यस्मद्वियोगरसानुभवं करोतीति दिक्. कारिकायां **व्रजतरु**मिति, व्रजे तरुरिव भक्तानामुपकाराय स्थायिभावेन स्थिता व्रजभक्ता इत्यर्थः. अथवा श्रीमद्गोस्वामिचरणा अपि तथैव स्थायिभावेन स्थिताः. तदेवोक्तं नामरत्ने "प्रियवृन्दावनाचलाय नम" इति ॥३९॥

दिष्टयेत्यत्र. **भावा**[सुबो.] इति, भगवच्चरित्रात्मका **भावा दोषरहिता एव पुरुषार्थसाधकाः** न "त्वक्रूर आगतः किं वे"त्यत्रोक्ताः दोषसहिताः पुरुषार्थसाधका इत्यर्थः. **सिद्धानेव कीर्तयन्ती**ति, कंसादिहननेन सिद्धानेव कीर्तयन्तीत्यर्थः. अत्रेदं प्रतिभाति— "मापुर्मद्वीर्यचिन्तये"त्यत्र "अतो मत्पराक्रमस्यैव चिन्ता न तु दोषपुरःसरं ममे"[सुबो.]ति भाव उक्तः. तत्र श्रीपुरुषोत्तमेन श्रीगोवर्द्धनोद्धरणेन व्रजरक्षणपराक्रमोचितं व्रजे कृतं तदनुक्त्वा मधुरायां व्यूहावृतेन कृतस्य कंसहननादेः कथनस्यायमाशयः— विप्रयोगे यथा मधुपकितवेत्यादिचरित्रकथनेऽपि पुरुषार्थसिद्धिस्तथापि भगवता निषेधिता, अतश्चतुर्दशविद्यारूपत्वाद्गूढाभिमर्षेण वक्रोक्त्या कंसहननरूपं पराक्रमं वर्णयन्तीति भावः. ननु किमत्रामर्षेण वक्रोक्तिरित्याशयेनाहुः **अस्मदादिभाग्येन कंसो हत** इति. यदा तदर्थं गतस्तदास्माकं वियोगो जात इति गूढाभिमर्षेण वक्रोक्तिरिति भावः. **तमि**ति, **तं** कंसहननात्मकं गुणम्. पूर्वं हि ता "अक्रूर" इतिवाक्ये अक्रूरेण स्वस्वामी घातितो भगवता मातुलो हत इति **दोषं गृहीतवत्यः**.

निरूप्यते. यतो **अहितो** न स्वस्य नान्येषाम्, अतस्तस्यापि भाग्येन स हतः. किञ्च सुतरां **यदूनां** भक्तानाम**हितः, सानुगो** भ्रातृसहितः. **अनेन प्रसङ्गाद्** भ्रातृवधः कृत इति निराकृतम्. केवलं हितमेव न करोतीति न किन्तु **अघकृत्** पापं सम्पादयति. हितं न करोति पापं च कारयति येन तेषां परलोकनाशः स्यात्, तस्मादेतादृशो हन्तव्य एव. किञ्च **आप्तै**र्बन्धुभिः पुनर्भगवत्कृपया **लब्धोऽर्थः सर्वो**पि पुरुषार्थो यैः, यत्र कालातिक्रमोऽपि स्वतःसिद्धः. अनेन तेषामहितं दूरीकृत्य हितं च सम्पाद्य अग्रे तदनुवृत्त्यर्थमधुना **कुशली** कि**मास्ते**? केवलमयमनुवादः, यतः सो**ऽच्युतः** न तस्य काचिदन्या सम्भावनास्ति ॥४०॥

एवं माहात्म्यज्ञानं सर्वोपकारत्वं च भगवतो निरूपितम्. ततः पुरस्त्रीषु मात्सर्याभावज्ञापनार्थमाहुः **कच्चिद्गदाग्रज** इति.

कच्चिद्गदाग्रजः सौम्य करोति पुरयोषिताम् ।
प्रीतिं नः स्निग्धसव्रीड-हासोदारेक्षणार्चितः ॥४१॥

गदाग्रजत्वेन वंशजननसामर्थ्यमुक्तम्. अस्मिन् गते मथुरायां रोहिण्यां **गदो** जातः, अनेन भगवतः प्रद्युम्नरूपता निरूपिता. अत एव स्त्रीणां सर्वकामनापूरक इति **पुरयोषितां प्रीतिं कच्चित् करोती**ति प्रश्नः सङ्गच्छते. **सौम्ये**ति सम्बोधनं तथा सति दोषदृष्ट्यभावाय. ननु ता धाष्ट्र्येन कथं प्रपन्ना भविष्यन्तीत्याशङ्क्याहुः **नः स्निग्धसव्रीडहासोदारेक्षणार्चित** इति. लोकः पूजितपूजक इति प्रथमतोऽस्माभिः **स्निग्धादिभावैरर्चितः**. अनेनास्माभिः पूजित एव न तु भगवानुपभुक्त इति

टीपिका

तस्ये[सुबो.]ति कंसहननात्मकगुणस्य. **प्रतिप्रसवोऽत्रे**ति, वास्तवोऽर्थो अस्मिन् श्लोके निरूप्यते इत्यर्थः. **अहित** इति स्वस्य सर्वेषामित्यर्थः. तदेव मूले **कंस**नामनिरुक्तिः. **न स्वस्य नान्येषा**मिति, **कंस**नामनिरुक्तिस्तु स कं न कस्यापीति षष्ठ्यर्थे द्वितीया ज्ञेया. **दिष्ट्ये**त्यत्र. **पूर्वसिद्धोत्र को वा भाव**[प्रका.]इति, **दोषरहिता** इत्यादिसुबोधिन्युक्तो भाव इत्यर्थः. **कालातिक्रम**[सुबो.]इति, वृद्धा अपि यादवा दृष्ट्या भगवन्मुखपानेन युवानो जाता इति कालातिक्रम इत्यर्थः. तदेवोक्तं तत्र प्रवयसोप्यासन् युवानोऽतिबलौजसः पिबन्तोऽक्षैर्मुकुन्दस्य मुखाम्बुजसुधां मुदा''इति. एवं यादवानां कालातिक्रमो जातस्तेनापि कास्माकं फलसिद्धिरिति गूढाभिमर्षेण वक्रोक्तिर्ज्ञेया ॥४०॥

कच्चिद्गदाग्रज इत्यत्र. **लोकः पूजितपूजक**[सुबो.]इति, सर्वोऽपि लोकः पूजितस्यैव पूजां करोतीत्यर्थः. **अग्रिम**[प्रका.] इति अग्रिमश्लोक इत्यर्थः. ननु कामाभावे

कामाभावः सूचितः. अनेन साभ्यासोऽपि निरूपितः. कुत्सितेऽपि रसे कदाचित्पुरुषः प्रवर्तत इति भगवतोऽप्यस्मासु प्रवृत्तिः. इतः उत्तमाः पुरस्त्रियः तत्रापि न स्वतः प्रवृत्तिः किन्तु तदिच्छयेति ज्ञापयितुं तासां प्रीतिं करोतीति प्रश्नः, ब्रह्मानन्दरूपस्य स्त्र्यानन्दोऽत्यधम इति निवृत्तिरपि सम्भवत्याग्रहे सति प्रवृत्तिरपि सम्भवतीति. आदौ धाष्टर्यसिद्ध्यर्थं **स्निग्धा** भगवती दृष्टिः, तत **उदारा** भगवद्धर्मप्राप्तिसूचिका, भगवतोऽपि सौख्यदायिनी शब्दव्यवहितापि सर्वेषां सर्वपुरुषार्थदायिनी च. मध्ये **हासः** स्वपुरुषार्थसूचकः. तस्यापि प्रथमप्रवृत्तौ पश्चात् कृतार्थतेति ज्ञापयितुं **व्रीडाप्युक्ता.** एवंविधै**रीक्षणैरर्चितः**— प्रथमतः स्नेहेन परिग्रहः, ततः भगवति

लेखः

कच्चिद्गदाग्रज इति श्लोके **स्निग्धसव्रीडे**त्यत्र **भगवद्धर्मे**ति, औदार्यस्य भगवद्धर्मत्वादिति भावः. **मध्ये** इति, स्नेहौदार्ययोर्मध्ये इत्यर्थः. **स्वे**ति, स्वस्य पुरुषार्थस्तृतीयस्तत्सूचक इत्यर्थः. तदभावे विहितस्नेहः स्यादिति भावः. **तस्यापी**ति, हासस्यापि **प्रथमप्रवृत्तौ व्रीडाप्युक्ते**त्यन्वयः. तत्र हेतुः **पश्चा**दिति, पूर्णरसानुभवस्तु पश्चाद्भविष्यतीति ज्ञापयितुमित्यर्थः. तदा कृतार्थतायां सत्यां रसातिमादादुद्दामो हासो भविष्यति, प्रथमप्रवृत्तौ तु हासः सव्रीड एव भवति. अत एव ''एवं परिष्वङ्गे''ति श्लोके तादृश एव हास उक्त इतिभावः. **व्रीडापी**त्यपिशब्दात्स्नेहः. **प्रथमत** इति, स्नेहेन दृष्टिर्भगवन्तं परिगृह्णातीत्यर्थः ॥४१॥

प्रकाशः

अग्रिमे **कामाभाव** इति, भगवतीति शेषः. **साभ्यास** इति, भगवानिति शेषः. कामाभावे हेतुमाहुः **कुत्सिते**त्यादि. **इदं न** इति पदस्य तात्पर्यम्. अस्मिन् श्लोके ''मधुप कितवे''त्यस्य प्रतिप्रसवः ॥४१॥

टीपिका

कथं प्रवृत्तिरित्याशङ्क्याहुः **कुत्सितेपी**[सुबो]त्यादिना. **कदाचित्पुरुषः प्रवर्तत** इति, कामाभावेऽपि पुरुषमात्रस्य प्रवृत्तिर्दर्शिता, एवं यथास्मास्वधुना कामाभावस्तथा पूर्वमपीति. **इत उत्तमा** इति, अस्मत्सकाशादप्युत्तमाः पुरस्त्रिय इति गूढाभिमर्षेण वक्रोक्तिर्ज्ञेया. सा च **अस्मिन् श्लोके ''मधुप कितवे''त्यस्य प्रतिप्रसव**[प्रका]इत्युक्त्या. तत्र **प्रतिप्रसव** इति, यथा ''मा स्पृशाङ्घ्रिमि''ति स्वचरणस्पर्शनिषेधोक्तिः, ''तन्मानिनीनां प्रसादं वहत्वि''ति तत्प्रशंसोक्तिर्वक्रोक्तिस्तथात्रापि प्रतिप्रसव इति स एवार्थः ॥४१॥

प्रसन्ने प्रथमप्रवृत्त्या व्रीडा, ततो निर्भरेणानन्देन ह्रासः, ततः सर्वामेव कलां प्रयच्छतीति उदारा भवति ॥४१॥

ननु निर्लेपो भगवान् किमित्येवं करिष्यतीति आशङ्क्याभिप्रायमाहुः **कथमिति.**

कथं रतिविशेषज्ञः प्रियश्च वरयोषिताम् ।
नानुबध्येत तद्वाक्यैर्विभ्रमैश्चानुभावितः ॥४२॥

स हि **सर्वरतिविशेषान् जानाति.** नागरको **बन्धो** नागरीष्वेव भवति, अन्यथेदं ज्ञानं व्यर्थं स्यात्. कदाचिदेतदवश्यं प्रकटनीयं, स्वकीयासु तु न **भवत्येव.** किञ्च उत्तमस्त्रीणां स **प्रियः** प्रीतिविषयः, अन्यथोत्तमत्वमेव न स्यात्. अतस्तासां जन्मसाफल्याय स्वस्य ज्ञानसाफल्याय च कथं तद्रसाभिनिविष्टो न भवेदित्याहुः **नानुबध्येतेति.** अनुबन्धो नाम निरन्तरं वर्द्धमाना प्रीतिः, यथा रेतोमात्रेण न प्रीतिर्नाप्युत्पन्नेनाप्यल्पवृद्धेनापि जातमात्र अङ्कुरे. यथा सर्वगुणसम्पन्ने पुत्रे भवति, अयमनुबन्धः. अतः **कथं** निरन्तरं वर्द्धमानया प्रीत्या **नानुबध्येत** ! ननु तथापि पोषकाभावात् मूर्खे पुत्र इव नानुबन्धः स्यात्, तत्राह **तद्वाक्यैरिति**— तासां वाक्यानि **विभ्रमाश्च**, मनोऽनुरञ्जनं **च**कारार्थः. एवं कायवाङ्मनसामुत्तमधर्मैर**नुभावितः** अनुभवपर्यन्तं नीतः, भावकद्रव्यैरेव वा भावितः, अनुभवयुक्तो वा कारितः. अभिनिविष्टो हि रसः स्वानुभावं जनयति, वाक्यादीनि चोद्दीपकानि. अतो भगवान्

लेखः

कथं रतिविशेषज्ञ इत्यत्र. आभासोक्तं वाक्यार्थं विशदयन्ति **जन्मेति,** तासां जन्मसाफल्ये स्वस्य ज्ञानसाफल्ये च भगवदभिप्राय इत्यर्थः. **भावकद्रव्यैरिति** पुष्पादिभिरित्यर्थः. **वाक्यादीनि चेति,** रसस्यानुभाव एव तादृशो यदनुबध्येतैव, उद्दीपकानि च सन्तीति चकारः. **अत इति,** शक्तिषु विभक्तं वीर्यं सामर्थ्यं यस्य.

प्रकाशः

कथमित्यत्र अन्यथेत्यादि, एतेन निर्लेपत्वे तत्करणप्रयोजनमुक्तम्. **प्रकारद्वयेनेति,** रतिविशेषज्ञत्वेन पुरयोषित्प्रियत्वेन चेत्यर्थः ॥४२॥

टीपिका

कथमित्यत्र. नागरको बन्ध[सुबो] इति. "उत्तानितायाः स्मरमन्दिरोपरि स्थितस्तदूरूद्वितयं गृहीत्वा संस्थाप्य बाह्यं कटितो रमेत कान्तस्तदा स्यात्किल नागराख्यः". **न भवत्येवेति, स्वकीयासु** रसाभावात् नागरको **बन्धो** न भवत्येवेत्यर्थः ॥४२॥

प्रकारद्वयेनापि विभक्तवीर्य आविर्भूतः सम्यग्भावित इति गोपिकानां दोषाभावपूर्विका सर्वगुणसिद्धिर्निरूपिता ॥४२॥

भगवानिदानीमुपदेशेन गुरुर्जातः, अस्माभिस्तु पूर्ववासनया पूर्वावस्थोऽवश्यं स्मर्तव्यः. तथा सति भगवता चेत्स भावः त्यज्यते तदा अस्माकमपराधो भवतीति भगवतः तस्या अवस्थायाः स्मरणं पृच्छन्ति **अपि स्मरतीति**.

अपि स्मरति नः साधो गोविन्दः प्रस्तुते क्वचित् ।
गोष्ठीमध्ये पुरस्त्रीणां ग्राम्याः स्वैरकथान्तरे ॥४३॥

संभावनया प्रश्नः. ननु स्मरणाभावे कथम् उपदेशार्थं प्रेषणमिति चेत्तत्राहुः **पुरस्त्रीणां गोष्ठीमध्य** इति, न तु शास्त्रार्थज्ञानभावनादशायाम्. नन्वेवमुपदेष्टा स्मरिष्यतीति का संभावना, तत्राह **गोविन्द** इति— स ह्यस्माकमिन्द्रः, इन्द्रत्वायैव चास्मदुपयोगं कृतवान्. किञ्च अनुभूतत्वात्तादृशपदार्थानुभवे सदृशादयः संस्कारबोधका इति कदाचित्स्मरणं भवेत्तदाहुः **प्रस्तुते क्वचिदिति**. तदा हि भगवान् स्वाभिलषितावस्थः सत्यसङ्कल्पश्च, ततस्तामप्यवस्थां सम्पादयेत्. किञ्च व्यावर्तकत्वेनास्मत्स्मरणमावश्यकमित्याहुः **ग्राम्या** इति, कथमेवमन्यथाबन्धं करोषि गोपिकेवेति, **स्वैरकथायाः** स्वेच्छाकथायाः **अन्तरे** मध्ये. नन्वेतदहं कथं जाने तत्राहुः **साधो** इति, सर्वोपकारी च भगवान्, अतो गुह्यमपि वक्तव्यमिति भावः ॥४३॥

लेखः

अत एव विभज्यैव शक्तिं कृष्णो भगवानवतीर्ण इति पूर्वमुक्तम्. तत्तद्रागरूप इति यावत्, तादृशः सन्नाविर्भूतो भगवान् रसानुभावेनादृष्टप्रकारेण वाक्यैरुद्दीपकैर्दृष्टप्रकारेण, एवं प्रकारद्वयेनापि **सम्यग् भावित** इत्यर्थः. **निरूपितेति** श्लोकत्रयेणेति शेषः. आद्येन दोषाभावो द्वाभ्यां गुण इति विभागः ॥४२॥

अग्रिमश्लोकाभासं प्रस्तावयन्ति **भगवानिदानीमिति**. **अपि स्मरतीत्यत्र शास्त्रार्थेति**, एतासां शास्त्रार्थज्ञानं केन प्रकारेण भवेदिति विचारदशायामित्यर्थः. **साधो इतीति**, साधुत्वेन विकारराहित्यादन्तरङ्गस्त्वम् अतो जानीयादित्यर्थः ॥४३॥

प्रकाशः

अपि स्मरतीत्यत्र इन्द्रत्वायैवेति, एतेन कामाभावः पुष्टीकृतः ॥४३॥

टीपिका

अपि स्मरतीत्यत्र. इन्द्रत्वायैवेति. ननु यदि भगवति कामाभावस्तदा युष्मदिन्द्रः कथं जात इत्याशङ्कायां यथा गवादीनामिन्द्रस्तथास्मदीयोऽपीन्द्रो, न तु कामदानार्थमिति वक्रोक्तिः. तदुक्तं **एतेन कामाभावः पुष्टीकृत**[प्रका.] इति ॥४३॥

विशेषतो लीलामपि पूर्ववत् स्मरतीति पृच्छन्ति **ताः किं निशाः स्मरती**ति.

ताः किं निशाः स्मरति यासु तदा प्रियाभि-
वृन्दावने कुमुदकुन्दशशाङ्करम्ये ।
रेमे क्वणच्चरणनूपुररासगोष्ठ्या-
मस्माभिरीडितमनोज्ञकथः कदाचित् ॥४४॥

तादृशधर्मविशिष्टाश्चेद् वयं स्मृताः तदा भगवत्परितोषणे गुरुदक्षिणायामपि **न** किञ्चिद्देयं स्यात्. **ताः** पूर्वा वरदत्ता "मयेमा रंस्यथ क्षपा"इति, स्वदत्तान् हि स्मरति सर्वोऽपि. किं कालस्मरणेनेत्याशङ्क्य तद्गतं विशेषमाहुः **यास्वि**ति. **यासु तदा रेमे** न तु साम्प्रतम्. कालदेशयोर्विद्यमानत्वेऽपि **रमणाभावात्** पुनः पुनः स्मरणम्. **तदा** वा वयं **प्रियाः** अधुना तु शिष्याः. **वृन्दावन** इति स्वच्छन्दलीलास्थानमुक्तं, नैवं लीला नगरेषु संभवति. **कुमुदैः कुन्दैः शशाङ्केन** च **रम्ये,** क्वचिद्दोषोऽप्यन्यत्र गुणः. यद्यपि शशाङ्कस्तथापि कामे उद्बोधकः, कुमुदमपि रात्रिविकासि, चन्द्रः ससामग्रीकः तत्र रतिवर्द्धनोऽस्तीति ज्ञापयितुमेवं प्रक्रिया निरूपिता. **कुन्दाः** सर्वकालीनपुष्पाणि रात्रिविशेषपुष्पाणि साधारणानि. तेषां विकासहेतुश्च यत्र रतिवर्द्धनः तत्रापि रसोत्पत्त्यर्थं **क्वणच्चरणनूपुराणां** स्त्रीणां यो **रासः** तत्सभाया**मस्माभिः** सर्वाभि**रेवेडिता मनोज्ञा कथा** यस्य. **कदाचिदि**ति तस्या अवस्थाया दुर्लभत्वं,

लेखः

ताः किमित्यत्र. पूर्वश्लोकार्थमनुवदन्ति **तादृशे**ति, व्यावर्तकधर्मविशिष्टा इत्यर्थः. **न... देयं स्यादि**ति, "किमेवमन्यथा करोषि गोपिकेवे"त्युक्ते तस्याः परितोषो जातस्तेन भगवत्परितोषस्तथा चास्मद्धर्मकथनेन तथा जातमिति भगवत्परितोष एवास्माकं गुरुदक्षिणात्वेन सम्पन्न इत्यन्यत्किंचिन्न देयं स्यादित्यर्थः.

प्रकाशः

ताः किमित्यत्र. तन्निरुन्ध्यादित्युपदेशविरुद्धत्वादिदं वाक्यं भगवदाज्ञा-भङ्गमुपदेशस्यासमर्थत्वं च सम्पादयतीत्यतो भगवदाशयमाहुः **दोषे**त्यादि ॥४४॥

टीपिका

ताः किमित्यत्र. गोपिकेवेत्युक्ते[लेख] इति, अहो वयं गोपिकातुल्या उक्ता **इति** हेतोः **तस्या** इति, तदा **तस्याः** पुरस्त्रियाः **परितोषो** जातः. **इदं वाक्यमि**[प्रका]ति, साधनरहिता अपि कृतार्था भविष्याम इति अस्मिन् श्लोके सुबोधिन्युक्तवाक्यमित्यर्थः ॥४४॥

यदीदानीमपि भवेत् मनोज्ञकथया ईडितो भवेत्. ततो लौकिकमपि कुर्यात्. **अस्माभिरिति** प्रमाणमुक्तम्. क्वणन्ति चरणेषु नूपुराणीति भगवदालम्बनादिभावः सूचितः— यतोऽस्माननर्तयत् ततो नृत्यगीतादिना समाराधितो भगवान्. तच्चेत्स्मरिष्यति तदा साधनरहिता अपि कृतार्था भविष्यामः. दोषनिवृत्तावेव तात्पर्यमिति भगवतोऽपि मनोनिग्रहो नाभिप्रेतः ॥४४॥

उपदेशेन वयं तथा भविष्याम एव तथापि पूर्ववत् पुनः किं कृपां करिष्यतीत्यभिप्रायेणाहु**रप्येष्यती**ति.

अप्येष्यतीह दाशार्हस्तप्ताः स्वकृतया शुचा ।
सञ्जीवयन् तु नो गात्रैर्यथेन्द्रो वनमम्बुदैः ॥४५॥

अन्यथा "नो चेद्वयम्"इति वाक्यं श्रुत्वा किमिति भोगमङ्गीकृतवान्? तस्मादुत्कटं कामं दूरीकृत्य कोमले जाते पश्चादुपदेशफलं भविष्यतीति पुनः पूर्ववदाकाङ्क्षा. तत्र गमने तु सुखं न भविष्यतीति ज्ञातं, स्वच्छन्दाभावात्. नन्वीश्वरः कथमायास्यतीति चेत्तत्राहुः **दाशार्ह** इति— दाशानामर्हः योग्यः, यो हि दयालुः सुतरां परदुःखाभिनिविष्टः. एवं तापहारकभगवद्धर्मान् निरूप्य स्वतापमाहुः **तप्ता** इति. आध्यात्मिकादितापव्यावृत्त्यर्थं ज्ञानोपदेश एव क्रियत इति चेत्तत्राहुः **स्वकृतया शुचा** इति— अयं शोको भगवतैव सम्पादितः स्वनिर्गमनात्, शुचा च द्रवमाणा जाता इति साम्प्रतं शूद्रा एव कथमुपदेशयोग्या इति भावः. तस्माच्छोके गत

लेखः

अग्रे **लौकिकमपी**ति, लोकसिद्धं बाह्यरमणमित्यर्थः ॥४४॥

अप्येष्यतीत्यत्र अन्यथेति, उपदेशमात्रे तात्पर्ये सतीत्यर्थः. **सकाममरणे**त्विति,

---

टीपिका

अप्येष्यतीत्यस्याभासे. **तथा भविष्याम**[सुबो.] इति, अन्तर्निष्ठा भविष्याम एवेत्यर्थः. **भोगमिति**, अस्मदर्थे भोगं किमर्थमङ्गीकृतवानित्यर्थः. ननु यूयमेवात्रागच्छन्त्वित्याशङ्क्याहुः **तत्रे**त्यादिना. नन्वेतासां कथं शूद्रत्वमिति शङ्कायामाहुः **शुचा चे**त्यादिना. **द्रवमाणा** इति, शोकेन परिप्लुता जाता इत्यर्थः. अत एव साम्प्रतं शूद्रा एव. अत्र शूद्रत्वं यौगिकं नतु जातिशूद्रत्वम्. शुचा शोकेन द्रवन्तीति शूद्रा इति निरुक्त्या शूद्रत्वं ज्ञेयम्. तदुक्तं व्याससूत्रे "शुगस्य तदनादरश्रवणात्तदाद्रवणात् सूच्यते ही"ति (१/३/३४). तदर्थस्तु अणुभाष्ये प्रथमाध्याये ज्ञेयः ॥४५॥

एवाधिकारः. किञ्च जीवने हि जाते पश्चात्सर्वमेवैतत्, सकाममरणे तु न मुक्तिः, अत इदानीं जीवनं यथा भवति तथा **गात्रैः** मुखारविन्दादिभिः **नोऽस्मान् सञ्जीवयन्** किमायास्यति । **तु**शब्दो[१] ज्ञानपक्षं वारयति. ननु विशेषतो भगवत एवंकरणे को हेतुरिति चेत्तत्राह **यथेन्द्र** इति. साधारणमेव **वनं** खाण्डववनं वा, न हि पर्जन्यादन्यः दावानलं शामयति. गृहदाहादयस्तु जलान्तरेणापि शाम्यन्ति. तस्मात् क्लिष्टानां तापनाशश्चेदादौ भवेत् पश्चाद् ज्ञानं प्रवर्ततामिति समग्रो मनोरथः ॥४५॥

संभावनयैतदुक्त्वा युक्त्या निषेधमाहुः **कस्मादिति**.

कस्मात्कृष्ण इहायाति प्राप्तराज्यो हताहितः ।
नरेन्द्रकन्या उद्वाह्य प्रीतः सर्वसुहृद्वृतः ॥४६॥

कस्मात्कृष्ण इहायास्यतीत्यर्थः. वर्तमानप्रयोगेणैतद् ज्ञापयन्ति— यद्यागच्छेद् इदानीमेवागच्छेद्, द्वयमपि कृत्वा गच्छेत्, विलम्बे प्रयोजनाभावात्. ननु साम्प्रतं नागर्यः स्त्रियो भक्ता इति तासां समाधानानन्तरमायास्यतीति चेत् तत्राहुः **प्राप्तराज्य** इति, उत्तरोत्तरमागमने प्रतिबन्धा एव भविष्यन्तीति. आदौ राज्यमेव, ततो मारणीयाः शत्रवः, ततो दिग्विजये **नरेन्द्रकन्यानामुद्वाहः**, ततस्तासु **प्रीतिः**, ततः **सर्वसुहृद्वृतः** पुत्रपौत्रादिभिः परिवृतः, ततः सर्वानुरोधयुक्तः कथमायास्यतीति भावः ॥४६॥

ननु यथा ते अनुरोध्याः तथा यूयमपीति ततः समायास्यतीति चेत्तत्राहुः **किमस्माभिरिति**.

किमस्माभिर्वनौकोभिरन्याभिर्वा महात्मनः ।
श्रीपतेराप्तकामस्य क्रियेतार्थः कृतात्मनः ॥४७॥

अस्मत्तापो वा आगमने हेतुः भगवदपेक्षा वा. आद्ये इदानीमेवागच्छेत्. नन्विदानीं महत्कार्यमस्तीति चेत्तत्राहुः **अन्याभिर्वे**ति. स्वोपकारात्कार्यावश्यकत्वं

लेखः

कामनायाः प्रबलत्वात्तस्यां सत्यामुत्तरदलात्मकत्वं न भवेदित्यर्थः. **नुशब्द** इति, **नु**शब्दस्य निश्चयवाचकत्वात्पक्षान्तरवारणमित्यर्थः ॥४५॥

कस्मादित्यत्र द्वयमपीति, कामशान्तिमुपदेशं चेत्यर्थः ॥४६॥

टीपिका

किमस्माभिरित्यत्र. महत्कार्यमि[सुबो]ति नागरीणां समाधानमित्यर्थः ॥४७॥

---

१. नु इति लेखपाठः.

नत्वन्योपकारात्, तथा सति वयमेवावश्यकाः. स्वार्थे तु **किमस्माभिरन्याभिर्वा.** स्वस्य **सर्वथा** अप्रयोजकत्वमाहुः **वनौकोभिरि**ति, वनचर्यो वयम्. अनेन वानरतुल्यत्वात् सर्वधर्मबहिष्कारः सूचितः. अस्तु वा धर्मवत्त्वं तथापि भगवतो न कोऽप्युपकार इत्याह **अन्याभिर्वे**ति. **वे**त्यनादरे. सर्वत्र हेतु**र्महात्मन** इति— स हि **महा**नेव, न हि महतोऽन्यापेक्षा. तत्रा**प्यात्मनः** स हि सर्वान् स्वत एव व्याप्नोति. महानुभावस्य वा. इत्यलौकिक उपाय उक्तः, लौकिकमाह **श्रीपतेरि**ति— स हि लक्ष्मीपतिः, सर्वापेक्षापूरिका हि सा सेवकानामपि, किमुत स्वामिनः! किञ्च **आप्तकामस्ये**ति— आप्ताः स्वत एव कामा येन; अन्येषामपि कामानां फलदाता स्वयं कथं पूर्णकामो न भवेत्! अतोऽस्मदादिभिः को वा **अर्थः क्रियेत** । किञ्च **कृतात्मन** इति— कृताः स्वार्थमात्मानो येन, सर्वे हि क्रीडार्थमेव तेन जनिताः. वशीकृतचित्ता इति एके ॥४७॥

तर्ह्येवं सति किं कर्तव्यमित्याशङ्क्य कञ्चिदुपायं परिकल्प्य दूषयन्ति **परं सौख्यमि**ति.

परं सौख्यं हि नैराश्यं स्वैरिण्यप्याह पिङ्गला ।
तज्जानतीनां नः कृष्णे तथाप्याशा दुरत्यया ॥४८॥

आशा हि सर्वेषां दुःखहेतुः, सा त्यक्तव्येति साधनं, "प्रजापत आशया वै श्राम्यसी"ति श्रुतेः. अतो **नैराश्यमे**व श्रुत्यनुभवसिद्धं साधनम्. तस्य फलाव्यभिचारमाह **परं सौख्यमि**ति, स्वभावतोऽपि परमसुखरूपम्. (**हि**!) युक्तश्चायमर्थः, "औपस्थ्यजैव्ह्यकार्पण्यात् गृहपालायते नरः"इति. किञ्च या हि स्वैरिणी सा मनोविक्षेपसहिता, अन्यथैकत्र प्रतिष्ठिता स्यात्, सापि नैराश्यमङ्गीकृतवतीत्याह **स्वैरिणी**ति. "यथा सञ्छिद्य कान्ताशामि"त्यग्रे वक्ष्यति.

लेखः

किमस्माभिरित्यत्र. **तथा सतीति,** अन्योपकारेण कार्यावश्यकत्वे सति वयमेवावश्यकाः, अतितप्तत्वादिति भावः. **सर्वधर्मबहिष्कार** इति रसशास्त्रसिद्धधर्मबहिष्कार इत्यर्थः. अवस्थाविशेषकृत-दैन्याविर्भावादेवमुक्तमिति ज्ञेयम् ॥४७॥

प्रकाशः

परं सौख्यमित्यत्र. **"प्रजापत आशया वा"**इत्युपाख्यानं यजुर्ब्राह्मण-तृतीयाष्टक-द्वादशप्रपाठक-द्वितीयानुवाकेऽस्ति. तत्र **श्राम्यसी**ति कथनात्तस्याः दुःखहेतुत्वं स्पष्टम्. नन्वार्षज्ञानेन श्रौतसाधनस्यापि स्फुरणावश्यंभावात्तदेव

अनेन आशाया अन्तो नास्तीत्यपि सूचितम्. **पिङ्गला** नाम वेश्या. इयमपि कथा नारदादिभिः श्रुतार्षज्ञानेन वा ज्ञायते. **तज्जानतीनामपि** प्रकारतः फलतः उपपत्तितश्च **नोऽस्माकं** सर्वासामेव. तर्हि कथं न स पक्ष आद्रियत इति चेत्तत्राहुः **कृष्णे तथाप्याशा दुरत्ययेति**. पिङ्गला हि कृष्णाशया इतराशां त्यक्तवती, सर्वस्मात् कृष्णोऽधिक इति; वयं किमाशया कृष्णाशां त्यक्ष्यामः, उत्कर्षः कृष्ण एव पर्यवसित इति. अवैदिकत्वाद् एतासाम् आशापूर्त्युपायापरिज्ञानम्. कृष्णाशा ततोऽपि सिद्धा भवेत् न वेति सन्देहश्च. "तमाशाब्रवीदि"त्यत्र तथा निर्णीतम् ॥४८॥

लेखः

परं सौख्यमित्यत्र. अवैदिकत्वादिति, स्वतन्त्रभक्तिमार्गीयत्वादाशापूर्त्युपायस्य आशानुमति-दैवत्यचरुनिर्वापस्याज्ञानमित्यर्थः. तथाप्यासां श्रुतिरूपत्वात्तदज्ञानं न सम्भवतीति हेत्वन्तरमपि समुच्चिन्वन्ति **कृष्णाशेति**. अतोऽप्युपायाकरणमित्यर्थः ॥४८॥

प्रकाशः

कर्तव्यमाशायाः सत्यत्वायेत्याशङ्कायामाहुः **अवैदिकत्वादिति**, स्वकृतसाधनस्य तथात्वात्तथेत्यर्थः. नन्वार्षज्ञाने अपरिज्ञानं न सङ्गच्छत इत्यत आहुः **तमाशेत्यादि**. तथा च "यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोती"ति श्रुतेर्वेदवेत्तुस्तस्याप्यपरिज्ञानस्य श्रुत्यैवोक्तत्वादत्राप्यपरिज्ञानं भगवदिच्छया सङ्गच्छत एवेत्यर्थः ॥४८॥

टीपिका

परं सौख्यमित्यत्र. तज्जानतीनामि[सुबो]ति **प्रकारतः फलतः उपपत्तितश्च जानतीनामिति** योज्यम्. तत्र आशा हि सर्वेषां दुःखहेतुरिति **प्रकारतो जानतीनाम्**, आशाभावे "यथा सञ्छिद्य कान्ताशां सुखं सुष्वापे"ति **फलं जानतीनाम्**,आशाया अन्तो नास्तीत्यु**पपत्तितश्च जानतीना**मित्यर्थः. **परं सौख्यमित्यत्र अवैदिकत्वादि**[सुबो]त्यस्याभासे **तदेव कर्तव्यमाशायाः सत्यत्वाये**[प्रका]ति, कृष्णाशायाः सत्यत्वाय वैदिकं साधनं कर्तव्यमित्यर्थः. **स्वकृतसाधनस्य तथात्वादिति**, गोपिकात्वात्स्वकृतसाधनस्य अधिकाराभावादित्यर्थः. **तथेति**, कृष्णाशा सत्या भवेद्वा न भवेदिति सन्देह इत्यर्थः. तदेवोक्तम् **अवैदिकत्वादि**[सुबो]त्यादिना. ननु गोपिकात्वेऽपि श्रुतित्वात्कथमधिकाराभाव इत्याशङ्क्याहुः **कृष्णाशा** इत्यादिना. तथा च "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्य"इति श्रुत्या "नाहं वेदैरि"ति भगवद्वाक्याच्च

नन्वाशापरित्यागे पदार्थविस्मरणं हेतुरस्ति, तस्मिन् कृते आशा निवर्तत इति चेत्तत्राहुः **क उत्सहेतेति.**

क उत्सहेत सन्त्यक्तुमुत्तमश्लोकसम्विदम् ।
अनिच्छतोऽपि यस्य श्रीरङ्गान्न च्यवते क्वचित् ॥४९॥

उत्तमश्लोकस्य भगवतः **सम्विदं** स्मरणात्मकं **सन्त्यक्तुं कः उत्सहेत ।** **संविच्छब्देन** सम्बन्धो ज्ञानं चोच्यते. उत्तमैः श्लोक्यत एव, न तु सम्बन्धमभिप्राप्नुवन्ति. सर्वैरेव श्लोक्यत इति सुलभं भगवत्स्मरणम्. अविगीतत्वाद् बाधरहितम्. विस्मर्तव्यः सम्बन्धो वा दूरीकर्तव्य इति को वा उत्साहमपि कुर्याद्, अशक्यत्वादत्यन्तमीप्सितत्वाच्च. ज्ञानपक्षेऽशक्यत्वं **उत्तमश्लोक**पदेनैव साधयित्वा सम्बन्धत्यागेच्छाभावं विद्यमानेऽपि हेतौ न जायत इत्युपपादय**न्त्यनिच्छतोपी**ति. इच्छामात्राभावे कामाभावः सुतरां सिद्धः, तादृशे हि स्त्रियो विरक्ता भवन्ति, तत्रापि स्वतः प्रौढास्तत्रापि पित्रादिगृहे लब्धप्रतिष्ठाः. स्थिता अपि औदासीन्येन तिष्ठन्ति धर्मपरिपालिका इव. भगवा**ननिच्छन्** भवति, तादृशस्या**प्यङ्गा**द्वक्षःस्थला**च्छ्री**रर्थार्थिभिः सर्वदा सेव्यमानापि कदापि **न च्यवते** च्युता न भवति ॥४९॥

स्मरणत्यागाशक्यतामुपपादयन्ति **सरिच्छैले**ति त्रिभिः.

सरिच्छैलवनोद्देशा गावो वेणुरवा इमे ।
सङ्कर्षणसहायेन कृष्णेनाचरिताः प्रभो ॥५०॥

स्मारका हि बहवः येष्ववश्यं प्रवृत्तिः. सर्वपरित्यागेऽपि जलार्थमवश्यं

टीपिका

पुरुषोत्तमप्राप्तौ सन्देहः. एवं सति "यमेवैष वृणुते"इति "भक्त्या त्वनन्यया शक्य"इति वाक्यादस्मदनन्यभक्त्या स्वयमेव प्राप्तो भविष्यतीति मूले **कृष्णे तथाप्याशा दुरत्यये**त्युक्तम्. ननु तथापि श्रुतीनां कथमज्ञानमित्याशङ्क्याहुः **तथा चे**[प्रका.]त्यादिना ॥४८॥

क उत्सहेत संत्यक्तुमित्यत्र. पित्रादिगृहे[सुबो.]इति, यदि **पित्रादिगृहे लब्धप्रतिष्ठाः स्थिता अपि औदासीन्येन तिष्ठन्ती**ति पतिगृहे इति शेषः —इति लोकप्रसिद्धोऽर्थ उक्तः प्रतिभाति. ननु कामाभावेऽपि कथमौदासीन्येन स्थितिरित्याशङ्कायां दृष्टान्तमाहुः **धर्मपरिपालिका इवे**ति. यथा **धर्मपरिपालिकाः** पतिव्रता कामाभावेऽपि पतिगृहे तिष्ठन्ति तथा पूर्वोक्ताः साधारणा अपि तिष्ठन्तीत्यर्थः ॥४९॥

गन्तव्यम्. बहिर्निर्गतः उच्चैः स्थितं पश्येदेव, अतो **यमुनागोवर्द्धन**-दर्शनमावश्यकम्. विहारार्थमवश्यं **वनोद्देशाश्च** द्रष्टव्याः. एते त्रयः सत्त्वादिभेदाः. गृहेऽप्यवश्यं द्रष्टव्या **गावः**. निमीलिताक्षाणामपि **इमे वेणुरवाः** स्मारकाः, ये इदानीमप्यनुभूयन्ते. अतः स्मारकाः सर्वत्र. किञ्च भगवत आचरितान्यपि भगवत्स्मारकाणीत्याह **सङ्कर्षणे**ति. बहिर्वृत्तिनिरोधे पूर्वोक्ता न स्मारकाः, भगवच्चरितानि तु चौर्यादीनि दैत्यादिमारणेन पालनरूपाणि स्वच्छन्दरमणरूपाणि च **आचरिता** इत्युच्यन्ते. सङ्कर्षणसहायत्वं लीलादौ निर्भयत्वाय. तत्रापि **कृष्णेन** सदानन्देन अस्मदर्थमेवाविर्भूतेन स्मारणार्थमेव तादृशकर्त्रा. **प्रभो** इति सम्बोधनं तादृशार्थविस्मरणे कदाचित्तव सामर्थ्यं भवेत् नत्वस्माकमिति ज्ञापितम्. अनेन स्वदृष्टान्तेन भवतीभिरपि सुखेन स्थातव्यमिति पक्षो निवारितः. अत एव त्वं स्वस्थो वर्तसे, न वयम् ॥५०॥

एवं स्मारकान्निरूप्य तैः क्रियमाणस्मरणस्य बलिष्ठतामाहुः **पुनः पुनः स्मारयन्ती**ति.

पुनः पुनः स्मारयन्ति नन्दगोपसुतं बत ।
श्रीनिकेतैस्तत्पदकैर्विस्मर्तुं नैव शक्नुमः ॥५१॥

स्मरणेन पीडया मूर्च्छायां जातायां विस्मरणमाशंसमानानां सर्ववृत्तिनिरोधे स्मारयिष्यन्तीति भयात्स्मृता एव भवन्त्यतः **पुनः पुनः स्मारयन्ति**. किञ्च पीडायां समर्थाश्रयणं कर्तव्यमिति विचारेऽपि नन्दश्चेत् स्मृतः तदा **नन्दगोपसुत** इति स्मृत एव भवति भगवान्. किञ्च लक्ष्मीस्थानरूपाण्यतिसुन्दराणि सर्वत्रोद्गतानि पदान्यच्युतत्वान्नित्यान्याधारे स्थिते अतिरोभावस्वभावानि, तादृशैः तस्यैव भगवतः

टीपिका

पुनः पुनः **स्मारयन्तीत्यत्र**. **स्मारयिष्यन्ती**[सुबो]ति, सरितादयः कृष्णं **स्मारयिष्यन्तीति भयात्** सरितादयः **स्मृता एव भवन्ति अतः** कृष्णं **पुनः पुनः स्मारयन्तीत्यर्थः**. **श्रीनिकेतैस्तत्पदकै**रित्यस्यार्थकथने नन्विदानीं चरणदर्शनं कथमित्याशङ्कायां मूले तत्पदस्यार्थमाहुः **किञ्चे**त्यादिना. तत्र **असाधारणैरिति**, असाधारणत्वादधुनापि व्रजभूमिषु पदानि दृश्यन्ते. **हृदयादिषु स्थापितैर्वा** इति, भगवता हृदयादिषु स्थापितानि दृश्यन्ते इत्यर्थः. **सानुभावैरि**ति **दृष्टादृष्टोपायेन बलिष्ठैः सानुभावैः कृत्वा विस्मर्तुं नैव शक्नुम** इति योज्यम्. तत्र दृष्टोपायः **सर्वत्रोद्गतानीत्या**दिना ज्ञेयः, अदृष्टोपायस्तु **हृदयादिषु स्थापितैरि**त्यादिना ज्ञेयः ॥५१॥

पदैरसाधारणैर्हृदयादिषु स्थापितैर्वा सानुभावैः दृष्टादृष्टोपायेन बलिष्ठैः कृत्वा **विस्मर्तुं नैव शक्नुमः** ॥५१॥

किञ्च विस्मरणे हि मनोनिरोधः साधनं, मनश्चामलया बुद्ध्या निरुध्यते, सा बुद्धिः पूर्वमेव भगवता हृतेति कोऽन्य उपायो विस्मरण इति पृच्छन्त्यइवाहुः **गत्येति**.

गत्या ललितयोदार-हासलीलावलोकनैः ।
माध्व्या गिरा हृतधियः कथं तद्विस्मरामहे ॥५२॥

बुद्धिर्हि त्रिविधा गुणैः; त्रिविधामपि बुद्धिं कायवाङ्मनोविषयां त्रिविधा धर्मा हरन्ति. तत्र प्रथमं भगवतः कायिकचेष्टया देहविषयिणी बुद्धिर्हृतेत्याह **ललितया गत्येति**— गतिर्हि स्वयं गच्छन्ती बुद्धिमपि नयति, ललिता तु सर्वतो निरोधेन नयति, तदंशमनसो हरणात्. मनसो हरण उपायमाहुः **उदारहासलीलावलोकनैरिति**. मनो हि सङ्कल्पविकल्पात्मकं, तत्र सङ्कल्पांशं भगवतो **हासो** निवारयति, मोहात्मकत्वात्. सङ्कल्पसाधनरूपं सुखं च बहुधा प्रयच्छतीति फलेनापि न सङ्कल्पः साधयितुं शक्यते. तदाह **उदारेति**. भ्रान्तो हि विकल्पान् करोति, तन्निवृत्त्यर्थं च **लीलावलोकनानि**— ज्ञानात्मकत्वादवलोकनस्य विकल्पं नाशयत्येव. तत्रापि फलाभावाद् ज्ञानं दुर्बलं भवेत् तन्निषेधार्थं **लीलेति**, स्वतःपुरुषार्थमित्यर्थः. वाक्प्रधानां तु गीर्हरति, सजातीयहारिणी स्त्री स्त्रियं चेद्धरेत् न कोऽपि प्रतिबन्धको भवति. तत्रापि फलरूपत्वाय **माध्व्येति**. एवं लोकसिद्धप्रकारेण विस्मरणासम्भवात् **तत्कथं विस्मरामह** इति प्रश्नः, उद्धवो हि महान् विस्मरणात्मकं ज्ञास्यतीति. अथवा भवतो भवतु विस्मरणं, **हृतधियो** वयं **कथं विस्मरामहे** ? तस्मिन् हि विस्मृते साधनान्तरे प्रवृत्तिः सम्भवति. अतो भगवदुक्तं ज्ञानं पूर्वार्धविस्मरणे भवतीति अशक्यमेवोपदिष्टवान् ॥५२॥

एवं लौकिकप्रकारेण वैदिकप्रकारेण च वयं सर्वथा दुःखसागरान्न निस्तीर्णा

लेखः

गत्येत्यत्र. त्रिविधेति, सत्त्वादिभिः क्रमेण बोधसङ्कल्पाभिमतिजनिकेत्यर्थः. **कायेति**, ''वाक्प्रधाने''त्यग्रे कथनादत्र **विषयपदं** प्रधानार्थकम्; एतत्प्रधानामित्यर्थः. चित्तरूपा तु गुणातीतत्वात्स्वत एव भगवदीयेति हरणं नापेक्षते इति भावः ॥५२॥

टीपिका

हे नाथेत्यस्याभासे लौकिके[सुबो.]ति, एतासां लौकिकवैदिकप्रकारपरित्यागे

भविष्याम इत्याहुः **हे नाथेति.**

हे नाथ हे रमानाथ व्रजनाथार्तिनाशन ।
मग्नमुद्धर गोविन्द गोकुलं वृजिनार्णवात् ॥५३॥

प्रमेयबलादेवोद्धर्तव्याः न तु प्रमाणबलेन. तथाकरणे आवश्यको हेतु**र्नाथत्वम्.** नन्वच्युतोऽहमसङ्गोऽहं च, अतो ममाप्यशक्यो रमणेनैव भवतीनामुद्धारो भवतीति चेत्तत्राहुः **हे रमानाथेति**— रमणैकस्वभावा हि सा, उत्तरोत्तरं वर्द्धमाना नित्या च, तस्यास्त्वं नाथ इति सर्वजनीनम्. साप्यस्मत्प्रकारेणैव साध्या भवति, लक्ष्मीत्वादेव न पोषणादिकमपेक्षते. ननु तदावश्यकमिति कथंचिन्निर्वाह्यत इति चेत्तत्राह **व्रजनाथेति**— यथा त्वं लक्ष्मीपतिः सर्वजनीनः एवं व्रजपतिरपि. लक्ष्मीव्रजयोस्तुल्यत्वाद्दोषगुणास्तुल्या इति भावः. ननु साप्यशक्या चेत्त्यज्यत एवेति कोऽयं दृष्टान्त इति चेत्तत्राहुः **आर्तिनाशनेति**— हरिस्त्वम् आर्तिं नाशयस्येव. कुर्या अन्यन्न वा कुर्या, आर्तिं तु नाशय, अन्यथा हरित्वमेव न स्यात्. अतः स्वरूपरक्षार्थमेतदवश्यं कर्तव्यम्. किञ्च इदं हि सर्वमेव **गोकुलं** दुःखसमुद्रे निमग्नं तदुद्धर. पूर्वं ह्येको गजः, सोपि पुष्करिण्याम् अर्धनिमग्नः इव स्थितः, सोऽपि दयया चेदुद्धृतः, किमस्मदुद्धारे दयाया विलम्बो भवेत्? मग्नोद्धारे त्वमेव समर्थः, यथा

लेखः

हे नाथेत्यत्र. उत्तरोत्तरमिति. लक्ष्मीर्हि ब्रह्मानन्दरूपा, ब्रह्मानन्दस्य च मानुषादिक्रमेणोत्तरोत्तरं वर्धमानत्वं नित्यत्वं च प्रमाणसिद्धम्. अतो रमायास्तथात्वात्तस्याः नाथस्य रमणेनोद्धारो नाशक्य इति भावः. **ननु ते** इति,

---

टीपिका

"यदा यस्यानुगृह्णाति भगवानात्मभावितः स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठितामि"ति चतुर्थस्कन्धे प्रचेतसां वाक्येन यद्यप्यनुग्रहस्य लक्षणमुक्तं तथापि दुःखसागरादुत्तारयितुं प्रार्थना दैन्येनेति भावः. तत्र लौकिकदुःखं रमणाभावरूपं, वैदिकदुःखं पत्यादिपरित्यागपापजन्यमिति ज्ञेयम्. तत्सर्वं व्याख्याने द्रष्टव्यम्. **हे नाथेत्यत्र. मानुषे**[लेख]ति, "स एको मानुष आनन्द"इत्यादिक्रमेणोत्तरोत्तरं वर्धमानत्वं तैत्तिरीयोपनिषदुक्तं ज्ञेयम्. **साप्यस्मत्प्रकारेणैवे**[सुबो.]ति, **सा** लक्ष्मीरपि रमणेनैव साध्या भवतीति भावः. **न पोषणादिकमिति**, रमात्वाद्रमणं त्वपेक्षत एवेति भावः. **तुल्यत्वादिति** नाथत्वेन तुल्यत्वात्. **दोषा गुणा** इति, दोषा रमणेच्छादिरूपाः, **गुणास्तन्निष्ठमनोवृत्तिरूपा** इति भावः ॥५३॥

मन्दरोद्धारे. ननु तेऽस्मद्वाक्यात्प्रवृत्ता इति तदर्थमुद्धृता:, भवत्यस्तु नास्मद्वाक्यात् प्रवृत्ता इति चेत्तत्राहु: **गोविन्देति—** त्वं ह्यस्मदिन्द्रत्वेन सर्वैरभिषिक्त:, अतो "यावदधिकारं त्वाधिकारिकमि"ति न्यायेन यावद्गोकुलं जीविष्यति तावदस्य रक्षा भवत आवश्यकी, अन्यथा प्रमाणबलं त्वयैव नाशितं स्यात्. पूर्वमपि मत्स्यादिभावेन वेदा उद्धृता:, तथा गोविन्दभावेन वयमप्युद्धर्तव्या:. न तूद्धृतेन, तथा सति जघन्यापत्तिरिति भाव: ॥५३॥

एवं तासां विलापं श्रुत्वा पुनस्तमेवार्थमुपदिष्टवानित्याह **तत** इति.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

ततस्ता: कृष्णसन्देशै-र्व्यपेतविरहज्वरा: ।
उद्धवं पूजयाञ्चक्रु-र्ज्ञात्वात्मानमधोक्षजम् ॥५४॥

तदनन्तरमपि **कृष्णसन्देशैर्विशेषेणापेतो विरहज्वरो** यासाम्. एतत्सर्वं

दीपिका

ततस्ता: कृष्णसन्देशैरित्यस्याभासे **एवं तासां विलापमि**त्यादि. **एवं** "हा नाथे"त्यादिप्रकारेण **तासां** स्वामिनीनां वियोगज्वरप्रलापरूपं भगवदाकाङ्क्षयातिदैन्येन प्रार्थनारूपं[1] **श्रुत्वा** तन्निवारणाय योऽर्थ: पूर्वं पत्रे उपदिष्ट: सन्देशरूप: सर्वथावियोगाभाव-प्रतिपादकवाक्यसमूहात्मा, यतस्तासां स्वस्वरूपस्यानुभवनीय-प्रभुस्वरूपस्य च स्मृतिरभूत् "तत्सन्देशागतस्मृतीरि"ति, **तमेवार्थं पुनर**प्येकदा परिचयं प्राप्य विलापनिवृत्त्यर्थ**मुपदिष्टवानित्यर्थ:. तदनन्तरमपीति**, गाढवियोगेन विलापानन्तरमपीत्यर्थ:. **एतत्सर्वमिति**, विलापप्रार्थनादिकमित्यर्थ:. **भगवदुक्तार्था-**

लेख:

मन्दरचूर्णिता अमरा दैत्याश्चेत्यर्थ:. **न तूद्धृतेने**ति वेदेनेत्यर्थ:. **तथा सती**ति, प्रमाणाधीनत्वे सतीत्यर्थ: ॥५३॥

प्रकाश:

हे नाथेत्यत्र. **त** इति, मन्दरे देवासुरा:. यद्यपि देवादय: समुद्रे न निमग्ना: तथापि लज्जायां निमग्ना एवेत्यर्थ:. आज्ञां विनापि मग्नानुद्धरसीति कथमत्र विलम्ब इत्यभिप्रायेणाहु: **पूर्वमपीत्यादि**ना. **उद्धृतेने**ति, वेदेनेत्यर्थ: ॥५३॥

टीपिका

ततस्ता इत्यत्र. **परिचयं प्राप्ये**[दीपि.]ति ज्ञात्वेत्यर्थ:. **पिण्डितमि**ति, एकीकृत्य

---

१. प्रार्थनास्वरूपम् इति मुं. वि. पाठ:.

भगवदुक्तार्थज्ञानाद्भवति, वियोगे हि सति दुःखं चिन्ता उद्धरणादिकम्. न हि विस्मृतकण्ठचामीकरस्य चामीकरस्मारणादतिरिक्तं दुःखविस्मारकं साधनमस्ति. अतः प्रथमोपदेशेनाभिप्रायः सिद्धः, भगवति दोषबुद्धिर्निवृत्ता. ततो निर्दुष्टानां भावः

दीपिका

ज्ञानादिति, भगवदुक्तस्य वियोगाभावप्रतिपादन-रूपस्यार्थस्या-ज्ञानाद्विस्मरणादित्यर्थः. **वियोगे हि सतीति**, भगवदुक्तार्थस्मरणे वियोगस्यैवास्फूर्तेः तज्जन्यदुःखचिन्तोद्धरणादीनां तु सुतरामस्फूर्तिरिति भावः. अतः[1] पिण्डितमर्थमाहुः **अत** इति, यतोऽज्ञानादेवायं वियोगो न वस्तुतस्तदात्मकस्य प्रभोर्नित्यसंयुक्तत्वा**दतः प्रथमोपदेशेन** प्राथमिकसन्देशकथनेन **अभिप्रायः** प्रभो''र्धारयन्त्यतिकृच्छ्रेणे''त्यादि-वाक्यवक्तुर्यथाकथंचित्त्वया तासां मत्पत्रविलिखितसन्देशैर्जीवनं सम्पादनीयमिति य आशयः स **सिद्धः**, स्वस्वरूपस्मृत्या स्वविषयकभगवत्प्रीतिपरिज्ञानेन[2] च किंचित्स्वास्थ्यसम्पत्तेः. परं न विरहज्वरविलापनिवृत्तिर्यतः परोक्षरीत्या शाब्दमेव ज्ञानमभून्न साक्षाद्धृदयदेशाविर्भूतस्य प्रभोरनुभवः, तस्य क्रमेण निष्पाद्यत्वात्. किन्तु येन दोषेण पूर्ववर्णितत्रिदोषरूपेण विरहेऽन्त्यावस्थाबोधकेन ''मधुप कितवे''त्यादि-वाक्यान्युक्तानि तस्य निवृत्तिस्तदासीदत एव जीवनाशासम्पत्तिश्च. सर्वथा तदनुभवे वियोगात्मकस्वरूपस्यैवानुभवान्न प्रार्थनादिकं भविष्यतीति भावः. अत एव पूर्वमुद्धवस्य दोषनिरूपणं, स्मारणेऽपि प्राप्तस्वरूपस्य तथानुभवाभावात्तूष्णीं स्थितिरेतत्पर्याये तु स्वरूपप्राप्तिस्फूर्तेरुद्धवस्योपकारं मत्वा तं पूजितवत्यः. एतेन वियोगः स्वरूपात्मको धर्मी तु स्थित एव; धर्मात्मको (वियोगः) तापकार्यो विलापरूपो निवृत्त इति सूचितम्. **निर्दुष्टानां भाव** इति, कुशलप्रश्नमारभ्य ''हा नाथे''त्यन्तैः

लेखः

ततस्ता इत्यत्र. **अभिप्रायः सिद्ध** इति, ''वियोगाधिं मत्सन्देशैर्विमोचये''ति भगवदभिप्राय इत्यर्थः. अत एव ''एवं प्रियतमादिष्टमि''तिश्लोके 'प्रीता' इत्युक्तम्.

टीपिका

अर्थमाहुरित्यर्थः. **तदात्मकस्ये**[दीपि]ति गोपिकात्मकस्येत्यर्थः. **तथानुभवाभावादिति**, भगवता ज्ञानोपदेशस्मारणेऽपि हृदि प्राप्तस्वरूपानुभवाभावात्. **तूष्णीं स्थितिरिति**, नोद्धवस्य पूजाकरणमित्यर्थः. **धर्मात्मक** इति, **धर्मात्मको** मथुरायां स्थितो भगवान् यः संयोगात्मकस्तस्य **तापकार्यरूपो** यो **विलापः** स प्रथमपर्यायः पुनःश्रवणेन

१. अतः परम् इति मुं. वि. पाठः २. स्वनिकटभगवत्प्रीति इत्यादि मुद्रित पाठः.

पुनर्वर्णितः. सोपि पदार्थः पुनः पुनरुपदेशस्मारणेन निवर्तितः. तदा भगवति आत्मत्वं ज्ञातमित्याह **ततः कृष्णसन्देशैः** कृत्वा **विशेषेण अपेतविरहज्वराः.** ज्वराभावे दृष्टमेव द्वारं जातमित्याह **अधोक्षजमात्मानं ज्ञात्वे**ति. स्वात्मैवाधोक्षजः. **अधोक्षज**पदेन चैतज्ज्ञापितम्— इन्द्रियाध्यासात् सङ्घातात्मबुद्ध्या च भगवानात्मत्वेन न प्रतीतः, तदपगमे प्रतीत इति. अथवा अन्तःस्वरूपं प्राप्ताः—

दीपिका

श्लोकैरुक्त इत्यर्थः. **सोपि पदार्थ** इति, यः पूर्वोक्तभावनिरूपक-पद्येषूक्तः कुशलप्रश्नादिस्वोद्धरणप्रार्थनान्तः **पदार्थः सोपि पुन**र्द्वितीयपर्याये पूर्वोक्तः ''भवतीनामि''त्यादिश्लोकैः स्वोपदेशस्मारणेन **निवर्तित** इत्यर्थः. ननु प्रथमपर्याये कथमनिवृत्तः कथं चेदानीं निवृत्त इत्याकाङ्क्षायामाहुः **तदा भगवतीति**, यदा द्वितीयपर्याये पुनरुपदेशस्मारणं तदा तथेत्यर्थः. एवमुत्तररसात्मकस्वरूप-प्राप्तिरेवोक्ता. **तथा** च धर्म्यपेक्षयापि धर्मस्य दुर्बलत्वात्संयोगात्मकस्वरूप-स्यास्फूर्तेस्तद्विषयकप्रार्थनादिकमपि तद्धर्मरूपं निवृत्तमिति भावः. अत एव न वाक्यैरेव केवलैर्विरहज्वरनिवृत्तिर्मन्त्रैरिव किन्तु स्वरूपप्राप्त्या भेषजेनेवेति बोधयितुमाहुः **ज्वराभावे दृष्टमेव द्वारं जातमिति. स्वात्मैवे**ति, तथा सति स्वात्मनि भगवत्त्वेन स्फूर्तौ तस्या चान्तरत्वेन[१] न बहिर्भगवानस्तीति स्फुरणे क्व प्रार्थनादि-सम्भावनेति भावः. ननु तथापि देहादीनां स्वीयत्वेन स्फूर्तौ बहिर्भगवत्स्फूर्तेरा-वश्यकत्वात् प्रार्थनादिकं भविष्यत्येवेत्याशङ्क्याहुः **अधोक्षजमि**ति. इन्द्रियजन्य-ज्ञानागोचरो हि भगवानिति देहेन्द्रियाद्यध्यासेनात्मसंघातस्फूर्तौ स्वात्मनि तत्स्फूर्तिरिव

लेखः

सोपि पदार्थ इति प्रलाप इत्यर्थः. **अन्यथे**ति, आपरोक्ष्याभावे प्रतीकोपासना

प्रकाशः

ततस्ता इत्यत्र. **सोपि पदार्थ** इति ''स्वकृतया शुचे''त्यनेनोक्तः. **द्वारमिति** उपदिष्टार्थानुभव इति शेषः. **तदपगमे प्रतीत** इति, अधः अक्षजमिन्द्रियजन्यं ज्ञानं यस्मादिति निरुक्त्या तथेत्यर्थः. तदभावे ज्ञानिनामिवासामवस्था स्यात्. सा

टीपिका

निवृत्त[दीपि.] इति भावः. **तद्भाव** इति, **अधोक्षज**पदभावो बोधित इत्यर्थः. **तथे**[प्रका.]ति, इन्द्रियाद्यध्यासनिवृत्त्या प्रतीतमित्यर्थः. **तदभाव** इति प्रतीताभाव इत्यर्थः. **द्वितीयेने**ति

१. अवान्तरत्वेन इति मुद्रितः, गृहीतस्तु मुं. वि. पाठः.

यथा कोशमध्ये प्रतिमा तथा तासां सङ्घातमध्ये आत्मानं जीवं स्वस्मिन्नन्तर्भाव्य

दीपिका

न स्यादिति भावः. एतेन देहादीनां प्रभुसत्तया सत्तामात्रं न स्फूर्तिरपीति ज्ञापितम्. स्फूर्तौ तदर्थं प्रार्थना, तदभावान्न सेति भावः. **अथवे**ति. पूर्वस्मिन्कल्पे स्वात्मस्थाने भगवत्स्फूर्तिरुक्ता, इदानीं तु भगवानेव तदात्मरूपो जात इत्युच्यते. पूर्वं स्वात्मनि तत्स्फूर्तिरधुना स्वात्मनस्तत्त्वेन स्फूर्तिरिति विशेषः. एतेन स्वात्मा यथा देहादिभिः सर्वं करोति नान्यत्र तिष्ठति नान्यहितं चिन्तयति तथैतासु स्थित्वा भगवानेव सर्वं करोतीति निरूपितम्. तथा चैवं पदसंयोजनम्— **अधोक्षजमिति** विशेष्य**मात्मानमिति** विशेषणं, तथा सत्यधोक्षजं भगवन्तमेतज्जीवात्मानमर्थाज्जातं ज्ञात्वा सर्वदैतद्भावाप्रापकत्वेनै[१]तत्सर्वात्मना विद्यमानस्य विस्मृतकण्ठचामीकरन्यायेन ज्ञानात्मिकैव प्राप्तिरिति **प्राप्ता** इत्यर्थः. अधोक्षजः साकार इति तत्संघातप्रवेशे कोशप्रतिमान्याय उक्तः, जीवस्य तु निराकारत्वान्न तथा स्थितिरिति भावः. ननु किं तदात्मानमाधारीकृत्य प्रभुः प्रकटोऽथवा तद्देहमिति सन्देहे "तस्यैष आत्मा वृणुते तनुं स्वामि"ति श्रुतेस्तद्देह एव स्वस्थितिं कृतवान्प्रभुर्न तदात्मनि, पूर्णस्य साकारस्य तत्र स्थित्ययोग्यत्वादित्यभिप्रेत्याहुः **तासां संघातमध्य** इत्यादि. नन्वेवं सत्यात्मनः का स्थितिरिति सन्दिह्याहुः **स्वस्मिन्नन्तर्भाव्ये**ति. महाग्नौ तत्स्थाने समागते विस्फुल्लिंगस्येव तदात्मनः परमात्मन्यन्तर्भाव इत्यर्थः. अत एवोक्तं "मयि ते तेषु चाप्यहमि"ति. एतेनैतद्दशायां कदाचिद्भगवद्भावः कदाचिद्गोपिकाभाव, उभयात्मकीभूय प्रभोस्तद्देहेष्वाविष्टत्वादित्युक्तम्. परन्तु वियोगात्मनि प्रभावन्तर्भूतत्वादेतदात्मनः संयोगास्फूर्तिरिति पूर्वमिव स प्रार्थनादिभावो[२] निवृत्त एवेति ज्ञेयम्. नन्वेवं सति भगवद्भाव एव मुख्यतया भवेत् स्वात्मनस्तत्रैवान्तर्भूतत्वान्न गोपिकाभाव इत्यन्तर्निष्ठतैव सिध्येन्न वियोगानुभव इत्यरुच्या पक्षान्तरमाहुः **तत्प्रदेशे वे**ति, जीवात्मस्थल इत्यर्थः. तथा च यथा काष्ठे वह्न्याविर्भावे काष्ठाकारे सत्येव वह्न्यात्मकता तथा जीवे भगवदात्मकत्वेऽपि न जीवगतसूक्ष्माकारनिवृत्तिः; कदाचिज्जलादग्निनिर्वापणे काष्ठसजातीयेङ्गालानामुत्पत्तिवत्कदाचिज्जीवभावोऽपि

प्रकाशः

चाग्रेतनबलदेवागमनीय-कुरुक्षेत्रप्रसङ्गीय-भावदर्शनकथातो विरुध्यत इत्यरुच्या पक्षान्तरमाहु **अथवे**त्यादि. तत्राप्यवान्तरप्रकारत्रयं ल्यबन्तत्रयेणाहुः **आत्मानमित्यादि**.

१. एतद्भावात्मकत्वेन इति मुं. वि. पाठः. २. पूर्वरसप्रार्थनादि इति मुं. वि. पाठः.

तत्प्रदेशे वा स्वयमाविर्भूय तत्रैव वानन्दांशाभिव्यक्त्या तदेव स्वरूपत्वेन सम्पाद्य पश्चादपरोक्षतया स्वप्रकाशत्वेन वा आत्मानं ज्ञापितवानिति. अन्यथा अध्यारोपन्यायेन प्रतीतिःस्यात्. शब्दमात्रे तु विरहाभावः, आत्मत्वान्न भेदेन प्रतीतिः, यतः संयुक्ततयापि

दीपिका

स्फुरतीति भावः. अन्यथा तूक्तदशैवो[१]क्ता स्यादिति. ननु तथापि कदाचित्समयान्तरे पुनर्वह्निसम्बन्धे काष्ठाकारस्योपरति[२]रिव जीवलयः स्यादिति स दोषस्तदवस्थ इत्याशङ्क्य पक्षान्तरमाहुः **तत्रैव वेति**. तासां जीवात्मन्येव**वानन्दांशाभिव्यक्त्या** स्वानन्दमात्रमाविर्भाव्य, सच्चिदंशौ तासामेव. एवं **तदेव**[३] जीवस्वरूपमेव **स्वरूपत्वेन सम्पाद्य पश्चात्तदपरोक्षतया** हृदये अथवा **स्वप्रकाशत्वेने**न्द्रियादिप्रकाश्यतया बाह्यत्वे**नात्मानं** भगवान् **ज्ञापितवानि**ति तथा ज्ञात्वेत्यर्थः.

सूक्ष्मरूपेण तत्सत्ता ज्ञानं चापि स्वरीतितः ।
आनन्दस्तत्र हि हरेरेष जीवो विलक्षणः ॥१॥
अत एवायमानन्दो नान्यजीवैर्हि लभ्यते ।
स्वामिनीनां प्रसादेन प्राप्यते नान्यथा स्वतः ॥२॥

अन्यथेति, एवं भगवत आत्मत्वेनाविर्भूतस्य ज्ञानाभावे वाक्यमात्रात्**प्रतीति-**

लेखः

स्यादित्यर्थः. शब्दमात्रे त्विति, उपदेशमात्रे विरहाभावो भवति; आपरोक्ष्यं तु भगवत एवंकृत्यैव भवतीति. **अन्यथेत्य**नेन द्वितीयव्याख्यान उपपत्तिरुक्ता. **आत्मविदां**

प्रकाशः

अन्यथेति पूर्वव्याख्यातप्रकारे. ज्ञापनप्रकारमुक्त्वा एतासां शब्दमात्रेण कथमेवं ज्ञानमभूदित्याकाङ्क्षायां ज्ञानप्रकारमाहुः **शब्देत्यादि**. शब्दे ह्याश्रयत्वं समवायित्वं च बोधितं; तत्र द्वितीयेनात्मत्वं प्रथमेन संयोगनित्यतेत्युभयोर्भाने भेदप्रतीतिनिवृत्त्या स्नेहदार्ढ्यं सार्वदिकः संयोगश्चापरोक्ष आत्मना मनसा चाभूदिति तथेति भावः.

टीपिका

''यथा भूतानी''ति श्लोके. **प्रथमेने**[प्रका]ति ''भवतीनामि''ति श्लोकेनेत्यर्थः. **तथेती**ति विरहाभाव इत्यर्थः. नन्वेवं यदि सुबोधिन्यां **स्वप्रकाशत्वेने**त्यादिस्तस्यार्थ-ष्टिप्पण्यामिन्द्रियादिप्रकाश्यरूपोऽपि भगवानित्युक्तः, तदेव ''भवतीनां वियोगो मे''इत्यादिसन्दर्भेणापि एतासां देहेन्द्रियादिरूपोऽपि भगवानित्युक्तं, तदा पुनरुक्तौ

१. मुक्तिदशैव इति मुं. वि. पाठः. २. काष्ठाकारनिवृत्तिः इति मुं. वि. पाठः.
३. मुं. वि. पाठः गृहीतः. एतावदेव इति मुद्रितपाठः.

दीपिका

रुपासनादाविव**ाध्यारोपन्यायेन स्या**त्तथा च नाधिनिवर्तन-लक्षणोद्धवागमन-प्रयोजनसिद्धिरिति भावः. ननु मास्तु भगवत आत्मत्वेन प्राप्तिः, शब्दमात्रमेव सन्देशरूपं विरहक्लेशौ निवर्त्यतामित्याशङ्क्याहुः **शब्दमात्र** इति. अयमर्थः— भगवता "मद्वियोगाधिमि"ति वचनादाधिरेव निवर्तनीयत्वेनोक्तो न तु वियोगस्तस्य स्वरूपात्मकस्य फलत्वेन दत्तत्वात्तथा च स्वरूपस्याप्राप्तौ केवलशब्दैः सन्देशरूपैः स्वास्थ्ये **विरहस्यैवाभावः** स्यादित्यर्थः. एवं सति महदेवानिष्टमापद्येत, परमफलानुभूतिप्रतिबन्धात्. अत एव "ज्ञात्वा पाने महान् रस"इति स्वदत्तस्योत्तररसात्मनो ज्ञानार्थमेवोद्धवद्वारा भगवतस्तदुपदेशाग्रहः, स्वदत्तस्योत्तर-रसात्मकस्वरूपानुभवस्य तु प्रागपि सिद्धेः. अत एव ज्ञानोपदेशाज्ज्ञानात्मिकैव प्राप्तिरित्यभिप्रेत्यैव "बर्हापीडे"ति पद्यव्याकृतावुक्तं "मुख्यप्रापणार्थं चे"ति. नन्वेवं दत्ते तथाविधस्वरूपे तस्य विरहात्मकत्वाद्विलापादिकं सम्भविष्यत्येवेति कथं सन्देशैर्ज्वरस्यापि निवृत्तिरित्याशङ्क्याहुः **आत्मत्वादिति**. भेदप्रतीतौ विलापादिकं नाभेदप्रतीतौ, यथार्धज्वलितकाष्ठे धूमादिः. तथा च वह्निवत्तदात्मनि प्रविष्टत्वा-त्तदात्मकतैव सम्पन्नेतर[१]स्फूर्त्यभावान्न विलापप्रार्थनादिकमिति भावः. ननु पुत्रादीनामात्मत्वेऽपि भेदेन प्रतीतिर्देहभेदात्तथात्रापि स्यादित्याशङ्क्याहुः **यत** इति. अंशतोऽपि भेदे प्रियालिङ्गितप्रिय इव **संयुक्ततयापि भायात्**, प्रकृते न तथेति सर्वांशेनाभेदो देहस्यापि स्फूर्त्यभावादित्यर्थः. एतादृशमहाफलप्राप्तौ साधना-भावमाशङ्क्य निःसाधनत्वाद**ेतासां** न कापि **कृतिः** किन्तु प्रभो**रेव** स्वत एतादृक्फलं दातुं गुणगानहेतुभूताहर्वियोगजनक[२] -गोचारणार्थक-गमनसदृशं मथुरागमनम्. तत उद्धवप्रेषणेन स्वदत्तस्वस्वरूपज्ञापनं रसानुभववैशिष्ट्यायैतासां तु ज्ञानमात्रमिति

टीपिका

को विशेष इत्याशङ्क्याहुः **अन्यथे**[दीपि.]त्यादि. **अध्यारोपन्याये**नेति, यथा उपासनामार्गे अध्यारोपापवादे आवाहनविसर्जनन्यायेन प्रतिमादिषु देवाविर्भावो जायते इति वाक्यमात्रेण प्रतीतिः स्यात् न तु साक्षात्प्रतीतिः तथा "भवतीनामि"त्यादि-भगवद्वाक्येनापि एतासां देहेन्द्रियरूपोऽपि भगवानिति प्रतीतिमात्रः स्यात्. अत्र तु स्वप्रकाशकत्वेन आत्मानं ज्ञापितवानिति विशेषः ॥५४॥

१. सम्पन्नेऽतीतस्फूर्ति इत्यादिमुद्रितपाठस्तु अशुद्धः. शोध्यो मुं. वि. पाठीयः.

२. हविर्योगजनकः इति मुद्रितपाठस्तु अशुद्धएवाभाति.

भायात्[1]. कृतिर्भगवत एवेत्यासां ज्ञानमेव. ततो गुरूपदेशः प्राप्त इति साक्षाद् गुरुत्वाभावेऽपि "श्रूयतामि"त्याद्युपदेशात् निगरणार्थस्य विद्यमानत्वात् **पूजयाञ्चक्रुः**. आत्मविदां वा संमाननं कृतवत्यः. अथवा पूर्वं भगवन्तं भिन्नतया ज्ञातवत्यः, इदानीमात्मत्वेन. अग्रे तु तथैव भविष्यन्तीति ब्रह्मभावयोग्यता निरूपिता. तच्च

दीपिका

ज्ञात्वेत्युक्तमित्याशयेनाहुः **कृतिर्भगवत एवे**त्यादि. **साक्षाद् गुरुत्वाभावेपी**ति, दूतत्वेन भगवदुक्तानुवादकत्वादित्यर्थः. **श्रूयतामित्यादी**ति, श्रवणं कर्तव्यमित्युपदेशस्य तूद्धवेनैव कृतत्वादित्यर्थः. योगार्थमादाय साक्षाद्गुरुत्वमप्याहुः **निगरणार्थस्ये**ति. भगवदुपदिष्टस्याप्येताः प्रति साक्षादुद्धवेनैव कथनादित्यर्थः. पूजायामपि न दूतत्वेन पूर्ववत्सम्माननरूपा सा किन्तु ज्ञानोत्तरमन्यथोद्बोधयितुमाहुः **आत्मविदां वेति. आत्मविदां** भगवत्स्वरूपज्ञानवतां यत्सम्माननं सर्वत्र भगवद्बुद्ध्या तदत्र तथेत्यर्थः. पक्षान्तरमाहुः **अथवा पूर्वमिति, पूर्वम्** उपदेशात्पूर्वं **भगवन्तं** तथा **ज्ञातवत्य** इत्यर्थः. **इदानीमि**ति, उद्धवद्वारोपदेशे सति स्वात्मत्वेन ज्ञातवत्यस्तथा चोद्धवोपदेशस्यैव तत्कार्यमिति तद्धेतुभूते उद्धवे गते **अग्रे तथैवे**ति यथा पूर्वं वियोगरसात्मना भगवताऽत्यार्त्या तदात्मिकाखिललीलारसानुभवं कुर्वन्त्य एव **भविष्यन्ती**त्यर्थः. ननु तदा किं तासु सिद्धमुपदेशेनेति चेत्तत्राहुः **ब्रह्मभावे**ति, आत्मत्वेन ज्ञानेनोद्धवोपदेशेन[2] आगन्तुकेन काष्ठेऽग्निभाव इव देहेन्द्रियादिषु भगवत्त्वसम्पत्तियोग्यता **निरूपिता**, मुख्यस्यात्मनस्तत्सम्बन्धे तदीयसंघातस्य योग्यस्य तत्सम्बन्धौचित्यादित्यर्थः. नन्वेवं योग्यतायां ब्रह्मभावः कथमित्याकाङ्क्षा-

लेखः

वेति, आत्मविदः समीचीनाः अतोऽस्माभिरपि स्वाधिकारानुसारेण तथा भाव्यमित्युपदेशसम्माननेनोद्धवपूजां चक्रुरित्यर्थः. **अथवे**ति. प्रथमपक्षे आत्मन्यधोक्षजत्वमुक्तम्, अत्राधोक्षजे आत्मत्वमुच्यते इत्युद्देश्यविधेयभावभेदेन भेदः ॥५४॥

प्रकाशः

तथापि प्रमाणस्यैतावद्बलं क्वापि न दृष्टमित्यतः प्रमेयबलमेवात्रापीत्याहुः **कृतिरि**त्यादि. **तत** इति उद्धवादित्यर्थः. **निगरणार्थस्ये**ति, गृणातीति गुरुरिति योगादित्यर्थः. **उद्धव**पदस्योपलक्षकत्वमभिप्रेत्याहुः **आत्मे**त्यादि. **तथैवे**ति ब्रह्मसमा इत्यर्थः ॥५४॥

---

१. भावाद् इति स. २. उपदेशहेतुकेन इति मुं. वि. पाठः.

नाभिलषितं स्यात् तदा न भवेदित्युत्कटेच्छां ज्ञापयितुमुद्धवपूजा निरूपिता ॥५४॥

कोमलकण्टकन्यायेनायं भावः अदृढश्चेत् पूर्वभावेन बाध्येतेति पुनः पुनः स्मारणार्थं किञ्चित्कालं तत्रैव स्थित इत्याह **उवास कतिचिन्मासानिति.**

उवास कतिचिन्मासान्गोपीनां विनुदन् शुचः ।
कृष्णलीलाकथा गायन् रमयामास गोकुलम् ॥५५॥

स्थितस्य प्रयोजनमाह **गोपीनां विनुदन् शुच** इति. पुनः पुनः पूर्ववासनया

दीपिका

यामाहुः **तच्चेति**, **तत्** पूर्ववद्रमणं **नाभिलषितमिच्छाविषयो** न स्यादित्यर्थः. तथा च कर्मवासनेव[1] ब्रह्मभावेन लये रमणेच्छाया एव, शुकस्य शीघ्रलये कथाया इव, प्रतिबन्धकत्वादिति भावः. ननु स्वात्मस्फूर्तिरहितानां रमणेच्छैव च कथमुपपद्यत इति चेत्, सत्यम्, भगवानपि तद्भावरूपेण तत्रास्त इति तस्य तथाविधेच्छावत्त्वोपपत्तेः. अत एव ''स्त्रीभावो गूढ'' इति ''बर्हापीडे''ति पद्ये प्रभुभिरभिहितम्. तथा च नेयमिच्छा लोकवद्देहाध्यासेन किन्तु स्त्रीभावात्मनः प्रभोस्तथाविधभावेनेति ज्ञेयमिति भावः. ननु कथं ज्ञायते तासामिच्छा, परान्तःकरणस्य पराप्रत्यक्षत्वादित्याशङ्क्याहुः **इतीति. इतिशब्दो** हेतौ, इति हेतो**रुत्कटेच्छां** प्रभुसम्बन्धविषयिणीं **ज्ञापयितुं** तदीयस्य दूतत्वेनागत**स्योद्धवस्य पूजा निरूपितेत्यर्थः**. ब्रह्मभावयोग्यताफलन्तु[2] मानाभावाद्यनुत्पत्तिरिति बोध्यम् ॥५४॥

अयोग्ये योग्यतां कुर्वन्नशक्ते शक्तिमीदृशीम् ।
अज्ञे विज्ञत्वमबले बलं कृष्णो विराजते ॥१॥
निःसाधनधनं कृष्णस्तस्याप्यास्यं परं धनम् ।
धनेन तेन सधनं मां करोतु कृपाधनः ॥२॥

। इति श्रीहरिरायोदित-भ्रमरगीतीयपद्यसंशयोच्छेदः सम्पूर्णः ।

टीपिका

उवासेत्यस्याभासे. **कोमलकण्टकन्यायेने**[सुबो]ति, यथा कोमलकण्टकः पुनः पुनः आवृत्त्या प्रविश्य तिष्ठति तथा. **अयं भाव** इति, पूर्वोक्तो ''ज्ञात्वात्मानमधोक्षजमि''ति पदोक्तो भाव इत्यर्थः. **पूर्वभावेने**ति ''मधुप कितवे''त्यादिभावेनेत्यर्थः. **पूर्ववासनयेति,** पूर्वोक्तत्रिदोषवासनया भगवता सह **भेदः स्फुरतीत्यर्थः.**

---

१. वासनेन इति मुद्रितः पाठ अशुद्ध इव भाति. २. फलितनानाभावादीति पाठः मुद्रितः.

भेदः स्फुरति, स्फुरणमात्रे च क्लेशो भवति, तद्दूरीकरणार्थं स्थितिः; यावत्स भावो न स्फुरति. **सजातीयप्रचयसंवलितमेतदेवावर्त्यमानं ज्ञानं भेददुःखानुत्पादने समर्थमिति** देशादिधर्मैरन्तःकरणावरणे भेदज्ञानमावश्यकमिति तन्निराकणार्थं भगवज्ज्ञानं कृतवानित्याह **कृष्णलीलाकथा गायन्नि**ति. लौकिकाः कथामात्र एवासक्ता भवन्ति सर्वे, लीलायां कथायां मुक्ताः, भक्ताश्च कृष्णकथायामिति योगसमुदायाभ्यां [1]प्रतिपाद्यते. किञ्च सर्वमेव **गोकुलं रमयामास,** अन्यथा संसर्गतोऽपि दुःखं भवेदिति ॥५५॥

एतत्कृतं गोकुले जातमित्याह **यावन्त्यहानी**ति.

यावन्त्यहानि नन्दस्य व्रजेऽवात्सीत्स उद्धवः ।
व्रजौकसां क्षणप्रायाण्यासन्कृष्णस्य वार्तया ॥५६॥

नन्दस्य व्रजे अय**मवात्सीत्,** यतोऽयमुत्सवात्मकः, ताव**न्त्यहानि क्षणप्रायाणि** जातानि. आकाङ्क्षायाः परस्परं प्रतिक्षणं वृद्धत्वात् क्षणमपि बहूच्यत इव[2] **प्राय**ग्रहणम्. बहिःसंवेदने हि दिनादिगणना, ते ह्यात्मत्वेनैव भगवन्तं ज्ञात्वा तन्मया एव जाता इति कालातिक्रमः सुगमः. उद्धवासक्त्या तथात्वमाशङ्क्य तन्निवृत्त्यर्थमुक्तमपि हेतुं पुनः स्मारयति **कृष्णस्य वार्त**येति ॥५६॥

प्रकाशः

उवासेत्यत्र. कथमस्फूर्तिरित्यत आहुः **सजातीये**त्यादि ॥५५॥

टीपिका

कृष्णलीलाकथा गायन्नित्यस्याभासमवतारयन्ति **यावदि**[सुबो]त्यादिना. **स भाव** इति पूर्वश्लोकोक्तभाव इत्यर्थः. **सजातीयप्रचयसंवलित**मिति, तावद् ''भवतीनां वियोगो मे'' इत्यादिदशश्लोकप्रचयसमूहसंवलितं संवर्तमानम्. **एतदेवावर्त्यमानं ज्ञान**मिति पुनःपुनरावर्त्यमानं ज्ञानम्. **भेददुःखानुत्पादने समर्थ**मिति, अत एव उद्धवः स्थित्वा पुनःपुनरुपदिष्टवानिति भावः. ननु पुनःपुनरभेदोपदेशेऽपि कथं भेदज्ञानमित्याशङ्क्याहुः **देशादी**त्यादिना. **देशादिधर्मै**रिति, यदा बहिर्दृष्टिर्भवति तदा वयं गोकुले स्थिताः, भगवान् मथुरायां स्थित इति **अन्तःकरणावरणे** इत्यर्थः. **योगसमुदायाभ्या**मिति, **लौकिका** इत्यादित्रयः **योगार्थेषु प्रतिपाद्यन्ते, कृष्णलीलाकथा गायन्** सर्वमेव **गोकुलं रमयामासे**ति **समुदायार्थेषु प्रतिपाद्यन्ते** इति योज्यम् ॥५५॥

---

१. प्रतिपद्यते इति स. २. इतीति पाठः.

ननु परार्थं कथं बहुकालं तिष्ठेद् भगवन्तं परित्यज्येत्याशङ्क्याह **सरिद्वने**ति.

सरिद्वनगिरिद्रोणी-र्वीक्षन्कुसुमितान्द्रुमान् ।

कृष्णं संस्मारयन् रेमे हरिदासो व्रजौकसाम् ॥५७॥

भगवल्लीलास्थानानि तत्रत्यानि सर्वाणि स्वयं द्रष्टव्यानीत्येवं पूर्वमेव मनोरथ:. अत: प्रसङ्गादागत: भगवद्वाक्यमपि पालितं भवति भगवल्लीलापि दृष्टा भवतीति शास्त्रार्थस्य च श्रुतत्वाद् भगवल्लीलार्थमेव बहुकालं तत्र स्थित:. **सरि**द्यमुना, वृन्दावनं, गोवर्द्धनम्, उभयत: पर्वतानां मध्ये निम्ना: भूमि: **द्रोणी** समा, गोकुलेऽपि **कुसुमितान् द्रुमान्** चम्पकादीन् अपर्तावपि भगवदनुभावेन सार्वकालिकपुष्पयुक्तान्. एतावान् स्वार्थ:, **कृष्णं संस्मारयन्नि**ति भगवदाज्ञाकरणम्, अत उभयार्थस्य सम्पन्नत्वाद् **रेमे. हरिदास** इत्यनेन अन्यो भावो निवारित:. सत्सङ्गस्य प्रसङ्गादप्यागतस्य फलमाह **व्रजौकसामि**ति, सामान्येन सर्वेषां ग्रहणम्. भगवता तूभयोरेव सुखजननमाज्ञप्तम्, अयं तु सर्वानेव भगवद्भावापन्नान् कृतवानित्यर्थ: ॥५७॥

एवं भगवदाज्ञां कृत्वा इतस्तस्य निर्गमनमाह **दृष्ट्वे**ति.

दृष्ट्वैवमादिगोपीनां कृष्णावेशात्मविक्लवम् ।

उद्धव: परमप्रीतस्ता नमस्यन्निदं जगौ ॥५८॥

प्रत्यहमुपदेश: प्रत्यहं वैक्लव्यम् —एवमुभयं दृष्ट्वा. आत्मत्वेऽपि

लेख:

सरिद्वनेत्यत्र. **प्रसङ्गादागत:** सरिदादिषु गमनं प्रसङ्गादेव, उद्देश्यं तु भक्तस्थानगमनमिति भाव:. **शास्त्रार्थस्य चे**ति. शास्त्रं शासनं "वियोगाधिं मत्सन्देशैर्विमोचये"ति भगवदाज्ञारूपम्. तद्रूपस्यार्थस्य **श्रुतत्वाद्भगवत** उत्तरदलात्मकस्य **लीलार्थमा**न्तररमणसिद्ध्यर्थं **स्थित** इत्यर्थ:. स्थलदर्शनार्थं स्थित: लीलासिद्ध्यर्थं च स्थित इति चकार:. **सत्सङ्गस्ये**ति, व्रजौक:सु सर्वेष्वागमनं प्रसङ्गादेव; उद्देश्यास्तु पितरौ गोप्यश्चेति भाव:. **उभयोरेवे**ति पित्रोर्गोपीनां चेत्यर्थ: ॥५७॥

निर्गमनमाहेति निर्गम्यतेऽनेनेति करणे ल्युट्, गमनसाधकं स्तोत्रोपक्रममाहेत्यर्थ:.

प्रकाश:

सरिद्वनेत्यत्र. **शास्त्रार्थस्ये**ति, "ते ते धामान्युष्मसी"त्यादिशास्त्रप्रतिपाद्यस्येत्यर्थ: ॥५७॥

बहिःसंवेदनमात्रेणैव तासां भगवदाकाङ्क्षैवोत्पद्यते परं निर्दुष्टा. **एवं** तासां भावं **दृष्ट्वा कृष्णावेशेन आत्मनो** देहस्य **विक्लवं दृष्ट्वा**. अन्तर्निष्ठा वा विरहो वा द्वयमेव, न तु तासामन्या लौकिकी अवस्था. **एवं दृष्ट्वा परमप्रीतो** जात, एवमेव हि स्थातव्यं भक्तेनेति. पश्चात्तासूभयं दृष्ट्वा स्वस्मिन्नेकमेवेति आधिक्यात् **ता नमस्यन्** नमने दोषशङ्काभावाय तासां स्तुतिरूप**मिदं** वक्ष्यमाणं **जगौ** ॥५८॥

तस्यैव वाक्यान्याह **एताः परमिति** षड्भिः, तासु भगवतः सर्वधर्मज्ञापनाय. आदौ तासां स्तुतिमाह.

एताः परं तनुभृतो भुवि गोपवध्वो
गोविन्द एवमखिलात्मनि रूढभावाः ।
वाञ्छन्ति यं भवभियो मुनयो वयं च
किं ब्रह्मजन्मभिरनन्तकथाऽरसस्य ॥५९॥

तनुभृतश्चेदेता एव, नापि ज्ञानिनो नापि लौकिका नापि भक्ताः. तत्र लौकिकास्तु व्यर्थजीवना एव. न हि रज्ज्वा बद्धः पाशी भवति, स्वाधीनपाश एव तथा. एवं **तनुभृतो**ऽपि येषां स्वाधीना तनुः. ज्ञानिनां तु ज्ञानप्राप्तिपर्यन्तमेव साधनत्वेन शरीरोपयोगादग्रे व्यर्थ एव देहः अनपेक्षितं भारवद् गृह्णन्तीति. भक्ता अपि मौढ्याद्देहमेवात्मानं मन्यमानाः तत्रैव पर्यवसितमतयो बहिर्मुखत्वात्तनुरूपा एव न तु तनुभृतः. कालान्तरे परं सत्फलम्. अस्मदादयस्तु भक्ता अपि प्राप्तज्ञाना अपि मन्दभावं प्राप्ता नोत्कर्षेण तनुभृतः. अतः **परमुत्कर्षेण एता एव तनुभृतः**. नन्वेतादृश्यः सन्ति तनुभृतः लक्ष्मीप्रभृतयः, तत्राह **भुवी**ति. ननु भुव्यप्युत्कटभक्ताः प्रह्लादादयः सन्त्येव तत्राह **गोपवध्व** इति, एतादृशीमवस्थां प्राप्य न कोऽप्येवंविधो

लेखः

दृष्ट्वेत्यत्र. **दोषशङ्के**ति, स्वस्य तासां च क्षत्रियत्वगोपत्वादि-लौकिकदृष्ट्या दोषशङ्का, सा तत्स्वरूपनिरूपणे निवृत्ता भवतीत्यर्थः. **स्तुतिरूपमि**ति, **इदमि**तिपदेन बुद्धिस्थ**वक्ष्यमाणमु**च्यते. वक्ष्यमाणं तु उत्कर्षाधायक-गुणवर्णनमेवेति भावः, स्तुतिरुत्कर्षाधायकगुणवर्णनमिति तल्लक्षणस्य पूर्वमुक्तत्वात् ॥५८॥

तस्यैवेति, उद्धवस्यैवेत्यर्थः. पूर्ववाक्यानि भगवदुक्तान्युद्धवेनानूदितानि, इमानि त्वस्यैवेत्**येव**कारः.

एताः परमित्यत्र. **एतादृशीमवस्थां प्राप्ये**ति, पतित्वेनान्यत्र सम्बन्धं प्राप्येत्यर्थः. स्वाधीनतनुत्वात्तनुभृत्त्वं सफलतनुत्वाच्च तनुभृत्त्वमिति समुच्चयः. **तत्र**

जात इत्याश्चर्यम्. किञ्च **गोविन्दे** स्वकीयत्वेन ज्ञाते वस्तुतः **अखिलात्मनि एवं रूढभावाः**[१], अतो देहस्य स्वाधीनस्यैतदेव फलमिति सर्वात्मत्वेन ज्ञात्वापि निर्दोषपूर्वभावनिष्ठा एव. ननु ज्ञानावस्थोत्तरेति, "आत्मलाभान्न परं विद्यत"इति, एता भगवता ज्ञाननिष्ठा कृताः इति च, वस्तुत एवाग्रे देहस्यानुपयोगात्कथमेषा स्तुतिरिति चेत्तत्राह **वाञ्छन्ति यमिति. यं भावं भवाद् भीः** येषां ते मुमुक्षवः **मुनयो** मुक्ताः **वयं** भक्ताः **च**कारात्सर्व एव धर्ममार्गपरा अपि. अवश्यं हि विदेहकैवल्यपर्यन्तं सर्वेषां बहिःसंवेदनास्त्येव, जीवन्मुक्तानां तथा श्रवणात्. तत्र लौकिक एव भावः सर्वेषां जायत इति कालावच्छेदेन जन्मवैयर्थ्यमेव. **अन्येषां तु** वैयर्थ्यं सिद्धमेव. नारदादीनामपि कदाचित् प्राकृतवद् व्यवस्था, अन्यथा लौकिकसमानकार्यं न स्यात्. प्रह्लादस्यापि राज्यादिकरणात् तथावसीयते. बहिःसंवेदने तु एषैवावस्था सर्वशास्त्रपर्यवसिता, नातोऽन्या क्वचिदप्यस्तीति अवस्थायां विचार्यमाणायामेता एव **तनुभृतः**. नन्वेतदपेक्षया ये श्रोत्रिया ब्रह्मविदो ब्राह्मणाः वसिष्ठादयः ते महान्तो भविष्यन्तीत्याशङ्क्याह **किं ब्रह्मजन्मभिरि**ति, ब्रह्मभावापन्नानां जन्मभिः शौक्लसावित्रयाज्ञिकैः किं, न किञ्चित्. यद्यपि बहिःसंवेदने तेषां वेदार्थानुष्ठातृत्वं

लेखः

लौकिक एव भावः सर्वेषामिति, तत्र बहिःसंवेदनायामित्यर्थः. **किं ब्रह्मजन्मभिरनन्तकथारसस्यै**तावत आवृत्तिमभिप्रेत्य द्विधा व्याख्यातमिति ज्ञेयम् ॥५९॥

प्रकाशः

एता इत्यत्र. **तत्रे**ति बहिःसंवेदनावस्थायाम्. ननु स्वास्थ्यसम्पादनस्योत्कृष्ट-

टीपिका

एताः परमित्यत्र. रूढभावा[सुबो]इति प्रादुर्भूतभावाः; प्रादुर्भावार्थकरुहधातोः प्रयोगोऽयमित्यर्थः. नन्वेवं मूले **निखिलात्मनि** इत्युक्त्या एतासां भगवति ज्ञाननिष्ठा भविष्यति तदा "न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिहे"ति वाक्योक्तज्ञाननिष्ठारूपो दोषो भविष्यतीत्याशङ्कायामाहुः **सर्वात्मत्वेने**त्यादिना. **निर्दोषे**ति, पूर्वं **गोविन्द**पदस्यार्थकथने **गोविन्दे स्वकीयत्वेन ज्ञाते** इत्युक्त्या निर्दुष्टपूर्वभावनिष्ठा एव, अतो नैतासां ज्ञानमार्गनिष्ठत्वशङ्केति भावः. ननु विदेहकैवल्याद्यवस्थाप्राप्तानां मुक्तानां कस्यां न्यूनतायामेतद्भाववाञ्छेत्याशङ्क्य बहिःसंवेदने एव न्यूनतेत्याहुः **अवश्यमित्यादिना. यो हीत्यस्याभासे स्वास्थ्ये**[प्रका]ति, योगादयः स्वास्थ्यसम्पादका

१. स. पाठानुसारेण. रूढभावः इति मु. पा.

दीर्घसत्रित्वादिरूपमन्तर्निष्ठतायां तु ब्रह्मपरत्वमिति, तथापि कर्मापेक्षया भक्तिरधिका— कर्म हि प्रपञ्चे स्वास्थ्यं सम्पादयति न तु भक्तिः. यो हि दुष्टं मन्यते स दुष्ट इति निर्धारः. तत्तत्प्रकरणे तत्तत्प्रशंसा तु प्रकरणानुरोधिनी. अतः **अनन्तकथायामरसस्य ब्रह्मजन्मभिः** कर्मोपयोगिभिरपि न किञ्चित्. ननु तथाप्युत्कर्षहेतुः लोके तद्भवतीति युक्त्या बाधेऽपि प्रसिद्ध्यैव उत्तमफलत्वं पर्यवसानविधया कल्प्यत इति चेत्तत्राह **अनन्तकथायां** रसयुक्तस्य पूर्वोक्तः ब्रह्मजन्मभिः न कोऽपि पुरुषार्थः साधनीयः, ततोऽप्युत्कृष्टस्यैव साधनदशायां च फलस्य सिद्धत्वात् कर्मापेक्षयापि भक्त्यैव ज्ञाने अधिकोपकारकरणाच्च ॥५९॥

तर्ह्येवमवस्थाप्रापकानि ब्रह्मजन्मानि भविष्यन्तीत्याशङ्क्य व्यभिचारात्परम्परयाप्युपयोगाभावमाह **क्वेमाः स्त्रिय** इति.

क्वेमाः स्त्रियो वनचरीर्व्यभिचारदुष्टाः
कृष्णे क्व चैष परमात्मनि रूढभावः ।
नन्वीश्वरोनुभजतोविदुषोपि साक्षा-
च्छ्रेयस्तनोत्यगदराज इवोपयुक्तः ॥६०॥

इमा इति गोप्यः जातिहीनाः, तत्रापि **स्त्रियो** योनितो निकृष्टाः. स्थानतोऽपि

प्रकाशः

त्वात्कथमधमत्वं कर्ममार्गस्येत्यत आहुः **यो हीत्यादि. मन्यत** इति, सङ्ग्राहयति सङ्गृह्णाति वा ॥५९॥

टीपिका

अत उत्कृष्टत्वादतो योगाभ्यासयुक्तानां वसिष्ठादीनां कथं कर्मनिष्ठतेत्याशङ्कायामाहुरित्यर्थः. **यो ही**[सुबो.]ति, **यो हि दुष्टं मन्यते स दुष्ट** इति निर्धारेण कर्ममार्गीयाणां प्रपञ्चासक्तानां दुष्टत्वं सिद्धमिति. ननु योगाभ्यासयुक्तानां वसिष्ठादीनां कथं कर्मासक्त्या दुष्टत्वमित्याशङ्कापरिहारस्तु तेषां योगादिनिष्ठापि यजमानाद्यर्था, अन्यथा द्वादशवर्षपर्यन्तं गङ्गाया जलमध्ये तपश्चर्यां कृत्वा कथं विश्वामित्रेण सह युद्धं कुर्यात्? एतासां त्वन्तर्निष्ठायां बहिर्निष्ठायामपि पुरुषोत्तमपरत्वमिति महान् विशेष इति भावः. अतः **एता परं तनुभृतइति** युक्तमुक्तम्. ननु तर्हि कर्मादीनां कथं प्रशंसेत्याशङ्क्याहुः **तत्तत्प्रकरणे**[सुबो.]त्यादि ॥५९॥

क्वेमाः स्त्रिय इत्यस्याभासे. **व्यभिचारादि**[सुबो.]ति, ब्रह्मजन्माभावेऽपि तासु

निकृष्टत्वमाह **वनचरीरि**ति. सत्सूत्पन्ना एव वनचरणादिना उत्कृष्टा भवन्ति, तदर्थमेवोच्यते "वने तु सात्त्विको वास"इति. अन्यथा वानराणामप्युत्कर्षः स्यात्. **चरीरित्यनेन** स्वच्छन्दचारित्वमपि सूचितम्, अनेन [1]द्रव्यादिसर्वापकर्षः सूचितः. अन्तःकरणापचारमाह **व्यभिचारदुष्टा** इति, व्यभिचारबुद्ध्या दुष्टा इति केचित्. वस्तुतस्तु, भगवता स्वार्थमुत्पादिताः मध्ये कालविलम्बेऽन्यान् गोपालान् भ्रमात्पतिबुद्ध्या गृहीत्वा **व्यभिचारं** कृतवत्यः, तेन **दुष्टा** अपि जाताः पुत्राद्युत्पत्त्या, यथाऽहल्या भ्रमात् प्रवृत्ता दुष्यति. अतो जाते दोषेऽयं भावो निवर्तितुं योग्यः, यथा भर्त्रा व्यभिचारिणी त्यज्यत इति. तथापि भगवद्भाव उत्पन्न एवेत्याश्चर्यमित्याह **कृष्णे क्व चैष** इति.

[2](ननु धर्मशास्त्र एतत्प्रायश्चित्तोक्त्यभावाद् विवाहितपुरुषभजनं न व्यभिचारः, स्त्रीमात्रस्यैतद्दोषवत्त्वेन तत्प्रसूतानामधर्मजातत्वेनाग्निहोत्रादिधर्मानाधिकाराच्चतुर्वर्गोच्छेदप्रसङ्गश्च. तद्बोधकमानवैयर्थ्यं च स्यात्. भगवत्पुत्रानुद्दिश्याकथनाद् भगवत्पत्न्यतिरिक्तासु 'सती'पदप्रयोगश्च भागवतादावनुपपन्नः स्याद्, इति चेत्, तत्रायमाशयः— वर्णाश्रमाणां देहनिष्ठत्वेन तानधिकृत्य च धर्मशास्त्रस्य प्रवृत्तत्वेन दैहिकधर्मनिरूपकं तत् नतु भगवद्धर्मनिरूपकं, भिन्नाधिकारात्. अध्यासेनात्मसात्कृतत्वाद्देहस्य तद्धर्मेषु 'स्वधर्म'प्रयोगः. वस्तुतस्त्वात्मधर्मा एव स्वधर्माः, 'स्व'शब्दस्य तत्रैव शक्तेः. अत एवाविद्वदधिकारित्वं तेषु उच्यते. ब्रह्मविदां तत्रानधिकारो भक्तौ मुख्योऽधिकारश्च. तदुक्तमवतारहेतुनिर्णयप्रस्तावे

प्रकाशः

क्वेमा इत्यत्र. ननु वनवास उत्कृष्टहेतुरिति तेन कथं निकृष्टतोच्यत इत्यत आहुः **सत्स्वित्यादि. स्वच्छन्दचारित्वमिति** दधिविक्रयाद्यर्थभ्रमणरूपम्. **अनेनेति,** पूर्वसूचितरसविक्रयस्य निषिद्धेनेत्यर्थः. **अयं भाव** इत्यादि. **कृष्णे क्व चे**त्यादिना वक्ष्यमाणो भावो भगवतो निवर्तयितुं योग्य इत्यर्थः. तत्र दृष्टान्तः **यथे**त्यादि. अत्रत्याशङ्कां प्रभुचरणाः स्वतन्त्रे परिहरन्ति प्रकारद्वयेन **नन्वि**त्यादि **अधिके**त्यन्तम्.

टीपिका

तथावस्थादर्शनादित्यर्थः. **अहल्ये**[सुबो.]ति गौतमस्त्रीत्यर्थः. **कृष्णे क्व चे**[प्रका.]ति, असम्भावनादोषग्रस्तभाव इत्यर्थः. **दृष्टान्तेति, यथा भर्त्रा व्यभिचारिणी त्यज्यते तथा** भगवता न त्यक्ता इति भगवतो महदैश्वर्यमिति भावः.

---

१. इत्यादि इति स. २. () एतच्चिह्नान्तर्गतं श्रीमत्प्रभूणाम्.

"तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम् भक्तियोगवितानार्थमि"ति. "मुक्तोपसृप्यव्यपदेशादि"ति तत्त्वसूत्रं च. प्रकृते च भक्तिमार्गमधिकृत्य सर्वोऽर्थो निर्णीयते, तत्र च भगवदतिरिक्तभजनस्य दोषहेतुत्वमेवेति सिद्धान्तः. अत एव "आज्ञायैवं गुणान् दोषान्मयादिष्टानपि स्वकान् धर्मान् संत्यज्य यः सर्वान्मां भजेत्स च सत्तम" इत्यादिवाक्यैस्तत्त्यागपूर्वकं भजनमत्रोच्यते. अन्यत्रोक्तन्यायेन अस्वधर्मस्यापि स्वधर्मत्वेनोक्त्या कापट्यं मन्वानो व्यासो भक्तिशास्त्रं निरूपयन् "धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्रे"ति प्रतिज्ञातवान्. एवं सति भक्तिमार्गीयविहितनिषिद्धाकथनं धर्मशास्त्रे युक्तमेव, भिन्नविषयत्वात्. वात्स्यायनीयइव धर्मशास्त्रीय-तदकथनम्. न हि तदार्षमिति धर्मशास्त्रं न तद्बाधकम्. न वा धर्मशास्त्रं बाधकमिति तद्विरुद्धोपदेशो न वात्स्यायनीये, कामरसनिरूपणे हि तत्प्रवृत्तं, स च यादृशस्तादृशं न्यरूपयदिति न काप्यनुपपत्तिः. प्रकृतेऽपि भगवतोऽतिदुरापत्वेन स्वातन्त्र्येण स्थितौ स्त्रीणामुत्कट-

---

टीपिका

अन्यत्रे[सुबो.]ति धर्मशास्त्रे इत्यर्थः. **उक्तन्यायेने**ति, **अत्रायमाशय** इत्यादि उक्तन्यायेनेत्यर्थः. **तदार्षमि**ति, धर्मशास्त्रमार्षमित्यर्थः. **इती**ति, इति हेतोरित्यर्थः. **धर्मशास्त्रमि**ति, धर्मशास्त्रं प्रतीत्यर्थः. **न तद्बाधकमि**ति, **तद्** वात्स्यायनीयं यथा न बाधकमित्यर्थः. एवं वात्स्यायनीयं प्रति धर्मशास्त्रमपि न बाधकमित्याहुः न **वे**त्यादिना. **तद्विरुद्धोपदेशेने**ति,[१] तथा **तद्वा**त्स्यायनीयम**प्यार्ष**त्वात् **तद्ध**र्मशास्त्र**विरुद्धोपदेशेन वात्स्यायनीये धर्मशास्त्रं बाधकं न** इत्यर्थः. **न ही**ति, उभयोरार्षत्वेन अबाधकत्वं नहीति न वक्तव्यं, पूर्वोक्तं भिन्नविषयत्वात् न बाधकम् इति च वक्तव्यमिति योज्यम्. नन्वेवमुभयोरार्षत्वे को दोष इत्याशङ्का एवं परिहरणीया— तथा च धर्मशास्त्रीयविहितनिषिद्धाङ्गीकारे सति भक्तिमार्गीयविधिनिषेधौ बाध्येताम्. एवं वात्स्यायनीयानामपि विधिनिषेधाङ्गीकारे धर्मशास्त्रीयविधिनिषेधौ बाध्येताम्. अत आर्षत्वेऽपि नाङ्गीकार इति भावः. वस्तुतस्तु धर्मशास्त्रीयाणामपि भगवद्धर्मनिरूपणे तात्पर्यम्. तदेवोक्तं फलप्रकरणस्य प्रथमाध्याये "यत्पत्यपत्य" इत्यस्य सुबोधिन्याम् "अतः पत्यादिसेवाविधायकं च शास्त्रं त्वत्सेवामेव विधत्ते" इति. एवं भरतवात्स्यायनादीनामपि संगीतशास्त्र-कामशास्त्रनिरूपणेऽपि भगवद्धर्मनिरूपणे तात्पर्यम्. तदप्युक्तं फलप्रकरणस्य पञ्चमाध्यायारम्भे सुबोधिनीकारिकायां व्याख्याने टिप्पण्यां "नन्वि"त्यारभ्य "बुध्यस्वे"त्यन्तं द्रष्टव्यम्. अतो न कोऽपि विरोध इति भावः.

---

१. 'तद्विरुद्धोपदेशेने'ति अयं टीपिकापाठः सुबोधिनीपाठासंगतो भाति-सम्पा.

रागेण[1] यथेच्छाचारान्नाशो भविष्यतीति भगवान् धर्ममार्गीयास्ता: कृत्वा विषयरागपूर्तिपूर्वकं तदुक्तनियमस्थाः कृतवान्. न ह्येतावता नायं व्यभिचारः, सहजभर्त्रतिरिक्तभजनात्. अत एवाद्यश्रीमहिष्या गीतं "त्वक्श्मश्रुरोमनखकेशपिनद्ध-मन्तर्मांसास्थि-रक्तकृमिविट्कफपित्तवातम्, जीवच्छवं भजति कान्तमतिर्विमूढा, या ते पदाब्जमकरन्दमजिघ्रती स्त्री''ति. अतस्तद्दुरापत्वेऽपि तदाशया तद्भजनमन्यभजनरहितं कुर्वद्भिरेव सर्वैः स्थेयमिति भक्तिमार्गनिष्कर्षः. एतास्तु भगवदर्थमेव प्रकटिताः अतः सुष्ठूक्तं 'वस्तुतस्त्वि'त्यादि. यद्वा धर्मो द्विविधोऽन्तरङ्गो बहिरङ्गश्च. सोऽपि प्रत्येकं त्रिविधः तथाहि— विहितत्वेन क्रियमाणो भगवद्विषयकः श्रवणादिरन्तरङ्गतमो धर्मः. योगादिसाधनैरात्मचिन्तनं तादृक्तरः, "अयं हि परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनमि''ति स्मृतेः. फलानुद्देशेनेश्वरार्पणधिया क्रियमाणो यागादिरन्तरङ्गः. वर्णाश्रमधर्मत्वेन स्वर्गादिफलोद्देशेन क्रियमाणो वैदिको धर्मो बहिरङ्गः. ततस्तुच्छः स्वर्गादिफलको विविधस्त्रीपुरुषाधिकारिक-पातिव्रत्यादिर्विविधदेवताव्रतादिः स्मार्तो बहिरङ्गतरः. ऐश्वर्यारोग्यादिफलक-विविधदेवताग्रहादिभजनरूपः स्मार्तो बहिरङ्गतमः. अत्र पूर्वपूर्वप्राबल्यं ज्ञेयम्, पूर्वपूर्वासम्भव उत्तरोत्तरकर्तव्यता च. प्रेमानन्तरं स्वव्यसनतः क्रियमाणः श्रवणादिर्न धर्मः, तल्लक्षणाभावात्. "चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म" इति यतस्तल्लक्षणम्. पूर्वोक्ते सर्वत्र प्रवृत्तिनिवृत्त्योस्तत्तदधिकार एव प्रयोजकः. भगवान्मर्यादापुष्ट्योर्मध्ये यं जीवं यस्मिन् मार्गे मनुते तस्मिंस्तस्य तदेवाधिकाररूपं; तत्तच्छास्त्रं च तत्तन्मार्गीयधर्मनिरूपकम्. पूर्वोक्ताधिकारवतां स्वस्वाधिकारिक-धर्माकरणे च दोषः. अत एव पार्थस्य पुष्टावङ्गीकारान्मर्यादामार्गे निषिद्धस्यापि गुर्वादिहननस्याकरणे भगवान् अनिष्टं फलमाह "अथ चेत्त्वमहङ्कारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसी''ति. प्रकृतेऽपि स्त्रीरत्नानामासां पुष्टिपुष्ट्यामङ्गीकार इति न मर्यादामार्गीयधर्मेऽधिकारः किन्त्वविवाहेऽपि भगवत एव भजने. अत एव मर्यादाधर्मो भगवतोक्तोऽपि नैताभिरङ्गीकृतः, अङ्गीकारे तत्राधिकारस्य हेतुत्वात्, नह्यनधिकारिहृदि धर्मः स्फुरति. एतज्ज्ञापनायैव हि भगवताप्युक्तम्. एतेन मर्यादामार्गीयस्य पुष्टिमार्गीयधर्मानङ्गीकारः इत्यपि ज्ञेयम्. एवं च सति मर्यादामार्गीयो धर्म एतासां परधर्म इति विवाहितपुरुष-

---

टीपिका

तदुक्तेति, धर्मशास्त्रोक्तनियमस्थाः कृतवानित्यर्थः. कथं व्यभिचारः इत्याशङ्क्याहुः **सहज** इत्यादि, **सहजभर्ता** भगवानेवेत्यर्थः. फलितमाहुः **अतस्तद्दुरापत्वेऽपी**त्यादिना.

---

१. भावेन इति स.

भजनमपि व्यभिचार एवेत्यभिप्रेत्य तथोक्तम्. सहजभर्तृत्वेऽपि भगवतो विवाहकरणं तु तादृशभक्तनिरोधार्थं तत्तद्रसानुभवार्थं मर्यादास्थापनेन लोकशिक्षार्थं च. अदित्यादीनां लीलार्थं मातृत्वेनाङ्गीकारात्पुत्रभावेनैव भजनं भगवत्प्रापकं, कश्यपादिषु च पितृत्वेनाङ्गीकारात्तासां तासां तत्तत्पतिभजनमेव स्वधर्मः, भगवता तथैवाङ्गीकृतत्वात्. न तु तत्र विवाहः प्रयोजकः, तद्विवाहस्य भगवल्लीलोपयोगित्वेन भगवद्विवाहतुल्यत्वादित्यलमधिकोक्त्या).

केचित्तु निवेदनानन्तरं पुनर्गोपसम्बन्धात् व्यभिचारमाहुः, बलादपि नाशिता नाशितैवेति. तत् "मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थानि"ति भावेनैव तत्पतीनां रमणं न तु ताभिः सह, यथा नाशशङ्का स्यात्. तां रीतिं न हि ते तासु कर्तुं शक्ताः, तासामेवानुभावेन भगवता वा भस्मसाद् भवेयुः. किञ्च यदि प्रक्रमानन्तरं दोषः स्याद् भावश्च न भवेत्. तदाह **कृष्ण** इति, न हि सदानन्दे फलरूपे भावो दोषाय, तथा सति फलार्थं कर्म कोऽपि न कुर्यात्. उद्धारार्थं वा परमानन्दः प्रकट इति. तत्र य एतादृशो भावः सोऽवश्यं सर्वपुरुषार्थसाधक इति ब्राह्मण्यादिरहितानां सर्वपुरुषार्थसाधको भावो जातः. ननु कथमेवमकारणका कार्योत्पत्तिः, विरुद्धस्य वा कारणतेति चेत्तत्राह **नन्विति**. सत्यमेवैतद् विरुद्धमेतदुभयमिति तथाप्येवं वितर्के **ईश्वरः अविदुषोपि अनुभजतः** स्वानुरूपमेव **श्रेयः** करोति न तु सेवकानुरूपम्. यद्यप्ययमर्थः लोके वेदेऽप्यप्रसिद्धः तथापि गोपिकासु दृष्टत्वादेवं वितर्कः.

प्रकाशः

तादृशभक्तनिरोधार्थमिति, भगवता सह विवाहाकाङ्क्षिभक्तनिरोधार्थमित्यर्थः ॥६०॥

टीपिका

कथं न स्फुरतीत्याशङ्क्याहुः **एतज्ज्ञापनायैवे**त्यादि. **उक्तमिति** "दुःशीलो दुर्भग"इत्यादिना उक्तम्. **तथोक्तमि**ति, **व्यभिचारदुष्टा** इत्युक्तमित्यर्थः. **तादृशभक्ते**ति, रुक्मिण्यादिभक्तनिरोधार्थमित्यर्थः. तर्ह्यदित्यादीनां कथं सतीत्वमित्याशङ्कापरिहारस्तु भगवदङ्गीकारबलेनेत्याहुः **अदित्यादीनामि**त्यादिना.

निवेदनानन्तरमिति, फलप्रकरणे आत्मनिवेदनानन्तरमित्यर्थः. ननु "अनिच्छन्त्यो ययुर्गोप्यः स्वगृहानि"तिवाक्याद् इच्छाभावे कथं नाश इत्याशङ्क्याहुः **बलादपी**त्यादिना. **तां रीतिमि**ति रमणादिरीतिमित्यर्थः. **प्रक्रमानन्तरमि**ति निवेदनानन्तरमित्यर्थः. **अकारणक**[1] इति, ब्रह्मजन्माभावेऽपि भावोत्पत्तिरित्यर्थः. **विरुद्धस्य वे**ति, व्यभिचारादिदोषस्येत्यर्थः. **परमेश्वरत्वे**ति, ईश्वरस्य नियम्याभावादित्यर्थः.

---

१. अकारणका इति सुबो. पाठः.

उपपत्तिरीश्वरत्वादेव— ईश्वरो हि क्वचित्सेवां न मन्यते, विपरीतमपि फलं प्रयच्छति, प्रमादादप्यपराधे प्राणानेव वियोजयतीति. क्वचिदधिकमेव फलम्. तत्रादृष्टं नियामकमिति चेत् न, ईश्वरत्वभङ्गप्रसङ्गात्. लोके परमेश्वरत्वाभावात्. तथाऽविरुद्धमपि भवेद्, भगवति तथा कल्पनायां प्रमाद एव. लोकन्यायेनाप्येकदेशेन दृष्टान्तमाह **अगदराज इवे**ति. अमृतं हि प्रमादादप्युपभुक्तं प्रसादं सम्पादयत्येव, प्रमादग्निस्पर्शोऽपि दाहहेतुर्भवति. तथापि कदाचिदेव सजातीयप्रचयसंवलित एव, अन्यत्रेश्वरत्वाभावात् श्रेयोव्यभिचारो न दोषाय. न भवति गदो यस्मादिति गदनिवर्तकं वा **अगदमौ**षधम्, सर्वेषां शक्तिरेकत्र प्रतिष्ठिता **राज**त्वमापादयती**त्यगदराजो**ऽमृतम्. भगवतः स्वानुरूपमेतदेव. प्रमाणानां तु बलमेकमेव, तदपि न परमकाष्ठामापद्यते, अन्यथा केषाञ्चिदेवं स्याद्; अतः प्रमेयबलादेवैवंभाव इति लक्ष्यते. **अनुभजत** इति भगवदिच्छया भजनमभिप्रेतम्. ''यदेव विद्यया करोति''ति श्रुत्या ज्ञानाभावे भजनं न फलसाधकमिति शङ्कापरिहारार्थमपिशब्दः. **साक्षाद्** भजत इति विशेषः, अनेन मन्त्रादिद्वारा भजनं तु भजनानुरूपमेव फलतीति सूचितम्. **उपयुक्त** इति समीपे निःसंदिग्धः सर्वलोके, नत्वन्यत्र मिश्रितः.

(अथवा ''अनन्तकथारसस्य किं ब्रह्मजन्मभिरि''त्युक्ते प्राप्ताशङ्कायामाह **केमा** इति. आशङ्का तु— ननु स्त्रियः पुरुषमात्रे कामुक्यः स्वभावत एव भवन्ति, भगवांश्च पुरुषोत्तमः, तथा च कामभावेन भगवति भक्तानामेतासां कथं ब्रह्मजन्मा-दिवद्भ्योऽप्युत्कर्षो युज्यत इति तन्निरासायात्र सर्वाभ्यः स्त्रीभ्यः सर्वेभ्यः पुरुषेभ्यश्चा-

---

टीपिका

अविरुद्धमिति, ईश्वरस्य नियामकाभावादविरुद्धमपि भवेदित्यर्थः. **तथा कल्पनायामि**ति, ईश्वरे दोषकल्पनायामित्यर्थः. **प्रमाद एव भवेदि**ति, जीवे दोष एव भवेदित्यर्थः. नन्वमृतदृष्टान्ते अग्निदृष्टान्तदाने कोऽभिप्राय इत्याशङ्कायामाहुः **तथापी**त्यादिना. तत्र सजातीयकाष्ठ-समूहसंवलित एव दाहहेतुर्भवति न तु विजातीयजलसमूहसंवलितो दाहहेतुर्भवतीत्यर्थः. एवं दृष्टान्त उक्तः, दार्ष्टान्तिके तु गोपिकासदृशीनाम् अगदराज इव प्रसादं सम्पादयतीति ज्ञेयम्. एतदेवोक्तं **कदाचिदेवे**ति. **न दोषाये**ति, जीवेऽन्यथाकरणेऽपि न दोषाय भवतीत्यर्थः. **उपयुक्त** इत्यस्यार्थकथने **समीपे**ति, **सर्वलोके निःसन्दिग्धं समीपे** अगदराजः श्रेयस्तनोति **न त्वन्यत्र मिश्रित** इति योज्यम्, तथा गोपिकास्वपि भगवत्सामीप्यं सर्वलोकप्रसिद्धं, नत्वन्यत्र मिश्रितम् अतः श्रेयस्तनोतीति किं वाच्यमित्यर्थः.

धिक्यमुपपाद्यते. तत्रापि स्त्रीभावेन भक्तानां कथमुत्कर्ष इति शङ्कानिरासाय प्रथमं स्त्रीभ्यो वैलक्षण्यमुच्यते **इमाः क** साधारण्यः **स्त्रियश्च क** । अल्पसाधर्म्यमप्यन्योन्यं नास्तीत्यसम्भावनापूर्वकं कथनम्. अन्यासु **स्त्री**शब्दप्रयोगादेतासु स्त्रीत्वमपि न निरूपयितुं शक्यमिति ज्ञाप्यते, स्त्रीणां कामद्वारैव पुंसि स्नेहस्य नियतत्वाद् एतासामतथात्वात्. यद्यपि कामलीलाप्येतासु निरूप्यते तथापि न तदुपाधिकः स्नेहोऽत्र किन्तु निरुपधिरेव; भगवान् स्वयं तादृग्रसदानार्थं तं भावं संपाद्य तं रसं ददातीत्यवोचाम. वैलक्षण्यमेवाह **अवनचरीरि**ति. एतास्तु भगवता कालकर्मादिसम्बन्धेभ्योऽपि सर्वदा रक्ष्यन्ते, किं पुनः पुरुषान्तरसम्बन्धादि**त्यवने** रक्षण एव **चरन्ती**ति तथा. पुत्रोत्पत्त्यादिकं तु सर्वभवनसमर्थादलौकिकप्रकाराद्भगवत एव. गोपानां तु "मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थानि"तिन्यायेनाभिमानमात्रमेव सर्वत्र. व्यवहारमात्ररक्षयैतद्वार्तागोपनेनैतद्रसपोषायैवं भगवता क्रियते. अतः केवलभगवदीयत्वं नान्यासु. तदेवाह **व्यभिचारदुष्टा** इति स्त्रीणां विशेषणम्. जीवमात्रस्यैव भगवानेव भर्ता, तत्रापि स्त्रीणाम्. तथा चान्येष्वेव सदा तासां सम्बन्धात्ताः सर्वा व्यभिचारदुष्टा एव अतो **बह्वेव** वैलक्षण्यमिति भावः. अतः परं पुरुषेभ्योऽप्युत्कर्षमाह **कृष्ण** इति. सन्ति नारदब्रह्मादयो भक्ता भगवति भाववन्तस्तथा**प्येष भावः क** तेषु वर्तत इत्यर्थः. **च**काराद्व्यभिचारादिदोषरहितायां लक्ष्म्यामपि नायं भावः. **एष** इति स्वानुभव उक्तः, तेनान्यत्रैतत्सजातीयभाव-श्रवणस्याप्यभावात् कथमन्यत्रैषोऽस्तीति मन्तव्य इति भावः. अथवा "बर्हापीडे"ति श्लोके गोपिकानामेव भावरूपस्तदर्थमेव कोटिकन्दर्पलावण्यं प्रकटीकृत्य तद्भोग्यत्वेन प्रकटः 'कृष्ण'शब्दार्थ इति विवृतम्. तथा च ब्रह्मादीनां भावो यद्यप्यस्ति तथापि **कृष्णे** पूर्वोक्तलक्षणे **क भाव** इत्यर्थः. न हि कदाचिद्भगवांस्तद्भोग्यत्वेन तदर्थं प्रकट इति भावः. विषयतो वैलक्षण्यमुक्त्वा स्वरूपतो वैलक्षण्यमाह **एष भावः क्वे**ति, अनुभवैकवेद्यो लोकवेदाप्रसिद्ध इत्यर्थः. प्रकारतोऽपि वैलक्षण्यमाह **परमात्मनि क्वे**ति. आत्मा हि प्रियः, सर्वत्र प्रियत्वस्य तदुपाधिकत्वात्. एतासां तु **आत्मनः** सकाशात् **परमो**ऽधिकः प्रियो यस्तस्मिन् **भावः**. तेन नात्मार्थं भगवान्प्रियः किन्तु भगवदर्थं स्वात्मेत्यायाति. ब्रह्मादीनां तु भगवान्नियामकत्वेनात्महितकर्तृत्वेनैव प्रियोऽतो बहुवैलक्षण्यमित्यर्थः. उत्पत्तितोऽपि वैलक्षण्यमाह **रूढभावः क्वे**ति. **रूढः** सहजो

टीपिका

द्वितीयव्याख्याने. **पूर्वोक्तलक्षणे** इति "बर्हापीडे"तिश्लोकोक्तलक्षणे इत्यर्थः.

लोकवेदाद्यजनित इत्यर्थः; अन्येषां तु तादृशभाववत्त्वाद्वैलक्षण्यम्. किञ्च **रूढ-भाव**पदेन प्रमाणतो वैलक्षण्यम्, **एष भाव** इति प्रमेयतः, **परमात्मनी**ति साधनतः, **कृष्ण** इति फलतश्च. अन्यत्र नैवंरूपत्वमुक्तम्. तथापि भगवतीश्वरत्वेन ज्ञानाभावाल्लौकिकत्वज्ञानस्य च जघन्यत्वात्कथं ब्रह्मादिभ्योऽत्रोत्कर्ष इत्याशङ्क्याह **नन्वीश्वर** इति. अत्रायं भावः— फलाधिक्येनैवाधिक्यं न तु साधनप्रकारविशेषैः, तच्चैतास्वेव दृष्टं नान्येषु. एतदेवाह **विदुषोऽपी**श्वरत्वेन स्वरूपं विदुषोप्य**नुभजतः** शास्त्रार्थत्वेन ज्ञात्वा भजतः पुरुषस्य **साक्षात्स्वयमपीश्वरः** किं **श्रेयस्तनोती**ति काकूक्तिः किन्तु न तनोतीत्यर्थः. तेषां भगवज्ज्ञानवचनभक्त्यादिभगवद्धर्मैरेवाखिल-पुरुषार्थसिद्धिर्न तु स्वयं भगवानागत्य किञ्चित्करोतीति तथा. अस्तु वा कदाचिद्भक्त्यतिशयेन गजेन्द्र इव पुरुषार्थदानं, **तथाप्यगदराज इव** किं **श्रेयस्तनोत्यन्येषु**! विवक्षितार्थस्यातिगोप्यत्वाद् दृष्टान्तव्याजेनाह. अत्रायमर्थः— "एका तदङ्घ्रिकमलं संतप्ताः स्तनयोरधादि"ति न्यायेन विरहानलसंतापहृदयगत-स्मररोगशमनाय यथैकैकमङ्गं भगवतः स्वहृदयादिदेशेष्वेताः स्थापयन्ति, न तथा ब्रह्मादयः यत ईश्वरान्नित्यं ते बिभ्यत्येव. तत्राप्येतासु भगवतो न स्वातन्त्र्यं प्राधान्यं वा किन्तु तासामेव, तदाह **उपयुक्त** इति पदेन. यथौषधस्य तापरोगनिवर्तकत्वेनैवोपयोगो न मुख्यत्वं, पुरुषस्यैव मुख्यत्वं तथेत्यर्थः. यथा रोगनिवृत्त्यनन्तरमपि पोषकं रस्यं च यदि भवत्यौषधं तदा यथेच्छं भोगस्तस्य तथा तत्रापि विरहतापोपशमनानन्तरं यथेच्छं भोग इति ज्ञापनाय **राज**पदम्. अथवा **साक्षाद्यच्छ्रे**यस्तत्किं **तनोत्यन्येषा**मिति योजना. इतररागविस्मारकत्वेनास्यैव रसस्य साक्षाच्छ्रेयोरूपत्वादेतदन्येषु तददानात्तथा. अथवा विदुषो जनस्य भगवान् श्रेयस्तनोतीति सत्यं तथापि कि**मनुभजतो विदुष**स्तथाकरणमिति ? तत्रानुभजनं भगवद्भजनानन्तरं स्वभजनं, "विरचितचाटुवचनरचनमि"त्यादिगीतोक्तन्यायेन. नह्येवं ब्रह्मादिषु सम्भवति. अथवा प्रतिपदं काकूक्तिर्ज्ञेया. तथाहि **विदुषो** जनस्य कि**मीश्वरः श्रेयस्तनोति**? अयमर्थः— कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थो हीश्वरः नहि ब्रह्मादिष्वेवं रूपं प्रकटीकृत्य फलं ददाति. एतासु पूर्णकामत्वात्मारामत्वादीन् स्वरूपधर्मानप्यन्यथा कृत्वा ददाति, तेषु वाङ्मर्यादामपि नान्यथा करोतीति तथा. **अनुभजतः** किं **तनोती**ति पूर्ववत्. अन्यस्य यच्छ्रेयस्तनोति तत्किं विदुषस्तनोति

टीपिका

गीतोक्तन्यायेनेति गीतगोविन्दोक्तन्यायेनेत्यर्थः. **तदुक्तमि**ति गीतगोविन्दोक्तमित्यर्थः.

किन्त्वविदुष एव तज्ज्ञानानुरूपं श्रेयस्तनोतीत्यर्थः. स्वरूपस्यानन्दरूपत्वात्तस्य चानुभवैकवेद्यत्वेन वाक्चक्षुराद्यवेद्यत्वाद् ब्रह्मादीनां च पुरुषत्वेन भगवददानाच्च साक्षात्स्वरूपानुभवाभावादविद्वत्त्वम्. एतासां तथात्वं प्रसिद्धम्. **साक्षाच्छ्रेयो**ऽपि किं **तनोती**ति पूर्ववत्. **साक्षा**त्स्वयं किं **तनोती**त्यप्युक्तम्, **तनोति** किमित्यपि. एषु श्रेयः सकृद्ददाति न तु विस्तारयति. विस्तारणं च तदेकपरचित्तत्वं तदर्थैकप्रयत्नत्वादिकम्. तदुक्तं "तत्र मम हृदयमतियत्नमि"ति "विशति वितनोरन्यो धन्यो न कोऽपी"त्यादिना. नह्येवमन्यत्र करोतीति तथा. **अगदराज इव** किमिति पूर्ववद्. **उपयुक्तः** किं **श्रेयस्तनोती**ति— न हि ब्रह्मादीना**मुप** समीपे एकस्मिन्नासने शयनादौ वा **युक्तो** भगवान् भवति यतो भगवद्दर्शनमपि तेषां दुर्लभम्, एतासां तूपयुक्तस्तथेति बह्वेव तारतम्यमित्यर्थः.

[1]यद्वा ननु भक्तिमार्गेऽन्यभजनराहित्येन भजनं मुख्यमित्येतासां स्वपतिसम्बन्धेन कथम् "एताः परं तनुभृत" इत्याशङ्कानिरासायोच्यते— **इमाः स्त्रियो** व्रजस्त्रियो **व्यभिचारदुष्टाः क्व**? नेत्यर्थः. तत्र हेतुः **अवनचरीरि**ति. सर्वदा स्वस्य भगवदुपभोग्यतां ज्ञात्वा रक्षणपरा इत्यर्थः. किञ्च यदि तादृश्यस्तदा **कृष्णे एष रूढभावः क्व च**? असम्भावितत्वात्. तथाहि **रूढ**पदेन भावस्यानवच्छिन्नत्व-मुच्यते. तेनान्तर्बहिर्भेदिनाहर्निशं भगवद्रमणस्य जायमानत्वात्तद्भावरहितत्वं न कदाप्येतासामिति क्व तत्सम्भावनापि! अत्र विवाहितपतिभजनमेव **व्यभिचार**शब्दवाच्यं, तदप्येतासां नास्तीत्युच्यते. ननु "शुश्रूषन्त्यः पतीन् काश्चित्" "ता वार्यमाणाः पतिभिरि"त्यादिकथनात्तत्सम्बन्धाभावो न वक्तुं शक्यते इति चेत् न, तत्सम्बन्धस्तासामाभिमानिक एव न तु वास्तवः. "अस्प्राक्ष्म तत्प्रभृति नान्यसमक्षमञ्जः स्थातुं त्वयाभिरमिता"इत्यत्र "मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थानि"त्यत्रापि तथोक्तत्वात् पुल्लिङ्ग**दार**पदेनापि तत्सम्बन्धाभाव एव तासु ध्वन्यते. न चाभिमानिकस्यापि तस्य सदोषत्वमेवेति वाच्यम्, "स एतावानास"इति श्रुतेरे-तत्सृष्टेः स्वरूपात्मकत्वेन रसार्थं स्थित्यर्थं च प्रभुणैव तथा स्थापितत्वात्. न च

टीपिका

क्वेमाः स्त्रिय इत्यत्र. श्रीमत्प्रभुचरणानां स्वतन्त्रलेखे. ननु यदा श्रुतिसम्मत्या एतत्सृष्टेः स्वरूपात्मकत्वेन आभिमानिकदोषः परिहृतस्तदा गोपानां पृथक्स्थितिर्भगवता किमर्थं कृतेत्याशङ्क्याहुः **रसार्थ**मित्यादिना. तत्र **स्थित्यर्थ**मिति, गोपीनां स्थित्यर्थमित्यर्थः. **तथे**ति सदोष इत्यर्थः. **उक्तोपपत्ते**रिति

१. इत आरभ्य श्लोकान्तपर्यन्तं स. पाठे नास्ति.

भगवत्सम्बन्धात्पूर्वं तथेति वाच्यम्, उक्तोपपत्तेः. न च यथा भगवत्सम्बन्धात्पूर्वं न तथात्वं न तथोक्तहेतोस्तदनन्तरमपीति वाच्यं, तासां तत्स्वरूपातिरिक्ते तदात्मकत्वास्फूर्तेः. वस्तुतस्तु फलप्रकरणीय-रमणात्पूर्वमपि तासां स्वप्नेषु तत्सम्बन्धः[1] समजनीति लक्ष्यते. अन्यथा "अस्प्राक्ष्म........त्वयाभिरमिता" इति च सम्बन्धस्य भूतार्थतां न वदेयुः. किञ्च "अन्यसमक्षं स्थातुं न पारयाम" इत्युक्त्या यत्रान्यसमीपस्थितिरप्यशक्या तत्र तदनन्तरभाविन्याः कृतेस्तथात्वे किं वाच्यमिति भावो व्यज्यते. तेन तासामेतत्सम्बन्धकालो न कदापीति नोक्तानुपपत्तिः. भगवत्सम्बन्धस्य तु तथात्वं वक्तुमयुक्तं, सर्वप्रमाणविरोधाद्, अन्तर्गृहगतानां तादृशबुद्धियुक्तत्वेन प्रतिबन्धाभावाच्च. **परमात्मपदे**नाप्येतदेव ज्ञाप्यते, तद्भजनस्यातथात्वात्. ननु पूर्वं ज्ञानादिसाधनवतामेतद्भावाभावेनाकृतार्थत्वोक्त्या तदतिरिक्तं साधनं किमेताभिः कृतं येनैतादृशं फलमित्याशङ्क्याह **नन्वि**ति. **ईश्वरः** साधननैरपेक्ष्येण सर्वकरणसमर्थो **विदुषोऽपि** ज्ञानयुक्तस्यापि पुरुषस्य "नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितमि"ति वाक्यात् केवलज्ञानस्यापुरुषार्थसाधकत्वं ज्ञात्वाऽ**नु** पश्चाद् **भजतो** भजनं कुर्वतः **साक्षात्** स्वयं भजनातिरिक्तसाधनानपेक्षः **श्रेयः** फलं **तनोती**त्यर्थः. परं "ये यथा मां प्रपद्यन्त"इति वाक्यात्तदधिकारानुसारेण.

टीपिका

श्रुत्युक्तोपपत्तेरित्यर्थः. **तथोक्तहेतो**रिति श्रुत्युक्तहेतोरित्यर्थः. **तदनन्तरम**पीति, भगवत्सम्बन्धानन्तरमपि पतिसम्बन्धस्य न सदोषत्वमिति न वाच्यमिति योज्यम्. **तत्स्वरूपातिरिक्ते** इति, तासां भगवत्सम्बन्धानन्तरं तदतिरिक्तेषु गोपेषु **तदात्मकत्वे**ति भगवदात्मकत्**वास्फूर्ते**रित्यर्थः. **तदनन्तरभाविन्याः कृते**रिति, स्थित्यनन्तरं तत्पतिना सह रमणादिभाविन्याः कृते**स्तथात्वे** अशक्ये **किं वाच्य**मित्यर्थः. **तेन तासामतत्सम्बन्धकाल**[2] इति, भगवता सह सम्बन्धाभावकालो न कदापीत्यर्थः. **नोक्तानुपपत्ति**रिति, आभिमानिकपतिसम्बन्धोक्तानुपपत्तिर्नेत्यर्थः. **तथात्व**मिति सदोषत्वमित्यर्थः. तत्र हेतुद्वयमाहुः **सर्वप्रमाणविरोधा**दिति द्वितीय-मन्तर्गृहगतानामित्यादिना च. **तादृशबुद्धियुक्तत्वेने**ति जारबुद्धियुक्तत्वेनेत्यर्थः. **परमात्मपदेने**ति, "तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्यापि सङ्गता"इति पदेनेत्यर्थः. **एतदेव ज्ञाप्यते** इति, प्रतिबन्धाभावो ज्ञाप्यते इत्यर्थः. **तद्भजनस्ये**ति, अन्तर्गृहगतानां भजनस्येत्यर्थः. **अतथात्वा**दिति जारबुद्धित्वादित्यर्थः. **तदधिकारानुसारेणे**ति, मोक्षं

---

१. भगवत्सम्बन्धः इति अर्थः-सम्पा. २. तासाम् एतद् इति सुबो. पाठः.

अपिशब्देन यत्र स्वार्थसाधनत्वेनापि भजनकर्तुः श्रेयः स्वयं साक्षात्तनोति तत्र तदर्थैकभजनपराणामेतासां साक्षात्स्वयं तत्तनोतीति किं वाच्यमिति ज्ञाप्यते. प्रत्युत "न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजामि"त्यत्रैतद्भजनानुरूपस्य श्रेयस एवाभावः सर्वकरणसमर्थेन प्रभुणाप्युक्तः. अत एव यथैतासां तत्तनोति न तथा पूर्वोक्तस्येति ज्ञापनाय दृष्टान्तमाह **अगदराज इवे**ति. अत्रायं भावः— यथामृतं स्वभजनकर्तुरभीष्टं साक्षात्स्वयमनुपानादिसाधनव्यतिरेकेणापि तनोति, न तु तेनामृतस्य तत्तन्यते, तथा स्वार्थसाधनत्वेन भजनकर्तुर्ज्ञानिनोऽप्यभीष्टं भगवांस्तनोति, न तु तेन भगवतस्तत्तन्यते, स्वार्थपरत्वात्. अत्र तु यथैतासामभीष्टं प्रभुस्तनोति तथैता अपि तस्य तत्तन्वन्तीति नानुपपत्तिः काचित्.

अथवा निषेधस्य प्राप्तिपूर्वकत्वेनात्र तदभावात्प्रकारान्तरेण व्याख्यायते. **एताः परं तनुभृत** इत्यनेन व्रजसीमन्तिनीनां सर्वोत्कर्षं निरूप्य तत्रैवोत्तरार्द्धे साधनानां तदसाधकत्वोक्त्या तदभावे कथमेवमेतासामित्याश्चर्यमिव मन्यमानो यत्र भगवत्कृपया सर्वसाधनरहितासु हीनजातीयासु पुलिन्दीष्वप्युत्कर्षसिद्धिस्तत्र किं वाच्यमङ्गसङ्गाधिकारवतीष्वेतास्वित्याशयेनाग्रे पुलिन्दीराह **क्वेमा** इति. **इमा स्त्रियः** पुलिन्द्यः **क्व कृष्णे एष रूढभावः क्व च**. यद्यपि "ता नमस्यन्निदं जगावि"त्युक्ते-रेतद्वीक्षणस्य कालान्तरीयत्वेऽपि भावनया पश्यन्निव वदती**तीमा** इति प्रदर्शनम्. यदि पुष्टिमार्गीयं वा किमपि साधनं भवेत्तदा सम्भवेदपि, एतासां तदुभयाभावा-दसम्भावितमिवोच्यते. तत्र पुष्टिमार्गीयतदभावायाह **व्यभिचारदुष्टा** इति. अत्रापि **व्यभिचार**पदं विवाहितपतिभजनपरम्. यतोऽस्मिन्मार्गे साधनं सर्वात्मभावस्तत्र तत्त्यागस्यापि विहितत्वेनाङ्गीकृतिः, "संत्यज्य सर्वविषयान्" "पतिसुतान्व-यभ्रातृबान्धवानि"त्याद्युक्तेः, तेनैतासामेवंभावाभावेन व्यभिचारदुष्टत्वमेवेति पुष्टिसाधनाभावः सूचितः. मर्यादामार्गीयतदभावायाह **वनचरी**रिति. मर्यादायामधिका-रिणामेव साधननिष्पत्तिरुच्यते अतो वनचरीत्वेनातिक्षुद्रजातीयत्वेना-धिकाराभावात्तदभावः. जन्मान्तरीयं तदिति नाशङ्कनीयं, प्रमाणाभावात् तादृशाधिकारस्याप्यजातत्वात्. तर्हि कथमेवमेतासामिति चेत् तत्रोपपत्तिमाह

टीपिका

फलं तत्तनोतीत्यर्थः. **स्वार्थपरत्वादि**ति स्वमुक्तिपरत्वादित्यर्थः.

तत्रेति सर्वात्मभावे इत्यर्थः. **तत्त्यागस्यापी**ति विवाहितपति-भजनत्यागस्यापीत्यर्थः. **तदभाव** इति मर्यादामार्गीय-साधनाभाव इत्यर्थः.

नन्विति—**ईश्वरः** साधनमनपेक्ष्य सर्वकरणसमर्थः **साक्षात्स्वयं श्रेयस्तनोती**त्यर्थः. ननु स्वरूपस्योभयत्र साधनत्वे फलस्याविशेषात् कथमेतदपेक्षयोत्कर्षस्तत्प्रियासु इत्याशङ्कानिरासायाधिकारभेदात् फलभेद इत आधिक्यं चेति विशेषणद्वयेनाह **अनुभजतोऽविदुष** इति. व्रजरत्नप्रियाणां "स्वागतं वो महाभागा"इत्यादितत्कृतनिषेधेऽपि स्वभावदार्ढ्याद् भजनकर्तृत्वेन नानुभजनं प्रत्युत मानापनोदनादिषु प्रभोरेव तथात्वमस्ति, न त्वेतासामेतादृशत्वं क्वचित्सिद्धम्. तत्रापि "दयितास्तनमण्डितेन कुङ्कुमेनाननकुचेषु लिम्पन्त्यस्तदाधिं जहुरि"त्यत्र 'दयिता'पदेन व्रजदेवीनामुक्तत्वात्तत्सम्बन्धिकुङ्कुमेन प्रभुसम्बन्धाधिकारस्य जातत्वाद्भजनादनुभजनमेतासां सिध्यतीत्य**नुभजत** इत्युक्तम्. किञ्च "रसो वै स"इति श्रुतेर्भगवतो रसात्मकत्वेन तत्स्वरूपाभिज्ञत्वं "वीक्ष्यालकावृतमि"त्युक्तरीत्या तत्प्रेयसीनामेवोच्यते. एतासां तदभावादविद्वत्त्वमि**त्यविदुष** इत्युक्तम्. **विदुष** इति पदच्छेदे माहात्म्यज्ञानवत्त्वेन तद्भावराहित्यमेव, अधिकारानुसारेण ज्ञानं ज्ञानानुसारेण फलमिति "मल्लानामशनिरि"त्यत्रोपपादितम्. एकवचनं जात्यभिप्रायेण सामान्यत्वज्ञापनाय. तादृशभोग्यशरीराभावाय पुल्लिङ्गनिर्देशः. ईश्वरत्वाद् यत्रानधिकारिणोऽपि श्रेयस्तनोति तत्र किं वाच्यं तास्वि**त्यपि**शब्देन द्योत्यते. तत्र दृष्टान्तमाह **अगदराज इवे**ति— न ह्यमृतं संबद्धं सदधिकारिणं विचारयति तथात्रापीत्यर्थः. अपि च अत्र 'अमृता'दिपदानि विहाय केवलरोगनिवर्तकत्वापाद**कागद**पदोपादानेन पुलिन्दीनां भगवत्सम्बन्धः स्मररोगशान्त्यर्थमित्यवगम्यते, "जहुस्तदाधिमि"त्यत्र तन्निवृत्तिमात्रस्यैव मनोरथत्वेन कथनात्. व्रजखनिसमुद्भूत-

---

टीपिका

स्वरूपस्येति भगवत्स्वरूपस्येत्यर्थः. **उभयत्रे**ति गोपिकासु पुलिन्दीषु चेत्यर्थः. **स्वभावदार्ढ्यादि**ति, पुष्टिमार्गीय-भगवद्भजनकरणरूप-स्वभावदार्ढ्यात्. तदुक्तं श्रीमदाचार्यचरणैः प्रथमव्याख्याने **प्रकृते**त्यारभ्य **नैताभिरङ्गीकृत** इत्यन्तेन. **तद्भजनादि**ति[1], व्रजदेवीनां कुङ्कुमभजनेन पुलिन्दीनां भगवद्भजनं सिद्ध्यतीत्यर्थः. **माहात्म्यज्ञानवत्त्वेने**ति, श्रीगोवर्धनादीनां सङ्गेन पुलिन्दीनां माहात्म्यज्ञानवत्त्वेनेत्यर्थः. ननु बह्वीनां पुलिन्दीनां **विदुषो** एकवचनं कथमित्याशङ्क्याहुः **जात्यभिप्रायेणे**त्यादि. **पुँल्लिङ्गनिर्देशो वे**ति, **विदुष** इति **पुँल्लिङ्गनिर्देशो**ऽपि पुलिन्दीनां **तादृशभोग्यशरीराभावाये**ति योज्यम्. **पूर्वोक्तस्ये**ति, पूर्वोक्तव्रज-

---

१. मूलपाठटीपिकापाठयोः इहापि भेदः. सुबो. पाठः भजनाद् इति.

रत्नानामेतासां तु विरहदशोत्पन्नस्मररोगापगमे जातेऽप्यग्रे विविधरतिकेलिकलापैरखिलरसमय-प्रियतमस्वरूपामृतास्वादनं मुख्यमिति नैतद्दृष्टान्तत्वं पूर्वोक्तस्येति ज्ञेयम्. वस्तुतस्तु व्रजपरिवृढप्रेयसीनां प्रियवियोगकालीनार्तिरूपस्यापि भावस्य "ता मन्मनस्का"इत्यादिभगवदुक्त्या तदात्मकत्वेनानन्दरूपत्वाद् गदत्वमनुपपन्नमिति तथोच्यते. **उपयुक्त**पदेनापि पुलिन्दीना**मुप** समीपे स्थितिरेतासां तु साक्षादङ्गसङ्ग इति महद्वैलक्षण्यं सूच्यते. तथा चात्र पुलिन्दीकथनमेव सुष्ठु. यद्यपि "दृष्ट्वैवमादिगोपीनामि"त्यत्र "ता नमस्यन्निदं जगावि"त्युक्तेस्तत्प्रसङ्ग एवात्र समायाति तथाप्युद्धवः कालान्तरे पुलिन्दीष्वपि भगवद्भावानुभावं दृष्टवानिति लक्ष्यते, "सरिद्वनगिरिद्रोणीर्वीक्षन् कुसुमितान् द्रुमानि"त्यनेन गिरिस्थितानां तासामपि वीक्षणस्यानुक्तसिद्धत्वात. तथा च पूर्व**मेताः परं तनुभृत**इत्यनेन घोषसीमन्तिनीः स्तुत्वा तत्राश्चर्यमिव मन्वानः पुलिन्दीः स्मृत्वा यत्र तास्वप्येवं तत्र किं वाच्यं तत्प्रियास्वित्याशयेनेदमुक्तमित्यवगम्यते. तेन तासामेवात्र स्तुतिरिति नोक्तानुपपत्तिः. किञ्च **इमा** इति प्रदर्श्यैव कथनं प्रभुवल्लभासु नोद्धवस्य संगच्छते, तत्रापि **क्वे**त्यसम्भावनापूर्वकम्. किञ्च तासां निरुपधिभाववत्त्वेन स्त्रीत्वकथनमपि नोपपद्यते, स्त्रीणां कामोपाधिकभावस्यैव नियतत्वात्. उद्धवेन **वनचरी**पदं तदङ्गसङ्गिनीषु न प्रयोक्तुं शक्यं द्वितीयविशेषणं वा, तत्स्वरूपाभिज्ञत्वात्. अपरश्च "कृष्णस्य दयितः सखा" "तमाह भगवान्प्रेष्ठं भक्तमेकान्तिनं क्वचित्" "तं वीक्ष्य कृष्णानुचरमि"त्यादिवाक्यैरत्यन्तरङ्ग-भक्तस्योद्धवस्य "आसामहो चरणरेणुजुषामि"ति तच्चरणरजःसम्बन्धिजन्मप्रार्थनमिति विरुद्ध्यते. अतः "पूर्णाः पुलिन्द्य"इत्यत्र तासां भगवत्सम्बन्धस्योक्तत्वादुक्तानुपपत्तेश्च ता एवात्रोच्यन्त इति सर्वमनवद्यम्) ॥६०॥

नन्वेतदन्योन्याश्रितम्— एवंभावो भगवति उत्तमकारणाभावे कथं भवती-

---

लेखः

नायं श्रियोऽङ्ग इत्यस्याभासे, **एवंभाव** इति, भगवदिच्छानुसारिभजनमित्यर्थः.

टीपिका

रत्नास्वगददृष्टान्तो नेति ज्ञेयम्. **तथोच्यते** इति, पुलिन्दीदृष्टान्ते अगदराज इत्युच्यते इत्यर्थः. **नोक्ताऽनुपपत्तिरि**ति, **इमाः** स्त्रियः पुलिन्द्यः क्वेत्यादिपूर्वव्याख्यानोक्तेःनासमञ्जसतेत्यर्थः. **उक्तानुपपत्तेश्चे**ति, किञ्च **इमा** इत्याद्युक्तानुपपत्तेरित्यर्थः ॥६०॥

नायं श्रियोऽङ्ग इत्यस्याभासे **अन्योन्याश्रितमि**[सुबो]ति. अन्योन्याश्रितदोषे

त्याशङ्क्य ईश्वरस्तथा कृतवानित्युक्तम्, ईश्वरः कथं करोतीत्याशङ्कायां तदिच्छानुसारेण भजनादित्यनुभजनेन निरूपितम्, इच्छानुसारि भजनमकारणकमिति पुनः स दोषस्तदवस्थः. अत एकं निश्चित्य साधनं वक्तव्यं— भगवदिच्छा कारणान्तरं वेति. आद्ये तासां न कापि स्तुतिः, कारणान्तरे तु "किं ब्रह्मजन्मभिरि"ति विरुद्ध्यत इत्याशङ्क्याह **नायं श्रियोङ्ग** इति.

नायं श्रियोङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसादः
स्वर्योषितां नलिनगन्धरुचां कुतोऽन्याः ।
रासोत्सवेऽस्य भुजदण्डगृहीतकण्ठ-
लब्धाशिषां य उदगाद् व्रजबल्लवीनाम् ॥६१॥

वस्तुतो भगवदिच्छैव नियामिका परमियमेतावता कालेन न क्वापि जातेति तासां स्तुतिरुच्यते, अन्यथा यादृशस्तासु प्रसादस्तादृशोऽन्यत्रापि भवेत्. तत्र सम्भावितस्थानान्यनूद्य परिहरति. एकान्ततो रतिर्यस्यां तादृशी लक्ष्मीः, तस्यामपि निरन्तरं रतिं प्रयच्छन्नपि न प्रसादं दत्तवान्. **स्वर्योषिताम**पीन्द्रोपेन्द्रादिभावापन्नोऽपि बहुभिः सह रममाणोऽपि न दत्तवान्. **नलिनवद्गन्धो रुक्** कान्तिश्च यासाम्, तेन कमलभ्रमोऽपि तासु सम्भवति कमलप्रियश्च भगवानिति कमलखण्डे पूजित इव कदाचित्तासु तिष्ठेत्. तस्या अपि निषेधः, **अन्याः** पुनः तत्तदवतारेषु सम्बद्धा अपि **कुत**स्तत्प्रसादं प्राप्नुवन्तीत्यर्थः. स कः प्रसाद इत्याकाङ्क्षायामाह **रासोत्सव** इति,

---

लेखः

व्याख्याने **प्रसाद**पदेन इच्छा इत्यभिप्रायेणाहुः **वस्तुत** इति. **न प्रसादं दत्तवानिति,** एतादृक्प्रसादविषयत्वं न सम्पादितवानित्यर्थः ॥६१॥

प्रकाशः

नायमित्यत्र **कमलखण्ड** इति कमलसमूहे ॥६१॥

टीपिका

द्वयोर्मध्ये नैकोऽपि निश्चयो भवति. तदेवाहुः तत्र **उत्तमकारणाभावे**ति, ब्रह्मजन्माभावेऽपीत्यर्थः. **अकारणमिति**, उत्तमजन्माभावे कथमिच्छेत्यर्थः. **स दोष** इति अन्योन्याश्रितदोष इत्यर्थः. व्याख्याने **स्वर्योषितामि**त्यस्यार्थकथने **इन्द्रोपेन्द्रादी**ति, स्वायंभुवमन्वन्तरे तद्दौहित्रो यज्ञो भगवानिन्द्रो जातः तथा उपेन्द्रादिभावापन्नोऽपि **बहुभिः** स्वर्योषिद्भिः **सह रममाणोऽपि** अमुं प्रसादं **न दत्तवा**नित्यर्थः. **अवतारेष्विति**, श्रीरुक्मिण्यादय इत्यर्थः. ननु **व्रजवल्लवीना-**

अस्य भुजदण्डैर्गृहीतकण्ठैर्लब्धा आशिषो याभिः. न हि कदाचिदप्यनेकरूपाणि कृत्वा रमणार्थमेवं रसाभिनिविष्टो भवति. तत्रापि **व्रजबल्लवीभिः** सह, तास्त्वसंवृताः दध्यादिविक्रये सर्वत्र पर्यटनपराः. महतामपि प्रार्थनया कदाचिद्भगवानेकं रूपं गृह्णाति महति कार्ये. आनन्दश्च तासां सर्वोत्तमः सम्पादितः अनेकधा रसमुत्पाद्य. अतो ज्ञायते— नैतादृश्यः काश्चन नाप्येतादृशः क्वापि भगवत्प्रसाद इति. अतो ज्ञायतेऽवस्थापि तासामेतादृशी प्रमाणेष्वस्तुतापि सर्वोत्तमैवेति ॥६१॥

नन्वीर्ष्यया तासामवस्थां स्तुत्वा किमीश्वर एतदर्थं प्रार्थ्यते? तथा सति स्वाभिलषितत्वात् न वस्तुनिरूपणे तात्पर्यमिति नोत्कर्षः सिद्ध्येदित्याशङ्क्याह **आसामहो** इति.

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम् ।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा
भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम् ॥६२॥

अहमासां दासानुदासत्वेऽपि न योग्यः कथमेतद्भावयिष्यामि, "अयोग्यमिच्छन् पुरुषः पतत्येव न संशय"इति. अत **आसां चरणरेणुजुषां गुल्मलतौषधीनां** मध्ये **किमप्यहं स्याम्.** आदौ जङ्गमत्वाधिकारो नास्ति, तथा सति क्रियया ततोऽपगमनं स्यात्. व्यवहारयोग्ये तु समतया भावः स्यात्तदप्ययोग्यम्. स्थावरत्वे वृक्षादिभावे चिरकालावस्थितौ न शीघ्रं भगवत्प्राप्तिः स्यात्. अतो यो यस्य चरणरजो वाञ्छति

टीपिका

मित्यस्यार्थकथने तास्त्वसंवृताः दध्यादिविक्रये सर्वत्र पर्यटनपरा इत्युक्तं; सावस्था मर्यादायां सर्वथा निकृष्टाऽतो नैतादृश्यः काश्चन इति कथमेतासां स्तुतिरुच्यते इत्याशङ्क्याहुः **अतो ज्ञायते** इत्यादिना. तत्र **तासामेतादृश्यवस्थापी**ति, दध्यादिरसविक्रयेण निकृष्टावस्थापीत्यर्थः. **प्रमाणेष्वस्तुतापी**ति, वेदादिप्रमाणेषु न स्तुतापीत्यर्थः. **सर्वोत्तमैवे**ति, तथापि तासामवस्था सर्वोत्तमैवेति ज्ञायते अतः स्तुतिरिति योज्यम् ॥६१॥

आसामहो इत्यस्याभासे. **ईर्ष्यये**[सुबो.]ति, अहो एतासामेतादृश्यवस्था भगवता कृता नास्माकं कृतेतीर्ष्यया इत्यर्थः. **एतदर्थमिति** एतदवस्थार्थमित्यर्थः. **न वस्तुनिरूपणे** इति, गोपिकानां महत्त्वनिरूपणे तात्पर्यं नेत्यर्थः. व्याख्याने

स तद् भवति तदीयो वा भवतीति वा. अल्पायुश्चरणरज:प्राप्तियोग्यं जन्माभिलषितम्. अतो **गुल्मलतौषधीनां** तामसराजससात्त्विकानाम्. तत्रापि रज:सम्बन्धयोग्यानां, न तु तुलसीकुन्दजातीव्रीह्यादिषु. तेषु हस्तसम्बन्धः तदीयानां भगवत्सम्बन्धः शिर:सम्बन्धश्च भवेदिति व्याजेनोत्कर्षप्रार्थनं भवेत्. **वृन्दावनं** हि परमोत्कर्षापादकं भक्तिजनकं च. **अहो** इत्याश्चर्ये, नह्येतदपि भविष्यतीति. साधनप्रकारेणैव जात उत्कर्षः फलपर्यवसायी भवति नान्यथा. **किमपी**त्यनादरे, नात्र सत्त्वाद्युत्कर्षोऽभिप्रेतः, रज:सम्बन्ध एवोत्कर्षजनक इति तस्य तुल्यत्वात्. नन्वेतासां रजसा क्रमेणैतद्भाव एव भवेत् न तु भगवद्भावः, ततः किमित्येवं प्रार्थ्यत इत्याशङ्क्याह **या दुस्त्यजमि**ति. भगवद्भावः आसां सुलभो नत्वन्यत्र, तथैवोपपादितत्वात्. दुष्टत्वाच्च तदसम्भावितमिति मत्वा पुनस्तासां धर्मानतिवदति. **दुस्त्यजाः स्वजनाः** पुत्रादयः, तत्रापि **दुस्त्यजः आर्यमार्गः**, "सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यत"इति. अयमार्यमार्गो लौकिको, यादृशास्ते स्वजनाः पुत्रादयः. वस्तुतस्तु भगवानेव स्वजनः आर्यमार्गश्च, अन्यथा फले व्यभिचारश्च. एवं त्यक्त्वा, चकाराद् भगवदुपदेशं च,

---

लेखः

आसामहो इत्यत्र. **गुल्मलतौषधीनामि**ति त्रयस्थाने **तुलसीजातीव्रीह्यादिष्वि**ति त्रयमुक्तम्. **अन्यथा फले** इति, स्वजनार्यमार्गत्यागाभावे **फले व्यभिचारः** स्याद् भगवल्लक्षणं फलं न भवेदित्यर्थः. लौकिकत्वात्तत्यागः फलव्यभिचाराच्च तत्त्याग इति **चकारः** ॥६२॥

प्रकाशः

आसामित्यत्र. **अल्पायुरि**ति जन्मविशेषणम्. **तदीयानामि**ति स्रगादिनामित्यर्थः. कुतो नेत्यत आहुः **साधने**त्यादि. **दुष्टत्वादि**ति स्वस्येति शेषः. **अन्यथा फले व्यभिचारश्चे**ति, लौकिकस्यार्यमार्गत्वे तत्रापि भगवानेव फलं

टीपिका

साधनप्रकारेणैवेति, आसां चरणरज:प्राप्तिप्रार्थनापूर्वकप्रकारेणै**वोत्कर्षो जातः** सन् **फलपर्यवसायी** भवतीत्यर्थः. **तस्य तुल्यत्वादि**ति, रज:सम्बन्धेनोद्धारस्य सत्त्वादिषु तुल्यत्वादित्यर्थः. **क्रमेणे**ति, पूर्वं गुल्मादिषु जन्म तत एतासु जन्म तदनन्तरं भगवद्भाव इति क्रमेणेत्यर्थः. **न तु भगवद्भाव** इति, न त्वस्मिन्नेव जन्मनि भगवद्भाव इत्यर्थः. **उपपादितत्वादि**ति, "क्वेमाः स्त्रिय" इत्यत्र सर्वाभ्यः स्त्रीभ्यः सर्वेभ्यः पुरुषेभ्यश्चाधिक्यमुपपाद्यते इत्यादिनोपपादितत्वादित्यर्थः. **अन्यथा फले**

अन्यथा बहिःसंवेदने स्वास्थ्यं भवेत्. पश्चान्मोक्षदातुः **पदवीं भेजुः.** यो हि यन्मार्गे गच्छति स तावति धर्मे तत्तुल्यो भवति, तत एता अपि मोक्षदात्र्यो जाताः, तथा वयमपि भविष्याम इति भगवद्भजनापेक्षयाप्येतदुत्तममिति भावः. नन्वेवं सति ब्रह्मभाववदयमपि कथं वेदे नोक्तस्तत्राह **श्रुतिभिर्विमृग्या**मिति— श्रुतयोऽपि वक्तुं विचारयन्ति परमिदमित्थतया वक्तुं न जानन्ति, दृष्टान्तापरिज्ञानात्. इदानीमेव हि गोपिका भगवता दृष्टान्तीकृताः[१], भगवदभिप्रायः श्रुतीनामपि ज्ञातुमशक्य इति न सर्वज्ञत्वादिनापि दूषणम्. तदुपपादितं "व्यासाद्यैरीश्वरेहाज्ञैरि"ति. इममेवार्थमुररीकृत्य "यस्यामतं तस्य मतमि"त्यादिश्रुतयोऽज्ञानमेव तुष्टुवुः. तथापि स्वार्थमज्ञाने विशेषजिज्ञासाया अवश्यंभावात्स्वस्य सामर्थ्यमवश्यं मन्यमानाः मृगयन्त्येव. तत्रापि सर्वोत्कृष्टत्वाद्विशेषेण मृग्यम् ॥६२॥

प्रकाशः

भवेत् न तु तादृशमार्याणां, तदनपेक्षितत्वात् तदपेक्षिणां त्वार्यत्वाभावात्. अतः फलव्यभिचारान्न समता इति भावः. **स्वार्थमि**ति **मृगयन्ती**त्यनेनान्वेति ॥६२॥

टीपिका

व्यभिचारश्चेत्यस्य भावार्थकथने **लौकिकस्यार्यमार्गत्वे**[प्रका.]इति, लौकिकस्य अलौकिकत्वे **इत्यन्यथा**पदस्यार्थो ज्ञेयः. **फल** इत्यस्यार्थकथने **तत्रापी**ति, लौकिकालौकिका-र्यमार्गसमत्वे लौकिकेऽपि भगवानेव फलं भवेदित्यर्थः. **न तु तादृशमि**ति, गोपिकानां फलसदृशं तत्र फलं नेत्यर्थः. ननु "या पतिं हरिभावेन भजेच्छ्रीरिव तत्परा हर्यात्मना हरेर्लोके पत्या श्रीरिव मोदते"इत्यत्रापि भगवत्फलं श्रूयते इति कथं न सादृश्यमित्याशङ्क्याहुः **आर्याणा**मिति, आर्याणां तन्मुख्यफलानपेक्षितत्वादित्यर्थः. ननु लौकिकार्याणामपि वेदानुवर्तित्वमेतासामपि श्रुतित्वमतः कथमेतासां तन्मार्गापेक्षाभाव इत्याशङ्क्याहुः **अपेक्षिणां त्वार्यत्वाभावा**दिति, मुख्यफलापेक्षिणां पुष्टिश्रुतीनां गोपिकानां त्वधुना तन्मार्गीयार्यत्वाभावान्नापेक्षेत्यर्थः, **फलव्यभिचारा**दिति, एवं लौकिकालौकिकार्याणां परस्परफलव्यभिचारादित्यर्थः. **न समते**ति, अतः लौकिका-र्याणां न समतेति भावः. अतो मूले युक्तमेवोक्तं **स्वजनमार्यपथं च हित्वे**ति. **भगवदुपदेशश्चे**[सुबो.]ति[२], "भवतीनां वियोगो मे"इत्याद्युक्तो भगवदुपदेशश्चेत्यर्थः ॥६२॥

---

१. अङ्गीकृता इति पाठः.

२. सुबोधिनीस्थः भगवदुपदेशं च इत्येव पाठः समीचीनो भाति.-सम्पा.

किञ्च यत्सर्वेषां पूज्यमाराध्यं तत्तासां तापहारकत्वेन नियुक्तम्. तापे हि पूज्यस्पर्शोऽपि निषिद्धः पूजार्थमपि, तत्राप्यङ्गभावं प्राप्त इति विशेषत उत्कर्षमाह **या वै श्रियार्चितमिति.**

या वै श्रियार्चितमजादिभिराप्तकामै-
र्योगेश्वरैरपि यदात्मनि रासगोष्ठ्याम् ।
कृष्णस्य तद्भगवतश्चरणारविन्दं
न्यस्तं स्तनेषु विजहुः परिरभ्य तापम् ॥६३॥

सर्वत्र फलरूपा लक्ष्मीः, तयापीष्टसिद्ध्यर्थ**मर्चितं**, न तु यथेष्टं विनियोक्तुं शक्यम्. किञ्च **अजादयो** ब्रह्मादयः सनकादय**श्चाप्तकामाः योगेश्वराः** सिद्धादयः ये सर्वं कर्तुं समर्थाः सर्वोऽपि पुरुषार्थः प्राप्तः वशीकृतसर्वसाधनाश्च तेऽपि ततोऽप्युत्तमफलसिद्ध्यर्थं तच्चरणमानर्चुः. बहिरवस्थायामर्चनं भविष्यतीत्याशङ्क्य विशेषमाह **यदात्मनीति**, **यदात्मन्यप्यर्चितं** ध्यानं कृत्वापि पूजितमित्यर्थः. तादृशमपि **कृष्णस्य** सदानन्दस्य फलरूपस्य तत्रापि **तत्**प्रसिद्धं स्वतन्त्रफलदातृ स्वतः भक्तिमार्गप्रवर्तकं, **भगवतः** सर्वसमर्थस्य. एवं स्वतः सम्बन्धतोऽप्युत्कृष्टं **रासगोष्ठ्यां** कौतुकक्रीडायां स्वयं स्वेच्छया नर्तनं कृत्वा श्रान्ताः सत्यः कमलादिकमिव व्यजनवायुमिव चन्दनमिव तन्मन्यमानाः **स्तनेषु** न्यस्य तापं **जहुः**. धाष्टर्याद् अयुक्तमेव तथा कृतवत्य इति शङ्कानिवृत्त्यर्थं भगवतैव **न्यस्तमि**त्युक्तम्. भगवानप्यत्यन्तं वशस्तासां शीघ्रं तापापनोदार्थं स्वयमपि शीघ्रं तत्स्तनेषु स्थापितवान्, अत आह **न्यस्तमिति**. ततस्त**त्परिरभ्य** स्वाधीनं कृत्वा **तापं जहुरि**ति. प्रमाणतः प्रमेयतश्च ता उत्कृष्टा इत्यर्थः ॥६३॥

लेखः

वन्दे इत्यस्याभासे, **नमस्यतीति**, इति शुक आहेति शेषः. तत्र प्रतिज्ञातत्वं हेतुः अतः प्रतिज्ञा शुककृता नमनमुद्धवकृतमिति वैयधिकरण्यं न.

टीपिका

या वै श्रियार्चितमित्यस्याभासे **अङ्गभावमि**[सुबो]ति, **कमलादिकमिवे**त्यादिना अङ्गभावोऽनुपदं वक्ष्यत इत्यर्थः. **प्रमाणत** इति, **यत्सर्वेषां पूज्यमाराध्यं तत्तासां तापहारकत्वेन नियुक्तमि**त्याभासोक्तप्रमाणत उत्कृष्टा इत्यर्थः. **प्रमेयत** इति, **भगवानप्यत्यन्तं वश** इत्यादिना प्रमेयत उत्कृष्टा इत्यर्थः ॥६३॥

वन्दे नन्देत्यस्याभासे. **अन्यार्थमि**[सुबो]ति, अन्यभक्तार्थ**मेषा** षट्श्लोकोक्ता

अन्यार्थमेवैषा प्रशंसेत्याशङ्क्य पूर्वमपि नमस्कारार्थमेतदारब्धमिति प्रतिज्ञातत्वात् ता नमस्यति **वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणा**मिति.

वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः ।
यासां हरिकथोद्गीतं पुनाति भुवनत्रयम् ॥६४॥

तासां नमस्कारेऽपि नास्माकमधिकारः किन्तु **नन्दव्रजस्य स्त्री**मात्रस्य **पादरेणु**मेवैकम**भीक्ष्णशो वन्दे**. अस्मदपेक्षया स रेणुः महानेवोत्कृष्टः फलरूपश्चे-त्यादरेण वन्दे. ननु कथमेवमत्याश्चर्यमुच्यत इत्याशङ्क्य लोके तदुपपादयति **यासां हरिकथोद्गीत**मिति. हरिकथापेक्षयापि **हरिकथया** वा सह **ऊर्ध्वं गीतं यासां** सम्बन्धि गीतं **भुवनत्रयमे**व **पुनाति.** गानमात्रेणैव **पुनाती**ति गङ्गातोऽप्युत्कर्षः. गुणानां साधकत्वं बाधकत्वं वा नास्तीति ज्ञापनाय **त्रय**मिति ॥६४॥

एवं भगवत्कृतं तासां निरोधं समर्थयित्वा तादृशमपि भगवान् करोतीत्यवगत-भगवन्माहात्म्यो भिन्नप्रक्रमेण भगवत्स्थाने समागत इत्याह **अथ गोपीरि**ति.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

अथ गोपीरनुज्ञाप्य यशोदां नन्दमेव च ।
गोपानामन्त्र्य दाशार्हो यास्यन्नारुरुहे रथम् ॥६५॥

अनुज्ञां प्रार्थयित्वा, तथा **यशोदां नन्दमेव च** —त्रय एवात्र प्रकरणे मुख्याः. ततो मित्रभूतान् **गोपानामन्त्र्य** "गच्छामी"त्युक्त्वा. यतोऽयं **दाशार्हो** यादवश्रेष्ठो दाशार्हभेदो, वस्तुतो भक्तिप्रधानो भक्तहितकारी. ततो **यास्यन्न**तु विश्रामार्थं **रथमारुरुहे** ॥६५॥

स पूर्वमप्येवं बहुधा चकार. ततो नोद्यमनमात्रेण गमनौपयिकं कोऽपि करोति. यदा पुनः स निर्गत एव तदा तदर्थं भगवदर्थं च उपायनान्यानीय प्रस्थापनार्थं समागता इत्याह **तं निर्गत**मिति.

टीपिका

गोपिकानां **प्रशंसे**त्यर्थः. **लोके** इति, सर्वलोके तन्माहात्म्यं प्रसिद्धमित्युप-पादयन्तीत्यर्थः. **गुणाना**मिति, सत्त्वस्य **साधकत्वं** राजसतामसयो**र्बाधकत्वं** **वे**त्यर्थः ॥६४॥

अथ गोपीत्यस्याभासे **तादृशमि**[सुबो]ति तादृशनिरोधमित्यर्थः. **भिन्नप्रक्रमेणे**ति, पूर्वमुपदेशार्थमागतः अधुना स्वयमुपदेशं प्राप्त इति मूले **अथे**ति पदस्यार्थो ज्ञेयः. व्याख्याने **अनुज्ञा**मिति गोपीनामनुज्ञामित्यर्थः ॥६५॥

तं निर्गतं समासाद्य नानोपायनपाणयः ।
नन्दादयोऽनुरागेण प्रावोचन्नश्रुलोचनाः ॥६६॥

समासाद्याग्रे मिलित्वा, **नानोपायनानि पाणौ** येषाम्. स्नेहेन **नन्दादयः अश्रुलोचनाः** सन्तः **प्रावोचन्** ॥६६॥

तदुपदिष्टोऽर्थस्तेषां हृदये समागत इति ज्ञापनार्थं तत्फलसिद्ध्यर्थं गुरुं प्रार्थयन्ति **मनसो वृत्तय** इति द्वाभ्याम्.

मनसो वृत्तयो नः स्युः कृष्णपादाम्बुजाश्रयाः ।
वाचोऽभिधायिनीर्नाम्नां कायस्तत्प्रह्वणादिषु ॥६७॥
कर्मभिर्भ्राम्यमाणानां यत्र क्वापीश्वरेच्छया ।
मङ्गलाचरितैर्दानै रतिर्नः कृष्ण ईश्वरे ॥६८॥

अस्माकं कायवाङ्मनांसि कृष्णसम्बन्धिकार्यपराण्येव भवन्तु. अयमेवोत्कर्षः प्रार्थनीयो न तु लोके प्रसिद्धो अन्यः कोऽप्युत्कर्षः प्रार्थनीय इति ज्ञापयितुं **कर्मभिर्भ्राम्यमाणानां यत्र** क्वचिद्योनौ सतां तदर्थं प्रार्थनायामुदासीनानां सर्वैरिव **मङ्गलाचरितैर्दानैश्च**. मङ्गलाचरितानि सर्वसाधारणानि, दानं विशेषधर्मः वैश्येष्वेव देयानामुत्पत्तेः. **कृष्णे रतिर**साधारणा इतोऽप्युत्तमास्माक**मस्तु**. द्वयं प्रार्थितं— संघातस्य भगवति विनियोगः आत्मनश्च भगवति स्नेह इति. **मनसो** ह्येकादश**वृत्तयः** ताः सर्वाः **कृष्णपदाम्बुज**मेवाश्रित्य तिष्ठन्तु क्रियया ज्ञानेनाभिमत्या च. अम्बुजे हि रूपरसगन्धस्पर्शाः स्पष्टाः. शब्दोऽन्यत्रापि स्वतन्त्रतया विनियोक्ष्यत इति न

प्रकाशः

मनसो वृत्तय इत्यत्र. रूपादिचतुष्टयातिरिक्तवृत्तीनां कथं भगवच्चरणाश्रयत्वं भवतीत्यत आहुः **शब्द** इत्यादि. शब्दो गुणगानरूपः ॥६७॥

टीपिका

दानैरित्यस्यार्थकथने **उत्पत्तेरि**[सुबो.]ति, **वैश्येष्वेव उत्पत्तेः** स्वभावतो **देयाना**मिति योज्यम्. **मनसो वृत्तय** इत्यत्र. **मनस एकादश वृत्तयस्ताः सर्वाः कृष्णपदाम्बुजमेवाश्रित्य तिष्ठन्तु** इत्युक्तम्. तत्र **पादाम्बुजाश्रया** इत्यस्यार्थकथने अम्बुजदृष्टान्तेन रूपादिचतुर्णां चरणे सद्भावाद् ज्ञानेन्द्रियचतुर्णां वृत्तयो कृष्णे भविष्यन्ति. अवशिष्टानां सप्तानां वृत्तयः केन पदेनोक्ता भविष्यन्ति इत्याकाङ्क्षायामाहुः **शब्दोऽन्यत्रापीत्या**दिना. तत्र **अन्यत्रापीति**, शब्दोऽन्यत्रापि भगवता सह संलापादिषु इत्यर्थः. **स्वतन्त्रतया विनियोक्ष्यते** इति, शब्दस्य स्वतन्त्रतया विनियोगस्तु

न्यूनता कापि. **आश्रय**पदेन प्रसङ्गात्करणं निवारितम्. **वाचो**पि **नाम्नामेवाभिधायिन्यो**. नाम तु तत्रैव पर्यवसितसर्वशक्तियुक्तं भवति. नत्वेवंविधानि गुणकर्माणि, पदार्थान्तरवाचकत्वात्. छान्दसप्रयोगाल्लौकिकपरा वाचो मा भवन्त्वि-

लेखः

वाचोभिधायिनीरित्यत्र. **नत्वेवंविधानी**ति. गुणकर्मणां केषांचित्कथंचिदन्यत्रापि सम्भवात्तद्वाचकत्वे पदार्थान्तरवाचकत्वं स्यात्, नाम्नस्तु तत्रैव शक्तिपर्यवसानात् तदभिधायित्वं प्रार्थितमित्यर्थः ॥६७॥

टीपिका

द्वितीयस्कन्धीयपञ्चमाध्याये ''लिङ्गं यद् दृष्टृदृश्ययोरि''ति वाक्ये. तदर्थस्तु श्रीधरीये ''**शब्दस्य** लक्षणं लिङ्गमिति, कुड्यान्तरितेन केनचिदुच्चैर्गजोगज इत्युक्ते गजदृष्टा यश्च तेन दृश्यो गजस्तयोर्लिङ्गं बोधक'' इत्युक्तम्. तेन शब्दः कुड्यान्तरितोऽप्येकादशेन्द्रियविषयान् गृह्णातीत्यर्थः. स्पर्शादयस्तु त्वगादीनां सम्बन्धे सति स्वस्वविषयान् शीतोष्णादीन् गृह्णन्ति, न तु सर्वेन्द्रियाणां विषयान् स्वतन्त्रतया गृह्णन्ति. तदेवोक्तं **शब्दो गुणगानरूप**[प्रका.]इति. गुणा इन्द्रियवृत्तयस्तेषां शब्दे गानं भवतीत्यर्थः. **शब्दोऽन्यत्रापि स्वतन्त्रतया विनियोक्ष्यते** इति श्रीमदाचार्यचरणैरुक्तं तत् श्लोकद्वयस्यैकार्थत्वाद्वा**चोभिधायिनीर्नाम्नामि**[मूल.]ति पदस्य संयोगपृथक्त्वन्यायेनोक्तमिति भाति **इति न न्यूनता कापी**[सुबो.]त्युक्तम्. एकादशेन्द्रियवृत्तीनां कृष्णे न न्यूनता कापीत्यर्थः. **वाचोभिधायिनीर्नाम्नामि**त्यस्यार्थकथने **अभिधायिन्य** इति. ननु 'अभिधायिन्य'इति वक्तव्ये मूले**ऽभिधायिनीरि**त्यार्षप्रयोगदाने कोऽभिप्राय इत्याशङ्का, तत्परिहारस्तु **नाम तु** इत्यारभ्य **ज्ञापितमि**त्यन्तेन कर्तव्यः. **तत्रैवे**ति भगवतीत्यर्थः. **सर्वशक्तियुक्तमिति**, नाम्नां सर्वशक्तियुक्तत्वं तु कपिलस्तुतौ देवहूतिवाक्ये ''अहो बत श्वपचोतो गरीयान् यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यं तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या ब्रह्मानूचुर्नाम गृह्णन्ति ये ते''इति. **गुणकर्माणी**ति, अन्यस्य **गुणकर्माणि न त्वेवंविधानी**ति योज्यम्. तदेवोक्तं **गुणकर्मणामि**[लेख.]त्यादिना. ननु कथमन्यस्यैवंविधानि गुणकर्माणीत्याशङ्क्य हेतुमाहुः **पदार्थान्तरवाचकत्वं स्यादि**ति. तदेवोक्तं प्रथमस्कन्धे व्यासं प्रति नारदेन ''ततोऽन्यथा किंचन यद्विवक्षतः पृथग्दृशस्तत्कृतरूपनामभिः न कुत्रचित्क्वापि च दुःस्थिता मतिर्लभेत वाताहतनौरिवास्पदमि''ति. तदेवोक्तं **पदार्थान्तरवाचकत्वं स्यादि**ति. **छान्दसप्रयोगादि**[सुबो.]ति, छान्दसप्रयोगाद्यद् ज्ञापितं

ति ज्ञापितम्. **कायः** शरीरं च **तस्य** भगवतः **प्रह्वणादि**नमस्कारादिपूजासाधनादिषु भवतु. प्रकरणेन प्रार्थना. **कर्मभिरवश्यं** भ्रमणम्, **ईश्वरस्यापि** तथै**वेच्छेति** न कर्मस्वातन्त्र्यम्, अत एव स उत्कर्षोऽप्रयोजक इति **यत्र** **क्वापी**त्युक्तम्. ननु कायवाङ्मनसां भगवति विनियोगे मङ्गलाचरितानि कुत्रत्यानीति चेत्, सत्यम्, यावदेतद्भवति तावत्कर्माणि न त्यक्तव्यानीति तेषामन्यथाफलं मा भवत्विति तथा प्रार्थयन्ति. किञ्च **ईश्वर**भाव एव **कृष्णे** सर्वदा भवत्वित्यपि प्रार्थनात्रयम् ॥६७-६८॥

ततः संतुष्टस्तथेति मनसैवाभ्यनुज्ञाय मथुरामागत इत्याह **एवं सम्प्रार्थित** इति.

एवं सम्प्रार्थितो गोपैः कृष्णभक्त्या नराधिप ।
उद्धवः पुनरागच्छन्मथुरां कृष्णपालिताम् ॥६९॥

तेषां प्रार्थनया स्वोत्कर्षो वा तेषामन्यभजनं वा ज्ञातमिति शङ्कां वारयितुं **कृष्णभक्त्ये**त्युक्तम्. **नराधिपे**ति सम्बोधनं सेवकानुवृत्तिः स्वाम्यर्थेति ज्ञापनार्था. तस्य प्रीतिरेव मुख्येति **परमप्रीत** इत्युक्तं , वचनं तु निर्बन्धादपि वदेदित्यप्रयोजकम्.

टीपिका

व्यासंचरणैः तदेवोक्तं **नाम्नस्त्वि**[लेख.]त्यादिना. अतः सर्वं सुस्थमिति. **प्रकरणेने**[सुबो.]ति अत्र **भवत्विति** क्रियापदं यद्यपि मूले नास्ति तथापि **प्रकरणेन प्रार्थना** इत्यर्थः ॥६७-६८॥

एवं सम्प्रार्थित इत्यत्र आभासे. **स**[सुबो.]इति जन्मोत्कर्ष इत्यर्थः. **एतद्भवतीति**, कायवाङ्मनसां भगवति विनियोगो भवतीत्यर्थः. **स्वोत्कर्षो वे**ति, नन्दादीनां प्रार्थनया उद्धवेन स्वोत्कर्षो न ज्ञात इत्यर्थः. **अन्यभजनं वे**ति, ''रतिर्नः कृष्ण ईश्वरे भवत्वि''त्युक्त्या नन्दादीनां पूर्वमन्यभजनं भविष्यतीति न ज्ञातम्. अत एव मूले **कृष्णभक्त्ये**त्युक्तम्. तर्हि नन्दादीनां पूर्णत्वेऽपि किमर्थं प्रार्थनेत्याशङ्कापरिहारस्तु पूर्णभक्तानामयं सहजस्वभावो यत् स्वोत्कर्षं न जानन्तीत्यतः प्रार्थनाकरणमिति भावः. नन्वेवं तर्हि नन्दादीनां सत्सङ्गार्थम् उद्धवः पुनरपि कियत्कालं स्थितिं कथं न कृतवान् इत्याशङ्कापरिहारस्तु **नराधिपे**ति सम्बोधनसूचितार्थेन कर्तव्यः. तत्र **सेवकानुवृत्तिः स्वाम्यर्थे**तीति, सेवकैः स्वार्थं परित्यज्य स्वामिसेवा कर्तव्या अन्यथापराधः स्यादिति, तत्सर्वं भवान् जानातीति **नराधिपे**ति सम्बोधनम्. ननु प्रार्थनायाः फलार्थमुद्धवेन प्रत्यक्षतया आशीः कुतो न दत्तेत्याशङ्क्याहुः **तस्ये**ति, फलार्थमाशीर्दानस्य प्रीतिरेव मुख्येत्यर्थः. अतः **परमप्रीतः**

मथुरां पुनरागच्छत्,भगवांस्तावत्पर्यन्तं मथुरायामेव स्थितः. **कृष्णपालितामिति** विशेषतो भयशङ्कया स्वयमेव पालयतीति भगवदनागमने विशेषहेतुरुक्तः. अनेन तादृशं स्थानं परित्यज्य किमित्युद्धवः समागत इति शङ्का निवर्तिता ॥६९॥

एतत्सर्वं दासभावेनैव कृतमिति ज्ञापयितुं निवेदनमाह.

कृष्णाय प्रणिपत्याह भक्त्युद्रेकं व्रजौकसाम् ।
वसुदेवाय रामाय राज्ञे चोपायनान्यदात् ॥७०॥

॥ इति श्रीभागवत-दशमस्कन्धे चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः॥

कृष्णायेति उपायनान्यदादिति सम्बन्धः. भगवन्तं **प्रणिपत्य भक्त्युद्रेकमाह**, एतावानर्थः पूर्वं भगवता **नोक्त** इति प्रायेण भगवान् न विचारितवान् इति. यादृशः प्रेमात्मको भक्तिपदार्थः शास्त्रे निरूपितस्तस्मादाधिक्यमेतद्धा-वस्योक्तवानिति वा. तेनानिर्वाच्यत्वमितोऽन्यत्रादृष्टत्वं च ज्ञापितं भवति. ततो

टीपिका

इत्युक्तमिति, "उद्धवः परमः प्रीत" इति गोपीनां नमनारम्भे श्रीशुकेन पूर्वमुक्तमित्यर्थः. **तावत्पर्यन्तमिति**, यावदुद्धवो मथुरायां नागतस्तावत्पर्यन्तं भगवान्मथुरायां स्थित इत्यर्थः. तत्र हेतुः **कृष्णपालितामिति**. नन्वन्येषां सेवकानां विद्यमानत्वेऽपि किमर्थं स्वयं पालयतीत्याशङ्कायामाहुः **विशेषत** इत्यादिना. तथा च तदा जरासन्धादीनां विशेषतः शङ्कया बहूनां सेवकानां सम्भवेऽपि "त्वं हि नः परमं चक्षुरि"ति वाक्याद् "वृष्णिनां प्रवरो मन्त्री"ति वाक्याच्च उद्धवातिरिक्ताना-मक्रूरादीनामपि विश्वासाभावात् स्वयमेव पालयतीति. अतो युक्तं **विशेषतो भयशङ्कयेति विशेषहेतुरुक्त** इति. यथा नन्दादीनां निरोधसिद्ध्यर्थं व्रजे नागमनं तथा भगवदनागमने अयमपि विशेषतो हेतुरुक्त इत्यर्थः. **अनेनेति**, यथा विशेषभयशङ्कातो मथुरां परित्यज्य भगवान्व्रजं न समायाति तथा तादृशं स्थानं परित्यज्य किमुद्धवो मथुरायां समागत इति शङ्का निवर्तितेत्यर्थः ॥६९॥

कृष्णायेत्यस्याभासे. **एतत्सर्वमि**[सुबो]ति, भगवदाज्ञया नन्दादीनां सान्त्वनमित्यर्थः. **उपायनान्यदादि**त्युक्त्या कृष्णाय वसुदेवादिभ्यश्चोपायनान्य-दादिति योज्यम्. तत्र श्रीकृष्णे विशेषमाहुः **भगवन्तमि**त्यादिना. नन्वेतासां भक्त्युद्रेकं किं भगवान्न जानाति इत्याशङ्कायामाहुः **एतावानर्थ** इति, "ता मन्मनस्का"इत्यादिवाक्यानि पूर्वं भगवतोक्तानि परमदृष्टो भक्त्युद्रेकरूपोऽर्थो भगवता तदा **नोक्त** इत्यर्थः. ननु भगवान्कथं न जानातीत्याशङ्क्याहुः **प्रायेणे**त्यादिना. अग्रे पृथक् पृथक् उपायनदानतात्पर्यमाहुः **ततो वसुदवाये**त्यादिना. अक्रूरेण

वसुदेवायाप्युपायनान्यदान्मित्रसम्बन्धः तिष्ठतीति ज्ञापयितुम्. **रामाय** चाददात्पूर्वावस्था तथैव तिष्ठतीति मर्यादामप्यङ्गीकुर्वन्तीति ज्ञापनार्थम्. **राज्ञे** चकारादक्रूरादिभ्योऽपि दोषाभावज्ञापनार्थम् ॥७०॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीवल्लभदीक्षित-
विरचितायां दशमस्कन्धपूर्वार्धे चतुश्चत्वारिंशाध्यायविवरणम् ॥

टीपिका

मत्पुत्रावानीतौ पुनर्व्रजे मया न प्रेषितौ अतो नन्दस्य मित्रत्वं न भविष्यतीति न ज्ञातव्यमिति ज्ञापयितुं वसुदेवायोपायनमदादिति योज्यम्. **पूर्वावस्था** इति बालभावावस्था. अतः सुखेनैव स्थातव्यं पुनरपि दर्शनं देयमिति भावः. एवं नन्दादीनां उत्तमभक्तिमत्त्वाद्यथोद्धवस्य गुरुत्वेन प्रार्थना पूर्वं कृता तथोपायनान्यपि पृथक् पृथगदादिति सर्वं सुस्थम् ॥७०॥

श्रीमदाचार्यवाग्वृन्दविचारणविचक्षणाः ।
वदान्ति चेदसामर्थ्यं वाक्यगौरवशङ्कया ॥१॥
सर्वथैवासमर्थोऽहमसामर्थ्ये वदामि किम् ।
तथापि बाल्यमालक्ष्य प्रसीदन्तु सदा मयि ॥२॥

इति श्रीमन्मथुराधीशसन्निधौ गोस्वामिश्रीद्वारकानाथात्मज-गोस्वामिश्री-रामकृष्णजिदाज्ञया श्रीमद्द्वारवतीनिवासिना वालखिल्यगरुडोद्गारिज्ञातिना पाहाडश्रीविश्रामात्मजहरिकृष्णेनेयं भ्रमरगीतप्रकीर्णटीपिका पूर्णीकृता. तत्र मनसोऽनेकपथत्वाद्बुद्धिदोषाद्यत्किंचिन्न्यूनाधिकं तद्विज्ञैर्विचार्य कामानुजं विहाय लेखार्हं तल्लेख्यं, यतो मया व्याकरणं नाधीतम्. अत्रार्थे केनचिदुक्तम् —

"एतस्यामहमल्पबुद्धिविभवोऽप्येकोपि कोपि ध्रुवं
मध्ये भक्तजनस्य मत्कृतिरियं न स्यादवज्ञास्पदम् ।
किं विद्याः सरधाः किमुज्ज्वलकुलाः किं पौरुषाः किं गुणा-
स्तत्किं सुन्दरमादरेण रसिकैर्नो पीयते तन्मधु" ॥१॥

किञ्च देहस्यानित्यत्वं, ततो ममोपरि दयां कृत्वा सत्समागमे सद्भिः स्मर्तव्योऽहमिति प्रार्थये.

॥ इति श्रीभ्रमरगीतद्वितीयाध्यायप्रकीर्णटीपिका समाप्ता ॥

॥ इति चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥

॥ षष्ठः स्कन्धादितः पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः ॥

एवं पूर्वनिरोधस्य सान्त्वनोत्कर्षवर्णनम् ।
कृत्वा भविष्ययोश्चैव सान्त्वनं विनिरूप्यते ॥(१)॥
मथुरावासिनः सर्वे राजसाः परिकीर्तिताः ।
सात्त्विकाः पाण्डवा भक्तास्तयोः सान्त्वनमुच्यते ॥(२)॥
राजसत्वप्रसिद्ध्यर्थं स्त्रीपुंसोरत्र वर्णनम् ।
प्रक्रियान्तररूपा हि किञ्चिद्द्वारा तथा कृताः ॥(३)॥
अक्रूर उद्धवान्मुख्यः ततोऽग्रे प्रेषणं मतम् ।

लेखः

पञ्चचत्वारिंशे. **पूर्वनिरोधस्ये**ति, तामसनिरोधस्य **सान्त्वनेन** ज्ञापितो य **उत्कर्षस्तद्वर्णनं कृत्वे**त्यर्थः. न ह्येवं सान्त्वनं भगवानन्यत्र निरोधे करोतीति भावः. **भविष्ययोरि**ति, राजससात्त्विकयोरत्राध्यायद्वये **सान्त्वनं निरूप्यते** न तूत्कर्ष इत्यर्थः (१).

सात्त्विकानां पाण्डवानां राजसप्रकरणे सान्त्वने हेतुमाहुः **प्रक्रियान्तरे**ति. **प्रक्रियान्तरे** सात्त्विके **रूपं** स्वरूपं येषां तादृशाः पाण्डवाः **हि** यत अक्रूर**द्वारा तथा** सान्त्वनविषयाः **कृताः**. अक्रूरश्च राजसः अतो राजसप्रकरणे निरूपणमिति भावः (३).

प्रकाशः

पञ्चचत्वारिंशाध्यायतात्पर्यं निरूपयन्त उपोद्घातेनात्र निरूपयतीत्याहुः **एवमि**त्यादि. **एवं** प्रसङ्गतः **पूर्व**कृत**निरोधस्य सान्त्वन**मुखे**नोत्कर्षवर्णनं कृत्वे**त्यर्थः (१).

भविष्यनिरोधविषयावाहुः **मथुरे**त्यादि (२).

ननूभयनिरूपणेन कथं राजसत्वस्य प्रकर्षेण सिद्धिरत आहुः **प्रक्रिये**त्यादि. राजसी हि क्रिया विक्षेपयुक्ता. एवं सति इहत्यानां या **प्रकृष्टा** भगवद्विषयिणी **क्रिया** सा **आन्तररूपा** मानसीरूपा, **हि** अतो हेतोः **किञ्चिद्द्वारा** कामाद्यान्तराभिलाषपूर्ति-द्वारा **तथा** तद्वत्त्वेन रूपेण प्रसिद्धाः **कृताः**, अत उभयोर्वर्णनेनोपलक्षणविधया सुखेन सर्वेषां तथात्वप्रसिद्धिरित्यर्थः (३).

अग्र इति स्वगमनात्पूर्वम्. नन्वेवं सत्युद्धवस्य जघन्यता भवतीत्यत

दासभावे तूद्धवस्तु शास्त्रतस्त्वयमेव हि ॥(४)॥
स्त्रीसान्त्वनं तु पुरतः राजसत्वात्स्वरूपतः ।
वाचान्यस्य निरूप्यं हि स्तुत्या च प्रेषणेन च ॥(५)॥
पञ्चचत्वारिंशेऽध्याये कुब्जाक्रूरातिसान्त्वनम् ।
कायेन वचसा चक्रे भाव्यर्थमिति वर्ण्यते ॥(६)॥

प्रथममेकादशभिः कुब्जायाः कथामाह साधिकैः **अथ विज्ञायेति**, तस्या हि सर्वा मनोवृत्तयः पूरणीयाः ततोऽप्यधिकं च कर्तव्यमिति.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

अथ विज्ञाय भगवान् सर्वात्मा सर्वदर्शनः ।
सैरन्ध्र्याः कामतप्तायाः प्रियमिच्छन्गृहं ययौ ॥१॥

आदौ भगवान् तस्या गृहे स्वयमेव गत इत्याह **अथेति. अथ** भिन्नप्रक्रमे, भक्त्यभावात्. परं तस्या दुःखं तुल्यमिति तन्निवृत्त्यर्थं गत इत्यभिप्रायेणाह **विज्ञायेति**; प्रकरणात् कामसन्तापम्. **ज्ञाने** सामर्थ्यं **भगवानिति**. तथाकरणे दोषाभावे चावश्यको हेतुः **सर्वात्मेति**. दृष्ट्वावश्यं प्रतीकारः कर्तव्य इति **सर्वदर्शन** इति फलमुखो हेतुरुक्तः. पूर्वमयोग्यता देहे स्थितेति न तस्याः कामपीडा, इदानीं तु देहे योग्येऽपि[1] स्त्रीचर्यां सर्वां जानातीति तस्याः कामपीडा महती जातेत्याह **सैरन्ध्र्या** इति, सैरन्ध्री ह्यन्तःपुरेऽधिकारिणी स्त्री स्त्रीचरित्रं जानातीति कामतापो युक्त एव. तस्या आगमनसामर्थ्याभावात् स्वयमेव **गृहं ययौ**. स्वगमनमात्रेणैव तस्यास्तापो निवर्तित एव तथापि **प्रियमिच्छन् ययौ** मनसा तस्याः प्रियं भवत्विति विचारितवान् ॥१॥

ननु किमित्येवं विचारेण? कर्तव्यमिव हि प्रियं, तद्गमनेनैव भविष्यतीत्याशङ्क्य

प्रकाशः

आहुः **दासेत्यादि**. द्वितीय**स्तुरेवार्थः**. अत उभयोरपि विषयभेदान्मुख्यत्वमविरुद्धमित्यर्थः (४).

स्वरूपत इति, प्रद्युम्नात्मकत्वात्तत इत्यर्थः (५).

ननु स्वगृह आकारणेनापि सान्त्वनस्य सिद्धेस्तद्गृहगमनादिकं किमर्थमित्यत आहुः **पञ्चेत्यादि**. **भाव्यर्थमिति**, कामवरदानप्रेषणार्थमित्यर्थः. ननु तथापि पूर्वमेतयोरेव सान्त्वनकथनस्य किं प्रयोजनमत आहुः **अतिसान्त्वनमिति**, तथा चैतयोः क्लेशाधिक्यादेतौ पूर्वं निरूपितावित्यर्थः (६).

---

१. देहेऽपि योग्ये इत्यन्वयः -सम्पा.

तन्निराकरणार्थं भगवदिच्छया जातोत्कर्षं गृहं वर्णयति **महार्हेति** सार्धेन. यथा प्राकृतमपि गृहं भगवदिच्छयैवं जातम् एवं सापि गोपिकातुल्या भविष्यतीति प्राकृतायास्तथात्वं कर्तव्यमिति प्रियेच्छा युक्तैव.

महार्होपस्करैराढ्यं कामोपायोपबृंहितम् ।
मुक्तादामपताकाभिर्वितानशयनासनैः ।
धूपैः सुरभिभिर्दीपैः स्रग्गन्धैरपि मण्डितम् ॥२॥

महार्हाण्यमूल्यानि गृहादीनि पात्रादीन्यु**पस्करा** यस्य तै**राढ्यं** संपन्नम्. **कामोपायाः** कामशास्त्रोक्तानि साधनान्युद्दीपकानि चित्राणि पुष्पादिसंपत्तिः इन्दुर्मन्दिरमित्यादीनि तै**रुपबृंहितं** —लौकिकस्तच्छास्त्रीयश्चोत्कर्ष उक्तः. अलौकिकोत्कर्षमाह **मुक्तादामभिः पताकाभिश्च** बहि**र्मण्डितम्. वितानै**श्चन्द्रातपत्रैः **शयनासनैः** शयनार्थमुपवेशनार्थं च सुखस्पर्शास्तरणैः प्रत्यहं वैशेषिकैरपि मण्डितमित्याह **धूपैरिति**, अगरुसम्भवा आमोदाः **दीपा** अग्निमयाः मणिमयाः **स्रग्भिर्गन्धैश्च** शैत्यार्थं सर्वत्र लेपनं मण्डनम्. एवं त्रिविधोऽप्युत्कर्षः भगवदिच्छया तस्मिन् गृहे जात उक्तः ॥२॥

ततो गते भगवति यद्वक्तव्यं तदाह **गृहं तमायान्तमिति.**

गृहं तमायान्तमवेक्ष्य सासनात् सद्यः समुत्थाय हि जातसंभ्रमा ।
यथोपसंगम्य सखीभिरच्युतं सभाजयामास सदासनादिभिः ॥३॥

भगवदिच्छाविषयत्वाद् गृहस्यापि कर्मता, यतस्तं तादृशं भगवन्त**मायान्तमवेक्ष्य** तथैव**ासनादुत्थाय** प्रथमं **जातसंभ्रमा** जाता इतिकर्तव्यमूढा जाता. (**हि!**) युक्तश्चायमर्थः. ततः **यथावदुपसंगम्य सखीभिः** सहिता **सभाजयामास**. ननु कान्तोऽयं पूजया विलम्बितो निवृत्तकामो भवेत्तत्राह **अच्युतमिति. सदासनादिभिरिति** सुवर्णमयाद्यासनानि शय्यामयानि वा. अनुपभुक्तानीति **सत्पदेन** ज्ञापितम् ॥३॥

लेखः

महार्हेत्यत्र. गोपिकातुल्येति अन्तःस्थितलक्ष्म्यंशा भविष्यति, "रेमे रमेश" इत्यत्रेवेत्यर्थः ॥२॥

प्रकाशः

गृहं तमित्यत्र. कर्मतेति, अवेक्षणक्रियाकर्मतेत्यर्थः. नन्वीक्षणक्रियया कर्तुः प्राप्तुमिष्टत्वाभावे कथं सेत्यत आहुः **यतस्तं तादृशमिति**, स्वेच्छामात्रेण पूर्वोक्तरीतिकगृहोत्कर्षकर्तारम्. अतो युक्तैव कर्मतेत्यर्थः ॥३॥

तथोद्धवः साधुतयाभिपूजितो न्यषीददुर्व्यामभिमृश्य चासनम् ।
कृष्णोपि तूर्णं शयनं महाधनं विवेश लोकाचरितान्यनुव्रतः ॥४॥

तथैव उद्धवोपि पूजितः परं **साधुतया**. अनेन भगवान् भर्तृतया पूजित इति ज्ञायते. कामो हि दोषात्मक इत्यर्थाद् व्यावृत्तिः फलति. **उर्व्यामेवो**पविष्टः **आसनमु**पस्पृश्येति राजधर्मपरिज्ञानं निरूपितम्. तस्याः कृत्ये जाते भगवानपि स्वकार्यं कृतवानित्याह **कृष्णोपी**ति. तदर्थार्थमारोपिते कामे क्षणं विलम्बश्चेद् जगत् काममयमेव स्यादिति **तूर्णमेव शयनं विवेश**. न त्वनिर्दिष्टमुपभुक्तमनुपभुक्तं वा भवेदिति भगवदर्थं वान्यार्थं वेत्यपि शङ्कां व्यावर्तयितुमाह **महाधनमिति**, महद् धनमुत्पादनार्थं यस्य, तदप्युत्कृष्टं भगवदर्थमेवेति, **विवेशे**ति पूर्वोपवेशस्थानाद् विविक्त इति ज्ञापयितुम्. ननु भगवानक्लिष्टकर्मा किमित्येवं प्रार्थनाव्यतिरेकेण स्वयमेव गत इति चेत्तत्राह **लोकाचरिताननुव्रत** इति, सा हि लौकिकी लोकरीत्यैव ग्राह्येति तस्यास्तथैव मनोरथः. सा गृहस्थवदीश्वरवद्भावं न जानाति गुप्तत्वात्, खड्जव्यवहारं(?) तु जानाति प्रकटत्वात्. अतस्तथैव मनोरथ इति **लोकानां** साधारणानां **चरितानि** भगवानप्य**नुव्रतो** जातः. नत्वनुवादकमेतत्पदं, निरोधविरोधापत्तेः ॥४॥

ततः सापि गतेति तस्याः संस्कारपूर्वकं गमनमाह.

सा मज्जनालेपदुकूलभूषण-
स्रग्गन्धताम्बूलसुधासवादिभिः ।
प्रसाधितात्मोपससार माधवं
सव्रीडलीलोत्स्मितविभ्रमेक्षितैः ॥५॥

आलेपं सुगन्धादिभिः स्नानार्थमेव, भगवदिच्छया पूर्वमेव तस्यास्तथात्वम्. **सुधासव** इति शक्त्यर्थं देहविस्मरणार्थं च कामशास्त्रोक्तद्रव्यपानमुक्तम्. **आदिशब्देन**

लेखः

कृष्णोपीत्यत्र. तदर्थार्थमिति, तस्या अर्थसिद्ध्यर्थमित्यर्थः ॥४॥

प्रकाशः

अग्रिमे **तदर्थार्थमिति**, वाक्येन तथात्वावगमादित्यर्थः. ननु प्रकटत्वा**दनुव्रत**-पदस्यानुवादकत्वमेव कुतो नोच्यते इत्याशंकायामाहुः **नन्वि**त्यादि. अनुवादकत्व एतदुद्देशे तथाभावादेतया लीलया सा निरुद्धा न स्यादतस्तथेत्यर्थः ॥४॥

अग्रिमे मज्जनालेपनादीनां पूर्वसाधितत्वे हेतुमाहुः **भगवदिच्छयेति** ॥५॥

तयोद्बोधकानां पदार्थानामपि चन्द्रावर्तादीनां स्थापनम्. एवमेतैः **प्रसाधित**शरीरा तद्भावापन्ना लक्ष्मीपतिरयमिति तथाकरणे शङ्कारहिता **माधवमुपससार.** तया भगवति **सर्वे भावाः** स्वान्तःस्थिताः क्रमेण सूचिता इत्याह **सव्रीडे**ति. स्त्रीभावात् प्रथमसम्बन्धे **व्रीडा,** ततो **हासः** प्रवृत्तायाः, ततो भगवच्चेष्टानां सादरं निरीक्षणं, ततोऽप्यभिलषितानां भाषणं सूनृतम्— अयमग्रे क्रमो भगवता कर्तव्य इति प्रथमतस्तादृशीं चेष्टां कुर्वाणैव गतेत्यर्थः ॥५॥

ततः सा कान्ता जाता भगवद्भ्रमविशात्ततो यथाभिलषितं कृतवानित्याह **आहूये**ति.

आहूय कान्तां नवसंगमह्रिया विशङ्कितां कङ्कणभूषिते करे ।
प्रगृह्य शय्यामधिवेश्य रामया रेमेऽनुलेपार्पणपुण्यलेशया ॥६॥

स्वतः प्रवृत्त्यभावे हेतुमाह **नवसंगमह्रिया विशङ्किता**मिति. निकटे गतायाः शङ्कायामाह **कङ्कणैर्भूषिते करे प्रगृह्ये**ति. कङ्कणानां परिधानं सुवासिन्या अस्यास्तु भगवद्व्यतिरिक्तः पतिर्नास्तीति भगवांश्चेत् न परिगृह्णीयात् तदा कङ्कणपरिधानं व्यर्थमेव भवेदिति सूचितम्. **शय्यामधिवेश्ये**ति प्रथमं प्रथमसुरतमेवोक्तम्. नन्वेषा का, स्त्रीसम्बन्धा न सर्वत्र कर्तव्या इति, तत्राह **रामये**ति, भोगार्थमेवैषा स्त्री. "नाग्निं चित्वा रामामपेयादि"ति विशेषनिषेधादन्यदा तया सम्बन्धो न दोषाय. नन्ववश्यं सुखानुभवे धर्मो हेतुः, ततः परमानन्दं कथमनुभवतीत्याशङ्क्याह **अनुलेपार्पणपुण्यलेशये**ति— अनुलेपार्पणादन्यानि पुण्यानि लेशमात्राणि यस्याः, अनुलेपार्पणस्य वा पुण्यमात्रं लेशो यस्याः. अथवा सा त्वनुलेपार्पणपुण्य-लेशयुक्तैवातस्तस्याः सहभाव एव कृतः; भगवान् स्वयमेव **रेमे** तावत्फलं स्वयमेवाधिकं दत्तवान्, न तु कर्मणा जातमिति तथोक्तम्. अथवा भगवान् सर्वसमर्थः तस्यास्तावन्मात्रमेव सुखं दत्तवानिति ज्ञापयितुं तथोक्तम् ॥६॥

ततः सापि लब्धधाष्ट्या स्वाभिलषितं कृतवतीत्याह **से**ति.

सानङ्गतप्तकुचयोरुरसस्तथाक्ष्णो-र्जिघ्रन्त्यनन्तचरणेन रुजो मृजन्ती ।
दोर्भ्यां स्तनान्तरगतं परिरभ्य कान्तमानन्दमूर्तिमजहादतिदीर्घतापम् ॥७॥

लेखः

सा मज्जनेत्यत्र. ननु व्रीडादिक्रमस्तु सम्भोगे कर्तव्ये न तु गमनसमये इत्याशङ्क्याहुः **अयमग्रे क्रम** इति. **भगवते**ति सहार्थे तृतीया; **अयं क्रमोऽग्रे** तया **भगवता** सह **कर्तव्य इति** पूर्वमिव तथा चेष्टया तत्सूचयन्ती **गते**त्यर्थः ॥५॥

सा सैरन्ध्री **अनङ्गेन तप्तयोः कुचयोः**, षष्ठ्येषा, **उरसः** वक्षःस्थलस्य—**अनन्तचरणेन** एतेषां **रुजं मृजन्ती** जाता. स्वरूपतः केनचित्सम्बन्धेन वेत्याशङ्क्य तापस्योभयत्र व्याप्तत्वाद् बहिःस्पर्शेन तापापगमेऽपि अन्तस्तापनिवृत्त्यर्थमुपायमाह **जिघ्रन्तीति**, अर्थादनन्तचरणमेव. अनन्तत्वादेव पर्यायेण तापनाशो निरूपितः[१], तथा सति शीघ्रं तापाभावो न स्यात्. न केवलं दुःखाभाव एव तस्याः फलितः किन्तु परमानन्दोऽप्यनुभूत इत्याह **दोर्भ्यामिति**, पूर्वमेव **स्तनान्तरे** हृदये निविष्टम् अन्तर्यामिणं बहि**र्दोर्भ्यामा**लिङ्ग्य **तापं जहौ**. **स्तनान्तरागतं** वा, कान्तत्वात् तथाकरणे नापराधः. न केवलं पर्यवसानवृत्त्या सुखजनकत्वं किन्तु स्वरूपतोऽपि तथात्वमित्याह **आनन्दमूर्तिमि**ति. अत एव **अतिदीर्घमपि** त्रिविधमपि **तापं** जहौ. कामताप एव वा जन्मकोटिष्वनुस्यूतो दीर्घो भवति ॥७॥

एवमनुलेपार्पणफलमुक्त्वा फलानुभवार्थं या भगवतः सेवा कृता रतिरुत्पादिता तस्याः फलं वक्तव्यमिति तन्निरूपयति **सैवमि**ति त्रिभिः.

सैवं कैवल्यनाथं तं प्राप्य दुष्प्रापमीश्वरम् ।
अङ्गरागार्पणेनाहो दुर्भगेदमयाचत ॥८॥

इदं हि पूर्वस्माद् उत्कृष्टमिति वरत्वेन पर्यवसितम्, तथा सति न फले काचित् मर्यादा इयदेवेति, तथापि भाग्यमेवाल्पमिति बुद्धिस्तादृश्येवेत्यल्पमेव याचितवतीति शुकस्तां निन्दति **दुर्भगेदमयाचते**ति. दातरि समर्थे प्रसन्नेऽप्यल्पयाचनं भाग्याभावादेव भवति. **सा** पूर्वोक्ता **एवं** जाता **तं** तथोपकारिणं स्वयमेवागत्य सर्वसुखदातारं **कैवल्यस्यापि नाथं** सर्वैरिवोपायै**र्दुष्प्रापमीश्वर**त्वाद्, अन्यथा साधनाधीनः स्यात्, तादृशमपि **प्राप्य** मोक्षं गोपिकावदवस्थां वा न प्रार्थितवती किन्तु कालपरिच्छिन्नं भगवत्सम्बन्धमेव. यद्यपि स्वरूपतो महान् तथापि कालेन परिच्छिन्नः फलत्वान्न साधनतामापद्यते अतो **दुर्भगैव** ॥८॥

याचनमाह **आहोष्यतामिति**.

प्रकाशः

सैवमित्यत्र. ननु भगवत्सम्बन्धस्य महापुण्यजनकत्वात् कालपरिच्छिन्नेनाप्युत्पन्नं[२] पुण्यं पुनः सम्बन्धं कारयिष्यति ततः सोऽप्यन्यमित्येवं सर्वदैव सुखानुभवो भविष्यतीति कथं दुर्भगत्वमत आहुः **फलत्वादित्यादि** ॥८॥

---

१. स. पाठानुसारेण. निवारितः इति मु. पा. २. नोत्पन्नमिति क्वाचित्कः पाठः.

आहोष्यतामिह प्रेष्ठ दिनानि कतिचिन्मया ।
रमस्व नोत्सहे त्यक्तुं सङ्गं तेऽम्बुरुहेक्षण ॥९॥

इहैवोष्यतामिति, विवाहस्याकृतत्वात् क्वचिच्छयनं कर्तव्यं तदिहैव कर्तव्यमित्यर्थः. किमित्येवं प्रार्थ्यत इत्याशङ्कायामाह **प्रेष्ठेति**, परमप्रियस्तथोच्यत इति. तत्राप्यन्तर्यामिवत् स्थितिं वारयति **कतिचिद्दिनानि मया** सह **रमस्व**. ननु कोऽयं निर्बन्ध अयमेव वर इति, मोक्षादिर्वा कथं न प्रार्थ्यत इत्याशङ्क्याह **नोत्सहे त्यक्तुं सङ्गं त** इति. तत्र हेतु**रम्बुरुहेक्षणे**ति, दृष्ट्वैव सर्वसुखदायकः कामोद्बोधकेति वा ॥९॥

भगवान् यद्यपि बह्वेव सुखं दास्यामीति विचारितवान् तथापि याचितं दत्तवानित्याह **तस्यै कामवरं** दत्वेति.

तस्यै कामवरं दत्वा मानयित्वा च मानदः ।
सहोद्धवेन सर्वेशः स्वधामागमदर्द्धिमत् ॥१०॥

सत्यसङ्कल्पत्वात् स्वविचारितमपि दत्तवानित्याह **मानयित्वे**ति, तां मानितवान्. भगवान् हि मोक्षं भक्तिं च दातुमागतः येभ्यो दास्यति तन्मध्ये एतामप्यङ्गीकृतवानित्यर्थः. चकारादात्मानमपि. **मानद** इति, भगवान् सर्वेभ्यो मानं ददातीति स्वधर्माच्च अस्यै च मानं दत्तवान्. ततो बहिरागत्य **उद्धवेन सहितः** तदिच्छानुसारेण धर्मान्तरमपि परिगृह्य कार्ये संपन्ने पुनः सहजमेव धर्मं गृहीतवानित्याह **सर्वेश** इति. अनेन तस्या यथा कियद्दिनरमणं भवति तथैव कृतवानित्यपि लक्ष्यते, यथा नारदस्य मायया क्षणमध्ये षष्टिसंवत्सरप्रतीतिः तथास्या अपीति. इतो गतस्य पुनरागमनाभावः सूचितः. नन्वाकाङ्क्षया पुनर्गच्छेदित्याशङ्क्याह **ऋद्धिमत् स्वधामागमदि**ति ॥१०॥

अत एव भगवन्तं प्राप्य स्वयं न किञ्चित् प्रार्थनीयम्; भगवानेव यत्करिष्यति तत्करोतु, अन्यथा स कुमनीष्येव भवतीत्याह **दुराराध्यमि**ति.

दुराराध्यं समाराध्य विष्णुं सर्वेश्वरेश्वरम् ।
यो वृणीते मनोग्राह्यमसत्त्वात्कुमनीष्यसौ ॥११॥

प्रथमतः स आराधयितुमेवाशक्यः, अत एवास्मदादयो मुक्ता अपि तथैव

प्रकाशः

तस्या इत्यत्र. **आत्मानमपीति दातुमागत** इत्यादिना योज्यम्. **अनेनेति**, सर्वेशत्वेनेत्यर्थः ॥१०॥

स्थिताः. तादृशमप्याराध्य, तत्रापि प्रसादपर्यन्तं **सम्यक् विष्णुं** पालनार्थमेवागतमनाराधनेऽपि पालकम्. तत्रापि **सर्वेश्वराणां** कालादीनाम**पीश्वरं** नियन्तारं, सर्वेषां हि कालग्रासो निवारणीयः. एवं सति यो **मनोग्राह्यं वृणीते** स **कुमनीषी**— महाराजस्थाने गत्वा स्वयं क्षुधितः सर्वोपद्रवयुक्तोऽपि स्वसम्बन्धिने मर्कटाय यथोदनं प्रार्थयते तद्वत् स्वयमात्मा मर्कटरूपाय मनसे हितं प्रार्थयतीति. नन्वेवमस्तु तथाप्यल्पमेव प्रार्थितं भवेत् न तु मर्कटवदित्याशङ्क्याह **असत्त्वा**दिति— न हि मनोधर्माः स्वस्य भवन्ति, अध्यारोपितास्त्वसन्त एव. तर्हि कथं प्रार्थयत इत्याशङ्क्याह **कुमनीषी**ति, सा हि दुर्बुद्धिः अतः प्रमादादन्यथा प्रार्थयत इत्यर्थः ॥११॥

प्रकरणान्तरमारभ्यते **अक्रूरभवन**मिति.

अक्रूरभवनं कृष्णः सहरामोद्धवः प्रभुः ।
किञ्चिच्चिकीर्षयन्प्रागादक्रूरप्रियकाम्यया ॥१२॥

तस्मिन्नेव दिवसे अक्रूरायापि वरो दत्त इति तस्यापि गृहे भगवान् गतः. ननु पूर्वं तस्मै वरो दत्त इति कथं व्युत्क्रमेण निरूप्यते तत्राह **कृष्ण** इति, स हि तासामर्थे समागत इति पूर्वमवोचाम. तत्र बलभद्रस्यापि कार्यमस्तीत्यत आह **सहराम** इति. **उद्धवो** हि उत्सवात्मकत्वाद् रसप्रधान एव, रमणं तु स्त्रीभिरेव, अतः कुब्जाया गृहे उद्धवेन सह गमनं, भगवांस्तत्र प्रधानमिति. बलभद्रस्य क्रोधोऽपि स्याद् आवेशभूत इति रमणारमणाभ्यां रसाभासानौचित्ये स्याताम्. अत्र त्वक्रूराय संपूर्णो भावो नेय इति योनिभावार्थं रामं निमित्तभावार्थमुद्धवं च सह नीतवान्. नन्वनाकारितः किमिति गत इत्याशङ्क्याह **प्रभु**रिति— सर्वेषां हि स्वामी सेवकगृहेऽपि सेवकसंमाननार्थं गच्छति; कस्तमाकारयितुं समर्थः? प्रयोजनमाह **किञ्चित्** क्वचित् प्रेषणं **चिकीर्षयन्** चिकीर्षामुत्पादयन्नक्रूरे तदर्थं स्वतोऽप्य**क्रूरप्रियकाम्यया** च **प्र**कर्षेण प्रभुरीत्या**गात्** ॥१२॥

अस्योपाख्यानं स्मार्ततत्त्वैः प्रतिपाद्यते, अयं हि स्मार्त इति ज्ञापयितुम्.

लेखः

स तानित्यस्याभासे. **स्मार्ततत्त्वै**रिति पञ्चविंशतिश्लोकैरित्यर्थः; तृतीयस्कन्धे तत्त्वानां कालमादाय पञ्चविंशतिसङ्ख्यायाः साङ्ख्यप्रकरणे निरूपणादिति भावः.

प्रकाशः

अग्रिमे **भवे**दिति स्वस्मा इति शेषः ॥११॥

ततो गतानामक्रूरकृतं सत्कारमाह धर्मप्रतिपादनाय **स तानिति.**

स तान्नरवरश्रेष्ठानाराद्वीक्ष्य स्वबान्धवान् ।
प्रत्युत्थाय प्रमुदितः परिष्वज्याभिवन्द्य च ॥१३॥

तस्य सर्वे तुल्या अतो मर्यादया पूजयतीति न बलभद्रादेरपि वैमनस्यम्. **नरवरेभ्योपि श्रेष्ठान्.** नरो नरवरो नरवराच्छ्रेष्ठश्चेति वा उद्धव-राम-स्वामिनः क्रमेणोद्दिष्टाः. **आराद्** दूरादेव दृष्ट्वा, **स्वबान्धवानि**त्यवश्याभ्युत्थाने लौकिकोऽपि हेतुः. **प्रत्युत्थाय** प्रथमतः **प्रमुदितो** जातः. भक्तत्वाभावात् न साष्टाङ्गप्रणामः. पूर्वाक्रूरस्तु मुक्त एव. प्रमोदानन्तरं **परिष्वङ्गः** ततो**ऽभिवन्दनम्** ॥१३॥

एवं कायिकं वाचनिकमुक्त्वा मानसिकं नमस्कारमाह **ननामे**ति.

ननाम कृष्णं रामं च स तैरप्यभिवादितः ।
पूजयामास विधिवत्कृतासनपरिग्रहान् ॥१४॥

बहिर्नमस्कारस्तु व्यावहारिकः, अत एव भगवतापि ताभ्यां सह नमस्कृतमाह **स तैरप्यभिवादित** इति. पूर्वचकारात् फलाद्युपायनादानम्, द्वितीयादुद्धवं च. **स** त्रिभिरप्यभिवादितः. **अपि**शब्दस्तुल्यतामापादयति. ततो गृहागता इति **पूजयामास विधिव**च्छास्त्रदृष्टेन प्रकारेण, यथा महापुरुषानभ्यागतान् पूजयति लोकः. **कृतः आसनपरिग्रहो** यैः. अत्रोद्धवेनापि धर्मानुरोधात्तुल्यतया आसनं गृहीतम्, यथा श्राद्धे गुरुशिष्यौ ॥१४॥

पादावनेजनीरापो धारयन् शिरसा नृप ।
अर्हणेनाम्बरैर्दिव्यैर्गन्धस्रग्भूषणोत्तमैः ॥१५॥

ततः **पादावनेजनीरापः शिरसा धारयन्**—इयं धर्मनिष्ठायामधिका भक्तिः. **नृपे**ति धर्मपरिज्ञानार्थम्. ततः **दिव्यैर्गन्धैः स्रग्भूषणोत्तमैः** सहितेना**र्हणेन पूजयामासे**ति पूर्वेणैव सम्बन्धः. पूजा साधनरूपा, **पूजयामासे**त्याराधयामासेत्यर्थः ॥१५॥

ततो यत्कृतवांस्तदाह **अर्चित्वे**ति.

अर्चित्वा शिरसानम्य पादावङ्कगतौ मृजन् ।
प्रश्रयावनतोऽक्रूरः कृष्णरामावभाषत ॥१६॥

ततः उच्चासने स्थितस्य भगवतः **स्वाङ्कगतौ पादौ मृजन्** सेवनार्थं संवाहयन् **प्रश्रयेण अवनतो** भूत्वा **अक्रूरः** पूर्वोक्तः **कृष्णरामा**वुभौ पूर्वं दृष्टावित्य**भाषत** स्तोत्रं कृतवानित्यर्थः ॥१६॥

तां स्तुतिमाह **दिष्ट्ये**ति.

दशभिः स्तुतिरुक्ता हि प्रार्थनैकेन दोषनुत् ।
सर्वैर्भावैरिह स्तुत्यो निरोधे ह्यधिकारिभिः ॥(७)॥
सर्वेष्वेव च भावेषु कृष्णोत्कर्षो निरूप्यते ।
अयुक्तं प्रार्थयेद्यस्तु तस्मै दद्यान्न सर्वथा ॥(८)॥
न दत्तं पूर्वं गोपीभ्यः नोत्तरस्यापि दास्यति ।
निरोधो ह्यन्यथा न स्यात् फलार्थं कर्म तद्भवेत् ॥(९)॥
ईश्वरः सर्वहितविद् अतो[1] रोधो न दूषणम् ।
यथा [2]बालकरोधो हि पित्रापि विनिरूपितः ॥(१०)॥
निवर्तयति कामांस्तान् ज्ञानेन ग्रहिला मतिः ।
यदि स्यादुल्कटा दुष्टा निर्दुष्टा वा विचारतः ॥(११)॥

**दिष्ट्या पापो हतः कंसः सानुगो वामिदं कुलम् ।
भवद्भ्यामुद्धृतं कृच्छ्राद्दुरन्ताच्च समेधितम् ॥१७॥**

प्रथमं भगवत्कृतकर्मणामभिनन्दनरूपां स्तुतिमाह. स्वसमानत्वेन धर्मः प्रतीतस्तामसोऽयं भाव इति पूर्ववत्प्रथमः. **दिष्ट्येति**, अस्मदादिभाग्येनैव पापरूपोऽयं **कंसो हतः**. पूर्ववद्व्याख्यानम्. **सानुगो** भ्रातृसहितः. **वां** युवयोर्युवाभ्या**मिदं कुलं कृच्छ्राद्दुरन्तादुद्धृतम्.** अनेन कुलसम्बन्धेन कुलस्यानिष्टं शङ्कितं निवारितं,

---

लेखः

अनेनेति, कंसस्य **कुलसम्बन्धेन** हेतुना तन्मारणे भगवान्**कुलस्यानिष्टं** कृतवानिति **शङ्कितं** भवेत्, तदनेन निवारितमित्यर्थः ॥१७॥

दिष्ट्या पाप इत्यत्र. दशसङ्ख्यायास्तात्पर्यमाहुः **सर्वैर्भावैरि**ति, सगुणैर्निर्गुणेन चेत्यर्थः. गोपिकावद्भावा भविष्यन्तीति भ्रमं वारयन्ति **अधिकारिभिरि**ति, यथाधिकारमित्यर्थः. **पूर्वगोपीभ्य** इति, पूर्वाध्यायोक्ताभ्यो गोपीभ्यो बहिःसम्बन्धरूपं तत्प्रार्थितं फलं न दत्तमित्यर्थः. **अन्यथे**ति, **हि** यतः अयुक्तदाने निरोधमार्गो **न** भवेत् किन्तु साधनानुरूपफलदानात् कर्ममार्ग एव भवेदित्यर्थः (७-९).

प्रकाशः

दिष्ट्येत्यत्र. दशभिः स्तुतौ हेतुमाहुः **सर्वै**रित्यादि. नन्वेतत्प्रार्थितं भगवता कुतो न दत्तमित्यत्राहुः **अयुक्त**मित्यादि, **अयुक्तं** स्वायोग्यम्. ननु भक्तयाचितदाने कथं निरोधासिद्धिस्तत्राहुः **फलार्थ**मित्यादि, यदि याचितं दद्यात्तदा तत्कर्म सेवात्मकं कामितफलार्थं स्यान्न तु निरोधार्थमतस्तथेत्यर्थः (७-९).

---

१. अविरोधो इति प्राचीनादर्शपाठः. २. गोलक इति प्रकाशपाठः.

-प्रत्युतेष्टमेव कृतमिति. किञ्च तस्यैकस्य निवारणेन समुदायपर्यवसितं यदैश्वर्यं कुलस्य, तत्प्रत्येकपर्यवसितमपि कृतमित्याह **समेधितमिति.** **चकारात्** मुक्तमपि कृतं, पूर्वसम्बन्धे पापादप्युद्धृतमिति. एवं तेन दृष्टं द्वयमेवेति तावदेवाभिनन्दितम् ॥१७॥

स्वरूपमाह **युवां प्रधानपुरुषाविति.**

युवां प्रधानपुरुषौ जगद्धेतू जगन्मयौ ।
भवद्भ्यां न विना किञ्चित्परमस्ति न चापरम् ॥१८॥

योनिबीजवदत्रापि व्याख्येयम्. प्रधानपुरुषत्वमाधिदैविकं भविष्यतीति ब्रह्मत्वेनैव स्तुतिर्निर्धर्मिका पर्यवस्यतीत्याशङ्क्याह **जगद्धेतू** इति, कारणार्थमेव

लेखः

एवं साधनान्यथाकरणे सामर्थ्यं हेतुं चाहुः **ईश्वरः सर्वहितविदिति** पदद्वयेन. **अतो** हेतो **रोधो**ऽयं **दूषणं न.** तत्र दृष्टान्तमाहुः **यथे**ति. **यथा पित्रा**पिशब्दात्पितृव्यादिभिरन्यैरपि कृतो **बालकस्य रोधो न रोधस्तान्कामान्** तदभिलाषरूपा**न्निवर्तयति** तथा भगवत्कृतोऽपि रोधोऽयुक्ताभिलाषं निवर्तयति. तत्र प्रकारमाहुः **ज्ञाने**नेति. **ग्रहिला** आग्रहवती **मतिर्दुष्टा** भगवति सर्वभावसम्भवा**द्विचारतो निर्दुष्टा** वा **यद्युत्कटा स्यात्तदा ज्ञानेन निवर्तयती**ति शेषः. वस्तुस्वरूपज्ञानमुत्पाद्य निवर्तयतीत्यर्थः (१०-११).

युवामित्यत्र. प्रधानपुरुषत्वमिति, **आधिदैविकं प्रधानपुरुषत्वम्**

प्रकाशः

नन्वभिलषितादाने तद्विपरीतदाने चाभजनीयत्वं स्यादत आहु**रीश्वर** इत्यादि. नन्वेवं कामनापूर्त्यभावेन तथा कृतौ भक्तानां दुःखाद्भगवतः क्लिष्टकर्मत्वं स्यादिति शङ्कायां तदभावाय दृष्टान्तमुखेनाहुः **यथे**त्यादि. **गोलकरोध** इति इन्द्रियगोलकरोधः. तथाच कामचार-कामवाद-कामभक्षाणां बालकानां स्वत इन्द्रियनिरोधाशक्तत्वेऽपि पितृगुरुकृतस्तद्गोलकरोधो न क्लिष्टकर्मत्वापादकस्तथेदमपीति न दूषणमित्यर्थः. नन्वेवं सर्वत्रकरणे भगवतो महानेव प्रयास इति शङ्कायां तदभावाय तादृशकृतिविषयान् बोधयन्तः प्रकारमप्याहुः **निवर्तयती**त्यादि. **यदि ग्रहिला दुष्टा** रागवती **विचारतः निर्दुष्टा** विरक्ता वा निरोध्यानां **मतिः** तत्तत्कामिते **उत्कटा**त्यभिलाषुका **स्या**त्तदा **ज्ञानेन** तथा करोति न त्वन्यत्रेति न कोऽपि प्रयास इत्यर्थः (१०-११).

प्रधानपुरुषौ. निमित्तत्वमात्रं भविष्यतीत्याशङ्क्याह **जगन्मयाविति.** विकारे वा तत्प्रकृतवचने वा मयटोऽर्थविधाने भगवन्मयत्वं जगतो नायाति यद्यपि तथापि भगवत्त्वेन कारणत्वेन जगद्वर्तत इति वक्तुं भगवत एव जगन्मयत्वमुक्तम्. अन्यथाऽसतः सत्ता स्याद् भगवतो वा परिणामः स्यात्, "विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमि"ति वाक्यात् लोके जगतो महत्त्वविधानात्. तेन भगवन्माहात्म्यं वक्तुम् "अन्नमयो यज्ञ" इतिवद् **जगन्मयावित्युक्तम्.** ननु तथापि भगवतः साधारणं कारणत्वं स्यात् कालादिवत्, समवायिकारणत्वमपि साधारणमेव मृदादिवत्, तत्राह **भवद्भ्यामिति. भवद्भ्यां** कृष्णरामाभ्यां विभक्तशक्तिभ्यां **विना परमुत्कृष्टमपरम**पकृष्टं **च**कारात्तदवान्तरा भेदा वा **न** भवन्ति, त्वन्मूलकमेव सर्वम्. यत्र स्वसामर्थ्यं बहु प्रकटयसे तदुत्कृष्टं यत्राल्पं तदपकृष्टमिति ॥१८॥

एवं कारणत्वेन च भगवन्तं निरूप्य भगवन्तमेवाधेयत्वेनापि निरूपयति भेदाभेदपक्षपरिहाराय **आत्मसृष्टमिति.**

आत्मसृष्टमिदं विश्वमन्वाविश्य स्वशक्तिभिः ।
ईयते बहुधा ब्रह्मन् श्रुतिप्रत्यक्षगोचरम् ॥१९॥

यद्यप्यात्मसृष्टेनैवं भेदाभेदो दोषाय भवति तथापि भिन्नसृष्टावपि यथेदं दूषणं न भवेत् तदर्थमेतदुच्यते. स्वेनैव **सृष्टमिदं** सर्वमेव **विश्वं** सृष्ट्यनुसारेण सृष्ट्यनन्तरमेव वा **अनु** पश्चा**दाविश्य स्वशक्तिभि**रिति सर्वसामर्थ्ययुक्तः **बहुधा ईयते**

लेखः

अक्षरत्वमित्यर्थः. **ब्रह्मत्वेनैवेति** अक्षरब्रह्मत्वेनेत्यर्थः. **परिणाम** इति, विकारयुक्तः परिणामः स्यादित्यर्थः. सिद्धान्ते तु सुवर्णे कारणत्वेन विद्यमानो यः कटकः स एव कटकत्वेन निष्पद्यते, तावतैव परिणाम उच्यतेऽतो न सुवर्णविकार इति भावः. **साधारणमिति**, कालः सर्वान्प्रति साधारणो न तु गवाश्वाद्यवतारभेदहेतुर्मृदपि साधारणी न तु घटशरावाद्यवान्तरभेदहेतुरित्यर्थः ॥१८॥

भेदाभेदेति. मृदि घटो न तु घटे मृद् अतो घटो मृदात्मको मृत्तु न घटात्मिका. भगवांस्त्वनुप्रविष्ट इत्याधेयोऽपि भवत्यतो जगद्भगवदात्मकं भगवांश्च जगदात्मक इत्यर्थः ॥१९॥

प्रकाशः

आत्मसृष्टमित्यत्र. एवं भेदाभेद इति, ऐच्छिकभेदघटितोऽभेद इत्यर्थः. **इदमिति** भेदकृतवस्तुपरिच्छेदकरूपम्. **प्रतीयत** इति भवानेवेति शेषः. तथा च

अनन्तप्रकारेण प्रतीयत इत्यर्थः. तथापि वैदिकोऽर्थोऽन्य एव भविष्यति, "विरोधः शब्द इति चेदि"त्यत्र तथा निरूपणात्. भ्रमप्रतिपन्नं च भिन्नं स्यात्. अतो न सर्वकर्तृत्वं भगवतः सम्भवतीत्याशङ्क्याह **श्रुतिप्रत्यक्षगोचर**मिति. श्रुतिप्रतिपादितो यो विषयः यो वा प्रत्यक्षविषयः सोऽपि सर्वं त्वमेव. साधारणप्रत्यक्षस्य न वस्तुनिरूपकत्वमित्यभिप्रायेण सामान्यग्रहणम्. **गोचर**शब्दोऽपि विशेष्यनिघ्नो भवति. **अन्वाविश्य**ेत्यस्य वा कर्म. **ब्रह्मन्**निति सम्बोधनं ब्रह्मवादे सर्वेषामुपपत्तिः सिद्धेति नायमर्थः पुनः साधनीय इति ज्ञापयितुम् ॥१९॥

नन्वेकस्य नानात्वं वैचित्र्यं वा लोके नास्तीति लौकिकन्यायव्यतिरेकेण केवलमलौकिकमङ्गीकुर्वाणान् प्रति लोकानुसारेणापि एकस्यानेकरूपत्वं दृष्टान्तेनाह **यथा ही**ति.

यथा हि भूतेषु चराचरेषु मह्यादयो योनिषु भान्ति नाना ।
एवं भवान्केवल आत्मयोनिष्वात्मात्मतन्त्रो बहुधा विभाति ॥२०॥

स्थावरजङ्गमेषु सर्वेष्वेव **भूतेषु** वस्तुतः पार्थिवेषु कारणभूतानां पृथिव्यादीनां वैलक्षण्यस्य सिद्धत्वेऽपि जीवसामर्थ्येन तत्र कारणत्वेन प्रविष्टा **मह्यादयो नाना भान्ति.** तत्रोपपत्तिमाह **योनिष्वि**ति, चराचराणि भूतानि योनिवशादेव तथोत्पद्यन्त इति कदाचिन्मह्यादीनामकारणता प्रतीयेत. बीजस्यापि वापनानन्तरं स्वरूपतो नाशाद् योनित्वापत्तिरिति **योनिष्वि**त्युक्तम्. तत्र मह्यादीनां चेद् बीजशक्तिवशात् तथात्वमुपपद्यते तदा बीजापन्नं ब्रह्म पूर्वमेव भगवति विद्यमानं जगद्रूपं स्वसामर्थ्येन शिष्टं स्वाभिलषितप्रकारेण योनिभावापन्ने स्वस्मिन् प्रवेशयेत्. अनन्तजगदाकारेण

लेखः

यथा हि भूतेष्वित्यत्र. **तत्र मह्यादीना**मिति, एतेषां **बीजशक्तिवशादेव** चेन्नानात्व**मुपपद्यते तदा** भगवदभिलषितप्रकारेण **योनिभावापन्न**मक्षरं ब्रह्म कर्तृ **पूर्वमेव भगवति विद्यमानं जगद्रूपं** भगवत्**सामर्थ्येना**नु**शिष्टं बीजापन्न**मक्षरं **ब्रह्म** कर्म **स्वस्मिन् प्रवेशय**त्सद् **अनन्तजगदाकारेण विभाती**त्यग्रिमेणान्वयः. अनन्तत्वे

प्रकाशः

भिन्नवस्तुकृतोऽपि न भवतः परिच्छेद इति भावः. **साधारणप्रत्यक्षस्ये**ति, विकल्पानवगाहिन इत्यर्थः. **विशेष्यनिघ्न** इति, सम्बोधनबोधितस्य **ब्रह्म**शब्दस्याधीन इति लिंगस्योपपत्तिरित्यर्थः ॥१९॥

यथा हीत्यत्र. **स्वस्मिन् प्रवेशये**दिति, बीजात्मकस्वातिरिक्तं सम्पादये-

वृद्ध्यादिषु बह्वल्पपरिग्रहाविर्भावेन भगवानपि **केवल** एव **आत्मयोनिषु** आत्मरूपासु **योनिषु** जगद्रूपेषु **बहुधा विभाति**. शक्तिवशादविद्यमानस्थाने आकर्षणादनित्यता स्यादिति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह **आत्मे**ति, सर्वत्र व्याप्त एवाकृष्ट एवाभिव्यक्तो भवतीत्यर्थः. दृष्टान्ते पारतन्त्र्यं प्रतिभासत इति तद्व्यावृत्त्यर्थम् **आत्मतन्त्र** इत्युक्तम्. तदपेक्षयाप्यत्रानेकप्रकारत्वं ख्यापयितुं दृष्टान्तेन नानात्वे समागतेऽपि प्रकारान्विधत्ते **बहुधे**ति. नन्वहमेवेत्यत्र किं प्रमाणं? वादिप्रतिपन्नमतेष्विव भिन्नतयैव तथा जगद्भवत्विति चेत्तत्राह **विभातीति**. कारणापेक्षयाप्याधिक्येन कार्ये भानं दृश्यते, यथा चित्रपटादिषु, अतो भगवानेवेत्यध्यवसीयत इत्यर्थः ॥२०॥

एवं जगद्रूपतां निरूप्य कर्तृत्वे प्राप्तान् दोषान् वारयितुमाह **सृजस्यदो लुम्पसी**ति.

सृजस्यदो लुम्पसि पासि विश्वं रजस्तमःसत्त्वगुणैः स्वशक्तिभिः ।
न बध्यसे तद्गुणकर्मभिर्वा ज्ञानात्मनस्ते क्व च बन्धहेतुः ॥२१॥

अदः प्रसिद्धम्, भगवन्तं दृष्टवतः प्रपञ्चास्फुरणाद् **अद** इति परोक्षनिर्देशः. अनेनास्फुरणे हेतुरप्युक्तः. **रजसा सृजसि तमसा लुम्पसि सत्त्वेन** च **पासि**; रजस्तमःसत्त्वानां स्वधर्मत्वप्रतिपादनाय गुणत्वम्. तथापि स्मृतिन्यायेन भगवतः कर्तृत्वं न भविष्यतीत्याशङ्क्याह **स्वशक्तिभि**रिति, न तु प्रकृतिधर्मैः. धर्मत्वेऽपि

लेखः

प्रकारमाहुः **वृद्ध्यादिष्वि**ति. एवं दृष्टान्ते साङ्ख्यप्रकार उक्तः, दार्ष्टान्तिके सर्वं भगवद्रूपमेवेत्याहुः **भगवानपी**ति. **तथे**ति शेषः; भगवानप्येवं विभाति परं **केवल एव** तत्र सर्वमात्मरूपमेव न तु योनिबीजयोर्विभेद इत्यर्थः ॥२०॥

सृजस्यद इत्यत्र. **अनेने**ति, भगवद्दर्शनात्प्रपञ्चास्फूर्तिकथनेन आधुनिकानां जगतो ब्रह्मत्वेनास्फुरणे भगवददर्शनं हेतुरुक्त इत्यर्थः ॥२१॥

प्रकाशः

दित्यर्थः. एवं च भगवान् सर्वत्र जगति नानात्वेन वैचित्र्येण भासमानोऽप्येक एव, समवायिकारणत्वात्, चराचरपार्थिवादिनिविष्ट-पृथिव्यादिवदित्यनुमानं फलतीति ज्ञेयम् ॥२०॥

सृजसीत्यत्र. **अनेने**त्यादि, परोक्षनिर्देशः भगवति कर्तृत्वसम्भावितदोषास्फुरणे भगवद्दर्शनरूपो हेतुरपि बोधित इत्यर्थः. **स्मृतिन्याये**नेति साङ्ख्योक्तरीत्येत्यर्थः. **अभ्यास** इति पुनः पुनः करणप्रयोजक आवेशः ॥२१॥

सामर्थ्यमापन्नानीति शक्तित्वम्. यद्यपि **शक्ति**पदेनैवाभ्यासो नास्तीति कर्मबन्धो निवारित एव तथापि लोकन्यायेनापि दूषणं परिहर्तुं ज्ञानेन तदभावमाह **न बध्यसे तद्गुणकर्मभिर्वे**ति. तद्गुणैर्बन्धो मोहवशात्कर्मवशाद् बन्धोऽनिच्छयापि. **वे**त्यनादरे— कालेनापि न बन्ध इति सुतरामेव तुच्छैः लोकैः. तत्र हेतुमाह **ज्ञानात्मनस्त** इति— ज्ञानेनापि बन्धाभाव इति सर्वशास्त्राणि, भवांस्तु ज्ञानस्याप्यात्मा. त्वत्सामर्थ्यादिव ज्ञानं तथा करोतीत्यात्मपदेन सूचितम्. अत एव बन्धहेतूनां निराकृतत्वात् **तें** सर्वसमर्थस्य को वा **बन्धहेतु**र्भवति इत्याह **क्व चे**ति. चकाराद्देशे कालेऽवस्थायां च ॥२१॥

ननु तथाप्यवतारान्यथानुपपत्त्या सोपाधिरेव सत्त्वगुणाभिमानिनोऽवतार इति लोकप्रसिद्धैश्च सुतरामेवावतारे बन्धो भविष्यतीत्याशङ्क्याह **देहाद्युपाधेरि**ति.

देहाद्युपाधेरनिरूपितत्वाद्भवो न साक्षान्न भिदात्मनः स्यात् ।
अतो न बन्धस्तव नैव मोक्षः स्यातां निकामस्त्वयि नोऽविवेकः ॥२२॥

देह इन्द्रियाण्यन्तःकरणं स्वभावः कर्म कालो वा **यस्योपाधि**भूता भवन्ति तस्यात्मनः प्रथमं **भवो** भवति. ननु ममापि वसुदेवाद्भवो दृश्यत इति चेत्तत्राह **साक्षादि**ति, नटवत् वेषार्थं जन्मप्रकाशनं, न जन्म. किञ्च **आत्मनो भिदा**पि **न स्यात्.** पूर्वसंघातपरित्यागेन संघातान्तरग्रहणं भेदोऽत्र विवक्षितो यतो अयमात्मा. न हि सर्वत्र व्यासस्तथा भवितुमर्हति. आत्मत्वान्न भेदो भेदाभावाच्च न जन्म यतो मूलभूते विष्णौ भगवति वा, अत एव हेतो**स्तवापि न बन्धः नैव** च **मोक्षः** येन सत्कर्मकरणार्थं धर्मस्थापनादिकं कुर्यात्, अत एव बन्धमोक्षौ **न स्याताम्.** ननु "यावदधिकारं त्वाधिकारिकमि"तिन्यायेन विष्णोरप्यधिकारान्ते स्मार्तसंमता मुक्तिः ब्रह्मवादिनोऽप्येकदेशिनः यद् ब्रह्मविद्यया सर्वं भवन्तो मनुष्या मन्यन्ते तद्ब्रह्म किं भवेदित्याशङ्क्य "ब्रह्म वा इदमग्र आस(सीत् तद् !) आत्मानमेवावैदहं ब्रह्मास्मीति तस्मात्सर्वमभवदि"ति वाक्यानुरोधात् प्रपञ्चभवनवद् "ब्रह्मविदाप्नोति

प्रकाशः

देहाद्युपाधेरित्यत्र. **सोपाधिरेवे**ति मूलविष्णुरिति शेषः. **लोकप्रसिद्धै**रिति, मातुलहननादिभिरित्यर्थः. नन्ववतारान्तराणि मम प्रसिद्धानीति जन्मनिषेधोद्भावनं वृथैवेत्यत आहुः **किञ्चे**त्यादि. आत्मनः भिदा अप्रसिद्धेति **भिदा**पदस्यार्थमाहुः **पूर्वे**त्यादि. **स्मार्त**मतस्य श्रुतिविरोधेनानादरणीयत्वात्तन्मुक्तेः श्रुतिसम्मतत्वायाहुः **ब्रह्मवादिनोप्येकदेशिन** इत्यादि, तदेकदेशिनोऽपि मते इति शेषः. **अध्यवसीयत**

परमि''त्यत्रापि ब्रह्मज्ञानेनैव ब्रह्मणोऽपि परत्वप्राप्तिरित्यध्यवसीयते. कर्मकाण्डेऽपि ''परमेष्ठिनो वा एष यज्ञोऽग्र आसीदि''त्युपक्रम्य सर्वेषामुत्कर्षो दर्शपूर्णमासाभ्यां निरूपितः. एवं परब्रह्मणोऽपि दर्शपूर्णमासाभ्यामेवोत्कर्षः प्रतीयते. 'परमेष्ठि'शब्दश्च ब्रह्मपर्यायः, ''इन्द्रे प्रजापतौ ब्रह्मन्नि''त्यत्र क्रमेण तत्प्रकरणस्थानामेवोपलम्भात्. अतः **सर्वेषामेव बन्धमोक्षौ स्त** इति मन्यन्ते. किञ्च ''इमां विद्यां कृष्णाय देवकीनन्दनाय प्रोवाचे''त्युपाख्याने ब्रह्मविद्याग्रहणमपि श्रूयते, अतः सम्भावितत्वात् बन्धमोक्षौ प्राप्ताविति तन्निराकरणं युक्तमेव. एते तु निरूपिताः पूर्वपक्षाः अविवेकेनैव प्राप्ता इत्याह **निकामस्त्वयि नोऽविवेक** इति— **नो**ऽस्माकं सर्वेषामेव भ्रान्तानां **निकामः** स्वेच्छया **त्वयि अविवेको**. अधिकारस्तु न स्वामिपरः, लोके महाराजे'ऽधिकार'पदप्रयोगाभावात्. 'परमेष्ठि-ब्रह्म'शब्दौ चतुर्मुखवाचकौ, अन्यथा ''यज्ञो वै विष्णुरि''ति श्रुत्या दर्शपूर्णमासयोर्यज्ञत्वविधिर्व्यर्थः स्यात्. ब्रह्मविद्याद्यधिकारोऽपि संदीपिनेरिव लीलया सम्भवति. अतोऽस्माकमेवाविवेकः न तु परब्रह्मणि बन्धमोक्षौ कथञ्चित् सम्भवत इत्यर्थः ॥२२॥

तर्हि कथमवतार इति चेत्तत्राह **त्वयोदित** इति.

त्वयोदितोऽयं जगतो हिताय यदा यदा वेदपथः पुराणः ।
बाध्येत पाषण्डपथैरसद्भिस्तदा भवान्सत्त्वगुणं बिभर्ति ॥२३॥

यदैव **त्वयोदितो वेद**मार्गः **पाषण्डपथै**र्विरुद्धमार्गप्रतिपादकैः पुरुषैः **बाध्येत** तदा तेषां च बलिष्ठत्वात् कालवशात् सर्वेषामेव बुद्धिनाशाद् भगवानेव शक्त इति

लेखः

देहाद्युपाधेरित्यत्र. **इन्द्रे प्रजापता**विति. ''तेन प्रजापतिं निरवासापयत् तेनेन्द्रं निरवासापयदि''तीन्द्रप्रजापतिशब्दौ, ''ब्रह्मविदाप्नोति परमि''त्यादिषु ब्रह्मन् शब्दः —एवं शब्दत्रयवाच्येऽन्यकृतोत्कर्षोपलम्भात् **परमेष्ठि**शब्दवाच्येऽपि तथा मन्तव्यमित्यर्थः. **यज्ञत्वविधिरि**ति, परब्रह्मणोऽप्युत्कर्षापादकत्वे दर्शपूर्णमासयोरुत्कर्षोऽनेनैव सिद्ध इत्युत्कर्षसाधनार्थं यज्ञत्वविधानं व्यर्थं स्यादित्यर्थः ॥२२॥

प्रकाशः

इति, विद् ज्ञानवद् ब्रह्म परम् आप्नोतीत्यन्वयादध्यवसीयत इत्यर्थः. **परमेष्ठि**शब्दस्य कथं ब्रह्मपर्यायित्वमत आहुः **इन्द्र** इत्यादि. **मन्यन्त** इति लोका इति शेषः. बन्धादिनिराकरणस्य युक्तत्वे उक्तानां पक्षाणां का गतिरित्यत्राहुः **एते त्वि**त्यादि. पक्षान्परिहरन्ति **अधिकार** इत्यादि ॥२२॥

तदा भगवान् **सत्त्वगुणं बिभर्ति**, भगवद्गृहीतं सत्त्वं बलवत् सद् रजस्तमसोरभिभावकं भवतीति. अनेन वैषम्यदोषः परिहृतः, नैर्घृण्यदोषस्त्ववतीर्णे नास्तीति न तन्निषेधकं वचनम् ॥२३॥

नन्विदानीं वेदानां पीडाभावाद् व्यासावतारस्य जातत्वाद् बुद्धावतारस्याद्याप्यजातत्वात् किमनेनावतारेणेत्याशङ्क्याह **स त्वं प्रभोद्येति**.

स त्वं प्रभोऽद्य वसुदेवगृहेऽवतीर्णः
स्वांशेन भारमपनेतुमिहासि भूमेः ।
अक्षौहिणीशतवधेन सुरेतराणां
राज्ञाममुष्य च कुलस्य यशो वितन्वन् ॥२४॥

स एव **त्वं** सर्वरक्षको न केवलं वेदमात्ररक्षकः, तदाह **प्रभो** इति. क्रियाशक्तेरपि पूर्णाया विद्यमानत्वाद् **वसुदेवस्य** सत्त्वरूपस्य **गृहे**ऽभिमानस्थानेऽभिमानप्रकारेण पालयिष्यामीत्य**वतीर्णः. स्वांशेन** बलभद्रेण स **इहै**वागत्य **भारमपनेतुं, न** तु वैकुण्ठे स्थित्वा मनसा. **अवतीर्णोऽ**सीति संमतिमिव पृच्छन्नाह. भावस्य महत्त्वख्यापनायाह **सुरेतराणां** दैत्याना**मक्षौहिणीनां शतस्य वधे**नेति. ननु न दैत्याः साम्प्रतं प्रतीयन्त इत्याह **राज्ञा**मिति. प्रयोजनान्तरमप्याह **अमुष्य** वसुदेव**कुलस्य यशो वितन्व**न्निति. रूपद्वयेनावतरणप्रयोजनद्वयमुक्तम् ॥२४॥

एवं भगवदतारं प्रसङ्गात् कर्माणि च स्तुत्वा भगवदागमनं स्तौति **अद्येश न** इति.

अद्येश नो वसतयः खलु भूरिभागा
यः सर्वदेवपितृदेवनृदेवमूर्तिः ।
यत्पादशौचसलिलं त्रिजगत्पुनाति
स त्वं जगद्गुरुरधोक्षज याः प्रविष्टः ॥२५॥

नो वसतयो गृहा **अद्य भूरिभागा**— अस्मत्कुलेऽवतीर्ण इति वयं पूर्वमेव भूरिभागाः, **वसतयस्त्वद्य, न** इति बहुवचनं भ्रात्राद्यभिप्रायम्. ननु निरोधाधिकारिणो भवन्तः, तदर्थमागमनं न तु धर्मार्थमिति कथं वसतीनां कृतार्थतेति चेत्तत्राह **ईश इति,** उभयमपि कर्तुं समर्थः. ननु भवत्सम्बन्धादेव तेषां भाग्यमस्तु, पृथक् किमिति निरूप्यत इत्याशङ्क्याह **भूरिभागा** इति, मद्भाग्यं चेद् यदैव ममेच्छा तदैवागच्छेदतो गृहस्यैव भाग्यम्. ननु गृहं हि त्रिगुणात्मकं, गुणातीतो हि भगवदनुगुणो भवतीति कथमेवमुच्यत इति चेत्तत्राह **यः सर्वदेवपितृदेवनृदेवमूर्ति**रिति. गृहाणामपि

स्वोत्कर्षो येन सिध्यति तदपि रूपं भगवति वर्तते. गृहं हि देवतायोग्यं भवति पितृणां नराणां च. त्रयो हि लोके गृहे सुखिता भवन्ति. तेषां स्वदेवत्वमुत्कर्षः; देवमात्रे संतुष्टे गृहं युक्तं भवत्यन्यथा व्यर्थम्. एवमितरयोस्तत्र देवोत्तमो भगवानिति तत्प्राप्तौ भवत्येव सर्वोत्कर्षो योग्यता च, एवमितरयोः. किञ्च शुद्धिरप्यपेक्षिता सापि जातेत्याह **यत्पादशौचसलिलमिति— पादशौचसलिलं** गङ्गा सा परम्परासंबद्धापि देशकालव्यवहितापि जलान्तरेण मिश्रितापि लोकत्रयमपि **पुनाति,** अत्र तु साक्षादेव पततीति किं गृहभाग्यं वक्तव्यमित्यर्थः. ननु रूपभेदाद् वैलक्षण्यं भविष्यतीत्याशङ्क्याह **स त्वमिति**. अत्रापि त्वमेव प्रमाणमित्याह **जगद्गुरुरिति**. तर्हि कथं लोका न जानन्तीत्याशङ्क्याह **अधोक्षजेति**, बहिर्मुखत्वादज्ञानम्. **या** वसतीः. पुनर्ग्रहणं तासामभिनन्दनार्थं च ॥२५॥

एवं भगवदागमनं स्तुत्वा भगवति प्रपत्तिं स्तौति स्वचिकीर्षितां **कः पण्डित** इति.

कः पण्डितस्त्वदपरं शरणं समीया-
द्भक्तप्रियादृतगिरः सुहृदः कृतज्ञात् ।
सर्वान्ददाति सुहृदो भजतोऽभिकामा-
नात्मानमप्युपचयापचयौ न यस्य ॥२६॥

स्तुत्यनन्तरं हि फलं प्रार्थनीयं, तत्प्रपत्त्यतिरिक्तं नास्तीति ज्ञापयितुं प्रपत्तिमेव स्तौति. प्राणिनां कर्तव्या प्रपत्तिरेव. कर्तव्याकर्तव्यविवेकवान् हि **पण्डितः**, इममेवार्थमधिकृत्य "पण्डितो बन्धमोक्षविदि"त्युक्तम्. तत्रानायासेन फलसिद्धिः. विद्यमाने स्वोत्कृष्टे समाश्रयणमेव युक्तम्. आश्रयो हि स्वाधीनं सर्वमेव यच्छति. मनस्तु क्षणिकमिति सर्वपदार्थाभिलाषि भवतीति कदा वा किं प्रार्थयेदिति तत्तत्साधनेष्वशक्तो हि प्रपत्तिमार्गमवलम्बते. तदपि कृत्वा चेत्फलं न प्राप्नुयादसमर्थभजनात् तदा प्रपत्तिर्व्यर्थेति **को** वा विवेकी **त्वत्तोऽपरं शरणं**

प्रकाशः

अद्येत्यत्र **इतरयोरिति** उत्कृष्टयोरिति शेषः. **इतरयोरिति** उत्तम इति शेषः ॥२५॥

कः पण्डित इत्यत्र. किमिति प्रपत्तिरेव कर्तव्या, भक्त्यादीनामपि विद्यमानत्वादित्यत आहुः **तत्रे**त्यादि. ननु प्रपत्तिरीदृशी चेद्यत्र क्वाप्यस्तु, भगवत्येव कर्तव्येत्यत्र को विशेष इत्यत आहुः **तत्तदि**त्यादि. **कुर्यादि**ति पण्डितोऽन्यस्येति शेषः. **न बुद्ध्या**

सम्यगीयात् ? साधनत्वेन गुरुत्वेन वानुवृत्तिं कुर्यात् न तु शरणं गच्छेत्. **नन्वाहत्य** कथं त्वं प्राप्तव्यः अतोऽन्यानुवृत्तिः प्रथममावश्यकीति कथमन्यनिरोधः क्रियत इति चेत्तत्राह **त्वदपर** इति, त्वमपरो यस्य नियामकत्वेन, न बुद्ध्या गृहीतः. गुर्वादिस्तु नैवंविधो भवतीति न दोषः. भगवतः शरणागतौ हेतूनाह **भक्तप्रियादृतगिरः सुहृदः कृतज्ञा**दिति. षट्हेतवो हि भगवति, तत्र फले हेतुद्वयं साधने चतुष्टयमिति. साधनेऽपि स्वधर्मपुरस्कारेण आश्रितधर्मपुरस्कारेण हेतुर्वक्तव्यः, अन्यथा फलं काकतालीयं स्यात्. यो हि सेवकानपेक्षते स सेवकेभ्यः प्रयच्छति स ईश्वर एव भवति. तत्रापि सेवकधर्मं चेदुररीकुर्यात्तदैव सेव्यो भवति, तदाह **भक्तप्रिया**दिति. लोका हि फलार्थं सेवमानाः सेवायामशक्ताश्चेन्न फलं प्राप्नुवन्ति, भजनानुरूपं च प्राप्नुवन्ति. न हि प्रभुस्तस्य क्लेशं मन्यतेऽन्यथा दुःखदे साधारणे देशे काले च तान् सर्वान् न प्रवर्तयेत्, यथा पुत्रम्. भगवांस्तु न तथा भक्तम्, अतो भगवानेव सेव्यः. किञ्च स्वधर्ममप्यवेक्ष्य भक्तहितं करोतीत्याह **ऋतगिर** इति, सत्यवाक् सत्यसङ्कल्पः, ''संग्रामे च प्रपन्नानां तवास्मीति च यो वदेत्'', ''कौन्तेय प्रतिजानीही''त्यादिवाक्यात्. यो हि सेवकक्लेशं सहते स न मनसि शुद्धः, यो वाचि न दृढः स वाचि तथा. यस्तु समागतेऽवसरे मित्रमिव कार्यं न करोति शरीरतः स काये तथा. एतत्त्रयं लौकिकं स्वतः कर्तव्यम्. तस्य **कृतं जानाती**ति तद्धर्मकरणे हेतुरुक्तः. दोषाभावा एते, आत्मवत् पुत्रवच्च भक्ताः कायवाङ्मनोभिः विषयीकर्तव्याः इति गुणः. प्रह्लादे सर्वापत्सु मनसा हितं कृतवान्, वाचा गोपिकादिषु, कायेनास्मास्विति. एवंभावे भगवद्गुणे न कोऽपि सन्देहः. कृतज्ञत्वाभावे प्रवाहवत् कारणान्नोत्कर्षः स्यात्. फलदातृत्वमाह **सर्वान् ददाती**ति. परेषामनिष्टं स्वानिष्टं वा कर्तुं वाञ्छन्ति तदा न ददातीति ज्ञापयितुं **सुहृद** इति, शुद्धान्तःकरणस्य स्वद्रोहं परद्रोहं वाऽविचारयतः

लेखः

कः पण्डित इत्यत्र. **वाचा गोपिकादिष्वि**ति, उद्धवद्वारा सन्देशप्रेषणेनेत्यर्थः ॥२६॥

प्रकाशः

गृहीत इति, तथा च न तादृशोऽनुवृत्त्या फलमिति सा नावश्यकीत्यर्थः. तर्हि कथं गुर्वाद्युपसत्तिः क्रियते तत्राहुः **गुर्वादिरि**त्यादि. आश्रितधर्मपुरस्कारेण शरणागतिहेतुं विवरीतुमाहुः **यो ही**त्यादि. **प्रभुरि**ति लौकिकः. **मन्यत** इति जानाति. **भक्तमि**ति प्रवर्तयतीति शेषः. **इत्याहे**ति **ऋतगिरः** इत्यादिविशेषणत्रयेणाहेत्यर्थः.

सर्वानेव कामान् ददाति. दाने हेतुर्भजनमित्याह **भजत** इति. एकस्मिन्नपि प्रार्थिते **अभितः** सर्वतः प्रयच्छति. नन्वन्येऽप्येतादृशा भवन्तीत्याह **आत्मानपीति**. अत्र दाने भजनमेव हेतुस्तेन तारतम्येन सर्वं संगच्छते, यः स्वात्मानं भगवते प्रयच्छति भगवानपि तथा तस्मै प्रयच्छतीति. नन्वेतादृशमपि लोके क्वचित्सिद्धमिति चेत्तत्राह **यस्योपचयापचयौ न** स्त इति, यत्सम्बन्धिनः सर्वस्यैवोपचयापचयाभावः. उभयनिरूपणमुपचितं चेद्दत्तं तस्य नापचयं करोति, अपचितं चेद्दुःखाधिकं तत्कदाचिदपि नोपचितं करोति. अथवा एकरूपमेव **सर्वेभ्यो** भक्तेभ्यः प्रयच्छति, न तु विषमम्. वस्त्वेव तथेति नेच्छापि तत्र प्रयोजिकेति धर्मिणि तौ धर्मौ निरूपितौ ॥२६॥

एवं सर्वप्रकारेण स्तुत्वा किञ्चित् प्रार्थयते **दिष्ट्या जनार्दनेति**.

दिष्ट्या जनार्दन भवानिह नः प्रतीतो
योगेश्वरैरपि दुरापगतिः सुरेशैः ।
छिन्ध्याशु नः सुतकलत्रधनाप्तगेह-
देहादिमोहरशनां भवदीयमायाम् ॥२७॥

पूर्वमपि वयं भक्ताः परमापाततस्त्वत्स्वरूपाज्ञानाद्; अद्य तु **नो**ऽस्माभि**रिह भवान् प्रतीतः** अतो ज्ञाते कल्पतरौ अभिलषिते विलम्बो न युक्त इति प्रार्थनीय इति भावः. कथमेतावता कालेन न ज्ञातवान् कथमद्यैव ज्ञातवानित्याशङ्क्य हेतुद्वयमाह **दिष्ट्या जनार्दनेति**. भाग्यमद्यैवोन्मुखम्. जनयतीति जना, ताम् अर्दयतीति इदानीमेवाज्ञानं नाशितवान्. प्रसन्नो हि स्वधर्मानाविष्करोति सेवकधर्मांश्चातो भाग्यं मोहनाशं च प्रकाशितवानित्यर्थः. आगमनेन प्रसादो निरूपितः, साधनान्तरं व्यावर्तयति **योगेश्वरैरपि दुरापगतिरिति**. योगवशीकरणादिकं स्वसामर्थ्यम्, न हि नियताः स्वधर्मा अन्येन बोधयितुं शक्यन्ते. **दुःखेन प्राप्या गति**र्यस्येति भगवदभिप्रायापरिज्ञानमुक्तम्. स्वाधीने हि मथित्वा वह्निवत्साधनीयम्, तदेकः संघातो भगवता दत्त इति तावन्मात्रे वश्यता भवति नान्यत्रेति सुष्ठूक्तम्. अलौकिकेनापि सामर्थ्येन न भवतीत्याह **सुरेशैरिति**. प्रार्थनामाह **छिन्ध्याश्विति, सुतादिषु मोहरशनां छिन्धि**. यतस्त्वयैव सम्पादितेत्याह **भवदीयमायामिति**. अन्ते छेदनं वारयति

प्रकाशः

नन्वपचयाभावकथनेनैव कार्यसिद्धिः, उपचयस्तु गुण एवेति तदभावकथनं न युक्तमित्यत आहुः **उभयेत्यादि** ॥२६॥

आश्विति, अत्यन्तं दृढमूले छिद्यमाने पुनरुद्गमश्छेदके वैमनस्यं च भविष्यतीति ॥२७॥

भगवतो ह्ययं भावः शास्त्ररहस्यसिद्धः— यो हि यादृशः स तादृश एव कर्तव्यः, भक्तिवशादन्यथाकरणेऽयुक्तता भवतीति. भक्तिर्मध्यमा ज्ञानम्. यथा शृङ्गारलीला गोप्यैव तथावतारलीलापि गोप्यैव. तां यः प्रकटीकुर्यात् स नाभिप्रेत इति विपरीतं वदेत्, यथा गोपिकागीतेन गोपिकास्त्यक्ताः. तथायमपि लीलार्थमुत्पादितः स्वरूपापरिज्ञानाद् बहिर्मुखतया ज्ञानिनमात्मानं मन्यमानः तत्प्रार्थयते. अतोऽस्य सर्वाण्येव वचनान्यसंबद्धानि अतस्तन्निवारणार्थं भगवान्मोहयितुं प्रवृत्त इत्याह **इत्यर्चित** इति.

लेखः

इत्यर्चित इत्यस्याभासं प्रस्तावयन्ति **भगवतो ह्ययं भाव** इति. तं भावमाहुर्**यो हीति**. ननु तथापि भक्तवश्यत्वादेतदनुरोधं कुतो न कृतवानित्यत आहुः **मध्यमाज्ञानमि**ति. न सांसारिकज्ञानं नापि मुख्यसिद्धान्तज्ञानम् अतो मध्यममज्ञानमक्रूरस्य भक्तिरतो न तद्वश्य इति भावः. **यथा गोपिके**ति, द्वात्रिंशाध्यायोक्तेन गोपिकागीतेनान्तरङ्गलीलाप्राकट्यं दृष्ट्वा बाह्यभावान्निवर्तयितुमुत्तरदलमनुभावयितुं तदनन्तरं **त्यक्ताः** बहिःसम्बन्धरहिताः कृताः. अत एव त्रयस्त्रिंशाध्याये "नातः परं सम्बन्ध" इत्युक्तम्. **तथायमपी**ति त्यक्तव्य इति शेषः. त्यागमात्रांशे दृष्टान्तः; तासामान्तररमणं सम्पादितवान् अयं तु त्यक्त एव. तत्र हेतुर्बहिर्मुखत्वमित्याशयेनाहुः **बहिर्मुखतये**ति.

प्रकाशः

इत्यर्चित इत्यस्याभासे. ननु भगवानक्रूरप्रार्थितं कुतो न दत्तवानित्यत आहुः **अत्यन्तमित्यादि. अयमि**ति वक्ष्यमाणः. तमाहुः **यो ही**त्यादीना. ननु "अहं भक्तपराधीन" इत्यादिवाक्यविरुद्धमेतदित्याशङ्कायां प्रकृते या विवक्षिता तां भक्तिमाहुः **भक्तिरि**त्यादि. इयं मध्यमा ज्ञानात्मिका, न तु परमाऽतो न तद्विरोध इत्यर्थः. तथा चायुक्तत्वान्न दत्तवानिति भावः. नन्वस्त्वेवं तथापि "त्वन्नो गुरुरि"त्यादिविपरीतवाक्यानां किं प्रयोजनमत आहुः **यथा शृङ्गारे**त्यादि. **स** इति प्रकटीभावः. तत्र निदर्शनमाहुः **यथे**त्यादि. एतेन सन्देशस्थितज्ञानोपदेशस्यापि तात्पर्यं ज्ञापितम्— यदि तथा न कुर्युस्तदा नैवं वदेदिति. प्रकृते तदतिदिशन्ति **तथायमित्यादि**.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

इत्यर्चितः संस्तुतश्च भक्तेन भगवान्हरिः ।
अक्रूरं सस्मितं प्राह गीर्भिः संमोहयन्निव ॥२८॥

पूर्वोक्तेन प्रकारेणार्चितः स **सम्यक् स्तुतश्च** भक्तश्चायं तथापि **भगवानी**श्वरः सर्वदुःखहर्ता च भक्तश्चायम् अत उभयम् अभिप्रेत्य **सस्मितं प्राह.** स्मितो हि मन्दहासः, अल्पमेव मोहितवान्. **गीर्भिरपि सम्यक् मोहयन्निव** जातः. सम्यक्त्वं लीलौपयिकत्वेनान्यथा प्राकृतत्वे लीलामपि त्यजेत् ॥२८॥

भगवान् लौकिक-वैदिकद्विविधशास्त्रप्रकारेण तं मोहयन्नाह **त्वं नो गुरुरिति** त्रिभिः.

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

त्वं नो गुरुः पितृव्यश्च श्लाघ्यो बन्धुश्च नित्यदा ।
वयं तु रक्ष्याः पोष्याश्च अनुकम्प्याः प्रजा हि वः ॥२९॥

हितोपदेष्टा **गुरुः**, प्रायेण धनुषोऽभ्यासं च कारितवानिति लक्ष्यते. अवश्यं केनचिल्लोकन्यायेन धनुः शिक्षणीयम्; अन्यश्चात्रार्थे गुरुर्नोक्तः भगवांश्च सत्यमेव वदतीत्यर्थादयं **गुरुः**. **न** इति बलभद्रादीनामभिप्रायेण बालाभ्यासं कारयति. **पितृव्यः** स्पष्टः. चकाराद्धितकारी, न ह्यन्योऽन्यत्र क्वापि सतः स्वगृहे समानयति. किञ्च कुले **श्लाघ्यः** महत्त्वेन प्रसिद्धः. पितृव्यादीनां सापत्न्यभाववद् भ्रातृव्यत्वादन्यथात्व-माशङ्क्याह **बन्धुश्च नित्यदे**ति, सर्वदा बन्धुकृत्यमेव करोति. एवं चकारेण सह पञ्चधर्मास्तस्मिन्निरूपिताः. ततोऽन्यथा पञ्चधर्मान् स्वस्मिन्निरूपयति **वयं त्विति.** **तु**शब्दः पूर्वसम्बन्धेन तुल्यतां वारयति. गुरुस्तु रक्षकः, भगवता साधनेषु दत्तेष्वपि बुद्ध्यभावे रक्षाऽसम्भवाद्वयं **रक्ष्याः**. पितरः पोषकाः पुत्राः **पोष्याः**. **च**कारान्न वयं भवद्धितकारिणः किन्तु भवन्त एव, अर्थाद्दयापात्रमिवोक्तं भवति. **अनुकम्प्याः**, श्लाघ्या हि नानुकम्प्याः. सर्वदा हिताचरणं पतिभिः कर्तव्यम्. **वो** युष्माकमिति वसुदेवादींस्तानेकीकृत्य निरूपयति, अन्यथा स्तुतित्वं ज्ञायेत ॥२९॥

एवं लौकिकोत्कर्षमुक्त्वा प्रवृत्तिप्रकारेण वैदिकोत्कर्षमाह **भवद्विधा** इति.

भवद्विधा महाभागा निषेव्या अर्हसत्तमाः ।
श्रेयस्कामैर्नृभिर्नित्यं देवाः स्वार्था न साधवः ॥३०॥

ये हि सर्वप्रकारेणोत्कृष्टास्ते सर्वैरुपास्याः. **भवद्विधा** इति तेषामुत्कर्षो निरूपितो. यादृशास्तादृशास्तत्रापि **महाभागाः** परमभाग्ययुक्ता इति तेषां

संपत्तिर्निरूपिता. तत्राप्य**र्हसत्तमा**— ये उपकारकर्तारः समृद्धाः सर्वे संप्रतिपन्नास्ते सर्वैरुपास्या इत्यर्थः. तत्रापि **श्रेयस्कामैः**, अनेन स्वार्थमेवोपासनमुक्तं दृष्टार्थत्वं च निरूपितम्. **नृभिरि**ति मनुष्याधिकारो निरूपितः. तेनास्माकमिदमावश्यकमित्यर्थः. ननु शास्त्रे देवा एव सेव्या न त्वन्य इति चेत्तत्राह— **देवास्तु स्वार्थाः** स्वार्थं ज्ञात्वैव हितं कुर्वन्ति, **साधवस्तु नैवम्**. अतो देवभजनापेक्षयापि साधुभजनमेवोत्तमम् ॥३०॥

किञ्च निवृत्तिमार्गे तीर्थानि सेव्यानि, तदपेक्षायाप्येत एव सेव्या इत्याह **नह्यम्मयानि तीर्थानी**ति.

न ह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः ।
ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधवः ॥३१॥

तीर्थेषु स्नात्वा तदधिष्ठातृदेवतापूजनं कर्तव्यं, तदा तीर्थं कृतं भवति. तदुभयमप्यप्रयोजकमित्याह **न ह्यम्मयानी**ति. **तीर्थ**शब्देन जलाभिमानिनी देवतोच्यते. सा चिन्मयी, देवता च चिदानन्दमयीत्येव शास्त्रमर्यादा. **अम्मयानि** तु **तीर्थानि न** भवन्ति, **देवा** अपि **मृच्छिलामया न** भवन्ति. स्थानस्य देवतात्वपक्षे मृण्मयत्वं, प्रतिमाया देवतात्वपक्षे तु शिलामयत्वमुभयमपि लोकप्रसिद्धं निवार्यते शास्त्रप्रामाण्याद्, अन्यथा शास्त्रमनुवादकं सदप्रमाणमेव भवेत्. किञ्च अत एव पावित्र्यमपि तत्कृतमुत्तमं न भवति यत**स्ते उरुकालेन पुनन्ति**, महता कालेन विध्युक्तानुसारेण तीर्थसेवायां चित्तशुद्धेरुक्तत्वात्. **साधवस्तु** ज्ञानोपदेष्टारः भक्तिप्रवर्तका वा **दर्शनमात्रेणैव** ज्ञानभक्त्योः साधितत्वात् फलतोऽप्युत्कर्षः ॥३१॥

एवं स्तुत्वा संमोहमुत्पाद्य स्वाभिलषितं करिष्यतीति अभिज्ञाय किञ्चिदाज्ञापयति **स भवानि**ति त्रिभिः. तेषु त्रिविधं हि कार्यं कर्तव्यं— मोक्षः संपादनीयः भक्तिर्वा, पाण्डवेषु राज्यं च देयम्, शत्रवश्च मारणीया इति.

स भवान्सुहृदां वै नः श्रेयान् श्रेयश्चिकीर्षया ।
जिज्ञासार्थं पाण्डवानां गच्छस्व त्वं गजाह्वयम् ॥३२॥

स सर्वथोपकारकर्ता **भवान्**. तत्रापि **सुहृदां** भगिनी-भागिनेयानाम्. **वै**

प्रकाशः

नह्यम्मयानीत्यत्र. नन्वेवं प्रसिद्धयोस्तीर्थदेवतयोर्निषेधे तत्सेवाबोधकशास्त्र-विरोध इत्यत आहुः **उभयमपी**त्यादि. किमेतावतेत्यत आहुः **अन्यथे**त्यादि ॥३१॥

निश्चयेनेति, तेऽवश्यं पालनीया इति. पुरुषस्य हि पितृवर्गो वा मातृवर्गो वा रक्षको भवति. तत्र पितृवर्गः न तेषां रक्षकः पितुर्निवृत्तत्वादन्येषां प्रतिकूलत्वादिति वक्ष्यति. अत एव वयमेव सुहृदः अस्माकं मध्ये **त्वं च श्रेयान्**. अत **श्रेयश्चिकीर्षया** हिताचरणार्थं **पाण्डवानामादौ जिज्ञासार्थं गजेन समानाह्वयं** हस्तिना राज्ञा निर्मितं हस्तिनापुरं **गच्छ**. अनेन प्रसिद्ध्या तत्र गमनं न निन्दितं भवति, गुप्तस्थानेषु न तिष्ठन्तीत्यर्थः ॥३२॥

का जिज्ञासेत्याकाङ्क्षायामाह **पितर्युपरत** इति.

पितर्युपरते बालाः सह मात्रातिदुःखिताः ।
आनीताः स्वपुरं राज्ञा वसन्त इति शुश्रुम ॥३३॥

पाण्डौ संस्थिते **बाला** एव, ते च बह्वश्च **मात्रा सह** स्थिता इति स्तनन्धयप्राया इत्यवस्थाया दयापात्रत्वमुक्तम्. **अतिदुःखिता** इति दयायाः साधारणो हेतुः. तदीयानां पालकत्वमस्ति न वेति वचनार्थं परिग्रहो निरूप्यते **आनीताः स्वपुरमिति**. ते चेच्छत्रवः सुतरामेवानर्थपर्यवसायित्वं, स्वस्थाने स्थापिता इति. तत्रापि **राज्ञा**. अनेन तेषां राजत्वाभावो निरूपितः ॥३३॥

तेषु राजाम्बिकापुत्रो भ्रातृपुत्रेषु दीनधीः ।
समो न वर्तते नूनं दुष्पुत्रवशगोऽन्धदृक् ॥३४॥

किञ्च न केवलं ते वसन्ते किन्तु उपद्रुता इत्यपि शङ्का, यतोऽ**यमम्बिकापुत्रः तेषु** प्रसिद्धेष्वपि **भ्रातृपुत्रेषु** विनीतेषु **समो न वर्तते** इति. तत्र हेतुः **दीना धीर्यस्येति**, बुद्धिस्तु दरिद्रा. दरिद्रो हि दुर्गतः सर्वमेव कर्तुं शक्तः निषिद्धं, विहिते त्वशक्तः इति तस्य सहजो दोष उक्तः. आगन्तुकं दोषमाह **दुष्पुत्रवशग** इति. दुष्टः सहजः कलित्वाद्, दुर्योधनो हि कलेरवतार इति. अत एव कालस्य प्राबल्यात् तद्वशगः पुत्रत्वात् मोहेनापि तद्वशगो जातः. स्वतो विचारसामर्थ्याभावायाह **अन्धदृगिति**. स हि जात्यन्धः शब्देनैव व्यवहरति. प्रियमेव शब्दं सर्वो मन्यते, पुत्रशब्दश्च प्रियः ॥३४॥

तर्हि किं कर्तव्यमित्याकाङ्क्षायामाह **गच्छ जानीहीति**.

गच्छ जानीहि तद्वृत्तमधुना साध्वसाधु वा ।
विज्ञाय तद्विधास्यामो यथा शं सुहृदां भवेत् ॥३५॥

लेखः

तेषु राजेत्यत्र दुर्गत इति, "दरिद्रा दुर्गतावि"ति धातुपाठादिति भावः ॥३४॥

एकवचनेन सेनाद्यभावः सूचितः; युद्धार्थं न गन्तव्यं किन्त्व**धुना** तेषां **साधु** मङ्गलमस्ति **असाध्व**मङ्गलं **वा** अनिष्टमस्ति, **वे**त्यनादरे, नोभयं वा. ज्ञानस्य कुत्रोपयोग इत्याकाङ्क्षायामाह **विज्ञाये**ति. **तदनु**रूपं **विधास्यामः**. प्रकारजिज्ञासायामाह **यथा श**मिति, **सुहृदां** बन्धूनां येनैव प्रकारेण **शं भवेत्** स एव प्रकारः कर्तव्य इति. एतत्सर्वं जिज्ञासानन्तरं कर्तव्यमन्यथा कृतं न सुखपर्यवसायि भवतीति. अतो जिज्ञासार्थमेव गच्छ न त्वन्यत्किञ्चित्कर्तव्यमिति भावः. मोहितस्यायं गुणो यदधिकमपि करिष्यतीति. अत एव धृतराष्ट्रोऽपि तेन निर्भर्त्सितः ॥३५॥

एतावतैव कार्यं भविष्यतीत्यभिज्ञाय भगवान् स्वगृहं गत इत्याह **इत्यक्रूरं समादिश्ये**ति.

इत्यक्रूरं समादिश्य भगवान् हरिरीश्वरः ।
संकर्षणोद्धवाभ्यां वै ततः स्वभवनं ययौ ॥३६॥

॥ इति श्रीभागवत-दशमस्कन्धे पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः ॥

आज्ञासिद्धौ **भगव**त्त्वं हेतुः, आज्ञापने **हरि**त्वम्, स्वतः अगमने **ईश्वर**त्वम्; स्तुत्वा स्वापेक्षयाप्याधिक्यमुपपाद्येदानीं नीचसेवककार्यं दूतत्वं च कारितवानितीश्वरचर्या. संकर्षणोद्धवयोरन्यतरस्य वा गमनं भविष्यतीत्याशङ्क्याह **संकर्षणोद्धवाभ्या**मिति. निर्गमन एव सहभावः, स्वभवनगमने तु नायं निर्बन्ध इति विज्ञापयितुं **तत** इत्युक्तम्. तस्मात् स्थानात् तदनन्तरं च कार्यान्तरव्यावृत्त्यर्थं **स्वस्य भवनं ययौ.** प्रापणकथनेन मध्येऽपि कार्यान्तरं व्यावर्तितम् ॥३६॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीवल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धपूर्वार्धे पञ्चचत्वारिंशाध्यायविवरणम् ॥

॥ इति पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः॥

॥ सप्तमः स्कन्धादितः षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥

षट्चत्वारिंशकेऽध्याये सात्त्विकानां निरूप्यते ।
सान्त्वनं चान्यमुखतो निरोधो ह्यधिकारतः ॥(१)॥
भगवत्प्रेषितोऽक्रूरः कृत्वा सान्त्वनमग्रतः ।
ज्ञानेन तत्प्रतीकारं मत्वा तच्चोक्तवान् स्वयम् ॥(२)॥
पाण्डवैर्ज्ञापिताशेषो विचारे कुशलो यतः ।
अतः स्थित्वा गतिं बुद्ध्वा स्वशक्तिं ज्ञातवांस्ततः ॥(३)॥
अन्यथा भगवत्कार्यं निरोधो न भविष्यति ॥

प्रथमं भगवदुक्तं कृतवानित्याह **स गत्वेति** षड्भिः.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

स गत्वा हास्तिनपुरं पौरवेन्द्रश्रियाङ्कितम् ।
ददर्श तत्राम्बिकेयं सभीष्मं विदुरं पृथाम् ॥१॥

सोऽक्रूरः स्वतो भगवदाज्ञया च विशिष्टो. **हास्तिनपुरं** 'हस्तिन्'शब्दादपि रूढत्वाभावाय तेन निर्वृतमिति ज्ञापनार्थमुक्तम्. यद्यप्यधर्मबहुले न गन्तव्यं तथापि स्वभावत उत्तममित्याह **पौरवेन्द्रश्रियाङ्कितमि**ति, पौरवेन्द्राणां श्रियाऽङ्कितमिति.

लेखः

षट्चत्वारिंशे कारिकासु **अन्यमुखत** इति, अक्रूरमुखत इत्यर्थः (१).

पाण्डवैरिति, **पाण्डवै**र्हेतुभूतैः सर्वं **ज्ञापितम्** पृथाविदुराभ्यामिति शेषः. तथापि तावतैव स्वाशक्तिं **न** ज्ञातवान् किन्तु **यतो** हेतो**र्विचारे कुशलः अतो** हेतोः **स्थित्वा** तद्गतिं **बुद्ध्वा ततस्त**दनन्तरं तथा **ज्ञातवान्** निश्चितवानित्यर्थः. **अन्यथे**ति, अक्रूरस्यैव शक्तौ भगवतः प्रयोजनं न भवेदित्यर्थः (३$\frac{1}{2}$).

प्रकाशः

षट्चत्वारिंशाध्यायतात्पर्यं निरूपयन्तः सङ्गतेः पूर्वमुक्तत्वात् तदर्थमेवाहुः **षडि**त्यादि. अन्यमुखेन सान्त्वने हेतुमाहुः **निरोध** इत्यादि. **हि** यस्माद्धेतोः **अधिकार**मनतिक्रम्य **निरोधो**ऽतस्तथेत्यर्थः. **चकारो**ऽक्रूरोक्तप्रतिक्रियादिसमुच्चायकः, तदेव विशदयन्ति **भगवदि**त्यादिना. ननु स्वशक्तिज्ञानस्य किं प्रयोजनमत आहुः **अन्यथे**त्यादि, उक्तिमात्रेण कार्यसिद्धौ तथेत्यर्थः (१-३$\frac{1}{2}$).

मुख्यत्वात् प्रथमतो राजदर्शनम्. **अम्बिकायाः** पुत्रो धृतराष्ट्रः; धृतं राष्ट्रं येनेति व्युत्पत्तिः संभविष्यतीति तन्निषेधार्थं मातृनाम्ना व्यपदिष्टः. राजस्थान एव **भीष्मं** च दृष्टवान्. **विदुरं पृथामिति** ज्ञापको ज्ञाप्यश्च निरूपितः ॥१॥

सहपुत्रं च बाह्लीकं भारद्वाजं च[1] गौतमम् ।
कर्णं सुयोधनं द्रौणिं पाण्डवान्सुहृदोऽपरान् ॥२॥

सहपुत्रमिति, बाह्लीकः शन्तनोर्भ्राता, तत्पुत्रा भूरिश्रवादयः. **भारद्वाजो** द्रोणः, **गौतमः** कृपः, **कर्णदुर्योधनाश्वत्थामानः** —एते महारथाः गणिताः षट्. सहपुत्रत्वेन सहाया अपि गणिताः. ततोऽग्रे तेषां निवारणसमर्था इति ज्ञापयितुं पाण्डवा गणिताः. लोकन्यायेन सर्वबन्धुप्रियकृदिति ज्ञापयितुं **सुहृदोऽपरांश्च** दृष्टवानित्युक्तम् ॥२॥

यथावदुपसंगम्य बन्धुभिर्गान्दिनीसुतः ।
संपृष्टस्तैः सुहृद्वार्तां स्वयं चापृच्छदव्ययम् ॥३॥

यथावदिति, ततो यथायोग्यं नमस्कारादिप्रकारेणोपगमनम्. अस्यापि माहात्म्यं मातृपुरस्सरमाह **तैः** मथुरास्थ**वार्तां सम्यक् पृष्टः** सन् **स्वयं** च तेषाम**व्ययमपृच्छत्. चकारेण** वार्ता समागतैव. **अव्ययमिति**— व्ययोऽत्र कस्यचित्परित्यागः, अव्ययं यथा भवति तथा सर्वानिव पृष्टवान् ॥३॥

आपाततो वृत्तान्तज्ञानं न भवतीति स्वतो ज्ञानार्थं स्थितवान्, वर्तमानस्यैव ज्ञानं भवतीति जातं श्रुतवान्, भविष्यज्ज्ञानार्थं प्रबोधितवानिति संग्रहः. तत्र प्रथमं स्थितिमाह **उवास कतीति**.

उवास कतिचिन्मासान् राज्ञो वृत्तविवित्सया ।
दुष्प्रजस्याल्पसारस्य खलच्छन्दानुवर्तिनः ॥४॥

लेखः

सहपुत्रमित्यत्र ततोग्रे इति, **तेषां** पाण्डवानां **निवारणसमर्था एते महारथा इति** पाण्डवानां निवार्यत्वं **ज्ञापयितुं ततोऽग्रे** ते **गणिता** इत्यर्थः ॥२॥

उवासेत्यत्र **मासत्रय**मिति, कपिंजलन्यायेन मासानां बहुत्वं त्रित्वे पर्यवसितमिति भावः ॥४॥

प्रकाशः

स्वयं चापृच्छदित्यत्र **परित्याग** इति, बुद्धेः सकाशाद्विस्मरणमित्यर्थः ॥३॥

---

१. सगौतमम् इत्यपि पाठः.

कतिचिन्मासानिति निरन्तरं यावद्वृत्तपरिज्ञानं भवति. मासत्रयं स्थितवानिति लक्ष्यते. मासे हि नूतना दिवसा आवर्तन्ते. त्रयो हि पदार्था ज्ञातव्याः— धृतराष्ट्रस्थाः स्वतो दोषाः, पुत्रादिमोहकृता दोषाः, संसर्गदोषाश्चेति. एते नैमित्तिका अपि भवन्तीति मासपर्यन्तं निरन्तरपरिज्ञानार्थं स्थितिः, निरन्तरं परिज्ञाने त्रयाणां संश्लेषेण गुणदोषव्यवस्थापकानां प्रत्येकं व्यभिचारात् परिज्ञानं न भवतीति. एकैकस्य परिज्ञानार्थं तदीयगुणदोषनिर्धारार्थं मासपर्यन्तं स्थितिः —एवं दोषत्रये मासत्रयमिति. शीघ्रापरिज्ञाने राजत्वं हेतुः, राजमन्त्रणं गूढं भवतीति. दोषानाह— **दुष्टाः प्रजाः** पुत्रा यस्य, **अल्पः सारो** विवेकधैर्यादिकं यस्य, **खलाः** शकुनिप्रभृतयः तेषां **छन्दो** वृत्तं **तदनुवर्तन**शीलश्च. तत्कृतं समीचीनं मन्यत इत्यर्थः ॥४॥

भूतार्थपरिज्ञानमाह **तेज** इति द्वाभ्याम्.

तेज ओजो बलं वीर्यं प्रश्रयादींश्च सद्गुणान् ।
प्रजानुरागं पार्थेषु न सहद्भिश्चिकीर्षितम् ॥५॥
कृतं च धार्तराष्ट्रैर्यद्गरदानाद्यपेशलम् ।
आचख्यौ सर्वमेवास्मै पृथा विदुर एव च ॥६॥

तेजः कान्तिः, **ओज** इन्द्रियशक्तिः, **बलं** देहस्य, **वीर्यं** पराक्रमः — वीररसाभिनिवेशकृत एते क्षत्रियोत्कृष्टत्वप्रतिपादकधर्माः. **सद्गुणानाह प्रश्रयादीनि**ति, विनयादयो हि सात्त्विकधर्मास्तेन स्वभावतस्ते जीवा उद्धर्तव्या इत्युक्तम्. द्वेषे हेत्वन्तरमप्याह **पार्थेषु** युधिष्ठिरादिषु **प्रजानुरागं** च. त्रेधा हि मात्सर्यमुत्पन्नं त्रिदोषात्मकं सदचिकित्स्यमिति तत्कृतं फलमाह **न सहद्भिश्चिकीर्षितमिति, सर्वथा** मारणम्. **कृतं** तु **गरदानं,** भीमाय विषमोदकाः प्रदत्ता इति. स च पाताले **गत्वा** समागत इति च. **आदि**शब्देन बहुधा भीममारणार्थमुद्यमोऽपि प्रदर्शितः. **अपेशलम**सुन्दरं कदाचिदपमानादिकमपि **कृत**मिति वृत्तान्तसहितमेतत्सर्वं **पृथा विदुरश्च** स्वकीयसाधारणश्च **सर्वमेवाचख्यौ**, एकेन स्वरूपज्ञानमपरेण भावज्ञानमिति. **च**काराल्लोकमुखतोऽपि ॥५-६॥

प्रकाशः

उवासेत्यत्र. **दिनानि**[1] **दिवसा** इति अर्थवीप्सया उत्सवपर्वादिरूपास्ते बोध्यन्ते, तेषु वैषम्यस्य सम्यक् ज्ञातुं शक्यत्वादिति. **संश्लेषेणे**ति एकाधिकरणवृत्तित्वेन ॥४॥

---

१. प्राचीनादर्शे 'दिनानि' इति नास्ति.

एवं भूतार्थपरिज्ञानमुक्त्वा भाव्यर्थपरिज्ञाने भगवदीयत्वं हेतुरिति पृथाया भगवदीयत्वनिरूपणार्थं भगवति तस्या नवधा भावमाह **पृथा** त्विति.

पृथा तु भ्रातरं प्राप्तमक्रूरमुपसृत्य तम् ।
उद्देश्यं जन्मनिलयं स्मरन्त्यश्रुकुलेक्षणा ॥७॥

यद्यप्येषा कुन्तिभोजाय दत्ता तथाप्युत्पन्ना शूरादेवेति पितृगृहं वसुदेवादय एव भवन्ति. वसुदेवो भ्रातेत्ययमपि **भ्राता**. **तु**शब्दस्तज्जिज्ञासाभिन्नप्रक्रमार्थः. **प्राप्तमिति** तस्या अलभ्यलाभो दर्शितः. **उद्देश्यमिति आचख्यौ सर्वमेवास्मै** पृथेत्युक्तम्. वस्तुतस्तु पूर्वमेव समागमनादनन्तरमेव भगवति भावः, अत एव **तु**शब्द**प्राप्त**शब्दौ. **उपसृत्य** समीपे समागत्य तं पर्यनुयुञ्जाना **जन्मनिलयं** जन्मगृहं पितृकुलमिति यावत् तत् **स्मरन्ती**ति लोकव**दश्रुकुलेक्षणा** जाता ॥७॥

एतत्कायिकं मानसिकं च निरूपितम्, वाचनिकं निरूपयति **अपि स्मरती**ति.

अपि स्मरति नः सौम्य पितरौ भ्रातरश्च मे ।
भगिन्यो भ्रातृपुत्राश्च जामयः सख्य एव च ॥८॥

सौम्येति सम्यक्कथनार्थं सम्बोधनम्. **नो**ऽस्मान् पाण्डवान्. **अपी**ति सम्भावनायां, यतः **पितरौ** यतो **भ्रातरः**. पित्रोर्वृद्धत्वेनाप्रयोजकता शङ्क्येतेति भ्रातृग्रहणम्. **म** इति स्वस्य प्रियत्वं सूचितम्. यद्यपि **भगिन्यो**ऽन्यत्र सन्ति तथापि पितृगृहे समायान्तीति तेषां स्मरणज्ञानसम्भावना. अन्यस्मै दत्तेति शङ्कया कदाचिदस्मरणं, तथा सति न निस्तार इति भावः; स्मरणे त्वभिजनसम्पत्तिः सिद्धेति न तथा दुःखं भवति. **भ्रातृपुत्राः** वसुदेवादिपुत्राः चकाराद्भगिनीपुत्राश्च. **जामयः** कुलस्त्रियः पितृवंशविवाहिता देवकीप्रभृतयः **सख्यः** स्वस्य, तासां स्मरणमावश्यकमिति. सर्वाश्च ताः सख्य एव, चकाराद् बालिकाश्च. संपूर्णवंशस्य समत्वेन दुःखमिति भावः ॥८॥

लेखः

पृथा त्वित्यत्र. **पूर्वमेव समागमना**दिति, गोकुले गमनादनन्तरमेवेत्यर्थः. अत एव ''गोप्याददे''इति पृथयोक्तम् ॥७॥

प्रकाशः

पृथा त्वित्यत्र. **समागमनादनन्तरमेवे**ति गोकुल इति शेषः. **प्राप्त**शब्दश्चात्र भगवत्प्रेषितत्वेन परमाप्तत्वबोधको ज्ञेयः ॥७॥

किञ्च स्मरन्त्वन्ये मा वा, भ्रात्रेयः कृष्णः स्मरति न वेति पृच्छति **भ्रात्रेय** इति.

भ्रात्रेयो भगवान्कृष्णः शरण्यो भक्तवत्सलः ।
पैतृष्वस्रेयान्स्मरति रामश्चाम्बुरुहेक्षणः ॥९॥

प्रायेणेयं नन्दगृहे समागत्य गतेति लक्ष्यते. तदुपपादितं प्रथमस्कन्धे ''सा मां विमोहयती''त्यत्रातो भगवतोऽनुभवात्स्मरणं पृच्छति. स्मरणे सम्बन्धमाह **पैतृष्वस्रेयानि**ति, पितृष्वसुः पुत्रान् पाण्डवान्. रामेऽपि स एव सम्बन्धः इति **रामश्चे**त्युक्तम्. चकाराद्भगवद्भक्ता उद्धवादयोऽपि. **अम्बुरुहेक्षण** इति, **स्मरति** चेत्तापं ज्ञात्वा समायास्यतीति लक्ष्यते, दृष्ट्यैव तापदूरीकरणार्थम् ॥९॥

तदर्थं तापं निरूपयति **सपत्नमध्ये शोचन्तीमि**ति.

सपत्नमध्ये शोचन्तीं वृकाणां हरिणीमिव ।
सान्त्वयिष्यति मां वाक्यैः पितृहीनांश्च बालकान् ॥१०॥

व्यवहारे नाममात्रेण सम्बन्धिनः, वस्तुतः शत्रवः. नापकारमात्रं तेषां किन्तु सर्वनाशकत्वमिति दृष्टान्तमाह **वृकाणां मध्ये हरिणीमिवे**ति. प्रसङ्गादागमनं निवारयति **सान्त्वयिष्यती**ति, प्रसङ्गादागतवाक्यानि न सर्वथा सान्त्वनसमर्थानि भवन्ति. **मामि**ति, पाण्डवास्तु भ्रातरो भवन्ति अहं पितृभगिनीति उभयोर्विशेषाकारेण सान्त्वनं करिष्यति, किं **वाक्यै**रर्थवद्भिः सुखेन सर्वान् स्थापयिष्यामीति. इहलोके परलोके च **पितृहीनांश्च**कारात् मातृहीनानपि. कृष्णस्य विशेषणं भगवानित्युक्तत्वादन्येषामवस्थादोषो भवतीति **बालकानि**त्युक्तम्, स्वतोऽसमर्थान् ॥१०॥

एवं मनोरथमुक्त्वा तदानीमेव समागतं भगवन्तं मन्यमाना संमुखतया प्रार्थयते **कृष्ण कृष्णे**ति.

कृष्ण कृष्ण महायोगिन् विश्वात्मन् विश्वभावन ।
प्रपन्नां पाहि गोविन्द शिशुभिश्चावसीदतीम् ॥११॥

आदरे वीप्सा अकस्मादागते वा. नन्वहमन्यत्र, अत्र तव दृष्टिभ्रमो भविष्यतीत्याशङ्क्याह **महायोगिन्नि**ति. तथापि किमेवमेतावद्दूरं सर्वपरित्यागेनागमनेनेति चेत्तत्राह **विश्वात्मन्नि**ति. सर्वस्य भगवानात्मा, आत्मना हि देहादेः

प्रकाशः

सपत्नेत्यत्र. ननु तत्कृतस्वसान्त्वनेन किं भवेदित्याकाङ्क्षायामाहुः **कृष्णस्ये**त्यादि ॥१०॥

प्रियं कर्तव्यं, प्रयत्नस्य तदधीनत्वाद्, अत: सर्वथा आगमनम्. तथाप्यक्रूरवदेवागन्तव्यं, किमिति विशेषाकारेणागतमिति चेत्तत्राह **विश्वभावने**ति. विश्वमेवानुभावयतीति, नह्यलौकिकाकरणे विश्वमनुभावितं भवति. अलौकिकबुद्धावेवालौकिकानुभावो भवति. एवं भगवन्तं सम्बोध्य समागमनं तत्प्रकारं चोक्त्वा प्रार्थयते **प्रपन्नां पाही**ति. साधारणा अपि प्रपन्ना रक्षणीया: भगवत:, सम्बन्धो नापेक्षित:, अत: प्रपत्तिरेव हेतुत्वेन निरूपिता. **अवसीदती**मवसादं प्राप्नुवतीमिति अप्रपन्नामपि परिपालने हेतु:. तत्रापि **शिशुभि:** सह. लाक्षागृहदाहं वा भगवन्तमिव पश्यन्ती ॥११॥

ननु पुत्रा अपि तव समर्था: पितरो भ्रातरश्च अत: किमिति विषाद: क्रियत इत्याशङ्क्याह **नान्यत्तव पदाम्भोजादि**ति.

नान्यत्तव पदाम्भोजात्पश्यामि शरणं नृणाम् ।
बिभ्यतां मृत्युसंसारादीश्वरस्यापवर्गिकात् ॥१२॥

मृत्युसंसाराद्बिभ्यतामन्यच्छरणमेव नास्ति. मृत्यो: संसाराच्च प्रतिजन्म. मृत्योर्भयं संसारभयमेकमेव. मृत्यवश्च बहव इति मृत्युभयमेकमन्यस्मादपि निवर्तते, सर्वमृत्युभयं तु संसारमेव भगवत एव निवर्तते. उभयं स्वतन्त्रभक्त्यैव निवर्तत इति **पदाम्भोज**पदम्. ननु भगवन्तं परित्यज्य चरणात् कथं निवृत्तिरुच्यत इति चेत्तत्राह **ईश्वरस्ये**ति, स हि चरणद्वारापि सर्वं कर्तुं समर्थ:. किञ्च ईश्वरत्वाद् दुराराध्यत्वात् निर्विचिकित्सं फलार्थिन: प्रवृत्तिरपि कुण्ठिता भवेत्, चरणौ तु नियतौ. अत एव नियतो भक्तिमार्ग: फले फलावश्यंभावे च, ईश्वरभावस्त्वनियत:. ईश्वरत्वान्मृत्युनिराकरणं**मापवर्गिकाद**पवर्गाधिपते: संसारनिवृत्तिरयं, संसारस्त्वपवर्गपर्यन्तं भवती**त्यापवर्गिक:** मृत्युरपि तथा ॥१२॥

एतावत्प्रार्थनानन्तरमङ्गीकारेणैव तत्परितोषं कृत्वा तिरोधाने कृते तादृशाय पुनर्नमस्करोति.

नम: कृष्णाय शुद्धाय ब्रह्मणे परमात्मने ।
योगेश्वराय योगाय त्वामहं शरणं गता ॥१३॥

नमस्कारे सम्बन्धस्य विरुद्धत्वाद् यदैव चिकीर्षितस्तदैव तिरोहित:. **कृष्णाये**ति सदानन्दाय. अवतारपरत्वेऽपि धर्मा न बाधका इत्याह **शुद्धाये**ति,

---

प्रकाश:

कृष्ण कृष्णेत्यत्र शिशुभि: सहोक्तेस्तात्पर्यमाहु: **लाक्षे**त्यादि. **पश्यन्ती**ति, भाविनं दाहं भावनाबलात्पश्यन्तीक्षणं प्रार्थयत इत्यर्थ: ॥११॥

अवतारसम्बन्धिधर्मैरस्पर्शात्. अनेन कालान्ताः सर्व एव धर्मा निवारिताः. नन्वागतस्य सर्वथेतरसम्बन्ध इति चेत्तत्राह **ब्रह्मण** इति, जीवानामेवागतानां बन्धो न ब्रह्मणः. ननु जीवोऽपि वस्तुतो ब्रह्म भवतीति को विशेष इति चेत्तत्राह **परमात्मन** इति, परमश्चासावात्मा चेति; उत्कृष्ट आत्मा आत्मनामप्यात्मा वा. ननु तर्हि **कथं** मूलसमागमनं ? हेत्वसम्भवादंशत्वे परिच्छेदे हि समागमनं सम्भवति, तत्राह **योगेश्वराये**ति— योगो ह्यलौकिकं कर्तुं शक्तो यत्र बुद्धिर्न प्रसरति, तस्यापीश्वरः कथं स्वागमनमपि न सम्पादयेत् ? किञ्च योगस्यापि सामर्थ्यं भगवत एवेत्याह **योगाये**ति, भगवानेव योगः अतः सामर्थ्यस्य दृष्टत्वान्नानुपपन्नं किञ्चित्. अतो यथा आगतोऽपि तद्धर्मैर्न लिप्यते, सर्वत्र पूर्णोऽप्यागच्छति, एवमस्मानपि पालयिष्यतीति निश्चित्याह **त्वामहं शरणं गते**ति, शरणागमने परिपालनमावश्यकमिति ॥१३॥

ततः किं जातमित्याकाङ्क्षायामाह **इत्यनुस्मृत्ये**ति.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

इत्यनुस्मृत्य स्वजनं कृष्णं च जगदीश्वरम् ।
प्रारुदद्दुःखिता राजन्भवतां प्रपितामही ॥१४॥

स्वजनं पित्रादीन् **कृष्णं च**, **च**काराद्बलभद्रं भगवद्गुणांश्च. **जगदीश्वर**मिति सर्व एव पाल्या इति. बहिर्मुखाः तिरोधानात्पाक्षिकरक्षामाशङ्क्य **प्रकर्षेणारुदत्.** वंशं दूरीकरिष्यति एकं परीक्षितं कथञ्चित्स्थापयिष्यति इत्येवं भवद्वंशे स्त्रियोऽपि भक्ता इति ज्ञापयितुमाह **भवतां प्रपितामही**ति. पितामही सुभद्रा, कुन्ती तु प्रपितामही ॥१४॥

भगवतः सान्त्वनं तु पाक्षिकं मन्यत इति भगवदीयैः सान्त्वनं क्रियत इत्याह **समदुःखसुख** इति.

समदुःखसुखोऽक्रूरो विदुरश्च महायशाः ।
सान्त्वयामासतुः कुन्तीं तत्पुत्रोत्पत्तिहेतुभिः ॥१५॥

तत्रार्थे अक्रूरस्य सान्त्वनमनुचितं मत्वाह **समे सुखदुःखे** यस्येति. यद्यपि जाते अनिष्टे इष्टे वा सुखं दुःखं समानं तथाप्ययम**क्रूरः** प्रसिद्धः पुरुष इति सान्त्वनमुचितमेव; **विदुरो**पि तथा. यद्यपि तुल्यस्तथापि धर्मपक्ष इत्याह **महायशा** इति. तत एव हि धर्मो भवति, नान्यथा. **सान्त्वयामासतुः** न तु तद्दुःखं दृष्ट्वा स्वयं

प्रकाशः

समदुःखेत्यत्र **तत** इति, धर्मपक्षपातादित्यर्थः ॥१५॥

युद्धार्थं प्रवृत्ताः. यतः **कुन्ती** कुन्तिभोजाय दत्ता. तत्रापि स्वरक्षार्थं धर्मादयः प्रार्थिता इत्यक्रूरविदुराभ्यां युद्धे कृते तत्प्रयत्नो व्यर्थो भवतीति **तत्पुत्रोत्पत्तिहेतुभि**र्धर्मादिभिः कृत्वा सान्त्वनमेव कृतवन्तौ न तु युद्धार्थं प्रवृत्ता इति युक्तम् ॥१५॥

तथाप्यक्रूरोऽसहमानो, वाक्येन धिक्कारे कृते यद्ययं विमनो भविष्यति तदा मारयिष्यामीति निश्चित्य, तद्गृहे स्थितस्तदधीनो भवतीति ततो निर्गच्छन्, राजसम्बोधनार्थं प्रवृत्त इत्याह **यास्यन्निति**.

यास्यन् राजानमभ्येत्य विषमं पुत्रलालसम् ।
अवदत्सुहृदां मध्ये बन्धुभिः सौहृदोदितम् ॥१६॥

राजानं धृतराष्ट्रं, राजत्वादवश्यं वक्तव्यो अन्यथा मर्यादातिक्रमो भवेत्. **अभित एत्ये**ति निःशङ्कम्. ननु राजा न वक्तव्यः सर्वप्राणिभिः यथा भगवान्, तत्कथमुक्तवानित्याशङ्क्याह **विषममिति**. तत्र हेतुः **पुत्रलालसमिति**. पुत्रो हि स्वयं जीवन् पाण्डवान्न मन्यते. अधुना किं पाण्डवा हन्तव्याः पुत्रो वेति विचारे दुष्टो हन्तव्य इति धर्मशास्त्रात् पुत्रस्यैव मारणं प्राप्तं, तन्न करोतीति विषमः. सहजो धर्मो विहितं धर्मं बाधते. एतच्च राजाधिकारे निविष्टस्य वैषम्यमनुचितमिति बोधनमुचितमिति भावः. तदपि नैकान्ते, तथा सति लज्जा न भवेदतः **सुहृदां मध्ये**. तस्मिन्विषमेऽप्यन्येषामविषमत्वात् न वचनेऽपि किञ्चिदनिष्टम्. तत्रापि **बन्धुभिरुदितं** वसुदेवादिभिः, तत्रापि **सौहृदादेवोदितं** न तु विषमबुद्ध्या ॥१६॥

वचनान्याह नवभिः **भो भो** इति, सर्वैर्भावैः सर्वविधान्युक्तानि वचनानीति.

॥ अक्रूर उवाच ॥

भो भो वैचित्रवीर्य त्वं कुरूणां कीर्तिवर्धन ।
भ्रातर्युपरते पाण्डावधुनासनमास्थितः ॥१७॥

आदौ रजःसत्त्वतमोभावेन लौकिकेन प्रबोधनं त्रिभिः. अन्धत्वान्न पश्यतीति वारद्वयं सम्बोधनम्. राष्ट्रं न बिभर्तीति न 'धृतराष्ट्र'ता, 'प्रज्ञाचक्षुरि'ति चेदुच्यते तर्हि मर्मभेदो भवेत्, तथा 'व्यासात्मज' इत्यपि. स्त्रीपुत्रत्वादिसम्बन्धो हीनत्वप्रतिपादकः. 'राज'त्वं तु नास्तीति मन्यमानः कृत्रिमपितृनाम्ना सम्बोधयति **वैचित्र्यवीर्ये**ति, विचित्रवीर्यस्य क्षेत्रजः पुत्र इत्यर्थः. **त्वमि**त्येकवचनेन स्वजन्मानुसन्धीयतामिति द्योतितम्. किञ्च **कुरूणां** वंशे **त्वमुत्पन्नः** तत्**कीर्तिवर्धन**मुचितम्. **वर्धन**शब्देन छेदनमप्युच्यते इति कीर्तिछेदकः त्वमित्यर्थादुक्तं भवति. राजाधिकारार्थं पुत्र उत्पादनीय इति विचार्य प्रथममुत्पादितः, ततश्चान्ध इति त्वं परित्यक्तः, ततः

पाण्डुरुत्यादितः. तस्मिन्नुपरते आगत्याधुना **आसनमास्थितः** सिंहासने उपविष्टः. अनेनायुक्तमेव करोषीति द्योतितम् ॥१७॥

अङ्गीकृत्यापि सात्त्विकेन बोधनमाह **धर्मेणे**ति.

धर्मेण पालयन्नुर्वीं प्रजाः शीलेन रञ्जयन् ।
वर्तमानः समः स्वेषु श्रेयः कीर्तिमवाप्स्यसि ॥१८॥

धर्मेण पृथिवीपालनं कर्तव्यं, तदा दृष्टादृष्टोपायेन पालिता भवति. भगवता हि नामरूपप्रपञ्चौ निर्मितौ अन्योन्यपरिपालनाय, तदेकेन रहितं व्यङ्गं भवति, अतो **धर्मेणैव** सह पालनं कर्तव्यम्. केवलकरणत्वे योगिनामिवास्यापि पालनं भवेत्. अनेन परलोके सुखमिहलोके तु राज्याद्वैषयिकं सुखम्. कीर्तिजन्यं तु ततोऽप्यधिकमिति तत्साधनं बोधयति **प्रजाः शीलेन रञ्जयन्नि**ति, शीलं सुस्वभावस्तेनैव प्रजा अनुरक्ता भवन्ति, अन्यथा तु युक्तं देयं प्रयच्छन्ति. बहिःकीर्तिसाधनमेतद्, अन्तःकीर्तिसाधनमाह **वर्तमानः समः स्वेष्वि**ति, सर्वेष्वेव बन्धुषु समो भवेत्. ततोऽन्तर्नापकीर्तिस्तज्ज्ञैश्च, तदा राजा **श्रेयः कीर्तिं** च प्राप्स्यसि ॥१८॥

अनङ्गीकारे तामसं वचनमाह **अन्यथे**ति.

अन्यथा त्वाचरँल्लोके गर्हितो यास्यसे तमः ।
तस्मात्समत्वे वर्तस्व पाण्डवेष्वात्मजेषु च ॥१९॥

उक्तप्रकारा**दन्यथा** प्रकारेण भूपालनं प्रजाननुरागं विषमत्वं च कुर्वन् कीर्तिप्रतिनिधिं श्रेयःप्रतिनिधिं च प्राप्स्यसीत्याह— **गर्हितो** निन्दितः **तमो**ऽन्धंतमः महद्दुःखं प्राप्स्यसीति. अतो बाधवशादपि समो भवेदित्याह **तस्मा**दिति. **समत्वे**

लेखः

धर्मेण पालयन्नुर्वीमित्यत्र. **धर्मेणैव सहे**ति, स्वधर्मः पालितो भवति प्रजाश्च पालिता भवन्तीति सहभावः. सहार्थकत्वेन व्याख्याने हेतुमाहुः **केवले**ति, सहभावं विना **केवलं** धर्मस्य **करणत्वे अस्य** राज्ञः **पालनं योगिनामिव भवेत्**, यथा योगेन नानाविधभोगैर्योगिनः स्वशरीरं पालयन्ति. परन्तु तैर्भोगैर्योगः क्षीयते तथास्यापि धर्मः क्षीयेत. सहभावोऽप्युक्त इत्यर्थः. **अनेने**ति धर्मपालनकथनेनेत्यर्थः ॥१८॥

प्रकाशः

धर्मेणेत्यत्र. ननु धर्मस्य पालने करणत्वमेवास्तु, सहार्थे तृतीया किमिति व्याख्यायते तत्राहुः **केवले**त्यादि. तच्चास्मिन् योगजधर्माभावादसम्भावितमिति सहार्थव्याख्यानमेवोचितमिति भावः ॥१८॥

समत्वार्थं **वर्तस्व** यथैव त्वं समो भवसि तथोपायं कुर्वित्यर्थः. वैषम्यस्थानमुद्घाटयति **पाण्डवेष्वात्मजेष्विति**, **च**कारात्तत्सम्बन्धिषु च ॥१९॥

एवं लोकन्यायेन बोधयित्वा शास्त्रन्यायेनाह समाभ्यां त्रिभिस्त्रिभिस्तत्त्वं बोधयति **नेह चे**ति.

नेह चात्यन्तसंवासः कर्हिचित्केनचित्सह ।
राजन्स्वेनापि देहेन किमु जायात्मजादिभिः ॥२०॥

स्वार्थं हि सर्वेण कर्तव्यं तद्यथा स्वार्थः सिद्ध्यति. तत्र कालो बाधक इति हितमहितं बहिरङ्गस्यापनार्थं यत्नो न कर्तव्य इत्याह **इहा**स्मिंल्लोके **अत्यन्तं** सर्वदा **केना**पि **सह संवासः** कस्यचिदपि **न**. अलौकिकबोधने उग्रवचने बोधो न भवतीति कोमलवचनेन सम्बोधनं स्नेहज्ञापनार्थम्. ममतास्पदेन नास्त्येव संवास इहापि व्यभिचारदर्शनात्, स्वदेहेन तु न व्यभिचारं पश्यतीति तत्राप्युपदिशति **स्वेनापि देहे**नेति. पुत्रादीनामपि देहः स्वस्यैवेत्य**पि**शब्दे(न!) निरूप्य तान्निर्दिशति **किमु जायात्मजादिभि**रिति. **आदि**शब्देन भ्रातृपित्रादयः ॥२०॥

तत्र देहादात्मनो भेदज्ञाने सत्येतद्भवतीति देहादात्मानं भिन्नतया निरूपयति **एकः प्रसूयत** इति.

एकः प्रसूयते जन्तुरेक एव प्रलीयते ।
एकोऽनुभुङ्क्ते सुकृतमेक एव च दुष्कृतम् ॥२१॥

''आत्मनः पितृपुत्राभ्यामनुमेयौ भवाप्ययावि''तिन्यायेनानुभवपर्यन्तं निरूपयति. **प्रसूयते** मात्रा, **प्रलीयते** भूमौ कालेन; एवमाद्यन्तयोरेकत्वमुक्त्वा उपलक्षणन्यायेन सर्वस्यैव क्रियामयस्यैककर्तृत्वं निरूप्य ज्ञानमात्मपर्यवसायीति कर्मणा भोगोऽप्येकस्यैवेत्याह **एकोनुभुङ्क्ते सुकृत**मिति. **सुकृतं** पुण्यं कर्म, तस्य फलं स्वर्गादि कार्यकारणयोरभेदात्तथोच्यते. करणानन्तरमेव भोग इत्य**नु**शब्दार्थः. सुखभोगे बहूनामपि समवायोऽस्तीति हास्यक्रीडादौ तथा दर्शनात्. **दुष्कृते एक एवे**त्याह. **च**कारान्मिथः सङ्गेन कृतपापे मिथ एव भोग इति पक्षमङ्गीकरोति. **दुष्कृतं** पापं सुकृतवद्व्याख्येयम् ॥२१॥

लेखः

नेह चेत्यत्र **हितमहितमि**ति, देहादीनां हितं वस्तुतोऽहितमेवेत्यर्थः ॥२०॥

प्रकाशः

नेह चेत्यस्याभासे, **समाभ्यां त्रिभिरि**ति, **त्रिभिः** रजःसत्त्वतमोभावैः पूर्वेण **समाभ्यां** समुदायाभ्यामित्यर्थः.

सुखार्थं सुखसाधनार्थं वा पापं न कर्तव्यमित्याह **अधर्मोपचितमिति.**

अधर्मोपचितं वित्तं हरन्त्यन्येऽल्पमेधसः ।
संभोजनीयापदेशैर्जलानीव जलौकसः ॥२२॥

अधर्मेण उपचितं पुष्टम्, अर्थस्योत्पत्तिर्धर्मेणैव उपचयस्त्वधर्मेणापि भवति. तथा सति प्रवृद्धो रोषः. **अन्य** एव अधर्मिष्ठा अधर्मप्रेरिता वा दैत्या हरन्ति. प्रतिरोधे सामर्थ्याभावमाह **संभोजनीयापदेशैरिति.** संभोजनीयाः सम्बन्धिनः, अतिलुब्धोऽपि सम्बन्धरक्षार्थं तान् भोजयति. अनपेक्षितं बहुत्वान्नयन्तीत्याशङ्क्य तस्मिन् हृते जीवनमेव यातीत्यत्र दृष्टान्तमाह **जलानीव जलौकस** इति— **जलौकसो** मत्स्यादेः प्राणभूतमपि जलं कुल्याभिर्हरन्ति. ज्ञानं चेद् भवेत् तद्द्वारान्यत्र गच्छेदज्ञानमात्रे जीवनरूपोऽयमर्थ इति ज्ञापयितुं दृष्टान्तः ॥२२॥

पश्चादुपकरिष्यन्तीत्याशङ्क्याह **पुष्णातीति.**

पुष्णाति यानधर्मेण स्वबुद्ध्या तमपण्डितम् ।
तेऽकृतार्थं प्रहिण्वन्ति प्राणा रायः सुतादयः ॥२३॥

अन्यमप्युपक्रम्य पर्यवसानेन पुत्रपरं निरूपयति. **स्वबुद्ध्या** स्वीया इति बुद्धिमात्रं, वस्तुतः शत्रव एव अन्यथा उपकारमेव कुर्युः. ते न बलात्कारेण तथा कुर्वन्तीति ज्ञापयितु**मपण्डितमित्युक्तम्.** ननु लौकिकं वैदिकं नित्यं कर्म कर्तव्यमिति तदर्थं ते भोजिता इति चेत्तत्राह **अकृतार्थमिति.** "संभोजनी नाम पिशाचभिक्षे"ति वाक्यान्न तेषां दानं परलोकाय, इहलोके भवत्युपकारो यदि ते उपकारं मन्येरन्, तदपि नास्तीत्यकृतार्थतैव. किञ्च अवसरे प्राप्ते **प्रकर्षेण हिन्वन्ति** सङ्कटस्थाने स चार्थस्तं त्यजन्तीत्यर्थः. तान् बाह्याभ्यन्तरांस्तुल्यतया निर्दिशति **प्राणा रायः सुतादय** इति, आन्तराः बाह्याः मध्ये उभयोपयोगिनश्च. **आदिशब्देन** सर्व एव बाह्या गृहीताः. **प्राणा** इन्द्रियाणि आसन्यव्यतिरिक्ताः प्राणाः, आसन्यो हि सर्वान्पोषयति न तु तं कश्चन. ननु "अनुप्राणन्ति यं प्राणाः""अण्डेषु पेशिष्वि"त्यादिवाक्यैः प्राणानामिन्द्रियाणां च आमुक्तेर्वियोगो न श्रूयते, मुक्तौ तु कृतार्थतैवेत्यकृतार्थवचनं बाधितमिति चेत्, सत्यं, चर्षणीनां जीवानां सहगमनं, न स्थिरजीवानाम्, अन्यथा

लेखः

पुष्णातीत्यत्र. चर्षणीनामिति, भ्रमणशीलानां लोकान्तरगन्तॄणां क्रममुक्तियोग्यानां चेत्यर्थः. **स्थिरेति,** "जायस्व म्रियस्वे"ति पक्षेणात्रैव लोके स्थिराणां सद्योमुक्तियोग्यानां चेत्यर्थः ॥२३॥

पुरञ्जनोपाख्याने प्राणादिसहिते देहे जीवप्रवेशवचनं बाधितं स्यात्. यथा प्रवेशस्तथा निर्गम इति प्रथमप्रवेशोऽयमिति चेत्, नैवम्, "वीरसूरपि नेष्यती"ति वाक्यात्. अस्तु वा, तथा सति प्राणभूता राय इति व्याख्येयम्, "अर्था बहिश्चराः प्राणा" इति. अनेन सिद्धान्तद्वयं निरूपितम्— उत्क्रमणे सहैव गमनमत्रैव परित्याग इति च. यतः श्रुतौ द्वयमप्युक्तं— "तमुत्क्रामन्तं प्राणोनूत्क्रामति" प्राणा उत्क्रामन्त्युताहो नेति प्रश्ने नेत्याह याज्ञवल्क्यः. "इहैव समवनीयन्ते प्राणा" "स उच्छ्वयति आध्मातो मृतः शेते"[1] इति. "ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति"(इति!) तु प्रक्रियान्तरम्. अतः क्रममुक्तौ ऊर्ध्वगमने च संघः सर्वोऽपि गच्छति, "जायस्व म्रियस्वे"ति पक्षे सद्योमुक्तौ च न गच्छतीति सिद्धान्त इति सर्वमविरुद्धम् ॥२३॥

अयुक्तत्वाद् गच्छतीति युक्त एवास्य परित्यागः, यथा यो वधार्थं नीयते स केवलो नीयते यो विवाहार्थं नीयते ससामग्रीक इति. तदाह **स्वयं किल्बिषमादाये**ति.

स्वयं किल्बिषमादाय तैस्त्यक्तो नार्थकोविदः ।
असिद्धार्थो विशत्यन्धं स्वधर्मविमुखस्तमः ॥२४॥

प्रकाशः

पुष्णातीत्यत्र. सहगमनमिति प्राणैः सहेत्यर्थः. **पुरञ्जनोपाख्यान** इत्यादि, तत्र "पञ्चशीर्षाहिना गुप्तां" "भृत्यैर्दशभिरायान्तीमि"त्यादिभिः प्राणसत्ताया जीवप्रवेशात्पूर्वमेव कथनात् तथेत्यर्थः. ननु तत्रैकाकिनः प्रवेशकथनान्नेदं तथा निर्गमे प्रमाणमित्याशङ्क्यातिदिशन्ति **यथे**ति, तथा न्यायस्यासाम्याददोषः इत्यर्थः. **नन्वयमतिदेशो न युज्यते,** प्रथमप्रवेशे एकाकित्वस्य सर्वसम्मतत्वेऽपि निर्गम एकाकित्वाभावादित्याशयेनाशङ्कते **प्रथमे**त्यादि, समादधते **नैव**मित्यादि. "लोकान्तरं गतवति मय्यनाथा कुटुम्बिनी"ति जीवोत्क्रमणोत्तरं बुद्धेः स्थितिस्तत्रोपक्रान्ता, तेन तत्रापि सर्वेषां सहगमनस्य वक्तुमशक्यत्वादिति भावः. ननूक्तवाक्येऽपि सम्भावनैवोक्तेति नेदं युक्तमिति शङ्कायां पक्षान्तरमाहुः **अस्तु वे**त्यादि. एवमतः सन्देहानिवृत्तौ श्रुतिभ्यां निष्कृष्टमाहुः **प्राणा** इत्यादि. ननु प्राणपरित्यागो मोक्ष एवोक्तो नत्वकृतार्थस्येत्यत आहुः **ब्रह्मैवे**त्यादि. आर्तभागब्राह्मणे मुक्तेरनुक्रमाच्छारीरकब्राह्मणे मुक्तेरुक्तत्वाच्च प्रकरणभेदेनान्यत्रापि प्राणपरित्यागोक्तिर्न विरुद्धेत्यर्थः. तेन सिद्धमाहुः **अत** इत्यादि. इममर्थं लोकन्यायेन दृढं कुर्वन्ति **अयुक्तत्वादि**ति, अयुक्तत्वं सम्पाद्येत्यर्थः ॥२३॥

---

१. मुद्रितपाठस्तु "इत यतो मृतो ध्मातः शेते" इति.

तदुपार्जनपोषणाभ्यामुपार्जितं पापं गृहीत्वा **तैः** प्राणादिभि**स्त्यक्तः अन्धंतमो विशति**. ऊर्ध्वगतौ तु न त्यजन्तीति ज्ञापयितुं **नार्थकोविद** इत्युक्तम्. अन्यथा योगशास्त्रं व्यर्थं स्यात्, "पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि स" इत्यादिवाक्यात्. अतस्तादृशेन्द्रियाणां हिताचरणं युक्तम्. यदप्युक्तं "नो चेत्प्रमत्तमसदिन्द्रियवाजिसूता" इति तद्विषयैः संसारमात्रे प्रवेशनमुक्तं न तु हीनगतिः. अत इन्द्रियाणां स्वभावभेदस्य दृष्टत्वात् "निकृष्टैः कर्मभिर्नित्यं जन्तुः स्थावरतां याती"त्यादिवाक्यादपुनरावृत्त्यधोगमनमार्गे परित्याग एव. मुक्तिव्यावृत्त्यर्थम**सिद्धार्थ** इति. भगवदिच्छया सद्योमुक्तौ निरुद्धगोपिकावत्सहगमनं नास्तीत्यर्थकोविदत्वाभावेऽपि परित्यागो वर्तत इति व्यावर्तकं पदद्वयमपि मृग्यम्. **अन्धंतमो** हि अपुनरावृत्तितमः; "अन्धंतमः प्रविशन्ती"ति श्रुतिरपि. केवलेन्द्रियपोषका एव संभूतिमुपासत इति श्रुतिराह "अविद्यामुपासत"इति च. ज्ञानरहितं प्रमाणबहिर्भूतं यत्कर्म लौकिकं निषिद्धं च तेन **तम** एव. ज्ञानसहितं तु कर्म वैदिकम्, "य एवास्मि स सन् यज" इत्यादिश्रुतेः तस्य मोक्षफलत्वम्. एतज्ज्ञापयितुमाह **स्वधर्मविमुख** इति. तस्मात् स्वधर्मानुसारेण भोगः कर्तव्यः ॥२४॥

प्रकाशः

स्वयं किल्बिषेत्यत्र. **तादृशेन्द्रियाणा**मिति, युक्तानामन्तर्मुखेन्द्रियाणां न तु संसारावेशदुष्टानामित्यर्थः. ननु **असिद्धार्थ**पदेनैव व्यावृत्तिसिद्धे**र्नार्थकोविद**पदं नातिप्रयोजनमित्यत आहुः **भगवदिच्छये**त्यादि. **गोपिकावदि**ति वैधर्म्ये दृष्टान्तः, तद्विरुद्धो सिद्धार्थ इत्यर्थः. तथा च नार्थकोविदः परित्यक्तो अन्धं व्रजतीत्युक्तेऽन्तर्गृहगतगोपिकादौ व्यभिचारस्तदर्थम**सिद्धार्थ** इति, असिद्धार्थः परित्यक्तोऽन्धं व्रजतीत्युक्ते ऊर्ध्वं गन्तरि परित्यागाभावाद्व्यभिचार इति पदद्वयमावश्यकमेवेत्यर्थः. एवमिन्द्रियपोषकस्यान्धंतमप्रवेशो न श्रुतिसिद्ध इति तं स्फुटीकुर्वन्ति **अन्धंतम** इत्यादि. सम्भूयते उत्पद्यतेऽनेनेति सम्यक् भूतिर्भवनमस्मादिति वा सम्भूतिः इन्द्रियगणः तामुपासते पुष्णन्तीत्यर्थः. नन्विदं फलं धर्मकरणेऽपि तुल्यम्, "अविद्यामुपासत"(इति!)श्रुत्यन्तरे 'अविद्या'शब्देन कर्मणामेव परामर्शाद्, अतो वृथैवोपदेश इत्यत आहुः **अविद्ये**त्यादि. वैदिकस्यातथात्वे गमकमाहुः **य एवे**त्यादि. श्रुतिस्तु यजुर्ब्राह्मणे तृतीयकाण्डे सप्तप्रपाठकपञ्चमानुवाकेऽछिद्रेऽस्ति. तत्र "योऽहमस्मि यस्यास्मी"त्यादिसामुद्रतरङ्गन्यायेन भेदाभेदौ सर्वात्मभावश्चोक्त इति **मोक्षफलत्वम्.** भाष्ये च सायणीये यद् व्याख्यातं तत्तु लोकानुसारित्वाद् भूममार्गगामिनिकृष्टाधिकारिपरमिति न क्वापि शङ्कालेशः ॥२४॥

धर्मो ज्ञानसहित इति धर्मसहितश्च भोग इति बुद्धिमांस्तादृशमेव कुर्यादित्याह **तस्माल्लोकमिममिति.**

तस्माल्लोकमिमं राजन् स्वप्नमायामनोरथम् ।
वीक्ष्यायमात्मनात्मानं समः शान्तो भव प्रभो ॥२५॥

लोकानुसारेण पुत्रानुसरणं कर्तव्यमिति लोको निन्द्यते स्वप्नमाया-मनोरथत्वेन. **स्वप्न**स्तामसः **माया** राजसी **मनोरथः** सात्त्विकस्तथोत्कर्षापकर्षापन्नमपि जगत् न चिरकालावस्थायीति तदनुरोधेन तु न पुरुषार्थो नाशनीयः. उत्पत्तौ सिद्धायां मरणेऽपि सिद्धे पूर्वं पश्चाच्च नानेन संघातेन सह स्थितः स्थास्यतीति सिद्धत्वात् स्वप्नादितुल्यत्वं युक्तमेव. अनेनोत्कृष्टमिदं राजशरीरमित्यपि परिहृतम्. एवं **वीक्ष्य** पूर्वोक्तप्रकारेणा**त्मनैवात्मानं** संघातव्यतिरिक्तं ज्ञात्वा देहसम्बन्धिष्वप्युदासीनो भवेत्याह **सम** इति. नन्वेवं पर्यालोचना कथं भविष्यतीत्याशङ्कायामाह **शान्तो भवे**ति. नन्वेवमुपाये कथं न सर्वे भवन्तीत्याशङ्क्याह **प्रभो** इति, त्वं समर्थो विवेकी न त्वन्ये अविवेकिनः ॥२५॥

एवमुपदिष्टे ज्ञाने सन्तुष्टः सन् धृतराष्ट्र उत्तरमाह **यथा वदती**त्यादिचतुर्भिः.

॥ धृतराष्ट्र उवाच ॥

यथा वदति कल्याणीं वाचं दानपते भवान् ।
तथानया न तृप्यामि मर्त्यः प्राप्य यथामृतम् ॥२६॥

एवं व्यासेनाप्येतादृशमुक्तं भीष्मेणान्यैश्च. तत उपदिष्टं ज्ञानं क्षणमात्रमेव तिष्ठति पश्चादन्यथैव प्रवर्तते, पुनरुपदिष्टे पश्चात्तापसहितं ज्ञानं भवति, तदपि न तिष्ठतीति पुनरन्यथैव प्रवर्तते. एवमनेकपर्यायेऽस्मन्मनसोऽयमेव स्वभाव इति निश्चित्य पश्चात्तापो निवृत्तस्ततः प्रभृति ज्ञानमपि मन्यते वैषम्यमपि करोतीमं सिद्धान्तमतो न जानातीति तं प्रति बोधयतीति. तदास्यानिष्टं भवेद्, यदि पुत्रनाशं नाङ्गीकुर्यात्तदा स्वस्य दोषो भवेत्, परं स्वयं कर्तुं न शक्तो नाप्यन्यः किन्त्वीश्वर एवेति तस्याभिप्रेतम्. अनेनास्य युद्धोद्यमोऽपि निवारितः. हे **दानपते** दानाध्यक्ष, धर्मशास्त्रे स्वयमेव निपुण इति. अनेन त्वं धर्ममेव जानासि, न तु कालं स्वभावमीश्वरेच्छां वा. परं यद्वदसि **तत्कल्याणीमेव वाचं वदसि**, सत्या मनोहरा च, "सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयादि"ति स्मृतेः. यतस्त्वं **दानपति**रिति अद्यापि तव वचनश्रवणे श्रद्धा वर्तत इत्याह **तथानये**ति, तथाभूतयानया वाण्या **न तृप्यामि** अलमिति न मन्ये. स्वस्य तद्वाक्यमपेक्षितमिति ज्ञापयितुं दृष्टान्तमाह **मर्त्यः** मरणधर्मा **यथामृतं प्राप्य** न तृप्यतीति ॥२६॥

यथा गङ्गायां सज्वरोऽपि श्रद्धावान् गङ्गास्नानेन न तृप्यते परं तस्य शरीरं न सहते तथा मम मन इत्याह **तथापी**ति.

तथापि सूनृता सौम्य हृदि न स्थीयते चले ।
पुत्रानुरागविषमे विद्युत्सौदामिनी यथा ॥२७॥

सूनृता सत्यरूपा, सतां मनसि यद्यपि तिष्ठति, मनसो हि भार्या सा, तथापि चञ्चले मनसि वेश्यारते भर्तरीव **हृदि चञ्चले** सति **न स्थीयते**. चाञ्चल्यमात्रे तदनुगुणकार्याकर्तरि तिष्ठेतापि, तदपि नास्तीत्याह **पुत्रानुरागविषम** इति, पुत्रानुरागेण विषमं जातं, यथा जलप्रवाहेण भूमिर्निम्नोन्नता भवति. यथा मालाकारा विद्युत् क्षणमपि न तिष्ठति, दण्डाकारा तु क्षणं दृश्यतेऽपि. अत उक्तं **विद्युत्सौदामिनी यथे**ति, सौदामिनी विद्युदिति प्रत्येकसमुदायाभ्यां वा विद्युद्वाचकम् ॥२७॥

तर्हि यत्नः कथं क्रियते, चित्तवृत्तिनिरोधस्य योगस्य विद्यमानत्वादिति चेत्तत्राह **ईश्वरस्ये**ति.

ईश्वरस्य विधिं को नु विधुनोत्यन्यथा पुमान् ।
भूमेर्भारावताराय योऽवतीर्णो यदोः कुले ॥२८॥

ईश्वरेण कश्चन प्रकारो विहितः एवंप्रकारेणैवैतत् कर्तव्यमिति, **तत्कोऽन्यथा**कर्तुं शक्तः ? एतद्विज्ञानमावापोद्वापाभ्यां परिश्रमेण भवति, तस्मिन् कृते ज्ञायत इति न काप्यनुपपत्तिः. एवं ज्ञात्वा **को** वा **पुमान्** विवेकी समर्थोऽपीश्वरविचारितं प्रकारं **विशेषेण धुनोत्य**पि दूरीकरोति, कम्पितं वा करोति ? नन्वीश्वर उदासीनो, "नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुरि"ति वाक्याद्, अज्ञानेनैव तथाचित्तं जायते नत्वीश्वरस्तथा करोतीति चेत्तत्राह **भूमेर्भारावताराये**ति. भगवान् भूभारहरणार्थमवतीर्णः, अन्यथाऽवतारमेव न कुर्यादतो ज्ञायते भगवता अन्यः प्रकारो विचारित इति. नन्वेतदपि नाङ्गीकर्तव्यं वाक्यविरोधाद्, अतोऽवतारस्य प्रयोजनान्तरमनवतरणं वा कल्पनीयमिति चेन्न, तथा सति शास्त्रवैफल्यात्, सर्वमुक्तिर्वा प्रसज्येत.

प्रकाशः

ईश्वरस्येत्यत्र. **तथाचित्तमि**ति, पुत्रानुरागविषमं चित्तमित्यर्थः. **अन्यथे**ति, यदि प्रकारान्तरं न विचारयेदित्यर्थः. **एतदि**ति भूभारहरणार्थत्वम्. **वाक्यविरोधादि**ति "यदा यदा ही"त्यादिवाक्यविरोधात्. **तथा सती**ति अवतारेणैव धर्मासम्भवे सति.

अतोऽधिकारपरं शास्त्रमित्यपि पक्षे यथा सर्वगुणसंपत्तिर्मयि तथा न कस्यापीति सर्वेषामनाश्वास एव स्यात्. अतो व्यभिचारादीश्वरेच्छा स्वतन्त्रेति वक्तव्यम्. एवमपि शास्त्रवैफल्यमिति चेत्, सत्यम्, न सर्वत्र शास्त्रं प्रमाणं किन्तु क्वचिदेव यत्रेश्वरेच्छा, यथोक्तसाधनेऽप्यजननात्. अतः सर्वत्र शास्त्रमेव प्रमाणं; यदि शास्त्रानुसारेणापि कदाचिन्न भवति तदेश्वरविधिरिति कल्प्यते. यथा मण्यादिप्रतिबन्धे दाहाभावाद् शक्तिः परिकल्प्यते सा अग्नौ मणौ वेत्यत्र वयमुदासीनाः तथा तादृशस्थले ईश्वरेच्छा नियामिकेति ज्ञातव्यम्. ईश्वरत्वादेव न पर्यनुयोगः, लोके च महाराजाज्ञादिषु सामान्यविशेषभावः श्रूयते, सर्वतो निरुपद्रुतेऽपि देशे कस्यचिदुपद्रवो महाराजेच्छया भवतीति. न चैतावता सामान्याज्ञया निष्कण्टकं राज्यं विरुध्यते. अतो निमित्तभूतानस्मदादीन्न मर्यादायां स्थापयतीति युक्तमेव ज्ञातेऽपि शास्त्रे वैषम्यम्, अन्यथा भगवान् **यदोः कुलेऽवतीर्णो** न भवेत् ॥२८॥

एवं भगवन्माहात्म्यं स्मृत्वा भगवन्तं नमस्यति **यो दुर्विमर्शे**ति.

यो दुर्विमर्शपथया निजमाययेदं
सृष्ट्वा गुणान्विभजते तदनुप्रविष्टः ।
तस्मै नमो दुरवबोधविहारतन्त्र-
संसारचक्रगतये परमेश्वराय ॥२९॥

पूर्णो भगवान् कथमवतीर्णः किमर्थं वा अवतीर्ण इति सन्देहं वारयन् नमस्यति **दुःखेनापि विमर्शो** विचारो न यस्येति एतादृशः **पन्था** यस्य. मन्त्रादि वान्यसामर्थ्यपक्षं व्यावर्तयति **निजे**ति. भगवद्धर्माणामपि जिज्ञासा अशक्या यथा मायाया मार्गस्यापि. तत्र भगवतो विमर्शं को वा करिष्यति ? "अलौकिकास्तु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेद्" इति निषेधश्च. एतादृश्या **मायया** लोके कपटत्वेन प्रसिद्धयापीदं प्रसिद्धं जगत् **सृष्ट्वा** तत्र स्वयं सत्यस्वरूपः **प्रविष्टः गुणान्** सत्त्वादीन् उच्चनीचभावेन **भजते** पृथक्करोति. यस्या मार्ग एव न ज्ञायते तया किं कश्चित् कर्तुं समर्थः ? मायासृष्टं वा कश्चित्प्रवेष्टुं, प्रविश्य वा तुल्ये उच्चनीचतां संपादयितुम् ? अतो महानुभावो भगवानिति **तस्मै नमः**. किञ्च श्रुतौ काण्डद्वये पञ्चरात्रे इतिहासपुराणेषु च सहस्रधा सृष्टिर्निरूपिता, अतो केन साधनेन कथमेवं करोतीति **दुरवबोधो विहारतन्त्रः**

प्रकाशः

मोक्षैकप्रयोजनत्वपक्षेऽपि दूषणमाहुः **सर्वे**त्यादि. **अविश्वास** इति शास्त्र इति शेषः. अवतारेणान्यथाबुद्धावपि शास्त्रप्रामाण्यविघाताभावं दृष्टान्तेन साधयन्ति **लोके चे**त्यादि. **निमित्तभूतानि**ति भारहरणनिमित्तभूतान् ॥२८॥

क्रीडापरिकरो यस्य **संसारस्य** तस्य **चक्रं** तस्यापि **गतिर्यस्मात्** तत्र वा गतिर्यस्येति. भगवतः संसारः अहन्तामतात्मकः न लौकिकवद्, इच्छया सर्वं जायत इत्यतो लीलार्थमित्यध्यवसीयते. भगवतोऽवतारा: भगवच्छास्त्रं भगवदीया: पुरुषा: पदार्थाश्च तेषां साधारणोपयोगाभावात् किमर्थं करणमिति नाशङ्कनीयं, दुरवबोधत्वादेव. अतो भगवतः कार्यं जगद् भगवल्लीला वैष्णवप्रकारश्चेति उभयोर्दुर्ज्ञेयत्वात् **परम एवेश्वरो** भगवान् ईश्वरादेवालौकिकात् परमेश्वरः उभयालौकिक इति ॥२९॥

अनेन भगवतः संसारोऽयं; भगवदादयोऽस्मदादयश्च तदिच्छयैव प्रवर्तितुं योग्याः न तु स्वेच्छयेति उपदेशो वा ज्ञानं वा न विचारणीयमिति तूष्णीं सर्वैः स्थातव्यमित्यभिप्रायं बुद्ध्वा ततो निर्गत इत्याह **इत्यभिप्रेत्य नृपतेरभिप्रायमिति.**

॥ श्रीशुक उवाच ॥

इत्यभिप्रेत्य नृपतेरभिप्रायं स यादवः ।
सुहृद्भिः समनुज्ञातः पुनर्यदुपुरीमगात् ॥३०॥

तस्य तद्वाक्यानङ्गीकारे हेतुद्वयमाह **नृपतेरिति स यादव** इति. राजवाक्यमङ्गीकर्तव्यम्; यदुवंशे भगवदवताराद् यादवैश्च सुतरां तदङ्गीकर्तव्यम्, तदुत्कर्ष एवोक्त इति. ततोऽत्रापि लौकिकन्यायेन **सुहृद्भिः** भीष्मादिभिः **सम्यगनुज्ञातो यदुपुरीं** मथुरा**मगात्** ॥३०॥

लेखः

यो दुर्विमर्षेत्यत्र **उभयोरिति**, कार्यकारणयोरित्यर्थः ॥२९॥

॥ इति श्रीमद्दशमस्कन्धीयपूर्वार्ध-विवरणटिप्पणी सम्पूर्णा ॥

प्रकाशः

इत्यभीत्यस्याभासे, **उभयोरिति** मम तव चेत्यर्थः. **उभयालौकिक** इति, मायासंसारालौकिक इत्यर्थः.

॥ इति श्रीपुरुषोत्तमजीकृत-षट्चत्वारिंशाध्यायविवृतिप्रकाशः ॥

शशंस रामकृष्णाभ्यां धृतराष्ट्रविचेष्टितम् ।
पाण्डवान्प्रति कौरव्य यदर्थं प्रेषितः स्वयम् ॥३१॥

॥ इति श्रीभागवत-दशमस्कन्धे षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥

स्वयं केवलमाज्ञाकारी न स्वतन्त्र इति ज्ञापयितुं रामकृष्णयोः स्थाने **शशंस.** धृतराष्ट्रस्य विशेषेण चेष्टितं **पाण्डवान् प्रति** मारणपर्यन्तमुद्योगम्. **ननु** सतामेतदयुक्तमिति चेत्तत्राह **यदर्थं स्वयं प्रेषित** इति, अधिकारिणो नायं दोषः. **कौरव्ये**ति विश्वासार्थम्. **स्वयं प्रेषित** इत्यन्यद्वारापि कथनं व्यावर्तितम्. **अन्येन** पूर्वार्धान्तप्रकरणेनाग्रे भगवतैव कर्तव्यमिति ज्ञापितम्. एतावत्पर्यन्तं न साक्षाद्भगवता किञ्चित्कृतं किन्त्वन्यानुरोधेनैवेति. अतो भगवतो लीलाद्वयमन्यानुरोधेन करणं स्वतःकरणमिति भगवतो भक्तानुरोधो निरूपितः ॥३१॥

इत्येवं भगवल्लीला भक्तविश्वासदायिनी ॥(४)॥
निरूपितातियत्नेन कृष्णपादाम्बुजाश्रया ।
सर्वेषु पुष्टहृदयेषु निवेदयामि मार्गो यदा भगवतो भवतामभीष्टः ॥(५)॥
भक्तिप्रकारसहितो हरिभावयुक्तो ज्ञेयस्तदा विवृतिरेव सदा विचिन्त्या ।
दशमस्कन्धविवृतिः पूर्वार्धे सुनिरूपिता ॥(६)॥
कृष्णपादाम्बुजे न्यस्तः श्रीपुष्पाञ्जलिरुज्ज्वलः ॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीवल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धपूर्वार्धे षट्चत्वारिंशाध्यायविवरणम् ॥

॥ इति षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥

॥ समाप्तं राजसप्रमेयप्रकरणम् ॥

॥ इति श्रीदशमस्कन्धपूर्वार्धम् ॥

॥ प्रथमं परिशिष्टम् ॥

(१) श्रीहरिधनचरणानां स्वतन्त्रलेखः

सकृदधरसुधां स्वां मोहिनीं पाययित्वा
सुमनस इव सद्यस्तत्यजेऽस्मान् भवादृक्
परिचरति कथं तत्पादपद्मं नु पद्मा
ह्यपि बत हृतचेता उत्तमश्लोकजल्पैः॥ (१०।४४।१३)

श्रीमदाचार्यपादाब्ज-परागासक्तिरूपतः।
जातो यः कृष्णचरणे भावस्तेनैव सन्ततम्॥
यथा तथा तापरूपान् आचार्यहृदयोद्गतान्।
भावान् वच्मि तथा तैश्च मयि तुष्यतु मत्प्रभुः॥

यद्वा. ननु कथं भगवति दोषा आरोप्यन्त इत्याशङ्क्याह **सकृद्इति.** भगवता वयं वञ्चिताः तस्याक्रोशः क्रियते. वञ्चनामेवाह **सकृद्इति, सकृद् अधरसुधां** पीत्वा **तत्यजे सुमनसः भवादृगिव.** अत्रायं भावः— दृष्टान्ते पानस्यैव सिद्धत्वाद् दार्ष्टान्तिकेऽपि तथैव कथनमुचितमिति 'पीत्वे'त्यध्याहार्यम्. ननु भवतीभिरपि तदधरसुधा पीतेति तुल्यत्वात् कथमाक्रोश इत्याशङ्क्याह **मोहिनीं स्वां पाययित्वा तत्यजे** इति. अत्रायं भावः— सा सुधा न स्थिता किन्तु मोहिनी स्थिता; तत्पानेन मोहयित्वा अस्मदीयां सुखेन पीत्वा गतः. अन्यथा अस्माभिरेव न दत्ता भवेत्. मोहेन विवेकाद्यपगमात् तथा दत्ता. यद्वा. **स्वां मोहिनीं पाययित्वा अधरसुधां तत्यजे.** अत्रायं भावः— भगवता तासु रसदानसमये तदधराणां सुधारूपतोक्ता, तेनैतासामपि तथात्वं जातम्; तामपि त्यक्तवान्. इतो गृहीत्वा स्वस्मिन्नपि न स्थापितवान् इति हि दुःखम्. गृहीत्वा तत्रापि चेद् रक्षिता स्यात् तदापि न दुःखं स्यात् किन्तु त्यक्तवान्. अयं भावः— अस्मन्निकटेऽपि सा न, तापाधिक्यात् तच्छोषात्. तत्रापि स्वविप्रयोगात् तापेन तच्छोषात् सा न इति व्यज्यते. एतदेव च दुःखं यत् स्वयमपि दुःखितो भवतीत्यर्थः. ननु एतादृशं भगवन्तं लक्ष्मीः कथं सेवत इत्याशङ्क्याहुः नु इति वितर्के. **तत्पादपद्मं पद्मा कथं** सेवते? सापि पद्मा अलौकिकसौन्दर्ययुक्ता पद्मिनी इति यावत्. अत्र उत्तरमाह **उत्तमश्लोकजल्पैः** सा सेवते. अत्रायं भावः— तस्याः मध्यस्था भगवदीयाः तत्सेवोत्तमा इति तदनुरोधेन लक्ष्मीनाथ-रमेशेत्यादिरूपैर्जल्पैः स्वपक्षस्थापनेतरपक्षनिराकरणात्मकैर्हृतचेता भगवान् अतस्तया सेवां कारयति.

सापि हृतचित्ता तथा करोति, अन्यथा अन्यदैन्येन स्त्रीणामन्यविज्ञप्त्या तथाकरणमनुचितमिति भावः. बत इति खेदे. तथादर्शनात् स्वस्यापि हृतचित्तत्वात् मध्यस्थभक्ताभावात् खेदः.

यदि युक्तमयुक्तं वा जीवबुद्ध्या ह्यलेखि यत्।
क्षमन्तु तद् गोपिकेशप्रियाः स्वीयविचारतः ॥

(२) केषाञ्चित् लेखः

श्रीगोकुलनाथो जयति. ''निःस्वम्''इति (१०।४४।७) श्लोकद्वयविवृतौ (पृ. ३३५-३३८) ननुइत्यारभ्य भावइत्यन्तस्य ग्रन्थस्य अयमर्थः प्रतिभाति. व्रजसीमन्तिनीभिः अतिप्रचुरभाववशात् प्रियतमे दोषारोपं विदधतीभिः प्रियकर्तृक-स्वत्यागे सुमनःषट्पददृष्टान्तः श्रीमदुद्धवं प्रति अभिहितः. तत्र एतदुत्तरमुन्मिषे दोषदृष्टान्तो न सामञ्जस्यम् आवहति यत् पुष्पाणि चिरकालरुचिराणि स्वतएव न भवन्ति किन्तु आशुतरविनश्वराणि अतः त्यागयोग्यान्येव. तत्कर्तारः षट्पदा अपि बहवः साधारणा न विशिष्टा इति तत्र साधारणत्व-बहुत्वोपाधिविरह इति तत्त्यागाभावात् तद्दृष्टान्तेन उपालम्भोऽपि नोपपद्यत इत्यतो दृष्टान्तान्तराणि अष्टभिः ''निःस्वम्''इति श्लोकद्वयेन उदीर्यन्ते. न च एतेष्वपि दृष्टान्तेषु बहुत्वसाधारणयोः सत्त्वेन तत्कथनं व्यर्थमिति वाच्यं, प्रथमं तावत् महानसादौ भूयो भूयो धूमं पश्यत् वह्निं पश्यति तेन भूयोदर्शनेन धूमाग्न्योः स्वाभाविकं सम्बन्धम् अवधारयति— यत्र धूमः तत्राग्निः इति. यद्यपि यत्र यत्र मैत्रीतनयत्वं तत्र तत्र श्यामत्वमपि इति भूयोदर्शनं समानं तथापि मैत्रीतनयत्व-श्यामत्वयोः न स्वाभाविकः सम्बन्धः किन्तु औपाधिकएव, शाकाद्याहारपरिणामस्य उपाधेः विद्यमानत्वात्. तथाहि श्यामत्वे मैत्रीतनयत्वं न प्रयोजकं किन्तु शाकान्नपरिणामम् इति भेद एव प्रयोजकः. अन्यथा अमैत्रीतनयस्य श्यामत्वं न स्यात्. प्रयोजकश्च 'उपाधिः' इत्युच्यते. नच धूमाग्न्योः सम्बन्धे कश्चिद् उपाधिः अस्ति यतस्तयोः बहुत्वसाधारणत्वयोः बहुषु स्थलेषु दर्शनात् क्वचित् तदभावमाशङ्क्य सन्दिग्धोपाधित्वमेव साधनीयमस्ति. अतएव दृष्टान्तानन्त्यम्. अन्यथा द्वि-त्रा एव दृष्टान्ता उक्ताः स्युः. एवञ्च यथा श्यामो मित्रातनयत्वाद् इत्यत्र शाकपाकजत्वं शंकितोपाधिः. नच सुमित्रापुत्रेषु श्यामत्वपाकजत्वनिबन्धनस्य उपलम्भेऽपि दशमे तदुपाधिव्यतिरेकेऽपि यदि श्यामत्वम् उपलभ्यते तदा तु शाकपाकजत्वस्य श्यामत्वव्यापकत्वविना उपाधित्वमेव न स्याद्,

उपाधेः साध्यव्यापकत्वात्. यदि दशमे शाकपाकजत्वम् अन्ये अन्यस्मिन् वा तादृशे न श्यामत्वस्य उपलम्भः तदा तु अप्रत्यूहम् उपाधित्वम् इति सन्देहात् तथा अत्रापि बहुषु साधारणेषु त्यागो दृष्ट इति भवति बहुत्वसाधारणत्वयोः उपाधित्वम्. तच्च यदि बहुत्वसाधारणत्व-व्यतिरेकेण अस्मास्वपि त्याग एव भविता तदा न भविष्यति, त्यागाभावे तु भविष्यति इति सन्दिग्धोपाधित्वम्. उपाध्यभावेऽपि अस्मत्त्यागश्चेत् स्वार्थपरत्वेन उपालम्भोऽपि नानुपपन्नः. नच उपाधिसन्देहसाधनदृष्टान्तैः एतासां नावश्यकं, तथा सति त्यागे सन्देहः स्याद् अतः स्वार्थपरत्वेन बहुत्वसाधारणत्वाभावेऽपि त्यागकरणात् सर्वथानिराकरणमेव उचितमिति वाच्यं, तथा सति दोषस्य उपालम्भस्य अचिकित्स्यत्वप्रसक्तिः यतः.

(३) श्रीगोपीलाल-सांचोराकृता भ्रमरगीतयोजना*

"उद्धवागमने जातः उत्सवः सुमहान् यथा वृन्दावने गोकुले वा तथा मे मनसि क्वचित्"इति निरोधलक्षणोक्तप्रकारेण "भगवतोऽग्रे नानोपदेशनिर्बन्धो मुख्यप्रापणार्थं दुःखदूरीकरणार्थं च" इति वेणुगीतसुबोधिनीवाक्यात्. दशमतामसप्रमाणप्रकरणे तामसभक्तानां निरोधः. प्रमेयप्रकरणे राजसानां निरोधो वेणुगीते प्रमेयप्रकरणे यथा तथा भ्रमरगीतोऽपि प्रमेयप्रकरणे. वेणुगीते वेणुद्वारा शब्दात्मक-धर्मिविप्रयोगस्वरूपस्थापनं; भ्रमरगीतेऽपि वेणुरूपोद्धवद्वारा शब्दात्मकधर्मिविप्रयोगस्वरूपस्थापनम्. वेणुगीते त्रिविधाः सुधाः; भ्रमरगीतेऽपि आत्मत्वाद् भक्तवश्यत्वात् सत्यवाक्त्वाद् इति त्रिविधः स्वरूपः. वेणुगीते षड्भिः वेणोः वादनं; भ्रमरगीतेऽपि "अहो यूयं स्म पूर्णा योः" इत्यादिभिः षड्भिः स्तोत्रम्. वेणुगीते "अक्षण्वतां फलमिदम्"; भ्रमरगीते "तदुपपादितं दशधा" इति सुबोधिनीवाक्यात्. श्रीवल्लभकृतलेखे तु "दशधा इति, 'भगवता सह संलापा'दिदशप्रकारैः सदा तद्भावनम् इन्द्रियवतां फलमिति पूर्वम् उपपादितं दशप्रकारकोऽपि इति अर्थः." वेणुगीते प्रमेये मध्यं निरोधो, भ्रमरगीते प्रमेये उत्तमनिरोधः. वेणुगीते लीलात्मकं गुणगानं; भ्रमरगीतेऽपि लीलात्मकं गुणगानम्. "यो बीजावापमारभ्य फलपाकावधिः स्वयं पोषितस्तं व्रजतरुं नाथो नापि जिहासति" इति श्रीमत्प्रभुचरणकृतटिप्पण्याम् उक्तम्. तेन परिपक्वफलरूपं निरोधं भ्रमरगीते सिद्धमिति.

त्रिविधां हि सुधारूपां श्रीकृष्णास्यसरस्वतीं।
रसिकानुभवैः गम्यां वन्देऽहं सुफलात्मिकाम्॥

भ्रमरगीते फलप्रकरणीय-रासलीलायाः स्मरणं तथैव सर्वलीलायाः स्मरणम्. तद् यथा "ताः किं निशाः स्मरति या सुतदा त्रियाभिः वृन्दावने कुमुदकुन्दशशाङ्करम्ये रेमे क्वणच्चरणनूपुररासगोष्ठ्याम् अस्माभिरीडितमनोज्ञकथः कदाचित्". किञ्च "सरिच्छैलवनोदेशो गावो वेणुरवा इमे संकर्षणसहायेन कृष्णेनाचरिताः प्रभोः. पुनः पुनः स्मारयन्ति नन्दगोपसुतं बत. सरिद्वनगिरिद्रोणाः वीक्षयन् कुसुमितान् द्रुमान् कृष्णं संस्मारयन् रेमे हरिदासो रजौकसां. यानि कैशोरबाल्ययोः". रासलीलायां गोपिकानां दशविधानां दशश्लोकानि; भ्रमरगीतेऽपि दशश्लोकानि. यथा गोपीगीते "वितर वीर नस्तेऽधरामृतम् अधरसीधुनाप्यायस्वनः" तथा भ्रमरगीतेऽपि "सकृदधरसुधां स्वां मोहनीं पाययित्वा". "विधिकरीरिमा" तद्वत् "किंकरीणां..." युगले यथा वेणुद्वारा फलात्मकस्वरूपस्थापनं भ्रमरगीतेऽपि तथा दूतसन्देशद्वारा रसात्मकस्वरूपस्थापनम्. मन्मथस्याग्रदूतरूपा वेणुः मन्मथमोहनस्याग्रदूतरूपः उद्धवः. "न पारयेऽहम्"इत्यादिवाक्ये भगवता ताः स्तुताः, भ्रमरगीतेऽपि "एताः परं तनुभृतो" इत्यादिवाक्यैः ताः स्तुताः. यथा महारासे "तासां मध्ये द्वयोर्द्वयोः कृत्वा तावन्तमात्मानं यावती गोपयोषितः रेमे स भगवांस्ताभिः आत्मारामोऽपि लीलया" तद्वद् भ्रमरगीतेऽपि "उद्धवं पूजयाञ्चक्रुः ज्ञात्वात्मानमधोक्षजम्". किञ्च "या मया क्रीडता रात्र्यां वनेऽस्मिन् व्रजमास्थिताम् अलब्धरासा कल्याण्यो मापुर्मद्वीर्यचिन्तया"इत्यादिवाक्यात् स्मरणं सूचितम्.

"गोपिकाविरहव्याज-मनोगतिरतिप्रदः" (श्रीपुरु.सह.ना.). "विशेषेण प्रकर्षेण योगो अहो निरोधो महाफलः प्रियागमनापेक्षया विरहे तद्भक्तागमनोत्सववैशिष्ट्यम्"इतिवाक्यात् "निरोधो यदि भक्तानां स्वस्मिन् स्वस्य च तेषु च तदोभयसुसम्बन्धात् दृढो भवति नान्यथा" (सुबो.). त्रिविधोऽपि निरोधो सिद्धम् इत्यलम्.

इति श्रीमद्दामोदराधरसुधया कृपया हृदयागतं किञ्चित् निरूपितम्

---

*गोस्वामितिलकायित-श्रीगोवर्धनलालात्मजश्रीदामोदरलालसेवकाः तेषां मुखादेव नित्यं सुबोधिनीकथाश्रवणपरायणाः च एते पूर्वं भगवतः श्रीगोवर्धनधरप्रभोः भोगसामग्रीसम्पादने नियुक्ताः 'गोपीलालजी सांचोरा' इति नाम्ना प्रसिद्धाः अभूवन्. पश्चात् प्रपञ्चविरक्तिपूर्वकभगवदैकानुरक्ताः सन्तः जतिपुराग्रामे नित्यं सुबोधिनीमननोपदेशपरायणाः भूत्वा न्यवसन् इति श्रूयते.

॥ द्वितीयं परिशिष्टम् ॥

आद्यसम्पादकोंकी प्रस्तावनाएँ

शास्त्रि म. ग. स्मारकमालायां द्वितीयो ग्रन्थाङ्कः ।

॥ श्रीमदखण्डभूमण्डलाचार्यवर्यश्रीकृष्णवदनविरहवैश्वानरावतार-

श्रीश्रीमद्वल्लभाचार्यप्रादुर्भावितायां

श्रीमच्चतुर्थप्रस्थानश्रीमद्भागवतशास्त्रनिरोधलीलाप्रतिपादक —

श्रीदशमस्कन्धसुबोधिन्यां

तार्तीयीकराजसप्रकरणावान्तरप्रथमप्रमाणप्रकरणं त्रयस्त्रिंशाध्यायादारभ्य
एकोनचत्वारिंशाध्यायपर्यन्तं लेखसहितं

श्रीपत्तननिवासिवैष्णवत्रिलोकचन्द्र(तलकचन्द)चोकसीपुत्रयमुनादास(जमनादास)-
स्मारकत्वेन तत्सुपुत्रगोरधनदासस्यार्थसहायेन

श्रीपत्तनस्थशाहोपनामकनगीनदासतनुजनुषा 'बी.ए.एलएल्.बी.' इतिपदभाजा
भगवद्दासानुदासवाडीलालेन संशोध्य

मुम्बापुर्यां
निर्णयसागरमुद्रणालये मुद्रयित्वा प्राकाश्यं नीतम् ।

श्रीमद्वल्लभाब्दः ४६०. या ४६६. | मूल्यं मुद्रा । | वैक्रमसंवत् १९९५.

Edited & Published by Vadilal Nagindas Shah, B.A., L.L.B.,
64-66-68, 3rd Bhoiwada, Bombay 2.
Printed by Ramachandra Yesu Shedge at the Nirnayasagar Press,
26-28, Kolbhat Street, Bombay.

નિવેદન.

પરમ ભગવદીય ગો. મગનલાલ શાસ્ત્રીજી અને ગો. મૂલચંદ તેલીવાલા, નિત્યલીલાસ્થ તિલકાયિત શ્રીગોવર્ધનલાલજી, શ્રીજીવણલાલજી તથા શ્રીગોકુલનાથજી તરફથી અદ્યાવધિ પ્રાપ્ત શ્રીસુબોધિનીજી આ પ્રકરણ સિવાયના મુદ્રિત થઈ ગયા છે. કેવલ આ એક જ રાજસ પ્રમાણ પ્રકરણ બાકી રહી ગયું હતું અને તેને પ્રકટ કરવાની પ્રાતઃસ્મરણીય ગો. શાસ્ત્રીજીની અત્યુત્કટ ઈચ્છા હતી. તેમના સકલ વૈષ્ણવ સમાજ ઉપર ઘણા ઉપકાર હતા અને મારાપર તો તેમની અતીવ કૃપા હતી. એક ભ્રાતા અને મિત્રના સ્નેહથી જ મારી પ્રતિ વર્તતા. તેમના સ્મરણમાં તેમની ઈચ્છા જ પૂર્ણ થાય એ હેતુથી એ કાર્ય મેં આરંભ્યું અને પ્રભુકૃપાથી અતિ વિલંબે પૂર્ણ પણ થયું.

અત્ર એટલું તો સ્પષ્ટ કરવું જોઈએ કે પૂર્ણ પુરુષોત્તમ પૂર્ણાનન્દ રાસેશ રસરૂપ ભગવાન્ કૃષ્ણનું પ્રાકટ્ય સર્વોદ્ધારાર્થ હતું, તેવી જ રીતે શ્રીમદ્ભાગવતનું પ્રાકટ્ય પણ સર્વોદ્ધારાર્થ છે. શ્રીમદ્વલ્લભાચાર્યનું પ્રાકટ્ય પણ સર્વોદ્ધારાર્થ છે. સર્વોદ્ધારના હેતુથી જ શ્રીમદ્ભાગવતનો ગૂઢાર્થ શ્રીસુબોધિનીજી અને ભાગવતાર્થ નિબંધદ્વારા તેઓશ્રી પ્રકટ કરે છે.

શ્રીમદ્ભાગવત ઉદ્ઘોષ કરીને સ્પષ્ટ આજ્ઞા કરે છે કે જેને અભયની ઈચ્છા હોય તેણે હરિ, ભગવાન્, ઈશ્વરનું શ્રવણ, સ્મરણ અને કીર્તન કરવું. અર્થાત્ તેમના ગુણ તેમના ચરિત્ર તેમની લીલાને પ્રતિપાદન કરનાર સ્વરૂપાત્મક રસરૂપ શ્રીમદ્ભાગવતનું શ્રવણ, સ્મરણ અને કીર્તન કરવું અને ભાગવતરસનું પાન કરવું અને તે યથાર્થ થાય તેને માટે શ્રીસુબોધિનીજી તથા ભાગવતાર્થ નિબંધનો પણ સમ્યક્ આશ્રય કરવો.

શ્રીમદ્ભાગવત ઉપરની ઉપલબ્ધ સર્વ ટીકાઓમાં શ્રીસુબોધિનીજી સર્વાંશે શ્રેષ્ઠ અને વિલક્ષણ ટીકા છે એમ તટસ્થ વાચકને પણ લાગ્યા વિના રહેશે નહિ.

આવા કરાલ કલિકાલમાં કોઈ પણ ધર્મ નિરાબાધ સિદ્ધ થઈ શકે તેમ નથી, તેથી પણ નિજ શ્રેય ઈચ્છનાર સર્વજનને ભગવાન્‌નો અને ભગવદ્રૂપ ભાગવતનો આશ્રય કર્યા વિના ગત્યન્તર જ નથી. ભગવાન્‌ની ભક્તિમાં, તેના શ્રવણ, સ્મરણ, કીર્તનમાં પ્રભુસ્નેહ અને અભયેચ્છા સિવાય અન્ય યોગ્યતાની આવશ્યકતા નથી. શ્રીમદ્ભાગવત જ ઉદ્ઘોષ કરીને કહે છે કે ભગવાન્‌ની ભક્તિવાળો શ્વપચ-ચાંડાલ તે ભક્તિરહિત દ્વાદશગુણસહિત વિપ્રથી ઉત્તમ છે. ભગવદ્ભક્તિ શ્વપચ જેવા મનુષ્યને પવિત્ર કરે છે એટલું જ નહિ પરંતુ ગજેન્દ્ર, ગાય, હરિણ વગેરે ઇતર પ્રાણીને, દેવને, અસુરને, યક્ષને, ગંધર્વ કિરાત હૂણ વગેરે સર્વને પણ પવિત્ર કરી પરમ ફલનું દાન કરે છે. શ્રીમદ્ભગવદ્ગીતામાં પણ શ્રીમુખે ભગવાને આજ્ઞા કરી છે કે મારો આશ્રય કરીને સ્ત્રીઓ વૈશ્યો તથા શૂદ્રો પરમ ગતિને પામે છે. અર્થાત્ ભગવદ્ભક્તિ અને ભગવત્પ્રપત્તિ જ સર્વ વિશ્વનો ઉદ્ધાર કરવાને સમર્થ છે અને તેમાં જ સકલ વિશ્વનો અધિકાર છે. તેથી જ ભગવદ્ભક્તિ અને પ્રપત્તિના પાયા ઉપર સ્થપાયેલા ધર્મો અને માર્ગો જ વિશ્વધર્મ થવાને યોગ્ય છે અને તે ધર્મો અને માર્ગોના સ્થાપકો અને ઉપદેશકો જ સમગ્ર વિશ્વના આચાર્ય-ગુરુ થવાને યોગ્ય છે. તેમાં સકલ વિશ્વની મુસાફરી કરવાની આવશ્યકતા રહેતી નથી, કે સંન્યાસની પણ આવશ્યકતા રહેતી નથી, પરંતુ સકલ જીવના ઉદ્ધારને માટે પ્રયત્ન કરવાની આવશ્યકતા રહે છે. સર્વમાન્ય જગદ્ગુરુ ભગવાન્ કૃષ્ણે ન તો સકલ જગતની મુસાફરી કરી કે ન તો સંન્યાસ આશ્રમનો અંગીકાર કરીને ઉપદેશ કર્યો.

ભગવાન્ અને તેની ભક્તિ લોકવેદાતીત છે. વેદમાં વેદ્ય તો તે જ ભગવાન્ હોવા

છતાં ન તો વેદોથી તપથી કે ઇતર સાધનથી તેનું યથાર્થ જ્ઞાન થતું કે તેની પ્રાપ્તિ થતી. તે તો કેવલ તેની અનન્ય ભક્તિથી જ અને પ્રપત્તિથી જ ગમ્ય અને પ્રાપ્ય છે. આ સત્ય શ્રીમદ્ભાગવત અને શ્રીમદ્ભગવદ્ગીતા સ્પષ્ટતાથી વારંવાર પ્રતિપાદન કરે છે.

તેથી જ ભગવાન્ અને ભક્તોના ચરિત્ર સમજવામાં લૌકિક દૃષ્ટિ કે વૈદિક દૃષ્ટિ કામ નથી આવતી પરંતુ અલૌકિક ભગવદ્દત્ત ભક્તિ-સ્નેહ-પ્રેમદૃષ્ટિ જ કામ આવે છે એ સમજવું, સર્વને અને મુખ્યતઃ ભક્તને વૈષ્ણવને તો અત્યાવશ્યક છે. ઉપદેશકર્તાઓએ પણ એ દૃષ્ટિથી જ નિજજનોને ઉપદેશ કરવો યોગ્ય છે. આ દૃષ્ટિથી જ વિચાર કરવામાં આવશે ત્યારે જ સમજાશે કે ભાગવતના વક્તા સૂત કેમ અને તેના શ્રોતા શૌનકાદિ મુનિઓ કેમ? પરમ કૃપાલુ શ્રીવિઠ્ઠલેશ પ્રભુની કથાના મુખ્ય અધિકારી અલીખાન પઠાણ કેમ? બ્રાહ્મણાદિ વર્ણનો જ્યાં સુધી અભિમાન રહે છે ત્યાં સુધી ભગવાનની ભક્તિ કે પ્રપત્તિ થઈ શકતી જ નથી. ભક્તિમાં વર્ણાદિનો અભિમાન ત્યાગી ભગવદીય થવાની આવશ્યકતા છે, પુંસ્ત્વનો અભિમાન ત્યાગી ભગવત્પ્રપન્ન થવાની આવશ્યકતા છે. આ સર્વ કથનનો આશય ગમે ત્યાં ખાન-પાન અને ગમે તેને મંદિર-પ્રવેશ કરાવવાનો નથી પરંતુ એજ સ્પષ્ટ પ્રતિપાદન કરવાનું છે કે ભગવદ્ભક્તિ અને પ્રપત્તિમાં સર્વજનનો અધિકાર છે અને તેમાંએ દીન-હીન એવા વર્ગનો તો વિશેષ છે પરંતુ તે ઉદરાર્થી-અર્થાર્થી નહિ પરંતુ અભયેચ્છુ અને ભગવત્પ્રાપ્તિની ઇચ્છાવાળો હોવો જોઈએ. અને આવા ભક્તિમાર્ગના સ્થાપક શ્રીમદ્વલ્લભાચાર્ય હોવાથી 'સ્રીશૂદ્રાદ્યુદ્ધૃતિક્ષમઃ' એવું પણ આપશ્રીનું નામ છે. અસ્તુ.

આ ગ્રન્થનું મુદ્રણ શ્રીસુબોધિનીજીની ચાર હસ્તલિખિત પ્રતિ પરથી અને લેખની ત્રણ હસ્તલિખિત પ્રતિ પરથી કરવામાં આવ્યું છે.

શ્રીસુબોધિનીજીની ત્રણ હસ્તલિખિત પ્રતિ શ્રીગટ્ટૂલાલાજીની સંસ્થાના ટ્રસ્ટી ભાઈ હીરજીભાઈ તરફથી મળી હતી જેમાંની એક પ્રેસકોપી તરીકે મળી હતી. પ્રાયઃ એ ત્રણે પ્રતિ અશુદ્ધ હતી. પરંતુ એટલું તો સ્પષ્ટ કહેવું જ જોઈએ કે એ પ્રતિઓ મળ્યા વિના મુદ્રણનું કાર્ય જ શરૂ થઈ શક્યું ન હોત. ચતુર્થ પ્રતિ ડભોઈથી ભાઈ મોહનલાલદ્વારા પ્રાપ્ત થઈ હતી તે પ્રાયઃ શુદ્ધ હતી. તે પ્રતિ પ્રથમ ફોર્મ મુદ્રિત થઈ ગયા પછી મળી હતી. ખાસ કરીને તેના ઉપર જ આ ગ્રન્થ મુદ્રિત કરવામાં આધાર રાખવામાં આવ્યો છે. બીજી પ્રતિઓ પ્રાપ્ત કરવા પ્રયાસ કરવામાં આવ્યો હતો પરંતુ તેમાં નિષ્ફલતા મળી હતી. હરીચ્છા. વૃન્દાવનવાળી આવૃત્તિની સહાય પણ લેવામાં આવી હતી પરંતુ પ્રાયઃ તે અશુદ્ધ માલૂમ પડી હતી. એક પરિષદ્ની ને બે પં.શ્રીગટ્ટુલાલાજીની સંસ્થાની ભાઈ હીરજીભાઈ તરફથી એમ લેખની ત્રણ હસ્તલિખિત પ્રતિ મળી હતી. ત્રણે પ્રાયઃ અશુદ્ધ હતી. પરિષદ્ની પ્રતિનો પ્રેસ-કોપી તરીકે ઉપયોગ કરવામાં આવ્યો હતો.

મૂલ પ્રતિમાં જ્યાં જ્યાં સંધિ કરવામાં આવી ન હતી ત્યાં ત્યાં સંધિ કરવામાં આવી નથી. કેટલેક સ્થલે વાચકને સરલ પડે માટે મૂલમાં સંધિ હશે તેનો વિગ્રહ કરવામાં આવ્યો છે.

પ્રેસકોપી અને પ્રુફ બને તેટલી કાળજીથી શોધ્યાં છે. પ્રત્યેક અંતિમ પ્રુફ ભગવદીય શાસ્ત્રીજી કલ્યાણજીભાઈએ તથા ભગવદીય ભાઈ મંગલદાસભાઈએ પણ કૃપા કરીને તપાસ્યાં છે. નિર્ણયસાગર પ્રેસના શાસ્ત્રીજીએ પણ પ્રેસના નિયમ પ્રમાણે પ્રુફો જોયાં છે. ક્વચિત્ પ્રો.ગોવિંદલાલભટ્ટે પણ પ્રુફ જોયાં છે. ભાગવતના શ્લોકોનાં પાઠ યથાબુદ્ધિ શ્રીસુબોધિનીજીના અનુસારે આપવા પ્રયાસ કર્યા છે. બંને પરિશિષ્ટો ભગવદીયભાઈ મંગલદાસે તૈયાર કર્યા

છે અને તેના સઘળાં પ્રુફો તેમણે જ તપાસ્યાં છે.

ગો. શાસ્ત્રીજી મગનલાલના સમાગમથી જ અને પ્રભુકૃપાથી જ આ કાર્ય કરવાને હું સમર્થ થયો છું. એ પણ મારે અત્ર સ્પષ્ટ કહેવું જોઈએ કે મારામાં જે કાંઈ વૈષ્ણવ સંસ્કાર છે તેનું કારણ મારા પૂજ્ય માતા પિતા હતા અને તેના વિકાસનું કારણ ગો. શાસ્ત્રીજી મગનલાલ હતા.

મારા પિતાશ્રીનો સામાન્ય ઉપદેશ એ જ હતો કે કોઈનુંએ શત્રુનુંએ બને તો ભલું કરવું પરંતુ કોઈનુંએ બુરું કરવું નહિ, અને દેવદ્રવ્ય અને ગુરુદ્રવ્ય કદાપિ ગ્રહણ કરવું નહિ.

આ મુદ્રણકાર્યમાં જે કાંઈ સારું લાગે તેનું માન ગો. શાસ્ત્રીજી મગનલાલને છે અને તેમાં જે કાંઈ સ્ખલન દેખાય તેનો દોષ મારો છે અને તેને માટે વાચકવર્ગ મને ઉદાર હૃદયે ક્ષમા કરશે એવી હું આશા રાખું છું.

ભગવદીય જમનાદાસ તલકચંદ ચોકસીના સ્મરણાર્થે તેમના સત્પુત્ર ગોરધનદાસે આ ગ્રન્થ-મુદ્રણનું ખર્ચ આપ્યું છે. ભગવદીય જમનાદાસે તેમના આ લોકની અસ્તિત્વમાં પણ નિજ નામ પ્રસિદ્ધ કરાવ્યા વિના દશમપૂર્વાર્ધતામસપ્રમેય તથા સાધનપ્રકરણના શ્રીસુબોધિનીજી તથા રૂપપ્રકરણાન્તર્ગત પ્રકાશ એમ ત્રણ પુસ્તક પ્રસિદ્ધ કરવાનો ખર્ચ આપ્યો હતો. ભગવદીય જમનાદાસની તેમના અંતિમ પંદર વર્ષની દશા નિરુદ્ધ હતી. લૌકિક વ્યાવૃત્તિનો તદ્દન ત્યાગ કર્યો હતો. સઘળો સમય સેવા, ભગવદ્દર્શન, પ્રભુકથા અને શ્રીસુબોધિનીજીનું શ્રવણ અને પ્રભુસ્મરણમાં જ વ્યતીત કરતા. ગો. શાસ્ત્રીજીની કથામાં નિરંતર છેલ્લા ૩૫ વર્ષથી નિયમિત હાજર રહેતા. પછી ભગવદીય મંગલદાસની દરરોજની દરેક સમયની કથામાં પણ હાજર રહી ભગવત્કથાનું શ્રવણ કરતા પાન કરતા. લૌકિક વ્યાવૃત્તિની ધુરા તેમના પુત્ર ગોરધનદાસને જ સોંપી હતી. પોતાની દુકાને એક દિવસ પણ તે સમયમાં કામે બેઠા નથી. પ્રભુની સેવા પણ અનુરાગપૂર્વક કરતા. તેઓ લૌકિક સંબંધે મારા શ્વસુર થતા પરંતુ મારી સાથે કેવલ વૈષ્ણવસંબંધ જ રાખતા કે જે સંબંધ લૌકિકસંબંધ થયા પૂર્વેનો હતો. શાસ્ત્રીજી સાથે મારો સમાગમ કરાવનાર પણ તેઓ જ હતા. વ્રજપરિક્રમા-શ્રીનાથદ્વાર વગેરે યાત્રા પણ સહકુટુંબ ભાવપૂર્વક કરી હતી.

ઉપરોક્ત કારણથી પંડિત ગટ્ટૂલાલજીની સંસ્થાનો, તેના ટ્રસ્ટી હીરજીભાઈનો, ડભોઈવાળા મોહનલાલભાઈનો, શાસ્ત્રીજી કલ્યાણજીભાઈનો, ભગવદીય ભાઈ મંગલદાસનો, પ્રો. ગોવિંદલાલનો, વૃન્દાવનની આવૃત્તિ પ્રસિદ્ધ કરનાર શ્રીનિત્યસ્વરૂપ બ્રહ્મચારીનો, ગોરધનદાસનો, નિ.સા.પ્રેસનો, તેના મેનેજરનો અને શાસ્ત્રીનો અંતઃકરણપૂર્વક ઉપકાર માનું છું.

મારા તનુથી, ગો. ભગવદીય જમનાદાસના વિત્તથી અને ગો. ભગવદીય મગનલાલ શાસ્ત્રીજીના મનોરથથી પ્રસિદ્ધ થએલી સર્વોદ્ધારક અખિલ ભૂમંડલાચાર્ય શ્રીમદ્ વલ્લભાચાર્યજીની કૃતિ તેઓશ્રીના દ્વારા પૂર્ણ પુરુષોત્તમ કૃષ્ણચંદ્રના ચરણકમલમાં સાદર સપ્રેમ સમર્પણ કરું છું.

ડોલમહોત્સવ,
સંવત્ ૧૯૯૫.

ભગવદ્દાસાનુદાસ
વાડીલાલ નગીનદાસ શાહ.

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीसुबोधिनी ।

(श्रीमद्भागवत-दशम-पूर्वार्ध-राजस-प्रमेय-प्रकरणम्)

(अध्यायाः ४०-४६)

श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणप्रणीता ।

(दशदिगन्तविजयिश्रीमद्गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरण-
प्रणीतप्रकाशश्रीविठ्ठलेशात्मजश्रीवल्लभकृतलेखसमेता)

विद्याविलासिश्रीनाथद्वाराधीशश्रीमद्गोस्वामिकुलतिलकश्रीमद्गोव-
र्धनलालजीमहाराजचरणानां द्रव्यसाहाय्येन 'प्राप्तभगवत्पद-
मूलचन्द्र तुलसीदास तेलीवाला बी.ए., एल्.एल्. बी.,
वकील, हाइ कोर्ट' इत्येतेषां सुहृद्भिः संशोध्य
'गुजराती न्यूस' मुद्रणालये
मुद्रयित्वा प्रकटीकृता ।

श्रीवल्लभाब्दाः ४५०. संवत् १९८५.

मूल्यं रुप्यकत्रयम् ।

EDITORS' NOTE

By the grace of God, we have been able to complete this राजसप्रमेयप्रकरण, begun by our departed friend Mr. Mulchandra Teliwala. Only one form was printed during his life-time, so practically the whole of the work has been done by us. The materials were all collected by him, so our work was much facilitated. गोस्वामितिलकायित महाराज श्रीगोवर्धनलालजी and लालबावा श्रीदामोदरलालजी both of them desired that the work should be continued by us - the colleagues of the departed scholar, and we are thankful to them for thus allowing us to render whatever service we can to the cause of publication of साम्प्रदायिक literature.

We have tried to make this प्रकरण as complete as possible. It seems श्रीपुरुषोत्तमजी wrote his प्रकाश on this प्रकरण from 43rd अध्याय only, and we have printed it just below सुबोधिनी and above लेख. The portion of श्रीगुसांईजी's टिप्पणी on this प्रकरण has been also incorporated here to facilitate reference. श्रीहरिरायजी's and श्रीव्रजराजजी's writings have been put in the appendix. निबन्ध, योजना, अनुक्रमः, अध्यायार्थः, विभागसूचिका etc. are also printed as in previous publications. The टीपिका of हरिकृष्णपाहाड shows what pains were taken by him to understand the various commentaries. We have with us three manuscripts of the टीपिका of the 44th अध्याय, and the corrections, alterations and additions made in them by the author show what tremendous efforts were made by him to understand the text and write his commentary, though he had not studied grammar, as he says. The original manuscript of the 43rd अध्याय was not found in the collection at the time of printing, and hence we had to depend upon the press-copy only, which was carefully written by one of us. His grammar is undoubtedly very faulty and style very clumsy, but we are sure his labour will be useful to many a devout reader in understanding the text and the various commentaries. This हरिकृष्णपाहाड has also written टीका on the seven श्लोकs beginning with भजतोनु (१०।२१।१६-२२) in तामसफलप्रकरण which has also been printed by मूलचन्द्र, and the fact that this हरिकृष्णपाहाड has written टीका on two of the most difficult portions shows that he must be

a constant and devout reader of सुबोधिनी.

A comparison of तामस, राजस and सात्त्विक प्रमेयs will immediately show the superiority of तामसभाव over others, which clearly illustrates how तामसपुष्टिभक्तास are superior to राजस and सात्त्विक. The reason is plain. The source of तामसभाव is आनन्द, that of राजस is चित् and that of सात्त्विक is सत्. The वस्तु of भ्रमरगीत itself is very charming. ज्ञानी उद्धव, a devout friend of कृष्ण Himself goes to व्रज to teach ज्ञानमार्ग to the ignorant व्रजांगनाs, and he delivers his message to them, but when he realises the condition in which they spend their life "अन्तर्निष्ठा वा विरहो वा, द्वयमेव, न तु तासामन्या लौकिकी अवस्था" he bows down to them with reverence, ज्ञान prostrates itself before भक्ति, and sings his गीत, one of the most beautiful passages in श्रीमद्भागवत. The different standpoints from which these great commentators interpret the text, the comparison of the messenger श्रीउद्धव with काल by श्रीमद्वल्लभाचार्य, the पूर्वपक्षसमाहति of श्रीविट्ठलेश, the depth of रस of श्रीहरिरायजी and श्रीव्रजराजजी make the reading of this प्रकरण very delightful, though difficult. The relative values of ब्रह्मवाद, आधिदैविकवाद, भेदवाद and मायावाद are clearly brought out in श्रीसुबोधिनी and प्रकाश on 10/43/13 which may be particularly noted.

We have to thank पं. गट्टूलालजी's संस्था for putting at our disposal the Manuscript Library and the Library Room, where we could do our work peacefully, and for giving us all facilities in doing our work. The press-copy of this प्रकरण, very neatly prepared, was secured by मूलचन्द्र from गोस्वामिश्रीगोकुलनाथजी, and our thanks are due to him for his liberality in supplying the same. पंडितबालशास्त्रीजी helped us, when he was in Bombay, for a few days, in preparing the press-copy of निबन्धयोजना of this प्रकरण from two very incorrect manuscripts which were in our possession, and we thank him heartily for the same. पंडित पुरुषोत्तमशास्त्री also assisted us in correcting a few proofs of पाहाड़'s टीपिका, for which our thanks are due to him. Prof. Maganlal Shastri M.A. always willingly helped us whenever we approached him to solve our difficulties, for which we are in deep debt of gratitude to him. Our friend Mr. Vadilal Shah deserves our thanks for helping us in correcting proofs. Thakkar Vallabhdas Morarji Morparia rendered us valuable help in preparing श्लोकसूचि and often in correcting proofs for which we

thank him. The funds for the publication of this प्रकरण have been provided by गोस्वामितिलकायितमहाराजश्रीगोवर्धनलालजी and लालबाबाश्रीदामोदरलालजी and the सम्प्रदाय will always remain indebted to them for thus helping the publication of this most valuable literature, which we have no doubt will attract the attention of the philosophic and literary world when published. And finally we thank शास्त्री कल्याणजी कानजी who has rendered us fullest help very willingly in correcting proofs, in discussing doubtful points and generally in all our work.

We have rendered this सेवा with great devotion and utmost delight, and with feelings of joy we offer this fruit of our labour of love at the Lotus Feet of Lord Shri Krishna.

प्रबोधिनी
१९८५

DHIRAJLAL VRAJDAS SANKLIA
JAMNADAS KANJI MORPARIA
HIRALAL MULJI
GOVERDHANDAS PRAGJEE
PURSHOTTAM KANJI MORPARIA

॥ तृतीय पाराशष्टम् ॥

। एतत्प्रकरणगतकारिकानां सूचिः ।

कारिका	स्थलं	पृष्ठं
प्रमाणप्रकरणम्		
अक्रूरेण च संवादो	३६।२	६२
अतः फलार्थं लीला	३४।५	१९
अतो न गोकुले चिन्ता	३४।६	१९
अतोऽरिष्टवधो हेतुः	३३।१३	३
अनिष्टेष्टप्रदो लोके	३८।४	१०४
अन्तस्तोषस्तथा भक्तिः	३६।८	८६
अरण्य एव तद्वृद्धिः	३५।६	५६
अलङ्करणचिह्नानि	३६।७	८६
अलौकिकं लौकिकं हि	३९।२	१२७
अविवेको दुरात्मत्वं	३६।५	६९
अष्टत्रिंशे ज्ञाततत्त्वं	३८।१	१०४
असम्बद्धाः पूर्वमुक्ताः	३३।३	२
आध्यात्मिको रुद्ररूपः	३९।६	१२८
आनन्दचित्सता रूपम्	३४।१०	२५
उत्सवे तु यथा रोधः	३८।३	१०४
उद्यमो मानता यातः	३३।६	२
एकोनचत्वारिंशे तु	३९।१	१२७
एवं सप्तभिरध्यायैः	३३।११	३
ऐश्वर्यं श्रीस्तथा ज्ञानं	३५।३	४२
कलाभिः साधिकैराद्यः	३३।१६	४
कालमात्रमुवाचेति	३४।६	१९
कालोऽपि विपरीतोभूत्	३९।७	१२८
कृतं तु भगवानेव	३४।११	२५
गुणातीतस्वरूपेण	३३।१	१
गोपनार्थं परीक्षोक्ता	३८।२	१०४
चतुस्त्रिंशे प्रेषितस्य	३४।१	१९
चत्वारोऽर्थाः क्रमादुक्ता	३६।४	६२
तत्त्वसङ्ख्यैरथाध्यायैः	३३।४	२
ततोऽन्ते ज्ञानभक्ती	३४।१२	२६
ततोऽवतारकार्यस्य	३४।८	२५
त्रयस्त्रिंशे ततोऽध्याये	३३।१५	४
त्रिविधोऽन्ये फलांशे हि	३३।७	२
द्वारप्राकारपरिखा-	३८।८	११२
न कालनियमोऽन्यत्र	३३।८	२
न निवर्तत इत्युक्त्वा	३९।४	१२७
नारदो द्विविधो ह्यत्र	३३।९	३
पञ्चत्रिंशे भक्तिमार्ग-	३५।१	३८
प्रद्युम्नरूपो भगवान्	३३।२	१
प्रपञ्चविस्मृतिः सर्वा	३८।५	१०४
प्रमाणानां फलं ह्येतत्	३९।५	१२७
प्रसन्नो ह्यन्यथा	३८।६	१०६
प्रेमार्थबोधिका गोप्यो	३३।१०	३
बन्धूनां तु सुखं दत्वा	३३।५	२
बोधितश्चेद् हरिर्लीलां	३४।४	१९
मनोरथस्य सिद्ध्यर्थं	३६।३	६२
यस्य यस्य यथा भावः	३७।४	८८
राजसस्तामसश्चैव	३६।६	७३
राजसे स्तोत्रकर्तायं	३७।३	८८
लौकिकालौकिकत्वेन	३९।३	१२७
वधे न जाते नागच्छेद्	३४।३	१९
षट्त्रिंशे भक्तकृपया	३६।१	६२
स्वरूपतो द्रव्यतश्च	३८।७	११२
स्वरूपेण प्रमाणेन	३७।२	८८
स्वरूपं च वयश्चैव	३५।४	५५
स्वापराधनिवृत्त्यर्थं	३४।७	२५
सप्तत्रिंशे तु सन्तुष्टः	३७।१	८८
सात्त्विकं तामसं चैव	३३।१४	३
सात्त्विकश्चेदभिमुखः	३५।२	३८
साधनं च फलं तस्य	३३।१२	३
सामान्येन कृतं द्वेधा द्वाभ्यां	३४।९	२५
सौन्दर्यं च तथा पुष्टिः	३५।५	५६
हेतुकार्यफलान्यत्र	३४।२	१९

प्रमेयप्रकरणम्

अक्रूर उद्धवान्मुख्यः	४५।४	४८३
अथवा ते पुनर्वाच्याः	४१।५	१६६
अन्यथा ज्ञानसन्देशो	४४।५	३२२
अन्यथा भगवत्कार्यम्	४६।४	५०८
आकृतिर्निश्चयश्चैव	४४।७	३२५
आश्रयत्वाच्च कर्तृत्वात्	४४।११	४०१
इत्येवं भगवल्लीला	४६।४	५२५
ईश्वरः सर्वहितविद्	४५।१०	४९२
ईश्वरस्य कृतौ वाचि	टिप्पणी	४३२
एकचत्वारिंशत्तमे	४१।१	१६६
एतान् दर्शयितुं भावान्	४०।११	१५३
एवं पूर्वनिरोधस्य	४५।१	४८३
एवमासक्तिसिद्धौ	४०।४	१४५
कृष्णपादाम्बुजे न्यस्तः	४६।७	५२५
गुणा नवविधा प्रोक्ताः	४०।८	१५२
गोपिकानां ततो वाच्यः	४३।२	२२१
चत्वारिंशत्तमेऽध्याये	४०।५	१४५
चतुश्चत्वारिंशेऽध्याये	४४।१	३२०
ततो दोषनिवृत्त्या	४४।६	३२५
तत्पादरजसागत्य	टिप्पणी	३२०
तत्राप्यनन्यता तासां	४४।८	३९२
त्रिचत्वारिंशकेऽध्याये	४३।१	२१८
तदीयत्ववशात्	टिप्पणी	४३२
दशभिः स्तुतिरुक्ता हि	४५।७	४९२
दशमस्कन्धविवृतिः	४६।६	५२५
दानं च प्रीतिसंसिद्ध्यै	४२।५	२०३
दोषाणां मूलभूतस्य	४४।१०	४००
द्रष्टॄणां च तथा पित्रोः	४०।३	१४५
न दत्तं पूर्वं गोपीभ्यः	४५।९	४९२
निरूपितातियत्नेन	४६।५	५२५
निवर्तयति कामांस्तान्	४५।११	४९२
पञ्चचत्वारिंशेऽध्याये	४५।६	४८४
पाण्डवैर्ज्ञापिताशेषो	४६।३	५०८
पित्रो राज्ञस्तथान्येषाम्	४२।२	१९१
प्रतिबन्धनिवृत्त्यर्थम्	४१।३	१६६
प्रपञ्चो विस्मृतः सर्वैः	४०।२	१४५
प्रमाणं च प्रमेयं च	४३।३	२३१
प्रमेयेण निरोधोऽत्र	४०।६	१५२
फलं जीवेऽपि येनैषा	४४।१२	४०१
बलं शिक्षा च माया च	४१।६	१६७
बलक्षयाय लीलापि	४१।२	१६६
बोधिता ज्ञानकथनात्	४१।४	१६६
भक्तिप्रकारसहितो	४६।६	५२५
भगवत्प्रेषितोऽक्रूरः	४६।२	५०८
मथुरावासिनः सर्वे	४५।२	४८३
यस्य भावो यथा लोके	४०।७	१५२
याते कृष्णे लोकरीत्या	४४।२	३२१
यो बीजावापमारभ्य	टिप्पणी	४३२
राजसत्वप्रसिद्ध्यर्थं	४५।३	४८३
राजसास्त्रिविधाः पूर्वम्	४०।९	१५३
रौद्रोऽद्भुतश्च शृङ्गारो	४०।१०	१५३
वस्तुनो निश्चयः पूर्वम्	४४।४	३२२
विविधापराधकूटक्षमा	टिप्पणी	३२०
शब्दस्य हि बलं पूर्णम्	४०।१	१४५
षट्चत्वारिंशकेऽध्याये	४६।१	५०८
षड्भिः स्वरूपकथनं	४४।९	४००
षडेते प्रतिपक्षास्तु	४०।१२	१५९
सप्तधा विनिरुद्धाः	४४।७	३२५
सम्भाषणार्थमुद्योगः	४२।४	२०३
सर्वेषु पुष्टहृदयेषु	४६।५	५२५
सर्वेष्वेव च भावेषु	४५।८	४९२
स्वस्य शब्दात्मके रोधः	४२।३	१९१
साधारण्येन सर्वेषाम्	४२।१	१९१
सेवकेनोपदेशेन	४४।३	३२१
स्त्रीसान्त्वनं तु पुरतः	४५।५	४८४

। एतत्प्रकरणगतमूलश्लोकानां सूचिः ।

श्लोकः	स्थलं	पृष्ठं
प्रमाणप्रकरणम्		
अ		
अकूपाराय बृहते	३७।१८	९६
अक्रूरस्तावुपामन्त्र्य	३६।४०	८१
अक्रूरोऽपि च तां	३५।१	३८
अग्निर्मुखं तेवनि-	३७।१३	९४
अग्रन्यस्तविषाणाग्रः	३३।१०	७
अतस्त्वामाश्रितः सौम्यः	३३।२९	१३
अथ तर्ह्यागतो गोष्ठं	३३।१	४
अथ तान् दुरभिप्रायान्	३९।२०	१३६
अथ ते कालरूपस्य	३४।२२	३१
अथ व्रजन् राजपथेन	३९।१	१२८
अथापराह्णे भगवान्	३८।१९	११२
अथावरूढः सपदी-	३५।१५	४६
अद्भुतानीह यावन्ति	३८।४	१०६
अदर्शनं स्वशिरसः	३९।२८	१३९
अद्य ध्रुवं तत्र दृशो	३६।२५	७४
अनार्द्रधीरिष समास्थितो	३६।२७	७५
अनित्यानात्मदुःखेषु	३७।२५	९९
अन्यानि चेत्थम्भूतानि	३९।३१	१४१
अन्याश्च तदनुध्यान-	३६।१५	६८
अन्ये च संस्कृतात्मानो	३७।७	९१
अप्यङ्घ्रिमूले पतितस्य	३५।१६	४७
अप्यद्य विष्णोर्मनुजत्व-	३५।१०	४३
अप्यंह्रिमूलेवहितं	३५।१९	४९
अरिष्टे निहते	३३।१६	९
अवनिक्ताङ्घ्रियुगलौ	३९।२५	१३८
अवनिज्याङ्घ्रियुगल-	३८।१४	११०
अश्नन्त्य एकास्तदपास्य	३८।२६	११४
असृग् वमन् मूत्रशकृत्	३३।१४	८
अहो अस्मदभूद् भूरि	३६।६	६४
अहो विधातस्तव	३६।१९	६९
अहं चात्मात्मजागार-	३७।२४	९८
आ		
आगच्छ याम गेहान्	३८।१२	१०९
आत्मनात्माश्रयः पूर्वं	३४।१३	२८
आनर्चुः पुरुषा रङ्गम्	३९।३३	१४१
आपस्तेऽङ्घ्र्यवनेनिज्य	३८।१५	११०
आपूर्णकुम्भैर्दधि	३८।२३	११३
आयास्ये भवतो गेह-	३८।१७	१११
आरभ्यतां धनुर्याग-	३३।२६	१२
इ		
इत्थं सूनृतया वाचा	३५।४३	६१
इत्यभिप्रेत्य राजेन्द्र	३८।४९	१२५
इत्याज्ञाप्यार्थतन्त्रज्ञ	३३।२७	१३
इत्युक्त्वा चोदयामास	३८।६	१०७
इति तस्मै वरं दत्वा	३८।५२	१२६
इति सञ्चिन्तयन् कृष्णं	३५।२४	५२
इहानीतौ घातयिष्ये	३३।३२	१४
ई		
ईदृशान्येव वासांसि	३८।३५	११९
उ		
उग्रसेनं च पितरं	३३।३४	१४
उदाररुचिरक्रीडौ	३५।३१	५७
उद्वाहं वीरकन्यानां	३४।१८	३०
ऊ		
ऊचुः पौरा अहो गोप्यः	३८।३१	११७
ए		
एकदा ते पशून्	३४।२७	३४
एके त्वाखिलकर्माणि	३७।६	९१
एतज्ज्ञात्वा नय क्षिप्रं	३३।३७	१६
एवमादिश्य चाक्रूरं	३३।४०	१८
एवमुक्तो भगवता	३८।१८	१११
एवं ककुद्मिनं हत्वा	३३।१५	८
एवं ब्रुवाणा विरहातुरा	३६।३१	७७
एवं यदुपतिं कृष्णं	३४।२५	३४
एवं विकत्थमानस्य	३८।३७	११९
एवं स्त्रिया याच्यमानः	३९।११	१३२
एष्यामि ते गृहं सुभ्रुः	३९।१२	१३३
एहि वीर गृहं यामो	३९।१०	१३२
क		
करेण वामेन सलील-	३९।१७	१३५
का त्वं वरोर्वेतदुहा-	३९।२	१२९
काश्चित् तत्कृतहृत्ताप-	३६।१४	६७
काश्चित् विपर्यग्-	३८।२५	११४

किञ्चित् किञ्चिच्छकृन्	३३।३	५
किमलभ्यं भगवति	३६।२	६२
किशोरौ श्यामलश्वेतौ	३५।२९	५६
कृष्ण कृष्णाप्रमेयात्मन्	३४।११	२६
कृष्ण कृष्णेति ते सर्वे	३३।६	५
केशी तु कंसप्रहितः	३४।१	२०
कंसः परिवृतोऽमात्यैः	३९।३५	१४२
कंसस्तु धनुषो भङ्गं	३९।२६	१३९
कंसो बताद्याकृत मे	३५।७	४१
किं तु नः कुशलं	३६।५	६४
किं मयाचरितं भद्रं	३५।३	३९
किं वाग्रजो मावनतं	३५।२३	५२
क्रूरस्त्वमक्रूरसमाख्यया	३६।२१	७१
ग		
गच्छ नन्दव्रजं तत्र	३३।३०	१३
गच्छन् पथि महाभागो	३५।२	३८
गतिं सुललितां चेष्टां	३६।१७	६८
गिरा गद्गदयास्तौषीत्	३६।५७	८७
गिरिदर्यां विनिक्षिप्य	३४।३०	३५
गुहापिधानं निर्भिद्य	३४।३४	३७
गृहीत्वा शृङ्गयोस्तं	३३।११	७
गोपान् समादिशत्	३६।११	६६
गोपास्तमन्वसज्जन्त	३६।३३	७८
गोप्यस्तास्तदुपश्रुत्य	३६।१३	६७
गोप्यो मुकुन्दविगमे	३९।२४	१३७
गोप्यश्च दयितं कृष्ण-	३६।३४	७८
च		
चाणूरो मुष्टिकः कूटः	३९।३७	१४३
चाणूरं मुष्टिकं चैव	३४।१६	३०
चारुप्रसन्नवदनं	३६।४७	८३
चिन्तयन्त्यो मुकुन्दस्य	३६।१८	६९
छ		
छिद्रप्रतीतिश्छायायां	३९।२९	१४०
ज		
जुष्टेषु जालामुख-	३८।२२	११३
त		
ततश्चैषा मही मित्र-	३३।३५	१५
ततस्तावङ्गरागेण	३९।५	१३०
ततस्तु वायकः प्रीतः	३८।४०	१२०
ततो मुष्टिकचाणूर-	३३।२१	११
ततो रूपगुणौदार्य-	३९।९	१३१
ततः पौरान् पृच्छमानो	३९।१५	१३४
ततः सुदाम्नो भवनं	३८।४३	१२२
तत्रापि च यथापूर्व-	३६।४३	८२
तत्रासन् कतिचिच्चौराः	३४।२८	३५
तत्रोपस्पृश्य पानीयं	३६।३९	८१
तद् वञ्चयित्वा	३४।५	२१
तद्दर्शनस्मरक्षोभा-	३९।१४	१३३
तद्दर्शनाह्लादविवृद्धसम्भ्रमः	३५।२६	५३
तद्देहतः कर्कटिका-	३४।९	२४
तद्रक्षिणः सानुचराः	३९।१९	१३६
तमपृच्छत् हृषीकेशः	३८।३	१०५
तमापतन्तं स निगृह्य	३३।१३	८
तयोर्निहतयोस्तप्तान्	३३।३३	१४
तयोरासनमानीय	३८।४४	१२२
तयोर्विचरतोः स्वैरं	३९।२३	१३६
तयोस्तदद्भुतं वीर्यं	३९।२२	१३७
तस्मै भुक्तवते	३५।४०	६०
तस्य तत्कर्म विज्ञाय	३४।३१	३६
तस्य प्रसन्नो भगवान्	३८।४२	१२१
तस्यानुजीविनः सर्वे	३८।३८	१२०
तस्यानुशङ्खयवनमुराणां	३४।१७	३०
तस्योत्सङ्गे घनश्यामं	३६।४६	८३
तात सौम्यागतः	३६।४	६३
तान् समेत्याह भगवान्	३८।९	१०८
ता निराशा निववृतुः	३६।३७	८०
ताभिः स्वलङ्कृतौ	३८।५०	१२५
तावद् व्रजौकसस्तत्र	३८।८	१०७
तावाज्ञापयतां भृत्यौ	३८।४८	१२५
तासां मुकुन्दो मधुमञ्जु-	३६।२४	७३
तास्तथा तप्यतीर्वीक्ष्य	३६।३५	७९
तुङ्गगुल्फारुणनख-	३६।५०	८४
तुभ्यं नमस्तेस्त्वविषक्त-	३७।१२	९४
तेषु पौरा जानपदा	३९।३४	१४२
तौ रथस्थौ कथमिह	३६।४२	८१
तं तीक्ष्णशृङ्गमुद्वीक्ष्य	३३।५	५

तं ग्रासयन्तं भगवान्	३४।३	२०
तं त्वद्य नूनं महतां	३५।१४	४६
तं निगृह्याच्युतो दोर्भ्यां	३४।३३	३७
तां सम्प्रविष्टौ वसुदेव-	३८।२४	११३
त्रय्या च विद्यया केचित्	३६।५	९१
त्वमात्मा सर्वभूतानां	३४।१२	२७
त्वय्यव्ययात्मन् पुरुषे	३७।१५	९५
त्वामीश्वरं स्वाश्रय-	३४।२४	३३
त्वामेवान्ये शिवोक्तेन	३७।८	९२
त्वां योगिनो यजन्त्यद्धा	३७।४	९०
द		
ददर्श कृष्णं रामं च	३५।२८	५५
ददर्श तां स्फाटिक-	३८।२०	११२
दध्यक्षतैः सोदपात्रैः	३८।३०	११७
दन्ता निपेतु-	३४।७	२२
दास्यस्म्यहं सुन्दर	३९।३	१२९
दिशो वितिमिरा राजन्	३५।३३	५७
दिष्ट्या ते निहतो	३४।१५	२९
दिष्ट्याद्य दर्शनं	३६।७	६४
दीर्घप्रजागरो भीतो	३९।२७	१३९
दृष्ट्वा मुहुः श्रुतमनु-	३८।२८	११५
देवदेव जगन्नाथ	३८।१६	१११
देवर्षिरुपसङ्गम्य	३४।१०	२४
देह्यावयोः समुचिता-	३८।३३	११८
देहं भृतामियानर्थो	३५।२७	५४
द्रक्ष्यामि नूनं सुकपोल-	३५।९	४२
द्रक्ष्यामः सुमहत् पर्व	३६।१२	६६
ध		
धनुषो भज्यमानस्य	३९।१८	१३५
ध्वजवज्राङ्कुशाम्भोजैः	३५।३०	५६
न		
न तस्य कश्चिद् दयितः	३५।२२	५१
नतोऽस्म्यहं त्वाखिल-	३७।१	८८
न नन्दसूनुः क्षणभङ्गसौहृदः	३६।२२	७२
नन्दगोपादयो गोपाः	३९।३८	१४३
न मय्युपैष्यत्यरिबुद्धि-	३५।१८	४८
नमस्तेऽद्भुतसिंहाय	३७।१९	९७
नमस्ते वासुदेवाय	३७।२१	९७
नमस्ते वासुदेवाय	३७।३०	१०२
नमो बुद्धाय शुद्धाय	३७।२२	९७
नमो भृगूणां पतये	३७।२०	९७
नमो विज्ञानमात्राय	३७।२९	१०२
नमः कारणमत्स्याय	३७।१७	९६
न हि वां विषमा दृष्टिः	३८।४७	१२४
नानालक्षणवेषाभ्यां	३८।४१	१२१
नाहं भवद्भ्यां रहितः	३८।११	१०८
निमज्ज्य तस्मिन् सलिले	३६।४१	८१
निवारयामः समुपेत्य	३६।२८	७५
निवारितो नारदेन	३३।११	१०
निवेद्य गां चातिथये	३५।३९	६०
निशम्य तद् भोजपतिः	३३।१८	१०
निसृष्टः किल मे मृत्यु-	३३।३१	१४
नैते स्वरूपं विदु-	३७।३	८९
नोत्सहेऽहं कृपणधीः	३७।२७	१००
प		
पतन्त्यकालतो गर्भाः	३३।४	५
पद्भ्यामाक्रम्य	३९।७	१३१
पदानि तस्याखिल-	३५।२५	५३
पप्रच्छ सत्कृतं	३५।४१	६१
पुनीहि पादरजसा	३८।१३	१०९
पुरुषैर्बहुभिर्गुप्तं	३९।१६	१३४
पृष्टे भगवता सर्वं	३६।८	६५
पृष्ट्वाथ स्वागतं तस्मै	३५।३८	६०
पौण्ड्रकस्य वधं पश्चाद्	३४।२०	३१
प्रतियाते तु देवर्षौ	३३।२०	१०
प्रधानपुरुषावाद्यौ	३५।३२	५७
प्रलम्बपीवरभुजं	३६।४८	८४
प्रह्लादनारदवसुप्रमुखैः	३६।५४	८५
प्रसन्नो भगवान् कुब्जां	३९।६	१३०
प्रासादशिखरारूढाः	३८।२९	११६
प्राह नः सार्थकं जन्म	३८।४५	१२२
ब		
बलदर्पहाहं दुष्टानां	३३।८	६
बलं च कंसप्रहितं	३९।२१	१३६
बृहत्कटितटश्रोणि-	३६।४९	८४
भ		
भगवद्दर्शनाह्लाद-	३५।३५	५८
भगवन् जीवलोकोऽयं	३७।२३	९८
भगवानपि गोविन्दो	३४।२६	३४
भगवानपि सम्प्राप्तो	३६।३८	८०

भगवांस्तमभिप्रेत्य	३५।३६	५८
भवान् प्रविशतामग्रे	३८।१०	१०८
भवन्तौ किल विश्वस्य	३८।४६	१२३
भ्राजमानं पद्मकरं	३६।५२	८५
भूयस्तत्रापि सोद्राक्षीत्	३६।४४	८२
भूस्तोयमग्निः पवनः	३७।२	८९
भो भो दानपते मह्यं	३३।२८	१३
भो भो निशाम्यतामेतद्	३३।२२	११

म

मञ्चाः क्रियन्तां विविधाः	३३।२४	१२
मनोरथान् करोत्युच्चै-	३३।३९	१७
मनांसि तासामरविन्द-	३८।२७	११५
ममाद्यामङ्गलं नष्टं	३५।६	४०
ममैतद् दुर्लभं मन्ये	३५।४	३९
मयपुत्रो महामायो	३४।२९	३५
महामात्र त्वया भद्र	३३।२५	१२
मा भैष्टेति गिराश्वास्य	३३।७	६
मार्गे ग्रामजना राजन्	३८।७	१०७
मैतद्विधस्याकरुणस्य	३६।२६	७५
मैवमेवाधमस्यापि	३५।५	४०

य

य ईक्षिताहं रहितो	३५।११	४३
यत्राद्भुतानि सर्वाणि	३८।५	१०६
यत्सन्देशो यदर्थं वा	३६।९	६५
यथाद्रिप्रभवा नद्यः	३७।१०	९३
यथाबुधो जलं हित्वा	३७।२६	९९
यदर्चितं ब्रह्मशिवादिभिः	३५।८	४१
यशोदायाः सुतां कन्यां	३३।१७	९
यस्त्वं प्रदर्शयासित-	३६।२०	७१
यस्याखिलामीवहभिः	३५।१२	४५
यस्यानुरागललित-	३६।२९	७६
याताशु बालिशा	३८।३६	११९
यानि चान्यानि वीर्याणि	३४।२१	३१
यानि यानीह रूपाणि	३७।१६	९५
यावदालक्ष्यते केतु-	३६।३६	७९
यास्यामः श्वो मधुपुरीं	३६।१२	६६
योवधीत् स्वस्वसुस्तोकान्	३५।४३	६१
योऽह्नःक्षये व्रज-	३६।३०	७७

र

रजकं कञ्चिदायान्तं	३८।३२	११७
रथात् तूर्णमवप्लुत्य	३५।३४	५८
रम्भमाणः खरतरं	३३।२	४
राजन् मनीषितं सम्यक्	३३।३८	१६
रामकृष्णौ ततो मह्यं	३३।२३	११
रूपपेशलमाधुर्य-	३९।४	१३०
रोमाणि वृक्षौषधयः	३७।१४	९४

ल

लब्धाङ्गसङ्गं प्रणतं	३५।२१	५०

व

वसित्वात्मप्रिये वस्त्रे	३८।३९	१२०
वाद्यमानेषु तूर्येषु	३९।३६	१४२
विलोक्य सुभृशं	३६।५६	८६
विशालनेत्रो विकटास्य-	३४।२	२०
विशुद्धविज्ञानघनं	३४।२३	३२
विसृज्य माध्व्या वाण्या	३९।१३	१३३
व्युष्टायां निशि कौरव्य	३९।३२	१४१

श

शम्बरो नरको बाणो	३३।३६	१५
श्रिया पुष्ट्या गिरा	३६।५५	८६
श्रुत्वाक्रूरवचः कृष्णो	३६।१०	६५

स

सख्युरंसे भुजाभोगं	३३।९	६
सङ्कर्षणश्च प्रणत-	३५।३७	५९
स चावतीर्णः किल	३५।१३	४५
सत्त्वं रजस्तम इति	३७।११	९३
स त्वं भूधरभूतानां	३४।१४	२९
स तं निशम्याभिमुखो	३४।४	२१
स निजं रूपमास्थाय	३४।३२	३६
समर्हणं यत्र निधाय	३५।१७	४७
समेधमानेन सकृष्ण-	३४।८	२३
स याचितो भगवता	३८।३४	११८
स लब्धसंज्ञः	३४।६	२२
सहस्रशिरसं देवं	३६।४५	८२
सर्व एव यजन्ति त्वां	३७।९	९२
सा तदर्जुसमानाङ्गी	३९।८	१३१
सायन्तनाशनं कृत्वा	३६।३	६३
सुखोपविष्टः पर्यङ्के	३६।१	६२
सुखं प्रभाता रजनी-	३६।२३	७३
सुनन्दनन्दप्रमुखैः	३६।५३	८५
सुमहार्हमणिव्रात-	३६।५१	८४

सुहृत्तमं ज्ञातिमनन्य-	३५।२०	४९
सोऽपि चान्तर्हितं वीक्ष्य	३८।२	१०५
सोऽपि वव्रेऽचलां भक्तिं	३८।५१	१२६
सोऽपि विद्धो भगवता	३३।१२	७
सोहं तवाङ्घ्र्युपगतो-	३७।२८	१००
सौवर्णशृङ्गाटक-	३८।२१	११२
स्तुवतस्तस्य भगवान्	३८।१	१०४
स्त्रीणामेवं रुदन्तीना-	३६।३२	७८
स्मरन्त्यश्चापराः	३६।१६	६८
स्यमन्तकस्य च मणे-	३४।१९	३१
स्वप्ने प्रेतपरिष्वङ्गः	३९।३०	१४०

प्रमेयप्रकरणम्

अ

अक्रूर आगतः किं वा	४३।४८	३१७
अक्रूरभवनं कृष्णः	४५।१२	४९०
अग्न्यर्कातिथिगोविप्र-	४३।१२	२४७
अर्चित्वा शिरसानम्य	४५।१६	४९१
अथ कृष्णश्च रामश्च	४०।१	१४६
अथ गोपीरनुज्ञाप्य	४४।६५	४७७
अथ नन्दं समासाद्य	४२।२०	२०३
अथ विज्ञाय भगवान्	४५।१	४८४
अथ शूरसुतो राजन्	४२।२६	२०६
अथो गुरुकुले वासम्	४२।३१	२०७
अथोद्धवो निशम्यैवं	४४।२२	३९१
अद्येश नो वसतयः	४५।२५	४९९
अधर्मोपचितं वित्तं	४६।२२	५१८
अनागसां त्वं भूतानां	४१।४७	१८८
अन्यथा गोव्रजे तस्य	४४।५	३३३
अन्यथा त्वाचरन् लोके	४६।१९	५१६
अन्येष्वर्थकृता मैत्री	४४।६	३३४
अपि बत मधुपुर्यां	४४।२१	३९०
अपि स्मरति नः साधो	४४।४३	४३७
अपि स्मरति नः कृष्णः	४३।१८	२५२
अपि स्मरति नः सौम्य	४६।८	५११
अप्यायास्यति गोविन्दः	४३।१९	२५३
अप्येष्यतीह दाशार्हः	४४।४५	४३९
अम्बष्ठाम्बष्ठ मार्गं नः	४०।४	१४७
अयं चास्याग्रजः श्रीमान्	४०।३०	१६१
अरत्नी द्वे अरत्निभ्यां	४१।३	१६८
अहो यूयं स्म पूर्णार्थाः	४४।२३	३९२
अहोरात्रैश्चतुःषष्ट्या	४२।३६	२०९

आ

आगमिष्यत्यदीर्घेण	४३।३४	२८२
आत्मन्येवात्मनात्मानम्	४४।३१	४१४
आत्मसृष्टमिदं विश्वं	४५।१९	४९४
आत्मा ज्ञानमयः शुद्धः	४४।३२	४१७
आसामहो चरणरेणुजुषां	४४।६२	४७३
आस्ते तेनाहृतो नूनं	४२।४१	२१४
आह चास्मान् महाराज	४२।१३	१९८
आहूय कान्तां नवसङ्गम-	४५।६	४८७
आहोष्यतामिह प्रेष्ठ	४५।९	४८९

इ

इतस्ततो विलङ्घ्यद्भिः	४३।१०	२४४
इति गोप्यो हि गोविन्दे	४४।९	३४१
इति मायामनुष्यस्य	४२।१०	१९६
इति संस्मृत्य संस्मृत्य	४३।२७	२५९
इत्यक्रूरं समादिश्य	४५।३६	५०७
इत्यर्चितः संस्तुतश्च	४५।२८	५०४
इत्यनुस्मृत्य स्वजनं	४६।१४	५१४
इत्यभिप्रेत्य नृपतेः	४६।३०	५२४
इत्युक्त उद्धवो राजन्	४३।७	२४१
इत्युक्तस्तौ परिष्वज्य	४२।२५	२०५

ई

ईश्वरस्य विधिं को नु	४६।२८	५२२

उ

उत्थापनैरुन्मनैः	४१।५	१६८
उद्गायतीनामरविन्द-	४३।४६	३१०
उपश्रुत्य गिरस्तासां	४१।१८	१७६
उवाच पितरावेत्य	४२।२	१९२
उवाचावनतः कृष्णं	४२।४४	२१५
उवास कतिचिन्मासां	४४।५५	४५४
उवास कतिचिन्मासां	४६।४	५०९

ऊ

ऊचुः परस्परं ते वैः	४०।२२	१५८

ए

एकः प्रसूयते जन्तुः	४६।२१	५१७
एतदन्तः समाम्नायः	४४।३४	४२१
एताः परं तनुभृतो भुवि	४४।५९	४५७
एतौ भगवतः साक्षात्	४०।२३	१५८
एतौ हि विश्वस्य च	४३।३१	२६३

एवमाश्वास्य पितरौ	४२।१२	१९७
एवं चर्चितसंकल्पः	४१।१	१६७
एवं निर्भर्त्सितोऽम्बष्ठः	४०।५	१४७
एवं निशा सा ब्रुवतो	४३।४४	३०६
एवं सम्भाषमाणासु	४१।१७	१७६
एवं प्रियतमादिष्टं	४४।३९	४३१
एवं विकत्थमाने वै	४१।३४	१८२
एवं सम्प्रार्थितो गोपैः	४४।६९	४८०
एवं सान्त्वय्य भगवान्	४२।२४	२०५
एष वै किल देवक्यां	४०।२४	१५९
क		
क उत्सहेत संत्यक्तुं	४४।४९	४४३
कच्चिदङ्ग महाभाग	४३।१६	२४९
कच्चिद्गदाग्रजः सौम्य	४४।४१	४३४
कथं रतिविशेषज्ञः	४४।४२	४३६
करीन्द्रस्तमभिद्रुत्य	४०।६	१४८
कर्मभिर्भ्राम्यमाणानां	४४।६८	४७८
कस्मात्कृष्ण इहायाति	४४।४६	४४०
काचिन्मधुकरं दृष्ट्वा	४४।११	३४३
किमस्माभिर्वनौकोभिः	४४।४७	४४०
किमिह बहु षडङ्घ्रे	४४।१४	३६४
किं न पश्यत रामस्य	४१।१२	१७१
किं साधयिष्यत्यस्माभिः	४३।४९	३१७
कृतं च धार्तराष्ट्रैर्यः	४६।६	५१०
कृष्ण कृष्ण महायोगिन्	४६।११	५१२
कृष्णसङ्कर्षणभुजैः	४२।१७	२००
कृष्णाय प्रणिपत्याह	४४।७०	४८१
कंसं नागायुतप्राणं	४३।२४	२५८
कः पण्डितस्त्वदपरं	४५।२६	५००
क्व वज्रसारसर्वाङ्गौ	४१।८	१७०
क्वेमाः स्त्रियो वनचरीः	४४।६०	४५९
ख		
खगा वीतफलं वृक्षं	४४।८	३३९
ग		
गच्छ जानीहि तद्वृत्तं	४५।३५	५०६
गच्छतं स्वगृहं वीरौ	४२।४८	२१६
गच्छोद्धव व्रजं सौम्य	४३।३	२३२
गत्या ललितयोदार-	४४।५२	४४५
गायन्त्यः प्रियकर्माणि	४४।१०	३४१
गायन्तीभिश्च कर्माणि	४३।११	२४५
गावः सपाला एतेन	४०।२६	१५९
गुरुणैवमनुज्ञातौ	४२।४९	२१७
गुरुपुत्रमिहानीतं	४२।४५	२१६
गृहं तमायान्तमवेक्ष्य	४५।३	४८५
गोपान् वयस्यानाकृष्य	४१।२९	१८०
गोप्यस्तपः किमचरन्	४१।१४	१७३
गोप्योऽस्य नित्यमुदित-	४०।२८	१६०
च		
चाणूरे मुष्टिके कूटे	४१।२८	१८०
ज		
जनाः प्रजहृषुः सर्वे	४१।३०	१८०
जनेष्वेवं प्रगृणत्सु	४०।३१	१६१
जलं प्रविश्य तं हत्वा	४२।४१	२१४
जानीमस्त्वां यदुपतेः	४४।४	३३२
त		
ततः कूटमनुप्राप्तं	४१।२६	१७९
ततश्च लब्धसंस्कारौ	४२।२९	२०७
ततः संयमनीं नाम	४२।४२	२१५
ततस्ताः कृष्णसन्देशैः	४४।५४	४४७
ततोऽभिमुखमभ्येत्य	४०।१०	१५०
तत्र प्रवयसोप्यासन्	४२।१९	२०२
तत्क्षन्तुमर्हथस्तात	४२।९	१९६
तथातिरभसांस्तांस्तु	४१।४१	१८५
तथापि सूनृता सौम्य	४६।२७	५२२
तथेति तेनोपानीतं	४२।४६	२१६
तथेत्यारुह्य महारथौ	४२।३८	२१३
तथैव मुष्टिकः पूर्वं	४१।२४	१७८
तथोद्धवः साधुतया	४५।४	४८६
तद् बलाबलवद् युद्धं	४१।६	१६९
तन्नावकल्पयोः कंसात्	४२।८	१९५
तन्निर्गतं समासाद्य	४४।६६	४७८
तन्निशम्याब्रवीत् कृष्णः	४०।३६	१६३
तं खड्गपाणिंविचरन्तं	४१।३६	१८३
तं प्रश्रयेणावनताः सुसत्-	४४।३	३२९
तमागतं समासाद्य	४३।१४	२४७
तमापतन्तमासाद्य	४०।१३	१५०
तमापतन्तमालोक्य	४१।३५	१८२
तमाह भगवानाशु	४२।३९	२१३
तमाह भगवान् प्रेष्ठं	४३।२	२३०
तयोरित्थं भगवति	४३।२९	२६१

तयोर्द्विजवरस्तुष्टः	४२।३३	२०८	धर्मव्यतिक्रमो ह्यस्य	४१।९	१७०
तं वीक्ष्य कृष्णानुचरं	४४।१	३२६	धारयन्त्यतिकृच्छ्रेण	४३।६	२३८
तं सम्परेतं विचकर्ष	४१।३८	१८४	न		
तस्माद् भवद्भ्यां बलिभिः	४०।४०	१६४	न चास्य कर्म वा लोके	४३।३९	२९३
तस्माद् राज्ञः प्रियं यूयं	४०।३५	१६३	ननाम कृष्णं रामं च	४५।१४	४९१
तस्माल्लोकमिमं राजन्	४६।२५	५२१	न बालो न किशोरस्त्वं	४०।३९	१६४
तस्मिन् भवन्तावखिला-	४३।३३	२७७	नमः कृष्णाय शुद्धाय	४६।१३	५१३
तस्यानुजा भ्रातरोऽष्टौ	४१।४०	१८५	न माता न पिता तस्य	४३।३८	२९३
तस्यै कामवरं दत्त्वा	४५।१०	४८९	न लब्धो दैवहतयोः	४२।४	१९३
तर्ह्येव हि शलः कृष्ण-	४१।२७	१७९	न सभां प्रविशेत् प्राज्ञः	४१।१०	१७०
ताः किं निशाः स्मरति	४४।४४	४३८	न ह्यम्मयानि तीर्थानि	४५।३१	५०५
ता दीपदीप्तैर्मणिभिः	४३।४५	३०८	न ह्यस्यास्ति प्रियः	४३।३७	२८९
ता मन्मनस्का मत्प्राणा	४३।४	२३४	नाचलत् तत्प्रहारेण	४१।२२	१७७
तालत्रयं महासारं	४३।२५	२५८	नान्यत् तव पदाम्भोजात्	४६।१२	५१३
तेज ओजो बलं वीर्यं	४६।५	५१०	नायं श्रियोऽङ्ग उ नितान्त-	४४।६१	४७२
तेभ्योऽदाद् दक्षिणा गावः	४२।२७	२०६	नास्मत्तो युवयोस्तात	४२।३	१९२
तेषां स्त्रियो महाराज	४१।४३	१८६	नित्यं प्रमुदिता गोपाः	४०।३४	१६२
तेषु राजाम्बिकापुत्रो	४५।३४	५०६	निरीक्ष्य तावुत्तमपूरुषौ	४०।२०	१५७
तैस्तैर्नियुद्धविधिभिः	४१।१९	१७६	निःसारयत दुर्वृत्तौ	४१।३२	१८१
तौ रेजतू रङ्गगतौ	४०।१९	१५६	निःस्वं त्यजन्ति गणिका	४४।७	३३६
त्वं नो गुरुः पितृव्यश्च	४५।२९	५०४	नेह चात्यन्तसंवासः	४६।२०	५१७
त्वया विरहिता पत्या	४१।४६	१८७	नेदुर्दुन्दुभयो व्योम्नि	४१।४२	१८६
त्वयोदितोऽयं जगतो	४५।२३	४९८	नैवाहार्षमहं देव	४२।४०	२१४
द			प		
दानव्रततपोहोम-	४४।२४	३९३	पतितं तं पदाक्रम्य	४०।१४	१५१
दावाग्नेर्वातवर्षाच्च	४३।२०	२५५	परिभ्रामणविक्षेप-	४१।४	१६८
दिवि भुवि च रसायां	४४।१५	३६९	परं सौख्यं हि नैराश्यं	४४।४८	४४१
दिष्ट्या कंसो हतः	४५।१७	२५०	पादावनेजनीरापो	४५।१५	४९१
दिष्ट्या जनार्दन	४५।२७	५०२	पितरावुपलब्धार्थौ	४२।१	१९१
दिष्ट्या पापो हतः	४५।१७	४९२	पितर्युपरते बालाः	४५।३३	५०६
दिष्ट्या पुत्रान् पतीन्	४४।२६	३९५	पितर्युवाभ्यां स्निग्धाभ्यां	४२।२१	२०३
दिष्ट्याहितो हतः	४४।४०	४३३	पिबन्त इव चक्षुर्भ्यां	४०।२१	१५७
दुराराध्यं समाराध्य	४५।११	४८९	पुच्छे प्रगृह्यातिबलं	४०।८	१४९
दृष्टं श्रुतं भूतभवद्-	४३।४३	३०१	पुण्या बत व्रजभुवो	४१।१३	१७२
दृष्ट्वैवमादिगोपीनां	४४।५८	४५६	पुनः पुनः स्मारयन्ति	४४।५१	४४४
देवकी वसुदेवश्च	४१।५१	१९०	पुष्णाति यानधर्मेण	४६।२३	५१८
देहाद्युपाधेरनि-	४५।२२	४९७	पूतनानेन नीतान्तं	४०।२५	१५९
द्विजस्तयोस्तं	४२।३७	२१२	पृथा तु भ्रातरं प्राप्तं	४६।७	५११
ध			प्रगृह्य केशेषु चलत्	४१।३७	१८३
धर्मेण पालयन्नुर्वीं	४६।१८	५१६	प्रजा भोजपतेरस्य	४०।३७	१६३

प्रभवौ सर्वविद्यानां	४२।३०	२०७
प्रलम्बो धेनुकोऽरिष्टः	४३।२६	२५९
प्रवेपितः स रुधिरमुद्वमन्	४१।२५	१७९
प्रातर्व्रजाद् व्रजत	४१।१६	१७५
प्राप्तो नन्दव्रजं श्रीमान्	४३।८	२४२
प्रियं राज्ञः प्रकुर्वन्त्यः	४०।३३	१६२
प्रियसख पुनरागाः	४४।२०	३८७
ब		
बद्ध्वा परिकरं शौरिः	४०।३	१४६
बाला वयं तुल्यबलै	४०।३८	१६४
भ		
भगवत्युत्तमश्लोके	४४।२५	३९४
भगवत्युदिते सूर्ये	४३।४७	३१५
भगवद्गात्रनिष्पातैः	४१।२०	१७७
भवतीनां वियोगो मे	४४।२९	४०१
भवद्विधा महाभागा	४५।३०	५०४
भूपृष्ठे पोथयामास	४१।२३	१७८
भोजितं परमान्नेन	४३।१५	२४९
भो भो वैचित्रवीर्य त्वं	४६।१७	५१५
भ्रात्रेयो भगवान् कृष्णः	४६।९	५१२
म		
मधुप कितवबन्धो	४४।१२	३४८
मनसो वृत्तयो नः स्युः	४४।६७	४७८
मन्ये कृष्णं च रामं च	४३।२३	२५७
मयि ताः प्रेयसां प्रेष्ठे	४३।५	२३६
मयि भृत्य उपासीने	४२।१४	१९९
मय्यावेश्य मनः कृत्स्नं	४४।३७	४२६
मल्लानामशनिर्नृणां	४०।१७	१५२
महानयं बताधर्म	४१।७	१६९
महार्होपस्करैराढ्यं	४५।२	४८५
मा खिद्यतं महाभागौ	४३।३६	२८९
मातरं पितरं चैव	४१।५०	१८९
मातरं पितरं वृद्धं	४२।७	१९५
मृगयुरिव कपीन्द्रं	४४।१७	३७४
मृतकं द्विपमुत्सृज्य	४०।१५	१५१
य		
यस्त्वहं भवतीनां वै	४४।३५	४२३
यथा दूरचरे प्रेष्ठे	४४।३६	४२५
यथा भूतानि भूतेषु	४४।३०	४०७
यथा भ्रमरिकादृष्ट्या	४३।४१	२९५
यथा वदति कल्याणी	४६।२६	५२१
यथावदुपसङ्गम्य	४६।३	५०९
यथा हि भूतेषु चराचरेषु	४५।२०	४९५
यथोपसाद्य तौ दान्तौ	४२।३२	२०८
यदनुचरितलीला-	४४।१८	३८१
यशोदा वर्ण्यमानानि	४३।२८	२६०
यस्तयोरात्मजः कल्पः	४२।६	१९४
यस्मिन् जनः प्राण-	४३।३२	२७४
याः कृष्णरामजन्मर्क्षे	४२।२८	२०६
यात यूयं व्रजं तात	४२।२३	२०४
या दोहनेऽवहनने	४१।१५	१७४
या मया क्रीडता रात्र्यां	४४।३८	४२८
यावन्त्यहानि नन्दस्य	४४।५६	४५५
या वै श्रियार्चितम-	४४।६३	४७६
यास्यन् राजानमभ्येत्य	४६।१६	५१५
युवयोरेव नैवायं	४३।४२	२९९
युवां प्रधानपुरुषौ	४५।१८	४९३
युवां श्लाघ्यतमौ नूनं	४३।३०	२६२
येनेन्द्रियार्थान् ध्यायेत	४४।३३	४२०
यो दुर्विमर्शपथया	४६।२९	५२३
र		
रङ्गद्वारं समासाद्य	४०।२	१४६
राजयोषित आश्वास्य	४१।४९	१८९
व		
वदन्त्यनेन वंशोऽयं	४०।२९	१६०
वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां	४४।६४	४७७
वयमृतमिव जिह्मव्याहृतं	४४।१९	३८४
वल्गतः शत्रुमभितः	४१।११	१७१
वसुदेवस्तु दुर्मेधाः	४१।३३	१८२
वासितार्थेऽभियुद्ध्यद्भिः	४३।९	२४४
विसृज शिरसि पादं	४४।१६	३७१
वीक्षन्तोऽहरहः प्रीताः	४२।१८	२०१
वृतौ गोपैः कतिपयैः	४०।१६	१५२
वृष्णीनां प्रवरो मन्त्री	४३।१	२२७
श		
शङ्खनिर्ह्रादमाकर्ण्य	४२।४३	२१५
शयानान् वीरशय्यायां	४१।४४	१८७
शशंस रामकृष्णाभ्यां	४६।३१	५२५
शुचिस्मितः कोऽयं	४४।२	३२८
श्रूयतां प्रियसन्देशः	४४।२८	३९९

स

सकृदधरसुधां स्वां	४४।१३	३५९
संक्रुद्धस्तमचक्षाणः	४०।७	१४८
स गत्वा हास्तिनपुरं	४६।१	५०८
स तान् नरवरश्रेष्ठान्	४५।१३	४९१
स त्वं प्रभोऽद्य वसुदेव	४५।२४	४९९
सत्त्वं रजस्तम इति	४३।४०	२९४
स धावन् क्रीडया भूमौ	४०।११	१५०
स नित्यदोद्विग्नधिया	४१।३९	१८४
स पर्यावर्तमानेन	४०।९	१४९
सपत्नमध्ये शोचन्तीं	४६।१०	५१२
सप्ताहमेकहस्तेन	४०।२७	१६०
स पिता सा च जननी	४२।२२	२०४
स भवान् सुहृदां वै	४५।३२	५०५
सभाजितान् समाश्वास्य	४२।१६	२००
समदुःखसुखोऽक्रूरः	४६।१५	५१४
समानन्दन् प्रजाः सर्वाः	४२।५०	२१७
सम्यक् सम्पादितो वत्सौ	४२।४७	२१६
सरहस्यं धनुर्वेदं	४२।३४	२०८
सरिच्छैलवनोद्देशान्	४३।२२	२५७
सरिच्छैलवनोद्देशा गावः	४४।५०	४४३
सरिद्वनगिरिद्रोणीः	४४।५७	४५६
सर्वं तदमरश्रेष्ठौ	४२।३५	२०९
सर्वतः पुष्पितवनं	४३।१३	२४७
सर्वात्मभावोऽधिकृतो	४४।२७	३९८
सर्वार्थसम्भवो देहो	४२।५	१९४
सर्वान् स्वज्ञातिसम्ब-	४२।१५	१९९
सर्वेषामिह भूतानां	४१।४८	१८८
स श्येनवेग उत्पत्य	४१।२१	१७७
सहपुत्रं च बाह्लीकं	४६।२	५०९
सानङ्गतप्तकुचयोः	४५।७	४८७
सा मज्जनालेपदुकूल-	४५।५	४८६
सिञ्चन्तावश्रुधाराभिः	४२।११	१९७
सृजस्यदो लुम्पसि	४५।२१	४९६
सैवं कैवल्यनाथं तं	४५।८	४८८
स्मरतां कृष्णवीर्याणि	४३।२१	२५५
स्वयं किल्बिषमादाय	४६।२४	५१९
स्वविक्रमे प्रतिहते	४०।१२	१५०

ह

हतं कुवलयापीडं	४०।१८	१५५
हतेषु मल्लवर्येषु	४१।३१	१८१
हत्वा कंसं रङ्गमध्ये	४३।३५	२८६
हस्ताभ्यां हस्तयोर्बद्ध्वा	४१।२	१६७
हा नाथ प्रिय धर्मज्ञ	४१।४५	१८७
हे नन्दसूनो हे राम	४०।३२	१६२
हे नाथ हे रमानाथ	४४।५३	४४६



॥ प्रमाणप्रकरणे उपन्यस्तवाक्यानां सूचिपत्रम् ॥

१. अकर्तोच्चरितं पितुः – भाग.पुरा.९।१८।४४
२. अनिच्छतो गतिमण्वीं प्रयुंक्ते – भाग.पुरा.३।२५।३६
३. अविधिपूर्वकम् – भग.गीता.९।२३
४. अस्यास्त्वामष्टमो गर्भः– भाग.पुरा.१०।१।३४
५. असुर्यः शूद्रः – तैत्ति.ब्राह्म.१।२।६।५०
६. अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि – भग.गीता.१८।६६
७. अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च – भग.गीता.९।२४
८. अहरहः ब्रह्मलोकम् – छान्द.उप.८।३।२
९. आकाशात् पतितं तोयम् – वि.स.ना.श्लो.१५०
१०. आनन्दमयमात्मानमुपसंक्रम्य – तैत्ति.उप.३।१०।५
११. आचारप्रभवो धर्मः – वि.स.ना.श्लो.१३८
१२. आपादावलम्बिनी माला वनमाला –
१३. आशंसायां भूतवच्च – पाणि.सू.३।३।१३२
१४. काममय एवायं पुरुषः – बृह.उप.४।४।५
१५. कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् - भग.गीता.११।३२
१६. चक्षुषश्चक्षुः – केन.उप.१।२
१७. ज्ञानिभ्योऽप्यधिको मतः – भग.गीता.६।४६
१८. ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा – भग.गीता.१८।५५
१९. तपो मे हृदयं साक्षात् – भाग.पुरा.२।९।२२
२०. तमेव विदित्वातिमृत्युमेति – श्वेता.उप.६।१५
२१. तया विना क्व देवत्वम् –
२२. तस्य हेषितसन्त्रस्ता– भाग.पुरा.१०।३३।१४
२३. तावत् पुरीं प्रवेक्ष्यामहे – भाग.पुरा.१०।३८।१०
२४. तासां मे पौरुषी प्रिया – भाग.पुरा.११।७।२२
२५. तिष्ठेदासूर्यदर्शनात् – याज्ञ.स्मृ.१।२५
२६. न तु मामभिजानन्ति – भग.गीता.९।२४
२७. नारुद्रो रुद्रमर्चयेत् –
२८. नैतमृषिं विदित्वा नगरं प्रविशेत् – तैत्ति.आर.१।११।१८
२९. पातालमेतस्य हि पादमूलम् – भाग.पुरा.२।१।२६
३०. पुरुषेश्वरयोरत्र– भाग.पुरा.११।२२।११
३१. पुरुषो ह वै नारायणः – नारा.अथ.शिर.उप.१
३२. पूर्वमेवाहमिह आसम् –
३३. प्रार्थ्या महत्त्वमिच्छद्भिः – भाग.पुरा.१।१६।२९
३४. ब्रह्म पुच्छम् – तैत्ति.उप.२।५
३५. भगवदीयत्वेन परिसमाप्तसर्वार्थाः– भाग.पुरा.५।६।१७

३६. मनः पूर्वरूपं वागुत्तररूपम् – ऐत.आर.३।१।१
३७. महाभूतान्यहंकारो – भग.गीता.१३।६
३८. महोक्षं वा महाजं वा – याज्ञ.स्मृ.१०९
३९. मामेव यजन्ति – भग.गीता.९।२३
४०. यद्यदिष्टतमं लोके – भाग.पुरा.११।११।४१
४१. यस्यामतं तस्य मतम् – केन.उप.२।३
४२. ये यथा मां प्रपद्यन्ते – भग.गीता.४।११
४३. यः पृथिव्यां तिष्ठन् – बृह.उप.३।७।३
४४. रजकश्चर्मकारश्च – अत्रिसंहि.१९९
४५. लभते च ततः कामान् – भग.गीता.७।२२
४६. विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नम् – भग.गीता.१०।४२
४७. शिवः शिवोऽभूत् – भाग.पुरा.३।२८।२२
४८. सत्यं चानृतं च – तैत्ति.उप.२।६
४९. सत्यं शौचम् – भाग.पुरा.१।१६।२६
५०. सन्तं वयसि कैशोरे – भाग.पुरा.३।२८।१७
५१. स यदि पितृलोककामो भवति – छान्द.उप.८।२।१
५२. सर्वधर्मान् परित्यज्य – भग.गीता.१८।६६
५३. सर्वं पण्यगतं शुचि–
५४. सविकारमुदाहृतम् – भग.गीता.१३।७
५५. हिरण्यशृंगम् – नारा.उप.१२

लेखे

१. अत्रैव लोके प्रकटम् – भाग.सुबो.१०।३०।०
२. अरिष्टे निहते गोष्ठे – भाग.पुरा.१०।३।१६
३. आनन्दादयः प्रधानस्य – ब्र.सू.३।३।२१
४. किं ते दृष्टम् – भाग.पुरा.१०।३८।३
५. जयति जननिवासो – भाग.पुरा.१०।८७।४८
६. द्वादश मासा – तैति.ब्राह्म.३।८।१०।३९
७. निरोधोऽस्यानुशयनम् – भाग.पुरा.२।१०।६
८. फलमत उपपत्तेः – ब्र.सू.३।२।३८
९. भगवन् जीवलोकोऽयम् – भाग.पुरा.१०।३७।२३
१०. मामेकं शरणं व्रज – भग.गीता.१८।६६
११. व्रजपुरवनितानाम् – भाग.पुरा.१०।८७।४८
१२. शरणागतो न भवेत्, शरणागतो जातः – भाग.सुबो.१०।३७।२८
१३. सुखं प्रभाता – भाग.पुरा.१०।३६।२३
१४. सोऽहं तवाङ्घ्रिमुपगतोऽस्मि – भाग.पुरा.१०।३७।२८

॥ प्रमेयप्रकरणे उपन्यस्तवाक्यानां सूचिपत्रम् ॥

१. अज्ञातपीडा अधमस्येत्यादि – अमरुशतकम्
२. अण्डेषु पेशिषु – भाग.पुरा.११।३।३९
३. अथ चेत् त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि – भग.गीता.१८।५८
४. अन्धंतमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते – बृह.उप.४।४।१०
५. अन्नमयं हि सोम्य मनः – छान्दो.उप.६।५।४
६. अनुप्राणन्ति यं प्राणाः – कौषी.उप.३।२
७. अयं हि परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम् – याज्ञ.स्मृ.१।८
८. अयोग्यमिच्छन् पुरुषः पतत्येव न संशयः –
९. अर्था बहिश्चराः प्राणाः –
१०. अलौकिकास्तु ये भावाः – महाभा.भी.प.६।१२
११. अष्टौ नाट्ये रसाः – काव्यप्रका.उ.४।२९
१२. अस्प्राक्ष्म तत्प्रभृति नान्य – भाग.पुरा.१०।२६।३६
१३. आचख्यौ सर्वमेवास्मै – भाग.पुरा.१०।४९।६
१४. आज्ञायैवं गुणान् दोषान् – भाग.पुरा.११।११।३२
१५. आत्मकामः सर्वं परित्यजेत् –
१६. आत्मनः पितृपुत्राभ्याम् – भाग.पुरा.११।२२।४८
१७. आत्मलाभान्न परं विद्यते – आपस्त.ध.सू.
१८. आत्मानमेवावेदहं...तस्मात्तत्सर्वमभवत् – बृह.उप.१।४।१०
१९. आत्मानं भूषयांचक्रुः – भाग.पुरा.१०।५।९
२०. आहूतो न निवर्तेत – महाभा.द्यू.प. ५८।१७
२१. इमां विद्यां कृष्णाय देवकीनन्दनाय – छान्द.उप.३।१७।६
२२. इहैव समवलीयन्ते, यतो मृतोध्मातः – बृह.उप.३।२।११
२३. उत्कृत्योत्कृत्य कृतिम् – माल.माध.अं.५।१५
२४. उत्तमः पुरषस्त्वन्यः परमात्मा – भग.गीता.१५।१७
२५. उपनीय तु यः शिष्यम् – मनुस्मृ.२।१४०
२६. एका तदङ्घ्रिकमलं सन्तप्ता – भाग.पुरा.१०।२९।५
२७. एकादशा सन् मनसो हि वृत्तयः – भाग.पुरा.५।११।१०
२८. एतस्माज्जायते प्राणः – मुण्ड.उप.२।१।३
२९. औपस्थ्यजैह्व्यकार्पण्याद् – भाग.पुरा.७।१५।१८
३०. काकपक्षधरौ क्वचित् – भाग.पुरा. १०।१५।१२
३१. काश्यः कुत्सो गृत्समदः – भाग.पुरा. ९।१७।३
३२. किं प्रजया करिष्यामः – बृह.उप.४।४।२२
३३. कुरून् मधून् वाऽथ सुहृद्दिदृक्षया – भाग.पुरा.१।११।९
३४. को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् – तैत्ति.उप.२।७
३५. कौन्तेय प्रतिजानीहि – भग.गीता.९।३१

३६. गतांश्चिरायितान् शत्रुपक्षक्षपणचेतसः – भाग.पुरा. १०।७९।४१
३७. गुरवे तु वरं दत्वा – याज्ञ.स्मृ.१
३८. चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः – जैमि.सू.१।१।२
३९. जहुस्तदाधिम् – भाग.पुरा.१०।१८।१७
४०. जिघांसन्तं जिघांसीयात् – मा.भा.शां.अ. ३४
४१. तदघं हित्वा – भाग.पुरा.७।१।३५
४२. तत्र मम हृदयमतियत्नम् – गीतगोवि.स.१०
४३. तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम् – भाग.पुरा.१।८।२०
४४. तमाशा अब्रवीत् – यजु.ब्राह्म.३।२२।२
४५. तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति – बृह.उप.४।४।२
४६. तस्माद् वा एतस्माद् आत्मनः – तैत्ति.उप.२।७
४७. त्वक्श्मश्रुरोमनखकेशपिनद्धमन्तर्- – भाग.पुरा.१०।६०।४५
४८. दयितास्तनमण्डितेन - भाग.पुरा.१०।१८।१७
४९. द्वादशे पशुकामम् – आपस्त.सू.१।१।२६
५०. धर्म प्रोज्झितकैतवोऽत्र परमो – भाग.पुरा.१।१।२
५१. धर्मं नातिक्रमेत् –
५२. न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजाम् – भाग.पुरा.१०।२९।२२
५३. न मयोदितपूर्वं वा अनृतं तदिमे विदुः – भाग.पुरा.१०।२२।११
५४. न वा अरे पुत्राणां कामाय – बृह.उप.४।५।६
५५. न वै स्त्रैणानि सख्यानि – महाभा.
५६. नाग्निं चित्वा रामामुपेयात् – आपस्त.सू.
५७. नादत्ते कस्यचित् पापम् – भग.गीता.५।१५
५८. निकृष्टैः कर्मभिर्नित्यं जन्तुः स्थावर- –
५९. निदाघवह्न्यर्कभवोऽतिशाद्वले – भाग.पुरा.१०।१५।५
६०. नो चेत् प्रमत्तमसदिन्द्रिय- – भाग.पुरा.७।१५।४६
६१. नो चेद् वयं विरहजाग्न्युपभुक्तदेहाः – भाग.पुरा.१०।२६।३५
६२. नैव हि कामस्यान्तोऽस्ति न समुद्रस्य – तैति.ब्रा. २।२।६
६३. नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितम् – भाग.पुरा.१।५।१२
६४. पण्डितो बन्धमोक्षवित् – भाग.पुरा.११।२०।४१
६५. पतिसुतान्वयभ्रातृबान्धवान् – भाग.पुरा.१०।२८।१६
६६. पत्नी हि सर्वस्य मित्रम् –
६७. परमेष्ठिनो वा एष, इन्द्रे प्रजापतौ – तैत्ति.संहि.१।६।९
६८. पुनश्च पद्मा संभूता – विष्णुपुरा.
६९. पूर्वाभ्यासेन तेनैव – भग.गीता.६।४६
७०. प्रजापते आशया वै श्राम्यसि – यजु.ब्राह्म.३।२.
७१. प्रजा ह्यात्मनोऽन्तरतरा –

७२. ब्रह्मचर्यमागामुपमानयस्व – आ.सू.
७३. ब्रह्म वा इदमग्र आस – बृह.उप.१।४।१९
७४. ब्रह्मविदाप्नोति परम् – तैत्ति.उप.१।६।१
७५. ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति – बृह.उप.४।४।६
७६. भक्तद्रोहे वधः स्मृतः –
७७. भक्तियोगवितानार्थम् – भाग.पुरा.१।८।२०
७८. भर्ता सन् भ्रियमाणः – तैति.आर. ३।१४१
७९. भूतैर्यदा पञ्चभिरात्मसृष्टैः – भाग.पुरा.११।४।३
८०. मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान् – भाग.पुरा.१०।३०।३८
८१. मयेमा रंस्यथ क्षपाः – भाग.पुरा.१०।१९।२७
८२. मल्लेभकंसयवना – भाग.पुरा. २।७।३४
८३. मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात् – ब्र.सू.१।३।२
८४. मृत्युर्यस्योपसेचनम् – कठ.उप. १।२।२५
८५. य एवास्मि स सन् यजे – यजुर्ब्राह्म.३।७।५
८६. यज्ञो वै विष्णुः – तैत्ति.ब्राह्म.१।२।६
८७. यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते – तैत्ति.उप.२।१
८८. यत्राकृतिस्तत्र गुणाः – न्याय
८९. यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत् – जाबा.उप.४
९०. यदा सर्वे प्रलीयन्ते कामा – बृह.उप.४।४।७
९१. यदेव विद्यया करोति – छान्दो.उप.१।१।१०
९२. यथाश्रुतम् – मनुस्मृ.८।१०१
९३. यथा सञ्छिद्य कान्ताशाम् – भाग.पुरा.११।९।४३
९४. यथेक्षुदण्डं मदकर्युरुक्रमः – भाग.पुरा.१०।३९।१७
९५. यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः – मुण्ड.उप.३।२।३
९६. यस्यामतं तस्य मतम् – केन.उप.२।३
९७. यावदधिकारं त्वाधिकारिकम् – ब्र.सू.३।३।३२
९८. ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव – भग.गीता.४।११
९९. यो यच्छ्रद्धः स एव सः – भग.गीता.१७।३
१००. योऽवधीत्स्वस्वसुस्तोकान् – भाग.पुरा. १०।३५।४२
१०१. रसो वै सः – तैति. उप. २।७
१०२. राजा मित्रं केन दृष्टं श्रुतं वा – महाभा.राजधर्मस्थम्
१०३. लोकस्य व्यसनापनोदनपरो दासस्य – मुकुन्दमाला ९
१०४. वने तु सात्त्विको वासः – भाग.पुरा.१०।२५।२५
१०५. विरचितचाटुवचनरचनम् – गीतगोवि.स.११
१०६. विशति वितनोरन्यो धन्यो न – गीतगोवि.स.१०
१०७. विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नम् – भग.गीता.१०।४२

१०८. वीक्ष्यालकावृतमुखं तव – भाग.पुरा.१०।२६।३९
१०९. वीरसूरपि नेष्यति – भाग.पुरा.४।२८।२०
११०. व्यासाद्यैरीश्वरेहाज्ञैः – भाग.पुरा.१।८।४६
१११. शतहस्ते तु करिणम् – नीति
११२. शब्दश्चासमर्थस्यैव –
११३. शय्यासनाटनालापा – भाग.पुरा.१०।८७।४६
११४. शुश्रूषन्त्यः पतीन् काश्चित् – भाग.पुरा.१०।२६।६
११५. स आत्मानं स्वयमकुरुत – तैत्ति.उप.२।७
११६. स एतावानास – बृह.उप.१।४।३
११७. सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् – मनुस्मृ.४।१३८
११८. सभायां न प्रवेष्टव्यं – मनुस्मृति ८।१३
११९. सम्भोजिनी नाम पिशाचभिक्षा – आपस्त.ध.सू.
१२०. सर्वस्यात्मा भवति सर्वमस्यान्नं भवति – बृह.उप.१।२।५
१२१. सर्वे मनोनिग्रहलक्षणान्ताः परो – भाग.पुरा.११।२३।४६
१२२. सा मां विमोहयति – भाग.पुरा.१।८।३१
१२३. सुपर्णावितौ – भाग.पुरा.११।११।६
१२४. संग्रामे च प्रपन्नानाम् – वाल्मि.रामा.१९।३३
१२५. संत्यज्य सर्वविषयान् – भाग.पुरा.१०।२६।३१
१२६. स्थानं नास्ति क्षणो नास्ति – महाभा.द्रौ.ना.संवा.



प्रमेयप्रकरणीय-श्रीमदाचार्यवाङ्मुक्तावली

१. अतस्तद्दुरापत्वेऽपि तदाशया तद्भजनमन्यभजनरहितं कुर्वद्भिरेव सर्वैः स्थेयमिति भक्तिमार्गनिष्कर्षः.

२. अधिकारानुसारेण ज्ञानं ज्ञानानुसारेण फलम्.

३. अन्येषामपि कामानां फलदाता स्वयं कथं न पूर्णकामो भवेत्!

४. अन्योपभुक्तस्यान्येन ग्रहणं देवव्यतिरिक्ते वाच्यापादकम्.

५. अनासक्तो हि प्रपद्यते.

६. अनुबन्धो नाम निरन्तरं वर्धमाना प्रीतिः.

७. अपेक्षितं हि स्मरन्ति लोकाः. यथा अपेक्षा स्मारिका एवं स्नेहोऽपि. यथा देहपरित्यागे दैहिकेषु स्नेहो गच्छति एवमाकाङ्क्षापरित्यागेऽपि.

८. अभिनिविष्टो हि रसः स्वानुभावं जनयति.

९. अमृतं हि प्रमादादप्युपभुक्तं प्रसादं सम्पादयत्येव, भ्रमादग्निस्पर्शोऽपि दाहहेतुर्भवति.

१०. अंशत्वं स्वरूपत्वं च सर्वत्र पूर्णगुणके आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादावनन्त-मूर्तौ पूर्णे न विरुध्येते.

११. अयमेव च गोपिकानां धर्मो यथा सर्वदा मां स्मरन्ति, ममाप्ययं धर्मो यथा ताभ्यः आनन्दं प्रयच्छामि.

१२. अवतारो हि ये उद्धर्तव्याः तेषां मध्ये अवतरणम्. कूपे पतितो हि गुणैः स्वयमागत्य वोद्ध्रियते तत्राज्ञेषु स्वागमनमेवोचितम्.

१३. अहमेव तत्रापि करोमि परं मन्मायानुभावेन लोकोऽन्यथा मन्यते, मायया व्यवहितः मायां पुरस्कृत्य वा करणात्.

१४. अश्रूण्यन्तःकरणधर्माः, हननमिन्द्रियाणाम्, अभिगमनं कायिकम्, शोककार्यं त्रयमपि, कुलस्त्रीणां सभास्वागमनं नान्यदा.

१५. अस्माकं कायवाङ्मनांसि कृष्णसम्बन्धिकार्यपराण्येव भवन्तु. अयमेवो-त्कर्षः प्रार्थनीयः, न तु लोके प्रसिद्धः अन्यः कोऽप्युत्कर्षः प्रार्थनीयः.

१६. आध्यात्मिकादितापा मुक्तानामपि भवन्ति.

१७. आविर्भूतेन वियोगस्तु हितकारी.

१८. आशा हि सर्वेषां दुःखहेतुः, सा त्यक्तव्या.

१९. आश्रमधर्माणामपि मनोनिग्रहपर्यवसायित्वम्.

२०. आश्रयो हि स्वाधीनं सर्वमेव यच्छति. मनस्तु क्षणिकमिति सर्वपदार्थाभिलाषि भवतीति कदा वा किं प्रार्थयेदिति तत्तत्साधनेष्वशक्तो हि प्रपत्तिमार्गमवलम्बते.

२१. आज्ञासिद्धौ भगवत्त्वं हेतुः. आज्ञापने हरित्वं, स्वतः आगमने ईश्वरत्वं, स्तुत्वा स्वापेक्षयाप्याधिक्यमुपपाद्येदानीं नीचसेवककार्यं दूतत्वं च कारितवानितीश्वरचर्या.

२२. इच्छामात्राभावे कामाभावः सुतरां सिद्धः, तादृशे हि स्त्रियो विरक्ता

भवन्ति.

२३. इयमेव तदासक्तिः यदन्तर्बहिः सएव दृश्यते.

२४. ईश्वरोऽपि सख्ये नाधिकृतः. सुतरां भगवता सह सख्यं न भवति, स्थलत्रयेऽनिष्टदर्शनात्.

२५. ईश्वरो हि क्वचित् सेवां न मन्यते, विपरीतमपि फलं प्रयच्छति, प्रमादादप्यपराधे प्राणानेव वियोजयति.

२६. उपकारं हि कुर्वन् माननीयो भवति.

२७. उपद्रवे हि कालो निमित्तम्.

२८. कपटेनोक्तमन्यथोक्तमन्यथाप्रतीतिं जनयति.

२९. कर्तव्याकर्तव्यविवेकवान् हि पण्डितः.

३०. कर्ता भगवान्, समवायश्च भगवान्, कार्यमपि स्वयमेव.

३१. कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थो हीश्वरः.

३२. कामो हि द्विविधः उपर्यधश्चेन्द्रियभोगभेदेन.

३३. कायिकव्यापारो दर्शनमेव, हर्षो मानसः, वाचनिकी प्रशंसा.

३४. कालकृतो धर्मः भगवदीयकृताद्धीनः.

३५. कालेनापि भगवद्धर्मा बोध्यन्ते श्रवणादयो धर्मत्वेन, तत्रापि सख्यमात्मनिवेदनं च बोध्यते.

३६. कृत्रिमो हि (धर्मः) न सुखदायी.

३७. कृष्णरामाभ्यां विभक्तशक्तिभ्यां विना परमुत्कृष्टमपरमुत्कृष्टं चकारात् तदवान्तरा भेदा वा न भवन्ति, त्वन्मूलकमेव सर्वम्. यत्र स्वसामर्थ्यं बहु प्रकटयसे तदुत्कृष्टं यत्राल्पं तदपकृष्टम्.

३८. क्वचिद्दोषोऽप्यन्यत्र गुणः.

३९. गोपिकानां धर्मादयो भगवानेव, परं प्रकारविशेषमापन्नः.

४०. चित्तस्य स्मरणं बुद्धेरनुरागो मनसः उत्कण्ठा; मनश्च वाचः पूर्वरूपम्.

४१. तनुभृतश्चेदेता एव, नापि ज्ञानिनो नापि लौकिका नापि भक्ताः. तत्र लौकिकास्तु व्यर्थजीवना एव. नहि रज्ज्वा बद्धः पाशी भवति, स्वाधीनपाश एव तथा. एवं तनुभृतोऽपि येषां स्वाधीना तनुः. ज्ञानिनां तु ज्ञानप्राप्तिपर्यन्तमेव साधनत्वेन शरीरोपयोगाद् अग्रे व्यर्थ एव देहः अनपेक्षितं भारवद् गृह्णन्ति. भक्ता अपि मौढ्याद् देहमेवात्मानं मन्यमानाः तत्रैव पर्यवसितमतयो बहिर्मुखत्वात् तनुरूपा एव न तु तनुभृतः. कालान्तरे परं सत्फलम्. अस्मदादयस्तु भक्ता अपि प्राप्तज्ञाना अपि मन्दभावं प्राप्ता नोत्कर्षेण तनुभृतः. अतः परमुत्कर्षेण एता एव तनुभृतः.

४२. तमेव हि गोपायति यत्र निरन्तरं मनस्तिष्ठति, अन्यथा क्षणमपि प्रमादे अर्थो गच्छेत्.

४३. तस्यैतावान् समारम्भः सर्वमुक्त्यर्थः. स भगवदवतारव्यतिरेकेण न सम्भवतीति युक्तएव भगवदवतारः.

४४. तापे पूज्यस्पर्शोऽपि निषिद्धः पूजार्थमपि.
४५. तीर्थेषु स्नात्वा तदधिष्ठातृदेवतापूजनं कर्तव्यम्, तदा तीर्थं कृतं भवति.
४६. दया धर्मस्थानीया तदात्मको धर्म इति, स्मितं भक्तिस्थानीयम्, वीक्षितं ज्ञानरूपम् — त्रितयमपि मुखारविन्दे वर्तते.
४७. दातरि समर्थे प्रसन्नेऽप्यल्पयाचनं भाग्याभावादेव भवति.
४८. दानादिभिः सर्वैः कृष्णे स्नेहएव साध्यते. स चेत् कामेनैव जातः किं दानादिना ! स्नेहे वैलक्षण्याभावे साधनवैजात्यमप्रयोजकम्.
४९. देवाः स्वार्थं ज्ञात्वैव हितं कुर्वन्ति, साधवस्तु नैवम्. अतो देवभजनापेक्षयापि साधुभजनमेवोत्तमम्.
५०. द्विपस्य बलं शास्त्रसिद्धं पुरुषाच्छतगुणं बलम्.
५१. धर्मो द्विविधो : अन्तरङ्गो बहिरङ्गः च. सोऽपि प्रत्येकं त्रिविधः. तथाहि — विहितत्वेन क्रियमाणो भगवद्विषयकः श्रवणादिरन्तरङ्गतमो धर्मः. योगादिसाधनैरात्मचिन्तनं तादृक्तरः, ''अयं हि परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनमि'-'ति स्मृतेः. फलानुद्देशेनेश्वरार्पणधिया क्रियमाणो यागादिरन्तरङ्गः. वर्णाश्रमधर्मत्वेन स्वर्गादिफलोद्देशेन क्रियमाणो वैदिको धर्मो बहिरङ्गः. ततस्तुच्छस्वर्गादिफलको विविधस्त्रीपुरुषाधिकारिकपातिव्रत्यादिः विविधदेवता-व्रतादिः स्मार्तो बहिरङ्गतरः. ऐश्वर्यारोग्यादिफलक-विविधदेवताग्रहादिभजनरूपः स्मार्तो बहिरङ्गतमः. अत्र पूर्वपूर्वप्राबल्यं ज्ञेयं पूर्वपूर्वासम्भवे उत्तरोत्तरकर्तव्यता च. प्रेमानन्तरं स्वव्यसनतः क्रियमाणः श्रवणादिर्न धर्मः, तल्लक्षणाभावात्. ''चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म''इति यतस्तल्लक्षणम्. पूर्वोक्ते सर्वत्र प्रवृत्तिनिवृत्त्योस्त-सदधिकार एव प्रयोजकः. भगवान् मर्यादापुष्ट्योर्मध्ये यं जीवं यस्मिन् मार्गे मनुते तस्मिंस्तस्य तदेवाधिकाररूपं तत्तच्छास्त्रं च तत्तन्मार्गीयधर्मनिरूपकम्.
५२. धर्म्युत्कर्षेण धर्मोत्कर्षेण च माहात्म्यं द्विविधम्.
५३. नगरवासिनो रसाभिज्ञाः, देशावासिनो बहुज्ञाः.
५४. नरास्तु भूमिष्ठाएव स्थूलसंघाताभिमानिनः, देवास्तु सूक्ष्मेन्द्रियाद्यधिकारि-णः. भगवान् ''भर्ता सन् भ्रियमाण'' इतिश्रुतेः भरणीयोऽपि भवति.
५५. नहि कोऽपि परस्तोत्रं कुर्वन् आत्मनो गुणभावमङ्गीकरोति.
५६. नहि बाधितमर्थं वेदोऽपि बोधयति.
५७. नहि पुष्करनाभः पुष्करेण ग्रहीतुं शक्यः..
५८. नहि भगवद्गुणतत्परा भगवद्दोषान् कथयन्ति.
५९. नहि भगवदीयान् भगवांस्त्यजति; त्यक्ताश्च न भगवदीयाः.
६०. नहि युक्तिबाधितं वेदोऽपि बोधयति.
६१. नहि सदानन्दे फलरूपे भावो दोषाय.
६२. नहि अतिप्राकृताः त्यक्तव्यएव भगवानिति बुद्धियुक्ताः निरोधाधिकारिणो भवन्ति.
६३. नहि अनधिकारिहृदि धर्मः स्फुरति.

६४. नहि अप्राप्तपुरुषार्थः कश्चिदन्येष्टं सम्पादयति.

६५. परतन्त्रयोरशक्या सेवा.

६६. पुरुषाः स्वतन्त्राः सर्वसमर्थाः, तद्विपरीताश्च स्त्रियः. तासु स्नेहं न कुर्युरेव यदि कामो न भवेत्. कामाच्च स्नेहमेव कुर्वन्ति. अन्यथा सिद्धे गते वा कामे निवर्तते. शास्त्रमपि विरागे त्यागं विधत्ते ''यदहरेव विरजेदि''ति.

६७. पुष्टिमार्गे हि दक्षिणायनस्यैव प्राशस्त्यात्.

६८. पुष्टिमार्गश्रुतीनामपि भगवन्मर्यादाश्रुतयोऽपि नात्यन्तं द्वेष्याः किन्तु ग्राह्या एव, परं नाभिप्रेताः.

६९. पूर्वं सर्वभावेन पाल्यमानाः प्रजाः स्वयमपि सर्वभावेन भजनयुक्ताः तथापि पश्चात् पालनासामर्थ्ये तं परित्यज्य तच्छत्रोर्भवन्ति. ताश्चेन्न मन्येरन् न कोऽपि भवेद् राजा. तथापि कः प्रयासं करिष्यतीति अल्पेनापि निमित्तेन परम्परागतमपि राजानं त्यजन्ति. अनेन ज्ञायते देहसम्बन्धिव्यतिरिक्तेषु कथमपि लौकिकं भजनं यावदर्थमेव, न कदाचिदपि क्षणमात्रमप्यनुपयोगे भजन्ते.

७०. प्रमाणात्तु प्रमेयबलमधिकं, तेन स्वतन्त्रभक्त्यपेक्षयापीयं प्रमेयभक्तिः रसाला.

७१. प्रमाणबलेन प्रमेयबलेन लोकप्रसिद्ध्या भगवान् दीनानुकम्पी.

७२. प्रमेयनिरोधे दृष्टं माहात्म्यं प्रयोजकम्.

७३. प्रमेयबलस्यापि दुःखदूरीकरणे न सामर्थ्यं किन्तु धारणात्मकं भूत्वा कथंचिद् धारयति.

७४. प्रशस्ताएव धर्मा भगवदीया ग्राह्या.

७५. प्रसन्नो हि स्वधर्मानाविष्करोति सेवकधर्मांश्च.

७६. प्राणिनामात्मा मदीय एव सर्वसाधारणः. सच सिद्धत्वाद् ज्ञातेऽपि तथा नादरणीयः किन्तु देहेन्द्रियमनांसि अन्यपराण्येव उत्पत्तिशिष्टानि तानि चेत् मत्पराणि स्युस्तदा तत्सङ्ख्याता मदीया भवन्ति.

७७. प्राणिनां कर्तव्या प्रपत्तिरेव.

७८. फलाधिक्येनैवाधिक्यं, नतु साधनप्रकारविशेषैः.

७९. बहिर्भगवति गोपिका दृष्टिं प्रक्षिपन्ती स्वधर्मान् दृष्टिधर्मान् वा योजयति, नतु स्वयं भगवद्धर्मान् गृह्णाति. मनसि तु भगवति समागते मनो भगवद्धर्मान् गृह्णाति. एतत्तु हिताचरणं प्रियस्य कार्यम्. अनेन योगाद्यपेक्षयापीयमवस्था समीचीनेति ज्ञापितम्.

८०. बहिर्नमस्कारस्तु व्यावहारिकः.

८१. ब्राह्मणक्षत्रिययोः तुल्यता सख्यं च भवति, तथाप्यन्योन्यकार्यसाधकयोः.

८२. भक्तावपि परमप्रेम सर्वोत्कृष्टम्.

८३. भक्तिरसोऽपि रसदृष्टिवद् निपुणैरभिनेयः.

८४. भक्ष्यो हि निःसत्त्वः कर्तव्यः.

८५. भगवत्प्राप्तिसम्भावनाऽभावरहिता भगवत्स्मृतिः महाप्रहारइव मूर्च्छाहेतुः.

८६. भगवतः संसारः अहन्ताममतात्मकः न लौकिकवत्. इच्छया सर्वं जायत इत्यतो लीलार्थमित्यध्यवसीयते. भगवतोऽवताराः भगवच्छास्त्रं भगवदीयाः पुरुषाः पदार्थश्च तेषां साधारणोपयोगाभावात् किमर्थं करणमिति नाशङ्कनीयं दुरवबोधत्वादेव. अतो भगवतः कार्यं जगद् भगवल्लीला वैष्णवप्रकारश्चेति. उभयोर्दुर्ज्ञेयत्वात् परमएव ईश्वरो भगवानीश्वरादेवालौकिकात् परमेश्वर उभयालौकिकः.

८७. भगवत्येव निवेदिता वाङ् नान्यतः सङ्कोचं लभते.

८८. भगवत्सेवके भगवद्बुद्धिः कर्तव्या.

८९. भगवदीयत्वमेव परमपुरुषार्थः.

९०. भगवतोऽङ्गानि कोमलानीत्यनुभवसिद्धम्.

९१. भगवान् सर्वेषामेव सर्वरूपो भूत्वा तथात्वं बोधयति. तथा सति यदि कोऽपि न मन्यते तथा तेषामभाग्यम्.

९२. भगवान् हि नित्यभार्यः, विभज्यैव शक्तिं कृष्णो भगवानवतीर्णः.

९३. भगवांस्तु यादृशस्तादृश एव सर्वविलक्षणः सर्वरूपश्च.

९४. भगवांस्तु भक्त्यैव वश्यः.

९५. भगवन्तं प्राप्य स्वयं न किञ्चित् प्रार्थनीयम्.

९६. भारं वहति पुरुषः शतभारं वहति गजः.

९७. मनुष्यत्वमात्रप्रदर्शनं मायिकमिति न भगवति काचित्क्षतिः. मायिकेषु तु सर्वमेव मायिकम्.

९८. मन्त्रादिद्वारा भजनन्तु भजनानुरूपमेव फलति.

९९. ममानुध्यानमेव ममाभिप्रेतम्.

१००. मधु मादकं च यः पिबति स न स्पृश्यो भवति.

१०१. महत्त्वाद् वस्तुसामर्थ्येनैव मनस्तदात्मकं भवति.

१०२. महाराजस्थाने गत्वा स्वयं क्षुधितः सर्वोपद्रवयुक्तोऽपि स्वसम्बन्धिने मर्कटाय यथोदनं प्रार्थयते तद्वत् स्वयमात्मा मर्कटरूपाय मनसे हितं प्रार्थयति.

१०३. महांश्चेत् स्वकार्यं करोति तदा हीनो लज्जते.

१०४. मायायाः गुणमय्यः तिस्रो वृत्तयः जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिभेदाः. तिसृष्वप्यलौकिकसामर्थ्यात् मायाग्रहणम्. अन्यथा सुषुप्तौ परमानन्दस्फूर्तिः स्वप्ने नानाविधपदार्थानां जागरणदशायां च चतुर्विधपुरुषार्थसिद्धिर्न स्यात्.

१०५. मृत्युर्भयात्मकः; नहि ततोऽधिकं भयमस्ति. लोकन्यायेन नरकापेक्षयापि मृत्युरेव महान्.

१०६. यथा स्मृतौ साङ्ख्यादिशास्त्रे चित्ते कर्तरि आत्मा कर्तेव दृष्टस्तदध्यासात् तथा भगवति स्वसम्बन्धारोपात् तत्तद्भावः प्रतीयते नतु वस्तुतो भगवांस्तथा भवति.

१०७. यदि समर्थो भूत्वा न दुःखं दूरीकुर्यात् तदा अयुक्तं भवेत्.

१०८. यः स्वात्मानं भगवते प्रयच्छति भगवानपि तथा तस्मै प्रयच्छति.

१०९. यावतांशेन एते उद्धृता भवन्ति तावन्तमेवांशं व्यापृतवान्.

११०. यावद्देहसम्बन्धः तावन्न ज्ञानादिनापि स्नेहो निवर्तयितुं शक्यते.

१११. ये हि सर्वप्रकारेणोत्कृष्टास्ते सर्वैरुपास्याः.

११२. योगिनां परमेव तत्त्वं पुरुषोत्तमरूपम्.

११३. यो वधार्थं नीयते स केवलो नीयते यो विवाहार्थं नीयते ससामग्रीकः.

११४. यो हि यत्स्मरति सर्वदा स तदभिलाषी सन् तत्र गच्छति.

११५. यो हि यद्वेशं करोति स तस्य सहजानेव धर्मान् गृह्णाति.

११६. यो हि यन्मार्गे गच्छति स तावति धर्मे तत्तुल्यो भवति.

११७. राजसा हि विषयैरेव तदासक्ता भवन्ति.

११८. राजा हि धर्ममूर्तिः, तस्य दर्शने सुतरामधिकृतैरन्यायो न कर्तव्यः.

११९. राज्ञोऽपि सर्वथा सर्वभूतद्रोहे भवत्येवानिष्टम्.

१२०. राज्ञा श्रुतं प्रामाणिकमेव भवति.

१२१. लावण्यरसः केवलं भगवत्येव सिद्धः.

१२२. लोकेऽपि रङ्गस्थानएव नटोत्तमता.

१२३. लोको हि दूरे गत्वा परित्यजति नतु तत्रैव त्यक्तुं शक्तः. त्यागोऽपि भगवदर्थएव. अत्यागे भगवानस्मान् न ग्रहीष्यति परसम्बन्धात्.

१२४. लौकिकाः कथामात्रएव आसक्ता भवन्ति सर्वे, लीलायां कथायां मुक्ताः, भक्ताश्च कृष्णकथायाम्.

१२५. वर्णाश्रमाणां देहनिष्ठत्वेन तानधिकृत्य च धर्मशास्त्रस्य प्रवृत्तत्वेन दैहिकधर्मनिरूपकं तद् नतु भगवद्धर्मनिरूपकम्.

१२६. वस्तुतः आत्मा सङ्घाताद् व्यतिरिक्त इति आत्मनैव अहं प्राप्तव्यः नतु देहसहितेन.

१२७. विदेहकैवल्यपर्यन्तं सर्वेषां बहिःसंवेदनास्त्येव, जीवन्मुक्तानां तथाश्रवणात्.

१२८. वियोगः स्वाभाविकः औपाधिकः अज्ञानतश्चेति त्रेधा भवति.

१२९. विस्मरणे हि मनोनिरोधः साधनं, मनश्चामलया बुद्ध्या निरुद्ध्यते.

१३०. वेषेण क्रीडतीति ज्ञानं न लीलौपयिकम्, अतो बाधकत्वात् सा मा भवत्विति मायाच्छादनम्.

१३१. व्यभिचारिण्योऽपि यदि पतिं भजन्ति तदापि पूर्वदोषं परित्यज्य कृतार्था भवन्ति.

१३२. व्यवहारयोग्ये तु समतया भावः स्यात् तदप्ययोग्यम्.

१३३. वृन्दावनं हि परमोत्कर्षापादकं भक्तिजनकं च.

१३४. हीनानां प्रशंसाकरणमयुक्तम्.

१३५. शास्त्रलोकप्रसिद्धायां भक्तौ दानादिसाधनानि श्रूयन्ते. अस्यान्तु -

प्रसिद्ध्यभावात् साधनमपि न पश्यामः.

१३६. सकाममरणे तु न मुक्तिः.

१३७. सच्चिदानन्दरूपत्वाद् ज्ञानप्रचुरोऽयमात्मा.

१३८. सजातीयवाच्यता च दुःसहा.

१३९. सत्सूत्पन्नाएव वनचरणादिना उत्कृष्टा भवन्ति.

१४०. सर्वथा अन्येष्वर्थकृतैव मैत्री.

१४१. सर्ववेदवक्ता नारायणः पुरुषोत्तमएव.

१४२. सर्वैव श्लोक्यत इति सुलभं भगवत्स्मरणम्.

१४३. सर्वोपकारी च भगवान्, अतो गुह्यमपि वक्तव्यम्.

१४४. साधारणस्त्वद्भुतरसेनैव वशे भवति.

१४५. साक्षात्कारस्तु तदिच्छया भविष्यति.

१४६. सुखानुभवस्तु स्वान्तःस्थिताग्न्यभिव्यक्तिवत् स्वान्तःस्थितभगवदभि-व्यक्त्या.

१४७. स्त्रियः स्वभावतोऽदुष्टाः.

१४८. स्त्रीणां हि रमणमपेक्ष्यते. नानाविलासैर्हि रमणं देवस्त्रीणाम्, प्रत्येकनियततया रमणं भूस्त्रीणाम्, विलासतया च रमणं क्वचिद् भूस्त्रीणाम्, परं निरोधस्तुल्यः. अतिगुप्ततया रमणं रसास्त्रीणाम्.

१४९. स्त्रीणां स्वाभाविको धर्मो लज्जा.

१५०. स्थावरं जङ्गमं च तत्रापि तृणमेरुभावौ सिकताब्रह्माण्डभावौ वा मशकब्रह्मभावौ च भगवानेव.

१५१. स्नेहांशास्तु सर्वत्र सात्त्विकएव.

१५२. स्वधर्मानुसारेण भोगः कर्तव्यः.

